प्रकाशक
एस. पी. खन्ना
थियोसोफ़िकल सोसाइटी, कमच्छा
बनारस—१

मुद्रक
दुर्गा प्रेस
३८/२० आदिविश्वेश्वर
बनारस—१

भूमिका

पाठकों के सम्मुख अपनी तृतीय पुस्तक "रोग निवारण" (चिकित्सा) प्रस्तुत करते हुये मुझे असीम हर्ष हो रहा है। 'रोगी परीक्षा' तथा 'रोग परिचय' (रोग के लक्षण) लिखने के पश्चात् पूर्व निर्धारित क्रम के अनुसार 'चिकित्सा' का विस्तार पूर्वक वर्णन करना अति आवश्यक था। प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक (Allopathic) चिकित्सा पद्धति के अनुसार रोगों की चिकित्सा का विस्तारपूर्वक वर्णन के साथ-साथ संक्षेप में 'आयुर्वेदिक चिकित्सा' का वर्णन करने का भी प्रयत्न किया गया है। निदान सम्बन्धी विशिष्ट तत्वो का समावेश, प्रमुख औषधियों की उपयोगिता, विषाक्तता तथा विषाक्तता की चिकित्सा का भी संक्षेप मे वर्णन किया गया है। पुस्तक का आकार कम करने के लिये सांकेतिक शब्दों का स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रयोग किया गया है। आशा है पाठक पुस्तक प्रारम्भ करने के पूर्व इन सांकेतिक शब्दो से परिचित हो जायेंगे। आयुर्वेदिक चिकित्सा का जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ सांकेतिक शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं :—मि. = मिलाकर, र = रत्ती, मा. = माशा या मात्रा, तो = तोला, व = वटी। जहाँ तक मात्राओं का सम्बन्ध है प्राय. वयस्क मे प्रयोग की जानेवाली मात्रायें ही दी गई हैं। विशेष परिस्थिति मे बाल्या-वस्था तथा शैशवावस्था की मात्रायें अलग से दी गई हैं। चिकित्सा-शास्त्र के विद्यार्थियो को मेरी राय है कि पुस्तक से पूर्ण लाभ उठाने के लिए सर्वप्रथम प्रमुख औषधियों के प्रयोग आदि के विषय मे (अध्याय ३) तथा लक्षणों की चिकित्सा (अध्याय ४) से अपने को पूर्ण रूप से अवगत कर ले। पुस्तक के प्रकाशित होने में विलम्ब अवश्य हुआ है परन्तु पुस्तक का आकार तथा विषय की व्यापकता ध्यान मे रखते हुए आशा है पाठक इस विलम्ब के लिये लेखक को क्षमा करेंगे और जिस प्रकार 'रोगी परीक्षा' तथा 'रोग परिचय' का स्वागत किया है उसी प्रकार इसका भी स्वागत करेंगे।

मेरे अनेक सहयोगी तथा आयुर्वेदिक कालेज के अनेक वर्तमान तथा भूतपूर्व विद्यार्थियों ने समय-समय पर इस पुस्तक की रचना मे सहायता की है। लेखक इनका ऋणी है। डा० भास्कर गोविन्द धाणेकर, डा० कुलकात शुक्ल, डा० अवध-बिहारी अग्निहोत्री, डा० भाष्कर दत्त पाण्डे, डा० रामप्रसाद, डा० पी० एस० शकरन के सहयोग तथा अथक परिश्रम से पुस्तक का वर्तमान रूप सम्भव हो सका है। लेखक इन मित्रो का विशेष रूप से आभारी है।

प्रस्तुत पुस्तक मे लेखक ने अपने अनुभवो का स्वतन्त्रता पूर्वक वर्णन किया है। सम्भव है कुछ पाठक इनसे सहमत न हो। आशा है वे इन अनुभवो को यथोचित स्थान देगे। इसके साथ-साथ अन्य प्रामाणिक पुस्तको से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। ये पुस्तक निम्न हैं :—मिल्टन शटन की हैंण्डबुक ऑफ मेडिकल मैनेजमेन्ट, डी०आर० धर की मेडिकल ट्रीटमेन्ट, कोन की मौडर्न थेरपी, प्राइस की टेक्सबुक मेडिसिन, टाइस की लूज़लीफ मेडिसिन, घोष की मैटीरिया मेडिका, डनलप की ट्रीटमेन्ट, मैनसन की टौपिकल मेडिसिन, रीसेन्ट एडवानसेस थेराप्युटिक्स आदि। लेखक इन पुस्तको के लेखको का आभारी है।

अन्त मे आयुर्वेद के महान् आचार्य चरक के शब्दो को दोहराते हुए प्रस्तुत पुस्तक को विद्वान् पाठको के हाथ मे समर्पित करता हूँ।

"चिकित्सतात् पुण्यतम न किंचित्।"

काशी
रामनवमी, सम्वत् २०१३ } शिवनाथ खन्ना

विषय-सूची

तृतीय अध्याय
औषधियाँ

चतुर्थ अध्याय

लक्षणों की चिकित्सा

पञ्चम अध्याय

षष्ठम अध्याय

सप्तम अध्याय

पचन-संस्थान

अष्टम अध्याय

रक्त के रोग

नवम अध्याय

दशम अध्याय

श्वसन-संस्थान

एकादश अध्याय

मूत्र संस्थान

द्वादश अध्याय

विविध

परिशिष्ट सूची

तालिका सूची

चित्र-सूची

रोग-निवारण



प्रथम अध्याय

आहार (सङ्केत आ०)

भोजन के प्रधान तत्व है :—(१) **प्रोटीन** (Ptn) :—यह पदार्थ शरीर का विकास करता है, ताप तथा शक्ति प्रदान करता है और व्रण के भरने मे मदद करता है। इसमे प्रायः २४ अमीनो एसिड सम्मिलित है। इसकी **कमी के कारण** शरीर का विकास नही होता। पौरुष मे कमी, दौर्बल्य, रक्ताल्पता (Anaemia), आलस्य, शक्ति की कमी आदि लक्षण होते है। इसकी तथा जीवतिक्ति 'बी' (Vit : B) की कमी होने पर यकृत मे तंतूत्कर्ष (Cirrhosis) होता है। शरीर पर आघात होने से प्रोटीन का शीघ्रता से नाश होता है। रोगों के विरुद्ध क्षमता (Immunity) उत्पन्न करने के लिये प्रोटीन आवश्यक है इसलिये प्रोटीन की कमी रहने पर प्रतियोगी (Antibody) के बनने मे कमी होती है और मनुष्य व्याधियो का शिकार होता है। भोजन मे कार्बोज (Cho) की मात्रा अधिक तथा प्रोटीन की मात्रा साधारण रहने पर प्रोटीन का ठीक से प्रचूषण नहीं होता। इसलिये भोजन का संतुलित होना आवश्यक है। मासाहारी तथा शाकाहारी दोनो प्रकार के भोजन से प्रोटीन प्राप्त होता है। मासाहारी भोजन से जो प्रोटीन मिलता है वह रक्त मे एलब्यूमिन (Albumin) का निर्माण करता है और शाकाहारी भोजन से जो प्रोटीन मिलता है वह ग्लोब्यूलिन (Globulin) का निर्माण करता है। **प्रोटीन प्रति ग्राम ४ कैलोरी (C)** ताप उत्पन्न करता है।

प्रोटीन की प्र० दि० की मात्रा :—मनुष्य के प्रति सेर भार के अनुसार इसकी यौवनारम्भ मे ०·७–०·९ ग्रा० प्र० से० भा०, युवा मे ०·५, गर्भा-

वस्था मे ०·७ तथा धात्रिकाल मे ०·६ ग्रा० प्र० से० भा० प्र० दि० की आवश्यकता पड़ती है।

(२) **कार्बोज** (Cho) :—साधारणतः भोजन मे इसकी मात्रा प्रायः ५० प्र० श० रहती है। इससे शरीर को ताप तथा शक्ति मिलती है। भोजन मे इसकी मात्रा १५ प्र० श० से कम होने पर शरीर मे एसीटोन (Acetone) की उत्पत्ति होती है। इसके समवर्त (Mbm) के लिये जीवतिक्ति बी१ (Vit : B_1) आवश्यक है। कार्बोज की प्रधानता तथा जीवतिक्ति बी१ की कमी रहने पर वातबलासक (Beriberi), जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy) आदि रोग होते है। इसके प्रत्येक **ग्राम से चार कैलोरी** (C) ताप उत्पन्न होता है।

(३) **वसा** (Fat) :—इस पदार्थ से शरीर को प्रधानतः ताप मिलता है। इसके **प्रत्येक ग्राम से ६ कैलोरी** (C) ताप की उत्पत्ति होती है। मक्खन, क्रीम (Cream), तेल आदि के एक चम्मच से प्रायः १०० कैलोरी ताप उत्पन्न होता है। ये पदार्थ घी की अपेक्षा अधिक सरलता से पचते हैं।

(४) **जीवतिक्तियाँ** (Vit) :—ये पदार्थ शरीर के भिन्न कार्यों मे सहायता देते है।

(५) **रसायनिक पदार्थ** (Minerals) :—इनकी सहायता से शरीर का रसायनिक सन्तुलन (Electrolytic balance) ठीक रहता है और शरीर के भिन्न तन्तु (Tissue) अपना कार्य करते है। इन पदार्थों मे लौह (Fe), कैलसियम (Cal), सोडियम (Na) पोटासियम (K), फौसफोरस (Ph) तथा आयोडीन (I) प्रधान है। इन पदार्थों मे कैलसियम तथा लौह के शरीर मे कम होने का अधिक सम्भावना रहती है।

प्रति दिन की मात्रा :—मनुष्य को प्र० दि० कैलसियम (Cal :) ग्रा० १–२, लौह (Fe) मि० ग्रा० १५, ताम्र० (Copper) मि० ग्रा० १–२, आयोडीन (I) मि० ग्रा० ०·१–०·३, सोडियम (Na.) ग्रा० २–३, फौसफोरस (Ph) ग्रा० १–३ तथा पोटासियम (K.) ग्रा० १–४ की आवश्यकता पड़ती है। गर्भावस्था तथा धात्रिकाल (Lactation) मे कैलसियम तथा फौसफोरस की अधिक मात्रा मे आवश्यकता पडती है।

(६) **जल** :—शरीर मे भिन्न पदार्थो के प्रचूषण, संवहन तथा परित्याग कराने के लिये जल की आवश्यकता पडती है साधारणतः ६–८ पा० जल

अ० दि० पीने से मूत्र ३ पा० बनता है। मूत्र का इतनी मात्रा मे प्र० दि० बनना आवश्यक है।

रोगी के कार्य के अनुकूल तथा भार के अनुसार कैलोरी (Calorie) की प्र० दि० की मात्रा :—शैय्या पर विश्राम करने वाले रोगी अथवा मोटे मनुष्य मे १२ कैलोरी प्र० से० भा० प्र० दि० तथा अधिक परिश्रम करने वाले या दुबले मनुष्य मे ३०, विश्रामप्रिय मे १५,साधारण परिश्रम करने वाले मे २५ तथा अत्यधिक परिश्रम करने वाले मे ३५ कैलोरी प्र० से० भा० प्र० दि० तक आवश्यकता पड़ती है।

विशेष परिस्थियों के आहार:—आहार-जन्य अनूर्जता (Allergy) मे जिस पदार्थ के कारण अनूर्जता होती है उसका प्रयोग नही करना चाहिये। अनूर्जता के कारण दमा, पामा (Eczema), शीतपित्त (Urticaria) आदि रोग होते हैं। प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer), संग्रहणी (Sprue), प्रवाहिका (Dys :) आदि पचन-संस्थान के रोगो मे विशेष आहार की आवश्यकता पडती है। उच्च रक्त-निपीड़ (B.P.), वृक्कशोथ (Nephritis), दक्षिण हृदयातिपात (Rt : ht : failure) तथा शोफ (Oedema) रहने पर लवण (Nacl) रहित आहार देना पडता है। कब्ज रहने पर फल, तरकारी आदि अधिक प्रयोग करना चाहिये जिससे भोजन पच जाने के पश्चात् आन्त्र मे अधिक मात्रा मे अवशेष (Residue) बच जाये और मल परित्याग करने मे सरलता हो। दुर्बल मनुष्यो मे प्रोटीन (Ptn), वसा (Fat), जीवतिक्तियाँ (Vit :) तथा कैलोरी (Calorie) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। मोटे मनुष्यो मे वसा (Fat) तथा कैलोरी की मात्रा कम होनी चाहिये। यकृत के रोग मे वसा की मात्रा कम, प्रोटीन, कार्बोज (Cho) तथा जीवतिक्ति 'बी' (Vit : B) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। पित्ताशय (Gall bladder) के रोगो मे वसा की मात्रा कम तथा जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) की मात्रा अधिक होनी चाहिये और भोजन वायु उत्पन्न करने वाला नहीं होना चाहिये। मधुमेह (Diabetes) मे कार्बोज (Cho) की मात्रा साधारण तथा प्रोटीन की मात्रा अधिक होनी चाहिये। वृक्कशोथ में भोजन मे स्वस्थ मनुष्य को जितनी प्रोटीन (Ptn) की आवश्यकता पड़ती है उसकी आधी मात्रा तथा रोग के कारण मूत्र द्वारा जितनी प्रोटीन का परित्याग होता हो उतना प्रोटीन देना चाहिये।

कब्ज में :— पर्तता, मुनक्का, अञ्जीर तथा दूध मे अञ्जीर या मुनक्का उबाल कर देना चाहिये।

वृक्काश्मरी (Stone in kidney) मे निम्न पदार्थ वर्जित है :— टमाटर, स्ट्रौबेरी (Strawberri), पालक, रेवाचिनी (Rhubarb), जिमीकन्द, अरवी, चाय, कोको, तरबूज, अनानास, गाजर, खीरा, मुनक्का, किशमिश, बदाम, अजीर, चुकन्दर, जैतून (Olive), चेरी (Cherry) आदि।

अनुर्जता (Allergy) उत्पन्न करने वाले पदार्थ :— दूध, अण्डा, मास, मछली, पिस्ता, चौकलेट, गेहूँ, टमाटर, स्ट्रावेरी (Strawberri), गुच्छी, ठिंगरी (Mushroom) आदि।

चिकित्सा की दृष्टि से आहार का वर्गीकरण :—

(क) तरल आहार :—

(१) दुग्ध के योग :— दूध, सोडावाटर के साथ दूध, बार्ली के साथ दूध, दूध प्रति छटॉक मे सोडी-साइट्रस (Sodi : cit :) ग्रे० ४, दूध की लस्सी, होरलिक्स (Horlicks), ओवलटीन (Ovaltin) के साथ दूध. बेंगर का भोज्य पदार्थ (Bengar's food) चाय, कोको, कौफी।

(२) फलों का रस :— अनार, मोसम्बी, सन्तरा, अनानास, लीची, डाब का पानी आदि।

(३) शर्करा के योग :— नीबू का शर्बत, मिश्री का शर्बत, शहद का शर्बत, ग्लूकोस का शर्बत, छेने का पानी चीनी के साथ, अण्डे की सफेदी का पानी मे घोल (Albumin water), बार्ली का पानी।

(४) लवण के योग :— बार्ली का पानी, अण्डे की सफेदी पानी मे, छेने का पानी, मूँग की दाल का पानी, माड़।

(५) तरकारियों का शोरबा बिना मिर्च मसाले के :— परवल, पालक, नेनुआ, सलजम, कच्चा केला।

(६) दही के योग :— मट्ठा, लस्सी, दही, तक्र, घोल, एलेडौन (Eledon)।

(ख) अर्धतरल आहार :— साबूदाना, खिचड़ी, मठा मे पका चावल, पतला चावल, आधा उबाला हुआ अण्डा, मास-मछली का शोरबा, मखाने की खीर, पुडिङ्ग (Pudding), फिरनी, श्रीखण्ड।

(ग) ठोस पदार्थ :—

(१) फल :— शन्तरा, पपीता, सेव, अंगूर, सिंघाड़ा, पक्का केला।

(२) **अन्य पादर्थ** :—पावरोटी, बिस्कुट, मक्खन, रोटी, मूँग की दाल, पपीता, नेनुआ, कद्दू, परवल की तरकारी, चावल, साबूदाने का पापड, काली मिर्च लगा कर गरम किया हुआ मुनक्का, कोटू, खोई का लावा, मखाना, धान का लावा, चावल की फरवी।

भोजन के भिन्न तत्वों के मिलने का स्थान :—

(१) **आयोडीन** (I) :—आयोडीनप्रधान खेत मे उत्पन्न होने वाली सब्जी, आयोडीन मिश्रित लवण।

(२) **सोडियम** (Na) :—लवण (Nacl), अण्डा, मास, दूध।

(३) **फौसफोरस** (Phos :) :—दूध, यकृत, अण्डे की जर्दी, सेम (Bean), मेवा (Nuts), अनाज (Cereals)।

(४) **पोटासियम** (K) :—सब्जी तथा फल।

(५) **लौह** (Fe):—यकृत, मास, मछली (झिगा, कवई, मॉगुर, सिंघी), अण्डे की जर्दी, पनीर, जई, वृक्क, मसूर, मटर की छीमी, आलू, गाजर, प्याज, सेव, रोटी, चावल, बन्दगोभी, शन्तरा, शलजम, पालक, कच्चा केला तथा कटहर की तरकारी, सम्पूर्ण गेहूँ, हरी सब्जी, अञ्जीर, परवल आदि।

(६) **कैलसियम** (Cal) :—दूध, अण्डा, तरकारी।

(७) **ताम्र** (Copper) :—यकृत, अण्डे की जर्दी, जई (Oat), गेहूँ तथा चावल का छिलका (Bran)।

(८) **कार्बोज** (Cho) :—रोटी, आलू, गेहूँ, चावल, चीनी, फल तथा तरकारी।

(९) **वसा** (Fat) :—घी, मक्खन, क्रीम (Cream), तेल आदि।

(१०) **प्रोटीन** (Ptn) :—दूध, अण्डा, पनीर (Cheese), छेना, सन्देस, रसगुल्ला, मुर्गी, मछली, मास, छीमी, प्लास्मा (Plasma), प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Protein hydrolysate), अमीनोएसिड (Aminoacid), दुग्ध की केसीन (Milk casein), सेम (Bean), दाल (Legumen), मेवा (Nuts)।

(११) **जीवतिक्ति 'ए'** (Vit : A) :—यकृत, मछली के यकृत का तेल, चीज (Cheeze), टोमैटो, पालक, गाजर, दूध, मक्खन, शकरकन्द, हरी सब्जी, अखरोट।

(१२) **जीवतिक्ति 'डी'** (Vit : D) :—मछली के यकृत का तेल, अण्डे की जर्दी, यकृत, मक्खन ।

(१३) **जीवतिक्ति 'बी$_१$'** (Vit : B_1) :—यकृत, अण्डा, वृक्क, मांस, सम्पूर्ण गेहूँ का आटा, खमीर, मारमाइट (Marmite), अण्डे की जर्दी, दूध, शाक, मछली, मठा, जई (Oat), बादाम, अखरोट, सेम, मटर की छीमी, सम्पूर्ण चावल, दाल ।

(१४) **जीवतिक्ति बी$_२$** (Vit : B_2 Riboflavin) :—जिन भोजनो मे जीवतिक्ति बी$_१$ (B_1) मिलती है उनमे जीवतिक्ति 'बी$_२$' भी मिलती है । दूध तथा अण्डेकी सफेदी मे यह जीवतिक्ति अधिक मात्रा मे मिलती है ।

(१५) **जीवतिक्ति बी$_७$** (Nicotinic acid) :—उपर्युक्त वर्णित जीवतिक्ति 'बी$_१$' के मिलने के स्थानो के अतिरिक्त मठा (Buttermilk) का विशेष महत्व है ।

(१६) **जीवतिक्ति सी** (Vit : C) :—अमरूद, आम, लीची, अनानास, शन्तरा, मोसम्मी, टोमैटो, आँवला, आलू, नीबू, अँगूर, मूली, बन्दगोभी ।

(१७) **जीवतिक्ति 'ई'** (Vit : E) :—गेहूँ का तेल, (Wheat-germ oil), अडा, मास, शाक ।

(१८) **जीवतिक्ति 'के'** (Vit : K) :—टोमैटो, यकृत, शाक ।

(१९) **प्यूरीन** (Purine) :—यकृत, वृक्क, अग्न्याशय (Pancreas), मास का सत्व, सारडिन (Sardine) मछली ।

(२०) **शर्करा रहित अथवा अत्यल्प मात्रा में शर्करायुक्त फल तथा तरकारी** :—सेव, टोमैटो, मोसम्मी, साग, परवल, करेला, नेनुआ, तोरई, बैगन, टोमैटो, खीरा, ककड़ी, गोभी, मूली, गाजर, प्याज, केले का फूल, कद्दू, लौकी, कच्चा चना, मटर, पपाता ।

द्वितीय अध्याय

चिकित्सा सम्बन्धी साधारण क्रियायें तथा शल्यकर्म

(१) **फफोले उत्पन्न करना** (Blistering) :—इस क्रिया द्वारा विकृत स्थान मे रक्तसंचार की वृद्धी की जाती है। इसको मूत्राघात (Suppression), अर्दित (Facial paralysis) तथा शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ (Dry pleurisy) मे प्रयोग किया जाता है। फफोले उत्पन्न करनेके लिये कैन्थ्राइडिस का प्रयोग किया जाता है। इसका प्लास्टर (Emplastrum cantharidini) या घोल (Colloidium vesicans) के रूप मे प्रयोग करते हैं।

विधि :—विकृत स्थान पर इन औपधियो को ६—८ घण्टे रहने देना चाहिये। फफोले बन जाये तब औपधि को सावधानी से पोछ कर हटा देना चाहिये, तदुपरान्त उस फफोले (blister) को सूई से छेद कर उसके भीतर का पानी निकाल देना चाहिये और फफोले के ऊपर गौज (Gauze) रख कर बॉध देना चाहिये। यदि ८ घण्टे बाद भी फफोला न उत्पन्न हो तब उस स्थान को सूखी रूई से सेकना चाहिये।

मूत्राघात मे कटिप्रदेश (Lumbar region) के दोनो ओर, फुफ्फुसावरण शोथ मे वक्षप्राचीर (Chest wall) और कक्षा (Axilla), मे अर्दित मे कर्णमूल तथा कर्ण के पीछे के हिस्से मे फफोला उत्पन्न किया जाता है।

हृत्प्रदेश (Precordium) पर फफोला बनाने के लिये १—२ स्थान पर हृदय के आधार (Base) के पास उर:फलक (Sternum) के वाम ओर थोड़ा कैन्थ्राइडिन (Cantharidin) लगाना चाहिये।

पट्टी पर लगा हुआ कैन्थ्राइडिन (Cantharidin plaster) प्रयोग करने मे सुविधा होती है।

(२) **तुम्बी लगाना** (Cupping) :—इस क्रिया के द्वारा विकृत

स्थान की त्वाचा मे रक्तसंचार की वृद्धि की जाती है। इसकी दो विधियाँ है :—

(क) **शुष्क विधि** :—इस विधि मे रक्त खीच कर त्वचा के नीचे तक ले आया जाता है।

विकृत स्थान को ठीक से सुखा कर तथा जीवाणुरहित कर लेना चाहिये। एक छोटे कॉच के ग्लास के किनारो पर वैसलीन लगा दी जाती है तथा उसके अन्दर मैथीलेटेड स्प्रिट (Spt: methy:) मे भीगे हुये सोख्ते के टुकड़े को जला कर डाल दिया जाता है। सोख्ते के टुकड़ो के जल चुकने पर ग्लास को उलट कर विकृत स्थान पर लगा दिया जाता है। ग्लास मे आंशिक शून्यता (Partial vacuum) उत्पन्न हो जाने के कारण उस भाग के मृदु तन्तु भीतर खिच जाते हैं और उनमे अधिक रक्तसंचार होने लगता है। कुछ समय तक ग्लास लगा रहने के बाद उसके किनारो के अन्दर अँगुली घुमा कर ग्लास को अलग कर लेते है।

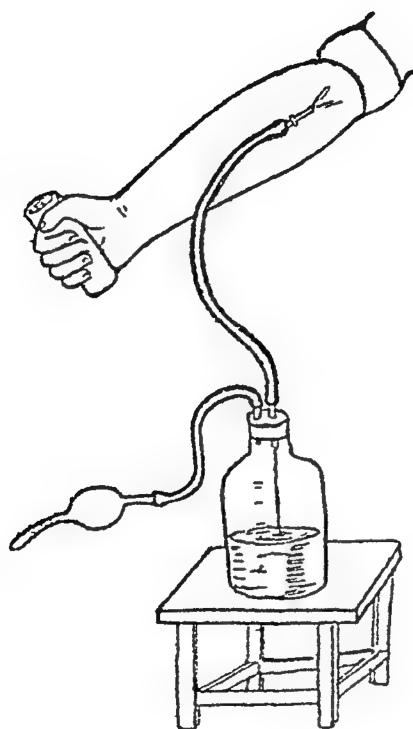
(ख) **आर्द्र विधि** :—इस विधि से विकृत स्थान से रक्त बाहर निकाल लिया जाता है। इससे तनाव मे कमी होती है। इसके लिये भी उपर्युक्त विधि का ही प्रयोग करते हैं किन्तु अन्तर इतना रहता है कि ग्लास लगाने के पहले त्वचा पर कुछ खरोच लगा दी जाती है, फिर निकले हुये रक्त को पोंछ कर तथा खरोचे हुये स्थान को साफ करके, जीवाणुनाशक औषधि लगा कर पट्टी से बॉध देना चाहिये।

(३) **जोंक लगाना** (Leeching) :—किसी शोफयुक्त तथा पीड़ाकर स्थान का तनाव कम करने के लिये इस विधि का प्रयोग किया जाता है।

विधि :–विकृत स्थान को शुद्ध करके सुखा लेना चाहिये। जोक को एक कॉच की नलिका (Test tube) मे रखकर नलिका को उलट कर विकृत स्थान पर लगा देना चाहिये। यदि जोक त्वचा पर न चिपके तब त्वचा को खरोच कर कुछ रक्त निकाल देने के पश्चात् जोक लगाना चाहिए। विकृत स्थान पर मीठा दूध लगा देने से भी जोक चिपक जाती है। यदि एक बार जोक लग जाये तब उसे तब तक नही छेड़ना चाहिए, जब तक कि वह स्वयं सतुष्ट होकर त्वचा को न छोड दे। जोक यदि विकृत स्थान को न छोड़ती हो और छुड़ाना आवश्यक हो तब नमक छिडक कर जोक छुडवा देना चाहिये। अन्त मे जोक लगे स्थान पर शुद्ध जल से साफ करके पट्टी बॉध देना

चाहिए। यदि उस स्थान से रक्तस्राव बन्द न होता हो तब उस स्थान पर फिटकरी या एड्रिनलिन १ १००० रुई मे भिगो कर लगा देना चाहिए।

(४) लसिका की असहनशीलता की कसौटी (Test for hypersensitiveness of serum) :—जिस लसिका का इन्जेक्शन देना हो उसकी एक बूँद अन्तस्त्वक् मार्ग (I. D.) से अग्रबाहु मे प्रवेश कराना चाहिये। दस मिनट के अन्दर इन्जेक्शन के स्थान पर त्वचा यदि रक्त-वर्ण हो जाय तब समझना चाहिये कि रोगी लसिका को सहन नही कर सकता है।



चित्र—१

पम्प-द्वारा सिरावेध (Venis ction)।

(५) सिरावेध (Venisection) :—१०० सी० सी० की पिचकारी (Syringe) गरम पानी मे उबाल कर सोडी-साइट्रस (Sodi : citras) के ३ प्र० श० घोल से धो लेना चाहिये। इस औषधि का १ सी० सी० पिचकारी मे रहना अच्छा है। इससे रक्त-श्राव कराते समय सिरिंज मे रक्त का स्कन्दन (Coagulation) नही होता। अब रोगी को शैय्या

पर लिटा कर उसकी कूर्पर सन्धि (Elbow) के ३–४ इंच ऊपर रबर की नलिका से कस कर बाँध देना चाहिये। इससे सन्धि के सामने की सिरायें फूल जाती है तथा सरलता से दिखाई देती है। पिचकारी की सूई मोटी होनी चाहिये। कूर्पर सन्धि (Elbow) के सामने का भाग मद्य से पोछ कर सूई को सिरा मे प्रवेश कर शनैः-शनैः पिचकारी के दण्ड (Piston) को खीचना चाहिये। इस प्रकार रक्त पिचकारी मे आ जाता है। आ० अ० रक्त निकाल लेने के पश्चात् सूई निकाल लेना चाहिये और रबर की नलिका को खोल देना चाहिये। रक्त निकालने की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रबर की नलिका का कस कर बँधा रहना आवश्यक है। इस प्रकार आ० अ० १०० से १००० सी० सी० तक रक्त निकाल सकते है।

(६) **वातपर्युदर** (Pneumo-peritoneum) :—इस क्रिया द्वारा यक्ष्मा (T. B.) के रोगी के उदर मे समय समय पर इंजेक्शन द्वारा वायु प्रवेश की जाती है। उदर मे वायु प्रवेश करने से महाप्राचीरापेशी (Diaphragm) ऊपर की ओर उठती है और फुफ्फुस के आधार (Base) का वायु के दबाव के कारण निपात (Collapse) होता है। यह क्रिया प्रायः महाप्राचीरा वातनाड़ी (Phrenic nerve) के नष्ट करने की क्रिया के साथ-साथ की जाती है। दोनो फुफ्फुस मे विकृति अथवा विवर (Cavity) रहने पर, कृत्रिम वातोरस (A. P.) सम्भव न होने पर, एक या दोनो फुफ्फुस मे विकृति के तीव्रता से फैलते समय, अन्य चिकित्सा मे सहायता देने के लिये विशेष कर जब रोग जीर्ण हो जाता है, बार-बार रक्तष्ठीवन (Hemoptysis) होने पर, यक्ष्मा के साथ-साथ तमकश्वास (Asthma) अथवा वातोत्फुल्लता (Emphysema) रहने पर तथा यक्ष्मा के कारण पूयोरस (Empyema) होने पर, (इस विकृति की प्रारम्भिक अवस्था मे) उदरमे वायु प्रवेश कराने से लाभ होता है। उदर मे आन्त्रवृद्धि (Hernia) रहने पर अथवा भूतकाल मे उदर पर यदि शल्यकर्म (Op.) किया गया हो, आन्त्र अथवा उदरावरण (Peritoneum) मे यक्ष्मा हो, हृदयातिपात (Heart-failure) के लक्षण रहने पर, भूतकाल मे यदि हृद्धमनी मे अवरोध (Coronary obstruction) हुआ हो अथवा फुफ्फुस का विकृति तात्विक प्रकार (Fibroid) की तथा जीर्ण हो तब उदर मे वायु प्रवेश नहीं कराना चाहिये। आन्त्रवृद्धि रहने पर इस क्रिया के करने से रोग की वृद्धि

हो सकती है। इस क्रिया के करते समय रक्तवाहिनियों (B. V.) मे अथवा उदरप्राचीर में वायु प्रवेश (Surgical emphysema) कर सकती है। जलोदर (Ascites), अकस्मात वातोरस (Spontaneous A. P.), उदरावरणशोथ (Peritonitis) आदि उपद्रव हो सकते है। आन्त्र मे आघात हो सकता है।

विधि :— यह क्रिया कृत्रिम वातोरस (A. P. Apparatus) के यन्त्र द्वारा ही की जाती है। वाम अधोपर्शुक स्थान (Subcostal margin) के समीप वाम-दण्डिका पेशी (Rectus muscle) के बाहर की त्वचा पर यह क्रिया की जाती है। त्वचा तथा यन्त्र को पहले जीवाणु-रहित कर लेना चाहिये। सूई प्रवेश किये जाने वाले स्थान की त्वचा मे प्रोकेन २% प्रवेश कर त्वचा को संज्ञाहीन कर लेना चाहिये। वातोरस यन्त्र की सूई को इस संज्ञाहीन त्वचा के अन्दर प्रवेश कर १००० सी० सी० वायु उदरावरणीय गुहा (Peritoneal cavity) मे प्रवेश कराना चाहिये। वायु प्रवेश करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि सुई किसी रक्त-वाहिनी (B. V.) के अन्दर तो नहीं है। यह क्रिया समाप्त हो जाने के बाद सूई बाहर निकाल कर त्वचा पर टि० बेञ्जोइन (Tr. Benzoin) लगाकर पट्टी से बाँध देना चाहिये।

(७) **पर्शुकोच्छेदन** (Thoracoplasty) :—इस क्रिया द्वारा, विकृत पार्श्व की पर्शुकायें (Ribs) काट देने से फुफ्फुस का निपात (Collapse) होता है। इससे फुफ्फुस को विश्राम मिलता है तथा यक्ष्मा (T. B.) का प्रसार स्थगित हो जाता है। इस क्रिया के करने के पूर्व रोगी का स्वास्थ्य शल्य कर्म (Op.) को सह सकने के लायक होना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था मे तथा हृत्पेशी (Myocardium) क्षीण रहने पर यह क्रिया नही करनी चाहिये। तान्विक धातु (Fibrous tissue) के कारण जब फुफ्फुसावरण (Pleura) के दोनो स्तर आपस मे चिपक जाते है तब कृत्रिम वातोरस (A. P.) नही किया जा सकता। इस अवस्था मे पर्शुकोच्छेदन (Thoracoplasty) कर सकते है। यक्ष्मा (T. B.) से बार-बार रक्तष्ठीवन (Hemoptysis) होने पर, बार-बार ज्वर की वृद्धि होने पर, विवर (Cavity) का श्वसनिका (Bronchus) से सम्पर्क रहने पर, यक्ष्माजन्य पूयोरस (Empyema) की चिकित्सा के पश्चात् फुफ्फुस का विस्फार (Expansion) न होने पर तथा एक फुफ्फुस में तान्विक प्रकार

(Fibroid) के यंक्ष्मा के साथ-साथ दूसरे फुफ्फुस में तीव्रता से विकृति की वृद्धि होने पर पशुर्कोच्छेदन (Thoracoplasty) किया जाता है।

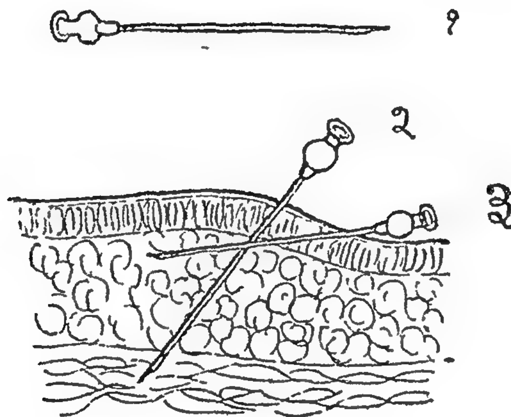
(८) **महाप्राचीरा वातनाड़ी का अंगघात** (Phrenic-paralysis):—यह क्रिया कृत्रिम वातोरस (A.P.) को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये की जा सकती है। अत्यधिक खाँसी अथवा हिचकी में भी इससे लाभ होता है। इस क्रिया से कृत्रिम वातोरस द्वारा वायु प्रवेश करने की अवधि बढाई जा सकती है। यह विशेष कर एक पार्श्व के फुफ्फुस के निम्न खण्ड (Lobe) में चिरकालीन विकृति रहने पर की जाती है। पशुर्कोच्छेदन (Thoracoplasty) करने के पूर्व अथवा कृत्रिम वातोरस (A.P.) न कर सकने पर इस क्रिया को कर सकते है। इस क्रिया में सद्रव फुफ्फुसावरण-शोथ (Wet-pleurisy) आदि उपद्रवो की सभावना नही रहती।

(९) **नासा मार्ग से राइल की नलिका (Ryle's tube) प्रवेश करने की विधि** :—राइल की नलिका मे जैतून का तेल (Ol-olive) लगा कर, रोगी के नाक मे प्रवेश कराना चाहिये। इस समय जल पीते रहने से नलिका स्वय ही अन्नप्रणाली (Oesophagus) में प्रवेश कर जाती है। नलिका यदि कंठनाडी (Trachea) मे प्रवेश करती है तब जोर से खाँसी होने लगती है और यदि नलिका का दूसरा सिरा पानी मे डुबा दिया जाय तब वायु के बुलबुले उठने लगते है। यह नलिका एक नासापुट (Nostril) मे दो, तीन दिन तक रखी जा सकती है। नलिका को चिपकने वाली पट्टी (Sticking plaster) से कपोल पर चिपका देना चाहिये। वमन की चिकित्सा करते समय इस नलिका को प्रवेश कर पिच-कारी (Syringe) के द्वारा आमाशय (St) को प्र. २ घ. धोने से तथा आमाशय के स्राव को बाहर निकाल देने से वमन बन्द हो जाता है। नलिका द्वारा रोगी को औषधि तथा पौष्टिक आहार भी दे सकते है जैसे :—दुग्ध, कच्चा अंडा, जल, शर्बत, मठा, लवण घोल मे ग्लूकोस (Glucose saline) आदि।

(१०) **इन्जेक्शन लगाने की विधियाँ** :—प्रत्येक इन्जेक्शन लगाने के पूर्व त्वचा पर स्पिरिट या टि. आयोडिन (Spirit, Tr:iodine) लगा कर त्वचा को जीवाणुरहित कर लेना चाहिये। इन्जेक्शन समाप्त होने पर सूई को निकालने के पश्चात् भी त्वचा पर स्पिरिट लगा देना चाहिये। पेनिसि-

लिन का इन्जेक्शन लगाते समय त्वचा को परिश्रुत जल से स्वच्छ कर लेना चाहिये। जीवाणुनाशक औषधियों के त्वचा पर रहने पर पेनिसलीन (P) प्रभावहीन हो जाती है।

(क) अन्तस्त्वक् (I.D.) इन्जेक्शन की विधि :— इस मार्ग से इन्जेक्शन लगाने के लिये ½ इंच लम्बी तथा अत्यंत पतली सुई प्रयोग करना चाहिये। इस मार्ग से औषधि केवल एक या २ बूँद दी जा सकती है। १ सी. सी. की पिचकारी में औषधि लेकर त्वचा के अन्दर सुई अत्यंत उत्तान प्रवेश कराना चाहिये। सुई को त्वचा के नीचे नही जाना चाहिये। यह क्रिया सफल होने पर इन्जेक्शन वाले स्थान पर मच्छर के काटने के समान त्वचा पर एक उभार बन जाता है। कुष्ठ आदि मे यह क्रिया अनेक स्थानो पर की जाती है।





चित्र—२

इञ्जेक्शन लगाने की विधियाँ—

१—पेशी मार्ग (I. M.) से इञ्जेक्शन देने की सूई।
२—अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से इंजेक्शन देने की विधि।
३—अन्तस्त्वक् (I. D.) मार्ग से इंजेक्शन देने की विधि।
४—अन्तस्त्वक् मार्ग से इजेक्शन देने की सूई।

(ख) अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से लवणघोल (Saline) आदि प्रवेश करने की विधि :—इस मार्ग से प्रायः समबल लवणघोल (N. saline) स्तन के नीचे या उरु (Thigh) के बाह्य भाग में अथवा उदरप्राचीर (Abd. wall) में प्रवेश कराया जाता है।

(ग) टीका लगाने (Vaccination) की विधि :—इसमें त्वचा को खरोच कर त्वचा के अन्दर औषधि प्रवेश कराई जाती है। जब त्वचा में तीक्ष्ण यन्त्र की सहायता से खरोच बनाई जाती है तब त्वचा के अन्दर की लालिमा स्पष्ट झलकती है परन्तु रक्त बाहर नहीं आता। अब उस स्थान पर स्पैचुला (Spatula) द्वारा औषधि लगाई जाती है। इस प्रकार औषधि प्रवेश करने की क्रिया मसूरिका (Small pox) में टीका लगाने (Vaccination) के लिए की जाती है।

(घ) अधस्त्वक् (S. C.) इंजेक्शन :—इस विधि में औषधि त्वचा के नीचे तथा मास-पेशी के ऊपर पिचकारी द्वारा प्रविष्ट की जाती है। सूई को ऊपर उठाने से त्वचा भी साथ २ ऊपर उठती है औषधि प्रवेश करने पर उस स्थान पर उभार बन जाता है। इस मार्ग द्वारा औषधि का प्रचूषण धीरे-धीरे होता है। यह इञ्जेक्शन बाहु, पेट के दोनो पार्श्व तथा उरु (Thigh) आदि मे दिया जाता है।

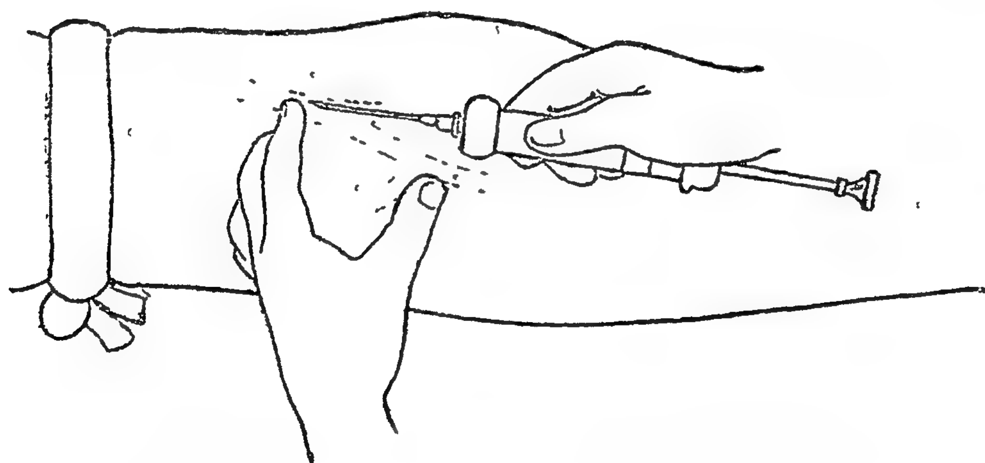
विधि :—जिस स्थान पर इञ्जेक्शन लगाना हो उस स्थान की त्वचा को भली प्रकार जीवाणुरहित कर लेने के बाद त्वचा को बाएँ हाथ से तान लेना चाहिये और सूई को त्वचा के समानान्तर रख कर लगभग एक इंच तक अन्दर प्रवेश कराना चाहिये। अब औषधि को अन्दर प्रविष्ट कर सूचिका को बाहर निकाल लेना चाहिये।

(ङ) पेशीमार्ग (I. M.) से इंजेक्शन देने की विधि :—इस विधि से पेशी के अन्दर औषधि प्रवेश कराई जाती है। इसमे औषधि को प्रविष्ट करने के पूर्व पिचकारी के दंड (Piston) को पीछे खीच कर देख लेना चाहिए कि सूई किसी रक्त-वाहिनी (B. V.) के अन्दर तो नही है। पिचकारी मे रक्त न आने पर दंड दबाकर औषधि प्रवेश कराना चाहिए। इस मार्ग द्वारा औषधियो का प्रचूषण अपेक्षाकृत शीघ्र होता है। इस मार्ग द्वारा प्रयोग की जाने वाली औषधियाँ अत्यधिक क्षोभक (Irritative) नहीं

होनी चाहिए। इस प्रकार के इंजेक्शन त्रिकोणिका (Deltoid) तथा नितम्ब की मास-पेशी (Gluteal muscle) मे दिये जाते हैं।

विधि (Method) :—त्वचा को छेद करके सूई इतनी गहराई तक ले जाना चाहिए कि वह पेशी के अन्दर पहुँच जावे। अब औषधि को अन्दर प्रविष्ट कर देना चाहिए।

(च) सिरामार्ग (I. V.) से इंजेक्शन को विधि :—इस मार्ग से औषधि तत्काल रक्त मे प्रवेश कर कुछ ही क्षणो मे शरीर के विभिन्न भागों में पहुँच जाती है। कुछ औषधियाँ ऐसी है जिनको इस मार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से नही दिया जा सकता। सिरामार्ग द्वारा इंजेक्शन लगाने के लिए कूर्पर सन्धि (Elbow joint) के पूर्व, मध्यबाहुक सिरा (Cubital vein) मे औषधि प्रवेश कराई जाती है। यदि यह सिरा स्पष्ट न हो तब अन्य किसी स्पष्ट सिरा मे औषधि प्रवेश करा सकते है।



चित्र—३

सिरामार्ग (I. V.) से इंजेक्शन देनेकी विधि।

विधि :—सिरा को स्पष्ट करने के लिए बन्धन (Tourniquet) का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार जब सिरा स्पष्ट हो जाय तब सिरा को बाएँ हाथ से स्थिर कर लेना चाहिए। अब दाहिने हाथ से पिचकारी लेकर सिरा के ऊपर त्वचा के समानान्तर सूई को सिरा मे प्रवेश कराना चाहिए। ध्यान रहे कि छेदते समय सूई का भार सिरा पर न पड़े नहीं तो अधिक दबाव पड़ने के कारण सिरा की दोनों दीवालें आपस मे चिपक जाती हैं और सूई सिरा की

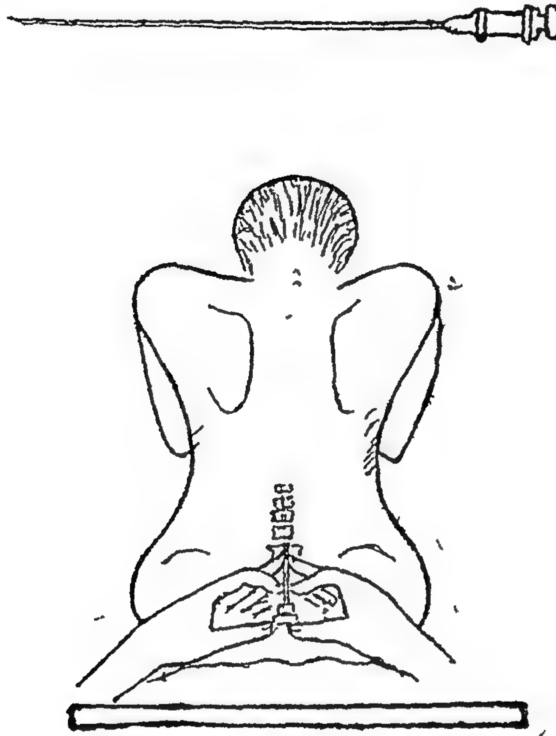
दोनो दीवालों को छेद कर आगे मास मे धॅस जाती है। क्रिया सफल होने पर दण्ड (Piston) खीचने से रक्त आ जाता है। रक्त नही आने पर सूई बाहर खींच लेना चाहिए और पुनः उचित स्थान पर पहुँचने का उद्योग करना चाहिये। सिरा मे सुई पहुँचने पर उसे सिरा के अन्दर ही कुछ आगे बढ़ा देना चाहिये अन्यथा बन्धन के खोल देने पर सूई सिरा के बाहर हो जाती है। जिन रोगियो की सिरा स्पष्ट न होती हो उनके हाथ की कोहनी को तीन-चार बार मोडना और फैलाना चाहिये तथा रोगी को मुट्ठी काफी जोर से कसने को कहना चाहिए। सिरा मे इजेक्शन लगाते समय अत्यन्त धीरे-धीरे औपधि प्रवेश कराना चाहिए। तीन सी० सी० औषधि प्रवेश कराने के लिए कम-से-कम एक मिनट समय लगना चाहिये अन्यथा प्रतिक्रिया होने की सम्भावना रहती है। केवल माफर्साइड (Mapharside) का इंजेक्शन तीव्र गति से दिया जाता है। रोगी को लिटा कर इजेक्शन देना चाहिए।

(छ) **हृदय के अन्दर (Intra-cardiac) इञ्जेक्शन लगाने की विधि** :—हृत्स्पन्द (Heart beat) बन्द हो जाने पर इस मार्ग का प्रयोग किया जाता है। इससे हृत्पेशी (Myocardium) को संकोच करने की उत्तेजना मिलती है। चतुर्थ पर्शुकान्तरीय स्थान (Inter-costal space) मे मध्यअक्षकीय (Mid-clavicular) रेखा मे, हृदय की दिशा में ३ इंच गहराई तक सूई प्रवेश कराना चाहिए। सूचिका के हृदय के अन्दर पहुँचने पर दण्ड (Piston) खीचने से पिचकारी मे रक्त आ जायेगा। इस विधि से प्रायः एड्रीनलीन (Adrenaline) १ : १००० सी० सी० १/२ प्रयोग की जाती है।

(ज) **ब्रह्मगुहागत इञ्जेक्शन** (Cerebral ventricular injection) :—इस विधि का उपयोग मस्तिष्क को चैतन्य करने के लिए तथा मस्तिष्कगत विभिन्न केन्द्रो को उत्तेजित करने के लिए किया जाता है। सूचिका द्वारा सीधे मस्तिष्क के चतुर्थ ब्रह्मगुहा (Ventricle) मे औषधि पहुँचाई जाती है। इसमे पहले सिर के बालो को उस्तरे से साफ कर शिर की अस्थि को ट्रिफाइन (Trephine) से छेदते है, फिर एक विशेष प्रकार की सुई से यह क्रिया करते है। यदि सूचिका ठीक-ठीक ब्रह्मगुहा मे पहुँच जाती है तब इजेक्शन के समय, औषधि प्रवेश कराते समय पिचकारी पर जोर नही लगाना पडता। अतः दवा भरते समय यदि ताकत लगाना पडे तब सम-

भना चाहिए कि सूई ठीक स्थान पर नहीं पहुँची है। गलत स्थान पर इंजेक्शन देने से अंगघात (Paralysis) हो सकता है।

(११) **कटिवेध (L. P.)** :—मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) तथा धनुर्वात (Tetanus) आदि की चिकित्सा तथा निदान के लिए इस विधि का उपयोग किया जाता है।



चित्र—४

कटिवेध (L. P.) की विधि।

विधि :—रोगी के पेट की ओर उसका पृष्ठवंश (Spine) झुका देना चाहिये। पीठ की ओर दोनो जघनकपालिक ऊर्ध्वकूटो (Iliac crest) को एक रेखा द्वारा मिला देना चाहिए। यह रेखा जिस स्थान पर पृष्ठवंश के ऊपर से जाती है, उस स्थान के नीचे वाले प्रथम दो कशेरूकों (Vertebra) के मध्य मे सूई प्रवेश कराना चाहिये। यह स्थान प्रायः चतुर्थ व पञ्चम कटि कशेरुक (Lumbar vertebra) के मध्य का होता है। इस स्थान की त्वचा को प्रथम प्रोकेन २ प्र० श० से संज्ञाहीन कर लेना

चाहिए। सूई के मार्ग मे कोई बाधा प्रतीत होने पर सूई को ऊपर की ओर थोड़ा झुकाना चाहिए। क्रिया सफल होने पर सूई का दण्ड (Stellate) खींचने पर ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) स्वयं ही निकलने लगता है। आवश्यकतानुसार ब्रह्मवारि निकल जाने के पश्चात् सूचिका को बाहर निकाल कर छिद्र को टि० बेन्जोइन (Tr. Benzoin co) से ठीक से बन्द कर देना चाहिए। छिद्र ठीक न बन्द होने पर ब्रह्मवारि निकलता रहता है और रोगी के सिर मे पीडा होती है।

(१२) **एनिमा** (Enema) :—गुदामार्ग से एनीमा द्वारा मल निकाला जाता है अथवा कुछ औषधियाँ प्रयोग की जाती है। मुख द्वारा जल तथा आहार न ले सकने पर भी इस मार्ग का प्रयोग किया जाता है। कब्ज मे इसका प्रयोग कभी-कभी ही करना चाहिए। इसकी आदत पड़ जाने से आगे चल कर रोगी को कष्ट हो जाता है और मलाशय (Rectum) की पेशियों का बल (Tone) नष्ट हो जाता है तथा एनीमा लगाने पर भी मल परित्याग नहीं होता। उपसर्ग, (Ifn:), दुर्बलता आदि मे विशेषकर जब मल कडा होकर आन्त्र मे फँस जाता है तब इसका प्रयोग किया जाता है। साबुन के पानी की अपेक्षा लवण (Nacl) का घोल १ प्र०श० अथवा सोडियम बाइ कार्ब (Sod. Bicarb) का १ प्र० श० घोल अच्छा है। साबुन का पानी आन्त्र मे प्रक्षोभ (Irritation) करता है। एनीमा का जल एक बार मे पा० १–४ तक होना चाहिए। आध्मान (Tympanites) रहने पर जल मे तारपीन का तेल (Turpentine) १–२ चम्मच मिला कर एनीमा लगाना चाहिए। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) तथा बाल्यावस्था अथवा अत्यन्त दुर्बल रोगी मे एनीमा की अपेक्षा जैतुन का तेल (Olive oil) ड्रा० ४, ग्लीसरीन (Glycerin) ड्रा० ४ तथा गर्म साबुन का पानी औं० १ मिला कर पिचकारी (Syringe) के द्वारा गुदामार्ग से देना चाहिए। एनिमा लगाने की निम्न विधियाँ हैं :—

(क) **एनीमा की पिचकारी** (Syringe) से:—यह रबर की पिचकारी होती है। इसका मध्य भाग गोल व अण्डाकार होता है और रबर के छोटे गेंद की भाँति सदा फूला हुआ रहता है। यन्त्र के इस भाग को कन्द (Bulb) कहते हैं। इसके दोनो तरफ से रबर की लम्बी-लम्बी दो नलिकाएँ निकली रहती है। एक नलिका के सिरे पर एक छोटा सा कन्द लगा रहता है और यह भाग

औपधि के पात्र में डुबा दिया जाता है। दूसरी ओर की नलिका मे सेलूलाइड की नलिका (Nozzle) लगी रहती है। इसको गुदामार्ग मे प्रवेश किया जाता है। रोगी को एक पार्श्व में लिटा कर छोटे कन्द को औषधि मे डुबा कर नौजल (Nozzle) को गुदा मे प्रवेश कर बड़ा कन्द दबाने से औषधि गुदा मे प्रवेश करती है।

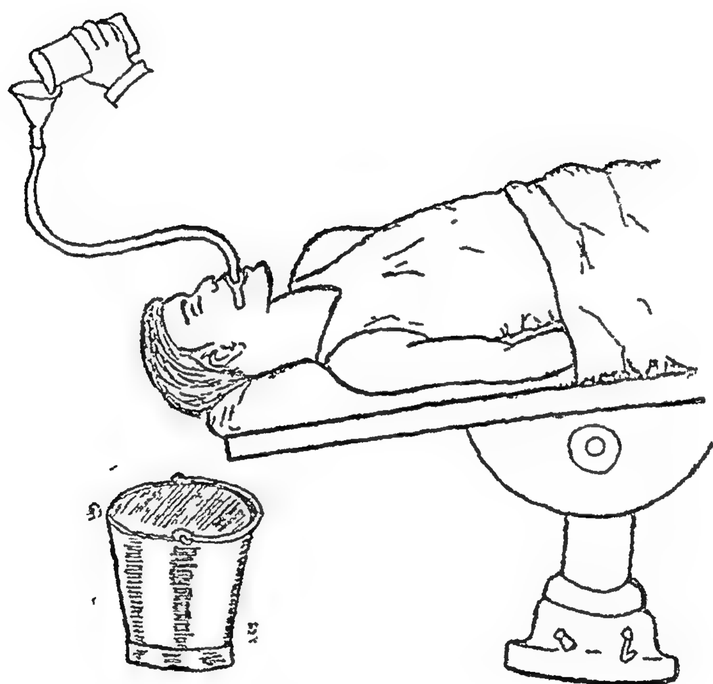
(ख) वस्तिपात्र (Enema can) से :—यह एक टीन का पात्र होता है। इसके ऊपर का सिरा औषधि भरने के लिए खुला रहता है। यह पात्र दिवाल के सहारे लटका दिया जाता है। इसके नीचे एक छिद्र होता है। इस छिद्र मे पॉंच फीट की लम्बी रबर की नलिका लगी रहती है। इस नलिका के अन्त मे सेलूलाइड का नौजल रहता है। रोगी को किसी चौकी पर बाईं करवट लिटा देना चाहिए। नौजल को वेसलीन, तेल अथवा ग्लीसरीन से चिकना कर गुदा-मार्ग मे धीरे-धीरे प्रविष्ट करा देना चाहिए। साधारणतया १–४ पा० की मात्रा मे औषधि का प्रयोग करना चाहिए। जब निश्चित मात्रा मे औपधि गुदा के भीतर पहुॅच जावे तब नौजल (Nozzle) निकाल कर कुछ देर तक गुदा मार्ग को अंगुठे से दबा कर रखना चाहिए। कुछ क्षणों के बाद रोगी को मल त्याग करने की इच्छा प्रतीत होगी। एनीमा देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि नौजल गुदा मे तेजी से न प्रविष्ट कराया जावे। औषधि भी तेजी से प्रवेश नहीं कराना चाहिए।

(१३) योनि प्रक्षालन (Vaginal douche) :—यह क्रिया योनि मे सेक पहॅुचाने तथा उसको जीवाणुरहित करने के लिए की जाती है। इसका यन्त्र एनीमा (Enema) के यन्त्र के समान होता है। योनि मे प्रवेश करने का एक विशेष नौजल (Nozzle) मिलता है।

विधि :—डूश (Douche) लगाने के पहिले पात्र को भली-भॉंति शुद्ध कर लेना चाहिए, फिर उस पात्र मे औपधि भर कर किसी ऊॅचे स्थान या दीवार मे खूॅटी के सहारे लटका देना चाहिए। योनि मे प्रवेश कराने वाली औषधि का ताप प्राकृत ताप से ५° फा० अधिक होना चाहिए। रोगिणी को चित्त शैय्या पर लिटा देना चाहिए और उसकी कमर के नीचे एक मुलायम तकिया रख देना चाहिए ताकि ऊपर के अंगों से कटि प्रदेश की सतह ऊचाई पर रहे। इसके बाद वेसलीन या जैतून के तेल से नौजल (Nozzle) को चिकना बना कर योनि मे प्रवेश कर देना चाहिए। अब औषधि को योनि मे जाने

दें। रोगिणी को कुछ समय तक चुपचाप पडे रहना चाहिए, फिर धीरे-धीरे शैय्या से उठना चाहिए। योनि प्रक्षालन के लिए लाइसोल (Lysol) बोरिक एसिड, डिटॉल आदि औषधियों के लोशन व्यवहार में लाए जाते हैं।

(१४) **आमाशय प्रक्षालन** (St: Wash) :—इस क्रिया के द्वारा आमाशय का प्रक्षालन किया जाता है। आमाशय धोने के लिए एक प्रकार की रबर की नलिका मिलती है, जिसको आमाशय नलिका (St: tube) कहते है।



चित्र—९

आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash)

विधि :—कार्य आरम्भ करने के पूर्व अपने हाथ और नलिका को जीवाणुरहित कर लेना चाहिए। रोगी को चित्त लिटा कर उसके मुख में मुख खोलने का यन्त्र (Mouth gag) लगा दिया जाता है, जिससे कि रोगी का मुख खुला ही रहे। अब रबर की नलिका को अन्न-प्रणाली (Oesophagus) में प्रवेश कर आमाशय तक पहुँचा देना चाहिए। रबर की नलिका के आमाशय मे पहॅच जाने पर नलिका के बाहिरी सिरे पर एक शीशे की टीप

(Funnel) लगा देना चाहिए। अब टीप के द्वारा उष्ण या शीतल जल अथवा औषधि आमाशय मे प्रवेश कराना चाहिए। टीप को नीचा करने से औषधि स्वयं ही आमाशय से बाहर निकल आती है। इस क्रिया को अनेक बार करने से आमाशय धुल जाता है।

(१५) यंत्र द्वारा (Aerosol) श्वसन मार्ग में औषधि प्रवेश करने से, औषधियो का उपसर्ग से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित होता है। पेनिसिलीन (P.G.) से केवल शोथ की तीव्र अवस्था मे लाभ होता है। इस विधि से पेनिसिलीन (P) तथा स्ट्रेप्टोमायसीन (Str:) प्रायः प्रयोग की जाती हैं। पेनिसिलीन जी (P.G.) की १ ल० अं० इ या स्ट्रेप्टोमायसीन ग्रा० १ को २० सी०सी० प०ज० मे घोलना चाहिये। इन दोनो औषधियो में से किसी एक को अथवा दोनो को मिला कर, १ सी० सी० औषधि १० मिनट तक श्वसन मार्ग मे यन्त्र द्वारा प्रवेश कराना चाहिये। तत्पश्चात् २० मिनट तक यह क्रिया बन्द रहनी चाहिये। इसी प्रकार दिन भर औषधि दे सकते है। प्र० दि० पेनिसिलीन २ ल० अ० इ० तथा स्ट्रेप्टोमायसीन ग्रा० २ तक प्रयोग कर सकते हैं। लाभ हो जाने के पश्चात् इस क्रिया को द्वि० या चा० प्र० दि० करना चाहिये। १–१½ मास इस प्रकार चिकित्सा करने के पश्चात् २–३ सप्ताह औषधि बन्द कर पुनः प्रारम्भ करना चाहिये। बैसीट्रेसीन (Btn) औरियोमायसीन (Au.), टेरामायसीन (Tn) आदि भी इसी प्रकार प्रयोग कर सकते है। इनकी मात्रा स्ट्रेप्टोमायसीन के समान होनी चाहिये। कड़वी होने के कारण क्लोरोमायसिटीन (Cln) का इस प्रकार प्रयोग नही किया जाता। इन औषधियो से लाभ न होने पर सल्फा औषधि (S) ग्रा० १ तक प्र० दि० ३ प्र० श घोल मे प्रयोग कर सकते हैं। इन औषधियो को ड्पानौल (Duponol), जेफिरान (Zephiran), एरिसौल टी (Aerosol T.) मे घोलने से ष्ठीवन तरल होता है।

(१६) निपतित वायु कोषाओं (Alveoli) को फुलाने की विधि :—श्वसन मार्ग के उपसर्ग आदि ठीक हो जाने के पश्चात् रोगी को फुटबौल के ब्लैडर (Bladder) मे मुख से वायु भरनी चाहिये अथव वुल्फ की दो बोतलों (Woulf's bottles) को शीशे की नली से मिलाकर, एक बोतल मे जल भरना चाहिये। अब रोगी को शीशे की नली द्वारा फूक कर एक बोतल का पानी दूसरी बोतल मे भरना चाहिये। इस क्रिया को त्रि०

या चा० प्र० दि० करना चाहिये । प्रत्येक वार मे ५–१० वार बोतल खाली करनी चाहिये ।

(१७) **फुफ्फुसावरणीय गुहा से जल निकालने की विधि** (Paracentasis of pleural cavity) :—जिस स्थान से जल निकालना हो उस स्थान की त्वचा को स्पिरिट (Spt:) तथा टि० आयोडीन (Tr.iodine) लगा कर जीवाणुरहित कर लेना चाहिये । साधारण जल निकालने के लिये पतली और लम्बी सूई तथा पूय (Pus) की सभावना रहने पर मोटी सूई प्रयोग करना चाहिये। सूई पर्शुकातरीय स्थान (Inter-costal space) मे सीधी अन्दर की ओर पर्शुक (Rib) के ऊपरी भाग से सटा कर प्रवेश करना चाहिये । पर्शुक के नीचे वातनाड़ी तथा रक्तवाहिनियाँ (B.V.) रहती है । पर्शुक के नीचे सूई प्रवेश कराने से इनमे आघात हो सकता है। सूई प्रवेश करने के पूर्व सूई तथा पिचकारी आदि को उबाल कर जीवाणुरहित कर लेना चाहिये एवं त्वचा को सज्ञाहीन कर देना चाहिये । संज्ञाहीन करने के लिये त्वचा मे नोवोकेन (Novocaine) २ प्र० श० २–५ सी.सी. अनेक स्थान मे इन्जेक्शन द्वारा प्रवेश (Infiltrate) करना चाहिये । जल की मर्यादा के अनुसार निम्न स्थानो मे सूई प्रवेश की जाती है:—पूर्वकक्षीय रेखा (Ant:axillary line) मे पचम पर्शुकातरीय स्थान (Intercostal space) या मध्यकक्षीय रेखा (Mid-axillary line) मे षष्ठम स्थान या पश्चिम कक्षीय रेखा (Post: axillary line) मे सप्तम स्थान मे या अंसफलकीय रेखा (Scapular line) मे ठीक असफलक (Scapula) के नीचे सूई प्रवेश करना चाहिये । सूई प्रवेश करते समय जोर से दबाना पड़ता है । जब सूई प्राचीरीय फुफ्फुसावरण (Parietal pleura) पार कर आगे निकलती है तब इस दबाव मे कमी हो जाती है और सूई सरलता से प्रवेश करती है । अब पिचकारी का दण्ड (Piston) खींच कर जल निकालना चाहिये ।

(१८) **फुफ्फुसावरणीय गुहा** (Pleural cavity) से **पूय निकालने की विधि** :—इस विधि मे १८ नम्बर की सूई के द्वारा पूय निकाला जाता है । रोगी की त्वचा तथा यन्त्र को जीवाणु रहित (Sterilize) करने के पश्चात् रोगी को बैठा कर विकृत पार्श्व की मध्य अंसफलकीय रेखा (Mid-scapular line) मे ७–८वीं पर्शुकान्तरीय स्थान (Intercostal sp-

ace) में सूई प्रवेश कर पिचकारी से पूय निकालना चाहिये। एक बार में यथा सभव सम्पूर्ण पूय निकालना चाहिये। छिपे हुए पूय का पता लगाने के लिये अनेक बार क्ष-किरण परीक्षा (x-ray) की आवश्यकता पड़ती है।

(१६) **हृदयावरणीय गुहा** (Pericardial sac) **से जल निकालने की विधि :**—जल निकालने के लिये निम्न स्थानो मे सूई प्रवेश की जाती है :—(क) वक्ष के वाम ओर, पचम या षष्ठम पर्शुकान्तरीय स्थान (Inter-costal space) मे हृत्मदता क्षेत्र (Cardiac dullness) की वाम मर्यादा से १ से०मी० दाहिनी ओर। इस स्थान मे सूई अन्दर की ओर तथा थोड़ा ऊपर की ओर शनैः शनैः प्रवेश करना चाहिये। सूई के ३–५से० मी० अन्दर पहुँचने के पूर्व पिचकारी मे जल आना चाहिये। (ख) **आमाशयोर्ध्व** प्रान्त (Epigastrium) मे उरःफलक (Sternum) की वाम मर्यादा तथा अग्रपत्र (xiphoid) के मध्य मे सूई प्रवेश की जाती है। सूई का रुख ऊपर की ओर ३° अश का कोण बनाये हुये शरीर की मध्य रेखा की दिशा मे होना चाहिये। सूई के ४ से.मी. अन्दर पहुँचने के पूर्व पिचकारी में जल आने लगता है। (ग) **पीठ की ओर से :**—उपर्युक्त दोनों विधियो से जल की मर्यादा पर न पहुँच सकने पर पीठ की दिशा से सूई प्रवेश करना चाहिये। रोगी को अपना बायाँ हाथ ऊपर उठा कर रखना चाहिये। अब बाएँ ओर के सातवे या आठवे पर्शुकान्तरीय स्थान (Inter-costal space) मे मध्य अंसफलक रेखा (Mid-scapular line) मे सूई अन्दर की ओर अभिमध्य दिशा मे (Medially) प्रवेश करनी चाहिये।

उरःफलक (Sternum) के दाहिनी ओर सूई कभी नहीं प्रवेश करना चाहिये। यदि पूयज हृदयावरण शोथ (Purulent pericarditis) की सभावना हो तब पीठ की दिशा से सूई कभी प्रवेश नही करना चाहिये। हृत्पेशी (Myocardium) मे सूई प्रवेश नहीं करनी चाहिये। जल धीरे-धीरे निकालना चाहिये। जल शीघ्रता से निकालने से हृदय की अकस्मात् अभिस्तीर्णता (Dilatation) होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है। इस अवस्था को बचाने के लिये २० सी० सी० जल निकाल कर उसके स्थान मे १० सी० सी० वायु प्रवेश करना चाहिये। वायु प्रवेश करने से बाद, क्ष-किरण (x-ray) द्वारा देखने मे भी सहायता मिलती है। जल निकालने पर यदि पूय (Pus) मिले तब शल्य चिकित्सा (Surgery) करनी चाहिये।

विधि :—२० सी० सी० की पिचकारी मे ४ इं० की रबर की नलिका द्वारा १८ नम्बर की सूई लगाना चाहिये। संपूर्ण यंत्र को तथा त्वचा को जीवाणुरहित (Sterilize) करना चाहिये। त्वचा मे प्रोकेन १-२ प्र० श० प्रवेश कर (Infiltrate) त्वचा को संज्ञाहीन करना चाहिये। अब सूई को शनैः शनैः अन्दर प्रवेश करे। जल निकाल लेने के बाद सूई बाहर निकाल कर टिं० बेनजोइन (Tr: benzoin co) लगा कर पट्टी बाँध देना चाहिये।

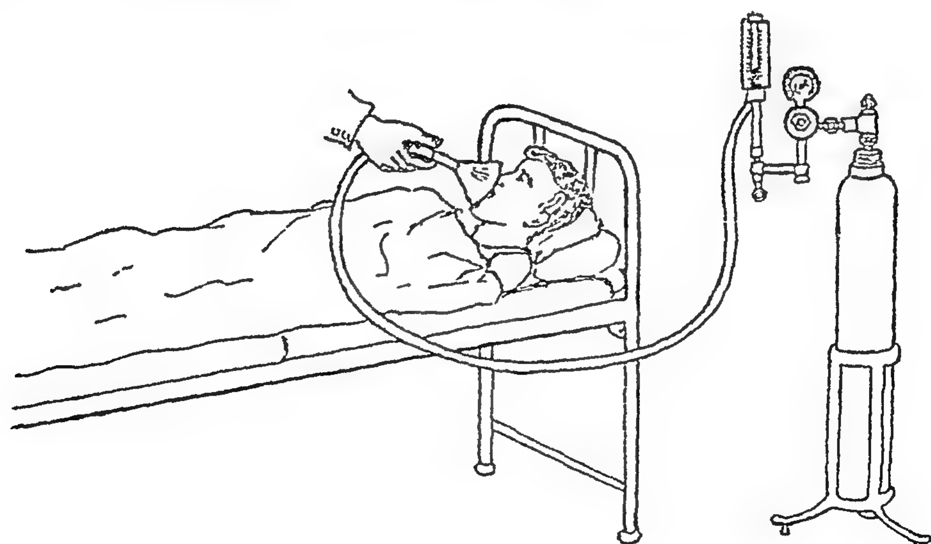
(२०) जलोदर (Ascites) की शल्यचिकित्सा :—(क) व्रीहिमुख (Trocar) द्वारा उदर से आ० अ० जल निकाला जा सकता है। इस क्रिया को करने मे जल्दी नही करना चाहिये। उदर मे पीडा या असुविधा, हृदय तथा श्वसन मे कष्ट, मूत्र की मात्रा मे वृद्धि न होने पर, जल के दबाव के कारण त्वचा पर फफोले (Blisters) पड़ जाने पर, दबाव के कारण फुफ्फुस के आधार का निपात (Collapse) होने पर, बार-बार रक्तवमन (Hematemesis) होने पर उदर से जल निकाला जा सकता है।

विधि:—रोगी को शैय्या के किनारे दोनों पैर लटका कर तकियों के सहारे बैठाना चाहिये। उसके उदर पर एक वस्त्र कस कर बाँधना चाहिये। रोगी को मूत्र परित्याग कराने के पश्चात् उदर प्राचीर की त्वचा तथा यंत्र जीवाणुरहित कर, उदर की त्वचा नोवोकेन (Novocaine) २ प्र. श. से संज्ञाहीन (Anaesthetize) कर त्वचा के अन्दर व्रीहिमुख (Trocar) प्रवेश करना चाहिये। नाभि तथा भगास्थि (Symphisis pubis) के मध्य बिंदु से ऊपर तथा शरीर की मध्य रेखा के एक ओर व्रीहिमुख प्रवेश करना चाहिये। मध्य बिंदु के नीचे व्रीहिमुख प्रवेश करने से वस्ति (Bladder) मे आघात होने की सभावना रहती है। एक बार मे संपूर्ण जल नहीं निकालना चाहिये। आ० अ० रोगी को उत्तेजक घोल (Stimulant यो ३६) दे सकते हैं। जल निकालने के पश्चात् व्रीहिमुख को बाहर निकाल कर त्वचा पर टिं० बेनजोइन (Tr:benzoin co:) लगा कर पट्टी बाँध देना चाहिये।

(ख) टालमा मौरिसन का शल्यकर्म (Talma Morrison's op) :—इसका परिणाम निराशाजनक है। इसका सिद्धात है कि उदरावरण (Peritoneum) की रक्तवाहिनियो (B.V.) का उदर प्राचीर (Ant : abd : wall) से प्रत्यक्ष सपर्क स्थापित किया जाता है जिससे प्रतिहा-

रिणी रक्त-प्रवाह (Portal circulation) का रक्त इस नवीन मार्ग से हृदय की ओर जा सके। इस क्रिया मे यकृत के ऊपर का भाग तथा उसके समीप की महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) का भाग गौज (Gauze) से रगड़ दिया जाता है जिससे वे आपस मे चिपक जाये। साथ-साथ वपावहन (Omentum) को उदर के पूर्व भाग की प्राचीर (Ant:abd:wall) से जोड दिया जाता है।

(२१) प्राणवायु (O_2) प्रयोग करने की विधि :—रबर की नलिका (Catheter)मे न्यूपरकेन (Nupercaine),पैण्टोकेन (Pantocaine) अथवा नोवोकेन (Novocaine) की १–२ प्र० श० की मलहम लगाकर नलिका को नाक मे नासा-ग्रसनिका (Naso-pharynx) तक प्रवेश करा देना चाहिये। अब नलिका को कपोल पर स्टिकिंग्लास्टर (Sticking plaster) से चिपका देना चाहिये। प्राणवायु को नलिका द्वारा २ लिटर प्र० मि० की गति से प्रवेश कराना चाहिये। प्राणवायु को नाक मे प्रवेश कराने के पूर्व उसे एक शीशी गरम मद्य मे प्रवेश कराना चाहिये।



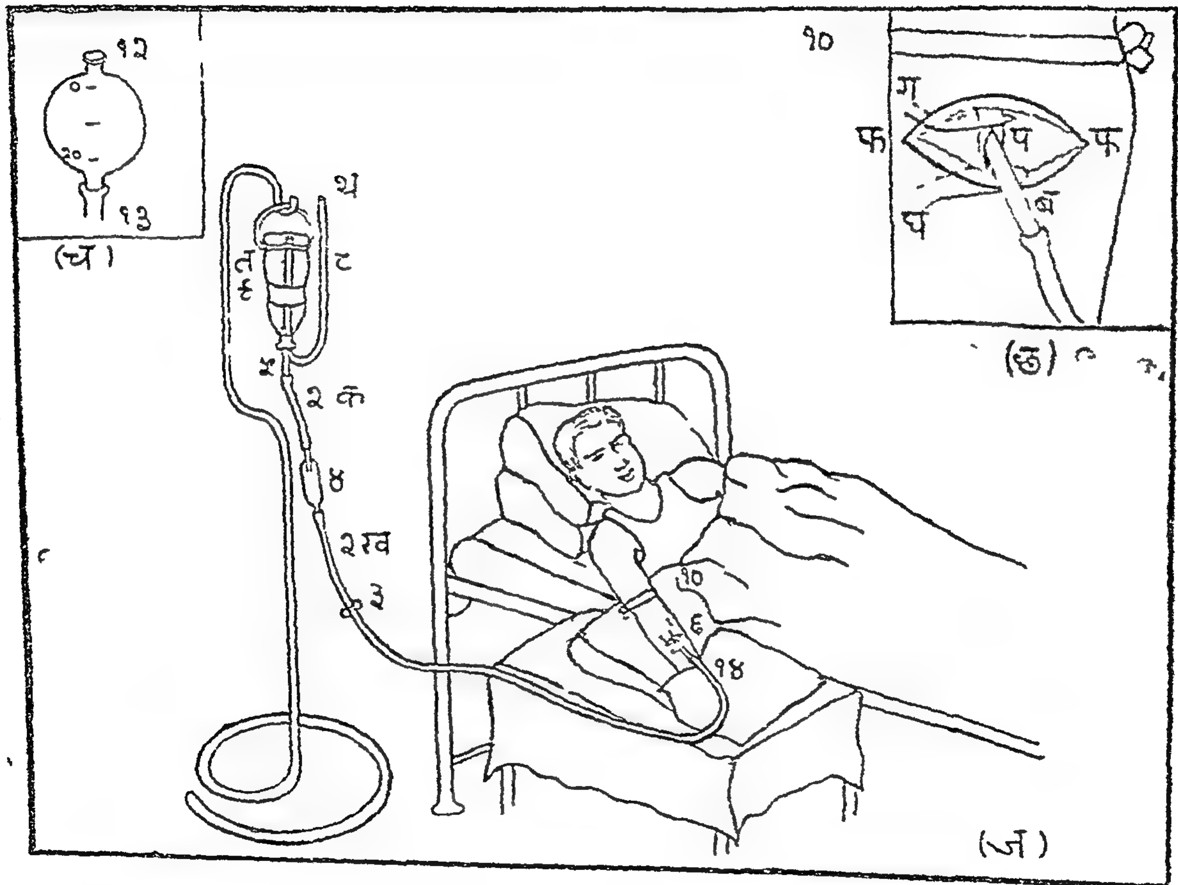
चित्र—६

टीप (Funnel) के द्वारा प्राणवायु (O_2) देने की विधि

(२२) नाक में पीछे की ओर से गौज (Gauze) प्रवेश कराने की विधि :—एक पतली रबर की नलिका (Catheter) मे तागा बाँध कर नलिका को नाक मे प्रवेश कर मुख से निकाल देना चाहिये। इस प्रकार

तागा नाक से प्रवेश कर मुख से निकल आयेगा। अब तागे का वह भाग जो मुख से निकला है उसमे गौज बाँध देना चाहिये। तागे का वह भाग जो आगे की ओर नाक से निकला है उसको खींचना चाहिये। इस प्रकार गौज मुख की ओर से नाक के पीछे वाले भाग मे प्रवेश करेगा। गौज को अपने स्थान पर २४ घण्टे रहने देना चाहिये।

(२३) सिरामार्ग (I.V.) से लवण घोल (Saline) आदि देने की विधि :—



चित्र—७

सिरामार्ग से लवण घोल आदि देने की विधि

घोल देने के यंत्र को सर्व प्रथम १० मिनट उबाल कर जीवाणुरहित (Sterilize) कर लेना चाहिये। इस यंत्र के निम्न भाग है १—**फ्लास्क**

(Flask) :—यह शीशे की बोतल चिपटी या अण्डाकार होती है। इसके ऊपरी भाग मे दवा डालने के लिये एक छिद्र (१२) तथा नीचे के भाग मे रबर की नलिका लगाने के लिये शीशा, नलिका के समान पतला (१३) हो जाता है। २—**रबर** की नलिका (Rubber tube) :—यह नलिका दो भागो मे विभाजित रहती है (२ क और २ ख)। इन दोनों भागो के मध्य मे बूँद गिनने का यंत्र (Interruptor,४) रहता है। नलिका का ऊपरी भाग (२ क) फ्लास्क (६) से मिला रहता है और नीचे वाले भाग मे एक मोटी सूचिका या कैनुला (Needle or canula) लगाई जाती है। नीचे वाली नलिका (२ ख) के मध्य में औषधि की गति नियंत्रण करने के लिये पेचदार यंत्र (३) होता है। इस यंत्र के द्वारा नलिका का मार्ग कम या अधिक किया जा सकता है। सूचिका के अत्यंत समीप एक छोटी शीशे की नलिका (१४) लगाई जाती है। जब सूचिका सिरा (Vein) मे प्रवेश करती है तब रक्त पीछे की ओर जाता है और इस शीशे की नलिका से देखा जाता है। आज-कल प्लास्टिक आदि की पतली नलिका (२ ख) आती है जिसके द्वारा रक्त देखा जा सकता है और इस शीशे की नलिका (१४) की आवश्यकता नही पडती। यंत्र को जीवाणुरहित करने के पश्चात् उसको लवण जल (Saline) आदि जिस औषधि का प्रयोग करना हो उससे भर देना चाहिये। फ्लास्क (Flask) पर प्रायः ० से २० औंस तक का निशान बना रहता है। औषधि को ० निशान तक भर कर सूचिका से गिरने देना चाहिये। इस समय ३ नम्बर वाला पेच (Screw) पूरा खुला रहना चाहिये। अब सूचिका को दो एक बार फ्लास्क (Flask) से ऊपर तथा नीचे कर, यंत्र से वायु निकाल देना चाहिये अन्यथा वायु शरीर मे प्रवेश कर उपद्रव करेगी। अब पेच (३) को पूर्ण रूप से बंद कर देना चाहिये। यंत्र अब प्रयोग करने के लिये तैयार हो गया। इस क्रिया को आगे सम्पन्न करने की दो विधियाँ है :—

(अ) **बन्द विधि** (Closed method) :—यदि रोगी की सिराये सरलता से देखी जा सके तब उसके पूर्वबाहु (Arm) को फैला कर मध्यबाहु की खात (Cubital fossa) से थोड़ा ऊपर बंधन (Tourniquet) या रबर की नलिका (१०) से कस कर बाँध देना चाहिये और सिरा के ऊपर की त्वचा को स्पिरिट (Spirit) तथा टि० आयोडीन (Tr:iodine) द्वारा जीवाणुरहित कर सूचिका को सिरा मे प्रवेश कर देना चाहिये। यदि नलिका

(२ ख या १४) मे सूचिका के समीप रक्त दिखलाई पड़े तब समझना चाहिये कि सूचिका सिरा के अंदर है। अब रबर के बंधन (१०) को ढीला कर देना चाहिये तथा पेंच (Screw) को शनैः शनैः खोलना चाहिये। जिस गति से औषधि प्रवेश करना चाहे उतना ही नलिका का मार्ग पेंच से खोलना चाहिये। गति नियंत्रण यंत्र (४) से औषधि बूँद बूँद कर गिरेगी। इन बूँदो को प्रति मिनट गिनने से औषधि प्रवेश करने की गति का ज्ञान होता है। अब चिपकने वाली पट्टी (Sticking plaster) से सूचिका को स्थिर कर देना चाहिये और रोगी के हाथ को कुशा (Splint) पर रख कर दो स्थानो पर पट्टी से बाँध देना चाहिये जिसमे रोगी हाथ न हिला सके। औषधि को यदि गर्म रखना हो तब फ्लास्क (Flask) के चारो ओर गरम पानी की बोतल या गरम पानी मे भीगा हुआ तौलिया लपेट देना चाहिये। फ्लास्क को रोगी के शैय्या से प्रायः ३ फिट ऊँचा रखा जाता है। औषधि फ्लास्क मे समाप्त होने के पूर्व ही पेच (३) को बन्द कर देना चाहिये जिसमे शरीर मे वायु प्रवेश न कर सके। यदि और औषधि प्रवेश कराना हो तब फ्लास्क को पुनः भर कर पेच (३) को खोल दे सकते है। फ्लास्क का ऊपरी भाग (१२) सर्वदा पतले तथा स्वच्छ वस्त्र से ढॅका रहना चाहिये। संपूर्ण औषधि दे देने के पश्चात् पेच (३) को बन्द कर सूचिका सिरा से निकाल कर, सिरा पर टि० बेनजोइन (Tr.Benzoin co) लगा कर गौज (Gauze) तथा रूई रख कर बाँध देना चाहिये और रोगी के हाथ को कुशा (Splint) से पृथक कर देना चाहिये।

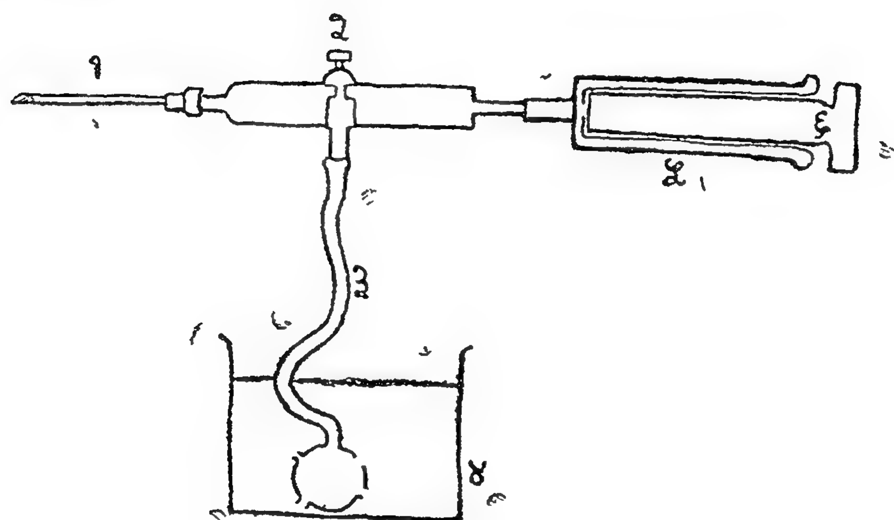
(आ) **खुली विधि** (Open method) :—जब रोगी की सिरा ठीक से दिखलाई नही देती तब इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि मे सूचिका के स्थान पर कैनुला (Canula) प्रयोग किया जाता है। इस यंत्र का सिरा सूचिका के समान तीव्र नहीं होता। लवण जल देने के यन्त्र को पूर्ववत जीवाणुरहित कर, उसमे से वायु निकाल देना चाहिये। रोगी के हाथ को कुशा (Splint) मे बाँध कर, मध्य बाहु की खात (Cubital fossa) की त्वचा को पूर्ववत औषधियों द्वारा जीवाणुरहित करने के पश्चात् मध्य बाहु के खात के सामने की त्वचा जहाँ पर काटना हो उस स्थान पर नोवोकेन (Novocaine), २ प्र० श० अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से देकर त्वचा को संज्ञाहीन (Anaesthetize) करना चाहिये। अब पूर्ववत्

वंधन (Tournquet) बाँध कर सिरा को स्पष्ट किया जाता है। सिरा (प) जब दिखलाई देने लगती है तब उसके ऊपर की त्वचा (फ-फ) चाकू द्वारा सावधानी पूर्वक काट दी जाती है। इस क्रिया के करते समय सिरा में किसी प्रकार का आघात नहीं होना चाहिये। चाकू को अलग रखकर, सिरा को चिमटी द्वारा उठा कर, उसको चारो ओर की धातु (Tissue) से पृथक करना चाहिये। अब सिरा के पीछे से दो रेशम के तागे (ग और घ) प्रवेश किये जाते हैं। अँगुलियों की ओर का तागा (घ) कस कर बाँध दिया जाता है और ऊपर की ओर के तागे (ग) की सहायता से सिरा को थोड़ा उठा कर कैंची से सिरा मे छोटा सा छिद्र किया जाता है। इस छिद्र मे कैनुला (Canula) प्रवेश कर (ब), इसके ऊपर के तागे (ग) मे एक गाँठ बाँध दी जाती है जिससे कैनुला अपने स्थान से हिल न सके।

अब वंधन (१०) तथा पेंच (३) को ढीला कर दिया जाता है जिससे औषधि सिरा मे प्रवेश कर सके। सपूर्ण औषधि प्रवेश करने के उपरान्त कैनुला को निकाल लिया जाता है और दोनो तागों (ग, घ) को कसकर बाँध दिया जाता है। सिरा को अन्दर कर उसके ऊपर की त्वचा को सीकर, स्पिरिट तथा आयोडीन (Spirit, Tr:iodine) लगा कर गौज (Gauze) तथा रूई रखकर बाँध देना चाहिये। पाँच दिन पश्चात् त्वचा मे लगे टाँको (Stiches) को काट कर निकाल देना चाहिये। इस अवधि मे यदि पुनः औषधि प्रवेश करने की आवश्यकता हो तब टाँको को काट कर सिरा के उसी छिद्र मे कैनुला प्रवेश कर औषधि पूर्ववत् दे सकते है।

(इ) उपर्युक्त क्रिया को सरल करने के लिये आजकल लवण जल (Saline) आदि औषधियाँ रबर के कौर्क (Cork) वाली बोतल मे बनी बनाई मिलती हैं। इसमे प्लास्टिक (Plastic) की दो पतली नलिकाओ (८, २) की आवश्यकता पड़ती है। प्रथम नलिका (८) के एक सिरे पर एक मोटी सूचिका (त) होती है और दूसरे सिरे पर वायु छानने का यंत्र (थ) होता है। दूसरी नलिका (२) मे दोनों ओर सुचिकायें (५, ६) तथा मध्य मे नलिका दबाने का पेंच (३) और बूँद गिनने का यंत्र (४) होता है। यत्र प्रयोग करने के पूर्व दोनों नलिकाओ को गरम पानी मे उबाल कर जीवाणुरहित कर लेना पड़ता है। अब बोतल (६) को उल्टा टाँग कर रबर के कार्क मे नलिका (८) की सूचिका (त) प्रवेश कर दी जाती है। नलिका का

दूसरा सिरा जिस पर वायु छानने का यंत्र (थ) लगा रहता है उसको बोतल से ऊँचा रखा जाता है। अब दूसरी नलिका (२) की सूचिका (५) को रबर के कार्क मे प्रवेश किया जाता है। पेंच (३) को खोलने से औषधि नीचे गिरने लगती है। नलिका (२) से वायु निकाल लेने के पश्चात्, रोगी की सिरा (Vein) के ऊपर की त्वचा जीवाणुरहित कर, विधि (अ) के अनुसार सूचिका (६) को सिरा मे प्रवेश किया जाता है। अन्य क्रियाये विधि (अ) के समान ही है।



चित्र—८

सिरा मार्ग से अधिक मात्रा में औषधि देने की विधि।

(ई) इस विधि मे एक तीन मार्ग वाला यंत्र (Three way canula) प्रयोग किया जाता है। यह यंत्र अत्यंत छोटा होने के कारण स्थान कम लेता है और रोगी की गम्भीर अवस्था मे तत्काल प्रयोग किया जा सकता है परन्तु यह यंत्र सर्वदा ठीक से काम नहीं करता। इस यंत्र के एक ओर सूचिका (१) लगती है, दूसरी ओर पिचकारी (Syringe ५) लग सकती है और तीसरी ओर एक रबर की नलिका (३) लगने का स्थान होता है। ये तीनो मार्ग खोलने या वन्द करने के लिये एक पेच (२) होता है। संपूर्ण यंत्र को जीवाणुरहित करने के पश्चात् एक शीशे की कटोरी (४) मे रोगी के शरीर में प्रवेश कराने वाली औषधि रखी जाती है। इस औषधि मे नलिका (३) का एक सिरा डुबा दिया जाता है। अब पेच (२) की सहायता से सूचिका (१)

तथा पिचकारी (५) का मार्ग खोल दिया जाता है और औषधि का मार्ग (३) बन्द कर दिया जाता है और सूचिका (१) रोगी की सिरा (Vein) मे प्रवेश की जाती है। पिचकारी का दण्ड (Piston ६) बाहर की ओर खींचने से यदि सूचिका सिरा मे रहती है तब पिचकारी मे रक्त प्रवेश करता है। क्रिया प्रारम्भ करने के पूर्व पिचकारी तथा संपूर्ण यंत्र औषधि से भर दिया जाता है और वायु से रिक्त कर दिया जाता है। सूचिका के सिरा मे होने का प्रमाण मिलने पर शनैः-शनैः दण्ड दबाया जाता है और औषधि सिरा मे प्रवेश कर जाती है। पिचकारी (५) में भरी हुई संपूर्ण औषधि सीरा मे प्रवेश कर जाने के पश्चात् पेंच (२) की सहायता से औषधि (३) तथा पिचकारी (५) का मार्ग खोल दिया जाता है और सूचिका का मार्ग (१) बन्द कर दिया जाता है। अब पिचकारी के दण्ड को बाहर खींचने से औषधि पिचकारी (४) मे भर जाती है। अब पूर्ववत् पेंच (२) की सहायया से सूचिका (१) तथा पिचकारी (४) का मार्ग खोल दिया जाता है और औषधि (३) का मार्ग बन्द कर दिया जाता है। दण्ड को अब दबाने से औषधि पुनः सिरा मे प्रवेश करती है। यह क्रिया तब तक की जाती है जब तक संपूर्ण औषधि सिरा मे प्रवेश नहीं कर जाती।

(२४) **कृत्रिमवातोरस** (A.P.):–इस क्रिया मे शुद्ध वायु फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural cavity) मे भरी जाती है। इससे वक्ष मे उपस्थित नास्यात्मक (–) भार (Pressure) कम हो जाता है। परिणाम स्वरूप फुफ्फुस के ऊपर पड़ने वाला प्राकृत भार अधिक हो जाता है। इस प्रकार वायु का भार अधिक हो जाने के कारण फुफ्फुस का निपात (Collapse) होता है और फुफ्फुस को विश्राम मिलता है। इससे रोग के लक्षणों मे कमी होने लगती है तथा विकृति के स्वस्थ होने मे सहायता मिलती है। वास्तव मे फुफ्फुस पर पड़ने वाले भार की वृद्धि किसी सक्रिय भार को बढ़ा कर नहीं की जाती वरन् जो भार मे वृद्धि की जाती है वह फुफ्फुस के निष्क्रिय निपात (Passive collapse) के कारण उत्पन्न होता है।

निर्देश :—कृत्रिम वातोरस (A.P.) निम्न अवस्थाओ मे किया जाता है :—(क) फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा (T.B.) के कारण **विवर** (Gavity) होने पर। (ख) फुफ्फुस अथवा वक्ष प्राचीर (Chest wall) मे उत्पन्न हुए अर्बुद का कितना भार फुफ्फुस तथा वक्ष के भीतर के अंगो पर पड़ रहा है यह

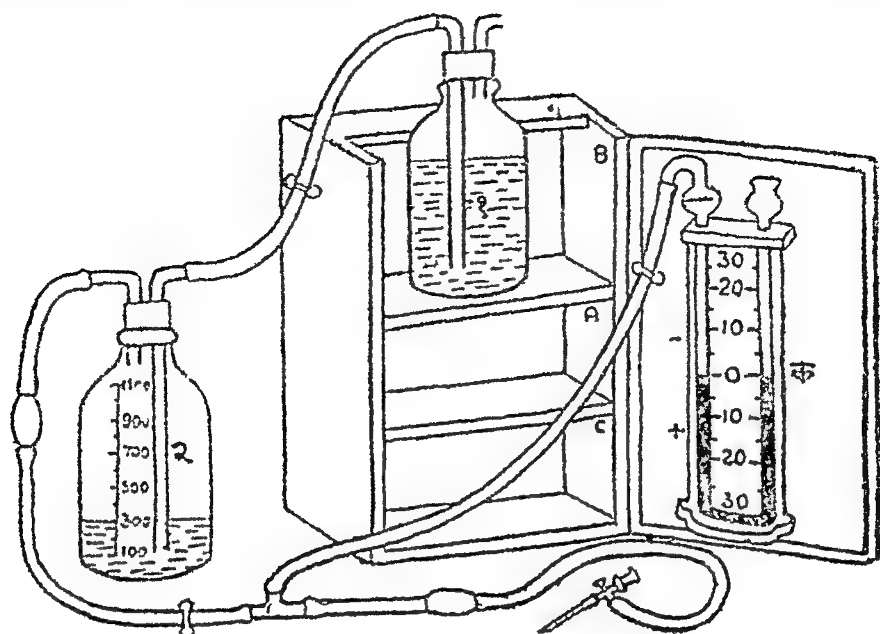
जानने के लिए भी यह क्रिया की जाती है। (ग) शुष्क **फुफ्फुसावरण शोथ** (Dry pleurisy) मे वेदना कम करने के लिए।

यक्ष्मा-जन्य निम्न अवस्थाओ मे यह क्रिया की जाती है :—एक फुफ्फुस मे तन्तु-किलाटीय (Fibro-caseous) अथवा फुफ्फुसपाकी (Pneumonic) प्रकार की विकृति रहने पर, रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) होने पर अथवा दोनो फुफ्फुस मे विकृति के साथ विवर (Cavity) रहने पर यह क्रिया की जाती है। दोनो पार्श्व मे कृत्रिम वातोरस करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। दोनों फुफ्फुस मे विकृति रहने पर जिस फुफ्फुस मे बाद मे विकृति हुई है उसी पार्श्व मे पहले यह क्रिया करनी चाहिये। जब दोनो फुफ्फुस मे विवर (Cavity) रहते हैं तब जिस फुफ्फुस मे अधिक विवर रहते है उसी पार्श्व में पहले कृत्रिम वातोरस (A. P.) करना चाहिये। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में इस क्रिया से लाभ होने की अधिक सम्भावना रहती है। रोगी की आयु ४५–५० वर्ष से अधिक रहने पर, फुफ्फुसावरण के दोनो स्तरों के आपस मे चिपक जाने पर, रोग अतिजीर्ण हो जाने पर, विकृति में तात्विक धातु (Fibrous tissue) की प्रधानता रहने पर, विवर (Cavity) की भित्ती अत्यधिक कठिन तथा मोटी रहने पर, गम्भीर मधुमेह (Diabetes) रहने पर तथा यक्ष्मा के साथ-साथ चिरकालीन श्वसनीशोथ (Chro : bronchitis), वातोत्फुल्लता (Emphysema), तमकश्वास (Asthma) आदि रहने पर इस क्रिया से लाभ नही होता। अतः इन अवस्थाओ मे कृत्रिम वातोरस नहीं करना चाहिये।

अन्य प्रयोग :—फुफ्फुस विद्रधि (Abscess), श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) के अतिरिक्त फुफ्फुस के दो खण्डो के मध्य मे पूय (Inter-lobar empyema) रहने पर भी यह क्रिया की जाती है। सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ (Wet pleurisy) मे कभी-कभी जल निकाल कर उसके स्थान मे वायु प्रवेश की जाती है।

सिद्धान्त :—नं० १ वाली बोतल का पानी जब नं० २ वाली बोतल में जाता है तब नं० २ वाली बोतल की वायु फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural cavity) में प्रवेश करती है। दक्षिण दिशा मे रखे हुए भारमापक यन्त्र (Manometer) मे इस वायु का दबाव देखना चाहिये। यदि शून्य (0) के ऊपर पारा चढने लगे तब समझना चाहिये कि वायु का दबाव ऋणात्मक

(–) हो रहा है और यदि इसके विपरीत पारा शून्य अंक से नीचे गिरता हुआ प्रतीत हो तब समझना चाहिये कि वायु का भार धनात्मक (+) हो रहा है।



चित्र—६

कृत्रिम वातोरस (A. P.) का यंत्र

विधि :—कृत्रिम वातोरस प्रारम्भ करने के पूर्व सम्पूर्ण यन्त्र गरम पानी मे उबाल कर अथवा भाप (Steam) के द्वारा जीवाणुरहित कर लेना चाहिये। इस क्रिया को करने के पूर्व तथा क्रिया की अवधि पर्यन्त अनेक वार वक्ष की क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा करनी पड़ती है। इस क्रिया को करने के एक दिन पूर्व रात्रि मे रोगी को मुलयठी का चूर्ण (Pulv : glycyrrhiza co) ड्रा २ देकर मल परित्याग करा देना चाहिये तथा क्रिया के २–३ घंटे पश्चात् तक भोजन नहीं देना चाहिये। क्रिया के १५–३० मिनट पूर्व मौरफीन ग्रे० $\frac{1}{4}$ तथा एट्रोपीन ग्रे० १/१०० (M. & A.) अधस्त्वक् (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। इससे रोगी को शल्य-कर्म (Op.) का भय कम रहता है तथा स्तब्धता (Shock) की कम सम्भावना रहती है। रोगी को शैय्या पर स्वस्थ पार्श्व मे लिटा कर स्वस्थ पार्श्व के नीचे एक तकिया लगा देना चाहिये। इससे विकृत पार्श्व का पर्शुकान्तरीय स्थान

(Inter-costal space) चौड़ा हो जाता है तथा शल्यकर्म में सुविधा होती है। विकृत पार्श्वकी बाहु शिर से ऊँचे रखना चाहिये तथा रोगी को यथा सम्भव क्रिया की अवधि पर्यन्त खाँसने के लिये मना कर देना चाहिये। यदि रोगी खाँसता हो तब रबर की नलिका जिसका रोगी के वक्ष तथा निपीड़-मापक यन्त्र (Manometer) से सम्बन्ध है, उसको अंगुलियों से दबा कर रखना चाहिये, अन्यथा खाँसने के कारण अकस्मात् वायु के फुफ्फुसकी ओर से यन्त्र की दिशा मे जाने से निपीड़मापक यन्त्र के बाहर जल चला जायेगा। जिस समय सूचिका फुफ्फुसावरण (Pleura) को स्पर्श करती है उस समय खाँसी होने की अधिक सम्भावना रहता है। प्रथम बार वायु प्रवेश कराने के पश्चात् क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा करके देखना चाहिये कि फुफ्फुस का कितना निपात हुआ है। कृत्रिम वातोरस की क्रिया करने के तत्काल पश्चात् रोगी के ताप की वृद्धि, अत्यधिक वायु प्रवेश हो जाने की सूचक है और इस क्रिया के कई दिन पश्चात् ताप की वृद्धि होने पर समझना चाहिये कि इस क्रिया को पुनः करने मे बिलम्ब हुआ है। एक फुफ्फुस मे विकृति रहने पर प्रायः ५० प्र० श० रोगियो को लाभ होता है। इस क्रिया से पुफ्फुस को विश्राम मिलता है, तान्त्विक धातु (Fibrous-tissue) की उत्पत्ति होती है तथा क्षय दण्डाणु (T. B.) को प्राणवायु (O_2) मिलने मे कमी होती है। रोग की परमतीव्र अवस्था मे फुफ्फुस का निपात (Collapse) नहीं करना चाहिये।

मध्य अथवा पुरः (Ant.) कक्षीय (Axillary) रेखा पर चतुर्थ और षष्ठ पर्शुकान्तरीय स्थान (Intercostal space) पर की त्वचा को टि० आयोडीन (Tr. iodine) द्वारा भली प्रकार शुद्ध करके ५–८ सी० सी० (C. C.) नोवोकेन (Novocaine) २ प्र० श० सूई द्वारा त्वचा में वितरित (Infiltrate) करके, प्राचीरीय (Parietal) फुफ्फुसावरण (Pleura) तक का प्रदेश संज्ञाहीन कर दिया जाता है। पर्शुका (Rib) के ठीक ऊर्ध्व भाग मे सूई प्रवेश करने से रक्तवाहिनि (B.V.) तथा वातनाडी पर आघात नहीं होता। भली प्रकार शुद्ध की हुई सूई को पर्शुकान्तरीय स्थान मे प्रवेश किया जाता है। जब सूई फुफ्फुसावरणीय-गुहा (Pleural cavity) मे पहुँच जाय तब सूई मे से दण्ड (Stillette) निकाल लिया जाता है। इसका ज्ञान भारमापक यन्त्र (Manometer 'क') पर श्वसन की गति के साथ साथ पारे का चढ़ाव-उतार (Oscillati

ons) देखने से होता है। यदि सूई फुफ्फुसावरणीय गुहा मे होती है, तब भार मापकयंत्र का पारा ऋणात्मक चिन्ह (−) पर होता है। यह ऋणात्मक भार प्रायः ११ − १६ के बीच मे रहता है। अब फुफ्फुसावरणीय गुहा मे २००−३०० सी० सी० वायु प्रवेश करने दीजिये और यह ध्यान में रखिये कि इतनी वायु प्रवेश कराने के बाद भी फुफ्फुसावरणीय गुहा की वायु का दबाव ऋणात्मक (−) ही रहना चाहिये। किसी भी अवस्था में धनात्मक (+) न होने पाये। जब उचित मात्रा से वायु प्रविष्ट करा दी जा चुकी होती है और फुफ्फुसावरणीय गुहा के वायु का दबाव, वायु प्रविष्ट कराने के बाद भी ऋणात्मक ही रहता है, तब सूई को गुहा तथा वक्ष प्राचीर (Thoracic wall) मे बाहर निकाल लेते हैं और वेध किये गये स्थान को कोलाडियन (Collodion) से बन्द कर देते है। रोगी को कम से कम २४ घण्टे विश्राम करना चाहिये।

उपद्रव :—जब सूई फुफ्फुस में घुस जाती है तब रोगी को अकस्मात् **खाँसी** होने लगती है। इसके लिये सूई को कुछ पीछे की ओर खींच लेना चाहिये। फुफ्फुस से सूई निकल जाने से खाँसी बन्द हो जाती है। वेध (Puncture) किये हुए स्थान से **रक्तस्राव** (Bleeding) होने पर त्वचा को भली प्रकार दबा कर, गौज (Gauze) तथा रूई रखकर कस कर पट्टी बाँध देना चाहिये। सूई वक्ष मे प्रवेश करते समय फुफ्फुसावरण के पूर्ण रूप से संज्ञाहीन न होने के कारण फुफ्फुसावरण जन्य **स्तब्धता** (Pleural shock) हो सकती है। यह विकृति होने पर कृत्रिम वातोरस की क्रिया को रोक कर रोगी को उत्तेजक औषधियाँ देनी चाहिये, जैसे एड्रिनलीन (Adrenaline) १ : १००० सी० सी० १ पेशी मार्ग (I.M.) से इंजेक्शन द्वारा दें। वायु के दबाव के धनात्मक (+) होने पर वक्ष मे **तनाव** प्रतीत होता है और हृदय के विरुद्ध पार्श्व मे खिसक जाने के कारण **हृत्स्पन्द** (Heart beat) **स्थानान्तरित** हो जाता है। इन लक्षणों के होने पर वातोरस यंत्र से फुफ्फुसावरणीय गुहा से वायु बाहर निकाल देना चाहिये। कभी-कभी अधस्त्वक धातु मे वायु प्रवेश (Surgical emphysema) कर जाती है। रक्तष्ठीवन (Haemoptysis), सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ (Wet pleurisy), पूयोरस (Empyema) तथा वायुजन्य अन्तःशल्यता (Air embolism) आदि उपद्रव भी होते है।

वायु पुनः प्रवेश (Refill) करने का समय :—पहिले ४८ घटे के अन्दर तत्पश्चात् २, ४, ८ दिन के अन्दर पुनः वायु प्रवेश कराना चाहिये, तदुपरान्त २, ३, ४ सप्ताह के अन्तर पर वायु प्रवेश कराना चाहिये। प्रत्येक बार २००–५०० सी० सी० तक वायु फुफ्फुसावरणीय गुहा मे भरी जा सकती है। प्रथम तीन बार की क्रियाओं मे यह मात्रा २०० सी० सी० से अधिक नही होनी चाहिये। यह क्रिया समाप्त होने पर वायु का दबाव किसी भी अवस्था मे धनात्मक (+) नही होना चाहिये।

(२५) किरण चिकित्सा (Heiliotherapy) :—सूर्य की प्रथम किरणो मे जब सूर्य रक्तवर्ण रहता है तब उसमे लोहितातीत किरण (U. V.) की मात्रा अधिक होती है। इसलिये सूर्योदय के समय पक्करोग (Rickets) के रोगी को खुले मैदान मे ले जाकर ऋतु के अनुसार रोगी को नग्न कर उसके शरीर पर ५–१५ मिनट तक सूर्य की किरणे पड़नी चाहिये। रोगी का नेत्र रगीन चश्मे (Goggles) या वस्त्र से ढक कर रखना चाहिये। सूर्य की किरणो मे, रोगी को रखने के समय मे शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। रोगी की त्वचा पर लोहितातीत किरण के प्रभाव से जीवतिक्ति 'डी' का निर्माण होता है। इसको किरण-चिकित्सा कहते है। यह चिकित्सा लोहितातीत किरण के यंत्र द्वारा भी की जाती है। परन्तु यन्त्र द्वारा चिकित्सा करने की अपेक्षा रोगी को सूर्य के प्रकाश मे रखना अधिक लाभप्रद है। लोहितातीत किरण के सम्पर्क मे रखे हुये भोजन का प्रयोग करने से भी लाभ होता है। इसके लिये प्रायः दुग्ध (Irradiated milk) का प्रयोग किया जाता है।

(२६) अविशिष्ट प्रोटीन चिकित्सा (Nonspecific protein therapy) :—इस चिकित्सा का सिद्धात है कि यदि किसी प्रोटीन का इन्जेक्शन लगाया जाय तब रोगी मे रोगक्षमता (Immunity) की उत्पत्ति होती है। इनके प्रयोग करने पर ज्वर होना आवश्यक है। इस सिद्धात के अनुसार अनेक औषधियाँ प्रयोग की जाती है। **पेशीमार्ग** (I.M.) से **दूध** १–१० सी०सी० प्र० ४–५ दिन या रोगी की सिरा से **रक्त** ५–१० सी० सी० निकाल कर (Auto-hemotherapy) उसकी नितम्बपेशी (Gluteus) मे द्वि०प्र०स० या पेशीमार्ग से **गंधक** (Sulphur B.D.H.) सी० सी० १–२ प्र० स० या पेशीमार्ग से **पेप्टोन** (Peptone A. Co.) ५ प्र० श० सी० सी० १·२ या मारटिण्डेल का पेप्टोन (Martin-

dale) ७'५ प्र० श० १—३ सी० सी० ए० प्र० स० देना चाहिये। रक्त के इन्जेक्शन के पूर्व उसमे सोडीसाइट्रस (Sodi:citras) ३'८ प्र० श० ३ सी० सी० मिलाना चाहिये। इससे रक्तस्कंदन (Coagulation) नहीं होता। **ट्यूबरक्यूलीन** (Koch's old tuberculin) १:१००० का सी० सी० ०'१ प्र० स० पेशी मार्ग से देना चाहिये। इस औषधि को यक्ष्मा (T B.) मे प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसकी मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये। **सिरामार्ग** (I.V.) से टी० ए० बी० (T.A.B.) २१ करोड जीवाणु से प्रारम्भ कर ५० करोड़ जीवाणु तक दे सकते है। औषधि की मात्रा प्रतिक्रिया (Reaction) के अनुसार होनी चाहिये। प्रतिक्रिया साधारण होनी चाहिये। अधिक होना ठीक नही हैं। **विट का पेपटोन** (Witt's peptone) ग्रे० ५ मुख से भो०पू०द्वि०प्र०दि० दे सकते हैं।

(२३) **जल चिकित्सा** (Hydrotherapy) :—शरीर मे पर्याप्त मात्रा मे जल रहने मे मूत्र का निर्माण होता है, विप का परित्याग होता है, विपमयता (Toxaemia) तथा बेचैनी मे कमी होती है, प्रलाप (Delirium) की सम्भावना कम होती है। तीव्र औपसर्गिक रोगो मे तीन विशेप लक्षण होते है, **विपमयता** (Toxaemia), **हृदयातिपात** (Heart failure) तथा **मानसिक विकृति**। इन तीनों लक्षणो का शरीर मे जल की कमी (Dehydration) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विप्रमयता को कम करने के लिये रोग की विशिष्ट औपधि के अतिरिक्त शरीर से विप का परित्याग करने के लिये पर्याप्त मात्रा मे जल का प्रयोग करना पडता है। विषमयता मे कमी होने से मानसिक लक्षणो मे भी कमी होती है। जल का प्रयोग रोगी के शरीर के अन्दर तथा बाहर, जलचिकित्सा द्वारा करना चाहिये। रोगी को मुख, गुदा अधस्त्वक (S.C.) तथा सिरा (I.V.) द्वारा जल दे सकते है। **तीव्र ज्वर** कम करने के लिये भी जल का प्रयोग किया जाता है। इसके लिये रोगी को पीने के लिये अधिक मात्रा मे शीतल जल देना चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्न क्रियायें कर सकते है :—(१) शिर पर बरफ रखना चाहिये। (२) शरीर शीतल जल से धोना चाहिये। (३) शिर पर गीला तौलिया रख कर पंखा करने से ताप मे कमी होती है। (४) रोगी के चारो ओर बरफ की अनेक थैलियाँ लटका कर (Ice cradle) रोगी को चादर से ढक देना चाहिये। बरफ की थैलियों पर सूखा तोलिया लपेट देना चाहिये जिससे ठण्डा जल रोगी के शरीर

पर न गिरे। इससे रोगी को असुविधा होती है। (५) आ० अ० रोगी के शिर पर निरन्तर शीतल जल डाल सकते हैं। (६) गुदा या योनि (Vagina) मार्ग से बरफ का शीतल जल प्रवेश कर सकते हैं। (७) रोगी को शीतल स्थान मे रख कर उसका वस्त्र उतार देना चाहिये। रोगी को गीली चादर से ढक कर जोर से पंखा करना चाहिये। (८) वंक्षणीय स्थान (Groin) पर बरफ की थैली रखना चाहिये। (९) रोगी को शीतल जल मे डुबा सकते हैं। यह क्रिया प्रायः ज्वर १०३° फा० से अधिक रहने पर की जाती है। अत्यंत दुर्बल रोगी, स्थूल रोगी, फुफ्फुस मे विकृति रहनेपर जैसे यक्ष्मा (T.B.), फुफ्फुसपाक (Pneumonia), श्वसनिका शोथ (Bronchitis), फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy), आन्त्र से रक्तस्राव (Bleeding) होने पर अथवा उदर मे पीड़ा रहने पर, आन्त्रनिच्छिद्रण (Perforation) की सम्भावना प्रतीत होने पर, वृद्ध रोगी मे धमनीजरठता (Arteriosclerosis) रहने पर, वृक्क (Kidney) मे विकृति रहने पर तथा रोगी यदि मद्यपान करता हो तब यह क्रिया नही करनी चाहिये। यह क्रिया करते समय रोगी यदि काँपने लगे, नाडी क्षीण हो जाये अथवा शरीर नीला (Cyanosis) होने लगे तब यह क्रिया स्थगित कर देना चाहिये। १०३°फा० से शरीर का ताप कम रहने पर यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। इस अवस्था मे सिर पर बरफ की थैली रखना पर्याप्त है। रोगी को शीतल जल से स्नान कराने के पूर्व उत्तेजक औषधि (Stimulant mixt : यो० २६) की एक मात्रा देनी चाहिये। आ०अ० इस औषधि का पुनः प्रयोग करना चाहिये। कोरामीन (Coramine) का मुख द्वारा अथवा अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से प्रयोग कर सकते हैं। शीतल जल मे रोगी को १५–२० मिनट से अधिक नही रखना चाहिये। इस क्रिया के करने की अनेक विधियाँ है। जल का ताप ९०°फा० से प्रारम्भ कर शनैः शनैः ६५°फा० तक कम किया जा सकता है अथवा प्रारम्भ से ही रोगी को ६५°फा० के शीतल जल में रखा जाता है। प्रथम विधि अधिक उपयुक्त है। रोगी को शैय्या पर ही रख कर उसके शिर, हाथ, पैर, वक्ष आदि को शीतल जल से पोछना चाहिये। कक्षा (Axilla) तथा वंक्षण (Groin) की रक्तवाहिनियों (B.V.) पर कपड़ा भिगा कर रखना चाहिये। रोगी का वही अंग वस्त्र रहित करना चाहिये जिसके धोनेकी आवश्यकता हो। जल में फिटकरी (Alum) औं० १ अथवा सिरका (Toilet vinegar) औं० १

डालना उत्तम है। फिटकरी से त्वचा मजबूत होती है और उपसर्ग (Ifn) की सम्भावना कम होती है। सिरके से रोगी का शरीर कुछ समय तक शीतल रहता है और रोगी को सुख प्राप्त होता है। रोगी को टब (Tub) मे रखकर उसके शरीर की मालिश करना चाहिये। इससे रक्तप्रवाह (Circulation) तथा रक्तनिपीड़ (B.P.) की वृद्धि होती है। प्रलाप (Delirium) आदि वातनाड़ी संस्थान (Nervous system) के लक्षणों मे विशेष लाभ होता है। स्नान के पश्चात् रोगी को शय्या पर लिटा कर, तौलिये से शरीर पोंछ कर, रोगी को वस्त्र से ढक देना चाहिये। आ० अ० रोगी को गरम दूध, चाय, कौफी अथवा उत्तेजक औषध (यो० ३६) की एक मात्रा पुनः देनी चाहिये तथा पैरों पर गरम पानी की बोतल रखना चाहिये।

तृतीय अध्याय

औषधियाँ

(१) हिस्टामीन निरोधी (Anti-histamines) तथा अनूर्जता निरोधी (Anti-allergic) औषधियाँ

ये औषधियाँ हिस्टामीन को प्रभावहीन करती हैं इस लिये अनूर्जता जन्य रोगोमे लाभदायक हैं। ये हिस्टामीन की उत्पत्ति नहीं रोक सकती। इसके अतिरिक्त साधारण मात्रा मे अनैच्छिक पेशियों (Smooth muscles) के उद्वेष्ठन (Spasm) को रोकती है इस कारण अनूर्जता जन्य तमकश्वास (Bronchial asthma) मे लाभदायक है। केन्द्रीय वातनाड़ी संस्थान (C. N. S.) का अवसाद (Depress) करती है। लसिकाजन्य प्रतिक्रिया (Serum reaction) को बचाती है। ये स्थानिक संज्ञाहर (Local anaesthetic) भी हैं। हिस्टामीन के कारण रक्तवाहिनियों का अवसाद (Vaso-depression) होता है। इस पर भी इन औषधियों का प्रभाव उत्तम है।

विषाक्तता :—अत्यधिक मात्रा मे इनका प्रयोग करने से केन्द्रीय वातनाड़ी संस्थान उत्तेजित (Excite) होता है। इनकी विषाक्तता के कारण तन्द्रा (Drowsiness), दौर्बल्य, जी मिचलाना, वमन पतले दस्त, बेचैनी, वातप्रकृति (Nervousness), चक्कर, दिखलाई देने मे कमी, प्रकम्प (Tremor), आक्षेप (Convulsions) तथा लालास्राव (Saliva) की कमी आदि लक्षण होते है।

प्रयोग :—दमा, पामा (Eczema), शीतपित्त (Urticaria), प्रतिश्याय (Cold) आदि अनूर्जता जन्य रोग, सूर्यावर्त (Migraine) तीव्र वृक्कशोथ (Nephritis), पारकिनसन का रोग (Parkinsonism), रक्त वाहिनी वातनाडी जन्यशोथ (A-N oedema), खुजली, गतिजन्य हृल्लास (Motion sickness), उद्दिक्किरण विकार (Irradiation sickness), हृच्छूल (Angina pectoris), मनियर का रोग (Meniere's disease), लसिका (Serum), पेनिसिलीन

(P), क्वीनीन (Q), ब्रोमाइड (Bromide) आदि के कारण त्वक्-शोथ (Dermatitis) होने पर, तीव्र कुष्ठप्रतिक्रिया (Acute lepra reaction), कष्टार्तव (Dysmenorrhoea), स्पन्दनशील कर्णक्ष्वेड (Pulsating tinnitus), स्तम्भिक बृहदान्त्र (Spastic colon) आदि रोगों में ये प्रयोग की जाती हैं। अफीमची की चिकित्सा करते समय जब अफीम बन्द की जाती है तब अनेक प्रकार के लक्षण होते हैं। इन लक्षणों में भी ये लाभदायक हैं।

योग :—बेनाड्रिल (Benadryl. P. D.), एन्टिस्टीन (Antistine 'Ca') आदि। इसके विषय में तालिका देखिये।

(२) सुवर्ण (Gold) के योग

ये औषधियाँ प्रायः तीव्र आमवाताभ संधिशोथ (Rheumatoid arthritis) तथा यक्ष्मा (T. B.) में प्रयोग की जाती हैं। रक्त के रोग रक्ताल्पता वृक्कशोथ (Nephritis), यकृत के रोग, तीव्र आमवात (Rheumatism), त्वचा के तीव्र तथा व्यापक रोग, गर्भावस्था, अनूर्जता (Allergy), रक्तस्राव की प्रकृति रहने पर, व्रणज बृहदान्त्र शोथ (Ulcerative colitis) तथा मधुमेह (Diabetes) की उग्र अवस्था में इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस औषधि के प्रयोग करने के पूर्व, चिकित्सा क्रम की अवधि पर्यन्त तथा उसके पश्चात् भी रोगी की ध्यान पूर्वक परीक्षा करते रहना चाहिये। चिकित्सा की अवधि पर्यंत धूप से बचना चाहिये। शोणवर्तुली (Hb.), रक्तकण (R.B.C.), श्वेतकण (W.B.C.) तथा रक्त चक्रिकाओं (Platelets) आदि की संख्या के लिये चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व तथा औषधि के प्रयोग के समय प्र० दो स० पर देखते रहना चाहिये। इनकी मात्रा में कमी होने पर तथा विषाक्तता के लक्षण प्रतीत होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। इसकी विषाक्तता के कारण श्वेतकणों (W.B.C. , की कमी, रक्ताल्पता, (Anaemia), त्वक्शोथ (Dermatitis), परिसरीय वातनाड़ीशोथ (Peripheral neuritis), वृक्कशोथ (Nephritis), त्वचा पर काले धब्बे (Purpura), यकृतशोथ (Hepatitis), श्वसनिकाशोथ (Bronchitis), नाइट्रोइड प्रतिक्रिया(Nitroid reaction) आदि उपद्रव होते हैं। रोगी को प्रकाश में कष्ट होता है। ये लक्षण होने पर औषधि बन्द कर

देना चाहिये तथा बी.ए.एल. (B.A.L.) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या कम होनेपर पेनिसिलीन (P.), पाइरीडौक्सीन (Pyridoxin) आदि का इन्जेक्शन लगाना चाहिये।

प्रयोग विधि :—सुवर्ण के योग का प्रत्येक इन्जेक्शन लगाने के पूर्व मूत्र-परीक्षा करनी चाहिये। मूत्रमें शुल्कि (Alb:), निर्मोक (Cast) तथा लाल रक्तकण (R. B. C.) के लिये देखना चाहिये। त्वचा तथा श्लैष्मिक कला (M. M.) पर विस्फोट (Rash), निलोहा (Purpura) आदि के लिये देखना चाहिये तथा रोगी से पूछना चाहिये कि अंतिम इञ्जेक्शन के बाद से उसकी तबियत कैसी है। इन औषधियों को सर्वदा अत्यल्प मात्रा मे ए० प्र० स० देना चाहिये। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढाना चाहिये।

(३) जीवतिक्ति (Vitamins)

परिचय :—ये पदार्थ भोजन के एक प्रधान अंग है तथा जीवन के लिये आवश्यक हैं। भोजन द्वारा ये शरीर मे प्रवेश करते हैं। इनकी कमी के प्रारम्भिक लक्षण अस्पष्ट होते है। प्रायः अनेक जीवतिक्तियों की एक साथ कमी होती है। इसलिये इनकी चिकित्सा में विशिष्ट जीवतिक्ति के अतिरिक्त अन्य जीवतिक्तियो का मिश्रण (Multivitamins) भी देना चाहिये। इन औषधियो के शुद्ध या कृत्रिम योग की अपेक्षा प्रकृति मे जिन पदार्थों में ये मिलते है उनके प्रयोग से अधिक लाभ होता है। चिकित्सा के समय इनकी स्वस्थावस्था की मात्रा से प्रायः दस गुना अधिक मात्रा देना पड़ता है। साथ-साथ भोजन मे प्रोटीन (Ptn) की प्रधानता रहनी चाहिये। जीवतिक्तियाँ शरीर की भिन्न-भिन्न समवर्त क्रियाओ (Metabolism) मे सहायता देती है। अत्यधिक परिश्रम, उपसर्ग (Infection), गर्भावस्था, धात्रिकाल तथा अवटुकाग्रथि (Thyroid) के स्राव मे वृद्धि होने पर अधिक जीवतिक्तियो की आवश्यकता पडती है। इन पदार्थों की भोजन मे कमी होने के कारण या इनके प्रचूषण (Absorption) मे कमी होने पर अथवा इनके वितरण मे गडबडी होनेपर तथा शरीर के इन पदार्थों का उपयोग न कर सकने के कारण इनकी कमी के लक्षण होते है। यकृत के रोग मे यकृत, कैरोटीन (Carotene) से जीवतिक्ति 'ए' नही बना पाता। प्रणाचीय व्रण, (Peptic ulcer) मे नियन्त्रित भोजन लेने के कारण जीवतिक्ति 'बी' तथा 'सी' की कमी होती है। मधुमेह (Diabetes) मे नियन्त्रित भोजन के

कारण, कामला (Jaundice) तथा मद्यज यकृद्दाल्युत्कर्ष (Cirrhosis) में पचन संस्थान में विकृति होने से और सिरामार्ग (I. V.) से अत्यधिक मात्रा में ग्लूकोस (Glucose) देने पर 'बी१' की कमी होती है। गरीबी, आहार सम्बन्धी अज्ञानता तथा दाँत न रहने पर भी जीवतिक्तियों की कमी होती है। धमनीजरठता (Arteriosclerosis) में शरीर के सब भागों में बराबर बराबर मात्रा मे जीवतिक्तियाँ नहीं पहुँच पातीं, इसलिये वृद्धावस्था में अधिक मात्रा मे इनकी आवश्यकता पड़ती है। वमन, पतले दस्त, आमाशय में अम्ल (Hcl) की कमी रहने पर तथा भोजन का आन्त्र के सम्पूर्ण भाग में न पहुँच (Short circuiting) सकने के कारण इनके प्रचूषण मे कमी होती है। मधुमेह (Diabetes), कामला, यकृत के रोग आदि में शरीर इनका उपयोग नहीं कर पाता। जीवतिक्त 'ए' 'डी', 'के' तथा 'ई' वसा में घुलती (Fat soluble) हैं। अन्य जीवतिक्तियाँ जल मे घुलनशील है। जीवतिक्तियों का प्राप्तिस्थान (पृ० ५) तथा इनकी प्र० दि० की मात्रा नीचे देखिये।

स्वस्थावस्था में जीवतिक्ति (Vit:) की प्र० दि० की मात्रायें

अवस्था	'ए' अ० इ०	बी१ मि.ग्रा.	बी२ मि.ग्रा.	बी७ मि.ग्रा.	'सी' मि.ग्रा.	डी. अ.इ.
०-१ वर्ष	१५००	१/२	१/२	४	३०	८००
१-३ "	२०००	३/४	३/४	६	३५	८००
३-१२ "	४०००	१·३	२	१२	७५	७००
१२-२० "	५०००	२	३	२०	१००	६००
युवावस्था	५०००	२	३	२०	१००	४००
गर्भावस्था	६०००	२	२·४	१८	१००	८००
धात्रिकाल (Lactation)	८०००	२·३	३	२३	१५०	८००

जीवतिक्ति 'ए' (Vit : A)

इसके पूर्वरूप कैरोटीन (Carotene) के पचूपण के लिये आन्त्र में पित्त (Bile) का रहना आवश्यक है । लि० पैरेफीन (Liq : paraffin) का प्रयोग करने से इसका प्रचूपण नहीं हो पाता । जीवतीक्ति 'ए' यकृत में कुप्फर की कोषाओं (Kupffer's cells) में संचय होती है । कम प्रकाश में देखने के लिये तथा अधिच्छद कोषाओं (Epithelial cells) के स्वरूप तथा कार्य के लिये यह आवश्यक है । इसकी अधिकता के कारण अस्थियों में पीडा, खुजली, बालों का गिरना तथा त्वचा का पीतवर्ण होना आदि लक्षण होते है । इसकी कमी का पता लगाने के लिये रोगी को अंधेरे कमरे मे देखने (Dark adaptation test) के लिये कहना चाहिये । इस जीवतिक्ति की कमी रहने पर रोगी अंधेरे में स्वस्थ मनुष्य से कम देख सकेगा । यह जीवतिक्ति अधिच्छद (Epithelium) के पोषण (Nutrition) तथा वातनाड़ी कोषाओं (N. cells) के कार्य के लिये आवश्यक है ।

विकृति विज्ञान (Pathology) :—इसकी **कमी के कारण** त्वचा पर स्तम्भाकार अधिच्छद (Columnar epithelium) नष्ट होने लगता है और उसके स्थान पर स्तरित अधिच्छद (Stratified epithelium) बनता है । इसको शाङ्र्गभवन (Keratinization, keratomalacia, keratinising metaplasia) कहते है । इसके परिणामस्वरूप अधिच्छदीय नलिकायें (Epithelial ducts) अवरुद्ध हो जाती है, त्वचा शुष्क हो जाती है, पसीना कम होता है और उसपर विस्फोट (Rash) निकलते है । त्वचा जीवाणुओं को शरीर में प्रवेश करने से नहीं रोक पाती और दोषमयता (Septicaemia) आदि उपद्रव होते हैं । पसीने की कमी के कारण तथा बालों के अंकुर (Hair follicle) में विकृति होने के कारण बाल गिरने लगते है । अश्रुग्रंथि (Lachrymal gland) के अधिच्छद (Epithelium) में परिवर्तन होने के कारण अश्रु नहीं बनते, नेत्र रूक्ष (Xerophthalmia) रहते है । परिणामस्वरूप नेत्रकला शोथ (Conjunctivitis), स्वच्छ मण्डल व्रण (Corneal ulcer) और स्वच्छ मण्डल (cornea) के दोनो ओर चूने या चाँदी के समान सफेद धब्बे बनते है । ये धब्बे नेत्र के दोनो कोण तक फैल जाते है ।

दृष्टि रागक (Visual purple) का निर्माण नहीं हो पाता। दृष्टि वितान-दंड (Retinal rods) के कार्य के लिये यह पदार्थ आवश्यक है। परिणामस्वरूप स्वच्छावृत्ति (Sclera) पर भूरे रंग का रागक (Pigment) संचय होता है और रोगी अन्धेरे मे तथा रात्रि मे देख नहीं सकता। वातनाड़ी-संस्थान मे सुषुम्ना (Spinal cord) के पश्चिम-पार्श्व स्तम्भ (Post-lat : column) मे अपजनन (Degeneration) होता है। यह विकृति वैनाशिक रक्तक्षय (P. A.) तथा कलाय खञ्जता (Lathyrism) मे मिलती है। वृषण ग्रन्थि (Testes) के नष्ट होने के कारण षण्डता (Impotency) होती है। मुख की श्लैष्मिककला (M. M.) मे शोथ होने के कारण या उसके नष्ट होने के कारण दाँत मे विकृति, मुख मे व्रण, (Ulcer), क्षुधा मे कमी, पतले दस्त, कब्ज, आध्मान (Flatulance), अजीर्ण, भोजन निगलने मे कष्ट (Dysphagia) आदि लक्षण होते है। श्वसन मार्ग की नलिकाओं के अधिच्छद (Epithelium) मे परिवर्तन होने के कारण फुफ्फुस दण्डाणु (Pneumococci) का उपसर्ग होता है और श्वसनिकाशोथ (Bronchitis), श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) आदि उपद्रव होते हैं। इसके अतिरिक्त व्यंगता (Malformation), शरीर की वृद्धि (Growth) मे कमी, रक्तवाहिनियों (B. V.) मे विकृति, वृक्काश्मरी (Renal stone) आदि विकृतियाँ होती हैं। रात्रि में दिखलाई देने मे कमी तथा त्वचा का शुष्क और रूक्ष होना जीवतिक्ति 'ए' की कमी के प्रारम्भिक लक्षण है। अन्य लक्षण विकृति जीर्ण हो जाने पर मिलते हैं।

जीवतिक्ति 'ए' की कमी की चिकित्सा :—

(क) **योग** :—प्रेपलिन (Prepalin Go), हैलिवरओल (Haliverol P. D.) आदि। एब्डेक ड्राप्स (Abdec drops P. D.) मे मद्य (Alcohol) तथा वसा (Fat) न होने के कारण शैशवावस्था मे यकृत-विकृति होने पर भी इसका प्रयोग सम्भव है। जीवतिक्ति 'ए' तथा 'डी' (Vit. A. & D.) प्रायः साथ-साथ रहते है। कैरोटीन (Carotene B. W & co) मे जीवतिक्ति 'ए' का पूर्व-रूप रहता है। जीवतिक्ति 'ए' का सेसाम के तेल (Sesame oil) मे योग या प्रेपलीन (Prepalin Go) ½ ल० अ० इ० प्र० सी० सी० पेशी द्वारा दे सकते हैं।

एवोलियम (B. D. H.) या प्रेपलीन (Prepalin-Go) का मि० ३ का कै० १ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। यदि जीवतिक्ति 'डी' (Vit:D) का भी साथ-साथ प्रयोग करना हो तब अडेक्सोलीन, हैलिबुट तेल (Halibut oil 'Co'), हैलिवरोल (Haliverol P. D.), रेडियो-स्टालियम (Radio stoleum B. D. H.) आदि मि० ३ का कै० १ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं।

(ख) **अन्य चिकित्सा**:—जीवतिक्ति 'ए' के प्रचूषण में विकृति रहनेपर पित्तलवण (Bile salts) भी देना चाहिये। रात्रिमें दिखलाई देने मे कमी रहने पर जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C.) भी देना चाहिये। नेत्र की विकृति मे सोने के पूर्व एट्रोपीन की मलहम (Ung : atropine) $\frac{1}{2}$ प्र० श० नेत्र में लगाना चाहिये। मुख की श्लैष्मिक कला (M. M.) की विकृति मे हाइड्रोजन परोक्साइड (H_2O_2), पास्टूरिन (Pasturin), यूफ्लेविन (Euflavin) १ : १००० आदि एक गिलास गरम जल मे औषधि च० १–२ देकर त्रि० प्र० दि० कुल्ला करना चाहिये। त्वचा की विकृति मे कैलिजेसिक मलहम (Ung : Caligesic S & D) या बोरिक की मलहम (यो० ७६) लगाना चाहिये।

जीवतिक्ति 'बी' (Vit : B.)

परिचय:—जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण के किसी एक तत्व की शरीर मे कमी होने पर अन्य तत्वो के समवर्त (Mbm.) मे भी विकृति हो जाती है क्योंकि जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण के भिन्न-भिन्न तत्वों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है और ये सब पदार्थ प्रायः एक ही स्थान मे मिलते हैं। इस लिये इनकी कमी के लक्षण होनेपर जीवतिक्ति संपूर्ण (Vit:B complex) के साथ-साथ जिस जीवतिक्ति की कमी के लक्षण हो उस जीवतिक्ति को अधिक मात्रा मे देना चाहिये। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ये जीवतिक्तियाँ जल मे सरलता से घुलने के कारण इनका शरीर से शीघ्रता से परित्याग होता है। इस लिये शरीर मे हर समय इनकी पर्याप्त मात्रा रखने के लिये इनको अनेक बार प्र० दि० देना चाहिये। जीवतिक्ति 'बी' संपूर्ण मे अनेक जीवतिक्तियाँ सम्मिलित है।

(क) **जीवतिक्ति 'बी१'** (Vit:B_1, thiamine, aneurin) :—इस जीवतिक्त का सरलता से प्रचूषण तथा मूत्र द्वारा परित्याग होता है।

इसका अत्यल्प मात्रा में यकृत, पेशी, हृदय, वृक्क, मस्तिष्क आदि मे सचय होता है। इसकी कमी रहने पर कार्बोज (Cho) से पाइरुविक एसिड (Pyruvic acid) तथा पाइरुविक एसिड से लैक्टिक एसिड (Lactic Acid) का निर्माण होता है। लैक्टिक एसिड का शरीर में संचय होता है और वातबलासक (Beriberi), जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy) आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। प्राकृत अवस्था में यह जीवतिक्ति पाइरुविक एसिड को नष्ट करती है और लैक्टिक एसिड का सचय नहीं होने देती। इसलिये जो मनुष्य कार्बोज (Cho) का अधिक मात्रा में प्रयोग करते हैं उन्हे इस जीवतिक्ति का भी अधिक मात्रा मे प्रयोग करना चाहिये। ज्वर, अवटुका ग्रंथि के स्राव में वृद्धि (Hyperthyroidism), प्रणाचीयव्रण (Peptic ulcer), संग्रहणी (Sprue) आदि मे नियन्त्रित आहार देते समय, मधुमेह, (Diabetes), मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम, आलस्य, वृद्धावस्था, गर्भावस्था, धात्रिकाल (Lactation), शैशवावस्था, बाल्यावस्था, आहार द्वारा स्थूलता कम करते समय, आदि मे इसका अधिक मात्रा मे प्रयोग करना चाहिये। भोजन को अधिक देर तक उबालने या भाप, क्षार (Alkali) आदि के सम्पर्क मे रखने से यह नष्ट हो जाती है। मद्यपान से इसका आन्त्र से प्रचूपण नही होता। यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Cirrhosis) में प्रचूषण के पश्चात् इसको शरीर प्रयोग नही कर पाता। यह जीवतिक्ति मानसिक, वातनाड़ी तथा पचन-संस्थान की क्रियाओं के लिये आवश्यक है। **इसकी साधारण कमी** के कारण क्षुधानाश, आलस्य, भय, मानसिक तथा शारीरिक थकावट, भार मे कमी, दौर्बल्य, पेशियो को दबाने पर पीड़ा, ऐंठन, पिण्डली (Calf) दबाने पर पीड़ा, चक्कर आना, जलन, घबराहट, शाखाओं पर सज्ञानाश, सज्ञापरिवर्तन (Parasthesia), नाड्यवसन्नता (Neurasthenia) आदि लक्षण होते है। प्रारम्भ मे पैर के प्रतिक्षेपों (Jerks) की वृद्धि होती है। कुछ समय पश्चात् ये प्रतिक्षेप नास्त्यात्मक (–) हो जाते है। इस जीवतिक्ति की **अधिक काल पर्यंत कमी रहने पर** या रोगी की अवस्था गम्भीर होने पर या गर्भावस्था या उपसर्ग (Infection) होने पर **वातबलासक** (Beriberi) की उत्पत्ति होती है। इस रोग मे क्षुधा मे अत्यधिक कमी, शीघ्रहृदयता, (Tachycardia), शोफ (Oedema), लसिकात्मिक कलाओं (Serous-membranes) मे जल का सचय, परिसरीय

वातनाडीशोथ (Peripheral neuritis), हृत्पेशी की क्षीणता, पिण्डली की पेशियों (Calf muscles) की स्पर्शासहना, हृदयाभिस्तीर्णता (Cardiac dilatation), हृत्कम्प (Palpitation), ज्वर का अभाव, अधोचेष्टावह नाड़ी कदाणु प्रकार (L.M.N.) का अङ्गघात, सर्वांग शोफ (Anasarca), श्वासकृच्छ (Dyspnoea) हृच्छूल (Angina) आदि लक्षण होते है। रोग सम्बन्धी समस्त विषयों की अनिश्चिति इस रोग की विशेषता है। विद्युत हृल्लेख (Ecg) द्वारा परीक्षा करने पर क्यू-टी के मध्य की अवधि (Q-T interval) दीर्घ हो जाती है और 'टी' की वक्रतायें (T-waves) चिपटी होती है।

योग :—बेरिन (Berin Go), बिनर्वा (Benerva Ro), बिटालिन 'एस' (Betalin 'S' Ly), वाइबेक्स (Vibex P.D.) इत्यादि इसके भिन्न योग है। बमैक्स (Bemax) औं० २, मारमाइट (Marmite) औं० २, राइजामीन (Ryzamine B.W.co) ग्रे० २० आदि द्वि० या त्रि० प्र० दि० दे सकते है। सोलूबी (Solu:B. 'Uj) का सिरा मार्ग (I.V.) से प्रयोग कर सकते है। खमीर (Yeast) ग्रा० ३० त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। मदात्यय (Alcoholics) के रोगी मे इस जीवतिक्ति को सर्वदा इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिये। इस अवस्था मे मुख द्वारा प्रचूषण संदिग्ध है।

वातबलासक (Beriberi) तथा अन्य अवस्थाओं में जीवतिक्ति 'बी₁' की कमी की चिकित्सा:—

(१) जीवतिक्ति बी₁ (Vitamin B_1, thiamin hydrochlor or aneurin) :—यह औषधि चिकित्सा के लिए मुख द्वारा पूर्ण रूपेण लाभदायक नही है। लक्षणों की उग्रता के अनुसार इस औषधि का प्रयोग प्रतिदिन या प्रति दूसरे दिन पेशी मार्ग से (I.M.) या सिरा मार्ग से (I.V.) इन्जेक्शन द्वारा ५० से १०० मि ग्रा० की मात्रा मे किया जाता है। परिसरीय वातनाडी शोथ (Peripheral neuritis) की प्रधानता रहने पर सम्पूर्ण जीवतिक्ति 'बी' (Vit:B complex) का प्रयोग करना चाहिये। दो सप्ताह पर्यंत जीवतिक्ति बी₁ २०—५० मि० ग्रा० प्र० दि० देना चाहिये। तत्पश्चात् मि० ग्रा० १० प्र० दि० पर्याप्त है। १० से १०० मि०

ग्रा० तक मुख मार्ग से या अधस्त्वक् (S.C.) मार्ग से प्र० दि० दे सकते है। अन्तिम मार्ग अधिक उपयुक्त है।

(२) सम्पूर्ण जीवतिक्ति 'बी' (Vit: B complex यो.६८):-इस ओषधि का प्रयोग पेशी मार्ग (I. M.) द्वारा परिसरीय वातनाडीशोथ तथा अङ्गघात (Paralysis) मे करना चाहिये।

(३) **भोजन :**—कार्बोज (Cho) की मात्रा कम कर उसके स्थान पर खमीर (Yeast), दुग्ध, मक्खन, घृत, यकृत, अण्डा, दाल, चने का बेसन, चोकर सहित गेहूँ का आटा तथा जौ आदि का प्रयोग करना चाहिए। यन्त्र द्वारा चमकीला किये हुए चावल के स्थान पर हाथ द्वारा शुद्ध किया हुआ लाल चावल बिना माड परित्याग किये प्रयोग करना चाहिये।

(४) **दक्षिण हृदयातिपात** (Rt : ht : failure) की चिकित्सा का वर्णन अन्यत्र देखिये।

(ख) जीवतिक्ति 'बी२' (Vit : B_2, riboflavine, lactoflavine, vit : 'G')

यह जीवतिक्ति विषाक्त नही है। इसका अत्यल्प मात्रा मे संचय होता है तथा मूत्र द्वारा शीघ्रता से परित्याग होता है। शरीर के विकास तथा स्वास्थ्य और दृष्टिरागक (Retinal pig :) के लिये आवश्यक है। कार्बोज (Cho) के समवर्त (Mbm) मे सहायता देती है। शरीर के भिन्न-भिन्न भागो की कोषाओ (Cells) मे प्राणवायु (O_2) के पहुँचाने मे सहायक है। इसको कोषगत प्रजारण (Cellular oxidation, tissue resp :) कहते है। आहार मे दूध की कमी रहने पर प्रायः इसकी कमी के लक्षण होते है। इसके अतिरिक्त जिन पदार्थों (पृ० ६) मे यह मिलती है उनके प्रयोग न करने से भी इसकी कमी होती है। इसकी कमी के अन्य कारण जीवतिक्ति 'बी१' (B_1) की कमी के समान है। इसकी कमी की **प्रारम्भिक तथा साधारण** अवस्था मे दौर्बल्य, आलस्य, अरति (Malaise), भार मे कमी, प्रकाश से कष्ट, नेत्रकलाशोथ (Conj :), पुरुषार्थ मे कमी चेहरे पर मुँहासे (Acne rosacae) के अतिरिक्त, प्रधान विकृति मुख मे होती है। मुख का वर्ण सफेद हो जाता है। नाक, ओष्ठ तथा ओष्ठ के कोण

पर व्रणयुक्त विदार (Cheilosis, angular stomatitis) होते हैं । **रोग की गम्भीर अवस्था में,** अथवा इसकी अधिक समय तक कमी रहने पर जिह्वा, नेत्र तथा त्वचा पर विकृति होती है । जिह्वा पर शोथ (Oedema) होता है तथा उसका वर्ण मजिष्ट (Magenta) के समान लाल हो जाता है । नेत्र शुष्क हो जाते हैं, अश्रु मे कमी होता है, नेत्र मे जलन होती है, वर्त्म (Lids) मे खुजली होती है । स्वच्छमण्डल (Cornea) में रक्त-वाहिनियो की वृद्धि (Vascularization) तथा शोथ (Keratitis) होता है । त्वचा पर शोथ (Seborrheic darmatitis) होता है । भोजन निगलने मे कठिनाई (Dysphagia) होती है तथा मुख के चारो ओर की आकृति रक्तवर्ण होती है ।

चिकित्सा :—उपर्युक्त लक्षणों की चिकित्सा के लिये यह औषधि मुख से मि० ग्रा० ३–६० या पेशी तथा सिरा (I. V.) द्वारा मि० ग्रा० २० प्र० दि० दे सकते है । मुख द्वारा प्रभाव उत्तम है । खमीर ओं० १ त्रि० प्र० दि० देने से भी लाभ होता है ।

योग :—राइवोफ्लेविन (Riboflavine. B. D. H.) की १–३ मि० ग्रा० की गोली मुख द्वारा या १० मि० ग्रा० पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग की जाती है ।

(ग) पैन्टोथेनिक एसिड, (Pantothenic acid, 'B_3'), 'बी$_3$'

परिचय:—जिन पदार्थो (पृ० ६) मे जीवतिक्ति 'बी' के अन्य तत्व मिलते हैं वहाँ यह पदार्थ भी मिलता है । इसकी कमी के कारण हाथ-पैर के तलुओं मे जलन होती है । इसका श्वेतकुष्ठ (Leucoderma) से भी सम्बन्ध प्रतीत होता है । आन्त्रघात (Paralytic ileus) मे इससे लाभ होता है ।

प्रयोग :—इस जीवतिक्ति के प्रयोग से हाथ-पैर की जलन कम होती है, श्वेतकुष्ठ मे लाभ होता है । त्वचा के रोग, रश्मि रोग (Irradiation sickness), यकृत के रोग, वृहदान्त्रशोथ (Colitis), चिरकालीन श्वसनिकाशोथ (Bronchitis), जीर्णखाँसी, गर्भावस्थाजन्य वमन (Hyperemesis gravidarum) आदि मे इससे लाभ होता है ।

मात्रा :—इसका मुख द्वारा प्रभाव उत्तम नहीं है। इसके दो प्रधान योग है (क) **पैन्टोथेनिक एसिड** (Bepanthen 'Re') पेशी (I. M.) द्वारा १–२ सी. सी. प्र० दि० या प्र० दू० दि० दे सकते हैं। इसको मि० ग्रा० १०–१०० प्र० दि० तक दे सकते है। (ख) **कैलसियम पैन्टोथिनेट** (Cal : pantothenate, Pantholin 'Ly') मुख या पेशीमार्ग (I. M.) से ग्रा० ०.१५ प्र० दि० दे सकते है।

(घ) जीवतिक्ति 'बी$_6$'

(Vit : B_6, pyridoxine hydrochlor)

इस पदार्थ का चिकित्सा मे व्यापक प्रयोग हे। श्वेतकणो की संख्या की वृद्धि कराने मे यह सर्वोत्तम औषधि है। प्रत्येक प्रकार की पेशियो की अनम्यता (Rigidity) में यह लाभदायक है। इसलिये पारकिनसन का रोग (Parkinsonism, paralysis agitans), अपस्मार (Epilepsy), गम्भीर पेश्यवसन्नता (Myasthenia gravis), अपुष्ट पेशिक पार्श्वजरठता (Amyotrophic lat : sclerosis) आदि रोगो मे प्रयोग की जाती है। मुख के व्रण तथा विदार (Glossitis, angular stomatitis, cheilosis) आदि मे जब राइबोफ्लेफिन (B_2) से लाभ नही होता तब इसका प्रयोग करना चाहिये। प्रोटीन (Ptn) के समवर्त (Mbm) तथा संवहन मे सहायता करती है। त्वग्ग्राह (Pellagra) मे दौर्बल्य तथा वातनाड़ी संस्थान (CNS) से सम्बन्धित लक्षणो मे जब निजोटिनिक एसिड (B_7) से लाभ नहीं होता तब इसको प्रयोग कर सकते है। गर्भावस्था मे वमन होने पर, रश्मिरोग (Irradiation sickness) तथा श्वेतकुष्ठ (Leucoderma) में भी लाभप्रद है। **इसकी कमी के कारण** ओष्ठ के कोण पर व्रण (Angular stomatitis) होते है। दौर्बल्य निद्रा मे कमी, उदर में वेठन, चलने मे कठिनाई तथा व्यंगता (Awkward), पेशियो में अनम्यता (Rigidity), प्रकृति मे चिड़चिड़ापन तथा घबराहट आदि लक्षण होते है। इसको अधिक मात्रा मे प्रयोग करने पर अस्थिमज्जा (Bone marrow) को उत्तेजना मिलती है। परिणामस्वरूप रक्तकण (RBC),

श्वेतकरण (W. B. C.) आदि का निर्माण शीघ्रता से (Reticulocytic response) होता है । इस दृष्टि से इसको वैनाशिक रक्तक्षय (P. A.) अकणिक श्वेतकायागूल्कर्प (Agranulocitosis) त्वग्ग्राह (Pellagra) आदि मे प्रयोग कर सकते हैं ।

मात्रा :—इस औषधि को मुख से मि० ग्रा० ५०–१०० प्र० दि० तथा पेशि या सिरा (I. V.) द्वारा मि० ग्रा० १०–५० प्र० दि० दे सकते हैं । (Pyridoxine B. D. H.) मि० ग्रा० १० की गोली मिलती है ।

(ङ) जीवतिक्ति बी$_{6}$ (Vit : B_7, B_2 complex, nicotinic acid, niacin, P. P. factor Etc)

परिचय :—यह पदार्थ यकृत मे सचित होता है । यह पदार्थ कार्बोज (Cho) तथा प्रोटीन (Ptn) के समवर्त (Mbm) मे सहायता देता है । कार्बोज के समवर्त मे कार्बोज को नष्ट करने (Glycolysis) तथा हाइड्रोजन (H.) के संवहन करने की आवश्यकता पड़ती हैं । इन दोनों क्रियाओ पर इसका प्रभाव है । इसके अतिरिक्त यह जीवतिक्ति रक्तवाहिनियों का विस्फार (Vaso-dilatation) तथा रक्तनिपीड़ (B. P.) मे साधारण कमी करती है । इस दृष्टि से इसका चिकित्सा मे विशेष महत्व है । श्वसन क्रिया से सम्बन्धित अन्तःकिण्व (Enzymes) का यह भी एक अंग है । जिन पदार्थों मे जीवतिक्ति 'बी' मिलती है उसके अतिरिक्त मट्ठा (Buttermilk) का विशेष महत्व है । **इसकी कमी** के कारण त्वग्ग्राह (Pellagra) होता है । इस रोग की **प्रारम्भिक** अवस्था मे जिह्वा लाल हो जाती है तथा उसके अंकुरो (Papillae) की परमपुष्टि होती है । त्वचा रूखी हो जाती है और रोगी अनेक प्रकार के अस्पष्ट लक्षणो का अनुभव करता है । **रोग पूर्ण विकसित** हो जाने पर पतले दस्त, त्वक्शोथ (Dermatitis), मूढचित्तता (Dementia), विस्फोट (Rash), रक्ताल्पता (Anaemia) कोणिक मुखपाक (Stomatitis) तथा दौर्बल्य आदि लक्षण होते है । इस अवस्था मे जिह्वा अस्त होते सूर्य के समान लाल (Scarlet red) हो जाती है और उस पर के अंकुर नष्ट हो जाने के कारण चिकनी हो जाती है । प्रकाश के सम्पर्क से अथवा रगड़ खाने से त्वचा रूखी हो जाती

है। आधमान (Tympanites), अनम्यता (Rigidity), अवसाद तथा मानसिक विकृति आदि लक्षण होते हैं।

प्रयोग तथा मात्रा :—यह औषधि मानसिक तथा शारीरिक दौर्बल्य, सल्फा औषधियो (Sulpha drugs) की विषाक्तता, प्रलाप (Delirium), पामा (Eczema), मीनियर के सरूप (Meniere's syndrome), योनिकण्डु (Pruritus vulva) तथा रक्तिम त्वक्पिड़िका (Lupus erythematosus) मे प्रयोग की जाती है। चिकित्सार्थ ५०–५०० मि० ग्रा० प्रतिबार, मुख द्वारा प्रयोग कर सकते हैं। इस औषधि का इन्जेक्शन भी दिया जाता है। रक्तवाहिनियो का विस्फार (Vasodilatation) करने के कारण यह औषधि कान्तारक (Labyrinth) के शोफ मे १०० मि० ग्रा० प्र० दि० दे सकते है। शिर की पीडा, वातनाड़ी संस्थान (C. N. S.) के रोग तथा पेशी शूल (Myalgia) मे भी लाभप्रद है।

योग :—इसके दो प्रधान योग है :—**निकोटिनिक एसिड** (Pelonin Go',) तथा **निकोटिनिक अमाइड** (Nicotinic amide, niacin amide, pelonin amide 'Go')। द्वितीय योग रक्तवाहिनियो का विस्फार नहीं कराती इसलिये इसके प्रयोग से खुजली, शीतपित्त (Urticaria) आदि लक्षण नहीं होते।

चिकित्सा :—त्वग्ग्राह (Pellagra) आदि रोग जिनमे जीवतिक्ति 'वी$_{0}$' की कमी होती है उनमे इस जीवतिक्ति के अतिरिक्त जीवतिक्ति 'वी$_{१}$', 'वी$_{२}$' 'वी$_{६}$', (Thiamine, riboflavin, pyridoxine) तथा खमीर भी औ १ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। निकोटिनिक एसिड या निकोटिनिक अमाइड की प्र० दि० की मात्रा ३–४ मात्रा मे विभाजित कर त्रि० या चा० प्र० दि० देना चाहिये। सिरा मार्ग (I.V.) से प्रयोग करने के लिये इन औषधियो को समवल लवण घोल (N.saline) १० सी० सी० मे मिला कर मि० ग्रा० १५–२० त्रि० प्र० दि० दे सकते है।

(१) निकोटिनिक एसिड (Nicotinic acid) :—यह औषधि मुख द्वारा ५० से १०० मि० ग्रा० त्रि० प्र० दि० निरन्तर दो सप्ताह पर्यंत देना चाहियें। यह औषधि मुख द्वारा १५०० मि०ग्रा० तक प्रतिदिन प्रयोग कर सकते हैं। इन्जेक्शन द्वारा ५० मि० ग्रा० तक दे सकते है।

(२) **निकोटिनामाइड** (Nicotinamide) :—मुख द्वारा ग्रा० १ तथा अधस्त्वक् मार्ग से (S.C.) ग्रा० ½ प्र० दि० इन्जेक्शन लगा सकते हैं।

(३) **राइवोफ्लेविन** (Riboflavine) :—इस औषधि से जिह्वा तथा मुख के लक्षणों मे विशेष लाभ होता है। मानसिक विकृति, दृष्टि तीक्ष्णता (Visual acuity) तथा दृष्टिक्षेत्र (Field of vision) की कमी में भी जीवतिक्ति वी$_2$ तथा वी$_6$ के प्रयोग से लाभ होता है। राइबोफ्लेविन ३ मि० ग्रा० त्रि० प्र० दि मुख द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

(४) **भोजन** :—दुग्ध, संतरा, मौसम्मी, नीबू, खमीर, अण्डा, यकृत आदि का प्रयोग आवश्यक है। भोजन सरलता से पचने वाला होना चाहिये। भोजन मे कार्बोज (Cho) तथा वसा (Fat) की मात्रा कम तथा प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। भोजन के अन्य तत्व पर्याप्त मात्रा मे होने चाहिये। एक सेर तक प्र० दि० मठा (Butter milk) पीना चाहिये।

(५) **अन्य चिकित्सा** :—मुखशोथ (Stomatitis) के लिये लिस्टरीन (Listerin) या पास्टूरिन (Pasturin) आदि एक गिलास गरम पानी मे च० २ औषधि डाल कर त्रि० प्र० दि० कुल्ला करना चाहिये। कुल्ला करने के पश्चात् शहद या ग्लिसरीन में भूना हुआ सुहागा (Boroglycerine) लगाना चाहिये। त्वकशोथ (Dermatitis) रहने पर धूप मे नहीं निकलना चाहिये और त्वचा पर जिंक औक्साइड की मलहम (यो० ७६) या कैलिजेसिक मलहम (Ung:caligesic 'S.D.') त्रि० प्र० दि० लगाना चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) की उपयुक्त चिकित्सा करे। आमाशय मे उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी के साथ-साथ यदि पतले दस्त आते हों तब शीशे की नली से हाइड्रोक्लोरिक् अम्ल डिल (Hcl dil:) ड्रा० १ त्रि० प्र० दि० भो० प० लेना चाहिये।

(च) जीवतिक्ति वी$_{12}$ (Vit : B_{12}, rubramin)

यह पदार्थ कदाचित फौसफोरस (Ph) तथा कोबल्ट धातु (Cobalt) के संयोग से बनता है। इसकी कमी के कारण वैनाशिक रक्तक्षय (P.A.) की उत्पत्ति होती है इसलिये इसको रक्ताल्पता निरोधी तत्व (Anti-anaemic

factor) मानते हैं। इसका वर्णन स्थूल-कायाणिवक (Macrocytic) रक्ताल्पता में देखिये।

प्रयोग :—(क) स्वस्थावस्था मे इस पदार्थ की १ माइक्रोग्राम (Microgramme) प्र० दि० की मात्रा पर्याप्त है।

(ख) **चिकित्सार्थ :**—यह पदार्थ स्थूल-कायाणिवक (Macrocytic) रक्ताल्पता मे विशेष लाभप्रद है जैसे :— वैनाशिक (Pernicious), अपोषणज (Nutritional), गर्भजन्य, संग्रहणी (Sprue) जन्य तथा त्वग्ग्राह (Pellagra) जन्य रक्ताल्पता आदि।

रोग की परम तीव्र अवस्था में :—सर्व प्रथम ५०–१०० माइक्रोग्राम पेशी मार्ग (I.M.) से प्रयोग करना चाहिये।

रोग की तीव्र अवस्था में :—२० से ५० माइक्रोग्राम प्रति दो सप्ताह पर पेशी मार्ग (I.M.) से प्रयोग करना चाहिये। वनाशिक रक्तक्षय मे अनुतीव्र संयुक्त सौषुम्नापजनन (Subacute combined degeneration) हो जाने पर २० से ५० माइक्रोग्राम प्रति दूसरे दिन प्रयोग करना चाहिये।

योग :—रुब्रामिन (Rubramin 'Sq') का इन्जेक्शन देने के लिये प्रति सी० सी० मे १५ माइक्रोग्राम की मात्रा मिलती है।

(छ) फोलिक एसिड (Folic acid, vit: 'm', 'Bc', 'Pga', Eluate factor etc)

यह पदार्थ अस्थिमज्जा (Bone marrow) के प्रत्येक प्रकार की कोपाओं (Cell) के कार्य के लिये आवश्यक है। इसकी कमी के कारण कुछ विशेष प्रकार की बृहदन्यष्ठीलीय (Megaloblastic) तथा स्थूल कायाणिवक (Macrocytic) रक्ताल्पताये होती है जैसे:—**संग्रहणी** (Sprue), गर्भावस्था की परमवर्णिक स्थूल कायाणिवक (Macrocytic hyperchromic) रक्ताल्पता, पोषणज स्थूल कायाणिवक (Nutritional macrocytic) रक्ताल्पता, गर्भावस्था की बृहद् न्यष्ठीलीय (megaloblastic) रक्ताल्पता, बृहत्न्यष्ठीलीय अविनेय (Refractory megaloblastic) रक्ताल्पता आदि।

प्रयोग :—(क) **स्वस्थावस्था** मे अस्थिमज्जा के कोपाओ (Bonemarrow cells) की कार्यशीलता और श्वेतकण (W. B. C.) तथा

लालकण (R. B. C.) के निर्माण के लिये यह पदार्थ आवश्यक है। इस कार्य के लिये १० मि० ग्रा० प्र० दि० पर्याप्त है। (ख) **चिकित्सार्थ,** यह पदार्थ निम्न अवस्थाओं मे विशेष लाभप्रद है :—

(१) श्वेतकणापकर्ष (Leucopenia)।

(२) **संग्रहणी** (Sprue) पर इसका प्रभाव **सर्वोत्तम** है।

(३) **रक्ताल्पता :**—पोषणज (Nutritional) रक्ताल्पता मे यह **विशेष** लाभप्रद है। त्वग्ग्राह (Pellagra) जन्य तथा गर्भजन्य (Pregnancy) रक्ताल्पता पर भी इसका प्रभाव उत्तम है।

सूचना :—स्थूल-कायाणिवक (Macrocytic) रक्ताल्पता में जब अस्थिमज्जा (Bone-marrow) मे विकृति हो जाती है और बृहद-न्यष्ठीलीय-लालकणों (Megaloblasts) का अत्यधिक संख्या मे निर्माण होता है तब फोलिक एसिड से लाभ होता है। संग्रहणी (Sprue) तथा वैनाशिक-रक्तक्षय (P. A.) की चिकित्सा मे फोलिक एसिड के साथ यकृत सत्व (Liver ext :) का भी प्रयोग करना चाहिए। उपवर्णिक-सूक्ष्म-कायाणिवक (Hypochromic microcytic) रक्ताल्पता मे यह लाभप्रद नही है। फोलिक एसिड मुख द्वारा पूर्णरूप से लाभप्रद है।

मात्रा :—(१) रोग की तीव्र अवस्था में २०० मि० ग्रा० प्र० दि० प्रयोग कर सकते है।

(२) रोग की साधारण अवस्था में :—युवावस्था मे २० से ५० मि० ग्रा० प्र० दि० पर्याप्त है। यह मात्रा मुख, सिरा (I. V.) या पेशी मार्ग (I. M.) से प्रयोग कर सकते है।

(३) रोगी की अवस्था में सुधार हो जाने पर औषधि का प्रभाव स्थायी करने के हेतु प्रतिदिन १० मि० ग्रा० पर्याप्त है।

योग :—फोलिक एसिड की ५ या १० मि० ग्रा० की गोलियाँ आती हैं। इंजेक्शन के लिये एक सी० सी० मे १५ मि० ग्रा० (15 mgm) की मात्रा मिलती है।

संग्रहणी (Sprue):—इसमे मुख मे व्रण, परमवर्णिक (Hyperchromic). बृहतन्यष्ठीलीय (Megaloblastic), स्थूल-कायाणिवक (Macrocytic) **रक्ताल्पता**, मध्याह्न के पूर्व दीर्घ मात्रा मे पीड़ा-रहित, वर्णहीन, वसायुक्त (Fatty) अनेक वार पतले **दस्त, आध्मान**

(Tympanites), स्तम्भिक अधरांगघात (Spastic paraplegia), आदि लक्षण होते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि इस रोग में फोलिक एसिड की कमी के लक्षणों के साथ-साथ जीवतिक्ति बी$_1$, बी$_{12}$, 'सी' (Vit : B_1, B_{12} C) आदि की कमी के लक्षण भी मिलते हैं। रक्त में कैलसियम (Cal:), लवण (Nacl), पैत्तव (Cholesterol) तथा शर्करा की भी कमी होती है। चिकित्सा में इन पदार्थों के देने का भी प्रबन्ध करना चाहिये।

परीक्षार्थें :—संग्रहणी के रोगी की अवस्था का ठीक-ठीक पता लगाने के लिये तथा चिकित्सा का परिणाम जानने के लिये रोगी का भार, मल की मात्रा, मल में वसा (Fat) की मात्रा, लसिका में कैलसियम (Serum cal :) की मात्रा, रक्त में रक्तकण (Rbc), श्वेतकण (W. B. C.) शोणवर्तुलि (Hb.) की मात्रा का पता लगाना चाहिये। आमाशय में उदनीरिकाम्ल (Hcl) का पता लगाने के लिये आंशिक भोजन कसौटी (Fractional test meal) करना चाहिये तथा देखना चाहिये कि उस पर हिस्टामीन (Histamine) का क्या प्रभाव है। वैनडन बर्ग कसौटी (Van den Bergh-test) करने से शोणांशिक कामला (Hemolytic Jaundice) का ज्ञान होता है।

चिकित्सा :–(१) **फोलिक एसिड** (Folic-acid) :—यह औषधि मुख द्वारा या यकृत सत्व (Liver extract) के साथ इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग कर सकते हैं। रोगारम्भ में दस दिन पर्यन्त ३० मि० ग्रा० प्र० दि०, तत्पश्चात् दस दिन तक २० मि० ग्रा० प्र० दि०, तदनन्तर जब तक रोगी पूर्ण स्वस्थ न हो जाय, ५ मि० ग्रा० प्र० दि० औषधि देना चाहिये।

(२) **यकृत सत्व** (Liver ext :) :—प्रारम्भ में यह औषधि १० से १५ यू० एस० पी० (U. S. P.) इकाई पेशी मार्ग (I. M.) द्वारा सप्ताह में दो बार देना चाहिए, तत्पश्चात् इन्जेक्शन की अवधि बढ़ाई जा सकती है।

(३) **जीवतिक्ति बी$_{12}$** (Vitamin B_{12}) :—यह औषधि अत्यत अल्प मात्रा में प्रयोग की जाती है। रुब्रामिन (Rubramin-'Re') का २०० मा० ग्रा० (Microgramme) पेशी मार्ग से (I. M.) इन्जेक्शन लगाना चाहिये।

(४) **आहार** :—भोजन मे अधिक परिवर्तन अनावश्यक है। प्रोभूजिन (Ptn) की मात्रा अधिक तथा वसा (Fat) और कार्बोज (Cho) की मात्रा कम कर देनी चाहिये।

(५) **अन्य चिकित्सा** :—रक्ताल्पता के लिये लौह भस्म (Iron) तथा यकृत सत्व (Liver ext:) का प्रयोग करना चाहिये। मल्टीसेब्रिन (Multicebrin 'Ly') के समान अनेक जीवतिक्तियो का मिश्रण देना भी उत्तम है। 'ट्वीन ८०' (Tween 80) या सोरलेट (Sorlate) ग्रा. ०'५ प्र० कै० का चार० वे० त्रि० प्र० दि० भोजन के साथ देने से वसा (Fat) के पचने मे आसानी होती है। ये पदार्थ वसा को अत्यन्त सूक्ष्म भागो मे विभाजित (Emulsify) करते है। भोजन मे मासाहारी पदार्थ जन्य प्रोटीन (Ptn) का विशेप महत्व है। इसके अतिरिक्त जीवतिक्ति 'बी१' 'बी१२' 'सी', 'डी' (Vit:B_1, B_{12}, C, D) आदि का भी प्रयोग करना चाहिये। सपूर्ण यकृत सत्व (Crude liver ext : Campolon, plexan'Go') सी. सी० २–४, फोलिक एसिड मि० ग्रा० १०–१५ के साथ पेशी मार्ग (I.M.) से प्र० दि० दे सकते हैं। कैलसियम (Cal) ग्रे० १०–२०, जीवतिक्ति 'डी' (Calciferol-B.W & co) की गो० १ के साथ त्रि०प्र०दि०दे। पित्त (Bile) का भी प्रयोग करना चाहिये। पित्त ग्रे० ४ का कै० त्रि० प्र० दि० भो० प० देने से वसा (Fat) के प्रचूषण मे सहायता मिलती है। लोहितातीतरश्मि (UV-ray) लगानेसे जीवतिक्ति 'डी' के समवर्त (Mbm) मे मदद मिलती है। **आध्मान** (Tympanites) के लिये कोयला तथा केयोलीन(Ultracarbon 'Mk', Carbantrin 'Ca', charkaolin आदि ग्रे० ५–१० त्रि० प्र० दि० भो० प० देना चाहिये। **कब्ज** होने पर लि० पैरेफीन (Liq : paraffin, petrolagar, agaragar) च० २–४ सोने के पूर्व दे। अन्य विरेचक औषधियाँ नही देना चाहिये। रोगी को गरम रखना आवश्यक है। ऋतु के अनुसार वस्त्र पहनना चाहिये। शीत से बचना चाहिये। मिर्च मसाला प्रयोग नहीं करना चाहिये। लवण दे सकते है। भोजन के मध्य की अवधि मे पर्याप्त जल पीना चाहिये। भोजन मे कम पकाई हुई कलेजी का प्रयोग करना चाहिये। रक्ताल्पता नही रहने पर भी सम्पूर्ण यकृत सत्व (Whole liver ext:) १०–१२ दिन तक प्र० दि० पेशीमार्ग (I. M.) से देना

चाहिये। तत्पश्चात् इस औषधि का द्वि० प्र० स० प्रयोग करना चाहिये। भैंस के **दूध** की अपेक्षा बकरी या गाय का दूध अधिक उपयुक्त है। भैंस के दूध में वसा (Fat) की मात्रा अधिक रहती है। दूध की अपेक्षा दही या मठा का प्रयोग उत्तम है। पतले **दस्त को** भोजन तथा फोलिक एसिड (Folic acid) द्वारा ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये। मल की मात्रा अत्यधिक रहने पर अफीम के योग (Tr. opi:, chlorodyne, camphrodye, Tr. camphor co) मि० १० या कोडीन (Codeine phos:) ग्रे० $\frac{1}{2}$ द्वि० या त्रि.प्र.दि. दे सकते है। जीवतिक्ति बी$_1$ (Vit: B_1) मि० ग्रा० ५० अधस्त्वक मार्ग (S.C.)से देने से क्षुधा मे वृद्धि तथा शोफ (Oedema) में कमी होती है। जीवतिक्ति बी$_2$ (Vit:B_2) मि० ग्रा० २ तथा निकोटिनिक एसिड (Vit : B_7) मि० ग्रा० १०० त्रि० प्र० दि० देने से जिह्वा के व्रण तथा त्वकशोथ (Dermatitis) मे लाभ होता है। मुख के व्रण मे पीड़ा होने पर सज्ञाहर औषधियाँ (Novocaine, cocaine, pantocaine) $\frac{1}{2}$–१ प्र०श० व्रण पर लगा सकते है। **रक्ताल्पता** (Anaemia) मे अन्य औषधियों से लाभ न होने पर रक्तप्रदान (Blood: trans:) द्वारा रक्त पा० $\frac{1}{2}$–१ सिरा मार्ग (I.V.) से देना चाहिये। दॉत, कण्ठ, तुण्डिका (Tonsils) आदि मे उपसर्ग रहने पर या अंकुश कृमि (H.W.) आदि का उपसर्ग रहने पर इन रोगो की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी के भार मे यदि वृद्धि न हो तब ग्लूकोस (Glucose) मुख द्वारा औं० १–२ या सिरा मार्ग (I.V.) से १२$\frac{1}{2}$–२५ प्र० श० २५–५० सी० सी० देकर इनस्यूलीन (Insulin) ५–१० अं० इ० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। ग्लूकोस ग्रा० २ के समवर्त (Mbm) के लिये इनस्यूलिन अं० इ० १ देना चाहिये। इससे क्षुधा मे भी वृद्धि होती है। जीवतिक्ति 'सी' (Vit: C) की कमी के कारण **रक्तस्राव** (Bleeding) आदि होने पर जीवतिक्ति 'सी' मि. ग्रा. १०० द्वि. या त्रि. प्र. दि० देना चाहिये। सन्तरा, मोसम्बी आदि का रस देने से भी लाभ होता है। त्वक्शोथ के लिये त्वचा पर कैलामीन का घोल (Calamine lotion) या क्राइसारोबिन (Chrysarobin) की मलहम लगा सकते है। सग्रहणी की चिकित्सा मे **स्प्रूलैक** (Sprulac 'C. G.') भी प्रचलित है। इस पदार्थ में प्रोटीन (Ptn) १, वसा (Fat) ०·३ तथा कार्बोज (Cho) १ के

अनुपात मे रहते है। इसके प्र० औं० से १२५ कैलोरी (C) ताप उत्पन्न होता है। यह दूध का योग है। इसमे प्रोटीन की मात्रा अधिक तथा वसा (Fat) की मात्रा कम रहती है। कार्बोज (Cho) की मात्रा साधारण है। कैलोरी के अनुसार इस रोग मे ७०० कैलोरी से प्रारम्भ कर शनैः शनैः २५०० कैलोरी प्र० दि० तक का भोजन देना चाहिये। रोगी की तीव्र अवस्था मे कार्बोज तथा वसा का अनुपात १:०'३ रहना चाहिये। कार्बोज का अनुपात प्रारम्भ मे १ तथा इसको शनैः शनैः बढ़ा कर १'५ तक ले जाना चाहिये। रोगी की क्षुधा तथा लक्षणो के अनुसार आहार मे वृद्धि करना चाहिये। स्मूलैक औं० १ को जल औं० १२ मे बनाकर ६ बार प्र० दि० देना चाहिये। स्मूलैक की मात्रा स्थायी रख कर कैलोरी की मात्रा मे वृद्धि करने के लिये सन्तरा, मोसम्बी का रस, अखनी (हड्डियो का सत्व), उबला सेव, चावल आदि देना चाहिये।

(ञ) कोलीन (Choline)

यह पदार्थ वसा के समवर्त (Mbm) मे कार्य करता है। यकृत मे अधिक वसा सचय होने से रोकता है। यह वसा को नष्ट (Lipotrophic) करता है। मेथिलेशन की क्रिया (Transmethylation) मे मदद देता है। यह खमीर तथा वे पदार्थ जिनमे फौसफोलिपौयड (Phospho-lipoids) रहते है, मिलता है। शरीर के विकास मे सहायता करता है। यकृत के चिरकालीन रोगो मे यकृत मे वसा-अपजनन (Fatty changes) नही होने देता। शैशवीय तथा अन्य यकृद्दाल्युत्कर्ष (Cirrhosis) मे इसका प्रयोग आमाइनो-एसिड (Aminoacid) के साथ किया जाता है।

मात्रा :—मुख या सिरा (I.V.) से ग्रा० १—६ प्र० दि० दे सकते हैं।

(झ) आइनोसिटौल (Inositol)

यह पदार्थ प्रत्येक जीव तथा वनस्पति (Plant) मे मिलता है। यह वसा को नष्ट (Lipotrophic) करता है। शरीर के पोषण तथा यकृत के कार्य से इसका क्या सम्बन्ध है अभी अज्ञात है। वृक्ष मे यह फाइटीन (Phytin) के रूप मे रहता है।

(ञ) पाबा (Para-amino-benzoic-acid—PABA)

यह पदार्थ भी खमीर (Yeast) मे मिलता है। सल्फा (S) औषधियो का तृणाणु (Bacteria) पर जो प्रभाव पड़ता है उसको यह पदार्थ नष्ट करता है। यह पदार्थ बालो को काला रखने के लिये आवश्यक है परन्तु सफेद बाल को काला नही कर सकता। शरीर के तृणाणु इसका प्रयोग करते हैं। यह तृणाणुओ की रक्षा करता है। सल्फा औषधियाँ जब 'पाबा' के प्रभाव को नष्ट कर लेता है तब शरीर की रक्षा करने वाली क्रियाये (Defense mechanism) तृणाणुओ का नाश करती है। इसको टाइफस (Typhus) तथा अकणिककायाणूत्कर्ष (Agranulocytosis) मे भी प्रयोग करते हैं। यह पदार्थ रिकटेशिया निरोधी (Anti-rickettsial) है। इस औषधि को सोड़ी बाइकार्ब के साथ देना चाहिये। बाल काला रखने के लिये मि० ग्रा० १०० द्वि० प्र० दि० देना चाहिये। टाइफस मे प्रथम ग्रा० ७ तत्पश्चात् ग्रा० २ प्र० दो० घं० देना चाहिये।

(त) बायोटीन (Biotin)

यह पदार्थ खमीर तथा तृणाणु (Bacteria) की वृद्धि मे सहायक है। इसका प्रभाव मनुष्य पर अनिश्चित है।

जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C, ascorbic acid)

परिचय :—यह पदार्थ वायु तथा क्षार (Alkali) के सम्पर्क से नष्ट हो जाता है। भोजन गरम करने या ताम्र के पात्र मे भोजन बनाने से भी नष्ट हो जाता है। यह सरलता से प्रचूषित होता है तथा इसका मूत्र से सरलता से परित्याग होता है। यह उपवृक्क के शल्फ (Adrenal cortex) मे संचय होता है। इस प्रकार यह उपवृक्कीय शल्फीय सत्त्व (Adrenal cortical hormone) के निर्माण मे सहायता करता है। रक्तकणो (R. B. C.) के निर्माण तथा उनमे शोणवर्तुलि (Hb.) के सञ्चय होने से भी इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। संयोजक धातु (Connective tissue) जन्य शरीर के भाग जैसे दाँत, अस्थि, तरुणास्थि (Cartilage) आदि मे कोषाओ के मध्य के पदार्थ (Intercellular) के निर्माण तथा उसके स्वस्थ रखने मे सहायता करता है। अन्य पदार्थों से सरलता से प्राणवायु (O_2) ग्रहण

(Reducing agent) करता है और कोपाओं के समवर्त (Mbm) मे हाइड्रोजन (H) का सवहन करता है। यकृत को विष के प्रभाव से नष्ट होने से बचाता है। दूध मे इसकी मात्रा अत्यल्प होती है इसलिये शैशवावस्था, बाल्यावस्था अथवा जब भोजन मे केवल दूध दिया जाता है तब इस पदार्थ को अलग से देना आवश्यक है। दूध मे इसकी जो भी मात्रा रहती है वह दूध को गरम करने से नष्ट हो जाती है। सब्जियों को अधिक नहीं पकाने से यह नष्ट नहीं होती। परिश्रम, ज्वर, उपसर्ग, गर्भावस्था, धात्रिकाल (Lactation) आदि मे इसकी विशेष आवश्यकता पडती है। प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) आदि मे जब नियन्त्रित भोजन देना पड़ता है तब इसका अवश्य प्रयोग करना चाहिये। सूक्ष्मकायाण्विक रक्ताल्पता (Microcytic anaemia) मे केवल लौह (Fe) देने से कुछ समय के पश्चात् शोणवर्तुलि (Hb.) का बढ़ना बन्द हो जाता है। इस समय यदि जीवतिक्ति 'सी' का प्रयोग किया जाय तब शोणवर्तुलि मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। प्रशीताद (Scurvy) की रक्ताल्पता मे केवल जीवतिक्ति 'सी' देने से ही लाभ होता है परन्तु लौह (Fe) का प्रयोग भी करना चाहिये। जीवतिक्ति 'सी' की कमी के कारण प्रशीताद होता है।

प्रयोग :—इस जीवतिक्ति की कमी के लक्षण रहने पर, प्रशीताद (Scurvy), रक्तस्राव (Bleeding), नासा से या दाँत के मसूडो से रक्तस्राव होने पर, व्रण के ठीक होने के लिये, अस्थिभग्न (Fracture), विषपान तथा यक्ष्मा (T. B.) आदि दीर्घकालीन रोगो मे इसका प्रयोग किया जाता है। इसकी कमी के कारण शैशवावस्था मे प्रशीताद के समान रोग होता है, इसको **शैशवीय प्रशीताद** (Infantile scurvy, Barlow's disease) कहते है। इस रोग मे ½–२ वर्ष की आयु में अस्थ्यावरण के नीचे (Sub-periosteal) रक्तस्राव होता है। यह पदार्थ ग्रा० ६ प्र० दि० से अधिक प्रयोग करने पर विषाक्तता के लक्षण हो सकते है।

कमी की परीक्षा :—इस जीवतिक्ति की कमी का पता लगाने के लिये लसिका (Serum) मे इसकी मात्रा का पता लगाना चाहिये। इसकी कमी के कारण अस्थियों मे जो परिवर्तन होते हैं उनका पता क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) द्वारा किया जा सकता है। केशिकागत प्रतिशोध (Capillary resistance) का ज्ञान भी सम्भव है।

प्राकृत मात्रायें :—एक चम्मच शन्तरे के रस में या दो चम्मच टौमैटो के रस में यह जीवतिक्ति बराबर मात्रा मे मिलती है। जीवन के प्रथम मास में शन्तरे का रस च० १ प्र० दि० देना चाहिये। १–४ मास को आयु मे शन्तरे का रस च० १–४ प्र० दि० देना चाहिये। बाल्यावस्था मे ½–१½ शन्तरे का रस प्र० दि० देना चाहिये। एक शन्तरे के रस मे जीवतिक्ति 'सी' प्राय: मि० ग्रा० ६० रहती है।

कमी के लक्षण :—इसकी कमी की **साधारण या प्रारम्भिक अवस्था** मे दाँत के मसूड़ो मे शोफ (Oedema) तया रक्तस्राव होता है। शरीर के बालो के अकुर (Hair follicles) मे परम श्लक्ष्म-चर्मता (Hyper-keratosis) होती है। दाँत छिद्रे (Porus) हो जाते हैं। **रोग जीर्ण अथवा गम्भीर** होने पर प्रशीताद (Scurvy) के लक्षण होते हैं। मसूडो मे विकृति, रक्ताल्पता (Anaemia), रक्तस्राव (Bleeding) की प्रकृति, दौर्बल्य, दाँतो का गिर जाना, सन्धियों मे सूजन, अस्थियो का विरलीभवन (Rarification), आवरण (Fascia) मे रक्तस्राव, पेशियो मे विकृति आदि लक्षण होते हैं।

रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है तथा दाँत के मसूडो मे शोथ (Gingivitis) होता है। रक्तवाहिनियों (B. V.) की प्राचीर का अन्तच्छद (Endo-thelium) कमजोर हो जाता है और रक्तस्राव (Bleeding) होता है। यह रक्तस्राव त्वचा, श्लैष्मिक कला (M. M.), पेशियो, संधियों, फुफ्फुस, वातनाड़ियो तथा अस्थियों के आवरण (Periosteum) के नीचे होता है।

शरीर पर व्रण (Ulcer) होने पर उनके भरने में विलम्ब होता है।

चिकित्सा:—(१) **योग:**—रेडोक्सन (Redoxon 'Re'), सीवीटीन (Cevitin P. D.) आदि की ५० से १०० मि० ग्रा० की गोली तथा इन्जेक्शन के लिये १०० से ५०० मि० ग्रा० तक की मात्रा उपलब्ध है।

(२) **चिकित्सार्थ :**—५०० मि० ग्रा० (500 mgm) तक प्रतिबार मुख मार्ग, पेशीमार्ग (I. M.) या सिरामार्ग (I. M.) से प्रयोग कर सकते है। प्रशीताद (Scurvy) की चिकित्सा मे एस्कौरबिक एसिड (Vit : C) १०० से ५०० मि० ग्रा० तक प्र० दि० दो सप्ताह पर्यन्त

सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये। शैशवावस्था मे प्र० दि० ५० मि० ग्रा० मुख द्वारा दे सकते हैं।

(३) **आहार** :—इस रोग की चिकित्सा मे भोजन का विशेष महत्व है। ताजे फल, शाक, विशेष कर प्याज, आँवला, शन्तरा, मौसम्मी, नींबू, शकरकन्द तथा आलू का प्रयोग उत्तम है। अंकुरयुक्त चना, मटर, दाल आदि भी देना चाहिए।

जीवतिक्ति 'डी' (Vit:D, calciferol, irradiated ergosterol)

परिचय :—यह पदार्थ यकृत, मस्तिष्क तथा त्वचा मे संचय होता है यह आन्त्र से कैलसियम (Cal) तथा फौसफोरस (Ph) के प्रचूषण मे सहायता करता है तथा रक्त मे इन पदार्थों को घोल कर रखता है। मूत्र द्वारा फौसफोरस के परित्याग मे वृद्धि कराता है। इसका अधिक मात्रा मे प्रयोग हानिकर है। रोगी के भार के अनुसार १०,००० अं० इ०प्र० से० भा०प्र० दि० से अधिक देने से वमन होता है, धमनियों, वृक्क की नलिकाओ (Tubules) तथा श्रोण्यस्थि (Pelvis) आदि मे कैलसियम संचय होने लगता है। इसके दो भाग है :—

(क) **जीवतिक्ति 'डी$_2$'** (Vit : D_2 : calciferol) :—यह अरगोस्टेरौल पर सूर्य या लोहितातीतकरण (U.V.ray) के प्रभाव से बनता है।

(ख) **डी$_3$** (Vit : D_3) :—यह ७–डाइहाइड्रो कोलेस्टेरौल (7-di-hydro-cholesterol) पर सूर्य या लोहितातीत किरण के प्रभाव से बनता है और मछली के यकृत मे पाया जाता है। डी$_2$ या डी$_3$ मे किस प्रकार का रसायनिक (Chemical) अन्तर नही है और 'डी$_3$' 'डी$_1$' तथा 'डी' संभवतः एक ही पदार्थ प्रतीत होते है। डी$_2$ तथा 'डी' एक ही पदार्थ नहीं प्रतीत होते।

कमी की परीक्षा :—इस जीवतिक्ति की कमी का पता लगाने के लिये लसिका (Serum) मे कैलसियम (Cal) और फौसफोरस (Ph) की मात्रा तथा मूत्र मे कैलसियम की मात्रा का पता लगाना चाहिये। लसिका मे कैलसियम तथा फौसफोरस दोनो कम हो जाते है परन्तु फौसफोरस के क्षारीय लवण (Alkaline phosphates) बढ़ जाते है। मूत्र द्वारा कैलसियम के परित्याग मे कमी हो जाती है।

कमी के परिणाम :—भोजन में इस जीवतिक्ति की कमी रहने पर अथवा इसका आन्त्र द्वारा प्रचूषण न हो सकने के कारण या सूर्य के प्रकाश के न मिलने पर इस जीवतिक्ति की कमी के लक्षण होते है। इन लक्षणों मे प्रधान है अस्थियो मे विकृति। अस्थियो मे उपास्थि (Epiphysis) के समीप की तरुणास्थि (Cartilage) की तीव्रता से वृद्धि होती है परन्तु इसमे कैलसियम संचय नही होता। परिणाम स्वरूप फक्करोग (Rickets) उत्पन्न होता है। इस रोग मे उपास्थि के समीप अस्थि मोटी हो जाती है परन्तु अस्थि कैलसियम की कमी के कारण मृदु होती है। ब्रह्मरन्ध्र (Ant:fontanelle) के बन्द होने मे विलम्ब, हरीसनकी सीता (Harrison's sulcus), वक्षास्थि माला (Rickety rosary) आदि विकृतियाँ होती हैं। फक्करोग की उत्पत्ति के लिये कैलसियम, जीवतिक्ति 'डी', (Vit:D) तथा सूर्य-प्रकाश की कमी होना आवश्यक है।

चिकित्सा :—(१) साधारण:–फक्करोग आदि जीवतिक्ति 'डी' की कमी की चिकित्सा करते समय ध्यान रखना चाहिये कि जीवतिक्ति 'डी' देने के तत्काल पश्चात् लसिका (Serum) मे अकस्मात कैलसियम (Cal) की कमी हो सकती है और अपतानिका (Tetany) के लक्षण हो सकते हैं, इसलिये इस जीवतिक्ति के देने के पूर्व पर्याप्त मात्रा मे कैलसियम देना आवश्यक है। जीवतिक्ति 'डी' मुख द्वारा पर्याप्त प्रभावशाली है। इसको इन्जेक्शन द्वारा देने का कोई विशेष महत्व नहीं है। इसकी ६ ल० अं० इ० की केवल एक मात्रा उतनी ही लाभप्रद है जितना इस औषधि को अल्प मात्रा मे अनेक बार देना लाभप्रद है। मछली के यकृत का तेल शिशु सरलता से पचा लेता है। यदि शिशु को वसा (Fat) न देने का कोई विशेष कारण न हो तब कौड मछली के यकृत का तेल (Cod liver oil) सरलता से दे सकते हैं। साधारणत: जितनी फक्करोग-निरोधी औषधियाँ मिलती है उन सब मे जीवतिक्ति 'डी$_2$' (Vit:D$_2$ calciferol) रहता है। कैलसियम तथा जीवतिक्ति 'डी' देने के अतिरिक्त रोगी को खुले और शुद्ध वायुमण्डल मे थोडे समय के लिये प्र० दि० ले जाना आवश्यक है। सूर्य की किरणो के अतिरिक्त आसमान से जो प्रकाश आता है वह भी लाभप्रद है। सूर्य छिपा रहने पर भी हर समय कमरे मे रहने की अपेक्षा थोड़े समय के लिये रोगी को खुले स्थान पर नदी के किनारे या बगीचे आदि मे ले जाना उत्तम है।

(२) रोगी की किरण-चिकित्सा (Heilotherapy) करनी चाहिये ।

(३) **आहार** :—आहार मे दुग्ध, मक्खन, अण्डा आदि का प्रयोग करना चाहिए । मत्स्य के यकृत का तैल मुख द्वारा देना चाहिये । दुग्ध आदि को लोहितातकिरण (U. V. ray) के सम्पर्क मे रखने से लाभ होता है ।

(४) **प्रयोग** :—(क) **स्वस्थावस्था** मे यह जीवतिक्ति चूर्णातु (Cal) तथा भास्वर (Ph) के समवर्त (Mbm) के लिये आवश्यक है । युवावस्था मे प्र० दि० ४०० अं० इ० (I. U.) आवश्यक है ।

(ख) **चिकित्सार्थ** :—१००० से ५००,००० अं० इ० (I. U.) तक मुख द्वारा प्रयोग करना चाहिये ।

(५) **योग** :—यह जीवतिक्ति प्रायः जीवतिक्ति 'ए' के साथ मिलती है । इसके योग जीवतिक्ति 'ए' के साथ वर्णन किए गये है । कैलसीफेरोल (Calciferol B. W. & Co) मे 'डी$_1$' ४००० अ० इ० और 'डी$_2$' १०,००० अ० इ० (I. U.) रहती है ।

जीवतिक्ति ए, डी (Vit : A. D.) के योग :—अडेक्सोलीन (Go), नेविटौल, हैलिवरौल (P. D.), आदि । इनको मि० १०–१२ त्रि० प्र० दि० दे सकते है । एरोविट (Arovit, 'Re') तथा एक्वासोल (Aquasol) मे जीवतिक्ति 'ए' की अत्यधिक मात्रा रहती है ।

(६) **त्वचा की यक्ष्मा** (T. B.) मे जीवतिक्ति 'डी' १–१½ ल० अ० इ० प्र० दि० देना चाहिए । **फुफ्फुस रोग** की साधारण अवस्था मे मुख द्वारा १०००–२५०० अं० इ० प्र० दि० पर्याप्त है । गम्भीर अवस्था मे ½–१½ ल० अं० इ० प्र० दि० दे सकते है ।

शिशु में कौड़ मछली के यकृत का तेल (God liver oil) दो सप्ताह की आयु पर्यन्त मि० १०, २–४ सप्ताह तक मि० ३०, ४–६ सप्ताह तक मि० ६० तथा १½–४ मास तक ड्रा २ प्र० दि० तक दे सकते हैं । हैलिबुट या शार्क (Halibut, shark) आदि मछलियो के यकृत का तेल भी प्रयोग किया जाता है ।

जीवतिक्ति 'ई' (Vit : E, a–tocopherol)

परिचय :—यह पदार्थ सन्तानोत्पत्ति के लिये आवश्यक है । इसकी कमी के कारण सन्तानोत्पत्ति की शक्ति क्षीण हो जाती है, गर्भपात की

प्रवृत्ति होती है, पेशीक्षय (Muscular dystrophy) होता है। पुरुषों मे शुक्रजीवाणु (Spermatozoa) के निर्माण में विकृति होती है तथा उनका नाश होता है। स्त्रियो में अपरा (Placenta) मे विकृति होती है, जिसके परिणामस्वरूप बार-बार गर्भपात होता है।

योग :—फाइटोफेरौल (Phytopherol B. D. H.) के प्र० कै० मे औषधि मि० ग्रा० ३ रहती है। वाइटियोलीन (Viteolın 'Go'), प्रोफेकन्डीन (Profecundin 'G.R.'), गेहूँ के तेल (Wheat germ oil), एफिनल (Ephynal 'Re'), अलफाटोको फेरौल (A-tocopherol) मि० ग्रा० ३ प्र० गो, फरटिलौल (Fertilol 'V. L.') आदि अन्य योग हैं।

प्रयोग :—औषधि विपाक्त नहीं है। **अपुष्ट पेशिक पार्श्व जरठता** (Amyotrophic lat : sclerosis) मे मि० ग्रा० ५०–१०० त्रि० या चा० प्र० दि० मुख से या पेशीमार्ग (I. M.) से ५०० मि० ग्रा० तक देने से क्षुधा मे वृद्धि होती है, कान मे हर समय जो आवाज सुनाई देती है उसमे कमी होती है, निद्रा आती है, पेशियो तथा वातनाड़ी संस्थान (C.N.S.) के लक्षणों मे कमी होती है। **गर्भपात** की प्रवृत्ति रहने पर मि० ग्रा० ५०–१०० प्र० दि० देना चाहिये। चिकित्सा का परिणाम उत्तम नही है। हृद्रोग, वातबलासक (Berı-berı), त्वग्ग्राह (Pellagra), रक्तवाहिनियो (B. V.) के रोग, जीवतिक्ति बी$_2$ (Rıboflavin) की कमी मे भी यह औषधि मि० ग्रा० ५०–५०० प्र० दि० दे सकते हैं। इस औषधि का तेल मे योग मि० ग्रा० ५०० तक पेशीमार्ग (I. M.) से गम्भीर रोगो मे दे सकते है। पलित मज्जाशोथ (Poliomyelitis) के पश्चात् अंगघात (Paralysis) होने पर या पेशीक्षय (Muscular dystrophies) मे जीवतिक्ति 'ई' तथा 'बी' (Vit : E, B.) अत्यधिक मात्रा मे तथा स्ट्रिकनीन (Strychnine) अत्यल्प मात्रा मे देने से लाभ होता है।

जीवतिक्ति 'के' (Vit : K. menaphthone)

परिचय :—यह पदार्थ यकृत मे अत्यल्प मात्रा मे संचय होता है। इस पदार्थ का रसायनिक विधियों (Synthetic) से निर्माण हो चुका है। इसके आन्त्र द्वारा प्रचूषित होने के लिये आन्त्र मे पित्त (Bile) का रहना

आवश्यक है, इस लिये इन्जेक्शन मार्ग अधिक उपयुक्त है। इसको मुख द्वारा देते समय, पित्त (Bile) ग्रे० ५ कै० द्वारा जीवतिक्ति 'के' की प्रति मात्रा के पूर्व देना चाहिये। रक्त मे पूर्वघनाश्रि (Pro-thrombin) की मात्रा प्राकृत रखने के लिये यह पदार्थ आवश्यक है। पूर्वघनाश्रि का यकृत मे निर्माण होता है। इसके निर्माण मे जीवतिक्ति 'के' से सहायता मिलती है। इसलिये रक्तस्कन्दन (Coagulation) के लिये यह जीवतिक्ति आवश्यक है। यह जीवतिक्ति शरीर मे अधिक मात्रा मे संचय नही हो सकती। आन्त्र मे तृणाणुओ (Bacteria) द्वारा इस जीवतिक्ति का बराबर निर्माण होता रहता है। इस पदार्थ की स्वस्थावस्था की प्र० दि० की मात्रा अज्ञात है। फल आदि प्राकृत पदार्थों मे जो जीवतिक्ति 'के' मिलता है वह विषाक्त नहीं है परन्तु रसायनिक विधियो से बने योग प्राय: प्रयोग किये जाते है और ये योग विषाक्त है। इन औषधियो को मि० ग्रा० १५० से अधिक देने से वमन, मूत्र मे शुक्लि (Alb) तथा लाल रंग के रागक (Porphyrin) आने लगते है। भोजन मे कमी होने के कारण इस जीवतिक्ति की कमी नहीं होती परन्तु आन्त्र मे तृणाणु (Bacteria) के कार्य मे विकृति होने पर या आन्त्र मे पित्त न रहने के कारण इसका निर्माण अथवा प्रचूषण नहीं होता। यकृत के रोगो मे पित्त तथा पूर्वघनाश्रि (Prothrombin) का निर्माण स्थगित हो सकता है। तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियाँ तृणाणुओं को नष्ट करती है तथा सैलिसिलेट (Salicylate) आदि पूर्वघनाश्रि (Prothrombin) मे कमी करती है इसलिये इन औषधियो के साथ-साथ जीवतिक्ति 'के' का भी प्रयोग करना चाहिये।

अभाव :—इसकी कमी के कारण नवजात शिशु मे रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है, रक्तस्कन्दन (Coagulation) की शक्ति क्षीण हो जाती है। पूर्वघनाश्रिकाल (Pro-thrombin time) की वृद्धि होती है, शरीर पर चोट लगने से या श्लैष्मिक कला (M. M.) से रक्तस्राव (Bleeding) होता है।

प्रयोग :—इसके प्रयोग से कामला (Jaundice) में शल्यकर्म (Op) सम्भव हो गया है। जीवन के प्रारम्भिक दिनो मे मस्तिष्कीय (Cerebral) लक्षण होने पर, नवजात शिशु पर शल्यकर्म (Op) करने के पूर्व, शिशु को माता या धात्रि का दूध न दे सकने पर, नवजात

शिशु के रक्तस्रावी (Haemorrhagic) रोगो मे, नवजात शिशु की रक्ताल्पता (Anaemia), कामला (Icterus neonetorum), समय के पूर्व प्रसव (Delivery) होने पर, यन्त्र द्वारा प्रसव कराने के पूर्व, प्रसव के समय कठिनाई होने की सम्भावना रहने पर, माता मे विषमयता (Toxaemia) होने पर, गर्भावस्था मे प्रसव के पूर्व, यकृत के रोग, पित्त के मार्ग मे अवरोध (Obst :) होने पर तथा रक्तस्कन्दन-निरोधी (Anti-coagulants, dicumarol) औषधियों की विषाक्तता के कारण रक्तस्राव होने पर, इस जीवतिक्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

चिकित्सार्थ :—मुख द्वारा ६० मि० ग्रा० तथा पेशीमार्ग (I. M.) या सिरामार्ग (I. V.) से १० मि० ग्रा० प्रतिबार प्रयोग कर सकते हैं । सिरामार्ग (I. V.) से जल मे घुलने वाला योग ही उपयुक्त है ।

योग :—इन्जेक्शन के लिये दो प्रकार के योग मिलते हैं :—

(१) **जल में घुलनशील** (Water sol :) जैसे सिनकाविट (Synkavit-'Re') । इस योग मे औषधि १० मि० ग्रा० प्रति मात्रा रहती है । सिरामार्ग (I. V.) से प्रयोग करने के लिए यह उपयुक्त है ।

(२) **तैल में घुलनशील** (Oil. sol:) जैसे कैपिलीन (Kapilin-'Go') । यह योग पेशीमार्ग (I. M.) से इन्जेक्शन देने के लिए उपयुक्त है ।

अवरोधी कामला (Obst: jaundice) मे मेनाडियोन (Menadione) मि० ग्रा० $\frac{1}{3}$–१ त्रि० प्र० दि० भो० प० पित्त (Bile) ग्रे० ५–२० के साथ देना चाहिये । **रक्तस्राव** की प्रवृति रहने पर मेनाफथोन (Menaphthone, Na-menadione bisulphite) मि० ग्रा० २ पेशी या सिरा (I.V.) मार्ग से द्वि० या० त्रि० प्र० स० दे सकते हैं । **रक्तस्कंदन निरोधी** (Anti-coagulants) **औषधियों** की विषाक्तता के कारण रक्तस्राव होने पर जीवतिक्ति 'के' सिरामार्ग (I.V.) से मि० ग्रा० २०–१०० प्र० दि० देना चाहिये । **यकृत के रोगों मे** तथा **गर्भावस्था** मे प्रसव के ३ दिन पूर्व से इसको सिरा या पेशीमार्ग से मि० ग्रा० २–५ प्र० दि० देना चाहिये ।

जीवतिक्ति 'पी' (Vit : P, rutin, hesperidin methyl chalcone) ।

परिचय :—यह जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C) के समान रक्तस्राव (Bleeding) से प्रयोग की जाती है, विशेष कर उच्चरक्त निपीड़ (B.P.) के साथ-साथ रक्तस्राव की प्रवृत्ति रहने पर । यह औषधि केशिकाओं की प्राचीर से रक्त को बाहर निकलने (Capillary fragility) से रोकती है । अत्यधिक शीत के प्रभाव (Frostbite) के कारण कर्दम (Gangrene) होने की सम्भावना प्रतीत होने पर इस औषधि के प्रयोग करने से इस प्रकार के कर्दम होने की अल्प संभावना रहती है ।

मात्रा :—उपर्युक्त अवस्थाओं मे **रुटीन** (Rutin) मि० ग्रा० २०–४० मुख द्वारा त्रि० प्र० दि० दे । रुटीन का जीवतिक्ति 'सी' (Vit.C) के साथ भी योग मिलता है । हेस्परिडीन (Hesperidin) ग्रा० $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ द्वि० प्र० दि० दी जाती है ।

जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multivitamins) :—मल्टीसेब्रिन (Multicebrin 'Ly'), पैनसेब्रिन (Pancebrin 'Ly'), एसडावाइट (Esdavite 'S. D') तथा एबीडौल 'सी' (Abidol 'C' P.D.) का कैपस्यूल, युवा मे तथा नेस्ट्रोविट (Nestrovit) का घोल बच्चो मे दे सकते हैं ।

(४) पीयूष ग्रंथि (Pituitary)

परिचय :—पीयूष ग्रंथि के दो भाग है, पूर्व (Ant:) तथा पश्चिम (Post:)। **पूर्व भाग** का वातनाडी संस्थान (C.N.S.) से सम्बन्ध नहीं है। इस भाग के स्राव की रसायनिक प्रकृति प्रोटीन (Ptn) के समान है । इनको इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिये । इस भाग के स्राव मे **एसीटीएच** (ACTH) प्रधान है । ये स्राव अन्य अन्तःस्रावीग्रंथियो (Endocrines) के स्राव पर नियंत्रण करते है। **पश्चिम भाग** वातनाड़ी संस्थान का ही एक भाग है । इसके स्राव मे **पिट्रेसीन** (Pitressin) तथा **पिटोसीन** (Pitocin) प्रधान हैं। ये केवल इन्जेक्शन द्वारा कार्य करते है। ये पोलीपेप्टाइड (Poly-peptide) है ।

(अ) एसीटीएच (ACTH.) **तथा कौरटीसोन** (Cortisone) ।

परिचय :—ये औषधियाँ लक्षणो का शमन करती है। रोग का निवारण नहीं करतीं। एसीटीएच की उत्पत्ति पीयूषग्रंथि (Pituitary) के पूर्व (Ant:) भाग से तथा कौरटीसोन की उत्पत्ति उपवृक्क (Adrenal) से है। एसीटीएच भी उपवृक्क को उत्तेजित कर अपना कार्य करती है। दोनों की कार्यशीलता मे पर्याप्त समानता होने के कारण दोनो का वर्णन साथ किया जाता है। इनका शरीर के समवर्त (Mbm) पर जो प्रभाव है उसका वर्णन तालिका मे किया गया है।

ए० सी० टी० एच० (Adreno- cortico trophic-hormne ACTH) **तथा कौरटीन** (Cortisone) प्रायोगिक अवस्था मे हैं। इनको वरफ मे रखना आवश्यक है। इनकी प्रति मात्रा को दो सी० सी० समबल लवण जल (N. Saline) मे घोल कर पेशीमार्ग (I.M.) से प्रति ६ घण्टे पर इन्जेक्शन लगाना चाहिये। यक्ष्मा (T.B.), हृत्पेशी अपजनन (Myocardial degeneration), मधुमेह (Diabetes) तथा वृक्क (Kidney) के रोगो मे इनका प्रयोग वर्जित है। चिरकालीन श्वसनीगत तमकश्वास (Chro: bronchial asthma) में इनसे हानि हो सकती है।

आंत्रिक ज्वर में ३६ घण्टे मे तथा आमवात ज्वर मे दो दिन मे ताप प्राकृत हो जाता है और सधियो की पीडा एक दिन मे ठीक हो जाती है। चिरकालीन रोगों मे ४–६ सप्ताह पर्यन्त चिकित्सा करने की आवश्यकता पडती है। ये दोनो औषधियाँ प्रायः समान रूप से प्रभावशाली है और दोनो मे से कोई भी प्रयोग की जा सकती है परन्तु किसी-किसी रोगी मे ऐसा संभव है कि एक औषधि कार्य करे तथा दूसरी कार्य न करे। इनको प्रायः दीर्घकाल पर्यन्त प्रयोग करना पडता है। ये औषधियाँ अवटुका (Thyroid) ग्रंथि के स्राव को कम करती है इसलिये यदि इनको एक मास से अधिक प्रयोग करना हो तब अवटुका ग्रंथि (Thyroid ext:) का सत्व भी ग्रे०१, एक, दो या त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। मानसिक अस्थिरता (Psychosis) रहने पर इन औषधियो के प्रयोग से रोगी का मानसिक संतुलन विकृत हो सकता है और वह आत्महत्या का प्रयत्न कर सकता है। इसलिये इन रोगियो मे औषधि देते समय उन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। मानसिक लक्षण मिलने पर औषधि की मात्रा कम कर देना चाहिये या औषधि बन्द कर देना चाहिये।

हृदय तथा वृक्क के रोगों मे विशेष सावधानी आवश्यक है। ये कोषाणुओं के बाहर के जल (Extra-collular fluid) को रुद्ध करती हैं इसलिये हृत्पेशी (Myocardium) मे विकृति रहने पर दक्षिण हृदयातिपात (Rt: ht: failure) हो सकता है। इन रोगियों में लवण (NaCl) रहित आहार के साथ-साथ अत्यल्प मात्रा मे औषधि प्रारम्भ करना चाहिये। दक्षिण हृद-यातिपात (Congestive heart failure) मे इन औषधियो के प्रयोग मे विशेष सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि इनके प्रयोग से शरीर में सोडियम (Na.) तथा जल के सञ्चय होने की प्रवृत्ति रहती है। चिकित्सा-क्रम में दक्षिण हृदयातिपात के लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि की मात्रा एकदम कम कर देना चाहिये अथवा बन्द कर देना चाहिये। परम मधुमयता (Hyper: glycaemia), उच्च रक्तनिर्पीड (High B.P.) तथा मनोवैज्ञानिक (Psychic) विकृति मे भी औषधि त्याग अथवा उसकी मात्रा कम कर देनी चाहिये। औषधि की विषमयता के कारण ये लक्षण हो सकते हैं। ए० सी० टी० एच० के प्रयोग के समय औषधि यदि कार्य करती है तब उषसिप्रिय (Eosinophils) की संख्या कम होने लगती है। जब तक रोग के क्रियाशील (Active) रहने का प्रमाण हो तब तक इन औष-धियो को प्रयोग करना चाहिये। इनकी मात्रा कम करने अथवा बन्द करने पर यदि रोग का पुनरावर्तन (Relapse) हो तब औषधि का प्रारंभिक मात्रा से पुनः प्रारम्भ करना चाहिये। मूत्राल्पता (Oliguria) या शोफ (Oed-ema) के साथ-साथ वृक्क मे गम्भीर विकृती रहने पर विशेष सावधानी आव-श्यक है। त्वचा के रोगो मे औषधि सहन कर सकने को शक्ति कम हो जाती है और प्रतिक्रिया होने की संभावना रहता है। इसलिये रक्तिम त्वकपिड़िका (Lupus erythematosos) आदि मे औषधि अत्यल्प मात्रा मे प्रारंभ करना चाहिये। इन औषधियों का जीवाणु पर प्रभाव नहीं है। इनका प्रभाव कोषाओ (Cells) के ऊपर है। ये कोषाओं के कार्य मे कुछ ऐसा परिवर्तन करती है कि उनके अन्दर विष के प्रवेश करने मे कठिनाई होती है और शरीर को विष का नाश करने के लिये समय मिल जाता है। आमवाताभ संधिशोथ (Rheumatoid arthritis) आदि कुछ रोगों मे शरीर विष को नष्ट नही कर पाता इस लिये जब तक औपधि दी जाती है रोगी को लाभ होता रहता है परन्तु औपधि बन्द करने पर रोग का शीघ्रता से पुनरावर्तन होता है।

विधि :—इन औषधियों की मात्रा प्रत्येक रोगी में पृथक पृथक होती है। इसलिये यह पता लगाना चाहिये कि कितनी कम मात्रा से रोगी को लाभ हो सकता है। यथा सम्भव इसी मात्रा को प्रायः देना चाहिये। इस मात्रा का ज्ञान **दो विधियों** से सम्भव है :—अत्यल्प मात्रा से प्रारम्भ कर शनैः-शनैः औषधि का मात्रा बढ़ाना चाहिये और जिस मात्रापर पहुँचने पर रोगी को लाभ प्रतीत हो उसी मात्रा को आगे देना चाहिये। द्वितीय विधि के अनुसार औषधि का प्रारंभ अधिक मात्रा मे करना चाहिये और शीघ्रता से औषधि की मात्रा कम करते जाना चाहिये। कौरटीसोन के प्रयोग से उपवृक्कीयशल्क (Adrenal cortex) के नष्ट होने की संभावना रहती है इसलिये कौरटीसोन तथा एसीटीएच को साथ साथ प्रयोग करना ही सर्वोत्तम है। दोनो औषधियो को साथ प्रयोग करते समय कोरटिसोन की मात्रा एसीटीएच की मात्रा की दूनी या तिगुनी होनी चाहिये। इन औषधियों को कभी अकस्मात बन्द नहीं करना चाहिये। लक्षणो का शमन हो जाने पर औषधि की मात्रा शनैः शनैः कम करना चाहिये। कौरटीसोन शरीर से उत्पन्न होने वाले एसीटीएच को उत्पत्तिको रोकता है और इस प्रकार उपवृक्कीयशल्क (Adrenal cortex) को नष्ट करता है इसलिये इन औषधियो को अकस्मात् बन्द करने से अडीसन के रोग (Addison's disease) अथवा मूल रोग के गम्भीर पुनरावर्तन होने की सम्भावना रहती है।

ये औषधियाँ पर्याप्त हानिकर है। इनका कुप्रभाव कम करने के लिये रोगी को भोजन मे लवण (Nacl) की मात्रा कम तथा प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक देनी चाहिये। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त प्र० दि० प्रातः काल भोजन के पूर्व रोगी का वजन, रक्तनिपीड़ (B. P.) तथा रक्त मे उपसिप्रिय (Eo) की संख्या के लिये देखना चाहिये। उषसिप्रिय की संख्या देखते रहने से पता लगता है कि औषधि लाभ कर रही है या नही। औषधि के कार्यशील होने पर उषसिप्रिय की संख्या मे कमी होती है। साधन रहने पर ए० सी० टी० एच० का प्रयोग करते समय प्र० दि० मूत्र संचय कर उसमे १७–कीटोस्टेरौयड (17-keto-steroids) की मात्रा के लिये देखना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रति चतुर्थ दिन उपवास के समय की रक्तशर्करा (Fasting blood sugar), रक्तावसादन गति (E.S.R.) तथा रक्त मे रक्तकण (R.B.C.), श्वेतकण (W.B.C.) शोणवर्तुलि (Hb.) आदि के

लिये देखना चाहिए। ये औषधियाँ प्रोटीन (Ptn) तथा पोटासियम (K.) के सन्तुलन (Balance) को विकृत करती हैं। इसलिये यदि इन औषधियों का अधिक समय तक प्रयोग करना हो तब साथ-साथ **टेस्टोस्टेरोन** (Testosterone) मि० ग्रा० ५–१० द्वि० प्र० दि० देना चाहिये। चिकित्सा की अवधि मे शोफ (Oedema) होने पर भोजन मे लवण (Nacl) की मात्रा कम, प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक देने के साथ-साथ पोटासियम क्लोराइड (Pot : chloride) ग्रे० २५–७५ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। लेखक की राय मे हिस्टामीन निरोधी औषधियाँ (Anti-histamines, Benadryl, Antistin) गो० १ द्वि०प्र०दि० देने से भी शोफ मे कमी होती है।

ये औषधियाँ स्त्रियो मे विशेषकर हानिकर हैं। इनकी **विषाक्तता** के कारण चेहरे पर मुहाँसे (Acne), शरीर पर रोम की वृद्धि (Hirsutism), रक्त तथा मूत्र मे शर्करा की वृद्धि, शरीर मे प्रोटीन (Ptn) की कमी, जल तथा लवण (Nacl) सचय होने के कारण शोफ (Oedema), उच्च रक्तनिपीड (B.P.), आकृति मे परिवर्तन, रञ्जन (Pig.). रक्त की मात्रा (Volume) की वृद्धि, नाइट्रोजन के सतुलन (Nitrogen balance) मे विकृति आदि उपद्रव होते हैं। रक्त मे शर्करा की वृद्धि होने से मधुमेह (Diabetes) मे हानि हो सकती है। **स्त्रियों** तथा बालिकाओ मे औषधि प्रयोग करने से ओष्ट पर बाल निकल सकते है तथा पुरुषत्व (Secondary male characters) के लक्षण हो सकते हैं। शरीर से पोटासियम (K) का परित्याग होने से क्षारोत्कर्ष (Hypo-kaliemic alkalosis) हो सकता है। इसलिये इनके साथ-साथ पोटास साइट्रस या एसिटेट (Pot: cit, pot:acetas) ग्रे० १०–२० त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। इनको अधिक समय तक प्रयोग करने से कशिंग के संरूप (Gusbing's syndrome) होने की संभावना रहती है।

मात्रा	एसीटीएच पेशी (I.M.) मार्ग से।	कौरटीसोन पेशी या मुख द्वारा।
प्रभावशाली (Therapeutic) मात्रा.	मि. ग्रा. १०–१५ प्रायः मि. ग्रा. १०–२० चा. प्र. दि.	मि. ग्रा. २५–७५ चा. प्र. दि.
स्थायी (Maintenance) मात्रा.	मि. ग्रा. २–२५ प्रायः १०–२० मि. ग्रा. द्वि. प्र. दि.	मि. ग्रा. २५–५० द्वि. प्र. दि.

योग (क) कौरटिसोन (Cortisone, Delta cortisone, cortisone acetate) :—कौरटीसोन एसिटेट मि० ग्रा० २५ प्र० सी.मी. पेशी (I.M.) द्वारा या कौरटिसोन की मि० ग्रा० २५ की गो० मुख मे दे सकते है। इसका नेत्र मे डालने का योग भी मिलता है।

(ख) ए०सी०टी०एच (ACTH.Aco) सर्वदा पेशी (I.M.) मार्ग से दी जाती है। इसके भस्म को समबल लवण घोल (N.saline) मे घोल कर देना चाहिये।

कौरटीसोन तथा एसीटीएच का प्रभाव क्षेत्र :—

(क) उत्तम प्रभाव :—निम्न रोगों पर इन औषधियो का उत्तम प्रभाव है :—आमवाताभ सधिशोथ (Rheumatoid arthritis), आमवात ज्वर (Rheumatic fever), वातरक्त (Gout), अनूर्जता (Allergy) जन्य शीतपित्त (Urticaria) तथा तीव्र दमा, रक्तिमत्वकपिडिका (Lupus erythematosus), आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), व्यापक या तीव्र अपपर्णकर (Exfoliative) या अपुष्टकर (Atrophic) त्वकशोथ (Dermatitis), आमवाताभजन्य पृष्ठवशशोथ (Rheumatoid spondylytis), नेत्र के रोग, रक्तवाहिनी-वात-नाड़ी शोफ (Angio-neurotic oedema), लसिकाजन्य रोग (Serum sickness), विषमयता (Toxaemia), औपसर्गिक ज्वर **स्टिल** (Still's) का रोग, बड़े-बडे फफोले (Pemphigus), मूक-कुष्ठजन्य सधिशाथ (Psoriatic arthritis), औषधियो की असहन-शीलता (Sensitivity) जन्य रोग, परागजन्य ज्वर (Hay fever)।

नोट :—अडीसन (Addison) के रोग तथा पीयूष ग्रंथि (Pituitary) के स्राव की कमी के कारण व्यापक विकृती होने पर केवल कौरटीसोन लाभप्रद है।

(ख) साधारण प्रभाव :—निम्न रोगो पर इन औपधियो का साधारण प्रभाव है :—फुफ्फुसकणोत्कर्ष (Pneumoconiosis), दाह (Burn), आंत्रशोथ (Enteritis), व्रणज (Ulcerative) या स्थानिक, मूककुष्ठ (Psoriasis), श्वेतकणों की सख्या मे अत्यधिक कमी, वृक्कोत्कर्ष (Nephrosis), तीव्र वृक्कशोथ (Acute glomerulo-nephritis), यक्ष्मा के अतिरिक्त फुफ्फुस के अन्य रोग, खरचर्मता (Sclerodeेrma), चर्म-पेशीशोथ (Dermato myositis), ग्रन्थिल परिधमनी शोथ (Periarteritis nodosa), मदात्यय (Alcoholism)।

(ग) क्षणिक प्रभाव :—निम्न रोगों पर इन औषधियो का क्षणिक प्रभाव है :—हौजकिन (Hodgkin) का रोग, श्वेतमयता (Leukaemia), निलोहा (Purpura), शोणाशिक रक्तक्षय (Haemolytic anaemia), तीव्र एककायाणिवक श्वेतमयता (Monocytic leukaemia), तीव्र तथा चिरकालीन लसाभ (Chro:lymphatic leukaemia) श्वेतमयता, लसमासार्बुद (Lympho-sarcoma), अनेक मज्जार्बुद (Multiple myeloma)।

(घ) प्रभावहीन :—निम्न रोगो पर ये औपधियाँ प्रभावहीन हैं :—कशिंग का सरूप (Cushing's syndrome), मधुमेह (Diabetes mellitus), पेशीक्षय (myopathy), अस्थिसौपिर्य (Osteoporosis), पलित सुपुम्नाशोथ (Poliomyelitis), गम्भीर पेश्यवसन्नता (Myasthenia gravis), चिरकालीन मज्जाभ श्वेतमयता (Chro: myeloid-leukaemia), अपुष्ट पेशिक पार्श्व जरठता (Amyotrophic lat: sclerosis), दक्षिण हृदयातिपात (Rt:Ht:failure)

(आ) **डोका** (Doca):–यह पदार्थ रसायनिक क्रियाओं (Synthetic) द्वारा बनता है। इसका प्रभाव उपवृक्क के शल्कीयसत्व (Suprarenal cortical hormone) के समान है। इसका मुख द्वारा प्रयोग प्रभाव हीन है। इसको पेशी मार्ग (I.M.) से देना चाहिये। इसको जिह्वा के नीचे (Sublingual) या कपोल तथा दतपंक्ति के मध्य मे रख सकते हैं। त्वचा

के नीचे शल्यकर्म (Depot.) द्वारा भी इसका प्रयोग लाभप्रद नही है। औषधि विषाक्त है इसलिये औषधि की अत्यधिक मात्रा नही देना चाहिये। इसके प्रयोग के समय विषाक्तता के लक्षणों के लिये देखते रहना चाहिये। **प्रारम्भ** मे इस औषधि को पेशीमार्ग (I.M.) से मि० ग्रा० ५–८ प्र० दि० देना चाहिये। लाभ होने पर मि० ग्रा० २–४ द्वि० प्र० दि० जिह्वा के नीचे रखना चाहिये। इसका इन्जेक्शन तेल मे बना आता है। डोका की सी० सी० १ (मि० ग्रा० ५)=कौरटीन (Cortin) सी० सी० १० के। डोका की प्र० गो० मे औषधि मि० ग्रा० २ रहती है। इसको जिह्वा के नीचे रखना चाहिये।

(५) रस चिकित्सा (Chemotherapy)

इस वर्ग मे चिकित्सा शास्त्र की अनेक विशिष्ट औषधियाँ सम्मिलित हैं। ये औषधियाँ दो प्रकार से कार्य करती है। कुछ औषधियाँ जीवाणुओं को **कार्यहीन** (Bacteriostatic) करती हैं। ये जीवाणु को स्वय नही मारती केवल उनकी संख्या की वृद्धि तथा उनका विकास रोकती है। इस वर्ग में **सल्फा** (S) औषधियाँ, पी० ए० एस० (P.A.S.), क्वीनीन (Q), टीबीयोन (Tibione) आदि सम्मिलित हैं। दूसरे वर्ग मे वे औषधियाँ सम्मिलित हैं जो तृणाणुओं (Bacteria) का नाश करती है। इन औषधियो को **तृणाणुनाशक** (Antibiotics) कहते है। इस वर्ग मे अनेक औषधियाँ सम्मिलित हैं जैसे :—पेनिसिलीन (P.), स्ट्रेप्टोमायसीन (Str.) टेरामायसीन (Tn.), औरियो मायसीन (Au.), क्लोरोमयसिटीन (Cln.), इलियोटायसीन (Itn.), एक्रोमायसीन (Acn.), टायरोथ्रिसीन (Tyn.), बैसीट्रेसीन (Btn.), पोलीमिक्सीन (Px.) आदि।

इन औषधियों का जीवाणुओ पर विशिष्ट प्रभाव है। इसलिये चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि कौन औषधि किस जीवाणु पर कार्य करती है तथा जिस रोगी की चिकित्सा करना है उस रोगी मे किस जीवाणु का उपसर्ग है। इन दोनों विषयो को जाने बिना इन औषधियों का प्रयोग न केवल निरर्थक है बल्कि हानिकर भी हो सकता है। इसलिये इन औषधियों को केवल उन जीवाणुओ के उपसर्ग मे प्रयोग करना चाहिये जिन जीवाणुओं पर इन औषधियो का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त इन औषधियों को सर्वदा प्रभावशाली मात्रा मे प्रयोग करना चाहिये जिससे जीवाणुओ का

नाश हो जाय। इनको अल्प मात्रा में तथा अनियन्त्रित रूप में प्रत्येक विकृती तथा रोग की अवस्था में प्रयोग करने से जीवाणुओं में इन औषधियों को सहने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और ये औषधियाँ प्रभावहीन हो जाती हैं। इतनी प्रभावशाली औषधियो को इस प्रकार नष्ट करना क्षम्य नहीं हैं। ये औषधियाँ कुछ रोगो के प्रतिषेध (Prophy) के लिये भी प्रयोग की जाती हैं जैसे, शल्यकर्म (Op.) के पूर्व द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग रोकने के लिये। आमवात (Rheumatic fever) के रोगी का दाँत निकालने के पूर्व पेनिसिलीन (P.) का प्रयोग करने से अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तरहृच्छोथ (Subacute Bacterial Endocarditis) की संभावना नहीं रहती। मधुमेह (Diabetes) के रोगी में शल्यकर्म (Op.) करने के पूर्व इनका प्रयोग करने से उपसर्गजन्य उपद्रवों को रोका जा सकता है। कभी-कभी रोग का विशिष्ट कारण अज्ञात रहने पर भी रोगी की प्राण रक्षा के लिये यह आवश्यक होता है कि जीवाणुओं का पता लगाने में समय नष्ट न किया जाय और इन औषधियो को तत्काल प्रारम्भ कर दिया जाय। सिद्धान्ततः ऐसे रोगियों की संख्या अत्यल्प होनी चाहिये। उपदंश (Gono), खण्डीय फुफ्फुसपाक (Lobar Pneumonia) आदि में रोग के कारण का ज्ञान लक्षणों से जानना सम्भव है। इन रोगों में जीवाणु का पता लगाये बिना ही विशिष्ट औषधि प्रारम्भ कर सकते हैं। विषमज्वर (M. F.) आदि कुछ रोगों में जीवाणु न मिलने पर भी रोगविनिश्चिति (D. D.) के लिये क्वीनीन (Q) का प्रयोग किया जाता है। इसको औपशयिक कसौटी (Therapeutic test) कहते हैं। तृणाणुनाशक औषधियो में कुछ औषधियाँ एक दूसरे के प्रभाव को बढ़ाती (Synergistic) हैं जैसे, पेनिसिलीन (P.) तथा स्ट्रेप्टोमायसीन (Str.)। इनको साथ प्रयोग कर सकते हैं परन्तु कुछ औषधियाँ एक दूसरे की विरोधी (Antagonistic) होती हैं और एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट करती है। औरियोमायसीन (Au.), क्लोरोमायसिटीन (Cln.), टेरामायसीन (Tn.) आदि के साथ पेनिसिलीन (P.) का प्रयोग करने से पेनिसिलीन का प्रभाव कम हो जाता है, इसलिये इन औषधियों को प्रायः एक साथ प्रयोग नहीं करना चाहिये। केवल विशेष परिस्थिति में दो तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियों को साथ प्रयोग कर सकते हैं।

तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियो का **वर्गीकरण :—** ये औषधियाँ प्रायः दो प्रकार की होती है :—**(क) जीवाणुनाशक** (Bactericidal) :—इस वर्ग मे निम्न औषधियाँ सम्मिलित है :—पेनिसिलीन (P), स्ट्रेप्टोमायसीन (Str:), बैसीट्रेसीन (Btn), नेयोमायसीन (Nn.), पोलीमिक्सीन (Px.) आदि। इनमे से कोई भी दो औषधियाँ जब साथ प्रयोग की जाती है तब इनके प्रभाव की वृद्धि (Synergism) होती है।

(ख) जीवाणु को प्रभावहीन (Bacteriostatic) करने वाली औषधियाँ है :—क्लोरोमायसेटीन, (Cln), औरियोमायसीन (Au.) टेरामायसीन (Tn.) आदि। इनमे से कोई भी दो औषधियाँ **जब साथ प्रयोग की जाती हैं** तब सहक्रिय (Synergistic) प्रभाव नही होता। यदि कोई **जीवाणु (क) वर्ग की औषधि को सहन** (Resistant) कर सकता है तब इन दोनो वर्ग की औषधियाँ साथ प्रयोग करने से दोनो वर्ग मे सहक्रियता (Synergism) हो सकती है परन्तु **जीवाणु** यदि (क) वर्ग की औषधि को नही सह (Sensitive) सकता है तब इन दोनो वर्ग की औषधियाँ साथ प्रयोग करने स एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट करती हैं। पेनिसलीन के साथ **बेनेमिड** (Benemid) ग्रे० ७½ चा० प्र० दि० मुख से देने से पेनिसिलीन के शरीर से निकलने मे कमी होती है और रक्त मे इस औषधि की मात्रा बढ़ जाती है। रोगी को यदि किसी एक प्रकार की पेनिसिलीन के विरुद्ध अनूर्जता (allergy) हो तब पेनिसिलीन के अन्य योग प्रयोग करने चाहिये।

सल्फा (Sulpha drugs) औषधियाँ

परिचय :—ये औषधियाँ श्वेतवर्ण की चूर्ण हैं। ये जल में अत्यल्प घुलती है तथा विषाक्त है। इनका प्रयोग मुख, पेशी (I.M.) तथा सिरामार्ग (I.V.) से कर सकते है।

ये औषधियाँ तृणाणुओं को **नष्ट नहीं करती** परन्तु **उनकी वृद्धि को रोकती हैं**। इन औषधियो को प्रति चार घण्टे मुख द्वारा देना आवश्यक है और ताप प्राकृत हो जाने के दो-तीन दिन पश्चात् तक इन औषधियो का प्रयोग करना चाहिये। एक बार मे सात दिन से अधिक इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन औषधियो का मुख द्वारा प्रयोग उत्तम है। विशेष अवस्थाओं में इनका इन्जेक्शन लगा सकते है। इन औषधियो के प्रयोग के समय मूत्र की

प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) रहना आवश्यक है अन्यथा मूत्राघात (Supprssion) होने की सम्भावना रहती है। मूत्र को क्षारीय बनाने के लिए सल्फा औषधि की प्रति मात्रा के साथ १५ ग्रे० सोडी-बाइकार्ब (Sodi bicarb) का भी प्रयोग करना चाहिए। पेशीमार्ग (I.M.) से इनका प्रयोग पीड़ाकर होता है, इसलिये आवश्यकता पड़ने पर सिरा मार्ग (I.V.) से प्रयोग कर सकते है। इनके प्रयोग के समय मुख द्वारा जल कम से कम पा० ६ प्र०दि० देना आवश्यक है। इनके प्रयोग से जीवतिक्ति 'बी' के प्रचूषण मे कमी हो जाती है, इसलिए जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit: B complex) का भी प्रयोग करना चाहिये। इनके प्रयोग से रक्ताल्पता (Anaemia) तथा अकणिक श्वेतकायाणूल्पर्ष (Agranulocytosis) होने की सम्भावना रहती है, इसलिए समय-समय पर रक्त-परीक्षा करते रहना आवश्यक है।

तृणाणुओं की मृत्यु सल्फा औषधि के द्वारा नही बल्कि रोगी के शरीर के साधनों के द्वारा ही होती है। सल्फा औषधियाँ केवल तृणाणु की सख्या की वृद्धि तथा उनका विकास (Bacteriostatic) रोकती हैं। इसलिये रोगी के शरीर मे यदि पर्याप्त रोगक्षमता (Immunity) न हो और रोग निवृत्त हो जाने के तत्काल पश्चात् यदि इन औषधियो को बन्द कर दिया जाय तब रोग के पुनरागमन की संभावना रहती है। जो पदार्थ प्रायः त्रिणाणु की वृद्धि मे सहायक होते हैं जैसे निर्यास (Exudate) आदि, उन पदार्थों के शरीर में रहने पर सल्फा औषधियों के कार्य मे कमी हो जाती है। इसी प्रकार **पाबा** (PABA), यकृत सत्व (Liver ext:), जीवतिक्ति 'बी' संपूर्ण (Vit: B: complex) तथा स्थानिक संज्ञाहर (Local anaesthetic) आदि औषधियाँ सल्फा को तृणाणु पर कार्य नहीं करने देतीं। इसलिये इन औषधियो को सल्फा के साथ प्रयोग करना वैज्ञानिक नही है। 'पाबा' जीवतिक्ति 'बी' संपूर्ण का ही एक भाग है।

योग :—सल्फा निलामाइड (S-nilamide) के अनेक **योग** है जैसे:— **सल्फामेराजीन** (S-merazine), **सल्फाडियाजीन** (S diazine), सल्फासिटामाइड (Albucid, S-cetamide), सल्फापाइरीडीन (S-pyridine-M. B. 693), सल्फाथियाजोल (S-thiazole, Cibazole, M.B. 760), सल्फागोनीडीन (S-guanidine), सल्फा सक्सीडीन (S-succidine), सल्फाथैलीडीन (S-thalidine,

Thalazole) आदि । इन औषधियो मे प्रथम दो औषधियो का जीवाणुओं पर सर्वोत्तम प्रभाव है ।

(क) **सल्फानिलामाइड** (S nilamide):—इसका प्रयोग केवल शोणाशिक मालागोलाणु (Haemolytic strepto) मे करना चाहिये ।

(ख) सल्फापायरेडीन (S-pyridine M.B. 693):—यह औषधि अधिक विषाक्त होने के कारण इसका प्रयोग प्रायः नही किया जाता। पेशी या-सिरा (I. V.) द्वारा ग्रा० १ जल सी० सी० ३–१० मे दिया जाता है ।

(ग) सल्फाथियेजोल (S-thiazole M. B. 760) :—इस औषधि के कारण मूत्राघात (Suppression) होने की अधिक सम्भावना रहती है । सिरा द्वारा ग्रा० १ दिया जाता है ।

(घ) सल्फाडियाज़ीन (S-diazine) :—यह औषधि उपर्युक्त दुर्गुणो से रहित है । अत्यन्त तीव्र रोगो मे सर्वप्रथम २ ग्रा० सिरामार्ग (I. V.) से प्रयोग कर, ७½ ग्रे० की चार गोली मुख द्वारा देना चाहिये । तत्पश्चात् प्रति चार घण्टे पर दो गोली देना चाहिये । तीन दिन निरन्तर इसी क्रम से औषधि देने के पश्चात् एक गोली प्रति चार घण्टे पर देना चाहिये । सल्फा औषधि के प्रयोग से प्रायः चार दिन मे लाभ होता है । रोग की साधारण अवस्था मे या साथ साथ पेनिसिलिन (P.) का प्रयोग करने से सल्फा औषधियो की मात्रा कम की जा सकती है ।

(ङ) **सल्फामेराज़ीन** (S-merazine) :—यह औषधि कम मात्रा मे तथा प्रत्येक छः घंटे पर प्रयोग कर सकते हे । युवावस्था की अपेक्षा बाल्यावस्था के रोगी इन औषधियो के लिये अधिक सहनशील होते है ।

(च) **सल्फासिटामाइड** (S-cetamide) :—नेत्र मे इसका २·५ प्र० श० का घोल (Albucid) डाला जाता है । मूत्र-संस्थान के रोगो मे विशेष लाभप्रद है । पेशी (I.M.) मार्ग से ३० प्र० श० ४ सी० सी० देना चाहिये ।

(छ) इनके अतिरिक्त डायसोन (Diasone), प्रोमीन (Promin), प्रोमीज़ोल (Promizole) आदि भी सल्फा के योग है । ये योग प्रायः कुष्ठ (Leprosy) मे तथा कभी कभी यक्ष्मा (T. B.) मे प्रयोग किये जाते हैं ।

जाती है। इन औषधियों मे प्रथम तीन औषधियो का अत्यल्प प्रचूषण (Absorption) होता है, इसलिये इनका स्थानिक प्रभाव है। अंतिम औषधि का प्रचूषण होने के कारण इसका प्रभाव तथा विषाक्तता अन्य सल्फा औषधियों के समान है।

(२) मूत्र-संस्थान (Urinary tract) के उपसर्ग :—इस संस्थान के उपसर्ग मे सल्फा औषधियां कम मात्रा मे दी जा सकती हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) होना आवश्यक है तथा जल की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिये। सल्फासिटामिड (S-cetamide), सल्फाडियाजीन (S-diazine) तथा सल्फाथियेजोल (S-thiazole) इस संस्थान के रोगो मे प्रयोग की जाती हैं।

(३) अन्य स्थानों के उपसर्ग :—औषधि की प्रथम मात्रा प्रायः अन्य मात्राओ की दूनी होती है। अत्यन्त तीव्र रोगो मे चिकित्सा के प्रारम्भ में इस औषधि का एक बार सिरा मार्ग (I. V.) से इन्जेक्शन लगा सकते हैं। इसके लिए सल्फा औषधि का सोडियम (Na.) से बना लवण २ ग्रा० १० सी० सी० परिश्रुत जल मे मिश्रित कर देना चाहिये।

(ख) पेनिसिलीन (Penicillin)

परिचय :—यह औषधि पे० नोटाटम (P. notatum) नाम के छत्राणु (Fungus) से बनी है। इसकी प्रतिक्रिया अम्ल (Acid) होती है। इसको चूर्णातु (Cal:) या सोडियम (Na.) से संयोग कर लवण बनाया जाता है। यह लवण शुष्क अवस्था मे स्थायी है परन्तु साधारण ताप पर कुछ समय मे जल के संपर्क से नष्ट हो जाता है, इसलिए इसका घोल बरफ मे रखना चाहिये। यह औषधि क्षार (Alkali), अम्ल तथा मद्य के सम्पर्क से नष्ट हो जाती है। यह औषधि तृणाणुओ (Bacteria) को नष्ट करती है। रोग की चिरकालीन (Chro:) अवस्था की अपेक्षा तीव्र अवस्था पर यह औषधि अधिक लाभदायक है। निम्न तृणाणुओ पर इसका विशेष प्रभाव है :—गुह्य गोलाणु (Gono), स्तवकगोलाणु (Staphy), मालागोलाणु (Strepto), फुफ्फुस गोलाणु (Pneumo), मस्तिष्क गोलाणु (Meningo), रोहिणी दण्डाणु (Cl: diphtheriae) आदि। प्लेग मे यह औषधि प्रभावहीन मानी जाती है। छत्राणु द्वारा चार प्रकार की पेनिसिलीन

का पता लगा है, पेनिसिलीन 'जी', 'एफ', 'एक्स' और 'के' (G. F. X. K.)। साधारणतः जो पेनिसिलीन प्रयोग की जाती है वह 'जी' (P. G.) है। पेनिसिलीन 'जी' से सोडियम (Na.), पोटासियम (K.) कैलसियम (Cal. :) आदि के लवण बनाये गये हैं। ये लवण जल में घुलनशील है। पेनिसिलोइक एसिड (Penicilloic-acid) के साथ प्रोकेन (Procaine) का लवण (Pr. : P.) भी बनाया गया है। पेनिसिलीन का प्रभाव अधिक समय तक रखने के लिये प्रोकेन के योग प्रयोग किये जाते है। इनमे प्रोकेन रहने के कारण इन्जेक्शन के पश्चात पीड़ा कम होती है। प्रोकेन के योग केवल पेशी मार्ग (I. M.) से प्रयोग किये जा सकते हे। इनमे प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr : P.) की मात्रा ३–१० ल० अं० इ तक रहती है। इसके साथ-साथ प्रायः घुलनशील पेनिसिलीन (P. G.) १-२ ल० अं० इ तक रहता है। घुलनशील पेनिसिलीन औषधि का प्रभाव तत्काल प्रारम्भ करती है और प्रोकेन का योग इस प्रभाव को अधिक समय तक स्थायी करता है। इस औषधि का तेल में योग भी मिलता है।

पेनिसिलीन का प्रचूषण क्षुद्रांत (Int :) से आसानी से होता है। आमाशय (St:), मलाशय (Rectum), योनिगुहा (Vagina) आदि से इसका प्रचूषण संदेहास्पद है। आमाशय का उदनीरीकाम्ल (Hcl.) इसको नष्ट करता है। इसलिये इस औषधि को मुख द्वारा देने के पूर्व आमाशय खाली रहना चाहिये। अम्लनिरोधी (Antacids) औषधियो के प्रयोग से उदनीरिकाम्ल (Hcl.) का प्रभाव कम होता है। मुख द्वारा पेनिसिलीन प्रयोग करने के लिये औषधि की मात्रा साधारण मात्रा से ४-६ गुना अधिक होनी चाहिये। सिरा (I. V.) मार्ग से केवल औषधि का जल मे घुलनशील योग प्रयोग करना चाहिये। सिरा या पेशीमार्ग से इसका प्रचूषण शीघ्रता से होता है। अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से प्रचूषण होने मे कुछ विलम्ब होता है। इन मार्गों से औषधि का घुलनशील योग देने से रक्त में इसकी सर्वोच्च मात्रा एक घंटे के अन्दर पहुच जाती है। इसकी ½ ल० अं० इ० देने से रक्त मे यह औषधि ३ घण्टे तक पर्याप्त मात्रा मे रहती है। इसके पश्चात् इसकी रक्त मे कमी होने लगती है। घुलनशील योग को इस मात्रा से अधिक देने से औषधि की रक्तमे सर्वोच्च मात्राका समय अधिक बढ़ाया नहीं जा सकता क्योकि औषधिका मूत्र द्वारा शीघ्रता से परित्याग होता है।

६ लाख अं० इ० ए० प्र० दि० पेशी मार्ग से तीन सप्ताह पर्यन्त इन्जेक्शन लगाये। सखिया (As) के साथ प्रयोग करने पर पेनिसिलीन का प्रयोग दस दिन तक करना चाहिए।

(९) **नेत्र के रोग** :—पेनिसिलीन 'जी' की ५००० अं० इ० प्रति सी० सी० परिस्रुत जल में घोलकर प्रति आध घण्टे पर दो बूंद नेत्रमें तब तक डालें जब तक लक्षणों का शमन न हो जाये। इस चिकित्सा में स्थानिक प्रतिक्रिया (Local reaction) सम्भव है।

(१०) **वायुविवर उपसर्ग** (Sinusitis) :—पेनिसिलीन 'जी' (P'G') की १००० अ० इ० प्रति सी०सी० परिस्रुत जल में घोलकर नासापुट (Nares) में त्रि० प्र० दि० प्रवेश करें। इसमें ½ प्र० श० इफेड्रिन (Ephedrine) मिला सकते हैं।

(११) सिरा द्वारा निरन्तर (Drip method) ४० बूंद प्र० मि० की गति से औषधि देने पर सिरा में घनाश्रता तथा शोथ (Thrombo-phlebitis) हो सकता है। इसे बचाने के लिये पेनिसिलीन के घोल में हेपरीन (Heparin) मि० ग्रा० १० मिला देना चाहिये तथा कुछ समय तक एक सिरा (I.V.) में औषधि देने के पश्चात् दूसरी सिरा को प्रयोग करना चाहिये। इस विधि से पेशी (I.M.) द्वारा औषधि देने पर यदि पीड़ा हो तब औषधि देने का स्थान परिवर्त कर देना चाहिये। श्वसन मार्ग से औषधि यन्त्र द्वारा (Aerosol, nebulizer, veponephrin, De-vilbis spray, aerohalator Abt, dispolator 'Sp' hand pump, compressed gas cylinder) दी जाती है। इसके लिये पेनिसिलीन की भस्म या घोल प्रयोग किया जाता है। औषधि प्रवेश करते समय रोगी को गम्भीर अन्तः श्वसन (Insp:) लेना चाहिये। तत्पश्चात् श्वास रोकना चाहिये। इससे औषधि अधिक समय तक अन्दर रहती है। यह विधि श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis), चिरकालीन श्वसनीशोथ (Chro: bronchitis) आदि में विशेष लाभप्रद है। पेनिसिलीन की मुख टिकिया (Lozenges) चूसने से विंसेंट के गलपाक (Vincent's angina) में लाभ होता है। मुख के अन्य रोगों में यह विधि प्रभावहीन है। औषधि चूसने से मुख में व्रण (Ulcer) हो सकते हैं।

पेनिसिलीन (P.) की मात्रायें

प्रयोग विधि	योग	उपसर्ग	मार्ग	मात्रा
सांतरित (Intermittent)	जल मे घुलनशील (Crystalline, Na, or, K, salt)	तीव्र तथा गंभीर	पेशी	१०,०००–५ ल. अं. इ. प्र. ३ घ. या १–५ ल. अं. इ. त्रि. प्र. दि.
	प्रोकेन पेनिसिलीन तेल में (Pr.P. in oil)	साधारण	”	३–१२ ल. अं. इ. प्र. १–५ दि.
	प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr P) का जल से निलंबन (Emulsion)	”	”	३–६ ल. अं. इ. ए. या द्वि. प्र. दि.
निरतर (Continuous drip)	जल मे घुलनशील योग (P G.)	प्रविरोधी (Resistant)	पेशी या सिरा	२० ल. अं. इ. समबल लवण घोल (N. saline) पा. २–४ मे मिलाकर ४० बूँद प्र. मिनट की गति से प्र. दि.
मुख द्वारा	½–२ ल० अं० इ० की गोली कैलसियम (Cal:P) के साथ	साधारण	मुख	गो. १ प्र. ३ घं. भोजन के १ घ. पूर्व या पश्चात्
स्थानिक (Local) चिकित्सा	कैलसियक पेनिसिलीन (Cal: P.) की १०००–५००० अ० इ० की चूसने की गोली (Lozenges)	विनसेन्ट का मुख शोथ (Vincent's angina)	मुख में चूसने के लिये ।	६–८ गो. प्र. दि. चूसना चाहिये ।

प्रयोग विधि	योग	उपसर्ग	मार्ग	मात्रा
	(१) साधारण मलहम (२) घुलनशील (P.G) २००-१००० अ० इ० प्र० सी०सी०	स्थानिक	व्रण (Ulcer) में लगाने के लिये	आ. अ.
	घुलनशील योग १ ल० अ० इ० प्र० सी० सी०	श्वसनमार्ग के रोग	यंत्र द्वारा	½-१ सी. सी. ४-८ बार प्र.दि.
	घुलनशील योग (P. G.) १००० अ० इ० प्र० सी० सी० समबल लवण घोल (N. saline) में	मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis)	कटिवेध (L.P.) द्वारा	सी. सी. १० ए. प्र. दि. जब तक मज्जावारि (C.S. fluid) में शर्करा प्राकृत न हो जाय।
	घुलनशील योग (P. G.)	संधिशोथ तथा फुफ्फुसावरणशोथ	सधि तथा फुफ्फुसावरणीय गुहा में	१०,०००-२ ल. अ. इ. प्र. बा.

(ग) स्ट्रेप्टोमायसिन (Streptomycin)

परिचय :—यह औषधि एक्टिनोमाइसिस ग्रीसस (Actinomyces griseus) नाम के छत्राणु (Fungus) से बनी है। इस पदार्थ के हाइड्रोल्कोराइड (Hcl.), सल्फेट (SO_4) तथा कैलसियम (Cal) के साथ योग मिलते हैं। यह औषधि जीवाणुओं की वृद्धि भी रोकती है (Bacteriostatic) तथा उनको नष्ट(Bactericidal) भी करती है। इस पदार्थ का आन्त्र द्वारा प्रचूषण नहीं होता परन्तु मुख द्वारा इसको देने से आन्त्रगत जीवाणु कार्यहीन हो जाते हैं। इसका शरीर से परित्याग प्रधानतः मूत्र द्वारा होता है। न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः यह शरीर के समस्त भाग मे पहुँच जाती है। ब्रह्मवारि (C. S.Fluid) मे इसका प्रवेश सदेहास्पद है।

यह औषधि **विषाक्त** है। इसके योगो मे डाइहाइड्रो-स्ट्रेप्टोमायसीन (Di-hydro-str) कम विषाक्त है। इसकी विषाक्तता के कारण ज्वर, विस्फोट (Rash), इन्जेक्शन के स्थान मे पीडा, जी मिचलाना, वमन, चक्कर, वृक्क मे विकृति, रक्त मे नाइट्रोजन (Nitrogen) का संचय होना, कान से सुनाई न देना, रक्त मे उपसिप्रिय (Eo.) की कमी, निर्मोकमेह (Cylindruria) आदि लक्षण होते है। कटिवेध (L. P.) द्वारा अधिक समय तक इसका प्रयोग करने से ब्रह्मवारि (C. S. fluid) मे प्रोटीन (Ptn.) की मात्रा में वृद्धि, सुषुम्नाशोथ (Myelitis), बहुल कायाणूत्कर्ष (Pleocytosis) आदि उपद्रव होते है।

इस औषधि का प्रायः ग्रामत्यागी (Gram—) जीवाणुओ पर उत्तम प्रभाव है। इसके अतिरिक्त कुछ ग्राम ग्राही (+) जीवाणुओं पर भी कार्य करती है। यक्ष्मा दण्डाणु (T. B.) पर भी यह कार्य करती है परन्तु इसको तीन मास प्रयोग करने पर यक्ष्म दण्डाणुओ मे प्रायः इस औषधि को सह सकने की शक्ति (Resistance) उत्पन्न हो जाती है। इस औषधि के साथ-साथ 'पीएएस' (P. A. S.) भी देने से जीवाणुओं के सहनशील होने की कम सम्भावना रहती है। जीवाणुओ मे सहनशीलता की उत्पत्ति रोकने के लिये इसके साथ-साथ 'पी.ए.एस.' (P. A. S.) देना चाहिये तथा स्ट्रेप्टोमायसीन को प्रारम्भ से ही उपयुक्त मात्रा मे देना चाहिये। पेनिसिलीन (P) के साथ इसको प्रयोग करने से वैष्ठिक माला गोलाणु (Strepo faecalis)

पर सहक्रिय क्रिया (Synergistic action) होती है। इसी प्रकार इसको औरियोमायसीन (Au.) के साथ प्रयोग करने से ब्रुसेला (Brucella) के उपसर्ग में इसका सहक्रिय प्रभाव होता है।

तीव्र प्रकार के यक्ष्मा (T. B.) की चिकित्सा में इसका प्रमुख स्थान है, चिरकालीन यक्ष्मा में सर्वप्रथम यक्ष्मा की साधारण चिकित्सा, 'पीएएस' (P. A. S.), शल्य चिकित्सा (Op.) आदि के द्वारा करना चाहिये। इनसे लाभ न होने पर चिकित्सा की इन विधियों के अतिरिक्त स्ट्रेप्टोमायसीन का प्रयोग कर सकते हैं।

साधारणतः इस औषधि को पेशी (I. M.) मार्ग से देते हैं। इन्जेक्शन लगाने के एक घण्टे के अन्दर रक्त में इसकी मात्रा सर्वोच्च हो जाती है और ६-८ घंटा तक रक्त में यह औषधि पर्याप्त मात्रा में रहती है। इसलिये उपसर्ग की अत्यन्त तीव्र अवस्था में इसको प्र० ५ घटे, तीव्र अवस्था में प्र० ८ घटे तथा **साधारणतः** द्वि० प्र० दि० पेशी मार्ग (I. M.) से देना चाहिये।

प्रयोग :—निम्न तृणाणुओं पर इसका विशेष प्रभाव है :—यक्ष्मा दण्डाणु, (T. B), प्लेग दण्डाणु (B pestis), कुकास दण्डाणु (B. pertussis), श्लेष्मक दडाणु (B influenza), आन्त्रदण्डाणु (B.coli) तथा अन्य आन्त्रगत दण्डाणु आदि। प्लेग की चिकित्सा में यह औषधि सल्फा (S) औषधि के साथ देना चाहिये।

आन्त्रिकज्वर (Typhoid) में जब रोगी मुख द्वारा विशिष्ट औषधि नहीं ले सकता है तब स्ट्रेप्टोमाइसीन का इन्जेक्शन लगा सकते हैं। यक्ष्मज मस्तिष्कावरण शोथ (T. B. Meningitis) में कटिवेध (L. P.) द्वारा भी इसका प्रयोग कर सकते हैं। मूत्र-संस्थान के रोग, पित्ताशय शोथ (Cholecystitis), उण्डुकपुच्छशोथ (Appendicitis) तथा उदरावरणशोथ (Peritonitis) में यह औषधि विशेष लाभदायक है।

प्रयोग विधि :—एक ग्राम औषधि ५ सी० सी० परिस्नुत जल में घोलकर २½ सी० सी० द्वि० प्र० दि० पेशी मार्ग (I M.) से प्रयोग करना चाहिए। **यक्ष्मज मस्तिष्कावरणशोथ** में इन्जेक्शन के अतिरिक्त कटिवेध (L. P.) द्वारा ५० मि० ग्रा० प्र० दि० ब्रह्मवारि (C. S. fluid) में प्रवेश करना चाहिए। **शैशवावस्था** मे एक मास पर्यन्त २० मि० ग्रा० प्र० दि०, **बाल्यावस्था में** दो मास पर्यन्त ४० मि० ग्रा० प्र० दि०, **युवावस्था**

मे २½ मास तक ६० मि० ग्रा० प्र० दि० ब्रह्मवारि (C. S. fluid) मे इसको प्रवेश करने का सिद्धात भी प्रचलित है। शैशवीय यकृद्दाल्युत्कर्ष (Infantile cirrhosis liver) मे ज्वर निवारणार्थ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) की मात्रायें

रोग	मार्ग	मात्रा
तीव्र-यक्ष्मा(Acute T.B.)	पेशी	मि. ग्रा. ४० प्र. से. भा. प्र. दि.
साधारण यक्ष्मा	,,	ग्रा. ½ द्वि. प्र. दि.
यक्ष्मज मस्तिष्कावरण शोथ (T.B.meningitis)	,, कटिवेध (L.P.)से	मि.ग्रा. ६० प्र. से. भा. प्र.दि. तथा मि. ग्रा. २ प्र. से. भा. प्र. दि.
अन्य मस्तिष्कावरण शोथ नोटः—ब्रह्मवारि (C.S.fluid) से तब तक औषधि दें जब तक ब्रह्मवारि में शर्करा की मात्रा प्राकृत न हो जाय।	पेशी कटिवेध से	ग्रा. ½ त्रि. प्र. दि. तथा मि. ग्रा. २५—५० प्र. दि. समबल लवण घोल (N.saline) में मिलाकर दें।
मूत्र संस्थान के उपसर्ग	पेशी	ग्रा. ½ प्र. चा. घं. ३—५ दि. तक
शीगा दण्डाणुजन्य प्रवाहिका (Shiga;dys:)	मुख	ग्रा. ½ चा. प्र. दि.
प्लेग आदि अन्य तीव्र उपसर्ग	पेशी	ग्रा. ½—१ चा. प्र. दि.

(घ) **क्लोरोमायसिटीन** (Chloromycetin, chloramphenicol)।

प्रारम्भ मे यह औषधि वेनेजुएली मालाकवक (Streptomyces Venezuelae) नाम के छत्राणु (Fungus) से बनी थी। आजकल इसको रसायनिक क्रियाओ (Synthetic) द्वारा बनाते हैं। यह औषधि आन्त्र

द्वारा सरलता से प्रचूषित होती है। गुदा मार्ग से इसका **प्रचूषण** संदेहास्पद है। मुख से औषधि देने के दो घंटे के अन्दर रक्त में इसकी मात्रा सर्वोच्च हो जाती है। इसका शरीर से **परित्याग** प्रधानतः मूत्र द्वारा होता है। औषधि विषाक्त है। इसकी **विषाक्तता** के कारण मिचली, वमन, पतले दस्त, त्वक-शोथ (Dermatitis), श्वेतकणों (W. B. C.) की कमी, मानसिक अवसाद (Depression) आदि लक्षण होते हैं। इसको प्रायः **आंत्रिक ज्वर** (Typhoid) में **प्रयोग** करते हैं। इस रोग में यह औषधि इसी वर्ग की अन्य औषधियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। यह प्रधानतः ग्राम त्यागी (Gram—) जीवाणुओं पर कार्य करती है। इसके अतिरिक्त विषाणु (Virus), चक्राणु (Spirochaetes), रिकेट्सिया (Rickettsia), अनेक तृणाणु (Bacteria), अविशिष्ट फुफ्फुसपाक (Primary atypical pneumonia), रतिजन्य लसकणिकार्बुद (Lymphogranuloma venereum), शुकामयता (Psittacosis) आदि अनेक रोगों में लाभप्रद है। ग्राम ग्राही (Gram+) गोलाणु (Cocci) पर इसका प्रभाव कम है। ज्वर प्राकृत हो जानेपर इसकी मात्रा आधी कर देना चाहिये। यह औषधि मुख द्वारा दी जाती है। इसका इनजेक्शन प्रायोगिक अवस्था में है। गुदा मार्ग से औषधि प्रवेश करने के पूर्व इसके कैपस्यूल में छिद्र कर देना चाहिये।

इस औषधि को मुखमार्ग से प्रयोग करने के लिए २५० मि०ग्रा० की गोली मिलती है। इसकी मात्रा के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। निम्न चिकित्सा क्रम प्रचलित हैं :—

(१) प्रथम मात्रा १२ गोली, तत्पश्चात् ताप के प्राकृत होने तक ६ गो० प्रति १२ घंटे पर देना चाहिए। ताप प्राकृत हो जाने पर एक सप्ताह पर्यन्त चार गो० ए० प्र० दि० देना चाहिए। इस चिकित्साक्रम से ताप प्रायः चतुर्थ दिन प्राकृत हो जाता है। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि दो सप्ताह है।

(२) प्रथम सप्ताह में ४ गो० प्रति ३ घण्टे पर तथा द्वितीय सप्ताह मे ४ गो० प्रति चार घण्टे पर देना चाहिए। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि दो सप्ताह है।

(३) प्रथम दो गोली, तत्पश्चात ज्वर प्राकृत होने तक १ गो० प्रति चार घंटे पर देना चाहिए। भारतवर्ष में यह विधि प्रचलित है। ज्वर प्राकृत होने के ४८ घंटे पश्चात् औषधि बन्द कर देना चाहिये।

अन्य प्रयोग :—श्लेष्मकज्वर (Influenza) में १ गो० त्रि० प्र०

दि० तथा चिरकालीन व्रणज वृहदान्त्रशोथ (Chro: ulcerative colitis) में एक मास पर्यन्त १२ गो० प्र०दि० देना चाहिए। इसको कुकास (W.C.) में भी प्रयोग कर सकते है।

क्लोरोमायसिटीन (Chloromycetin) की मात्रा

अवस्था	मार्ग	मात्रा
युवा	मुख	मि. ग्रा. १२½प्र. से भा. चा. प्र. दि. ज्वर प्राकृत होने पर मि. ग्रा. १२ प्र. से भा. द्वि.प्र.दि.
बाल्यावस्था	,,	मि. ग्रा. ६ प्र. से भा. चा. प्र. दि. ज्वर प्राकृत होने पर मि. ग्रा. ५ प्र. से भा. त्रि. प्र. दि.
	गुदा	मि. ग्रा. २०–३० प्र. से भा. चा. प्र. दि.

(ङ) औरियोमायसीन (Aureomycin)

यह औषधि स्ट्रेप्टोमाइसिस औरयोफेसियस (Streptomyces aureofacieus) छत्राणु (Fungus) से बनती है। इसका हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से बना लवण (Hydrochloride) मिलता है। इसका आन्त्र से शनैः-शनैः प्रचूषण होता है और औषधि मुख से देने के ४ घंटे के अन्दर इसकी रक्त मे सर्वोच्च मात्रा हो जाती है। एक मात्रा देने के पश्चात् प्रायः २४ घं० तक यह रक्त मे मिलती है। सिरा मार्ग (I. V.) से देने पर तत्काल रक्त मे इसकी सर्वोच्च मात्रा हो जाती है और ६ घ० पश्चात् यह मात्रा शनैः शनैः कम होने लगती है। पेशी (I. M.) मार्ग से इसका प्रचूषण सन्दिग्ध है।

पेनिसिलीन प्रायः ग्रामग्राही गोलाणु (Gram + cocci) मे प्रयोग की जाती है, क्लोरोमाइसेटीन, औरियोमाइसीन तथा टेरामाइसिन ग्राम त्यागी दण्डाणु (Gram – bacilli) तथा विषाणु (Virus) पर प्रभाव शाली हैं। स्ट्रेप्टोमाइसीन ग्रामग्राही दण्डाणु (Gram+bacilli) विशेष कर यक्ष्मा (T. B.) तथा प्लेग दण्डाणु (B. pestis) मे प्रयोग की जाती है। औरियोमायसीन के प्रभाव का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यह ग्रामत्यागी

(Gram—) दण्डाणु (Bacilli) तथा ग्रामग्राही गोलाणु (Gram+ cocci) दोनों पर कार्य करती है। इसके अतिरिक्त चक्राणु (Spirochaetes), रिकेट्सिया (Rickettsiae), विषाणु (Virus) आदि पर भी कार्य करती है। इसको शुकामयता (Psittacosis), अविशिष्ट फुफ्फुसपाक (Primary atypical pneumonia), फिरङ्ग (Syphilis), आवर्तकज्वर (Relapsing fever), तन्द्रिकज्वर (Typhus), रतिजन्य लसकणिकार्बुद (Lympho-granuloma venereum) आदि में भी प्रयोग करते हैं।

यह औषधि सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ (Wet pleurisy) के जल में तथा ब्रह्मवारि (C.S. fluid) में सरलता से प्रवेश नहीं कर पाती। इसका शरीर से शनैः शनैः परित्याग प्रधानतः मूत्र द्वारा होता है।

औषधि विषाक्त है। इसकी **विषाक्तता** के कारण मिचली, वमन, पतले दस्त, मुखशोथ (Stomatitis), विस्फोट (Rash) आदि लक्षण होते हैं।

मात्रा :—इस औषधि को मुख या सिरामार्ग से दे सकते हैं। आवश्यकता प्रतीत होने पर दोनों मार्ग से एक साथ औषधि दे सकते हैं। इसका मि० ग्रा० २५० का कैपस्यूल मिलता है। इसको मुख द्वारा मि० ग्रा० २५०–१००० त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये। साधारणतः इसको मि०ग्रा० २५०–५०० त्रि. या चा. प्र. दि. देते है। मूत्र संस्थान के रोगों मे औषधि कम मात्रा मे दे सकते हैं। **सिरा** (I.V) मार्ग से इसको मि. ग्रा. १०० त्रि. या चा. प्र. दि. या मि. ग्रा. २५०–५०० द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। ओरियोमाइसीन का २५० मि. ग्रा. का कैपस्यूल (Capsule) मुख मार्ग से प्रयोग करने के लिए उपलब्ध है। इसका प्रयोग तथा चिकित्साक्रम भी क्लोरोमाइसेटीन के समान है। आन्त्र पर शल्यकर्म (Op:) करने के पूर्व, आन्त्र को तृणाणु (Bacteria) रहित करने के लिए ३ कैपस्यूल प्रति ६ घण्टे ४ दिन तक देना चाहिये। **आवर्तक ज्वर** (Relapsing fever) मे सर्वप्रथम २ कै. तत्पश्चात १ कै. प्रति चार घंटे पर देना चाहिये। ज्वर प्राकृत होने के १२ घण्टे पश्चात् औषधि बन्द कर देना चाहिये। **पाषाणगर्दभ** (Mumps) मे २ कै० प्रति ६ घंटे पर देना चाहिये। **चिरकालीन आम प्रवाहिका** (Chro:E.H.dys:) मे २ कै० प्रति ६ घंटे १० दिन तक देना चाहिये। **आन्त्रिकज्वर** (Typhoid) का चिकित्साक्रम क्लोरोमाइसेटीन के समान है।

(च) टेरामायसीन (Terramycin)

इस औषधि की उत्पत्ति स्ट्रेप्टोमाइसिस राइमोसस (Streptomyces rimosus) से होती है। इसका हाइड्रोक्लोरिक एसिड के साथ बना लवण (Hydrochloride) मिलता है। इसकी संपूर्ण मात्रा का आन्त्र द्वारा प्रचूषण नहीं होता। इसका मूत्र तथा **पित्त** (Bile) द्वारा शरीर से **परित्याग** होता है। ब्रह्मवारि (C. S. fluid) मे इसका प्रवेश संदेहास्पद है। इसकी **विषाक्तता** के कारण मुख मे व्रण, मिचली, वमन, पतले दस्त, त्वक्शोथ (Dermatitis), यकृत शोथ (Hepatitis) आदि लक्षण हो सकते हैं।

इसका प्रयोग औरियोमायसीन (Au.) के समान है। जिन जीवाणुओ पर औरियोमायसीन कार्य करती है उन पर यह भी प्रभावशील है। इसको प्रधानतया **मुख** द्वारा प्रयोग करना चाहिये। सिरा (I. V.) द्वारा प्रयोग करने पर जिस सिरा मे इन्जेक्शन लगाया जाता है उसमे घनास्रता तथा शोथ (Thrombo phlebitis) होने की सभावना रहती है।

यह औषधि भी क्लोरोमाइसेटीन तथा औरियोमाइसीन के समान है। मुख मार्ग से प्रयोग करने के लिए २५० मि. ग्रा. का कैपस्यूल मिलता है। सिरा मार्ग (I. V.) से प्रयोग करने के लिए २५० मि. ग्रा. की मात्रा ५०–१०० सी. सी. परिस्रुत जल (Aq: dist:) या समबल लवण जल (N. saline) मे घोल कर अत्यन्त धीरे-धीरे इन्जेक्शन लगाना चाहिये। तीव्र उदरावरण शोथ (Peritonitis), तीव्र पित्ताशय शोथ (Cholecystitis) आदि उग्र रोगो मे इसका विशेष महत्त्व है। आम प्रवाहिका (E.H. dys:) मे छः दिन तक ६–१० कै. प्र. दि. देना चाहिये। यक्ष्मा (T. B.) पर भी इस औषधि का प्रभाव प्रतीत होता है।

इस औषधि को मुख से मि. ग्रा. २५०–१००० त्रि. गा चा. प्र. दि. दे सकते है। **सिरा** (I. V.) मार्ग से इसी मात्रा मे ए. या द्वि. प्र. दि. दे सकते हैं।

(छ) अन्य तृणाणुनाशक (Antibiotic) औषधियाँ

(१) पोलीमिक्सीन (Polymyxin, Aerosporin):–यह औषधि पोलीमिक्स दण्डाणु (Bacillus polymyxa) से बनती है। औषधि विषाक्त

है और अन्य औषधियों के कार्य न करने पर ही इसको प्रयोग करना चाहिये। यह प्रधानतया वृक्क मे विकृति उत्पन्न करती है। उपदश के जीवाणु (Neisseria gonorrhoeae), सामान्य नानारूप दण्डाणु (B.proteus vulgaris) तथा अन्य ग्रामत्यागी (Gram-) जीवाणुओ पर कार्य करती है। कुकास (Whooping cough) मे इसका प्रयोग आशाप्रद प्रतीत होता है। यह केवल **पेशी** (I.M.) मार्ग से दी जाती है। इसको मि. ग्रा. ½-१ प्र. से. भा. के अनुसार प्र. चा. घ. पेशी मार्ग से देना चाहिये।

(२) **टाइरोथ्रिसीन** (Tyrothricin) :—यह औषधि वैसिलस ब्रीविस (Bacillus-brevis) से बनती है। औषधि विषाक्त होने के कारण मुख या इन्जेक्शन द्वारा नही दी जा सकती। इसको केवल व्रण (Ulcer) आदि पर लगाया जा सकता है। इसका प्रभाव केवल ग्रामग्राही (Gram +) जीवाणुओ पर है। इसको मलहम या घोल के रूप मे प्रयोग कर सकते है।

(३) **वैसीट्रेसीन** (Bacitracin) :—यह औषधि वैसिलस सवटाइलिस (Bacillus subtilis) से बनती है। इस औषधि का फिरंग के चक्राणु (Treponema pallidum) तथा ग्रामग्राही (Gram ×) जीवाणु पर उत्तम प्रभाव है परन्तु औषधि विपाक्त है इसलिये प्रायः व्रण (Ulcer) आदि मे ही केवल स्थानिक चिकित्सा के लिये प्रयोग की जाती है। अ. का. धा. ना. जन्य आंत्र विकृति मे मुख द्वारा १०,०००–२०,००० अं. इ. चा. प्र. दि. कर १–३ सप्ताह पर्यंत देने से लाभ हो सकता है। व्रण की **स्थानिक** चिकित्सा के लिये ५०० अ. इ. प्र. सी. सी. की मलहम या घोल के रूप मे प्रयोग कर सकते है। औषधि का वृक्क पर कुप्रभाव होने के कारण इसका इन्जेक्शन नही दिया जा सकता है।

(६) पीड़ाहर (Analgesic) औषधियाँ

ये औषधियाँ पीड़ा कम करती है परन्तु रोगी को वेहोश नही करती। ये औषधियाँ अन्य मार्गों के अतिरिक्त पीडा की स्थानिक चिकित्सा मे भी प्रयोग की जाती है। इन औषधियो मे **सैलिसिलेट** (Salicylate) प्रधान है। इसके अतिरिक्त फेनासिटीन (Phenacetin), कोलचीसीन (Colchicine), एसपिरीन आदि भी दी जाती हैं। फेनासिटीन विपाक्त है। **एसपिरीन** (Aspirin, यो.६२) ग्रे० ५ त्रि. या चा प्र. दि. भो. प. सोडी बाइकार्ब के साथ देना चाहिये। **सोडी-सैलिसिलस** ग्रे. ५–१० चा. या छ.

वार प्र० दि० दे सकते हैं। यह औषधि पीड़ा कम करने के अतिरिक्त, ज्वर कम करती है, मूत्र द्वारा यूरिक एसिड (Uric acid) का परित्याग कराती है। इस औषधि को आमवात (Rhematism) के अतिरिक्त, शिर, वात-नाड़ी, पेशी, सधि (Jt) तथा गर्भाशय (Uterus) आदि की पीड़ा मे भी प्रयोग करते हैं। **विंटरग्रीन का तेल** (Ol. wintergreen, methyl salicylate) का तीसी के तेल मे १० प्र० श० घोल मालिश करने के काम आता है।

(७) नशीली औषधियाँ (Narcotics)

ये औषधियाँ पीड़ा कम करने के अतिरिक्त निद्रा लाती हैं और रोगी को वेहोश कर देती है। अपूर्ण सन्यास (Stupor), सुखोपलब्धि (Euphoria) आदि भी करती हैं। इनके प्रयोग से औषधि लेने का अभ्यास पड़ने का भय रहता है इसलिये इनको तभी तक प्रयोग करना चाहिये जब तक इनका प्रयोग आवश्य हो। पीड़ा यदि गभीर हो और पीडाहर (Analgesics) औषधियो से यदि लाभ न हो तब इनका प्रयोग करना चाहिये। इन औषधियों मे मौरफीन (Morphine) सर्वोत्तम है।

मौरफीन (Morphine) :—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त यह औषधि वातनाड़ी-संस्थान का अवसाद (Depression) करती है। मस्तिष्क मे स्थित श्वसन केन्द्र का अवसाद करनेके कारण खाँसने की उत्तेजना (Reflex) कम हो जाती है। इसलिये श्वसन की गति १२ वार प्र० मि० से कम रहने पर, श्यावता (Cyanosis) रहने पर तथा श्वसन-संस्थान के रोगो मे जिनमे खाँसी कम करने से हानि हो सकती है उनमें इस औषधि का प्रयोग नही करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यकृत के रोग, कामला (Jaundice), वमन, वृक्क के रोग, मूर्छा, अवटुका ग्रथि (Thyroid) के स्राव मे कमी रहने पर, श्वसनी तमकश्वास (Bronchial asthma), अडीसन का रोग (Addison's disease) तथा शिर मे आघात लगने पर इसका प्रयोग नही करना चाहिये। मौरफीन की विषमयता (Morphinism) रहने पर या मौरफीन सह न सकने पर (Idiosyncrasy) अथवा उदर के वे रोग जिनका निश्चित निदान न हुआ हो और शल्य कर्म (Op.) की सम्भावना प्रतीत हो उनमे जब तक निश्चित निदान न हो जाय इस औषधि का

प्रयोग नहीं करना चाहिये। फुफ्फुस पर अनेक आर्द्र रव (Crepitations) मिलने पर इसके प्रयोग के समय विशेष सावधानी आवश्यक है।

हृदयजन्य पीड़ा (Angina) तथा हृदजन्य श्वासकृच्छ्र, (Cardiac dyspnoea) कम करने और निद्रा लाने के लिये इस औषधि का विशेष महत्व है। वाम हृदयातिपात (Lt: Ht: Failure) तथा तीव्र फौफ्फुसिक शोफ (Acute pulmonary oedema) मे तीव्र श्वासकृच्छ्र होता है। इन अवस्थाओ मे तथा शूल (Colic) मे और शल्यकर्म (Op.) करने के पूर्व रोगी की घबराहट कम करने के लिये इसका प्रयोग करना चाहिये।

इसकी **विषाक्तता** के कारण मिचली, वमन, कब्ज, शीर्षान्तरायनिपीड़ (Intracranial tension) की वृद्धि, पित्तनलिकाओं (Bile passages) तथा गवीनी (Ureter) का उद्वेष्ठन (Spasm), कनीनिकाओं (Pupils) का संकोच आदि लक्षण होते हैं। इसको एट्रोपीन (Atropine) ग्रे० १/१०० या स्कोपोलामीन (Scopolamine) ग्रे० १/२००-१/१०० के साथ प्रयोग करने से इसकी विपाक्तता मे कमी होती है।

मात्रा :—साधारणतः मौरफीन सल्फ ग्रे० १/८-१/३ मुख या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दिया जाता है। विशेष परिस्थिति मे इसको एक मात्रा को समबल लवण घोल (N. saline) १० सी० सी० मे घोलकर सिरा (I. V.) मार्ग से दे सकते है।

सिरामार्ग (I. V.) से यह औषधि देने पर यदि श्वसन क्रिया का निपात (Failure) होता प्रतीत हो तब तत्काल रोगी को **कोरामीन** (Coramine) १½-२ सी० सी० या **मेट्राजोल** (Metrazol) मि० ग्रा० १००-३०० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। आ० अ० इनका पुनः प्रयोग कर सकते है। अन्य नशीली औषधियाँ तालिका में देखिये।

अहिफेन की विषाक्तता की आयुर्वेदिक चिकित्सा—यदि विष आमाशय मे विद्यमान हो तो सर्वप्रथम वमन कराना चाहिए इसके लिए निम्न योग काम में लावे—(१) ब्रह्मदण्डी पानी मे पीसकर पिलाइये (२) रीठा व हींग जल मे घोलकर दीजिये (३) नीला थोथा, वच, कड़वी तूमड़ी नमक इनको जल या दूध मे पीसकर दे (४) मैनफल तथा तम्बाकू का क्वाथ (५) देवदाली अथवा सत्यानाशी का स्वरस (६) पोटाश परमैंगनेट से आमाशय प्रक्षालन करें।

यदि विष खाये हुये विलम्ब हुआ हो तो कोई तीव्र रेचक औषधि (जमाल

गोटे आदि से युक्त) देनी चाहिए। इसके बाद प्रतिविष दे। एतदर्थ निम्न प्रयोग उत्तम हैं :—

(१) करेमू (नाड़ीशाक) का रस बार बार पिलावे।

(२) बैंगन के पत्तों का स्वरस रोगी को पीने को दे।

(३) अरहर के पत्तो का रस भी लाभप्रद है।

(४) सोठ और अदरख भी उत्तम है।

(५) मट्ठा या नीबू का रस भी दिया जाता है।

अन्य नशीली (Narcotics) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
कोडीन फौस (Codeine phos) मौरफीन से कम प्रभावशाली तथा कम हानिकर है।	मुख	ग्रे. १/४–१ प्र. चा. व.	मौरफीन के समान है। अल्प मात्रा में वातनाड़ी सस्थान (CNS) का अवसाद (Depress) तथा अधिकमात्रामें उत्तेजित करती है।
मेपरिडीन (Meperidine hyd : pethidine, dolantin, demerol)	मुख या पेशी	ग्रे. ३/४–१ १/२ प्र. चा. घं.	वृक्काश्मरी शूल (Biliary colic) के अतिरिक्त अन्य अनैच्छिक पेशियो (Smooth muscle) के उद्वेष्टन (Spasm)मे लाभदायक है।
डायलौडिड (Dilaudid) मौरफीन का योग है।	मुख अधस्त्वक (S.C.)	ग्रे. १/२४ प्र.चा.घं. ग्रे. १/६०–१/१६ प्र. चा. व.	मौरफीन से कम विषाक्त है।
मेथाडोन (Methadone hyd : dolophine, amidone)	अधस्त्वक या पेशी	ग्रे. १/१२–१/६ प्र. चा. व.	विशेषकर चिरकालीन पीड़ा में।

(८) शामक (Sedetive) औषधियाँ

इन औषधियो के प्रयोग से पीडा कम होती है तथा निद्रा आती है ।

इसके लिये **मौरफीन** तथा अहिफेन के योग जैसे पेथिडिन (Pethidine), पापावरीन (Papavarine), फाइसेप्टोन (Physeptone), युकेडौल (Eukodol), डेमेरौल (Demerol) मि०ग्रा० १०० का आ. अ. मुख, पेशी अथवा सिरा मार्ग से प्रयोग कर सकते है । रोग की अत्यन्त गंभीर अवस्था मे मौरफीन (Morpine) ग्रे० १/४-१/६ अथवा डेमेरोल मि० ग्रा० १०० सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते है । ४–६ घंटे पश्चात् आ० अ० औषधि का पुनः प्रयोग कर सकते है । साधारण अवस्था मे ये औषधियाँ पेशी मार्ग (I. M.) से निद्रा आने के समय के पूर्व दे सकते है । **पापावरीन** ग्रे० १/३-१/६ अधस्त्वक (S. C.) अथवा मुख मार्ग से दे सकते है । इसमे ५० प्र० श० मौरफीन रहती । इससे जी मिचलाना, वमन आदि लक्षण कम होते है । इन सब औषधियो मे **परालडिहाइड** (Parldehyde) निरापद है । इसको पेशी मार्ग से २-१० सी० सी०, मुख स ड्रा० १–४ अथवा गुदा मार्ग से ड्रा० ३–८ की मात्रा मे दे सकते है । मुख मार्ग से औषधि कैपस्यूल (Capsule) मे रख कर तथा गुदा मार्ग मे गरम लवण घोल (Saline) या जैतून के तेल (Ol. olive) ४ औ० मे मिला कर देना चाहिये । मौरफीन दक्षिण की अपेक्षा वाम हृदयातिपात (Lt: Ht: Failure) मे अधिक उपयुक्त है । **ब्रोमाइड** (Bromide—यो. २२) प्रयोग करते समय शोफ (Oedema) रहने पर सोडियम ब्रोमाइड (Na. Br.) का प्रयोग नहीं करना चाहिये । ये औषधियाँ सोने के पूर्व देनी चाहिये तथा आ. अ. ३ घंटा पश्चात् पुनः दे सकते हैं । हृद्रोग में **बारबिटोन** (Bn.) का प्रयोग उत्तम नही है । इसके प्रयोग से मानसिक लक्षण हो सकते है । फेनोबारबिटोन (Phn.) का ग्रे. २ मुख से अथबा २० प्र. श. घोल १ सी. सी. (ग्रे. ३) पेशी मार्ग से रात्रि मे दे सकते है । मेडिनल (Medinal), औरटल (Ortal) डाइडालय (Didial) आदि की एक गोली निद्रा के पूर्व दे सकते है । अत्यन्त बेचैनी रहने पर **स्कोपौलमाइन** (Scopolamine) ग्रे. १/१०० के साथ **ओमनोपौन** (Omnopon) ग्रे. १/२ अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से दे सकते है ।

(६) हृद्रोग की ओषधियाँ

(अ) डिजिटेलिस (Digitalis)

प्रयोग :—दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure) की यह सर्वोत्तम औषधि है। इसके अतिरिक्त अलिंदीय ततुप्रकप (A.fib), अलिंदीय विस्फुरण (A.flutter), जीर्ण अलिंदीय प्रावेगिक शीघ्र हृदयता (A: paroxysmal tachycardia) आदि हृदय की **अनियमितताओं** मे भी यह औषधि दी जाती है। तंतुप्रकंप (A. fib) तथा विस्फुरण (A.Flutter) मे नाड़ी तीव्र रहने पर ही इसका प्रयोग करना चाहिये। हृदय का विस्फार (Dilatation) रहने पर हृदयातिपात (Ht:failure) रोकने के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है, परन्तु परिणाम अनिश्चित है।

प्रभाव:—डिजिटेलिस के प्रभाव से हृत्पेशी (Myocardium) बल पूर्वक सकोच करती है तथा उत्तेजनाओं की अलिद (A:) से निलय (Vent:) मे जाने की गति कम हो जाती है। परिणामस्वरूप प्रत्येक हृत्स्पंद (Ht:beat) मे हृदय से अधिक मात्रा मे रक्त निकलता है। हृदय की कार्यशीलता मे वृद्धि होती है। नाड़ी की गति नियमित तथा कम हो जाती है। हृदय को विश्राम मिलता है तथा सिराओ के निपीड़ (Venous pressure) मे कमी होती है और हृदय पर रक्त का भार कम हो जाता है। यह प्राणदा (Vagus) वातनाडी को उत्तेजित करती है, सिरा अलिंद संपात (S-A.node) तथा निलयालिन्द सम्पात (A.V.node) के कार्य मे कमी करती है। वाहिनी नियत्रक सस्थान (Vaso-motor system) पर भी इसका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत होता है। **स्ट्रोफैनथिन** (Strophanthin) के प्रयोग से सिराओ के निपीड़ (Venous pressure) मे प्रारभ से कमी नहीं होती। **डिजिटेलिस** के प्रभाव से मूत्र की मात्रा मे वृद्धि होती है, अतिरिक्त संकोच (Ex:systole) समाप्त हो जाते हैं, हृदजन्य तमक-श्वास (Cardiac asthma) की सम्भावना नही होती, शरीर से लवण (Nacl) का परित्याग होता है और शोफ (Oedema) कम हो जाता है। दक्षिण तथा वाम दोनो ही प्रकार के हृदयातिपात मे इसका **प्रयोग** किया जाता है। **दक्षिण हृदयातिपात** (Rt:ht:failure) की विशिष्ट औषधि होने के कारण शरीर मे रक्ताधिक्य (Congestion) रहने पर इसका प्रयोग

अवश्य करना चाहिये। नाड़ी की गति मन्द हो अथवा रोगी को उच्च रक्त निपीड़ (High, B.P.) हो, रक्ताधिक्य रहने पर दोनों अवस्थाओं में इसका प्रयोग कर सकते हैं। नाड़ी की गति का केवल तीव्र होना ही डिजिटेलिस के प्रयोग के लिये पर्याप्त प्रमाण नहीं है। शरीर में रक्ताधिक्य (Congestion) होना आवश्यक है। वामहृदयातिपात (Lt:ht:failure तथा अतिरिक्त सकोच (Ex-systole) में भी इसका प्रयोग किया जाता है। हृच्छूल (Angina pectoris) जन्य हृदयातिपात में इससे लाभ नहीं होता। इसके प्रयोग के समय औषधि से लाभ होने पर **मूत्र की मात्रा** में वृद्धि तथा रोगी के **भार** में कमी होनी चाहिये। इसलिये इसके प्रयोग के समय इन दोनों बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। मूत्र की मात्रा में वृद्धि न होने पर इसका प्रयोग निरर्थक तथा हानिकर है। केवल हृदय की गति से ज्ञान नहीं हो सकता कि औषधि से लाभ हो रहा है या नहीं। दक्षिण हृदयातिपात के साथ-साथ नाड़ी की गति मंद रहने पर भी इस औषधि से लाभ होता है। चिकित्सा के पूर्व यदि नाड़ी की गति तीव्र हो और औषधि के कारण उसकी गति कम हो गई हो तब रोगी को औषधि की उतनी ही मात्रा देनी चाहिये जिससे नाड़ी की गति प्राकृत रहे।

विधि:—डिजिटेलिस की दो मात्रायें प्रयोग की जाती हैं, **प्रभावशाली** (Digitalizing-dose) मात्रा तथा **स्थायी मात्रा** (Maintentance dose)। रोगी के लक्षणों को शीघ्रता से कम करने के लिये, रोग की अवस्था के अनुसार, औषधि को अधिक मात्रा में देकर रोगी को शीघ्रता से औषधि के प्रभाव में लाया जाता है। इसको औषधि की **प्रभावशाली** मात्रा कहते हैं। रोगी के औषधि के प्रभाव में आ जाने के पश्चात् रोगी को केवल उतनी ही औषधि प्र. दि. देना चाहिये जिसमें औषधि का यह प्रभाव स्थायी रूप से बना रहे। इस मात्रा को **स्थायी मात्रा** कहते हैं। दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure) रहने पर स्थायी मात्रा प्रायः जीवन पर्यन्त देनी पड़ती है। यह मात्रा प्रत्येक रोगी में पृथक-पृथक होती है। इसलिये प्रत्येक रोगी के लिये यह मात्रा समय-समय पर निर्धारित करनी पड़ती है जिससे औषधि का प्रभाव भी बना रहे और विषाक्तता के लक्षण भी उत्पन्न न हो। प्रभावशाली मात्रा के प्रायः ४-५ दिन पश्चात् स्थायी मात्रा प्रारम्भ करना चाहिये और प्रति सप्ताह ५ दिन औषधि देकर २ दिन बन्द कर देना चाहिये और भविष्य में यही क्रम

चलना चाहिये। शिर मे पीड़ा तथा वमन होने पर २-३ दिन औषधि बन्द कर देना चाहिये तत्पश्चात औषधि की मात्रा कमकर पुनः प्रारम्भ करना चाहिये। डिजिटेलिस प्रायः मुख से ही दी जाती है। वमन होने पर औषधि गुदा मार्ग से देना चाहिये। रोगी की अवस्था अत्यन्त गम्भीर रहने पर सिरा मार्ग (I. V.) से भी औषधि प्रयोग कर सकते है। दो सप्ताह के अन्दर यदि रोगी ने डिजिटेलिस लिया हो तब इस औषधि को सिरामार्ग (I.V.) से नही देना चाहिये। सिरामार्ग से औषधि देने के पूर्व औषधि को समबल लवण घोल (N.saline) सी. सी. १०-२० मे अथवा ग्लूकोस मे घोलकर शनैः२-५ मिनट मे इन्जेक्शन लगाना चाहिये। गुदा मार्ग से औषधि प्रयोग करने के पूर्व औषधि को ग्लूकोस (Glucose) के ५ प्र. श. घोल औं. २ मे घोलकर प्र. दि. प्रयोग करना चाहिये। अलिन्दीय तन्तु प्रकम्प तथा विस्फुरण (A:flutter) और तीव्र फुफ्फुस शोफ (Acute pulmonary oedema) मे अत्यन्त अल्प समय मे औषधि के पूर्ण प्रभाव होने की आवश्यकता पड़ती है। इन अवस्थाओ मे औषधि सिरामार्ग (I.V.) से दे सकते है।

टि. डिजिटेलिस जल मे मिलने पर शीघ्रता से नष्ट हो जाती है इसलिये इसको देने के तत्काल पूर्व ही जल मिलाना चाहिये। इसकी अपेक्षा डिजिटेलिस की भस्म अथवा गोली प्रयोग करना अधिक उपयुक्त है। रोगी को औषधि की प्रभावशाली मात्रा देने के पश्चात् यह जानने के लिये कि रोगी पूर्ण रूप से औषधि के प्रभाव मे आया है या नही, लक्षणो पर निर्भर करना पड़ता है। विद्युतहृल्लेख परीक्षा (Ecg) से इस विषय मे विशेष सहायता नहीं मिलती। औषधि की प्रभावशाली मात्रा तथा विषाक्त मात्रा मे अत्यल्प अन्तर है इसलिये औषधि का प्रभाव होने पर क्षुधा मे कमी हो जाती है। प्रभावशाली मात्रा तब तक देना चाहिये जब तक लक्षणो का शमन न हो। औषधि का प्रभाव पूर्ण रूप से स्थापित हो जाने पर लक्षणों का शमन होता है। दक्षिण हृदयातिपात (Rt : ht : failure) मे हृदय की गति कम हो जाती है, शोफ (Oedema) तथा श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) मे कमी होती है, मूत्र मे वृद्धि होती है, सिराओ तथा हृदय का विस्फार (Dilatation) कम हो जाता है और रक्त सचार (Circulation time) का समय प्राकृत हो जाता है। अलिन्दीय तन्तुप्रकम्प (A.fib) में इस औषधि के प्रयोग से हृदय की गति प्राकृत हो जाती है। औषधि का

प्रभाव स्थापित हुआ है या नहीं यह जानने के लिये गर्भा वाद नलता (?) रहता है तब रोगी के ५ बार बैठक लगाने पर हृदय की गति ८० प्र. मि. से अधिक नहीं होनी चाहिये। रोगी की अवस्था यदि इस परीक्षा के करने लायक न हो और वह यदि निरन्तर शैय्या पर विश्राम करता हो तब उसको केवल ५ बार उठने तथा लेटने के लिये कहना चाहिये। औषधि का प्रभाव यदि पूर्णरूप से स्थापित हो गया होगा तब इस परीक्षा के पश्चात् हृदय की गति ८० प्र. मि. से कम रहेगी। ये दोनों परीक्षायें निरापद नहीं हैं।

रोगी ने यदि १४ दिन के अन्दर डिजिटेलिस न लिया हो तब इस औषधि को पूर्ण मात्रा मे प्रारम्भ कर सकते हैं। इस अवधि मे रोगी ने यदि स्ट्रोफेन-थिन (Strophanthin) लिया हो तब डिजिटेलिस नहीं देना चाहिये अन्यथा दोनो औषधियो के सम्मिलित प्रभाव से हृदय की गति बन्द हो जा सकती है। इसी प्रकार डिजिटेलिस देते रहने पर स्ट्रोफेनथिन, कैलसियम (Cal) आदि का प्रयोग नही करना चाहिये। कैलसियम के प्रयोग से घनान्त्रता (Th rombosis) की सम्भावना रहती है। डिजिटेलिस के शरीर में सञ्चय होने की प्रवृत्ति है और औषधि का पूर्ण प्रभाव होने के लिये उसका सञ्चय होना आवश्यक है। इस औषधि के प्रयोग के समय प्र. दि. टि. डिजिटेलिस (Tr: digitalis) मि. २० अथवा डिजिटेलिस की भस्म (Pulv:digitalis) ग्रे.२ शरीर नष्ट कर देता है या डिजिटेलिस मूत्र से परित्याग हो जाता है। इसलिये प्र. दि. की मात्रा इस मात्रा से कम होने पर औषधि शरीर में सञ्चय नहीं हो पाती तथा उसके प्रयोग से लाभ नही होता। इसलिये औषधि से लाभ होने के लिये आवश्यक है कि रोगी को टि. डिजिटेलिस प्र. दि. मि. २० से अधिक मिले।

डिजिटेलिस (Digitalis) के पूर्ण प्रभाव होने का समय

टि: डिजिटेलिस (Tr. digitalis) मि. १५ = डिजिटेलिस भस्म (Pulv digitalis) ग्रे. १½=डाइजोक्सीन (Digoxin) मि. ग्रा. ०·२५=नैटिवेल की गोली (Nativelle's granules) ग्रे. १/२४०।

साधारणतः डिजिटेलिस मुख द्वारा देना चाहिये। मिचली, वमन, आदि के कारण मुख से औषधि लेना यदि सम्भव न हो तब इसको इन्जेक्शन द्वारा दे सकते हैं। बेहोशी, गम्भीर हृदयातिपात (Ht:failure), तीव्र फौफ्फु-सीय शोफ (Oedema lungs) तथा हृदय की गति की कुछ अनियमित-

तात्रों में इस औषधि को इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिये। इस औषधि को प्रारंभ करने के पूर्व यदि दो सप्ताह के अन्दर डिजिटेलिस, स्ट्रोफैन्थिन (Strophanthin) आदि औषधियाँ नहीं दी गई हो तब डिजिटेलिस की साधारण

डिजिटेलिस भस्म की मात्रा	औषधि का पूर्ण प्रभाव होने के लिये
ग्रे. ६ प्र. दि.	६ दिन में
ग्रे. ६ प्र. दि.	७ ,,
ग्रे. १२ प्र. दि.	४ ,,
ग्रे. १८ प्र. दि.	३ ,,
ग्रे. १८ प्र. दि. से अधिक होने पर	विषाक्तता के लक्षण १–२ दिन में होंगे,

मात्रा प्रारम्भ कर सकते हैं। परन्तु यदि चिकित्सा प्रारम्भ करने के दो सप्ताह के अन्दर ये औषधियाँ दी गई हो तब डिजिटेलिस की मात्रा में परिवर्तन करना पड़ता है। पेशीमार्ग (I.M.) से सिरा मार्ग अधिक उपयुक्त है। रोग की **परम गम्भीर** अवस्था में औषधि की सम्पूर्ण प्रभावशाली मात्रा (Digitalizing dose) केवल एक मात्रा में दे सकते है परन्तु यह विधि उपयुक्त नहीं है। औषधि की सम्पूर्ण प्रभावशाली मात्रा को अनेक मात्राओं में विभाजित कर रोगी की अवस्था के अनुसार अनेक बार देना चाहिये। निम्न अवस्थाओं में इसका **प्रयोग वर्जित है** :—हृत्पेशी (Myocardium) में तीव्र शोथ या अन्तःस्फान (Infarct) रहने पर, हृत्स्तभ (Ht:block) तथा निलय की शीघ्रहृदयता (Vent:tachycardia) में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। रोग की परम गम्भीर अवस्था में **सीडीलानिड** (Cedilanid) की सी. सी. ६ (मि. ग्रा. १·२) पेशी या सिरा (I. V.) मार्ग से देकर, सी. सी. २ (मि. ग्रा. ०·४) इसी मार्ग से प्र. चा. घं. तब तक दें जब तक औषधि का प्रभाव प्रतीत न हो।

विषाक्तता (Toxaemia) के लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये अथवा उसकी मात्रा कम कर देना चाहिये। यह ध्यान में

रखना आवश्यक है कि जब औषधि कार्य करती है तब विषाक्तता के साधारण लक्षणों का उदय होना अनिवार्य है। ये लक्षण इसके प्रमाण हैं कि औषधि कार्य कर रही है। आमाशय की श्लैष्मिक कला (M.M.) की अपेक्षा वात-नाडी संस्थान (C.N.S.) पर औषधि की विषाक्तता का प्रभाव अधिक सरलता से होता है। इसलिये सर्वप्रथम **सिर में पीड़ा** होती है। तत्पश्चात् **क्षुधानाश** होता है। ये लक्षण होने पर औषधि की मात्रा कम कर देना चाहिये। जी मिचलाना, **वमन** आदि लक्षण सिर की पीड़ा प्रारम्भ होने के ६–८ घण्टा पश्चात् प्रारम्भ होते हैं। मूत्र की मात्रा में कमी, तंद्रा (Drowsiness.), पतले दस्त, उदर में पीड़ा, तंतुप्रकम्प (Fib), अस्पष्ट प्रलाप (Muttering delirium), मतिभ्रम (Hallucination, confusion), आंखों के आगे पीला तथा हरा रंग दिखलाई देना, किसी वस्तु को ध्यानपूर्वक न देख सकना आदि दृष्टि में गड़बडी होती है। हृत्स्पंद (Ht:beat) की अनियमितता, हृत्स्तम्भ (Heart-block), नाड़ी की गति ५० प्र. मि. से कम होना तथा द्विगुण नाड़ी (Pulsus bigeminus) आदि लक्षण गम्भीर विषमयता के द्योतक हैं। नाडी की गति की अपेक्षा हृदय की गति अधिक विश्वसनीय है क्योंकि कभी-कभी अतिरिक्त संकोच (Ex-systole) के कारण हृदय की गति तीव्र रहने पर भी नाड़ी की गति हृदय की अपेक्षा मन्द रहती है और यह अवस्था गम्भीर विषमयता की प्रतीक है। **चिकित्सा :**—विषमयता की चिकित्सा में सर्वप्रथम डिजिटेलिस बन्द कर देना चाहिये। यदि औषधि मुख से दी गई हो तब उसको शरीर से निकालने के लिये विरेचन (Purge) कराना चाहिये। इसके लिये अरंड का तेल (Ol. recini) औं० १ देना चाहिये। वृक्क की अवस्था ठीक रहने पर पोटास साइट्रस (Pot:citras) ग्रे. १५–६० त्रि. प्र. दि. दे। लवण (Nacl) बन्द कर पारद के मूत्रल योग (Hg:diuretic) ½–२ सी. सी. पेशी मार्ग (I.M.) से दे। क्विनीडीन (Quinidine) ग्रे. ५ त्रि. प्र. दि. अथवा प्रोकेन अमाइड (Procaine amide) ग्रे. ७½ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये।

वमन होने पर टि. डिजिटेलिस की प्रति मात्रा के साथ टि. अहिफेन (Tr. opii) मि० १५ देना चाहिये। सिरा मार्ग (I.V.) से डाइजोक्सीन (Digoxin) का प्रभाव १० मिनट में होने लगता है और दो घंटे

मे औषधि का प्रभाव चरम सीमा पर पहुँचता है। यथा सम्भव औषधि को शीघ्रता से मुख से प्रारम्भ कर देना चाहिये। मुख से इसका प्रभाव १ घण्टे मे प्रारम्भ होकर ८ घण्टे मे चरमसीमा पर पहुँचता है। आमवात की तीव्र अवस्था (Acute rheumatic fever) तथा हृत्पेशी के अन्तःस्फान (Infarct) मे डिजिटेलिस का प्रयोग हानिकर है। इसके प्रयोग से नाड़ी अनियमित (Arrhythmias) हो सकती है। इन अवस्थाओ में डिजिटेलिस की अपेक्षा पारद (Hg.diuretic) के मूत्रल योग तथा लवण (Nacl) रहित आहार पर निर्भर करना चाहिये। नैटिवेल की गोली (Nativelle's granules) ग्रे० १/६०० तथा १/२४० की मिलती है।

(आ) क्वीनीन (Q) तथा क्वीनीडीन (Quinidine)

ये औषधियाँ प्रायः मुख द्वारा हृदय की अनियमितताओ (Arrhythmias) मे प्रयोग की जाती है। ये हृत्पेशी के प्रक्षोभ (Irritability) तथा उत्तेजनाओ के संवहन (Conduction) मे कमी करती है और हृत्पेशी (Myocardium) के विश्राम की अवधि (Refractory period) को बढ़ाती है।

ये औषधियाँ विषाक्त है। इनकी **विषाक्तता** के कारण मिचली, वमन, पतले दस्त, सिर तथा उदर मे पीडा, परिसरीय रक्त-वाहिनी निपात (Peripheral vascular failure), आमाशयोर्ध्व प्रदेश (Epigastrium) मे असुविधा, चक्कर, कान मे ध्वनि सुनाई देना, ज्वर, वाधिर्य, निगलने मे कठिनाई, कम दिखलाई देना, उत्तेजना (Excitement), भ्रम (Confusion), मूर्छा, श्वसन-संस्थान का निपात (Failure), हृदय की अनियमितता, अतिरिक्त सकोच (Ex:systole.), हृत्स्तभ (Ht:block), ततुप्रकंप (Fib), हृत्स्पंद (Ht:beat) का बन्द हो जाना आदि लक्षण होते हैं। इन लक्षणो के होने पर औषधि वन्द कर देना चाहिये। जो रोगी इन औषधियो को सहन नहीं कर सकते (Idiosyncrasy), उनमे श्वसन तथा हृदय का निपात, रक्तनिपीड़ (B.P.) की कमी, मूर्छा, आदि लक्षण होते है। इसलिये इन औषधियो की प्रथम मात्रा सर्वदा ग्रे० ३ मुख द्वारा होनी चाहिये। २ घटे के अन्दर प्रतिक्रिया न होने पर आगे औषधि देना चाहिये। इनको सिरा मार्ग (I.V.) से देने से इनका प्रभाव तत्काल होता

है। अन्य मार्गों से प्रयोग करने से इनका प्रभाव $\frac{1}{2}$ घं० से १ घं० में होता है और यह प्रभाव ८ घं० तक रहता है।

योग :—क्वीनीडीन (Quinidine sulph:) की ग्रे. १$\frac{1}{2}$, ३, ४ की गोली तथा इन्जेक्शन (Quinidine hydrochlor, gluconate, lactate, dihydrochlor) ग्रे. ६ का सिरा (I. V.) या पेशी (I.M) से प्रयोग करने के लिये मिलता है। इसके अतिरिक्त **क्वीनीन** (Q:bihydrochlor) का ग्रे. ५–१० सी. सी. १ या २ मे पेशी या सिरा द्वारा देने के लिये उपलब्ध है।

क्वीनीडीन का प्रयोग :—अलिंदीय तन्तुप्रकम्प (A. fib) मे हृदय का विस्फार (Dilatation) न रहने पर या हृदय के कपाटों (Valves) में विकृति न रहने पर इसका प्रयोग किया जाता है। अतिरिक्त हृत्स्पंद (Ex:systole) तथा प्रावेगिक शीघ्रहृदयता (Paroxysmal tachycardia) मे भी इसका प्रयोग किया जाता है। निम्न अवस्थाओं में इसका **प्रयोग नहीं** करना चाहिये :—औषधि सह न सकने (Idiosyncrasy) पर, हृत्स्तम्भ (Ht:block) या दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure) के लक्षण रहने पर इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

विधि :—क्वीनीडीन के प्रयोग की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। कब्ज नहीं रहनी चाहिये। भोजन का नियन्त्रित होना आवश्यक है। क्वीनीडीन तथा डिजिटेलिस (Digitalis) को एक साथ कभी नहीं देना चाहिये। नाड़ी नियमित (Regular) हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। सर्व प्रथम ग्रे. १ के द्वारा देकर देखना चाहिये कि प्रतिक्रिया होती है या नहीं। प्रतिक्रिया न होने पर दो घन्टे पश्चात ग्रे. ४-६ चा. प्र. दि. मुख द्वारा एक सप्ताह पर्यन्त देना चाहिये। अतिरिक्त हृत्स्पंद (Ex.systole) मे इसको ग्रे. ५ तथा स्ट्रिक्नीन ग्रे. १/६० साथ-साथ देना चाहिये। इसके प्रयोग से विद्युत हृत् लेख परीक्षा (Ecg) मे यदि पी आर (P-R) वक्रता नियमित नहीं हो जाती तब इसके प्रयोग से लाभ नहीं होता। यह औषधि हृदय की अनियमितता को परिवर्तित कर नियमित कर देती है। हृदय की गति नियमित होने पर कभी-कभी हृदय मे यदि घनास्त्र (Thrombus) रहता है तब वह रक्त-प्रवाह मे प्रवेश कर उपद्रव कर सकता है। दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure) के लक्षण रहने पर, रोग जीर्ण

हो जाने पर या अनियमितता के बार-बार पुनरागमन का इतिहास रहने पर या अन्तःशल्यता (Enbolism) का इतिहास रहने पर अथवा हृदय मे गभीर विकृति रहने पर इसका **प्रयोग नहीं करना** चाहिये। हृदय मे साधारण विकृति रहने पर तथा हृदय की अनियमितता का इतिहास कुछ सप्ताह से अधिक न रहने पर इसका प्रयोग करना चाहिये। घनास्रता (Thrombosis) तथा अन्तःशल्यता (Embolism) रोकने के लिये साथ-साथ **हेपरीन** (Heparin) मि. ग्रा. ५० प्र. चार घं. अ. अ. देना चाहिये। इस औषधि द्वारा रक्तस्कन्दन का समय (Coagulation time) १५ मिनट पर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। औषधि की ६ मात्रा के पश्चात विशेष सावधानी आवश्यक है। डिजिटेलिस द्वारा नियल की गति कम हो जाने पर तथा दक्षिण हृदयातिपात ठीक हो जाने पर ही क्वीनीडीन का प्रयोग करना चाहिये। इसके प्रयोग करते समय सर्वप्रथम अल्प मात्रा मे (ग्रे. १ कैपस्यूल मे रख कर) औषधि देकर रोगी पर प्रभाव देखना चाहिये। इससे हानि न होने पर औषधि की मात्रा बढ़ाना चाहिये। अनियमितता ठीक हो जाने पर औषधि बंद कर देना चाहिये। प्रत्येक मात्रा देने के पूर्व रोगी की नाड़ी तथा हृदय की गति देखना चाहिये। नाडी नियमित हो जाने पर या हृदय की गति १२० प्र. मिनट से अधिक होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। औषधि के प्रयोग के समय नाडी की गति का तीव्र होना विषाक्तता का प्रमाण है। इसीलिए कुछ विद्वानो का मत है कि अलिंदीय तन्तुप्रकम्प (A. fib) मे यदि नाड़ी की गति ६० प्र. मि. से अधिक हो तब चिकित्सा का प्रारम्भ डिजिटेलिस (Digitalis) से करना चाहिये। इससे लाभ न होने पर क्वीनीडीन देना चाहिये। क्विनीडीन का प्रभाव स्थायी करने के लिये ग्रे. ३–६ तक दिन मे ६ बार देना चाहिये। **तत्पश्चात्** ग्रे. ३ त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये। इसको स्थायी मात्रा (Maintenance dose) कहते हैं।

(ङ) नाइट्राइट (Nitrites)

ये औषधियाँ प्रधानतः **रक्तवाहिनियों का विस्फार** (Vasodilators) **कराती** है, परिणाम स्वरूप रक्तनिपीड़ (B. P.) मे कमी होती है। हृत्धमनी (Coronary) का विस्फार कराने के कारण हृच्छूल (Angina pectoris) मे इनका विशेष महत्व है। हृच्छूल अत्यन्त गम्भीर रोग

होने के कारण अमिल नाइट्राइट (Amyl nitrite) को सूँघने के लिये अथवा ट्रिनीट्रीनी (Tab:trinitrini) को जिह्वा के नीचे रखने के लिये दिया जाता है। इन औषधियों का प्रभाव अत्यन्त अल्प समय में प्रारम्भ हो जाता है। अन्य औषधियों का प्रभाव प्रारम्भ होने में अधिक समय लगता है इसीलिये ये औषधियाँ (Sodi:nitrite, mannitol) उच्च रक्तनीपीड़ (B.P.) के लिये उपयुक्त हैं। ये औषधियाँ **अनैच्छिक पेशियों** (Smooth muscles) को **शिथिल** (Relax) भी करती हैं।

नाइट्राइट (Nitrites) के योग

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रभाव का प्रारम्भ	प्रभाव रहने की अवधि
अमील नाइट्राइट (Amyl nitrite)	सूँघना चाहिये	मि. ३ आ. अ.	१० सेकन्ड	मिनट—१०
ट्रीनीट्रीनीकी गोली (Tab:tr nitrini)	जिह्वा के नीचे	ग्रे. १/१०० आ. अ.	२ मिनट	,, ४५
सोडियम नाइट्राइट (Na:nitrite)	मुख	ग्रे. १/२-१ प्र. चा. घं.	१० ,,	घं. २
ऐरीथ्रिटिल टेट्रानाइट्रेट (Erythrityl tetranitrate)	,,	ग्रे. १/४-१ प्र. ४ घं.	१५ ,,	घं. ३
मैनीटौल की गोली (Mannitol hexa nitrate tab:)	,,	ग्रे. १/४-१ प्र. ६ घ.	३० ,,	घं. ६

(ई) मूत्रल (Diuretic) औषधियाँ

(क) जैनथीन (Xanthines) के योग।

ये औषधियाँ **रक्तवाहिनियों का विस्फार** (Vaso-dilators) कराती है तथा मूत्र की वृद्धि (Diuretic) कराती हैं। हृत्धमनी का विस्फार

(Coronary dilator) कराने के कारण वामहृदयातिपात (Lt:ht: failure), हृच्छूल (Angina pectoris)तथा हृद्जन्य तमकश्वास (Cardiac asthma) मे विशेष लाभप्रद हैं। मूत्रज होने के कारण इनको दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure) मे भी प्रयोग किया जाता है। इसमे दो प्रकार की ओषधियो के योग सम्मिलित है, थेयोफाइलीन (Theophylline) तथा थेयोब्रोमीन (Theobromine) के योग। इन दोनों ओषधियो मे प्रथम ओषधि के योग अधिक प्रभावशाली है। इनको मुख द्वारा प्रयोग करने का परिणाम अनिश्चित है। इन्जेक्शन का प्रभाव उत्तम है।

योग :—(१) **थेयोफाइलीन** (Theophylline) के योग :—

(च) **अमीनोफायलीन** (Aminophylline, cardiophylline) :—यह ओषधि मूत्र की वृद्धि (Diuretic) करती है, हृत्धमनी (Coronary) तथा श्वसनिकाओ का विस्फार (Coronary & bronchial dilator) करती है, तथा हृत्पेशी (Myocardium) को उत्तेजित करती है। **प्रयोग** :—श्वसनी तमकश्वास (Bronchial asthma), फौफ्फुसीय शोफ (Pulmonary oedema), चेन-स्टोक श्वसन (C–S. resp), शूलात्मिका स्थिति (Status angiosus) तथा हृत्पेशी के अन्तःस्फान (Myocardial infarct) मे प्रयोग की जाती है। **मात्रा** :—इसका २·५ प्र. श. घोल ग्रे. ३$\frac{3}{4}$–७$\frac{1}{2}$ अत्यन्त शनैः शनैः सिरा (I. V.) या पेशी (I. M.) द्वारा अथवा ग्रे. ७$\frac{1}{2}$ की बत्ती (Suppository) गुदा मार्ग से दे सकते हैं। मुख द्वारा ग्रे. १$\frac{1}{2}$–३ चा.प्र. दि. दे सकते हैं।

(छ) **थेयोसीन** (Theocine) ग्रे. ३–६ मुख से चा.प्र.दि. दे सकते है। थेयोसीन (Theocine) ग्रे. २$\frac{1}{2}$–५ त्रि. प्र. दि. मुख से दी जाती है। इसका जल मे घुलनशील योग (Theocin sodi:acetate) ग्रे. ३–६ मुख से चा. प्र. दि. दे सकते हैं।

(२) **थेयोब्रोमीन** (Theobromine) के योग :—डायूरेटीन (Diuretin), कैलसियम डायुरेटिन (Cal:diuretin), थेयोब्रोमीन सोडियम एसिटेट (Theobromine sodi:acetate) आदि। ये ओषधियाँ ग्रे. ७$\frac{1}{2}$ मुख से चा. प्र. दि. दे सकते हैं।

(ख) पारद (Mercury) के मूत्रल योग

ये औषधियाँ वृक्क की नालिकाओं (Tubules) द्वारा सोडियम (Na) का पुनः प्रचूषण नहीं होने देती। इस प्रकार शरीर से सोडियम का परित्याग होता है और शोफ (Oedema) में कमी होती है। इनके प्रयोग के कारण शरीर में सोडियम (Na) की अत्यधिक कमी हो सकती है। शोफ में कमी करने के कारण इसको दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure) में प्रयोग किया जाता है। वृक्क में विकृति रहने पर ये कार्य नहीं कर सकती। इस अवस्था में इनका प्रयोग नही करना चाहिये। इनका प्रभाव इन्जेक्शन द्वारा सर्वोत्तम है। अन्य मार्ग से इनका प्रभाव संदेहास्पद है।

योग :—मरसैलिल (Mersalyl), सैलिरगान (Salyrgan), सैलारजेन (Salaigen), नेप्टोल (Neptol M.B.), एसीड्रोन (Esidrone'Ca'), मरक्यूहायड्रीन (Mercuhydrin), नोवोरिट (Novurit), थायोमेरिन (Thiomerin) आदि सी. सी. १–२ सिरा या पेशी मार्ग से देना चाहिये। इन ओषधियों का थेयोफायलीन के साथ योग मरक्यूरोफायलीन (Mercuro-phylline) सी. सी. १–२ सिरा (I. V.) मार्ग से देना चाहिये। थायोमेरीन (Thiomerin) सी. सी. १–२ अधस्त्वक (S. C.) या पेशि (I. M.) मार्ग से दे सकते हैं।

पारद के इन्जेक्शन के पूर्व मूत्र की प्रतिक्रिया अमोनियम क्लोराइड (Ammonium chloride) ग्रे. २० त्रि. प्र. दि. देकर अम्ल (Acid) करनी चाहिये। ये पारद के योग प्रायः पेशी मार्ग (I.M.) से प्रति ३–५ दिन पर प्रयोग किये जाते हैं। सिरा मार्ग (I.V.) से प्रयोग करने के पूर्व औषधि को समबल लवण घोल (N. saline) १०–२० सी. सी. में मिला कर प्रयोग करना चाहिये। वृक्क में विकृति रहने पर या धमनीजरठता (Arterio-sclerosis) रहने पर इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा अम्लीयता (Acidosis) हो सकती है।

पारद का इन्जेक्शन प्रातःकाल देना चाहिये। इसके अत्यधिक प्रयोग से रोगी के शरीर में सोडियम (Na) की अत्यधिक कमी होने का भय रहता है। जलाल्पता (Dehydration) भी सम्भव है।

प्रथम मात्रा ½ सी. सी. पेशीमार्ग से देने के पश्चात् यदि मूत्र की मात्रा में वृद्धि हो तब दो दिन पश्चात् २ सी सी. पेशी मार्ग से देना चाहिये। यदि

प्रथम मात्रा के पश्चात मूत्र मे वृद्धि न हो तब इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा यह रक्त मे संचय होकर हानि करेगी। पारद के इन्जेक्शन के पूर्व डेकोलीन (Decholin) के साथ जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C) सिरामार्ग से (I.V.) या अमीनोफायलीन (Aminophylline) देने से पारद के कार्य की वृद्धि होती है।

नोवोरिट (Novurit) का प्रयोग गुदा मार्ग से बत्ती (Suppository) के रूप मे भी कर सकते है। पारद के योग अन्य सब मूत्रल (Diuretic) औषधियों से अधिक प्रभावशाली हैं। पारद का एक योग कार्य न करने पर दूसरा योग प्रयोग करना चाहिये।

मरक्यूरीटाल (Mercurital) गो. १–३ मुख से प्र. दि. दे सकते हैं। लेखक के मत से पारद के मूत्रल योग कार्यशील होने के लिये क्लोराइड (Cl) का शरीर मे रहना आवश्यक है। इसलिये कभी-कभी लवण रहित आहार के साथ इन औषधियो के देने से मूत्र मे वृद्धि नही होती। ऐसी स्थिति मे लवण (Nacl) या अमोनियम क्लोराइड (Ammon chloride) ग्रे. २० त्रि. प्र. दि. देने से पारद के मूत्रल योग कार्यशील हो जाते हैं और मूत्र की मात्रा मे वृद्धि होने लगती है। मूत्र की मात्रा मे वृद्धि हो जाने पर लवण बन्द कर देना चाहिये।

(ग) अन्य मूत्रल औषधियाँ

(१) **अमोनियम क्लोराइड** (Ammonium chloride) :— इस औषधि को २–३ दिन देने के पश्चात पारद (Hg) के मूत्रल योग देने से पारद के प्रभाव की वृद्धि होती है। यह औषधि मूत्र की प्रतिक्रिया को अम्ल (Acid) करती है। यकृत मे यह औषधि परिवर्तित होकर यूरिया (Urea) बनती है। इस औषधि को ग्रे. १५–३० चा. प्र. दि. कर ४–५ दिन देना चाहिये। औषधि को एक सप्ताह स्थगित कर पुनः प्रयोग कर सकते है।

(२) **यूरिया** (Urea) ग्रे. १०–३० त्रि. प्र. दि दे सकते है। वृक्क मे विकृति रहने पर इसका प्रयोग नही करना चाहिये।

(३) **जीवतिक्ति 'बी१'** (Vit : 'B_1') मि० ग्रा० १०० पेशी मार्ग (I.M.) से अथवा 'सी' (Vit : C.) मि० ग्रा० ५०० पेशी अथवा सिरा मार्ग (I.V.) से प्रयोग कर सकते है। ये मुख से भी दी जाती है।

(४) **केफीन सोडी बेनजोअस** (Cafreine sodi benzoas) :— यह औषधि केन्द्रीय वातनाडी संस्थान (CNS) को उत्तेजित करती (Analeptic) है तथा मूत्र की वृद्धि (Diuretic) कराती है। इसको मूर्छा, अपूर्ण सन्यास (Stupor), सन्यास (Coma), स्तब्धता (Shock), तथा बारबिटोन (Bn) की विषमयता आदि मे प्रयोग करते हैं। **मात्रा :**— ग्रे० ७½ जल सी० सी० २ मे अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से दे सकते है।

(उ) स्ट्रोफैनथिन (Strophanthin)

इस औपधि का प्रयोग दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure) की परम गम्भीर अवस्था मे किया जाता है। रोगी ने यदि २ सप्ताह के अन्दर डिजिटेलिस (Digitalis) लिया हो तब इसका प्रयोग नही करना चाहिये।

इसकी ग्रे० १/१०० या १/२०० की मात्रा समबल लवण घोल (N.saline) अथवा ग्लूकोस (Glucose) १२½ प्र० श० का १०–२५ सी० सी० मे घोलकर सिरा मार्ग (I.V.) से अत्यन्त शनैः शनैः प्रवेश कराना चाहिये। पेशी (I.M.) अथवा अधस्त्वक मार्ग (S.C.) पीड़ाकर है। आ० अ० १२ घण्टे पश्चात एक बार पुनः इसका प्रयोग कर सकते है। इसका प्रभाव ½ घण्टे मे प्रारम्भ होकर ६ घण्टे मे चरम सीमा पर पहुँच जाता है। फुफ्फुस मे विकृति होने के कारण जब फुफ्फुस के रक्त प्रवाह मे अवरोध होता है तब डिजिटेलिस से विशेष लाभ नही होता। इस अवस्था मे ओआबीन (Ouabin or strophanthin G.) का प्रयोग सिरामार्ग (I.V.) से किया जाता है। इस औषधि का प्रभाव १५ मिनट मे प्रारम्भ हो जाता है।

(ऊ) रेजिन (Acid resins, cation exchange resins, pulv:natrinal)

ये औषधियाँ मुख द्वारा प्रयोग करने से भोजन का सोडियम (Na) ले लेती हैं। इनका प्रचूषण (Absorption) नही होता। इस प्रकार रोगी भोजन मे साधारण मात्रा मे लवण ले सकता है क्योकि लवण (Nacl) का सोडियम, रेजिन से मिलकर आन्त्र से बाहर निकल जाता है। पारद (Hg) के योग जब ठीक से कार्य नही करते तथा मूत्र से सोडियम (Na) का पर्याप्त मात्रा मे परित्याग नही होता तब रेजिन के

प्रयोग का विशेष महत्व है। वृक्क के रोगों में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये और इसके प्रयोग के समय रोगी को अपना प्राकृत आहार पूर्ण मात्रा में लेना चाहिये। ये औषधियाँ प्रायः दो चम्मच (ड्रा २) एक गिलास जल में मिलाकर प्रत्येक भोजन के पूर्व तथा पश्चात् लेना चाहिये।

(१०) अपस्मार (Epilepsy) की औषधियाँ

(क) **डायलेन्टीन** (Dilantin):—अपस्मार की औषधियों में यह सब से कम हानिकर है। इसके प्रयोग के समय दाँत तथा मसूड़े ठीक रहने चाहिये। विपाक्तता के लक्षण होने पर मात्रा कम कर देना चाहिये। इसकी विपाक्तता के कारण घबराहट, नेत्र गोलक का हिलना (Nystagmus), मसूड़ों की परमपुष्टि, असमन्वयता (Ataxia) आदि लक्षण होते हैं।

(ख) **मिसेनटोइन** (Mesantoin) :—इस औषधि की विपाक्तता में घबराहट, असमन्वयता (Ataxia), नेत्र गोलक का हिलना, अपपर्णकर त्वक्शोथ (Exfoliative dermatitis) तथा रक्तकणों (R.B.C.) की कमी हो जाती है। इसमें मसूड़ों में विकृति नहीं होती। इस औषधि के प्रयोग की सम्पूर्ण अवधि पर्यंत रक्त-परीक्षा करनी चाहिये। श्वेतकणों (W.B.C.) की कमी, रक्ताल्पता (Anaemia) या त्वक्शोथ होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये।

(ग **ट्राइडीयोन** (Tridione) तथा पैराडियोन (Paradione):—इन दोनों में पैराडियोन कम विपाक्त है। इनकी विपाक्तता के कारण अपपर्णकर त्वक्शोथ (Exfoliative dermatitis), रक्तकणों (R.B.C.) की कमी, वृक्कोत्कर्ष (Nephrosis) तथा प्रकाश से कष्ट होता है। इसके प्रयोग की अवधि पर्यंत मूत्र तथा रक्त की परीक्षा करनी चाहिये तथा रंगीन ऐनक पहनना चाहिये। श्वेतकणों (W.B.C.) की कमी, रक्ताल्पता, त्वक्शोथ (Dermatitis) तथा वृक्क की विकृति के प्रमाण मिलने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। गुरु अपस्मार (Grand mal) में प्रयोग करने से रोग के आवेग की सम्भावना रहती है। एक ही रोगी में लघु (Petit) तथा गुरु (Grand) दोनों प्रकार के अपस्मार रहने पर डायलैन्टीन (Dilantin) के साथ इनको दे सकते हैं।

(घ) **फेन्यूरोन** (Phenurone) :—यह औषधि विपाक्त तथा अप्राप्य है। इसकी विषाक्तता के कारण शिर में पीड़ा, त्वक्शोथ (Derm-

atits), यकृतशोथ (Hepatitis) तथा मूत्र में शुल्कि (Alb:) मिलती है। ये लक्षण होने पर औपधि बन्द कर देना चाहिये। औपधि प्रारम्भ करने के पूर्व यकृत की कार्यशीलता (Liver function tests) की परीक्षायें करनी चाहिये। औपधि के प्रयोग के समय मूत्र में शुल्कि (Alb:), मूत्र पित्तजन (Urobilinogen) आदि के लिये देखना चाहिये।

(ङ) **शामक** (Sedative) औपधियाँ :—अपस्मार में अनेक शामक औषधियाँ प्रयोग की जाती हैं। इनमें **फेनोबारबिटोन** (Phn) सर्वोत्तम है। इसके प्रयोग के समय तंद्रा (Drowsiness) प्रतीत होने पर औपधि की मात्रा कम कर देना चाहिये। त्वक्शोथ (Dermatitis) होने पर औपधि बन्द कर देनी चाहिये। **मात्रा** :—ग्रे. ½–२ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। **ब्रोमाइड के योग** (Kbr : Nabr) आजकल प्रायः प्रयोग नहीं किये जाते। अन्य औपधियों से लाभ न होने पर इनका प्रयोग करना चाहिये। त्वचा पर विस्फोट (Rash), मानसिक विकृति आदि होने पर औषधि बन्द कर देनी चाहिये। **मात्रा** :—ग्रे० १०–३० त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। **मेबराल** (Mebaral) :—यह फेनोबारबिटोन का योग है। **मात्रा** :—ग्रे० १–४ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं।

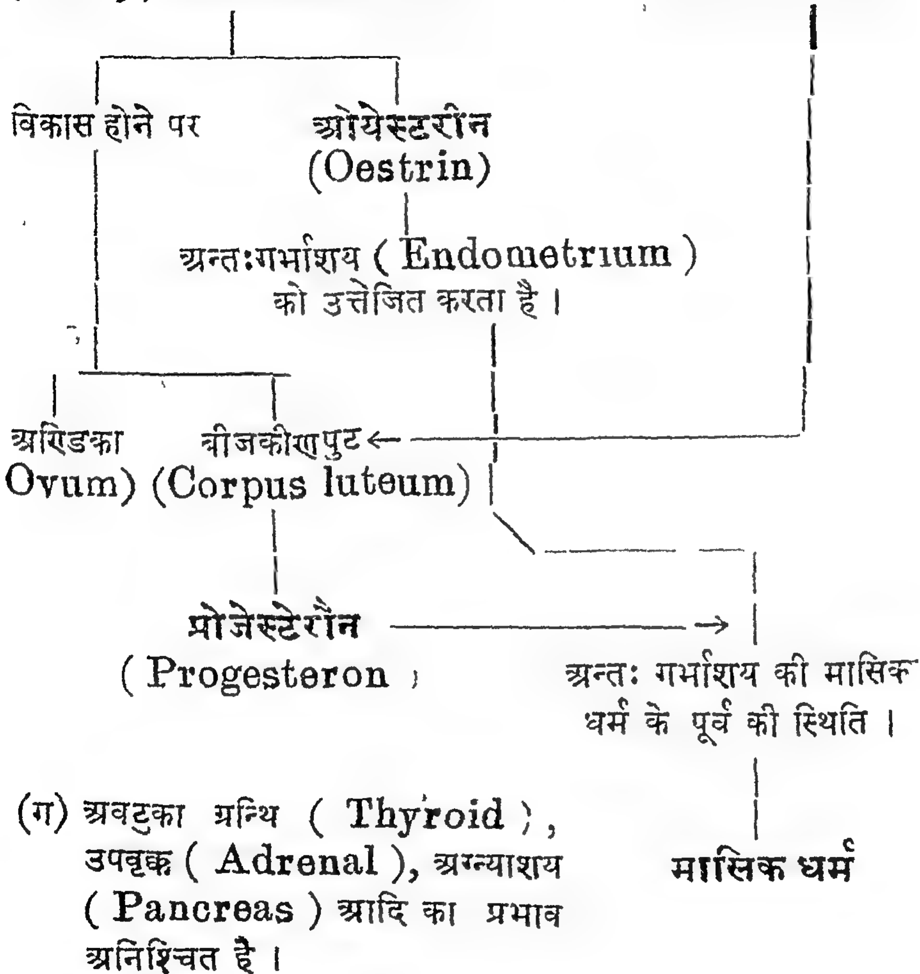
(११) स्त्री प्रजनन सम्बन्धी अन्तःश्राव (Female sex hormones)

बीज ग्रन्थि (Ovary) से दो प्रकार के अन्तःश्राव (Hormone) बनते हैं :—

(क) **प्रोजेस्टेरौन** (Progesteron, corpus luteum hormone) :—यह पदार्थ स्तन की नलिकाओं (Acini) की वृद्धि करता है। ईस्ट्रोजेन (Estrogen) के अन्तर्गर्भाशय (Endometrium) पर कार्य कर लेने के पश्चात यह अन्तर्गर्भाशय (Fndometrium) को उत्तेजित करता है और मासिक धर्म के पूर्व की स्थिति उत्पन्न करता है। इसको अन्तर्गर्भाशय की स्रवण अवस्था (Secretary phase) कहते है।

इस पदार्थ की उत्पत्ति बीजकोषपुट (Corpus luteum) से होती है। जब तक अपरा (Placenta) का पूर्ण रूप से निर्माण नहीं हो जाता तब तक गर्भाशय (Uterus) में यह अण्डिका (Ovum) को सुरक्षित रखता है। इसलिये गर्भावस्था के प्रारम्भिक काल के लिये यह आवश्यक है, अन्यथा गर्भस्राव (Abortion) हो सकता है।

स्त्रियों के प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव (Female endocrines)
तथा मासिकधर्म की उत्पत्ति



(ग) अवटुका ग्रन्थि (Thyroid), उपवृक्क (Adrenal), अग्न्याशय (Pancreas) आदि का प्रभाव अनिश्चित है।

यह ईस्ट्रोन (Oestorne) तथा पूर्व पीयूष ग्रन्थि (Ant.pituitary) सत्व के समान पदार्थों के कार्य में कमी करता है। यह पदार्थ गर्भवती के मूत्र मे भी मिलता है।

योग :—ल्यूटोसायल्किन (Lutocyclin 'Ca'), 'ल्यूटियोस्टैब (Luteo-stab 'Bo'), प्रोजेस्टीन (Progestin 'ON' 'BDH').

प्रोलूटन (Proluton 'Sch'), ल्यूटिओएन्टीन (Luteoantin 'GR') लाइपोल्यूटौन (Lipoluton 'PD'), ल्यूट्रेन (Lutren 'Br') ।

मात्रा :—इन औषधियों की मि. ग्रा. १–१० की मात्रा पेशी मार्ग (I. M.) से दी जाती है । प्रोजेस्टेरौल (Progesterol 'On') तथा प्रोलूटन (Proluton 'Sch') मुख द्वारा दे सकते हैं ।

प्रयोग :—गर्भपात रोकने के लिये, गर्भ न रहने पर मासिक धर्म प्रारभ करने के लिये, मासिक धर्म के समय अत्यधिक रक्तस्राव या पीड़ा होने पर, वंध्यता (Sterility). गर्भाक्षेप (Eclampsia) के पूर्व की विषमयता (Toxaemia) के लिये तथा प्रसव के पश्चात पीड़ा होने पर इसका प्रयोग कर सकते है ।

(ख) **ओएस्टेरिन** (Oestrin, oestradiol, estrogen, follicular hormone, oestrogenic, oestrone) :— यह पदार्थ प्राकृत अवस्था मे अनेक जानवरो तथा वृक्ष मे मिलता है । इसको रसायनिक क्रियाओं (Synthetic) द्वारा भी बनाया गया है । यह पदार्थ प्राकृत अवस्था मे पुरुष तथा स्त्री दोनो के रक्त तथा मूत्र मे मिलता हैं । गर्भ-वती स्त्री के मूत्र मे अत्यधिक मात्रा मे रहता है । इसकी प्रभावशाली तथा विपाक्त मात्राओ मे अत्यल्प अन्तर है। इसकी **विषाक्तता** के कारण मिचली, वमन, चक्कर आदि लक्षण होते है । अधिक मात्रा से दुग्ध का निर्माण बन्द हो जाता है । इनको सर्वदा मुख से देना चाहिये ।

प्रयोग :—यह पदार्थ गर्भाशय (Uterus) की पेशी को पुष्ट करता है तथा उसको बल प्रदान करता है । मासिक धर्म की उत्पत्ति मे मदद करता है । स्तन मे दुग्ध नलिकाओ (Ducts) की वृद्धि करता है । योनि (Vagina) मे अम्ल (Acid) की तथा योनि के अधिच्छद (Epithelium) की वृद्धि करता हे । स्त्रीत्व के लक्षणो की उत्पत्ति करता है । अस्थि बनाता है तथा प्रजनन सम्बन्धी मार्ग का विकास करता है । अन्तर्गर्भाशय (Endometrium) तथा अस्थि बनाने वाली कोषाओ (Osteoblasts) के कार्य को उत्तेजित करता है । इसके प्रयोग से शरीर मे सोडियम (Na) तथा जल का साधारण सचय होता है । प्रोटीन (Ptn) के समवर्त (Mbm) पर इसका अल्प प्रभाव है । इसको अधिक मात्रा मे प्रयोग करने से प्रोजेस्टेरौन

(Progesterone) तथा पूर्व पियूष ग्रंथि (Ant:pituitary) के प्रजनन सम्बन्धी स्राव में कमी होती है। इसके ३ तत्वों का पता चला है, ओयेस्ट्रीओौल (Oestriol), ओयेस्ट्रोन (Oestrone) तथा ओयेस्ट्रे-डियोल (Oestradiol)। अन्तिम पदार्थ अत्यन्त प्रभावशाली है। इसको ओयेस्ट्रेडियौलबेनजोयेट (Benzoate) के रूप मे प्रयोग करते है।

योग :—थीलीन (Theelin P.D.), ओवो साइक्लीन (Ovo-cyclin'Ca'), ओएस्ट्रोफौर्म (Oestroform BDH), थेलेस्टरीन (Th-elesterin 'Gk'), ओयेस्टरोन (Oestrone 'Ca'), ओवोस्टैब (Ovostab 'Bo'), मेनोफौरमौन (Menoformon 'On'), कौलपौन (Kolpon 'On'), क्लिनेस्टेरोल (Clinesterol 'Go'), स्टिलबेस्टेरौल (Stilboesterol 'Go'), आस्ट्रेडिऔल (Ostradiol), प्रोजीनौन 'बी' ओलियोसम (Progynon 'B' oleosum Sch), प्रिमरिन (Premarin), सिन्थोव (Synthove 'Bo'), हेक्सोस्टेरोल (Hexoesterol), डायनोस्टेरोल (Dienoestrol) आदि। स्टिलबेस्टरोल तथा हेक्सोस्टेरौल रसायनिक क्रियाओं (Synthetic) द्वारा बने हैं। इनको मुख से दे सकते हैं। इसके प्राकृतिक (Natural) योग केवल इन्जेक्शन द्वारा कार्य करते हैं।

प्रयोग :—ये औपधियाँ, मुख, पेशी (I.M.) तथा योनि (Vaginal) मार्ग से प्रयोग की जाती है। इनके प्रयोग से निम्न अवस्थाओं मे लाभ होता है :—रजोनिवृत्ति (Menopause) के लक्षण, आर्तव (Mens:) के समय पीडा होने पर, बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में योनि या भग मे शोथ (Vaginitis, Vulvitis) होने पर, स्तन में पीडा होने पर या दुग्ध की उत्पत्ति कम करने के लिये, अष्ठिला ग्रन्थि के कर्कटार्बुद (Cancer prostate) मे, वंध्यता (Sterility), आर्तव प्रारम्भ होने मे विलम्ब होने पर, गर्भाशय का छोटा होना (Infantilism), गर्भाशय के कार्य न करने पर (Inertia), अपूर्ण गर्भश्राव (Missed abortion), गर्भ के मर जाने पर प्रसव प्रारम्भ करने के लिये, स्तन की विक्रितियाँ (Mastopathia), अस्थियो मे अपुष्टि (Osteo-porosis) रहने पर आदि। ये औपधियाँ स्तन के कर्कटार्बुद मे कार्यहीन हैं।

शरीर के अन्य भागों में मिलने वाले पूर्वपीयूषग्रंथि के समान स्त्री प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव (Hormones) :—पूर्वपीयूषग्रंथि (Ant:pituitary) के कुछ स्राव प्रजनन सम्बन्धी अवयवों को उत्तेजित करते हैं परन्तु ये शीघ्रता से नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार के कुछ पदार्थ गर्भवती स्त्री के मूत्र तथा गर्भवती घोड़ी की लसिका (Serum) मे भी मिलते हैं। ये पदार्थ अधिक स्थायी है तथा सरलता से प्राप्त होते हैं। ये पदार्थ वीज ग्रंथि (Ovary) के स्राव मे कमी रहने पर दिये जा सकते हैं।

(क) **गर्भवती स्त्री के मूत्र से** प्रेगनिल (Pregnyl 'On') आदि औषधियाँ बनाई गई हैं। ये पदार्थ स्त्रियो मे प्रजनन सम्बन्धी स्राव मे कमी रहने पर प्रयोग नही किये जाते। ये ग्रैफियन के अकुर (Grraffian follicle) को नष्ट करते हैं तथा उनके विकास को उत्तेजित नहीं करते। मूत्र में इस पदार्थ का पता लगाने से स्त्री का गर्भवती होने का ज्ञान होता है। एशेमजोण्डेक परीक्षा (Aschheim-Zondek test) का यही सिद्धात है।

(ख) **गर्भवती घोड़ी को लसिका** (Serum) से सेरोगैन (Sero gan B D.H.) आदि पदार्थ बनते है। यह पदार्थ ग्रैफियन के अकुर (Graffian follicle) के विकास होने मे सहायक है।

कुछ स्त्री रोगों की चिकित्सा

(१) **गर्भाशय से क्रियात्मक** (Functional metropathia haemorrhagica) **कारणों से रक्तस्राव होने पर** :—बीज ग्रन्थि (Ovary) के कार्य मे कमी होने पर, यौवनारम्भ अथवा रजोनिवृत्ति (Menopause) के समय दो-तीन मास मासिक धर्म बन्द रहने के पश्चात अनियमित रूप से रक्त स्राव होता है। यह विकृति वीजग्रन्थि (Ovary) अथवा पूर्वपीयूषग्रन्थि (Ant:pituitary) की विकृति के कारण होती है।

चिकित्सा :—इसकी निम्न विधियाँ हैं :—

(क) **प्रोजेस्टरौन** (Progesterone) मि० ग्रा० १०–२० प्र० दि० पेशी मार्ग (I.M.) से दें। रक्तस्राव के समय एक सप्ताह तक प्र० दि० इन्जेक्शन दे। **तत्पश्चात्** दो सप्ताह, त्रि० प्र० स० **तदोपरांत** एक सप्ताह पर्यन्त प्र० दि० इन्जेक्शन दें।

(ख) रक्तस्राव के समय प्रोजेस्टेरौन (Progestrone) मि० ग्रा०

१०–२० पेशी मार्ग से ५ दिन प्र० दि० तत्पश्चात रक्तस्राव बन्द होने के २ सप्ताह पश्चात त्रि० प्र० स० कर एक सप्ताह इन्जेक्शन दे।

(ग) वृषण ग्रंथि का अन्तःस्राव, टेस्टोस्टेरौन (Testosterone), मि० ग्रा० १० प्र० दि० कर १० दिन पेशी मार्ग से देने से भी लाभ होता है। इस औषधि के पश्चात् कुछ समय तक मासिक धर्म कुछ मास तक के लिये बन्द हो जा सकता है। तत्पश्चात् जब वह पुनः प्रारम्भ होता है तब वह नियमित हो जाता है। इसके प्रयोग से पुरुषत्व के लक्षण हो सकते हैं। परान्ड्रिन (Perandrin 'Ca'), टेस्टोवेरौन (Testoviron 'Sch'), नेओ होम्ब्रिओल (Neo-hombriol 'On') आदि प्रयोग किये जाते है।

(घ) रक्तस्राव के समय एथिडाल (Ethidol, ethinyl oestradiol 'Sch') मि० ग्रा० ०·१ द्वि० प्र० दि० या मि० ग्रा० ०.०५ त्रि० प्र० दि० कर १० दिन मुख से दें। तत्पश्चात् एथिस्टेरौन (Ethisterone BDH) मि० ग्रा० १० त्रि० प्र० स० कर दो सप्ताह पेशी मार्ग से दे।

अन्य चिकित्सा :—गर्भाशय को यत्र से खरोचने (Curette) तथा रजोनिवृत्ति (Mens) के समय उस पर क्ष-किरण (X-ray) या रेडियम (Radium) लगाने से सर्वदा के लिये रक्तस्राव बन्द हा सकता है।

युवावस्था मे अवटुका ग्रन्थिसत्व (Thyroid ext:) ग्रे० ½–१ द्वि० प्र० दि० देने से भी लाभ होता है। उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ न होने पर गर्भाशय काट कर निकाल देना (Hysterectomy) चाहिये।

(२) मासिक धर्म न होना (Amenorrhoea) :—बीजग्रन्थि (Ovary) के स्राव मे कमी रहने पर निम्न चिकित्सा कर सकते है :—

चिकित्सा :—(क) रक्तस्राव प्रारम्भ होने के पूर्व :—स्टिलवेस्ट्रोल (Stilbestrol, dienoestroal) मि० ग्रा० ३–५ त्रि. प्र. दि. १० दि० मुख से दें। रक्तस्राव प्रारम्भ न होने पर १० दिन औषधि बन्द कर पुनः १० दिन दें। जब तक रक्तस्राव न हो यही क्रम चलना चाहिये। लाभ न होने पर इसका इन्जेक्शन भी दे सकते है। इसके लिये ओयेस्ट्रडौल (Oestradol benzoate) मि० ग्रा० ५ त्रि० प्र० स० कर पेशी मार्ग (I.M.) से दो सप्ताह देना चाहिये। रक्तस्राव प्रारम्भ न होने पर १० दिन पश्चात् पुनः इसी प्रकार औषधि देना चाहिये। जब तक रक्तस्राव न हो यही क्रम चलना चाहिये।

(ख) **रक्तस्राव प्रारम्भ हो जाने पर** :—गर्भवती स्त्री के **मूत्र** या गर्भवती घोड़ी की **लसिका** (Serum) से बने पूर्व पीयूषग्रन्थि (Ant: pituitary) के समान पदार्थ ३००–५०० ग्रं० इ० पेशी द्वारा (I.M.) त्रि० प्र० स० कर ५ बार दे। इन दोनो पदार्थों की बराबर-बराबर मात्रा एक साथ भी दे सकते है। दो सप्ताह पश्चात् पुनः इसी क्रम मे औषधि दे। इनके स्थान पर प्रोजेस्टेरोन (Progesteron) या **सायनापोड़ीन** (Synapoidin P.D.) १०० ग्रं० इ० प्र० बा० दे सकते है।

(३) **बार-बार गर्भपात** (Recurrent abortion) :—फिरंग की सम्भावना रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। इसके अतिरिक्त गर्भावस्था मे विश्राम करना चाहिये। गर्भावस्था न रहने पर जिस समय मासिक धर्म होता था उस समय प्र० मास शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। कब्ज रहना ठीक नही है। उग्र (Strong purgative) विरेचक औषधियाँ प्रयोग नही करना चाहिये। भोजन मे जीवतिक्तियो (Vit:) की प्रधानता रहनी चाहिये। जीवतिक्ति 'ई' (Vit:E) का कै. १ द्वि० या त्रि० प्र० दि० गर्भावस्था की सपूर्ण अवधि पर्यंत देना चाहिये। जीवतिक्ति संपूर्ण (Multivitamins) भी देना चाहिये। जीवतिक्ति 'ई' पेशी मार्ग से भी दे सकते हैं।

इसके अतिरिक्त गर्भावस्था के प्रथम चार मास **प्रोजेस्टरौन** (Progesteron) के योग मि० ग्रा० १० द्वि० प्र० स० पेशी मार्ग (I.M.) से या एथिस्टेरोन (Ethysterone) १०० ग्रं० इ० मुख से द्वि० प्र० स० देना चाहिये। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये। गर्भवती स्त्री के मूत्र से बने योग भी १०० ग्र० इ० पेशी मार्ग से द्वि० प्र० स० कर गर्भावस्था की सपूर्ण अवधि पर्यन्त दिये जाते है।

(४) **कष्टार्तव** (Dysmenorrhoea) :—इस अवस्था मे मासिक धर्म के समय पीड़ा होती है। पीड़ा के लिये लाइकर सिडैन्स (Liq: sedans P.D.) मि० २०–३० त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। एसपिरीन (Aspirin) आदि शामक (Sedative) औषधियाँ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। कब्ज की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। **मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पूर्व** पीड़ा होने पर मासिक धर्म प्रारभ होने के एक सप्ताह पूर्व से प्रोजेस्टेरौन (Progesterone) देना प्रारभ करना चाहिये।

मासिक धर्म के समय पीड़ा होने पर मासिक धर्म प्रारम्भ होने के ३–४ दिन पूर्व से स्टिलवेस्ट्रौल (Silboesterol) मि. ग्रा. ३–५ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। औषधियो से लाभ न होने पर गर्भाशयग्रीवा (Cervix) का यन्त्र द्वारा विस्फार (Dilate) करा सकते हैं।

(५) **धात्रिकाल** (Lactatiou) की विकृतियाँ :—**दूध की वृद्धि** कराने के लिये धात्रिकाल मे स्त्री को दूध तथा जल अधिक मात्रा मे पीना चाहिये। फाइसोलैक्टीन (Physolactin-Go) पूर्व पीयूष ग्रन्थि (Ant:pituitary) का योग है। यह दूध की वृद्धि कराता है। इसका सी. सी. १–५ पेशी मार्ग (I.M.) से देना चाहिये। प्रथम दो दिन सी.सी. ५, तत्पश्चात दो दिन सी.सी. २ तदुपरात २ दिन सी.सी. १ इन्जेक्शन लगाना चाहिये। इस प्रकार ६ दिन प्र.दि. इन्जेक्शन देना चाहिये। स्तन को सेकने से भी लाभ होता है। ए० या द्वि० प्र० दि० स्तन से सपूर्ण दूध यंत्र द्वारा (Breast pump) चिकित्सा की अवधि पर्यन्त निकाल देना चाहिये। दूध का **निर्माण बन्द करने** के लिये दोनो स्तनो पर बेलाडोना की पट्टी (Belladonna plaster) लगाना चाहिये। यंत्र द्वारा दूध निकालने के लिये इस पट्टी मे चुचुक (Nipple) के पास रिक्त स्थान होना चाहिये। जब तक औषधियों द्वारा दूध का निर्माण बन्द न हो जाय तब तक यन्त्र द्वारा द्वि. प्र. दि. दूध निकाल देना चाहिये। बेलाडोना की पट्टी विषाक्त होती है। इसलिये जिस समय इसका प्रयोग किया जाय शिशु को स्तनपान नही कराना चाहिये। **ओयेस्टिरिडौल** (Oesteridol Benzoate) मि. ग्रा. ५ पेशी मार्ग (I. M.) से ३–४ दिन प्र.दि. दे सकते है। इसके स्थान पर **स्टिलवेस्ट्रौल** (Stilboesterol dipropionate) तीन दिन तक मि. ग्रा. ५ त्रि. प्र. दि. मुख से दें। तत्पश्चात् मि. ग्रा. २·५ द्वि. प्र. दि. कर एक सप्ताह देना चाहिये। इनका प्रभाव उत्तम है।

(१२) पुरुष के प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव
(Male sex hormone)

वृषण ग्रथि के स्राव पर पूर्व पीयूष ग्रन्थि (Ant : Pituitary) का स्राव नियन्त्रण करता है। वृषण ग्रन्थि (Testes) से शुक्रजीवाणु (Spermatozoa) की उत्पत्ति होती है तथा प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव का

निर्माण होता है । वृषणग्रन्थि (Testes) से जितने सान्द्राभों (Steroids) का पता चला है उनको एन्ड्रोजन (Androgen) कहते हैं । इन एन्ड्रोजनों (Androgen) मे **टेस्टोस्टेरौन** (Testosterone) प्रधान है ।

प्रभाव :—यह पदार्थ **पुरुष** मे पुरुषत्व के लक्षणो की उत्पत्ति करता है । शिश्न (Penis), शुक्रवाहिनी (Seminal vesicles), अष्ठीला ग्रन्थि (Prostate) तथा शरीर पर बालो की वृद्धि करता है । वाणी गंभीर हो जाती है । स्त्रियो मे अधिक काल पर्यन्त इसके प्रयोग करने से पुरुषत्व के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं जैसे :—भगशिश्निका (Clitoris) की वृद्धि, त्वचा से तेल के समान पदार्थ का निकलना, वाणी मे परिवर्तन, प्रचुरलोमता (Hirsutism) आदि । स्त्रियो मे इस पदार्थ के साथ इस्ट्रोजेन (Estrogen) भी देने से पुरुषत्व के इन लक्षणो की उत्पत्ति की कम संभावना रहती है । इसके अतिरिक्त यह पदार्थ सोडियम (Na), जल तथा क्लोराइड (Cl) का अत्यल्प मात्रा मे शरीर में संचय करता हैं । इस पदार्थ का प्रोटीन (Ptn) के निर्माण (Anabolic effect) पर भी प्रभाव है, इसलिये यह शरीर के विकास (Tissue building) मे सहायता करता है । **स्त्रियों** मे यह पदार्थ ओयेस्ट्रोजेन (Oestrogen) तथा पीयूष ग्रन्थि (Pituitary) के प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव (Gonadotrophic hormone) के कार्य मे कमी करता है । गर्भाशय पेशी (Myometrium) पर इसका प्रभाव प्रोजेस्टरोन (Progestrone) के समान है तथा अन्तर्गर्भाशय (Endometrium) पर भा इसका प्रत्यक्ष प्रभाव है ।

प्रयोगः (क) **पुरुष** मे यह पदार्थ, उन अवस्थाओ मे प्रयोग किया जा सकता है जिसमे वृषण ग्रंथि के स्राव मे कमी हो । इसी दृष्टि से इसको पुरुषों मे ५० वर्ष की आयु के पश्चात् देने से शारीरिक तथा मानसिक लाभ होता है । इस आयु के पुरुषो मे वृषण ग्रथि के स्राव मे कमी होने के कारण स्मरण शक्ति मे कमी, आलस्य, कार्यक्षमता मे कमी आदि लक्षण होने हैं । इस अवस्था को पुरुष रजोनिवृत्ति (Male climacteric) कहते है । इसके अतिरिक्त पंढाभता (Eunuchoidism), षण्ढता (Impotency), वृद्धावस्था मे अष्ठीला ग्रन्थि (Prostate) की वृद्धि के कारण मूत्र परित्याग करने की संख्या मे वृद्धि होने पर, प्रजनन सम्बन्धी अवयवो की अपुष्टि

रहने पर इसका प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक कारणों से पण्ढता होने पर इससे लाभ नहीं होता। वृद्धावस्था की अष्ठीला ग्रन्थि की अघातक (Benign) वृद्धि में तथा हृच्छूल (Angina pectoris) में इसका प्रभाव संदेहास्पद है।

(ख) **स्त्रियों** में यह पदार्थ, मासिक धर्म के समय की पीड़ा, क्रियात्मक (Functional) कारण जन्य रक्तस्राव तथा उसके पूर्व गर्भाशय पेशी (Myometrium) में तनाव रहने पर प्रयोग किया जाता है। अन्तर्गर्भाशय की विकृति (Endometriosis), दुग्ध में कमी, स्तन के कर्कटार्बुद (Cancer), स्तन में कोष्ठ के निर्माण (Chro:cystic mastitis) होने पर भी प्रयोग किया जाता है।

(ग) पुरुष तथा स्त्री दोनों में इसके प्रयोग से शरीर में प्रोटीन (Ptn) का निर्माण (Anabolism) होता है इसलिये किसी भी दुर्बल करनेवाले रोग में इसे प्रयोग किया जा सकता है।

टेस्टोस्टेरोन (Testosterone) के कुछ **प्रयोग** :—

(१) **रजोनिवृत्ति** (Menopause) के समय क्रियात्मक कारणों से रक्तस्राव होने पर प्रारम्भ में मि. ग्रा. २५ त्रि. प्र. स. तत्पश्चात् मि. ग्रा. १० द्वि. प्र. स. तदुपरान्त मि.ग्रा. १० ए. प्र. स. पेशी मार्ग (I. M.) से तब तक रोगी को देना चाहिये जब तक पूर्ण लाभ न हो।

(२) **यौवनारम्भ** में गर्भाशय से रक्तस्राव होने पर मि. ग्रा. २५ प्र.दि॰ पेशी मार्ग से दें।

(३) गर्भाशय की पेशी में **तनाव** (Tension) रहने पर मासिकधर्म के पूर्व के दो सप्ताह में मि. ग्रा. १०–२५ द्वि. प्र॰ स. पेशी मार्ग से दें।

विषाक्तता :—टेस्टोस्टेरौन (Testosterone) तथा टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट (Testosterone propionate) का सरलता से मूत्र से परित्याग होता है परन्तु मेथिल टेस्टोस्टेरौन (Methyl-testosterone) का इस मार्ग से परित्याग नही होता। यह अन्तिम योग रसायनिक क्रियाओ (Synthetic) से बनता है तथा इसके प्रयोग से मूत्र में क्रीटेनिन (Creatinin) आने लगता है और अधिक समय तक प्रयोग करने से **कामला** (Jaundice) हो सकता है। इसको यकृत के रोग, अवटुका ग्रथि सत्व की विषाक्तता (Thyrotoxicosis), दैत्यकास्थि (Gigantism)

तथा शाखावृहती (Acromegaly) मे प्रयोग नहीं करना चाहिये।

योग :—(१) टेस्टोस्टेरौन (Testosterone, perandren 'Ca') :—यह पदार्थ **पेशी द्वारा** १०–२५ मि० ग्रा० प्र० वा० कर प्रयोग किया जाता है। इसका **जल** मे अघुलनशील योग (Micro-suspension) पेशी (I.M.) द्वारा देने के लिये भी मिलता है। इसकी मि० ग्रा० ७५ की वटिका (Pellets) भी मिलती है। प्रति चार मास पर अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से ४–८ वटिका रख देने से औषधि का दीर्घकाल पर्यन्त प्रभाव रहता है। इसके **मलहम** मे औषधि ½ प्र० श० रहती है। इसको शिश्न (Penis) पर ५ मिनट तक द्वि० प्र० दि० मलना चाहिये।

(२) टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट (Testosterone propionate) :—यह पदार्थ औषधि का तेल मे योग है। इसकी मि० ग्रा० ५, १०, २५ तथा ५० की मात्रा सी. सी. १ मे मिलती है। इसको मि० ग्रा० ५–१०० प्र० दि० पेशी मार्ग (I.M.) से दे सकते है।

(३) मेथिल टेस्टोस्टेरौन (Metyl-testosterone) :—यह पदार्थ **विषाक्त** है। इसकी मुख द्वारा देने की मि० ग्रा० ५, १०, २५ की गोली और जिह्वा के नीचे रखने की मि० ग्रा० ५, १० की गोली तथा ½ प्र० श० की मलहम मिलती है।

नोट :—टेस्टोस्टेरौन (Testosterone) तथा टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट (testosterone propionate) मुख द्वारा कार्य नही करते। इनको इन्जेक्शन से दिया जाता है। मेथिल टेस्टोस्टेरौन (Methyl-testosterone) मुख द्वारा दी जा सकती है।

(४) एथिस्टेरौन (Ethisterone 'Bo', BDH') :–यह पदार्थ एन्ड्रोजेन (Androgen, testosteron) तथा ओयेस्ट्रोजेन (oest rogen) का मिश्रित योग है। इसमे वृषणग्रथि सत्व, प्रोटीन (Ptn) का संचय करता है तथा वीजग्रंथि सत्व, कैलसियम (Cal:) का संचय करता है। रजोनिवृत्ति (Climacteric) के समय इसके प्रयोग से अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। इसको मि०ग्रा०१०–२० प्र०दि०मुख द्वारा दे सकते हैं।

योग:—मेपीलीन (Mepilin 'BDH), मिक्सोजेन (Myxogen 'OL') आदि। इन औषधियो की गो. १ द्वि. प्र. दि. ८–१० दि. प्र. मास दे सकते हैं।

(१३) उत्तेजक (Stimulant) औषधियाँ

(क) पिक्रोटौक्सीन (Picrotoxin):—यह औषधि श्वसन-संस्थान तथा केन्द्रीय वातनाड़ी सस्थान (CNS) को उत्तेजित करती है। इसको बारबिटोन (Btn) की विषाक्तता मे प्रयोग करना चाहिये। मौरफीन (Morpine) की विषाक्तता मे प्रयोग नही करना चाहिये। इसके प्र० सी० सी० मे औषधि की मात्रा मि० ग्रा० ३ रहती है। इसको पेशी (I.M.) या सिरा मार्ग (I.V.) से प्रथम सी. सी. २ (ग्रे० १/१०) देना चाहिये तत्पश्चात् प्र० ¼ घं० आ० अ० दे सकते है।

(ख) अन्य उत्तेजक औषधियाँ :—तेल अथवा इथर मे कपूर ग्रे० २-४, साइक्लीटौन (Cycliton) आदि हृदय को उत्तेजित करतो है। केफीन सोडी सैलिसिलस (Caffeine sodi : sal) हृदय को उत्तेजित करती है, मूत्र की वृद्धि करती है तथा हृत्धमनी का विस्फार (Coronary-dilator) कराती है। इसको पेशी मार्ग (I.M.) से ग्रे० २-१० प्र० बा० देना चाहिये।

(ग) एट्रोपीन (Atropine Sulph) :—यह औषधि अपरस्वतंत्र नाड़ी (Parasympathetic) का अवसाद (Depress) तथा केन्द्रीय-वातनाड़ी सस्थान (CNS) को उत्तेजित करती है।

प्रयोग :—शूल, वमन, अफीम की विषमयता, मिचली, मन्याकोटर (Carotid sinus) जन्यमूर्छा तथा सिरालिन्द सँरूप (S-A-syndrome) मे प्रयोग करना चाहिये। इसके सहन न करने की प्रवृति रहने पर तथा अनन्तवात (Glaucoma) मे प्रयोग नही करना चाहिये। **मात्रा** :— ग्रे० १/२००-१/१०० मुख या अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से दे।

(घ) एड्रीनलीन (Adrénaline) :—यह औषधि स्वतंत्र वातनाड़ी संस्थान को उत्तेजित (Sympathomimectic) करती है। इसको श्वसनिका तमकश्वास (Bronchial asthma), निलय के सकोच न करने (Ventricular standstill) पर, रक्तवाहिनी-वातनाडी शोफ (A-N oedema), स्तब्धता (Shock) तथा परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Peripheral circulatory failure) मे प्रयोग करते है। गम्भीर तथा रचनात्मक (Organic) हृद्रोग, उच्च रक्तनिपीड, मस्तिष्क की रक्तवाहिनियो मे धमनीजरठता (Arteriosclerosis) रहने पर तथा

व्यापक सञ्ज्ञाहर (General anaesthetic) के प्रयोग के समय इसका प्रयोग नही करना चाहिये। **मात्रा:**—इसका जल मे योग १:१००० अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से ½–१ सी. सी. दिया जाता है।

(ङ) **उपवृक्क के शल्क का सत्व** (Adrenal cortical ext:):- उपवृक्क के शल्क के सत्व मे कमी रहने पर इसका प्रयोग किया जाता है। स्तब्धता (Shock) तथा एडीसन के दारुण्य (Addison's crisis) मे इसका विशेष महत्व है। **मात्रा:**—इसकी सी. सी. २५–५० सिरा (IV) मार्ग से आ. अ. देना चाहिये।

(१४) कुछ औषधियाँ तथा उनका विशेष महत्व

(१) **ग्लूकोस** (Glucose, dextrose) ५० प्र. श. १०–५० सी. सी. सिरा (I.V.) द्वारा देने से शरीर से जल का परित्याग होता है। इसलिये इसको बढे हुये अन्तर्मस्तिष्कीय निपीड़ (Increased intracranial-tension) मे प्रयोग करते है।

(२) **कैलसियम** (Calcium) :—यह औषधि केन्द्रीय वातनाड़ी संस्थान (C.N.S.) के कार्य मे कमी (Depress) करती है तथा शरीर मे कैलसियम की कमी को पूरा करती है। इस औषधि को कैलसियम की कमी जन्य अपतानिका (Tetany), अत्यन्त तीव्र खुजली, विषमयता तथा मकड़े (Spider) के काटने पर प्रयोग करना चाहिये। सिरा मार्ग (I.V.) से मैगसल्फ (Mag:sulph) देने से प्रतिक्रिया होने पर इसको देना चाहिये। अत्यधिक श्वसन, रक्त मे क्षार (Alkali) की वृद्धि होने पर, वृक्करोग तथा उपावटुका ग्रन्थि (Parathyroid) के स्राव मे कमी होने पर शरीर मे कैलसियम की कमी होती है। कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal:gluconate) १० प्र० श० ५–१० सी० सी० पेशी या सिरा द्वारा देना चाहिये।

(३) **बीएएल** (Bal) :—यह १० प्र० श० तेल मे योग है। संखिया (As), पारद (Hg), सुवर्ण, विस्मथ (Bis), एन्टीमनी (Sb), निकल (Nickel), क्रोमियम (Chromium) आदि की **विषमयता** मे यह प्रयोग की जाती है। **विधि :—प्रथम दो दिन :**—पेशी (I.M.) मार्ग से ६ बार, **तीसरे** दिन ४ बार, **चौथे से दसवें** दिन तक द्वि. प्र. दि. दे। **मात्रा :**—मि. ग्रा. ३ प्र. से. भा के अनुसार।

(१५) संखिया (As) के योग

यह औषधि प्रभावशाली है परन्तु फिरंग (Syphilis) मे इसको अकेले ही प्रयोग करने का परिणाम उत्तम नही है। इसके साथ-साथ बिस्मथ (Bis) भी प्रयोग करना पडता है। संखिया के प्रयोग के ३ घण्टे पूर्व तथा २ घण्टे पश्चात् तक भोजन नही करना चाहिये। खाली पेट प्रातःकाल इन्जेक्शन लगाना अच्छा है। इन्जेक्शन लगाने के एक घंटे पूर्व रोगी को एक गिलास जल मे ग्लूकोस अथवा चीनी औं १ मिला कर पिला देना चाहिये। सिरामार्ग (I. V.) से दी जाने वाली औषधियों की प्रत्येक मात्रा शीतल, पाइरोजेन हीन (Pyrogen free) परिस्रुत जल (Aq. distillata) १० सी० सी० मे इन्जेक्शनके तत्काल पूर्व घोलना चाहिये। प्रत्येक रोगी की मात्रा पृथक-पृथक बनाना चाहिये। औषधि का एम्प्यूल टूटा नही होना चाहिये। औषधि जल मे मिलाकर गरम नहीं करना चाहिये तथा आध घटे के अन्दर प्रयोग करना चाहिये। माफरसाइड (Mapharside P. D.) के अतिरिक्त अन्य औषधियाँ सिरा मे शनैः शनैः प्रवेश कराना चाहिये। इन्जेक्शन के समय तथा आध घटे पश्चात् तक रोगी को लेट कर रहना चाहिये। रोगी को लिटा कर इन्जेक्शन लगाना चाहिये। एड्रीनलीन (Adrenalin) का १ सी० सी० का एम्प्यूल तैयार रहना चाहिये जिससे आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग किया जा सके। चिकित्सा क्रम में रोगी को कब्ज नही होना चाहिये और जीवतिक्ति सी (Vit : C), कैलसियम (यो. ५७) आदि का प्रयोग करते रहना चाहिये जिससे यकृत मे विकृति न हो।

त्वक्शोथ (Dermatitis), यकृत, वृक्क, हृदय आदि की विकृति, दक्षिण हृदयातिपात (Rt : Ht : failure), महाधमनीशोथ (Aortitis), हीन रक्तनिपीड (Low B. P.), दौर्बल्य, यक्ष्मा (T. B.), नेत्र, कर्ण आदि के रोग, चिकित्सा प्रारम्भ करने मे विलंब (Late syphilis) होने पर तथा सखिया न सह सकने का इतिहास रहने पर संखिया का प्रयोग नही करना चाहिये। सिरामार्ग (I. V.) से औषधि प्रवेश करते समय कभी कभी औषधि **सिरा के बाहर निकल जा**ती है। ऐसी अवस्था मे इंजेक्शन के स्थान पर अत्यन्त पीडा तथा सूजन हो जाती है। पीड़ा के लिये रोगी

को सिबाल्जिन (Cebalgin) या सैरिडौन की गो० १ आ० अ० देना चाहिये और जिस स्थान पर इन्जेक्शन लगाया गया है वहाँ पर प्रोकेन हाइडोक्लोर (Procaine hyd) १ प्र० श० समबल लवण घोल (N. saline) ५–१० सी० सी० मे बनाकर इन्जेक्शन लगाना चाहिये। प्रोकेन सिरा (Vein) मे प्रवेश न करे इसका ध्यान रखना आवश्यक है। साथ-साथ विकृत स्थान को प्रति ४ घण्टे बरफ से ठण्डा रखना चाहिये। कभी-कभी औषधि के कारण **सिरा में घनास्रता तथा शोथ** (Thrombophlebitis) हो जाता है। यह विकृति विशेषकर माफरसाइड (Mapharside) के इंजेक्शन को मन्द गति से लगाने से होती है। इसलिये माफरसाइड का इन्जेक्शन शीघ्रता से लगाना चाहिये तथा इन्जेक्शन के पश्चात् सिरा को खाली करने के लिये बाहु ऊँचा कर रखना चाहिये और बाहु को नीचे से ऊपर की दिशा मे मालिश करना चाहिये। ३० सेकण्ड के अन्दर इंजेक्शन समाप्त हो जाना चाहिये। सिरा में घनास्रता तथा शोथ होनेपर विकृत बाहु मे तीव्र पीडा होने लगती है। पीड़ा के लिये सिबाल्जिन (Cebalgin) की १ गो० आ० अ० दे। घनास्रता की वृद्धि रोकने के लिये रक्तस्कन्दन-निरोधी औषधियाँ (Anticoagulants) प्रयोग करना चाहिये। विकृत बाहु को विश्राम देने के लिये कुशा (Splints) मे बाँध कर रखना चाहिये तथा गरम जल से सेंकना चाहिये। **माफरसेन** (Mapharsen) तथा **क्लोरारसेन** (Clorarsen) के इन्जेक्शन की गति भी तीव्र होनी चाहिये।

सखिया (As:) के योग फिरंग, उष्णकटिबंधज उपसिप्रियता (Tropical eosinophilia) तथा आवर्तक ज्वर (Relapsing fever) मे भी प्रयोग किये जाते हैं।

माफरसाइड (Mapharside) मे सखिया की मात्रा कम होती है। औपधि सिरा के बाहर निकल जाने से पीडा कम होती है। इसमे प्रतिक्रिया (Reaction) की सम्भावना अल्प रहती है तथा यकृत, त्वचा, वृक्क आदि में विकृति प्रायः नही होती।

संखिया की विपाक्तता की आयुर्वेदिक चिकित्सा

सर्वप्रथम आमाशयस्थ विष को बाहर निकालने के लिये मैनफल क्वाथ अथवा रीठे का घोल २॥ तोला की मात्रा मे देना चाहिये अथवा आमाशय का नलिका से प्रक्षालन करे। फिर एरण्ड तैल पिला देने से आन्त्रस्थ विष मल

के साथ बाहर निकल जाता है। वमन-विरेचनोपरात निम्न प्रयोग करें—

(१) नीम के पत्र स्वरस मे गरम गोघृत मिलाकर पिलाना।

(२) त्रिफला क्वाथ मे गरम गोघृत मिलाकर पिलाना।

(३) पिपरमेन्ट का अर्क १० बूँद गर्म जल के साथ आध-आधघण्टे पर दें।

(४) लौह या मण्डूर भस्म, यवक्षार या अपामार्ग क्षार के साथ मिलाकर जल से दें।

(५) कपास के बीज की मीगी भी हितकारी है।

इसके अतिरिक्त गरम पानी की बोतलों आदि के द्वारा रोगी के तापक्रम की रक्षा करे। हृद्य व पीड़ानाशक औपधियाँ दे। क्षारागद या मृतसंजीवन अगद का व्यवहार करे। इसके अलावा लाक्षणिक चिकित्सा करे तथा गर्म दुग्धपान करावे।

(१६) रक्त-स्कन्दननिरोधी (Anticoagulants) औषधियाँ

अन्तःशल्यता (Embolism) तथा घनास्रता (Thrombosis) में ये औषधियाँ प्रयोग की जाती हैं। इन रोगोंमे इन औषधियो को कम से कम एक मास प्रयोग करना चाहिये। वृद्धावस्था मे इनकी विशेष आवश्यकता पड़ती है। रक्तस्राव (Bleeding) की प्रकृति या प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) रहने पर तथा यकृत या वृक्क के रोगो मे इनका प्रयोग नही करना चाहिये।

(क) **हेपरीन** (Heparin) :—यह इजेक्शन द्वारा अनेक बार दी जाती है। इसका प्रयोग करने के पूर्व रक्त-स्कन्दन का समय (Coagulation time) देख लेना चाहिये। यह दो प्रकार की होती है। (१) **साधारण हेपरीन** मि० ग्रा० ५–५० (१० सी० सी०=१०० मि० ग्रा०) सिरामार्ग (I. V.) से चा० प्र० दि० देना चाहिये। (२) **डीपो** (Depot heparin 'U. J.') **हेपरीन** या **विलम्बी** (Retard) **हेपरीन** (Heparin repository 'Le') का प्रभाव दो दिन रहता है। इसकी सी० सी० १–२ (मि० ग्रा० २००–४००) अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। हेपरीन द्वारा चिकित्सा की अवधि पर्यन्त रक्त-स्कन्दन-काल (Coagulation time) २० मिनट के समीप रहना चाहिये। रक्त-स्रवणकाल (Bleeding time) भी देखते रहना चाहिये। यह औषधि

पूर्वघनास्नि (Prothrombin) से घनास्नि (Thrombin) का बनना तथा रक्त चक्रिकाओ (Platelets) से घनास्रसंधानि (Thromboplastin) का निर्माण रोकती है। साथ-साथ लसिका शुक्लि (Serum alb) से घनास्नि निरोधी द्रव्य (Anti-thrombin) बनाती है।

हेपरीन की **विषाक्तता** होने पर प्रोटामीन सल्फ (Protamine sulph) मि. ग्रा. ५० (सी. सी. ५) सिरा (I. V.) मार्ग से देना चाहिये। आ. अ. इसको चार घंटे के अन्तर पर दो बार पुनः दे सकते हैं।

(ख) डेक्यूमेरोल (Dicumarol, temperin HP, cumopyran) :—यह औषधि विषाक्त है। इसको मुख से **प्रथम दिन** ५० मि. ग्रा. की १–२ गो. त्रि. प्र. दि, दूसरे दिन गो. १ द्वि. त्रि. या चा. प्र. दि. **तत्पश्चात** पूर्व घनास्नि (Prothrombin time) की मात्रा के अनुसार गो. १, एक, द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। इसका प्रभाव शनैः शनैः होता है। यह हेपरीन (Heparin) के साथ दी जा सकती है। साथ-साथ देने से हेपरीन का प्रभाव शीघ्रता से प्रारम्भ होता है तथा कुछ समय पश्चात् डेक्यूमेरोल का प्रभाव प्रारम्भ होता है। मुख द्वारा औषधि देने में आसानी होती है और प्रभाव भी स्थायी होता है। डेक्यूमेरोल के प्रयोग के समय तथा प्रयोग प्रारम्भ करने के पूर्व पूर्वघनास्निकाल (Prothrombin time) के लिये परीक्षा करते रहना चाहिये। प्राकृत अवस्था मे इसका समय १६ सेकण्ड होता है। डेक्यूमेरौल के प्रयोग से इसकी मात्रा मे कमी हो जाती है। पूर्वघनास्नि (Prothrombin) की मात्रा प्राकृत मात्रा की १०–३० प्र० श० या पूर्वघनास्निकाल (Prothrombin-time) २५–४० सेकण्ड पर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। इस मात्रा पर पहुँच जाने पर हेपरिन बन्द कर केवल डेक्यूमेरोल देना चाहिये। उपर्युक्त परीक्षाये प्र. दि. करना आवश्यक है अन्यथा रक्तस्राव (Bleeding) होने की संभावना रहती है इसकी **विषाक्तता** के कारण शरीर के भिन्न भागो, मल, मूत्र, नाक, फुफ्फुस तथा त्वचा आदि पर रक्तस्राव होता है। जिन अवस्थाओं मे हेपरीन वर्जित है उनमे इसका प्रयोग नही करना चाहिये। पूर्वघनास्निकाल (Prothrombin time) की अत्यधिक वृद्धि होने पर जीवतिक्ति 'के' (Vit : K) मि. ग्रा. ५०–२०० सिरा मार्ग (I.V.) से देना चाहिये। गम्भीर अवस्था में आ. अ. रक्तप्रदान (Blood

trans:) कर सकते हैं। मेनाडियोन (Menadione, Vit:K) मि. ग्रा. १०–६५ सिरा मार्ग से ४–६ बार प्र. दि. दे सकते है।

(ग) ट्रोमेक्सान (Tromexan-Gy:):—यह डेक्यूमेरौल से कम विषाक्त तथा कम प्रभावशाली है परन्तु इसका प्रभाव शीघ्रता से प्रारंभ होता है और शीघ्रता से समाप्त होता है। इसको डिक्यूमेरौल (Dicumarol) के स्थान पर प्रयोग कर सकते है। इसकी प्रत्येक गोली ३०० मि. ग्रा. की होती है। इसको पूर्वघनाखिकाल (Prothrombin time) के अनुसार २–४ गो. प्र. दि. दे सकते हैं। जिन अवस्थाओ मे हेपरिन का प्रयोग वर्जित है उनमे इसको भी नही प्रयोग करना चाहिये।

चतुर्थ अध्याय

लक्षणों की चिकित्सा

(१) भ्रम, चक्कर (Vertigo)

परिचय :—जब रोगी को सब वस्तुयें उसके चारो ओर घूमती प्रतीत होती हैं या वह स्वयं अपने को अन्य वस्तुओं के चारो ओर घूमता हुआ अनुभव करता है तब उसको **भ्रम** (Vertigo) होना कहते हैं। यह विकृति कान्तारक (Labyrinth), श्रवण वातनाड़ी (Viii N.) तथा धम्मिल्लक (Cerebellum) के रोग, स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) आदि औषधियों, विषके प्रयोग तथा मेनियर के सरूप (Meniere's syndrome) मे मिलती है। जब मनुष्य अपने चारो ओर की वस्तुओं से अपने शरीर का सम्बन्ध स्थिर नहीं रख सकता तब उसको चक्कर (Dizziness) आना कहते हैं। इस अवस्था मे ममुष्य खड़ा होने पर गिर जाता है। बैठाने से उसकी गर्दन एक ओर झुक जाती है। रोगी की परीक्षा करने पर किसी विशेष विकृति का प्रमाण नहीं मिलता। यह अवस्था उपसर्ग (Ifn:), उच्चरक्त निपीड़ (B. P.), विषपान, विषमयता, मस्तिष्क की रक्तवाहिनियो (B. V.) मे विकृति होने के कारण मस्तिष्क मे पर्याप्त मात्रा मे रक्त न पहुँचने के कारण अथवा बिना किसी कारण के हो सकती है। **तीव्र कान्तारक शोथ** (Acute labyrinthitis) मे बिना किसी जीवाणु के कारण कान के अन्दर (Internal ear) के भाग मे शोथ होता है। यह विकृति प्रायः श्वसन संस्थान के उपसर्ग के पश्चात् मिलती है। इस अवस्था मे रोगी को अत्यन्त तीव्र चक्कर आते है। साथ-साथ नेत्रगोलक कॉपते हैं (Nystagmus), कान मे शब्द सुनाई देते हैं (Tinnitus) तथा रोगी की गति अस्थिर (Staggering) हो जाती हैं। **मेनियर के संरूप** (Meniere's syndrome) मे अकस्मात चक्कर के साथ-साथ रोगी बहरा होता जाता है। इस अवस्था का कारण अज्ञात है। श्रवण वातनाड़ी (Viii N.) मे विकृति हो जाती है। चक्कर के उद्वेग के समय जी मिचलाना, वमन, कान मे शब्द सुनाई देना, तथा नेत्रगोलक का कॉपना (Nystagmus) आदि लक्षण होते है।

चिकित्सा :—धूम्रपान तथा मद्यपान निषिद्ध हैं। उपसर्ग की उपयुक्त चिकित्सा आवश्यक है। श्रुति-सुरङ्गिका (Eustachian tube) में वायु प्रवेश करने से लाभ हो सकता है। ल्यूमिनल (Luminal) ग्रे. ½ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। फिरङ्ग (Syphilis) तथा आन्त्रकृमि (Intestinal worms) की सम्भावना पर ध्यान रखना चाहिये। कब्ज का निवारण आवश्यक है। यथासम्भव चक्कर आने का कारण पता लगाना चाहिये तथा कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को आश्वासन देने से, उसके स्वास्थ्य की वृद्धि करने से तथा मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा से लाभ होता है। **तीव्रकान्तारक शोथ** में रोगी को शान्त तथा अन्धेरे कमरे मे विश्राम करना चाहिये। इस रोग मे लक्षणों की चिकित्सा की जाती है। रोग जीवाणु जन्य न होने के कारण तृणाणुनाशक औषधियों (Antibiotics) से लाभ नही होता। **शामक** (Sedative) तथा **अनूर्जता निरोधी** (Antihistamine) औषधियाँ प्रयोग करना चाहिये। बेनाड्रिल (Benadryl P. D.) में ये दोनो गुण है। इसकी कै. १ द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते है। इन औषधियो के साथ फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ¾–१ त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये। **मेनियर के संरूप** मे रोगी को आश्वासन देना चाहिये। भोजन मे लवण बन्द कर देना चाहिये। अनूर्जता निरोधी तथा रक्तवाहिनी विस्फारक (Vasodilators) औषधियो से लाभ होता है। इस उद्देश्य से एनटिस्टीन (Antistin), बेनाड्रिल (Benadryl) आदि की गो. १ त्रि. या चा.प्र.दि. देना चाहिये। निकोटिनिक एसिड (Vit: B_7) मि. ग्रा. १०० मुख से प्र. चा. घं. अथवा मि. ग्रा. ५०–१०० सिरामार्ग (I. V.) से द्वि. या त्रि. प्र. दि. दिया जाता है। अमोनियमक्लोराइड (Ammon chlor) ग्रे. १५–२० मुख द्वारा द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये।

(२) निद्रानाश (Insomnia)

परिचय :—इस अवस्था मे निद्रा नही आती। निद्रा न आने के अनेक कारण है जिनमे चिंता, थकावट, पीड़ा, विषमयता, खुजली, खाँसी, पचन क्रिया की गड़बड़ी, भय, आदि प्रधान है। इन कारणों का निवारण आवश्यक है। ज्वर मे कई दिन नीद न आने पर प्रलाप (Delirium) तथा चेतनानाश हो सकता है। इसके अतिरिक्त रोगी की

प्रकृति का अध्ययन करना आवश्यक है। कुछ लोगों को विना किसी के साथ सोये नींद नहीं आती। इन लोगों के लिये मनुष्य के आकार तथा परिमाण की रबर की मूर्ती मिलती है। इस मूर्ती को शैय्या पर साथ रखने से नींद आती है। अन्य लोग किसी के साथ नहीं सो सकते। इनको शैय्या पर अकेले सोनेका प्रबन्ध करना चाहिये। कुछ लोगो को जीवन के भय से खुले स्थान तथा अन्धकार मे नींद नहीं आती। इनको प्रकाशयुक्त बन्द कमरे मे खिड़की से दूर सोना चाहिये। कुछ लोगो को औषधि प्रयोग करने का अभ्यास हो जाता है। इन लोगों को केवल सोडीबाइकार्ब (Sodi:bicarb) ग्रे. ५–१० निद्रा के पूर्व ए. प्र. दि. रात्रि मे देने से नींद आती है। रोगी को औषधि की प्रकृति का ज्ञान नहीं होना चाहिये। निद्रा के समय के दो घटे के अन्दर भोजन नहीं करना चाहिये। इस अवधि मे एक गिलास गरम दूध या हौरलिक्स (Horlicks) लेने से लाभ होता है। ४० वर्ष से अधिक आयु वाले रोगी मे निद्रा के पूर्व मद्य औं. १ लेने से नींद आती है। रात्रि का भोजन विशेष रूप से सरलता से पचने वाला होना चाहिये तथा वायु उत्पन्न करने वाला नहीं होना चाहिये। शैय्या आराम देह तथा रोगी की प्रकृति के अनुसार शीतल अथवा गरम होनी चाहिये। कुछ लोग गरम शैय्या पर सोना पसंद करते हैं। इनका बिछौना दिन में धूप मे सुखाना चाहिये। अन्य लोगों को शीतल शैय्या पर नींद आती है। इन लोगो को बिछौने के ऊपर शीतलपाटी बिछा कर सोना चाहिये तथा इनके शैय्या पर जाने के पूर्व अन्य किसी मनुष्य को उस शैय्या पर नही सोना चाहिये। सोने के पूर्व गरम पानी से नहाने, मालिश कराने आदि से नींद आती है।

मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy:), रोग के कारणो का निवारण, नियत समय पर विश्राम, शारीरिक, मानसिक परिश्रम तथा चिन्ता मे कमी, विश्राम के पूर्व ऋतु के अनुसार स्नान, मालिश, निद्रा के दो घंटे पूर्व आहार, मध्याह्न के भोजन के पश्चात विश्राम, वातारण में परिवर्तन आदि से निद्रा आने की सम्भावना रहती है। मध्याह्न के पश्चात् उत्तेजक औषधियों अथवा आहार का प्रयोग नहीं करना चाहिये जैसे, चाय, कौफी, तमाखू सेवन, केफीन (Caffeine), एमफेटामीन (Amphetamine), इफेड्रिन (Ephedrine) आदि। शैय्या पर लेटकर पेशियों को शिथिल करने का अभ्यास करना चाहिये। निर्धारित अवधि के पश्चात् व्यवसाय के विषय मे चिंता नही करनी चाहिये।

परिश्रम के पश्चात् मनोरंजन भी आवश्यक है। निद्रा के समय के पूर्व भयंकर कहानियाँ पढ़ना या चित्रपट देखना ठीक नहीं है। आत्मा को शान्ति देने वाला विषय पढ़ना या चित्रपट देखना लाभदायक हो सकता है। निद्रा के पूर्व शान्त वातावरण आवश्यक है। ज्वर की अवस्था मे रोगी का शरीर शीतल जल से पोछने से तथा रोगी को शुद्ध वायु मे रखने से नींद आती है।

औषधि :—यथासंभव औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। अफीम के योग पीड़ा के लिये सर्वोत्तम हैं परन्तु दो वर्ष की आयु से कम में इनका कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिये। इनसे अभ्यास पड़ने की सभावना रहती है। इस रोग मे प्रायः शामक (Sedetive) औपधियों का प्रयोग किया जाता है। युवावस्था में परालडिहाइड (Paraldehyde) तथा बाल्यावस्था मे क्लोरल हाइड्रस सर्वोत्तम है। परालडीहाइड, मुख (यो. २३), गुदा (यो. ११७), पेशी (I. M.) तथा सिरा (I. V.) द्वारा दे सकते है। बाल्यावस्था मे शामक औपधियाँ अन्य औपधियों की अपेक्षा कम मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। इनकी मात्रा निर्धारित करने की निम्न विधि है :—

$$\textbf{बालक की मात्रा} = \frac{\text{युवावस्था की मात्रा} \times \text{बालक की आयु}}{२०}$$

अफीम के योग इस मात्रा से भी कम देना चाहिये। युवा मे आ. अ. शामक (Hypnotics) औपधियों का प्रयोग करना चाहिये। सोनेरिल (Son-eryl) ग्रे. ३, मेडिनल (Medinal) ग्रे. २, डाइडायल (Didial) या डायल (Dial) ग्रे. १½ आदि की एक गोली निद्रा के समय के पूर्व लेना चाहिये। पीड़ा के कारण निद्रानाश मे पेथिडिन (Pethidine) ५०–१०० मि. ग्रा. या फाइसेप्टोन (Physeptone) ५–१० मि. ग्रा. मुख द्वारा या इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग कर सकते है। बालकों के लिये क्लोरलहाइ-ड्रस (Chloral hydras) सर्वोत्तम है। इसका आयु के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। युवावस्था की मात्रा ग्रे. १५ प्र. बा. है।

श्वसन संस्थान के रोगों में निद्रानाश तथा बेचैनी की चिकित्सा:—

श्वसन सस्थान के रोगो मे **अफीम** का प्रयोग नहीं करना चाहिये। श्वस-निका शोथ (Bronchitis) आदि मे यदि वक्ष पर तीव्र पीड़ा होने के कारण निद्रा न आती हो तब अन्य औषधियोंसे लाभ न होने पर अत्यल्प मात्रा

तथा जलाल्पता (Deydration) दूर करने से लाभ होता है। प्रत्येक मार्ग से जल प्रयोग करना चाहिये। शिर पर बरफ रखने तथा रोगी का शरीर जल से धोने से लाभ होता है। आ० आ० रोगी को दस्त कराना चाहिये। मद्यपान करनेवालों में प्रायः प्रलाप उग्र होता है। उनमें अपने को चोट पहुँचाने की प्रवृति रहती है। इसलिये रोगी पर नियन्त्रण रखना चाहिये तथा उसकी शैय्या के चारो ओर लोहे के छड लगे रहने चाहिये जिससे वह गिर न सके। शैय्या नीची रहना अच्छा है। मकान के सब से नीचे वाले भाग में रोगी को रखना अच्छा है। ऊँचे पर रहने से रोगी के कूदने की संभावना रहती है। शैय्या की अपेक्षा रोगी को पृथ्वी पर बिछौना बिछा कर रखना अधिक सुविधाजनक है। इन रोगियों मे आत्महत्या या अन्य लोगों की हत्या करने की प्रवृत्ति रहती है। कमरे मे सर्वदा शान्ति तथा प्रकाश का रहना आवश्यक है। अनावश्यक वस्तुएँ कमरे से हटा देना चाहिये। खिडकियों मे लोहे के छड लगे रहने चाहिये। रोगी की हर समय सुश्रुषा आवश्यक है। कमरे मे अजनबी की अपेक्षा जान पहचान वाले लोगों का रहना ही ठीक है। अजनबी को देखकर रोगी के लक्षण उग्र हो जाते है। रोगी को आश्वासन देना चाहिये। उसकी स्थिति उसको समझाने का प्रयत्न करना चाहिये। रोगी से उसकी स्थिति छिपाना लाभप्रद नही है। हथकड़ी बेड़ी द्वारा रोगी का नियन्त्रण ठीक नहीं है। इसके लिये शामक (Sedative) औषधियाँ देना चाहिये परन्तु श्वसन-संस्थानके रोगो मे विशेष सावधानी आवश्यक है। ज्वर की अवस्था मे पर्याप्त मात्रामे जल देना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy) लाभप्रद है। रोगी को त्रि. या चा. प्र. दि. गरम पानी के टब मे बैठाना चाहिये अथवा कमजोर रहने पर उसका शरीर पोछना चाहिये। दुर्बल रोगो मे, हृदय मे दुर्बलता रहने पर ठंडे जल का प्रयोग करना ठीक नही है। रोगी को भय नही दिखाना चाहिये।

(२) **औषधियाँ**–रोगी को नियंत्रित करने के लिये **शामक** (Sedative) औषधियाँ प्रयोग की जाती हैं। इन औषधियों मे युवावस्था मे परालडीहाइड (Paraldehyde) तथा बाल्यावस्था के लिये क्लोरलहाइड्रस सर्वोत्तम है। बालक की जितनी आयु हो उतना ग्रेन क्लोरलहाइड्रस (Chloral hydras) प्र. मा. देना चाहिये। परालडिहाइड को प्रत्येक मार्ग से प्रयोग कर सकते है। इसका इन्जेक्शन लगाते समय इसको जीवाणुरहित (Sterilize)

करने की आवश्यकता नहीं पडती। इसको प्रत्येक मार्ग से प्रयोग कर सकते है। प्रलाप मे इनसे लाभ न होने पर स्कोपोलामीन (Scopolamine hydrobrom) ग्रे. $\frac{१}{१००}$ त्रि.प्र.दि. देना चाहिये। प्रलाप के साथ पीड़ा रहने पर या प्रलाप अत्यंत उग्र रहने पर स्कोपोलामीन के साथ मौरफीन (Morphine) ग्रे. $\frac{१}{६}$–$\frac{१}{४}$ मिलाकर अधस्त्व (S. C.) मार्ग से दे सकते है। साधारणतः प्रलाप मे अफीम के योग, वारविटोन (Bn:) के योग या ब्रोमाइड (Bromide) के योग प्रयोग नही करना चाहिये। इनसे प्रलाप मे वृद्धि होती है। **उन्माद** (Mania) में इनका प्रयोग किया जा सकता है। उन्माद मे अथवा उन्माद के समान प्रवल प्रलाप रहने पर हायोसीन हाइड्रोब्रोम (Hyoscine hydrobrom) ग्रे. १/२०० अधस्त्व (S. C.) मार्ग से आ. अ. दे सकते हैं। इसके साथ मौरफीन (Morphine) ग्रे. $\frac{१}{६}$–$\frac{१}{४}$ मिलाकर इन्जेक्शन लगा सकते है। मौरफीन से स्थान पर कोडीन (Codeine), डायलौडिड (Dialaudid), ओमनोपौन (Omnopon), यूकोडोल (Eukodol), पेथिडीन (Pethidine) आदि दे सकते है। वारविटोन (Bn) के योगो मे सौडि एमिटल (Sodı:amytal) या पेन्टोथल (Pentothal) आदि सिरा मार्ग (I. V.) से दे सकते हैं। इन औषधियों को सिरा मार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः देना चाहिये और जब औषधि का प्रभाव होता प्रतीत हो तब इन्जेक्शन वन्द कर देना चाहिये, क्योंकि औपधि की जितनी कम मात्रा पडे उतना अच्छा है।

(३) प्रलाप की विशेष परिस्थिति की चिकित्सा :—प्रलाप के साथ **उच्चरक्त निपीड़** (B. P.) रहने पर सरपीना (Serpina) गो. १ द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। जो रोगी **सर्वदा मद्यपान करता** है उसे यदि चोट लगती है या उस पर शल्यकर्म (Op) किया जाता है तब उसको एक विशेप प्रकार का प्रलाप होता है। इसको **मद्यज प्रलाप** (Delirium tremens) कहते हैं। इस अवस्था मे ग्लूकोस (Glucose) ५ प्र. श. समवल लवण घोल (N. saline) मे मिलाकर पा. २–४ प्र. दि. देना चाहिये। ग्लूकोस मे जीवतिक्ति 'वी' सम्पूर्ण (Vıt:B:complex, solu: B.'R.B.') की १–२ एमप्यूल या निकोटिनिक एसिड (Vıt B_7) तथा जीवतिक्ति 'वी,' (Vit:B_1) प्रत्येक की मि. ग्रा. १०० की मात्रा मिलाकर देना चाहिये।

श्वसन संस्थान के रोगों में अहिफेन (Opium) तथा उसके योग प्रयोग नहीं करना चाहिये। रोगी को पर्याप्त मात्रा में जल देना चाहिये तथा उसका शरीर जल से पोछना चाहिये। **परालडिहाइड** (Paraldehyde) सर्वोत्तम है। इसको २–४ सी. सी. पेशी मार्ग (I. M.) से तत्काल देकर आ. अ. ½ घंटे पश्चात् पुनः प्रयोग कर सकते है। तदुपरान्त जब तक प्रलाप शान्त न हो जाय और रोगी को निद्रा न आ जाये तथा बेचनी कम न हो जाय तब तक इसको पेशी मार्ग (I. M.) से प्रति ४ घंटे २–४ सी. सी. की मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। इसको कैपस्यूल में रखकर मुख से भी प्रयोग कर सकते हैं। मुख से इसकी मात्रा १–४ ड्रा. प्र. ४ घंटे होनी चाहिये। औषधि की प्रथम मात्रा २ ड्रा. होनी चाहिये। **फेनोबारबिटोन** (Phn:) ग्रे. ¼–½ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं अथवा निद्रा के समय के पूर्व इस औषधि का सोडियम (Na) के साथ बना लवण ग्रे. १½ देना चाहिये। श्वसन संस्थान के रोगों में बारबिटोन का यथासंभव प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(४) उन्माद की आयुर्वेदिक चिकित्सा

इस रोग में मस्तिष्क दौर्बल्य के कारण संज्ञावह व चेष्टावह नाड़ी दूषित हो जाती है अतः मेधाबलवर्धक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। प्रथम दोषानुसार शोधन आवश्यक है। वायु अनुलोमनार्थ स्निग्ध रेचन जैसे एरण्ड तैल श्रेष्ठ है, दुर्बलोंमें बिन्दुघृत। आवश्यकतानुसार शिरोविरेचन भी करावे। शरीर शुद्धि के बाद संसर्जन क्रम से (क्रमशः पेया विलेपी आदि) आहार दे। दूध, घी, मक्खन, गेहूँ, पुराना चावल, मूँग व हरेशाक पथ्य है। मद्य, विरुद्धाहार, गरिष्ट द्रव्य, व्यायाम, वेग धारण अपथ्य है।

इसके अतिरिक्त मानस उपचार भी करे अतः आवश्यकतानुकूल तीक्ष्ण-नस्य, अञ्जन, बन्धन, ताड़न, तर्जन, सान्त्वन या हर्षण भी करे। धारास्नान अभ्यंग, लेप आदि बाह्य उपचार भी करे। बाह्य प्रयोगार्थ शतधौत गोघृत, हिमाँशुतैल, हिमसागर तैल उत्तम है। अन्य लक्षण प्रसेक, पीनस आदि होनपर उसकी चिकित्सा भी करे। अनिद्रा के लिए सर्पगंधा चूर्ण एव वटी का प्रयोग करे अथवा वनकुंदरू के पत्र कल्क सिर पर रक्खे। शखपुष्पी, ब्राह्मी, वचा आदि अत्यन्त मेध्य द्रव्य है। वातहर बृहण द्रव्य, मुक्ता व स्वर्ण के योग देना

चाहिए। गुग्गुलु के योग न दे। बलि, होम, पूजन, मंत्र, औपधि आदि से आगंतुक उन्माद को दूर करे।

औपधियाँ—महाचेतसघृत, महाकल्याणघृत, महापैशाचिकघृत, लशुनाद्य घृत, हिंग्वाद्यघृत, कूष्माण्डावलेह, चन्द्रावलेह, सारस्वत चूर्ण, सर्पगन्धा योग, सारस्वतारिष्ट, अश्वगधारिष्ट, चतुर्भुज रस, उन्माद गजाकुश, चैतन्योदय रस, स्मृति सागर रस, लक्ष्मीविलास रस, योगेन्द्र रस, नवग्रह रस, पञ्चामृत सत्व, विश्वेश्वर रस और बृ० पूर्णचन्द्र रस।

निद्राकर योग—जटामासी चूर्ण ३ मा०, पिप्पली चूर्ण १ मा०, गुड ६ मा०, रात में सोते समय दूध से दे।

निम्न प्रयोग भी अच्छा :—

मण्डूकपर्ण्या स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टी मधुकस्य चूर्णम्।
मूलं गवाक्षः स च मूल पुष्प्या कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्यः॥

(४) **शीर्षान्तरीय निपीड़ की वृद्धि** (Intracranial tension) इसकी वृद्धि के कारण मस्तिष्क शोफ (Gerebral oedema) होता है। आक्षेप (Convulsions), सिर मे तीव्र पीडा आदि लक्षण होने पर मैंगसल्फ (Mag:sulph) १० प्र. श. ५–२५ सी. सी. सिरा मार्ग (I.V.) से शनैः शनैः अथवा २५ प्र. श. २–१० सी. सी. पेशी मार्ग (I.M.) से दे सकते हैं। इस औपधि का २५ प्र० श० घोल (S.S.) गुदा मार्ग से ३–८ औ० प्र० बा० दे सकते है। औपधि को गुदा मार्ग मे यथा संभव रोक कर रखना चाहिये। इस औपधि को सिरा मार्ग से प्रयोग करते समय श्वसन का निपात (Failure), नशा (Narcosis) आदि लक्षण हो सकते है। इसलिये इसके सिरा मार्ग से प्रयोग करते समय प्रतिक्रिया होने पर तत्काल कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal: gluconate) १० प्र० श० १० सी० सी० सिरा मार्ग से देना चाहिये। ग्लूकोस ५० प्र० श० २०० सी० सी० या लवण घोल (Saline) २५ प्र० श० २५–५० सी० सी० सिरा मार्ग से देने से भी शीर्पान्तरीय निपीड़ मे कमी तथा मस्तिष्कशोफ (Cerebral oedema) में लाभ होता है। **सिरावेध** (V.S.) द्वारा रक्त १०–२० औ० तथा **कटिवेध (L.P.)** द्वारा ब्रह्मवारि (C:S. fluid) सी० सी० १०–४० तक निकाल सकते हैं। धनुर्वात (Tetanus) मे कटिवेध द्वारा ब्रह्मवारि निकालने के

पश्चात् कटिवेध किये जाने वाले मार्ग से मैगसल्फ २५ प्र० श० ४ सी० सी० अन्दर प्रवेश कर सकते है। **शामक** (Sedative) औपधियो का आ० अ० प्रयोग कर सकते है। फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे० $\frac{1}{4}$–१ मुख से त्रि० प्र० दि० या परालडिहाइड (Paraldehyde) सी० सी० २–८ पेशी मार्ग (I.M.) से आ० अ० देना चाहिये।

(५) आक्षेप (Convulsions)

परिचय :—इस अवस्था मे शाखाये आकुचित (Flex) तथा प्रसारित (Extend) होती रहती है। यह विकृति धनुर्वात (Tetanus), अपतानिका (Tetany), मूत्रविपमयता (Uraemia) आदि मे मिलती है।

चिकित्सा :—इस रोग मे **शामक** (Sedative) तथा **उद्वेष्टन-निरोधी** (Antispasmodic) औपधियॉ प्रयोग की जाती है जैसे :—

एवर्टीन (Avertin), परालडिहाइड (Paraldehyde), मैगसल्फ (Mag: sulph), सोडियम ऐमिटल (Sodi: amylal), माइनेसीन (Myanesin), क्यूरार (Curare) आदि। इनमे प्रारम्भ की औपधियॉ कम तथा अन्त की अधिक विषाक्त हैं। इनकी मात्रा आदि का वर्णन तालिका (Table) मे देखिये। इन औषधियो का प्रयोग मुख की अपेक्षा गुदा तथा इन्जेक्शन द्वारा, इस लक्षण मे अधिक उपयुक्त है। सिरामार्ग (I. V.) की अपेक्षा पेशी मार्ग (I. M.) से विषाक्तता होने की कम सम्भावना रहती है। सिरा मार्ग से प्रयोग करने से औपधि का प्रभाव भी क्षणिक होता है। इन औषधियों मे गुदामार्ग से एवर्टीन तथा पेशी मार्ग से परालडिहाइड अधिक प्रचलित है। परालडिहाइड (Paraldehyde) को गुदा मार्ग से प्रयोग करने के पूर्व औपधि को लिक्विड पैरेफिन (Liq. paraffin) औ. १ मे मिलाकर प्रयोग करे। क्यूरार (Curare) का प्रयोग प्रायोगिक अवस्था मे है। इन औपधियो के अतिरिक्त ल्यूमिनल (Luminal) ग्रे० १ मुख अथवा अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से आ० अ० दे सकते है। ब्रोमाइड (Br) का शामक योग (यो० २२) मुख द्वारा प्र० ३–४ घंटे पर दे सकते है। औपधि का प्रभाव अनिश्चित है। यह औपधि गुदा मार्ग से (यो० ११६) भी दे सकते हैं। यह योग प्रथम औं० ४ गुदा मार्ग से दे देने के पश्चात् प्रति चार घण्टे पर गुदा मार्ग से यह योग औ० १$\frac{1}{2}$ देना चाहिये। क्लो-

रल हाइड्रस (Chloral hydras) के प्रयोग में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। इसका हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। एवर्टिन (Avertin) के साथ-साथ एट्रोपीन (Atropine) ग्रे० १/१०० अधस्त्वक मार्ग (S. C) से प्रयोग करना चाहिये। एवर्टिन की मात्रा शनैः शनैः कम करना चाहिये।

(६) अपतानिका (Tetany)

परिचय :—लसिका (Serum) में कैलसियम (Ionised calcium) की कमी होने के कारण शाखाओं या चेहरे की पेशियों में अकस्मात अनम्यता (Rigidity), हस्त-पाद उद्वेष्टन (Carpopedal spasm), पृष्ठवंश (Spine) का धनुपाकार होना आदि लक्षण होते हैं। **कैलसियम (Ionised calcium) की कमी के निम्न कारण हैं :—**

(१) **संपूर्ण रक्त में कैलसियम** की कमी होने से जैसे :—फक्करोग (Rickets), वृक्क के रोग, उपावटुका ग्रंथि (Para-thyroid) के स्राव की कमी, धात्रिकाल (Lactation), पतले दस्त आने से तथा वसातिसार (Steatorrhoea) आदि। (२) **रक्त में क्षार** (Alkali) **की वृद्धि** होने से जैसे :—सोडा बाइकार्ब आदि क्षारीय पदार्थ के प्रयोग से, वमन होने से तथा अत्यधिक श्वास (Hyperventilation) लेने से। इस द्वितीय अवस्था में लसिका (Serum) में कैलसियम की मात्रा प्राकृत रहती है। मुद्रिकाद्वारीय संकोच (Pyloric stenosis) आदि आमाशय के रोगों से शरीर में क्षार की वृद्धि होती है।

लसिका में चूर्णातु (Serum calcium) की वृद्धि

चूर्णातु देने के अतिरिक्त, उपावटुका ग्रंथि (Parathyroid), जीवतिक्ति डी (Vit.D) अमोनियम क्लोराइड (Ammon: chloride) आदि आम्लिक (Acidic) लवण तथा चूर्णातु प्रधान आहार देने से भी होती है। [illegible] में कैलसियम की मात्रा बढ़ाने के लिये आम्लिक ओषधियां देने से मूत्रविषमयता (Uraemia) की सम्भावना रहती है। इस उद्देश्य से [illegible] का प्रयोग अनावश्यक है तथा हानिकर हो सकता है।

चिकित्सा :—मूल रोग की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये तथा अप[illegible] का निवारण करना चाहिये। [illegible] रहने पर आयु के अनु[illegible] १० [illegible] तक दे सकते हैं। उद्वेष्टन (Spasm)

कम करने के लिये **शामक** (Sedative) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये तथा समबल लवण घोल (N.saline) से प्र० दूसरे दिन बृहदान्त्र को धोना (Colon wash) चाहिये । फक्करोग (Rickets) आदि मे चूर्णातु (Cal) की कमी रहने पर तत्काल जीवतिक्ति डी (Vit: D) की ६ लक्ष-अ० इ० की एक मात्रा पेशी मार्ग (I.M.) से देना चाहिये । यह औषधि कैलसीफेरौल (Calciferol) के रूप मे मुख से भी दी जाती है । कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal:gluconate) का मुख से प्रभाव उत्तम नही होता इसलिये इस औषधि का १०–२० प्र० श० घोल ५–१० सी० सी० पेशी (I.M.) अथवा सिरा (I.V.) मार्ग से दे । कोलोकैलसियम (Colo-calcium) सी० सी० १–२ पेशी मार्ग से दे सकते है । कैलसीब्रोनट (Cal-cibronat. Sz) ५ सी० सी० पेशी या सिरा मार्ग से दे सकते हैं । इसमें कैलसियम के अतिरिक्त ब्रोमाइड (Br) भी है । इसलिये यह शामक भी है । इसकी गो० १ मुख से भी आ० अ० दे सकते है । इस रोग मे कैलसियम का अधिक मात्रा मे प्रयोग किया जाता है । कैलसियम क्लोराइड (Cal:chlor-ide) अथवा अमोनियम क्लोराइड नवजात शिशु मे ग्रे० ५–७½ तक प्र०दि० तथा युवा मे १५–२० ग्रे० तक मुख से प्र० ४ घण्टे पर ३ दिन तक दे सकते है । इससे **अम्लोत्कर्ष** (Acidosis) होने की सम्भावना रहती है इसलिये अम्लोत्कर्ष के लक्षण होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये । वृक्कशोथ (Nephritis) मे तथा पतले दस्त होने पर अमोनियम क्लोराइड का प्रयोग वर्जित है ।

अम्लोत्कर्ष के लक्षण :—वमन, पतले दस्त होना, श्वसन का गम्भीर अथवा तीव्र होना आदि ।

शामक (Sedatives) **औषधियाँ** :—अपतानिका की परमतीव्र अवस्था मे रोगी को क्लोरोफौर्म (Chloroform) अथवा नाइट्रस ऑक्-साइड (Nitrous oxide) सुँघा कर बेहोश करने से उद्वेष्ठन बन्द हो जाते हैं । बाल्यावस्था मे प्रायः क्लोरलहाइड्रस (Chloral:hyd) का प्रयोग किया जाता है । औषधि की प्र० मात्रा बालक की आयु के अनुसार आयु के प्र० वर्ष, प्र० ग्रे० (यो० २२) प्र० ४ घण्टे पर देना चाहिये । शिशु मे अफीम का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अत्यधिक श्वास (Hyperventilation) के कारण शरीर मे क्षार

(Alkali) की उत्पत्ति होती है और अपतानिका के लक्षण होने लगते हैं। इस अवस्था मे रोगी को अधिक श्वास लेने के लिये मना कर देना चाहिये तथा प्राणवायु (O_2) के साथ नाइट्रोजन (Nitrogen) ७४ प्र० श० तथा कार्बन डायोक्साइड (CO_2) ५ प्र० श० मिला कर इस वायु मे श्वास लेना चाहिये।

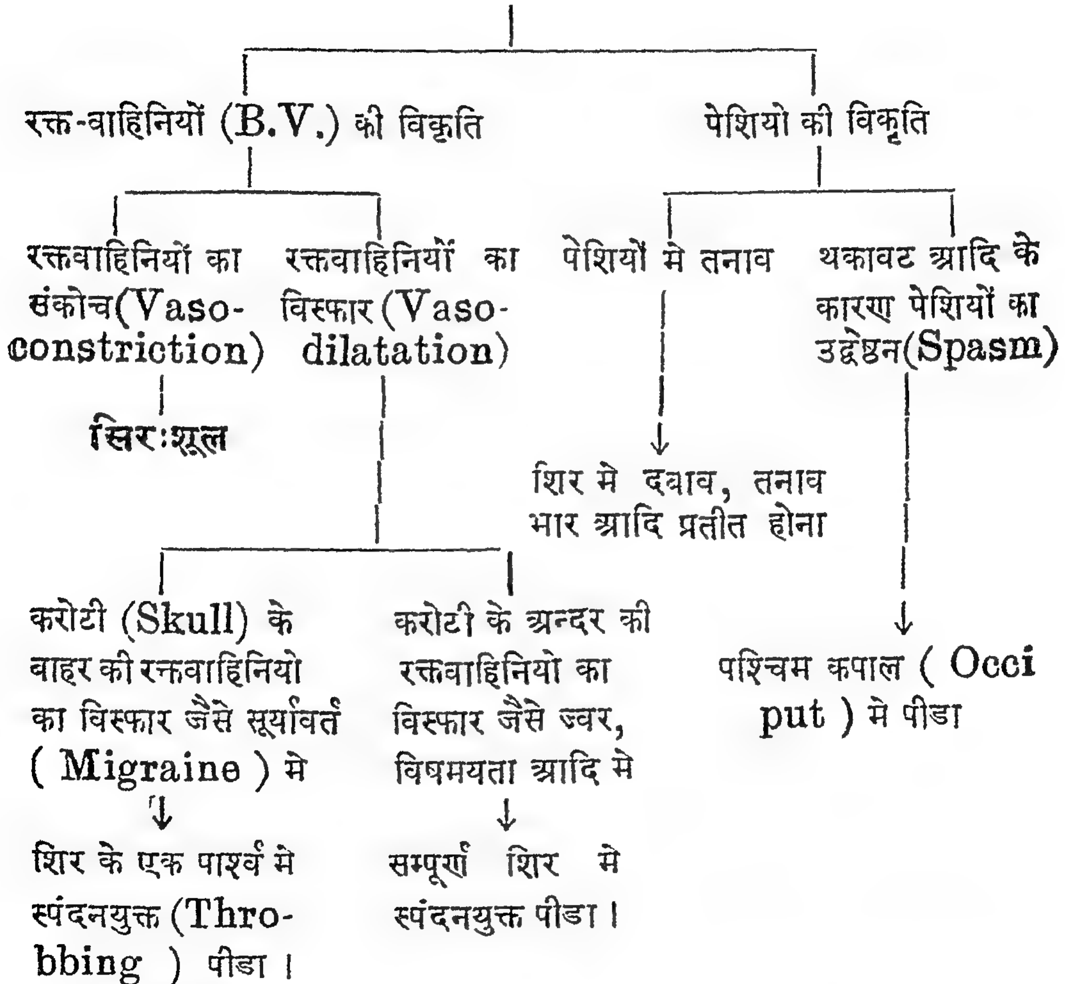
क्षार (Alkali) के प्रयोग से अथवा वमन के कारण अपतानिका होने पर क्षार बन्द कर रोगी को **क्लोराइड** (Cl) देना चाहिये। यह औषधि वमन न रहने पर अमोनियम क्लोराइड (Ammon: chloride) के रूप मे मुख से तथा वमन रहने पर समबल लवण घोल (N.saline) के रूपमे सिरा (I.V.) अथवा पेशी (I.M.) मार्ग से दे सकते है। **पैराथायरोयड** (Parathyroid ext: Parathormone) का प्रयोग हानिकर हो सकता है। मुख से यह लाभदायक नहीं है। इसको १०–३० ग्रं० इ० पेशी मार्ग (I.M.) से त्रि० प्र० दि० दे सकते है परन्तु रक्त मे कैलसियम की मात्रा का ज्ञान होना आवश्यक है। इसके प्राकृत हो जाने पर पैराथायरोयड बन्द कर देना चाहिये।

(७) शिरःशूल (Headache)

परिचय :—सिर मे पीड़ा अनेक कारणों से होती है जैसे चिन्ता, रक्तवाहिनियों (B. V.), वातनाड़ी (Nerves), अस्थि, सन्धि (Jts), पेशी (Muscle), नेत्र, कर्ण, नाक, दाँत, कण्ठ, मस्तिष्कावरण (Meninges) आदि की विकृति, आघात, वायुविवर (Sinus) के उपसर्ग, रक्ताल्पता (Anaemia), कृमि (Worms) रोग, कब्ज, फिरंग (Syphilis) आदि सार्वदैहिक (Constitutional) रोग, आदि। **निदान** की दृष्टि से रोगी का इतिहास, पीडा का स्थान तथा प्रकृति, नाक, आँख, कान, कण्ठ आदि की विधिवत परीक्षा आवश्यक है। प्रत्येक संस्थान की परीक्षा करना चाहिये। विशेष परिस्थिति मे मनोवैज्ञानिक (Psy) परीक्षा, फिरंग (Syphilis), रक्ताल्पता आदि के लिये रक्त परीक्षा करनी चाहिये। श्वेतकणो (W. B. C.) की सख्या (T. C.) तथा अनुपात (D. C.) भी देखना चाहिये। कृमि के लिये मलपरीक्षा तथा मूत्र संस्थान की स्थित जानने के लिये **मूत्रपरीक्षा** विशेषकर शुक्लि (Alb), शर्करा, एसिटोन (Acetone), श्वेतकण (W.B. C.), रक्तकण (R. B. C.)

आदि के लिये करना चाहिये। रोगी का रक्तनिपीड़ (B. P.) जानना आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक (Psy) कारणों का शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव तथा शिरःशूल की उत्पत्ति



चिकित्सा :—(१) साधारण :—रोग के कारण का पता लगा कर उसका निवारण करना चाहिये। मद्यपान, धूम्रपान, तमाखू सेवन, अत्यधिक मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम, चिन्ता, कब्ज,अनियमित आहार तथा रात्रि में जागना वर्जित है। शारीरिक तथा मानसिक विश्राम, नेत्र परीक्षा, उपसर्ग की चिकित्सा तथा मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा से लाभ होता है। औष-

धियों के प्रयोग मे विशेष सावधानी आवश्यक है। यथासम्भव रोग के कारण की विशिष्ट चिकित्सा करना चाहिये। इस रोग मे प्रायः नशीली (Narcotics), पीड़ाहर (Analgesic) तथा शामक (Sedative) औषधियाँ प्रयोग की जाती है। नशीली औषधियाँ जैसे अफीम के योग आदि प्रयोग करने से रोगी को औषधि का अभ्यास हो जाने का भय रहता है, इसलिये इनका प्रयोग नही करना चाहिये। अस्थायी रूप से पीड़ाहर तथा शामक औषधियाँ प्रयोग कर सकते हैं। इनका निरन्तर प्रयोग हानिप्रद है। ज्वर की अवस्था मे प्रायः पीड़ाहर औषधियाँ दी जाती है।

(२) शिरःशूल के भिन्न प्रकार की चिकित्सा :—

(अ) **मनोवैज्ञानिक कारण** :—चिन्ता, भावना (Emotion) आदि के कारण रक्तवाहिनियो का विस्फार (Vaso-dilatation) अथवा पेशियो मे तनाव होता है। स्थायी शिरःशूल का यह अत्यन्त सामान्य कारण है।

(क) **रक्तवाहिनी जन्य (B. V.) शिरःशूल** :—इस प्रकार के शिरःशूल मे सिर मे **स्पन्दन** (Throbbing) प्रतीत होता है। यह पीड़ा रक्तवाहिनी के विस्फार (Vasodilatation) या सकोच (Constriction) के कारण होती है। रक्तवाहिनी का विस्फार करोटी (Skull) के बाहर या अन्दर हो सकता है।

१—**सूर्यावर्त** (Migraine) मे करोटी के बाहर वहिर्मन्या धमनी (Ext : carotid art :) का विस्फार होता है। करोटी के बाहर रक्त वाहिनी का विस्फार होने से शिर के एक पार्श्व (Unilateral) मे पीड़ा होती है।

२—**चिन्ता**, भावना (Emotion), ज्वर, मद्यपान, पूयोत्पत्ति (Sepsis), औषधि के प्रयोग से तथा हिस्टामीन (Histamine) आदि विष के कारण करोटी के अन्दर की रक्तवाहिनियो का विस्फार होता है। करोटी के अन्दर की रक्तवाहिनियो के विस्फार के कारण सम्पूर्ण शिर मे पीड़ा होती है।

३—रक्तवाहिनी मे धमनीजरठता (Arterio-sclerosis) होने के कारण धमनी का मार्ग सकीर्ण हो जाता है।

निदान : १—सूर्यावर्त (Migraine) :—इस अवस्था मे शिर के एक पार्श्व मे वर्हिर्मन्या धमनी (Ext : carotid art :) के विस्फार के

कारण अकस्मात् स्पन्दनयुक्त (Throbbing) तीव्र शिरःशूल का आवेग, जो मिचलाना, वमन, आदि लक्षणों के साथ प्रायः प्रातःकाल आरम्भ होता है। पीड़ा प्रारम्भ होने के पूर्व दीर्घकालीन पूर्वग्रह (Aura) मिल सकता है। पीड़ा प्रावेगिक (Paroxysmal) होती है तथा दिन की वृद्धि के साथ-साथ पीड़ा की वृद्धि होती है।

सूर्यावर्त की चिकित्सा :—सूर्यावर्त एक गम्भीर मनोवैज्ञानिक (Psy) विकृति है इसलिये **मनोवैज्ञानिक** विधियो द्वारा रोगी की चिन्ता का कारण पता लगाना चाहिये तथा उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। उद्वेग के प्रारम्भ मे रोगी को तत्काल शान्त तथा अन्धेरे कमरे में शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। पीड़ा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त तथा पीडा का शमन होने के २–३ घण्टे पश्चात तक पूर्ण विश्राम करना चाहिये। **भोजन, जल** आदि ग्रहण नही करना चाहिये अन्यथा शिरःशूल के पुनः उद्वेग होने की सम्भावना रहती है। मुख द्वारा **एस्पिरीन** के साथ **शामक** औपधि (यो० २२) की एक मात्रा लेना चाहिये। **अरगोटामीन टार्ट** (Ergotamine tart :) मुख द्वारा या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से ग्रे० १/१२० देना चाहिये। **पीड़ा के उद्वेग के** समय उपर्युक्त चिकित्सा के अतिरिक्त विकृत पार्श्व की वहिर्मन्या धमनी (Ext : cerotid-art) या उसकी किसी शाखा को अंगुली से दबाना चाहिये। प्राणवायु (O_2) श. प्र.. श. देना चाहिये। उद्वेग के समय **अरगोटामीन** का अधिक मात्रा मे प्रयोग करना पडता है। इसके दो योग प्रयोग किए जाते हैं :—

(च) डाइहाइड्रो अरगोटामीन (Dihydro-ergotamine) कम विपाक्त है। इसका मि. ग्रा. १ पेशी मार्ग (I. M.) से देना चाहिये। **अरगोटामीन** के योग पेशी माग से देने के वाद एक सप्ताह के अन्दर उसको पुनः नहीं देना चाहिये।

(छ) अरगोटामीन टार्ट (Ergortamine tart) अधिक विपाक्त है। इसकी **विषाक्तता** के कारण पेशियो मे तनाव तथा पीड़ा, हाथ-पैर मे झुनझुनाहट, सज्ञानाश (Numbness) आदि लक्षण होते है। गर्भावस्था, मासिक धर्म के समय, उपसर्ग, पूयभवन (Suppuration), वामहृदयातिपात (Lt–ht–Failure), धमनीजरठता (Arteriosclerosis) आदि मे अरगोटामीन के योग नही देना चाहिये। मुख द्वारा इन

औषधियों के देने से वमन होने पर औषधि का अचूपण सन्देहास्पद तथा प्रभाव अनिश्चित हो जाता है। इस मार्ग से औषधि की अधिक मात्रा भी पड़ जाने का भय रहता है इसलिये यह मार्ग निरापद तथा निर्अपवाद नहीं है। अर्गोटामीन टार्ट को पेशी मार्ग (I. M.) से मि. ग्रा. ½–१ देना चाहिये। मुख द्वारा इस औषधि की मि. ग्रा. १ की गोली प्रथम गो. ४ तत्पश्चात गो. २ प्र. घं. देना चाहिये। औषधि जिह्वा के नीचे रख सकते हैं अथवा जल के साथ पी सकते है। एक चिकित्सा क्रम में गो. १० से अधिक नहीं देना चाहिये। पीड़ा कम हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। पेशी मार्ग (I.M.) से औषधि देने पर प्रायः एक घंटे के अन्दर पीड़ा का शमन होता है।

२—**ज्वर आदि के कारण** करोटी (Skull) के अन्दर की रक्तवाहिनियों का विस्फार (Vasodilatation) होने पर सम्पूर्ण सिर में स्पन्दन युक्त (Throbbing) पीड़ा होती है। इस अवस्था में रोग के कारण की **चिकित्सा** करना चाहिये तथा एसपिरीन (Aspirin) ग्रे. ५, सिबाल्जिन (Cibalgin), सैरिडोन (Saridon) आदि का गो. १ आ. अ. दे सकते हैं। संयुक्त मन्या धमनी (Common carotid art:) को दबाने से करोटी के भीतर या बाहर दोनों ही स्थानों की रक्तवाहिनियों के विस्फार जन्य पीड़ा का शमन होता है।

३—**रक्तवाहिनियों के प्राचीर** (Wall) में विकृति रहने पर धमनी का मार्ग संकीर्ण हो जाता है। यह विकृति प्रायः शंखकीय धमनी (Temporal) में मिलती है। इस अवस्था में सावधानी पूर्वक रक्तवाहिनी विस्फारक (Vaso-dilators) औषधियाँ प्रयोग कर सकते है। निकोटिनिक एसिड (Vit:B_7) मि. ग्रा. ५०–१०० त्रि. या चा. प्र. दि, देना चाहिये। मुख की अपेक्षा इन्जेक्शन द्वारा यह औषधि अधिक प्रभावशाली है।

(ख) पेशियों की विकृति। पेशियों में दो कारणों से विकृति होती है:—

१—**चिन्ता, भावना** (Emotion) आदि के कारण सिर से सम्बन्धित पेशियों में तनाव होता है। परिणामस्वरूप अत्यधिक चिन्ता या भावना (Emotion) के समय सिर में दबाव, तनाव या भार के समान प्रतीत होता है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि सिर को रस्सी से बाँध दिया गया है। यह पीड़ा अत्यन्त उत्तान (Superficial) प्रतीत होता है। पीड़ा के

साथ साथ थकावट, आलस्य, निद्रानाश, असावधानता, अस्थिरता आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा :—मनोवैज्ञानिक (Psy) कारणों से पेशियों का तनाव होने पर शिर की मालिश करने से लाभ होता है। चिन्ता, मानसिक भावना (Emotion) आदि से बचना चाहिये। पीड़ा के लिये एस्पिरीन (Aspirin) ग्रे. ५ या सिबाल्जिन (Cebalgin) गो. १ आ. अ. देना चाहिये। रात्रि में तथा दिन में भोजनोपरांत विश्राम करना चाहिये। निद्रा न आने पर रात्रि में ल्यूमिनल (Luminal) गो. १ आ. अ. दे सकते हैं। रोग की तीव्र अवस्था में फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ¼–½ त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं। विशेष परिस्थिति में ही तथा अन्य उपायों से लाभ न होने पर औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। परिश्रम के पश्चात मनोरंजन आवश्यक है।

२–अन्य कारणों से पेशियों में **उद्वेष्टन** (Spasm) हो सकता है। यह उद्वेष्टन प्रायः थकावट, पेशीशोथ (Myositis) आदि के कारण होता है। विकृति प्रायः सिर के पीछे, पश्चिम कपाल (Occiput) से लगी हुई पेशियों में होने के कारण शिरः शूल भी सिर के पीछे (Occipital headache) प्रतीत होता है। सिर की संधियों (Jts), अस्थियों आदि में संधिशोथ (Arthritis), अस्थिमज्जाशोथ (Ostemyelitis), अर्बुद (Tumour) आदि होने के कारण भी इन पेशियों का उद्वेष्टन होता है तथा इसी प्रकार की पीडा होती हैं।

चिकित्सा :—पेशी उद्वेष्टन के कारणों को दूर करना चाहिये। अस्थि, संधि, पेशी आदि के रोगों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। पीड़ाहर औषधियों का आ. अ. प्रयोग कर सकते हैं।

(आ) **करोटी** (Skull) **के अन्दर** मस्तिष्क के लिए निर्धारित प्राकृत स्थान में परिवर्तन होने से भी सिर में पीड़ा होती है। यह पीडा गम्भीर तथा अत्यन्त उग्र होती है। इस प्रकार की पीड़ा शीर्षान्तरीय निपीड (Intracranial tension) के बढ़ने अथवा घटने, दोनों ही अवस्थाओं में होती है। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), उच्च रक्तनिपीड़ (B.P.), वृक्कशोथ (Nephritis), मस्तिष्क में रक्त-स्राव (Haemorrhage), अर्बुद (Tumor) आदि के कारण शीर्षान्तरीय निपीड की वृद्धि होती है।

पीड़ा पश्चिम कपाल (Occiput) तथा पृष्ठवंश (Spine) पर भी प्रतीत होती है। ग्रीवा तथा पृष्ठवंश पर अनम्यता (Rigidity) हो सकती है। मस्तिष्कावरण के प्रक्षोभ (Meningial irritation) के लक्षण, तन्द्रा (Drowsiness) तथा संन्यास (Coma) हो सकता है। कटिवेध (L. P.) करने के समय अत्यधिक मात्रा में ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) निकल जाने से अथवा कटिवेध किये जाने वाले स्थान से ब्रह्मवारि निरन्तर निकलते रहने से करोटी के अन्दर निपीड़ की कमी होती है। रक्तस्राव, जलाल्पता (Dehydration), रक्त-निपीड की कमी (B. P.) में भी यह विकृति होती है।

चिकित्सा :—रोग के कारण की चिकित्सा करना चाहिये। **शीर्षान्तरीय निपीड़ अधिक** रहने पर कटिवेध (L. P.) द्वारा निपीड़ कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। गुदा मार्ग से मैगसल्फ (Mag: sulph) २५ प्र. श. औं. ४ प्रवेश कर यथासम्भव उसे अन्दर रोक के रखने से या ग्लूकोस ५० प्र. श. २५ सी. सी. सिरा मार्ग (I. V.) से देने से भी शीर्षान्तरीय निपीड़ की कमी होती है। एसपिरीन (Aspirin) ग्रे. ५ आदि पीड़ाहर (Analgesics) औषधियाँ आ. अ. देना चाहिये। पीडा यदि अत्यन्त तीव्र हो तब अफीम के योग जैसे पेथिडीन (Pethidin), यूकेडौल (Eukodol) आदि की गो. १ आ. अ. दे सकते हैं। ज्वर की अवस्था मे शिर पर बरफ रखने से पीड़ा में कमी होती है। **शीर्षान्तरीय निपीड़ कम होने के कारण** यदि पीड़ा हो तब रोगी को प्रचुर मात्रा मे जल देना चाहिये, शैय्या के पैर की ओर का भाग ऊँचा करना चाहिये। कटिवेध (L. P.) करते समय पतली सूई प्रयोग करने से तथा सूई प्रवेश करने वाले स्थान को ठीक से दबा कर बाँधने से ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) गिरता नही रहता। एसपिरीन (Aspirin) आदि पीडाहर औषधियाँ आ० अ० दे सकते है।

(इ) **अन्य कारण :**—नेत्र, कर्ण, नाक, दाँत, कण्ठ आदि मे विकृति रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। त्रिधारा वातनाड़ी शूल (Trigeminal neuralgia) की पीड़ा मे जलन होती है। वायुविवर (Sinus) के रोग मे प्रतिश्याय (Coryza) का इतिहास मिलता है तथा विवर पर दबाने से पीड़ा होती है। फिरंग (Syphilis) मे पीडा प्रायः रात्रि मे होती

है। इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। कभी-कभी अत्यन्त क्षुद्र कारणों से पीड़ा होती है जैसे कब्ज, सूर्य प्रकाश मे या अन्य तीव्र प्रकाश मे बिना रंगीन ऐनक (Goggles) लगाये काम करना, शिर पर कसी टोपी (Hat) पहनना, कमीज का कौलर (Collar) कण्ठ पर कस कर बन्द करना आदि। इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

(८) तीव्र फौफ्फुसीय शोफ (Acute-pulmonary oedema)

परिचय :—इस अवस्था मे श्वसनिकाओ (Bronchi) तथा वायु कोषाओं (Alveoli) मे अकस्मात् द्रव संचय होता है। यह लक्षण वाम हृदयातिपात (Lt : Ht : failure) का प्रतीक है। इसमे परिश्रम के पश्चात् अथवा बिना परिश्रम के ही अकस्मात् श्वास लेने मे कष्ट होता है। दमा आदि मे यह विकृति दक्षिण हृदयातिपात (Rt : Ht : failure) के कारण भी हो सकती है। रोग की तीव्र अवस्था प्रायः अलिन्दीय तन्तुप्रकम्प (A-fib :) के कारण होती है। **निदान की** दृष्टि से लक्षणों पर निर्भर करना पडता है। अकस्मात् श्वास लेने मे कष्ट होना, रोगी का ओष्ठ, नख आदि नीला हो जाना, रक्त तथा वायु मिश्रित ष्ठीवन (Sputum) निकलना इसके महत्वपूर्ण लक्षण हैं। दानो फुफ्फुसो पर अनेक मध्यम श्रेणी के आर्द्र कर्कराहट (Medium crepitations) मिलते है। **चिकित्सा** की दृष्टि ये यह जानना आवश्यक है कि रोग दमा के कारण है या नही। **दमा के कारण यह विकृति होने पर** मौरफीन आदि नशीली (Narcotic) औषधियॉ प्रयोग नहीं करना चाहिये। इनके प्रयोग से मस्तिष्क मे स्थित श्वसनकेन्द्र (Resp : center) कार्यहीन हो जाता है।

तीव्र अवस्था की चिकित्सा :—रोगी को तकिये के सहारे शैय्या पर बैठाकर फाउलर के आसन (Fowler's position) मे रखना चाहिये। **मौरफीन** इस रोग की **विशिष्ट** औषधि मानी जाती है। **दमा न रहने पर** तथा श्वसन की गति १५ प्र. मिनट से अधिक रहने पर इस औषधि को यथासभव सिरा (I. V.) मार्ग से ग्रे. $\frac{1}{2}$–$\frac{1}{4}$ की मात्रा मे देना चाहिये। सिरा मार्ग से औषधि देना यदि संभव न हो तब अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। मौरफीन के अन्य योग जैसे पेथिडिन (Pethidin, dilaudid physepton) आदि अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते है। इससे

बेचैनी भी कम होती है। आ. अ. औषधि का पुनः प्रयोग कर सकते हैं। श्वसन की गति प्रारम्भ से ही यदि १५ प्र. मिनट से कम हो अथवा मोरफीन देने के बाद १५ प्र. मिनट से कम हो जाय तब मौरफीन बन्द कर कोरामीन (Coramine) सी. सी. १½–३ या मेट्राजोल (Metrazol) मि. ग्रा. १००–३०० अधस्त्वक मार्ग से देना चाहिये। यदि दमा के कारण इस लक्षण की उत्पत्ति हो या रोग के कारण के विषय में शंका हो अथवा चेनस्टोक श्वसन (C.S.Resp:) हो तब मौरफीन के स्थान पर अमीनोफायलीन ग्रे. ४–८ जल १० सी. सी. में मिलाकर अत्यन्त शनैः शनैः सिरा मार्ग (I. V.) से देना चाहिये। इस औषधि के प्रयोग से मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है और शरीर से जल की मात्रा कम होने के कारण फुफ्फुस का शोथ कम होता है। यह औषधि श्वसनिकाओं का विस्फार (Broncho-dilator) भी कराती है। परिणामस्वरूप श्वास लेने में सरलता होती है। दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht failure) के लक्षण रहने पर या अलिंदीय तंतुप्रकप (A-fib:) के कारण हृदय की गति तीव्र रहने पर **डिजिटेलिस** (Digitalis) का प्रयोग करना चाहिये। सिडानलिड (Cedinalid) मि० ग्रा० ०.८ (सी० सी० ४) अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से आ० अ० प्र० ८ घण्टे दे सकते हैं। रोग की **परम गंभीर अवस्था** में डिजिटेलिस का शीघ्रता से प्रभाव होना आवश्यक है। इसके लिये सीडील-निड मि० ग्रा० १.२ या डाइजोक्सीन (Digoxin) मि० ग्रा० १ सिरा मार्ग (I.V.) से आ० अ० प्र० ५ मिनट पर दे सकते हैं। मौरफीन प्रयोग करते समय अथवा श्वास लेने में कष्ट होने पर **प्राणवायु** (O_2) प्रयोग करना चाहिये। इस रोग में प्राणवायु श० प्र० श० को प्रथम मद्य ५० प्र० श० में प्रवेश कर अधिक चाप (Positive press:) पर प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये बाच की थैली (Barach-mask) मुँह पर लगा कर ५–१० लि० प्र० मि० की गति तथा ३ से० मी० जल के निपीड़ (Pressure) पर प्राणवायु देना प्रारंभ करना चाहिये। रोगी की अवस्था में सुधार होने पर प्राणवायु के निपीड में शनैः शनैः कमी करनी चाहिये। प्रारम्भ में ४ घण्टा निरन्तर प्राणवायु देने के पश्चात् १ घण्टा औषधि बन्द कर देना चाहिये और यही क्रम चलना चाहिये। **सिराओं का निपीड़** कम करना आवश्यक है। इसके लिये यदि स्तब्धता (Shock) के लक्षण न हो तब पा० ½–१ रक्त

सिरामार्ग से तत्काल निकाल देना (V.S.) चाहिये। इस क्रिया से गम्भीर अवस्था में भी कभी-कभी रोगी की जान बचाई जा सकती है। **रक्त को हृदय की दिशा में जाने से भी रोका जा सकता** इससे हृदय का बोझ कम होता है और फुफ्फुस के शोफ मे कमी होती है। इसके लिये चारो शाखाओ पर शरीर के पास पट्टी, रबर की नली (Tourniquet) अथवा रक्त-निपीड़ मापक यन्त्र के बाहुपट्टक (B. P. armband) से इतना कस कर बाँधना चाहिये जिसमें सिराओ (Veins) में रक्त-प्रवाह बन्द हो जाय। धमनी का प्रवाह बन्द नही होना चाहिये। रक्त निपीड़ मापक यन्त्र के बाहु-पट्टक का प्रयोग करने पर बाहु-पट्टक मे वायु ५० मि. मी. पा. से अधिक नही होनी चाहिये। रोगी को यदि इस क्रिया से कष्ट हो तब प्रत्येक पट्टी को बारी-बारी प्र. आध घण्टे पर ढीला कर देना चाहिये। **फुफ्फुसपाक** (Pneumonia) मे फौफ्फुसीयशोफ तथा हृदयातिपात (Ht : failure) रोगी की मृत्यु के सामान्य कारण है। इन दोनों अवस्थाओ मे प्राणवायु (O_2) की आवश्यकता पडती है।

अन्य चिकित्सा :—एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० अध-स्त्वक (S. C.) मार्ग से प्र. ४ घं. देना चाहिये। पिट्यूट्रिन का प्रयोग निशिद्ध है। **श्वासकृच्छ्र** (Dyspnoea) **साधारण** रहने पर डिजि-टेलिस (Digitalis) तथा पारद (Hg) के मूत्रल योग (Diuretics) देने से तथा भोजन मे लवण (Nacl) कम कर देने से लाभ होता है।

(६) खाँसी, कास (Cough)

खाँसी के साथ कफ निकलने पर उसको रोकना नही चाहिये। इससे फुफ्फुस साफ होता है। फुफ्फुस मे बड़ा विवर (Cavity) रहने पर तथा श्वसनिका-भिस्तीर्णता (Bronchiectasis) मे रोगी का द्वि. या त्रि.प्र.दि. शैय्या पर शिर नीचा कर थोड़ी देर लिटाने से खाँसी होती है और विवर मे से स्राव निकल जाता है। इस क्रिया के पश्चात्-रोगी को आराम मिलता है। दिन में अनेक बार प्राणवायु (O_2) के साथ कार्बनडाईऑक्साइड (CO_2) ५ प्र. श. सूँघने से भी खाँसी मे कमी होती है। **अनावश्यक तथा शुष्क कास** होने पर हीरोइन (Heroin hyd :) ग्रे. १/२०–१/१०, अवलेह (Linctus यां १५), कोडीन फौस (Codeine) ग्रे. ½–¼ अथवा अन्य

कास की शामक औषधियाँ (यो. १४–१७) त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं। कोडीन फौस ग्रे. ½–½ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से भी दे सकते हैं। धूम्रपान बन्द कर देना आवश्यक है। एक लोटा गरम जल मे टि. बेन-जोइन को (Tr : benzoin Co) दो चम्मच, तारपीन का तेल (Ol. terpentine) च. ½ या युकेलेप्टस का तेल (Ol : eucaleptus) च. १ डाल कर भाप सूँघने से, मुख मे मुलइठी (Liquorice) के टुकड़े अथवा अजवायन सत्व (Menthol lozenges) या ताल मिश्री रख कर चूसने से भी लाभ होता है। केवल जल की भाप सूँघने से भी लाभ होता है। शुष्क कास को तरल करने तथा ष्ठीवन (Expect :) की उत्पत्ति करने के लिये इन औषधियों मे पोटास आयोडाइड (KI) ग्रे० १–३ तथा अमोनियम क्लोराइड (Ammon:chlor) ग्रे० ५–१० प्र० मात्रा मिला देना चाहिये या गरम जल मे अमोनकार्ब (Ammon carb) ग्रे० ५ मिला कर पीना चाहिये। **कास तरल हो जाने पर** कास की उत्तेजक औषधियो का योग (यो. १६–२१) त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। चिरकालीन अवस्था में ष्ठीवन दुर्गंधित रहने पर थायकौल (Thiocol Roche) ग्रे० ५ त्रि० प्र० दि० दें। खाँसी के साथ वक्ष पर पीड़ा रहने पर गाय का पुराना घी नमक मिला कर तथा गरम कर मालिश करना चाहिये। एन्टीफ्लोजेस्टीन (Antiphlogestine), तीसी की पुल्टिस, सरसो की पट्टी आदि लगाना चाहिये।

शैशवावस्था में अफीम के योग नहीं देना चाहिये तथा बाल्यावस्था मे विशेष सावधानी आवश्यक है। दमा के समान श्वसनिकाओ का **उद्वेष्ठन** (Bronchiospasm) होने पर बहिः श्वसन (Exp:) दीर्घ हो जाता है तथा दोनो फुफ्फुस में अनेक शुष्क रव (Rhonchi) मिलते है। इस अवस्था मे उद्वेष्ठननिरोधी (Antispasmodic) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये जैसे, इफेड्रिन (Ephedrine) ग्रे० ½ (यो० १३) आदि।

फुफ्फुसपाक (Pneumonia) के प्रारम्भ मे अनावश्यक कास होता है। यह रोगी को कष्ट देता है और इससे कोई लाभ नहीं है परन्तु रोग के उत्तरार्ध मे जब ष्ठीवन (Expect) तरल हो जाता है तब कास की सहायता से फुफ्फुस से ष्ठीवन निकलने मे सहायता मिलती है तथा फुफ्फुस शीघ्रता से प्राकृत होता है। इस कास को रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अत्य-

धिक स्राव रहने पर या रोगके उत्तरार्ध मे रोगारम्भ से तीन दिन पश्चात अथवा शैशवावस्था, श्यावता (Cyanosis), शुष्क जिह्वा आदि में अफीम के योग नहीं देना चाहिये। यक्ष्मा (T.B.) मे टिकार्डा (Ticarda) गो. $\frac{1}{2}$–१ द्वि. प्र. दि. देने से लाभ होता है।

कास की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

दोषानुबन्ध का विचार कर प्रथम बलानुसार संशोधन कर देना चाहिए। तत्पश्चात् रोग के कारण का परिवर्जन करे और विरोधी औषधियो का प्रयोग करे, तदनुरूप ही विभिन्न रसो के पथ्य व अनुपान का प्रबन्ध करे यथा—

रूक्षस्यानिलज कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।
सर्पिभिर्वस्तिभिः पेयायूषक्षीर रसादिभिः ॥

अर्थात् वातजन्य कास की चिकित्सा वातघ्न स्नेह, घृतवस्ति, पेया, यूष, क्षीर से करे। इसके अतिरिक्त धूम, लेह, अभ्यंग, परिषेक, आदि का भी प्रयोग करे।

पित्तज व कफज संसर्ग होने से तिक्त व कषाय रस का विशेष प्रयोग करे। क्षतज कास मे रक्तष्ठीवन भी होने पर शामक व मधुर द्रव्य दे यथा जीवनीय घृत, तृणपञ्चमूलसिद्ध जल व अजदुग्ध आदि। क्षयज कास मे बृंहण व अग्नि-दीपक औषधि प्रारम्भ से ही देना चाहिए।

औषधियाँ :—कट्फलादि क्वाथ, दशमूल क्वाथ, कंटकारी घृत, पिप्पल्यादि घृत, समशर्कर चूर्ण, तालीशादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, वासावलेह, च्यवनप्राश, व्याघ्री हरीतकी, अगस्त्यहरीतकी, एलादि वटी, लवगादि वटी, व्योषादि वटी, खदिरादि वटी, करवीर योग, मनःशिलादि धूम, हरतालादि धूम, द्राक्षारिष्ट, वासारिष्ट, टंकण, अभ्रक, चन्द्रामृत, कासमृगाक, कास कुठार, लक्ष्मीविलास, शृंगाराभ्र, कफकेतु, कफचिन्तामणि, विजय भैरव, वसन्त तिलक।

प्रयोग :—

क (१) शिलाजत्वादि लौह ४ र.
शंख भस्म ४ र.
चन्द्रामृत ४ र.
यवक्षार ४ र.
सितोपलादि १ मा.
मि. ४ मा.
आद्रक रस व मधु से

(२) तालीशादि ३मा. मधुसे बार-बार

(३) अर्कचूर्ण ३ मा. रात्रि मे

अथवा

ख (१) कुमुदेश्वर २ र.
ज्वराशनि ४ र.
चन्दनादि ४ र.
गुडूचीसत्व १ मा.
सितोपलादि ४ मा.
मि. ४ मा.
वासास्वरस व मधु से
(२) एलादिवटी चूषणार्थ
(३) यष्ट्यादि चूर्ण ६ मा. रात्रि में दुग्ध के साथ

(१०) मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)

परिचय :—इस अवस्था में मूत्र परित्याग करते समय पीड़ा होती है। यह पीड़ा प्रायः मूत्र संस्थान के नीचे वाले भाग में विकृति होने से या मूत्र की प्रतिक्रिया अत्यधिक अम्ल (Acid) होने से अथवा मूत्र का वि. गु. (Sp. Gr.) अधिक होने से होती है। मूत्र सस्थान मे उपसर्ग (Ifn:) होने से प्रायः पीडा होती है। इसलिये उपसर्ग आदि रोग के **कारण** की चिकित्सा करना चाहिये।

चिकित्सा:—**उद्वेष्टन निरोधी** (Antispasmodic) औषधियाँ जैसे वेलाडोना सत्व तरल (यो. २५) मि. ८ त्रि. प्र. दि. भो. प. या एट्रोपीन-सल्फ (Atropine sulph) ग्रे १/१०० आ. अ. या स्पैस्मोसिवाल्जिन (Spasmocebalgin Ca) गो. १ आ. अ. या ट्रासेन्टिन (Trasentin) गो.१ आ. अ. देना चाहिये। मूत्र को **क्षारीय** (Alkaline) कर **शामक** (Sedative) औषधि देने से लाभ होता है। मूत्र-सस्थान के रोग मे विशेष कर मूत्राशय (Bladder) के रोगो मे पीड़ा कम करने के लिये टि. हायोसायमस (यो. २७) मि. १०—३० प्र. ४ घंटे देने का विशेष महत्व है। ए. पी. सी. (यो. ६२), सैरिडौन (Saridon), वेरेमौन (Veremon) आदि की गो. १ आ. अ. दे सकते है। **नींद न आने** पर केफीन (Caffeine) प्रयोग नही करना चाहिये। फेनोबारबिटोन (Phn:) ग्रे. ¼—½ त्रि. प्र. दि. देने से पीड़ा मे कमी होती है तथा निद्रा आती हैं। **निद्रा लाने** के लिये सोने के पूर्व ल्यूमिनल (Luminal) ग्रे. १, यूकेडौल (Eukodal), पेथिडिन (Pethidin), फाइसेप्टौन (Paysepton), यूपाको (Eupaco) आदि की एक गोली निद्रा के पूर्व दे सकते हैं। **मूत्राशय** (Bladder) **की पीड़ा** कम करने के लिये मूत्राशय मे संज्ञाहर

औषधि (Local anaesthetic) रबर की नलिका (Catheter) द्वारा प्रवेश कराकर औषधि को १०मिनट अन्दर रखना चाहिये। प्रथम न्यूपरकेन (Nupercaine) १ : १००० या मेथीकेन (Methycaine) २ प्र. श. सी. सी. २—५ मूत्रस्रोत के अन्दर प्रवेश करा कर, १० मिनट पश्चात् औषधि बाहर निकाल कर प्रोटारगल (Protargol) ५ प्र.श. ५—१० सी.सी. रबर की नलिका द्वारा मूत्राशय के अन्दर प्रवेश कराकर अन्दर रहने देने का प्रयत्न करना चाहिये। पीड़ा के स्थान को सेकने से लाभ होता है।

(११) मूत्रनिरोध (Retention urine)

परिचय :—इस अवस्थामे मूत्राशय (Bladder) के अंगघात (Paralysis) के कारण मूत्राशय का संकोच नहीं होता और मूत्राशय में मूत्र संचय होता है।

चिकित्सा :—फरमेथीड आयोडाइड (Furmethide iodide. S. K. F. L) की मि० ग्रा० १० की गो० १—२ देना चाहिये। औषधि विषाक्त है। इसलिये प्रथम मात्रा के पश्चात किसी प्रकार की विषाक्तता न होने पर ही औषधि का पुनः प्रयोग करना चाहिये। इसका सी० सी० १ (मि० ग्रा० ५) का अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से इन्जेक्शन भी लगाते है। चार वर्ष की आयु से कम रहने पर १।४-१।२ सी० सी०, तथा ४-१४ वर्ष की आयु मे १।२-३।४ सी० सी० प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त कार्बाकोल (Carbachol) मुख से ग्रे० १।६० १।१६ या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से ग्रे० १।२४०-१।१२० आ० अ० दे सकते है। मूत्राशय का गरम पानी से सेंकने या नाभि पर ठँढे पानी की पट्टी लगाने से भी लाभ होता है। इनसे लाभ न होने पर रबर की नलिका (Catheter) से मूत्र निकाल देना चाहिये। रबर की नलिका या लोहे की नलिका यदि अन्दर प्रवेश न करे तब शल्यकर्म (Suprapubic op:) द्वारा मूत्र निकाल देना चाहिये।

(१२) मूत्राल्पता (Oliguria) तथा अमूत्रता (Anuria)

परिचय :—इस अवस्था मे मूत्र का निर्माण कम या स्थगित हो जाता है। जलाल्पता (Dehydration), वृक्क के कार्य मे कमी, स्तब्धता (Shock), सल्फा (S) औषधियों, दक्षिण हृदयातिपात (RT : HT :

Failure), अंशुघात (Sunstroke) आदि के कारण यह अवस्था होती है। हाथ या पैर कुचल (Crush) जाने पर भी अमूत्रता हो सकती है। वृक्कशोथ (Nephritis) की प्रारम्भिक तथा अन्तिम अवस्थाओं मे अमूत्रता की संभावना रहती है। २४ घण्टे में २० औं० से कम मूत्र होने पर मूत्राल्पता कहते है तथा २४ घण्टे के अन्दर मूत्र न होने को अमूत्रता कहते हैं।

चिकित्सा :—दक्षिण हृदयातिपात (RT : HT : Failure) मे तथा वृक्क के रोग में जब मूत्र का निर्माण एकदम स्थगित हो जाता है तब सिरामार्ग (I. V.) से अधिक मात्रा मे जल तथा लवण (Nacl) देने से हानि होती है। मूत्र के मार्ग मे अवरोध (Obst) रहने पर तथा वृक्क के रोग मे एकदम मूत्र का निर्माण स्थगित हो जाने पर मूत्रल (Diuretic) औषधियाँ हानिकर हैं। थोड़ी मात्रा मे भी मूत्र का निर्माण होते रहने पर जल तथा मूत्रल औषधियाँ दे सकते हैं।

रोग के **प्रारम्भ** मे यदि मूत्र के मार्ग मे अश्मरी (Stone) आदि के कारण अवरोध हो तब अवरोध को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। अवरोध न रहनेपर **वृक्क को कार्यशील करने** के लिये कमरपर गरम पानी की बोतल से सेकना चाहिये। इस स्थान पर तुम्बी (Cupping) भी लगा (पृ. ७) सकते हैं। गरम पानी का एनीमा लगाने से तथा गुदामार्ग से रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर बृहदान्त्र (Colon) को गरम पानी से धोने से लाभ होता है। मूत्राशय (Bladder) मे रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर गरम जल पा. ½–१ प्रवेश करने से मूत्र का निर्माण प्रारम्भ हो सकता है। वमन, पतले दस्त, अत्यधिक पसीना आदि के कारण केवल जलाल्पता (Dehydration) रहने पर प्रत्येक मार्ग से जल प्रवेश कराना पर्याप्त है। यदि थोड़ा भी मूत्र का परित्याग होता हो तब सिरामार्ग (I. V.) से ग्लूकोस ५ प्र. श. पा. १–२ दे सकते हैं। सिरामार्ग से केवल परिस्रुत जल (Aq : dist :) कभी नही देना चाहिये।

उपर्युक्त चिकित्सा से यदि लाभ न हो तब सोडीसल्फ (यो. १०२) ४·२ प्र. श. बूँद-बूँद कर सिरामार्ग (I. V.) से ८–१२ औं. देना चाहिये। इतनी औषधि देने पर यदि इतनी ही मात्रा मे मूत्र का निर्माण हो तब औषधि की मात्रा बढा सकते है।

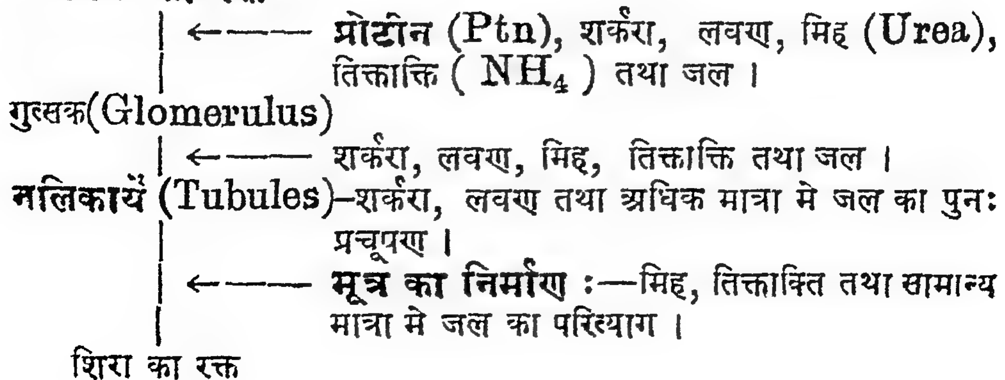
रोग की **अन्तिम** अवस्था मे यदि उपर्युक्त विधियों से लाभ न हो और

१२ घण्टे के अन्दर मूत्र का निर्माण न तो तब **रक्तरस** (Plasma) पा. १ या **संकेन्द्रित लसिका** (Concentrated serum) पा. ½ सिरा-मार्ग (I. V.) से दे सकते है। रक्तरस या लसिका देने से रक्त मे मिह (Urea) की मात्रा बढ़ जाती है और मूत्रविषमयता (Uraemia) होने की सम्भावना रहती है। इसलिये इस उपद्रव से बचने के लिये रक्तरस या लसिका देने के पूर्व सिरामार्ग से रक्त निकाल (V. S.) देना चाहिये। जितनी औषधि प्रवेश करना हो उतना ही रक्त निकालना चाहिये।

अन्य चिकित्सा:—रोग के कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। दक्षिण हृदयातिपात (Rt:Ht : failure) रहने पर डिजिटेलिस (Digitalis) द्वारा हृदय की शक्ति बढ़ाना चाहिये। सल्फा (S.) औषधि के कारण अमूत्रता होने पर तत्काल गवीनी (Ureter) के अन्दर रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर डेक्सट्रोस के समबल घोल (Isotonic dextrose sol) से गविनी-मुख (Pelvis) को धोकर सल्फा औषधि के स्फटिक (Crystal) निकाल देना चाहिये। मूत्रस्रोत (Urethra) तथा मूत्राशय (Bladder) को भी धो देना चाहिये। इस अवस्था में सिरामार्ग (I. V.) से सावधानी पूर्वक बूँद-बूँद कर निरन्तर (Drip method) समबल लवण घोल (N. saline) आदि देना चाहिये। हाथ-पैर कुचल जाने पर शाखा को पट्टी से कस कर बाँध देना चाहिये तथा स्तब्धता की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

वृक्क का कार्य तथा मूत्र का निर्माण

वृक्क के भाग **वृक्क के भिन्न-भिन्न भागों मे जल में स्थित पदार्थ।**



(१३) मूत्र-विषमयता (Uraemia)

परिचय :—वृक्क के निम्न कार्य हैं :—

(क) धमनी द्वारा रक्त गुत्सक (Glomerulus) मे आता है। इस स्थान पर रक्त छनता (Filter) है। इस क्रिया से छन कर जो पदार्थ निकलता है वह प्रोटीनरहित (Ptn : free) होता है। इस पदार्थ मे शर्करा, यूरिया (Urea), लवण (Nacl), अमोनिया (NH_4) तथा जल रहते हैं। यह छना हुआ पदार्थ नलिकाओं (Tubules) मे जाता है।

(ख) नलिकाओ (Tubules) मे दो क्रियायें होती हैं :—

१—शर्करा, लवण तथा जल की अधिक मात्रा का प्रचूषण (Absorption) हो जाता है। ये पदार्थ देहली पदार्थ (Threshold substance) कहलाते हैं। २—मिह (Urea), तिक्ताक्ति (Ammonia) जल तथा अन्य अनावश्यक पदार्थों का परित्याग (Excretion) होता है। इसको **मूत्र** कहते हैं।

(ग) उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त वृक्क रक्तरस (Plasma) में लवण तथा रक्त की प्रतिक्रिया (Reaction) पर नियन्त्रण करता है। शरीर के प्रायः प्रत्येक श्राव (Secretion) की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) होती है। निम्न क्रियायें रक्त की प्रतिक्रिया को क्षारीय रखती है :—

(अ) **प्रोटीन** (Ptn) तथा **लवण** का प्रभाव (Buffering action)।

(आ) आम्लिक (Acid) पदार्थों का वृक्क से परित्याग।

(इ) फुफ्फुस द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) का परित्याग।

(ई) **प्रोटीन**(Ptn) के नष्ट होने पर अमोनिया (NH_4) की उत्पत्ति।

(ए) शरीर में क्षार के रूप मे सोडी बाइकार्ब का रहना।

अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की उत्पत्ति :—

वृक्क दो प्रकार के फौसफेट (NaH_2PO_4 & Na_2HPO_4) का रक्त मे नियत्रण करता है। साधारणतः आम्लिक फौसफेट (Acid phosphate) का मूत्र द्वारा परित्याग होता है। इस लिये मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक (Acid) होती है। वृक्क के कार्य मे गडगड़ी होने पर रक्त मे फौसफोरिक एसिड (Phosphoric acid) का संचय होता है और अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की उत्पत्ति होती है। मधुमेह (Diabetes) मे एसि-

टोन (Acetone) तथा वृक्क की गड़बड़ी मे फौसफोरिक एसिड रक्तके सोडी-बाइकार्ब से मिलकर स्थायी लवण बनाते है। इस प्रकार शरीर के क्षार (Alkali) मे कमी होती है।

अतः स्रावी ग्रन्थियों का प्रभाव :—

वृक्क के कार्य पर निम्न अन्तःस्रावी ग्रन्थियो (Endocrines) का प्रभाव है :—

(क) **उपवृक्क के बाह्यक** (Adrenal cortex) के स्राव की कमी होने पर शरीर से **लवण** (Nacl) तथा **जल** का परित्याग होता है।

(ख) **पीयूष ग्रन्थि** के मूत्र-निरोधी (Anti-diuretic hormone of pituitary) श्राव मे कमी होने पर अत्यधिक मात्रा मे जल का परित्याग होता है।

रसायनिक पदार्थों के परिवर्तन के कारण लक्षणों की उत्पत्तिः—

वृक्क के कार्य मे गड़बड़ी होने पर शरीर मे व्यापक विकृति होती है तथा रक्त के रसायनिक (Chemical) पदार्थों की मात्रा मे परिवर्तन होता है। (क) **गुत्सक** (Glomerulus) मे विकृति होने पर लसिका (Serum) मे **फौसफोरस** (Ph), **सल्फेट** (SO_4), **अप्राभूजिनभूयाति** (N. P. N.) की वृद्धि होती है। प्रथम दोनो पदार्थ अम्ल (Acid) है इसलिये **अम्लोत्कर्ष** (Acidosis) होने की सभावना रहती है। परिणाम स्वरूप **श्वसन संस्थान** के लक्षण होते है।

फौसफारस की वृद्धि के कारण **वातनाड़ी संस्थान** (C. N. System) उत्तेजित होता है और **आक्षेप** (Convulsion) आदि लक्षण होते हैं। नाइट्रोजन (N. P. N.) की वृद्धि के कारण **रक्तनिपीड़** (B. P.) की वृद्धि होती है तथा **मस्तिष्क शोफ** (Cerebral oedema) के लक्षण होते है। रक्त मे **कैलसियम** (Cal:) की मात्रा कम हो जाती है। रक्त मे कैलसियम की कमी तथा फौसफारस की वृद्धि होने पर पैराथायरोयड (Parathyroid) का कार्य विकृत हो जाता है और **अपतानिका** (Tetany) के लक्षण होते हैं।

(ख) **नलिकाओं** (Tubules) के कार्य मे कमी होने पर सोडियम (Na), पोटासियम (K.), कैलसियम (Cal) आदि का शरीर से परित्याग होता है तथा अमोनिया (NH_4) बनाने की शक्ति कम हो जाती

है। **पोटासियम** की कमी के कारण पेशियाँ (Muscles) **दुर्बल** हो जाती है। अमोनिया रक्त मे क्षार (Alkali) को नष्ट होने से बचाता है। परिणामस्वरूप **अम्लोत्कर्ष** (Acidosis) होने की संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त लसिका (Serum) मे **कार्बनडाइऑक्साइड** (CO_2) तथा **प्रोटीन** (Ptn) की कमी हो जा सकती है। वृक्क के रोगो मे **अस्थि-मज्जा** (Bonemarrow) का कार्य शिथिल हो जाता है और **रक्ताल्पता** (Normocytic anaemia) की उत्पत्ति होती है। कैलसियम की कमी के कारण बाल्यावस्था मे अस्थियाँ मुलायम हो जाती हैं। इस अवस्था को **वृक्कीय फक्करोग** (Renal rickets) कहते हैं।

वृक्क की कार्यशीलता में कमी के कारण, रसायनिक पदार्थों की मात्रा में परिवर्तन होने का परिणाम

रसायनिक पदार्थ	परिणाम
फौसफोरस (Ph), सल्फेट (SO_4) की वृद्धि। सोडियम (Na) पोटासियम (K.) कार्बन डायोक्साइड (CO_2) अमोनिया (NH_4) तथा प्रोटीन (Ptn) की कमी।	अम्लोत्कर्ष (Acidosis) तथा श्वसन संस्थान के लक्षणो की उत्पत्ति
फौसफोरस की वृद्धि	वातनाड़ी संस्थान की उत्तेजना।
नाइट्रोजन [N.P.N.] की वृद्धि	रक्तनिपीड़ (B. P.) की वृद्धि तथा मस्तिष्क शोफ (Cerebral oedema) की उत्पत्ति।
कैलसियम (Cal) की कमी तथा फौसफोरस की वृद्धि।	अपतानिका (Tetany) की उत्पत्ति। वृक्कीय फक्करोग (Renal rickets) की उत्पत्ति।
पोटासियम (K) की कमी	पेशी दौर्बल्य
अस्थिमज्जा (Bonemarrow) की शिथिलता।	ऋजुकायाणिवक रक्ताल्पता (Normocytic anaemia) की उत्पत्ति

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि **मूत्रविषमयता** अत्यन्त जटिल क्रिया है। वृक्क की कार्यशीलता में कमी होने के कारण मूत्रविषमयता की उत्पत्ति होती है और वृक्क के कार्य मे जितने अंश की कमी तथा जिस **रसायनिक पदार्थ**

की मात्रा में परिवर्तन होता है उसी के अनुसार लक्षणों की उत्पत्ति होती है। यह परिवर्तन प्रायः दो प्रकार के पदार्थों मे होता है। (क) सोडियम (Na), पोटासियम (K), कैलसियम (Cal:) आदि की मात्रा मे परिवर्तन होता है तथा इनका सन्तुलन (Electrolyte balance) विकृत हो जाता है। (ख) साथ-साथ नाइट्रोजन (N. P. N.) की रक्त मे वृद्धि होती हैं। द्वितीय विकृति की अपेक्षा प्रथम विकृत अधिक महत्वपूर्ण है। रसायनिक पदार्थों का सतुलन विकृत हो जाने से **अम्लोत्कर्ष** (Acidosis) की उत्पत्ति होती है। अम्लोत्कर्ष एक गभीर अवस्था है इस लिये चिकित्सा की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है।

मूत्र विषमयता के लक्षण :—रोग की **प्रारम्भिक अवस्था** मे तंद्रा (Drowsiness), सिर मे पीड़ा, दौर्बल्य, आलस्य, खुजली, वमन, चिड़चिड़ापन, नेत्रकला (Conj) का रक्तवर्ण होना, कब्ज या पतले दस्त, क्षुधानाश, मलावृत (Coated) शुष्क जिह्वा, चेन-स्टोक श्वसन (C-S. resp :), दुर्गन्धित श्वसन, प्यास, आदि लक्षण होते है। पश्चात् जलाल्पता (Dehydration) तथा अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की उत्पत्ति होती है। **अंतिम अवस्था** मे मूर्छा, सन्यास (Coma) तथा आक्षेप (Convulsions) होते है। लक्षणो की गभीरता, वृक्क की कार्यशीलता में कमी, हृदयातिपात (Ht failure) तथा ऊच्चरक्त निपीड़ (B.P.) पर निर्भर करती है। हृदयातिपात के कारण रात्रि मे प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र (Paroxysmal dyspnoea) होता है। उच्च रक्त-निपीड़ के कारण मस्तिष्कीय (Cerebral) लक्षण होते है जैसे :— अगघात (Paralysis), शिर मे पीड़ा, आक्षेप (Convulsions), अधता (Blindness) आदि।

नोट :—मूत्रविषमयता तथा उपसर्ग (Ifn:) दोनो मे वमन तथा पतले दस्त होते हैं। उपसर्ग जब ठीक होने लगता है तब प्रथम वमन बन्द होता है, कुछ समय पश्चात् पतले दस्त ठीक होते है परन्तु **मूत्रविषमयता** मे यदि ये लक्षण रहते हैं तब इस उपद्रव के ठीक होने पर प्रथम पतले दस्त बन्द होते है पश्चात वमन का शमन होता है।

मूत्र-संस्थान के लक्षण प्रायः क्रियात्मक (Functional) अथवा **रचनात्मक** (Organic) रोगो के कारण होते हैं इसलिये इन लक्षणों की

चिकित्सा के साथ साथ मूल रोग की भी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये ।

परीक्षाएँ :— मूत्र परीक्षा करने पर यदि शुक्लि (Alb), निर्मोक (Cast) आदि मिलें तब **रक्त** मे नाइट्रोजन (N. P. N) की मात्रा का पता लगाना चाहिये । वृद्धावस्था मे मूत्र परीक्षा करने पर यदि वृक्क के रोग का प्रमाण मिले तथा रोगी मे तन्द्रा (Drowsiness) प्रतीत हो तब मूत्रविष-मयता की सभावना ध्यानमे रखना आवश्यक है । रोगी का रक्त निपीड़ (B. P.) देखना चाहिये । नेत्रवीक्षण यंत्र (Ophthalmoscope) द्वारा नेत्र की परीक्षा करने पर दृष्टिपटल (Retina) मे रक्तश्राव (Bleeding), दृष्टिबिम्बशोफ (Papilloedema) आदि का प्रमाण मिल सकता है ।

चिकित्सा :—मूत्रविषमयता की चिकित्सा रोग के कारण तथा लक्षणों के अनुसार की जाती है ।

(१) **भोजन :**—भोजन मे प्रोटीन (Ptn) की मात्रा कम कर देनी चाहिये । इससे रक्त मे नाइट्रोजन (N. P. N.) तथा सल्फेट (SO_4) आदि मे कमी होती है । तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये । **जल** की मात्रा पर्याप्त होना आवश्यक है । प्र. दि. कम से कम ६–८ पा. जल रोगी के शरीर मे जाना चाहिए । मूत्र का निर्माण पूर्णरूप से स्थगित हो जाने पर (Anuria) अधिक मात्रा मे जल देने से हानि हो सकती है । ग्लूकोस सोडी बाइकार्ब (यो.११२) गुदा मार्ग से बूद-बूद कर ४–८ औ.प्र. ४ घटे पर देना चाहिये ।

(२) **रक्त के रसायनिक पदार्थों** (Electrolyte balance) के सतुलन को ठीक करने के लिये सिरामार्ग (I. V.) से समबल **लवण** घोल (यो ६६) देना चाहिये । अर्धबल लवण घोल (यो. ४६) मुख द्वारा पीने को दे सकते है । मुख द्वारा कैलसियम (यो ६१) ग्रे० २०-१५ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये । सोडी साइट्रस (Sodi : cit :), पोटास साइट्रस (Pot : cit :), सोडी-बाइकार्ब (Sodi : bi : carb) आदि ग्रे० २० त्रि० प्र० दि० मुख से देना चाहिये । **गंभीर अवस्था** मे **सोडी बाइकार्ब** ४–७½ प्र० श० औ० ८–१० (यो० ६५) तथा **साधारण अवस्था** मे **सोडी बाइकार्ब** २ प्र० श० (यो० ६५) समबल लवण घोल तथा ग्लूकोस ५ प्र० श० पा० १–२ के साथ सिरामार्ग से दे सकते हैं । इससे अम्लोत्कर्ष (Acidosis) मे कमी होती है । कैल-

सियम ग्लूकोनेट (Cal : Gluconate) १० प्र० श० १० सी० सी० सिरामार्ग (I. V.) से देने से अपतानिका (Tetany) जन्य आक्षेप (Convulsions) मे लाभ होता है । सोडी बाइकार्ब (यो० ६५) का घोल सिरामार्ग से पा० १. बूद ४०-६० प्र० मि० की गति से भी दे सकते है । **एल्यूमीनम हाइड्रोक्साइड** (Aluminum hydroxide) ड्रा ४, मुख मार्ग से ३–४ बार प्र० दि० देने से अपतानिका (Tetany) होने की संभावना कम होती है । यह औषधि आन्त्रमे फौसफेट (Phosphate) से मिलकर स्थायी लवण बनाती है परिणामस्वरूप रक्त मे कैलसियम (Cal:) की वृद्धि तथा फौसफेट (ph :) की कमी होती है ।

(३) **शीर्षान्तरीयनिपीड़** (Intracranial tension) की वृद्धि की उपयुक्त (पृ० १४८) चिकित्सा करनी चाहिये ।

(४) **अन्य चिकित्सा :—कब्ज** रहने पर मैगसल्फ (Mag sulph) ड्रा० ४ (यो० ३३) या रेडी का तेल (यो० ३२) अथवा अल्प मात्रा मे कैलोमेल (यो०५२) देना चाहिये । **शामक** औषधियो मे परालडिहाइड (Paraldehyde) सर्वोत्तम है । इसको पेशी (I. M.) मार्ग से २-८ सी०सी० अथवा गुदामार्ग से ड्रा० ४-५ जैतून का तेल (Ol. olive) औ० १ मे मिलाकर आ० अ० दे सकते है । **वमन** की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। ग्लूकोस १२ ½ प्र०श० पा० १ या २५ प्र० श० २००सी० सी०प्र० दि० सिरामार्ग (I. V.) मे देने से वमन मे लाभ होता है । हृदयातिपात (Ht-failure) की चिकित्सा निराशाप्रद है । मूत्रविषमयता की चिकित्सा मे लवण (Nacl) का प्रयोग करना पड़ता है । लवण के प्रयोग से हृदयातिपात की वृद्धि होती है। इसलिये हृदयातिपात की समस्या अत्यन्त जटिल है । **रक्काल्पता** (Anaemia) की चिकित्सा भी निराशाप्रद है । रक्तप्रदान (Blood trans :) से लाभ होता है । वृक्क को कार्यशील करने के लिये कटि प्रदेश (Lumbar region) पर तुम्बी (Cupping) भी लगाई पृ. ७) जाती है ।

विसूचिका (Cholera) मे मूत्रविषमयता की सम्भावना रहती है, विशेषकर उन रोगियो मे जिनमे रोग की चिकित्सा देर से प्रारम्भ की जाती है और समय पर लवण घोल (Saline) आदि का प्रयोग प्रारम्भ न करने के कारण रोगी निपात (Collapse) की अवस्था मे अधिक समय तक रह जाता

है। रक्त निपीड़ (B. P.) की कमी, रक्त के वि०गु० (Sp-gr) की वृद्धि तथा शरीर में क्षार (Alkali) की कमी इसके सहायक कारण हैं। विसूचिका का विष वृक्क मे भी विकृति उत्पन्न करता है इस लिये वृक्क की कार्यशीलता मे कमी हो जाने पर शरीरसे विषका परित्याग वमन तथा दस्तसे ही सम्भव है। विसूचिका में अ० प्रो० भू० (N. P. N.) की विशेष रूप से वृद्धि होती है। इसकी विशेष वृद्धि अनिष्ट की सूचक है। विसूचिका के रोगी का भविष्य बहुत कुछ वृक्क की कार्यक्षमता पर निर्भर करता है। पर्याप्त मात्रा में मूत्र का निरन्तर परित्याग होते रहना आशाप्रद है।

(१४) रक्तस्राव (Bleeding)

परिचय :—किसी रोगी में रक्तस्राव होने की सम्भावना है या नहीं यह जानने के लिये रक्तस्रवण काल (Bleeding time), रक्त स्कन्दन काल (Coagulation time) आदि परीक्षायें की जाती हैं परन्तु इन परिक्षाओं में अनेक कारणों से परिवर्तन हो सकता है इस लिये इन परीक्षाओं से किसी विशिष्ट रोगका ज्ञान सम्भव नहीं है। रक्तस्राव रोकनेके लिये यदि यह पता चल सके कि किस रक्तवाहिनी (B. V.)के विदीर्ण होनेसे रक्तस्राव हो रहा है और वह रक्तवाहिनी यदि सरलता से स्पर्शलभ्य हो तब उस रक्तवाहिनी को तागे से बाध देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। जब विकृत रक्तवाहिनी स्पर्शलभ्य नहीं होती अथवा केशिकाओ (Capillaries) से रक्तस्राव होता है तब रक्तस्राव बन्द करने के लिये औषधियो पर निर्भर करना पड़ता है और औष-धियों का परिणाम अनिश्चित है। रक्तस्राव प्रधानतया तीन कारणों पर निर्भर करता है, रक्तस्कन्दन (Clotting), रक्तचक्रिका (Platelets) अथवा रक्तवाहिनीयों (B. V.) की प्राचीर (Wall) मे विकृति होने से।

रक्तस्रावी रोगों का वर्गीकरण :—

(अ) **रक्तस्कन्दन क्रिया** (Clotting) मे विकृति के कारण :—

(क) **अकारणज (अज्ञात) :—**शोणितप्रियता (Haemophilia) :—इसमें रक्तस्कन्दन काल (Clotting time) बढ़ जाता है। चिकित्सा के लिये ताजा संपूर्णरक्त, रक्तरस (Plasma) अथता शोणितप्रियता विरोधी ग्लोब्यूलिन (Anti-hemophilic globulin) सिरा मार्ग से दें।

(ख) अल्प पूर्व घनास्त्रिमयता (Hypo-prothrombinemia) :—नवजात शिशु के रक्तस्रावी रोग, यकृत के रोग, भोजन मे जीवतिक्ति 'के' (Vit:K) की कमी, गर्भावस्था मे माता में कामला (Jaundice) होने से, हेपरिन (Heparin) अथवा डिक्यूमेरौल (Dicumarol) की विषाक्तता तथा अत्यधिक वसायुक्त (Fatty) दस्त होने पर।

नोट :—नवजात शिशु के रक्तस्रावी रोगो मे जीवतिक्ति 'के' (Vit:K.) की कमी रहती हैं। **निदान** की दृष्टि से इन रोगों मे रक्तस्रवण काल (Bleeding time), रक्त स्कन्दन काल (Clotting time) तथा पूर्व घनास्त्रिकाल (Pro-thrombin time) की वृद्धि होती है।

(ग) रक्त में तन्त्विजन (Fibrin) **की कमी** (Fibrinopenia) होने से :—यह विकृति प्राय: सहज (Congenital) होती है अथवा यकृत के रोगो मे मिलती है। इनमे पूर्वघनास्त्रिकाल (Prothrombin time) की वृद्धि होती है।

(आ) रक्त-चक्रिकाओं (Platelets) **की विकृति के कारण** :—घातक अर्बुद (Malignant disease), निलोहा (Purpura) अकारणज (Idiopathic), जन्मोत्तर (Acquired), **रक्त के रोगों** की अन्तिम अवस्था मे जैसे श्वेतमयता (Leukaemia), वैनाशिक रक्तक्षय (P. A.), शोणाशिक (Hemolytic), प्लीहज (Splenic) अपचयिक (Aplastic) रक्ताल्पता, परमप्लैहिकता (Hyper-splenism) तथा क्ष-किरण (X-ray), तेजोद्गार (Radio-active) पदाथ आदि के प्रयोग से।

नोट :—इन रोगों मे रक्त-चक्रिकाओ की कमी के साथ साथ रक्तस्रवण काल (Bleeding time) तथा रक्त स्कन्दन-काल (Clotting time) चढ़ जाता है और प्राय: केशिकाओ की भगुरता (Capillary fragility) मे भी वृद्धि होती है। चिकित्सा की दृष्टि से रोग की **तीव्र अवस्था** मे यदि विषमयता की सम्भावना हो तब विष को बन्द करना, उसका शरीर से परित्याग कराना तथा सम्पूर्ण रक्त सिरा (I. V.) से प्रवेश कराना चाहिये। **चिरकालीन** अवस्था मे प्राय: प्लीहा को निकाल देने (Splenectomy) से ही लाभ होता है।

(इ) रक्तवाहिनियों (B. V.) की विकृति के कारण :—

(क) तीव्र उपसर्ग (Ifn:) :—इन अवस्थाओं में केशिकाओं की भगुरता (Capillary fragility) बढ़ जाती है तथा रक्तस्कन्दन-काल (Clotting time) बढ जाता है। यह अवस्था मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), मसूरिका (S.pox), अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृच्छोथ (Subacute bacterial endocarditis), रोमान्तिका (Measles), वेल का रोग (Weil's disease) आदि मे होती है। इन रोगो की विशिष्ट औषधियो द्वारा चिकित्सा करने से रक्तस्राव मे भी कमी होती है।

(ख) केशिका भंगुरता (Capillary fragility) **की वृद्धि** अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से होती है जैसे :—प्रशीताद (Scurvy) में जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C.) की कमी से, सुवर्ण, संखिया (As), बिसमथ (Bis:), आयोडाइड (I), ब्रोमाइड (Br), सर्प (Viper)-दंश, सल्फा (S) औषधियाँ आदि में विष के प्रभाव से। हैनोक, शानलीन की निलोहा (Henoch's, Schonlein's purpura) आदि मे अनूर्जता (Allergy) के कारण रक्तस्राव होता है। इन अवस्थाओंकी चिकित्सा में विषाक्तता की सम्भावना रहने पर विषाक्त औषधि बन्द कर देना चाहिये। सर्पदंश मे सर्पविष निरोधी लसिका (Antivenine) देना चाहिये। प्रशीताद (Scurvy) मे जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) देना चाहिये तथा अनूर्जता (Allergy) के कारण रक्तस्राव होने पर जिस पदार्थ के कारण अनूर्जता हो उस पदार्थ को बन्द कर एन्टिस्टीन (Antistine) आदि अनूर्जता निरोधी (Antihistaminics) औषधियाँ देना चाहिये। आ० अ० रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये।

(ग) सहज (Congenital) **कारणों से** रक्तवाहिनियो मे विकृति होने से भी रक्तस्राव होता है। यह अवस्था निलोहा (Purpura) तथा वाहिन्यन्ताभिस्तीर्णता (Telangiectasia) मे मिलती है। इन रोगों में जीवतिक्ति 'सी' 'के' (Vit : C, K.) तथा अन्य रक्तस्राव निरोधी औषधियाँ देने से लाभ होता है।

(घ) केशिकाओं (Capillaries) **की विकृति** के अन्य कारण :— वृक्क (Kidney), यकृत, आदि के रोग।

शोणित प्रियता (Hemophilia)

परिचयः—इस कुलज(Hereditary) रोग मे रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है।

चिकित्साः— (१) **प्रतिषेधः**—रोगी को चोट लगने से बचना चाहिये। जिस परिवार की स्त्री के द्वारा इस रोग के संवहन की संभावना हो उस स्त्री को गर्भ धारण नही करना चाहिये। इस स्त्री के गर्भवती होने पर प्रसव के २–३ दिन पूर्व से ही जीवतिक्ति 'के' (Vit:K) मि.ग्रा. २–१० पेशी मार्ग (I.M.) से प्र. दि. देना चाहिये। प्रसव के पश्चात् शिशु को जीवतिक्ति 'के' मि. ग्रा. ३ पेशी मार्ग से या मि. ग्रा. १ त्रि. प्र. दि. मुख द्वारा देना चाहिये। उपसर्ग की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन मे प्रोटीन (पृ.५) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। दूध, अडा आदि प्रयोग करना चाहिये। इन पर शल्यकर्म (Op.) नहीं करना चाहिये। शल्यकर्म अनिवार्य होने पर शल्यकर्म करने के पूर्व रोगी को कैलसियम (Cal:), जीवतिक्ति 'सी', 'के' (Vit C. K.) आदि पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। यथा सभव रक्त-स्कन्दन तथा रक्तस्रवण काल (Bleeding & Coagulation time) प्राकृत हो जाने पर ही शल्यकर्म करना चाहिये। शल्यकर्म के समय रक्तवाहिनियो (B. V.) का ठीक से बाँध देना चाहिये। यदि संभव हो तब शल्यकर्म की क्रिया को दो या तीन भागो मे विभाजित करे। रोगी को एक बार मे अधिक आघात नही पहुँचाना चाहिये। रक्तप्रदान (Blood trans:) का प्रबन्ध रहना चाहिये तथा इसका आ. अ. प्रयोग करना चाहिये। रोगी को चोट लगने वाले खेल अथवा व्यवसाय मे भाग नही लेना चाहिये। खाँसी, छींक, हृदयातिपात (Heart failure), उच्चरक्त निपीड (B.P.) आदि अवस्थायें जिनसे रक्तस्राव होने मे सहायता मिलती है उनकी शीघ्रता से चिकित्सा करानी चाहिये। पैर पर कुटिल सिरायें (Varicose vein) अथवा शरीर पर व्रण रहने पर उसे ठीक से पट्टी से बाँध कर रखना चाहिये जिससे उसमे चोट लग कर रक्तस्राव न हो। नाक मे सरसो का तेल डालने से नाक से रक्तस्राव कम होता है।

(२) **रक्तस्राव** (Bleeding) **की चिकित्सा**:—साधारण रक्तस्राव मे सपूर्ण रक्त १०–२५ सी० सी० पेशीमार्ग (I. M.) से देना चाहिये। **रक्त, रक्तकण** (RBC) **तथा रक्त के योग** सर्वोत्तम है। आघात होने पर या अधिक रक्तस्राव की संभावना रहने पर ही रक्तप्रदान

(Blood trans :) करना चाहिये अन्यथा इस रोग में कुछ समय पश्चात रक्तप्रदान प्रभावहीन हो जाता है।

(क) **रक्त के योग :—** इन औषधियों को सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये। ताजा संपूर्ण रक्त (Fresh whole blood) सर्वोत्तम है। इसको रोगी के भार के अनुसार २० सी०सी०प्र०से०भा० तक रक्तस्राव के समय तत्काल देना चाहिये। **रक्तरस** (Plasma) में हेपरीन (Heparin) या साइट्रेट (Citrate) मिलाकर बनाया जाता है।' हेपरिन मिले रक्तरस का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। परन्तु रक्तरस भी ताजा होना चाहिये। २४ घं० से अधिक पुराना होने से प्रभाव उत्तम नहीं होता। संपूर्ण रक्त प्रदान करने से अनेक दिन तक रक्तस्राव बन्द रहता है। कुछ दिन पश्चात पुनः रक्तप्रदान करना चाहिये। **मनुष्य के रक्तरस** से बना शोणितप्रियता निरोधी वर्तुलिक (Anti-hemophilic globulin) चूर्ण के रूप मे मिलता है। इसका प्रायः ४०० मि० ग्रा० १०० स० सी० ताजे रक्त के बराबर होता है। मनुष्य के रक्त से बना **सूखा रक्तरस** भी प्रयोग किया जाता है। इसको बरफ मे या तापनियन्त्रण यन्त्र (Refrigerator) में रखना पड़ता है। यह तीन मास से अधिक पुराना नही होना चाहिये।

(ख) **अन्य औषधियाँ :—**इनका प्रभाव अनिश्चित है। जीवतिक्ति 'सी', 'पी', 'के' (Vit : C. P. K. Rutin), रक्तस्राव निरोधी लसिका (Hemostatic serum), कैलसियम (Cal :), अरगट (Ergot), एड्रीनलीन (Adrenalin), बीजग्रथिसत्व (Oestergen, folliculin), उपावटुका ग्रथिसत्व (Parathyoid ext:), रक्तचक्रिका (Platelet) के योग, थ्रोम्बोप्लासटीन (Thromboplastin) आदि भी प्रयोग किये जाते हैं। जीवतीक्ति 'के' (Vit : K.) मि० ग्रा० १–१० पेशीमार्ग (I. M.) या सिरामार्ग (I. V.) से त्रि० या० चा० प्र० दि० तब तक देना चाहिये जब तक रक्तस्राव बन्द न हो जाय।

(ग) **स्थानिक चिकित्सा :—**जिस स्थान से रक्तस्राव होता हो उस स्थान पर स्वस्थ मनुष्य का रक्त, लसिका (Serum), थ्रोम्बीन (Thrombin), थ्रोम्बोप्लास्टिन (Thromboplastin), सर्पविष (Russel's viper venom), खरगोश की वर्तुलिक (Rabbit globulin) आदि लगाकर पट्टी से कसकर बांधकर रखना चाहिये।

(३) रक्तस्राव ठीक हो जाने पर :—अपरा सत्व (Placental ext :) मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है । अण्डे की सफेदी पेशी (I.M.) या सिरामार्ग (I. V.) से दी जाती है । शोणितप्रियता की चिकित्सा का एक सिद्धान्त है कि यदि रोगी में प्रोटीन (Ptn) सह सकने की शक्ति कम कर दी जाय (Hypersensitiveness) तब संभव है कि रक्तस्राव की प्रवृत्ति कम हो जाय । इस सिद्धान्त से रोगी को भेड़ या मुर्गी की लसिका (Serum) अन्तः स्त्वक (I. D.) मार्ग से दी जाती है । यदि रोगी इसको सहन कर लेता है तथा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती तब उसको पेशी मार्ग (I. M.) से इसी पदार्थ की ३ सी० सी० दी जाती है । १-२ सप्ताह पश्चात पुनः इसी औषधि को अन्तःस्त्वक मार्ग (I.D.) से देते हैं । रक्तस्कदन काल (Coagulation time) प्राकृत हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये । एक वर्ष पश्चात रक्तस्कंदन काल में यदि पुनः वृद्धि हो जाय तब इस चिकित्साक्रम को पुनः करना चाहिये ।

रक्तस्राव की साधारण चिकित्सा

(१) स्थानिक (Local) चिकित्सा:—

(क) दबाव द्वारा चिकित्सा :—जिस रक्तवाहिनी (B. V.) से रक्तस्राव होता हो उसको तत्काल रेशम से बाँध देना चाहिये । यदि यह संभव न हो तब उस रक्तवाहिनी के ऊर्ध्व भाग को जिस स्थान पर वह उत्तान हो तथा किसी अस्थि के सामने हो उस स्थान पर रबर की नलिका अथवा बंधन (Tourniquet) से कस कर बाँधना चाहिये । २० मिनट से अधिक समय तक किसी स्थान का रक्तप्रवाह स्थगित नहीं किया जा सकता परन्तु २० मिनट के पश्चात् कुछ समय के लिये बंधन ढीला कर पुनः उसको कस कर बाँध सकते हैं। रक्तस्राव के स्थान को अंगूठे से भी दबा कर रख सकते हैं परन्तु यह क्रिया १० मिनट से अधिक समय तक संभव नही है । रक्तस्राव के स्थान पर स्थानिक रक्त-स्राव निरोधी औषधियाँ लगा कर कस कर पट्टी बाँधने से भी रक्तस्राव बन्द होता है ।

(ख) रक्तस्राव निरोधी स्थानिक औषधियाँ (Local-hemostatics) :—रक्तस्राव वाले स्थान पर टि. फेरी परक्लोर (Tr: ferri: perchlor), फिटकिरी (Alum), एड्रीनलीन (Adrenaline)

१ : १०००, आदि में रुई भिगाकर १०–१५ मिनट कस कर दबाने से रक्तस्राव बन्द होता है। कलोडियन (Collodion), थ्रोम्बिन (Thrombin topical P. D.), थ्रोम्बोप्लास्टिन. (Thromboplastin), रसेल (Russel viper venom, stypven 'B.W.Co' rusven 'Bo', venomostat 'I.B.L.') १ : १०००. हिमोप्लास्टिन (Haemoplastin). अश्व-लसिका (Normal horse serum), खरगोश की ग्लोब्यूलिन (Rabbit's globulin), गेंदे की पत्ती का रस आदि लगा कर कस कर बाधना चाहिये। कुछ रक्तस्राव निरोधी औषधियां पट्टी (Dressing) के रूप में बनी बनाई मिलती हैं जैसे जेलफोम (Gelfoam, fibrinfoam, oxycel) आदि। ये औषधियां स्थानिक रक्तस्राव निरोधी होने के अतिरिक्त इनका प्रचूषण भी होता है। मसूड़ों (Gums) से रक्तस्राव होने पर ये औषधियां लगाई जा सकती हैं।

(ग) अग्निकर्म (Cauterization) :—जिस रक्त वाहिनी से रक्त स्राव होता है उसको गर्म लोहे से छू देने से या गर्म जल में वस्त्र भिगा कर लगाने से रक्तस्राव बन्द हो सकता है यह कार्य कुछ औषधियां लगाने से भी हो सकता है जैसे :—टैनिकएसिड (Tannic acid), ट्राईक्लोर एसिटिक एसिड (Trichlor-acetic acid), क्रोमिक एसिड (Chromic acid), फेरिक क्लोराइड (Ferric chloride) आदि। इन औषधियों को प्राकृत स्वरूप में प्रयोग किया जाता है। इनमें जल आदि मिलाने से इनका प्रभाव कम हो जाता है।

(२) आत्मप्रकृतिक (Constitutional) चिकित्सा :—जब रक्तस्राव ऐसे स्थान में होने लगता है जो स्पर्शलभ्य नहीं होता जैसे आमाशय, आन्त्र, फुफ्फुस आदि में तब ऐसी औषधियों प्रयोग करना पड़ता है जो मुख अथवा इन्जेक्शन द्वारा कार्य करती है। व्यापक रक्तस्राव में रक्तस्राव के अतिरिक्त, **स्तब्धता** (Shock) तथा **रक्ताल्पता** (Anaemia) की भी चिकित्सा करनी पड़ती है। इसके लिये सिरा मार्ग (I. V) से ताजा सपूर्ण रक्त या रक्तरस (Plasma) प्रयोग करना चाहिये। लसिकारहित लाल कण (Serumfree R.B.C.) भी सिरामार्ग से प्रयोग किया जाता है। **रक्त-रस** (Plasma) में चक्रिकाये (Platelets) नहीं होती। यह औषधि यथा-सभव ताजी होनी चाहिये। यदि इसको जमाकर (Frozen) रखा जाये

तब १० दिन से पुरानी नही होनी चाहिये। रक्तरस मे पूर्वघनाखि (Prothrombin), तन्त्विजन (Fibrinogen) तथा शोणितप्रियता विरोधी ग्लोब्युलिन (Anti-hemophilic-globulin) रहती है। इसके अतिरिक्त रक्तरस मे कुछ अज्ञात पदार्थ रहते हैं जो रक्तस्राव रोकने मे मदद करते हैं। स्त्वधता के लिये रक्त-रस प्रतिनिधि (Intradex), ग्लूकोस सेलाइन (Glucose saline) आदि सिरा से दिये जाते है। कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal: gluconate) १० प्र. श. १० सी. सी. रेडौक्सन (Vit:C) मि.ग्रा. ५००, जीवतिक्ति के (Vit:K) मि.ग्रा. १०, कौंगोरेड (Congo-red) आदि सिरा मार्ग से दे सकते हैं। कोयेगुलीन (Coagulin 'Ga') सी. सी. ५–२०, हिमोप्लास्टिन (Hemoplastin. P. D.) सी. सा. २ आदि पेशी मार्ग (I.M.) से प्र ४ घ० दे सकते है।

(३) अन्य चिकित्सा :—परमप्लैहिकता (Hypersplenism), कुछ प्रकार के निलोहा (Purpura), वैन्टी का रोग (Banti's disease), गौशर का रोग (Gaucher's disease) आदि मे प्लीहोच्छेदन (Splenectomy) करना पडता है। रोगी की सिरा से १० सा०सी० रक्त लेकर उसकी पेशियो मे प्रवेश कराने (Auto-hemotherapy) अथवा ५–१० सी०सी० दुग्ध आदि विजातीय प्रोटीन (Foreign Ptn) के इन्जेक्शन से लाभ हो सकता है। धातुसत्व (Tissue ext:) भी प्रयोग किया जाता है। रोगी के माता-पिता अथवा अन्य निकट सबन्धी की सिरा से १०–२० सी०सी० रक्त लेकर रोगी को पेशी मार्ग (I.M.) से द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते है।

मोरफीन के प्रयोग के विषय मे मतभेद है। आमाशय या आन्त्र से यदि रक्त-स्राव होता हो तब इसका प्रयोग न करना ही ठीक है अन्यथा बेचैनी कम करने के लिये मौरफीन (M & A) ग्रे० $\frac{1}{4}$, पेथिडीन (Pethidin), यूकेडौल (Eukadol), फाइसेप्टौन (Physepton) आदि अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से दे सकते हैं। फुफ्फुस, यकृत तथा वृक्क के रोगो मे अफीम के योग हानि कर सकते हैं। पल्वइपीकाक को (Pulv ipecac co) ग्रे० ५ त्रि० प्र० दि० मुख से तथा इमेटीन (Emetine) ग्रे० $\frac{1}{2}$ पेशी मार्ग से (I. M.) भी प्रयोग किये जाते है। रोगी के पैर की ओर का शैय्या का भाग ऊँचा रखना चाहिये। शाखाओ को पट्टी से लपेट कर रखना अच्छा

है। शरीर के चारों ओर गरम पानी की बोतलें रखना चाहिये। रोगी को वस्त्र से ढक कर शैय्या पर लिटा कर रखना चाहिये। यदि पचन-संस्थान से रक्त-स्राव न होता हो तब रोगी को गरम पेय पीने को देना चाहिये जैसे चाय, कौफी आदि। निपात (Collapse) होने पर कोरामीन (Coramine), पिट्यूटरीन (Pituitrin) आदि उत्तेजक औषधियाँ दी जाती है परन्तु इनसे लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना अधिक है।

ग्लूकोस तथा समबल लवण घोल का प्रभाव यहाँ उत्तम नहीं है। इन औषधियों को सिरा मार्ग (I.V.) से बूँद-बूँद कर (Drip method) निरन्तर जब तक आवश्यकता हो देना चाहिये। लौह की कमी के लिये लौह के योग देना चाहिये परन्तु उपर्युक्त विधियों से रक्त की मात्रा (Vol) प्राकृत हो जाने पर भी थोड़ी रक्ताल्पता रह जाती है। यह रक्ताल्पता स्वयं हो १–२ मास में ठीक हो जाती है। इस पर चिकित्सा का कोई प्रभाव नहीं है। शामक (Sedative) औषधि यदि देना आवश्यक हो और उपरोक्त कारणों से यदि अफीम के योग देना ठीक न हो तब कोडीन (Codeine phos:) ग्रे. ½–१ मुख या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते हैं। वृद्धावस्था तथा शैशवावस्था में रक्तस्राव का परिणाम गम्भीर होने की सभावना अधिक रहती है। स्वास्थ्य ठीक रहने पर पा० १ तक रक्त निकल जाने से विशेष क्षति नहीं होती है। २ पा० रक्त निकल जाने से स्तब्धता (Shock) होती है तथा मृत्यु हो सकती है। रोगी को मुख द्वारा अथवा गुदा मार्ग से जल देना चाहिये। सिरा मार्ग से पा० १ रक्त देने से शोणवर्तुलि (Hb) तथा रक्त की मात्रा (Vol) में १० प्र. श. की वृद्धि होती है।

रक्तवमन (Hematemesis)

परिचय :—आमाशय का **प्रपाचीय व्रण** (Peptic ulcer) तथा **यकृद्दाल्युत्कर्ष** (Cirrhosis liver) इसके प्रधान कारण हैं इसलिये **मौरफीन** (Morphine) का इन्जेक्शन लगाने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि यकृत में विकृति नहीं है अन्यथा मौरफीन से हानि होने की सम्भावना है। इसकी चिकित्सा में मुख द्वारा पर्याप्त जल नहीं दिया जा सकता है इसलिये इसमें **जलाल्पता** (Dehydration) तथा शरीर में **लवण** (Nacl) की कमी होने की विशेष सम्भावना रहती है। इस उपद्रव से बचने के लिये मुख से जल न देकर अन्य मार्गों से जल देना आवश्यक है। अध-

त्वक (S. C.) मार्ग से समबल लवण घोल (N.saline) पा० २–३ प्र० दि० देना चाहिये। मुख से जल पीने का समय आने पर मुख से अर्ध-बल लवण घोल (यो. ४६) देना चाहिये। इसकी चिकित्सा मे आहार के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। वमन बन्द हो जाने पर तथा क्षुधा लगने पर कुछ लोग आहार देने के समर्थक हैं। इनका कहना है कि रोगी को तरल आहार देने से ही आमशय को विश्राम मिलता है। इस सिद्धात को माननेवाले रोगी को प्रारम्भ से ही दूध तथा क्रीम (Cream) प्र० घं० देते हैं। साथ-साथ अम्ल निरोधी चूर्ण (यो. ५९–६१) तथा लवण (Nacl) भी मुख से देते हैं। इससे लाभ हो जाने पर १–२ सप्ताह पश्चात् यदि मल में रक्तका प्रमाण नहीं मिलता तब साधारण भोजन देते हैं। **स्तब्धता** (Shock) के लक्षण रहने पर अथवा क्षुधा न लगने पर या जी मिचलाने पर प्रथम २४ घं० मुख से कुछ नही देना अच्छा है। इन रोगियो को मुख के अतिरिक्त अन्य मार्गों से जल देना चाहिये। अन्य लोग प्रथम दो दिन मुख से कोई भी पदार्थ देने के विरुद्ध है। कदाचित मध्य का मार्ग ही श्रेयस्कर है। **रक्तस्राव निरोधी** (Hemostatics) औषधियों का प्रभाव निराशाप्रद है। इस लिये इस रोग की चिकित्सा के लिये मुख्य रूप से विश्राम, आहार, जल तथा शामक (Sedative) औषधियो पर ही निर्भर करना पड़ता है। रक्तवमन बन्द हो जाने के पश्चात् मूल कारण का पता लगाना तथा उसकी चिकित्सा करनो चाहिये जिससे इस लक्षण का पुनरागमन न हो। प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) की सम्भावना रहने पर रक्तस्राव बन्द होने के बाद, दो मास के अन्दर, आमाशय की क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) करने के लिए, बेरियम पीने (Barium meal) के लिये नही देना चाहिये अन्यथा रक्तस्राव हो सकता है। यकृत विकृति के कारण रक्तस्राव होने पर सिराओं मे रक्ताधिक्य (Congestion) कम होने पर रक्तस्राव स्वयं ही बन्द हो जाता है।

चिकित्सा :—रक्तस्राव जब तक पूर्ण रूप से बन्द न हो जाय तथा रक्तस्राव बन्द होने के कुछ दिन पश्चात् तक रोगी को मानसिक तथा शारीरिक **विश्राम** करना चाहिये। इस लक्षण का मूल कारण आमाशय मे व्रण (Gastric ulcer) रहने पर व्रण की चिकित्सा के लिये दीर्घकाल पर्यन्त विश्राम आवश्यक है। मानसिक विश्राम के लिये **शामक औषधि** (Sedatives) के साथ-साथ रोगी को सान्त्वना देना आवश्यक है। आमाशय

(St) वाले भाग के ऊपर उदर पर बरफ की थैली लटका कर रखना चाहिये। थैली का भार उदर पर नहीं पड़ना चाहिये। अन्य चिकित्सा रक्त स्राव की चिकित्सा के समान है।

जल तथा आहार :—प्रथम १२ घंटे मुख से आहार अथवा जल नहीं देना ही अच्छा है। इस अवधि मे प्यास कम करने के लिये रोगी को बरफ चूसने के लिये देना चाहिये तथा मुख के अतिरिक्त अन्य मार्गों से रोगी को जल, लवण घोल (Saline), ग्लूकोस आदि देना चाहिये। समबल लवण घोल (N.saline) में ग्लूकोस ५ प्र० श मिला कर गुदा मार्ग से निरन्तर बूँद बूँद कर देना चाहिये। इस मार्ग से केवल साधारण जल देने से भी लाभ होता है। निरन्तर जल देने से यदि रोगी को कष्ट हो तथा विश्राम में कमी हो तब जल औ० ८ प्रति ४ घंटे पर दे सकते हैं। गुदामार्ग से जल पर्याप्त मात्रा मे प्रचूषित होता यदि प्रतित न हो अथवा प्यास कम न हो तब अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से समबल लवण घोल पा० १ दे सकते हैं। आ० अ० सिरा मार्ग (I. V.) से भी समबल लवण घोल (N.Saline) ४० बूँद प्र० मि० की गति से निरन्तर (Drip method) दे सकते हैं। ग्लूकोस १२½ प्र० श० १०० सी० सी० सिरा मार्ग (I.V.) से दे सकते हैं। इसको आ० अ० पुनः ८ या १२ घंटे बाद देना चाहिये। इससे निपात (Collapse) मे भी लाभ होता है। एड्रीनलीन (Adrenaline chloride) १:१००० की १–२ सी०सी० औ० १ जल मे मिला कर एक बार मे एक चम्मच कर बार-बार पीने से रक्तस्राव कम हो सकता है। परिणाम अनिश्चित है। **१२ घंटे के पश्चात्** रोगी को थोड़ा-थोड़ाकर जल पीने को देना चाहिये। शनैः शनैः लैक्टोस (Lactose),शन्तरे या मोसम्बी का रस, दूध,बार्लीका जल आदि **तरल आहार** (पृ.४) दे सकते हैं। **दो दिन पश्चात्** यदि रोगी को मल परित्याग न हुआ हो तब एनीमा लगा कर मल परित्याग कराना चाहिये। तत्पश्चात शनैः शनैः गीला चावल, खिचड़ी, साबूदाना आदि **अर्धतरल** आहार (पृ. ४) दें। इसी प्रकार शनैः शनैः आहार मे वृद्धि करनी चाहिये। यदि आमाशय मे व्रण की सम्भावना हो तब रोगी को व्रण की चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त व्रण के अनुकूल आहार देना चाहिये।

रक्तस्राव निरोधी (Haemostatics) औषधियाँ :—रक्तस्राव के कारण निपात (Collapse) होने पर सम्पूर्ण रक्त, रक्तरस (Plasma)

आदि पा० १ आ० अ० सिरा मार्ग (I.V.) से दे सकते हैं। अन्य रक्तस्राव निरोधी औषधियों का वर्णन रक्तस्राव की चिकित्सा (पृ. १८०) मे देखिये।

रक्तवमन को आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे प्रथम बलवान रोगी को लंघन कराना चाहिए क्योंकि यह प्रायः स्निग्धोष्णजन्य कारणों से होता है तत्पश्चात् शोधनार्थ विरेचन करवाये यथा—

विरेचनेनोर्ध्वभागमधोभागं वमनेन च।

—चरक चि० अ० ४ श्लो० ५४

इसके बाद तर्पणार्थ लाजाचूर्ण घी व शहद मिलाकर दे अथवा खजूर व मुनक्का से साधित जल दे। यूष व शाक भी दे सकते हैं।

ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेया पूर्वमधोगते।

—चरक चि० अ० ४ श्लो० ३०

ह्रीबेरादि पानीय, चन्दनादि या धातक्यादि साधित पेया दे अथवा पिपासानाशक फलरस तिक्त एवं पंचमूल सिद्ध जल दे। अनुपानार्थ श्वेतदूर्वा, उदुम्बर, वासापत्र, हरीतकी, द्राक्षा, शतावरी, चन्दन, तिल या लाक्षाक्वाथ दे।

अत्यधिक रक्त निकल जाने पर मधु के साथ घृतभृष्ट रक्तपान अथवा जागल प्राणी या बकरे का कच्चा यकृत खाने को दे। दुर्बल या यक्ष्मानुबंध होने पर संशमन चिकित्सा करे।

औषधियाँ :—उशीरादि चूर्ण १ मा०, एलादि गुटिका चूषणार्थ, उशीरासव १-२ तो०, सर्पिगुडयोग, वासाघृत १।२ तो०, दूर्वाद्यघृत १-२ तो०, वासाखण्ड १ तो०, कूष्माण्ड खण्ड १ तो०, रक्तपित्तान्तक लौह २ र०, समशर्कर लौह ६ र०, रक्तपित्तकुलकण्डन रस २ र०, चन्द्रकला रस १-२ गो०, बोलपर्पटी।

निम्न विधि से योग प्रयोग उत्तम है—

(१) रक्तपित्तान्तक लौह २ र०.
रक्तपित्त कुलखण्डन रस २ र०.
चन्द्रकला रस १ गो०.
दुग्धपाषाण चूर्ण १ मा०.
मि० २ मात्रा.
वासापत्र स्वरस व मधु से।

(२) उशीरासव १-२ तो०, सम जल से भोजनोत्तर।

आन्तरिक (Internal) रक्तस्राव

परिचय :—उदर मे रक्तस्राव का **प्रधान कारण प्रपाचीय** व्रण (Peptic ulcer) है । **आंत्रिक ज्वर** (Typhoid) के द्वितीय सप्ताह के अन्त मे भी आन्त्र मे रक्तस्राव हो सकता है । रक्तस्राव होने पर ज्वर अकस्मात् प्राकृत से कम (Subnormal) हो जाता है । नाड़ी की गति निरन्तर बढ़ती जाती है, नाड़ी अत्यन्त क्षीण (Thready) हो जाती है, रोगी की आकृति श्वेत हो जाती है तथा रक्त के कारण मल काला (Tarry) हो सकता है । सम्पूर्ण शरीर पर प्रस्वेद होता है तथा रक्तनिपीड़ (B. P.) कम हो जाता है । आमाशय तथा आन्त्र से रक्तस्राव होने के कुछ **विरल** कारण भी हैं जैसे :—आमाशय शोथ (Gastritis), ग्रहणी शोथ (Duodenitis), अन्नप्रणाली की सिराओ का कुटिल होना (Oesophagal varix), आमाशय का कर्कटार्बुद (Cancer) आदि । रोगी के श्वास तथा नाड़ी की गति और रक्त निपीड़ (B.P.) प्र० आध घण्टे देखना चाहिये ।

चिकित्सा :—पचन-सस्थान (आमाशय, आन्त्र आदि) मे रक्तस्राव होने पर रोगी को शैय्या पर लिटा कर गरम रखने का प्रयत्न करना चाहिये । निपात (Collapse, shock) की चिकित्सा आवश्यक है । उदर पर बरफ की थैली रखना चाहिये परन्तु थैली का भार उदर पर नही पड़ना चाहिये । रक्तस्राव मे प्रायः रोगी अन्त तक चैतन्य रहता है इस लिये रोगी को सान्त्वना देते रहना आवश्यक है । **आंत्रिक ज्वर** मे रक्तस्राव के साथ-साथ आन्त्र का निच्छिद्रण (Perforation) भी हो सकता है इस लिये मौरफीन (Morphine) का प्रयोग प्रारम्भ मे ठीक नहीं है । इससे निच्छिद्रण के निदान मे भूल हो सकती है तथा इसके पश्चात् वमन भी हो सकता है । बेचैनी कम करने के लिये फेनोबारबिटोन (Phn:sol:) ग्रे० $\frac{1}{2}$–१$\frac{1}{2}$ मुख अथवा अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से आ० अ० दे सकते है । इसके अतिरिक्त कोडीन फौस (Codeine phos:) ग्रे० $\frac{1}{2}$–१ मुख या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से अथवा डाइलौडिड (Dilaudid) ग्रे० १/१६ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से आ० अ० प्र० ४–६ घण्टे पर दे सकते है । कोडीन फौस सर्वोत्तम है । आ० अ० प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिये । लाल-रक्तकण (R. B. C) की सख्या २५ लक्ष प्र० घ० मि० मी० (C.M.M.)

से कम अथवा शोणवर्तुलि (Hb) ५० प्र० श० से कम रहने पर संपूर्ण रक्तप्रदान (Blood trans:) पा० १–२ तक प्र० दि० आ० अ० कर सकते हैं। आन्त्रिक ज्वर मे रक्तस्राव होने के पश्चात् यदि कब्ज हो जाय तब विशेष चिन्ता अनावश्यक है। मल परित्याग के समय परिश्रम पड़ने से रक्त-स्राव पुनः होने की सम्भावना रहती है इसलिये रक्तस्राव बन्द हो जाने के ३–४ दिन पश्चात् तक यदि मल परित्याग स्वयं न हो तब जैतून का तेल तथा ग्लिसरीन का एनीमा (Glycerine, Ol. Olive enema यो.११२) लगा कर मल-परित्याग कराना चाहिये। आतरिक रक्तस्राव के पश्चात् रक्त निपीड़ कम रहने पर भी विशेष चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। इससे रक्तस्कन्द (Clot) बनने मे सहायता मिलती है। इसीलिये सिरा (I. V.) अथवा अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से जल देने मे जल्दी नही करना चाहिये। रक्त-स्राव के १२–२४ घण्टे पश्चात् जल, ग्लूकोस आदि द्वारा शरीर मे जल की वृद्धि करना चाहिये। इस समय तक रक्तस्कन्द (Clot) के बन जाने की सम्भावना रहती है। रक्तस्कन्द के बनने के पूर्व शरीर मे जल की मात्रा बढ़ाने से, रक्त निपीड़ (B. P.) की वृद्धि होती है और रक्त-स्कन्द के बनने मे बाधा होती है तथा रक्तस्राव बन्द नही होता। रक्तस्राव बन्द होने पर मुख से दुग्ध तथा ग्लूकोस देना चाहिये। आहार मे वृद्धि अत्यन्त शनैः शनैः करना चाहिये।

आंतरिक रक्तस्राव की शल्य चिकित्सा :—उपर्युक्त विधियों से यदि रक्तस्राव बन्द न हो तथा मल मे दृष्य या अदृष्य (Occult) रक्त २–३ सप्ताह पश्चात् भी मिले तब शल्य चिकित्सा (Op.) करना चाहिये अन्यथा रोगी के दुर्बल होने की सम्भावना रहती है।

रक्तष्ठीवन (Haemoptysis)

परिचय :—इस अवस्था मे खाँसी के साथ रक्त आता है। इसके प्रायः तीन कारण होते है यक्ष्मा (T. B.), द्विपत्रक सकोच (Mitral stenosis) तथा श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis)। रक्तष्ठीवन के पश्चात् फुफ्फुस मे रक्त संचय होने के कारण फुफ्फुसपाक होने की सम्भावना रहती है। यक्ष्मा मे रक्तष्ठीवन के पश्चात् इसी कारण से रोग के अन्य भागों मे फैलने की सम्भावना रहती है इसलिये अनावश्यक खाँसी कम करना ठीक

है परन्तु उसको एकदम बन्द करना ठीक नहीं है। इसी कारणमौरफीन (M& A) का प्रयोग करना ठीक नही है। खाँसी के द्वारा फुफ्फुस से उपसृष्ट पदार्थ (Infected) का परित्याग होता है। रोग के कारण का पता लगाना चाहिये, परन्तु इस दृष्टि से रक्तस्राव के समय फुफ्फुस पर ठेपइ (Percussion) करना ठीक नहीं है। इससे रक्तस्राव होने की सम्भावना रहती है। स्तब्धता (Shock) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये परन्तु सिरा मार्ग (I. V.) से अधिक मात्रा में जल देने से भी हानि हो सकती है। कैलसियम (Cal:), जीवतिक्ति 'सी', 'के' (Vit:C,K.) आदि रक्तस्कन्दन कराने वाली औषधियो (Coagulants) का प्रयोग प्रचलित है परन्तु इनसे मानसिक सन्तोश के अतिरिक्त और कोई लाभ होता है, सदेहास्पद है।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—जब तक रक्तस्राव पूर्ण रूप से बन्द न हो जाय रोगी को शैय्या पर पूर्ण **विश्राम** करना चाहिये। वक्ष के विकृत पार्श्व पर बरफ की थैली रख सकते हैं। साथ साथ यदि ज्वर भी हो तब ज्वर प्राकृत हो जाने के पश्चात् ४–५ दिन तक विश्राम करना चाहिये। अधिक रक्तस्राव होने पर रोगी का हाथ पैर क्रमशः आध घंटा तक पट्टी से कस कर लपेटना चाहिये जिससे सिराओ (Veins) का रक्त अवरुद्ध हो जाय। धमनी का रक्त बन्द नहीं होना चाहिये। तकियो के सहारे सिर थोडा ऊँचा रखना ठीक है परन्तु यदि दम खुटता प्रतीत हो तब सिर नीचा रखना चाहिये। रोगी का ताप तथा नाड़ी की गति प्र. चा. घं० देखना चाहिये। यदि यह मालूम हो कि फुफ्फुस के किस पार्श्व से रक्तस्राव हो रहा है तब विकृत पार्श्व को बालू की थैलियाँ लगा कर गतिहीन कर देना चाहिये। रोगी को शात रखने के लिये उसको आश्वासन देना चाहिये तथा सोडियम फेनोबारबिटोन (Na:phn)ग्रे.१-२ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते है। रोगी की हिम्मत बनाये रखना आवश्यक है। रक्तस्राव का रोगी प्रायः अंत तक चैतन्य तथा चिन्तित रहता है। चिन्ता तथा बेचैनी कम करनेके लिये तथा अनावश्यक खाँसी कम करने के लिये ब्रोमाइड (यो० २२) प्र. चा. घं. देना चाहिये। रोगी की सेवा का उपयुक्त प्रबन्ध आवश्यक है। रक्तस्राव के समय शीतल पेय देना चाहिये। ठडा दूध, बार्ली का पानी, फलो का रस आदि दे सकते हैं।

(२) शल्य चिकित्सा (Surgery) :—अन्य चिकित्सा से लाभ न होने पर तथा फुफ्फुस मे विवर (Cavity) रहने पर विकृत पार्श्व की

फुफ्फुसावरणीय गुहा मे २५०–१२०० सी. सी. वायु (A. P.) प्रवेश (पृ.३१) कराना चाहिये। इस विकृति मे प्रायः अधिक वायु की आवश्यकता पड़ती है। बेचैनी मालूम पड़ने पर,इस क्रिया को बन्दकर देना चाहिये। आ.अ. इस क्रिया को पुनः कर सकते है। प्रायः रोगी स्वयं ही बता सकता है कि किस पार्श्व से रक्तस्राव हो रहा है। श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) मे फुफ्फुस के विकृत खण्ड को काटने (Lobectomy) से लाभ होता है। श्वसनिका (Bronchus) मे रक्तस्कंद (Clot) संचय होने से रक्तस्राव अकस्मात बन्द हो जाता है और रोगी को श्वास लेने मे कष्ट होता है। यह लक्षण होने पर श्वसनीवीक्षण यंत्र (Bronchoscope) के द्वारा रक्तस्कंद (Clot) को निकाल देना चाहिये। फुफ्फुस के आधार (Base) से रक्तस्राव होने पर उदर मे वायु(P.P.) प्रवेश (पृ.१०)करना चाहिये। दोनो अंसफलक (Scapula) के बीच त्वचा के अन्दर (S. C.) २५०–५०० सी. सी तक वायु प्रवेश करा सकते हैं। इस क्रिया को एक दिन छोड़कर आ.अ. कर सकते हैं।

अत्यधिक रक्तस्राव होने पर तत्काल कृत्रिम वातोरस (A.P.) कर सकते हैं परन्तु यह क्रिया रक्तस्राव पूर्ण रूप से बन्द हो जाने के तत्काल पश्चात करना ही अच्छा है। फुफ्फुस मे जमे रक्त को कृत्रिम वातोरस करने के पूर्व निकल जाना चाहिये अन्यथा अन्य स्थानो मे विकृति फैलने की संभावना रहती है। उपर्युक्त विधियो से लाभ न होने पर विकृत पार्श्व की २–३ पशुकाओ (Ribs) को काटकर वक्ष के अन्दर गौज (Gauze) प्रवेश करना चाहिये। गौज के दबाव से रक्तस्राव बन्द हो सकता है।

(३) औषधियों का प्रयोग :—

(क) रक्त निपीड़ (B. P.) कम करने के लिये नाइट्रोग्लिसरीन (Tab:trinitrini) ग्रे. १/१०० की एक गोली जिह्वा के नीचे रखनी चाहिये। अमिल नाइट्रस (Amyl nitras) का एक एम्प्यूल तोड़कर सूँघने के लिये देना चाहिये। इमेटीन हाइड्रोक्लोर (Emetine hyd:) ग्रे. १/६ पेशी मार्ग (I. M.) से दे सकते हैं। इन औषधियो का आ. अ. पुनः प्रयोग करना चाहिये।

(ख) रक्तस्राव निरोधी (Haemotatics) **औषधियाँ:—**

कैलसियम (Cal :), जीवतिक्ति 'सी' 'के' (Vit : C., K.), क्लौडीन (Clauden) आदि का प्रयोग किया जाता है।

(ग) **अन्य औषधियाँ :—** पिट्यूटरिन (Pituitrin) १० अं० इ० समबल लवण घोल (N. saline) सी० सी० १० में मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से अत्यन्त शनैः शनैः दे सकते हैं। इस औषधि के कारण थोड़ी देर के लिये चक्कर, वमन, उदर मे पीड़ा आदि लक्षण हो सकते हैं। ग्लूकोस (Glucose) २५ प्र० श० २५ सी० सी० अथवा सोडियम क्लोराइड (Nacl) १० प्र० श० ५-१० सी० सी० सिरामार्ग से प्रयोग किये जाते हैं। मद्य, अरगट, (Ergot), डिजिटेलिस आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

नोट :— द्विपत्रक सकोच (M. S.) मे प्रारम्भ में फुफ्फुस में रक्ताधिक्य (Congestion) के कारण तथा पश्चात फुफ्फुस में घनास्रता (Thrombosis) होने के कारण रक्तस्राव होता है। घनास्रता की सम्भावना रहने पर रक्तस्कन्दन काल (Coagulation time) बढ़ाने वाली औषधियाँ जैसे हेपरिन (Heparin), ट्रोमेक्सान (Tromexan) सोडी साइट्रस आदि का प्रयोग किया जाता है। सोडी साइट्रस (Sodi : citras) ५–१० प्र०श० ५–१० सी० सी० सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते हैं।

रक्तष्ठीवन की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

प्रथम बलवान रोगी को लघन करवाये तत्पश्चात शोधनार्थ विरेचन देना चाहिये क्योंकि—'प्रति मार्ग च हरण रक्तपित्ते विधीयते'। इसके बाद तर्पण कराना चाहिए एतदर्थ फलरस, क्षीर एवं मांसरस देना चाहिए। गर्भिणी और क्षय के रोगी मे विरेचन न कराये और शामक उपाय करे अतः मधुर व शीतल द्रव्य दे जैसे गाय या बकरी के दुग्ध मे मधु और शर्करा मिलाकर देना चाहिए। तिक्त व कषाय रस प्रधान औषधियो का प्रयोग करे। पित्त-ज्वर मे प्रयुक्त घृत दे सकते हैं। पीने के लिए षडग या शृतशीत जल देना चाहिए।

दूषित रक्त को पहले नही रोकना चाहिए किन्तु अत्यधिक रक्तस्राव होनेपर अवश्य ही रोकना चाहिए तथा घृतभृष्ट रक्तपान व बकरे का कच्चा यकृत खाने को दे।

औषधियां:—आटरूषकादि क्वाथ, आरग्वधादि क्वाथ, उषीर किजलकादि चूर्ण, शतावरी घृत, दूर्वाद्य घृत, वासा घृत, आमलकी खण्ड, कूष्माण्ड खण्ड, वासावलेह, उशीरासव, बोल पर्पटी, रक्तपित्त कुलकण्डन, रक्तपित्तान्तक लौह, चन्द्रकला रस, मुक्ता भस्म, प्रवाल भस्म-सर्पिगुड योग।

प्रयोग :—(१) रक्तपित्त कुलकण्डन रस २ र०,
चन्दनादि लौह २ र०,
शुक्ति भस्म ६ र०,
उषीर किञ्जलकादि चूर्ण १ मा०,
मि० ३ मात्रा वासा पानक से।
(२) उशीरासव १—२ तो० समजल मिलाकर भोजनोत्तर।

(१५) आध्मान :-(Tympanites, meteorism, flatulance)

परिचय :— यह लक्षण प्रायः **आहार विपर्यय** अथवा **विषमयता** (Toxaemia) के कारण होता है। प्रथम अवस्था में आहार मे परिवर्तन करने से लाभ होता है परन्तु आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि में जब यह लक्षण विषमयता के कारण होता है तब वह रोगी की गंभीर अवस्था का द्योतक है। विसूचिका (Cholera) में यह लक्षण कब्ज करने वाली औषधियाँ देने से हो सकता है। आन्त्र पर वायु के कारण दबाव पड़ने से आन्त्रिक ज्वर में आन्त्रनिच्छिद्रण की संभावना रहती है। वायु के दबाव के कारण हृदय के कार्य मे कठिनाई होती है। इस अवस्था की चिकित्सा के लिये जलचिकित्सा (Hydrotherapy) आदि (पृ. ३७) सर्व उपायों से विषमयता कम करने का प्रयत्न करना चाहिये।

चिकित्सा:-(१) **रोग के कारण की चिकित्सा**:-कुछ लोगों को भोजन के समय अथवा अन्य समय भी वायु निगलने का अभ्यास हो जाता है और इस प्रकार जब आमाशय मे प्रर्याप्त वायु संचय हो जाती है तब ये लोग तीव्र ध्वनि के साथ अपानवायु परित्याग करते हैं। वायुनिगिरण करने का अभ्यास छुड़ना कठिन है। दाँतों के बीच मे कौर्क (Cork) का टुकड़ा रखने से यह अभ्यास छूट सकता है। दाँत, नाक, कण्ठ, नासा-ग्रसनिका मार्ग (Nasopharynx) आदि की विकृति के कारण यदि श्वास लेने अथवा निगिरण में कठिनाई हो तब इस विकृति की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। आमाशय,

पित्ताशय (Gallbladder), डण्डुकपुच्छ (Appendix), आन्त्र आदि मे विकृति रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। कब्ज का निवारण आवश्यक है।

(२) **आहार :—**भोजन मे कार्वोज (Cho) की प्रधानता रहने पर आध्मान होता है। कार्वोज का किण्वीकरण (Fermentation) होता है और वायु की उत्पत्ति होती है। इसलिये भोजन मे कार्वोज (Cho) तथा वसा (Fat) की मात्रा कम होनी चाहिये और प्रोटीन (Ptn) की प्रधानता रहनी चाहिये। कार्वोज में कच्चा सिंघाड़ा तथा उसका आटा, मखाना, खोई, रामदाना आदि में किण्वीकरण की अल्प सम्भावना रहती है। यदि इन पदार्थों के प्रयोग न करने का कोई विशेष कारण न हो तब इनका प्रयोग कर सकते है। शर्करा, चने से बना पदार्थ, जैसे बेसन आदि, कच्चे फल, भूनी हुई सब्जियाँ आदि मे वायु बनने की अधिक संभावना रहती है। **आंत्रिक ज्वर** मे आध्मान होने पर ग्लूकोस, फलो के रस आदि की अपेक्षा अण्डे की सफेदी जल (Albumin-water) मे मिलाकर देना चाहिये। यदि आध्मान अधिक हो तब एक दिन के लिये सपूर्ण आहार स्थगित कर केवल जल देना चाहिये। आहार के कारण यदि आध्मान होता होगा तब इस प्रकार पूर्ण उपवास से आध्मान बन्द हो जायेगा। तत्पश्चात शनैः शनैः आहार मे एक एक पदार्थ देकर देखना चाहिये कि किस पदार्थ से वायु बनती है। जिस पदार्थ से वायु बनती हो उसको बन्द कर अन्य पदार्थों को देना चाहिये। दूध की अपेक्षा दूध को फिटकिरी (Alum) अथवा कैलसियम से फाड़कर छेने का पानी (Whey) देना चाहिये। एलेडौन (Eledon), मेलेनफूड (Mellin's food) आदि से कम वायु बनती है। भोजन करने मे शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। सरलता से पचनेवाला भोजन, नियमित समय पर, साधारण मात्रा मे ठीक से चबाकर खाना चाहिये। एक बार में अत्यधिक मात्रा मे भोजन नही करना चाहिये तथा भोजन के समय चिन्ता नहीं करना चाहिये।

(३) **वाह्य उपचार :—**१ पा० खौलते हुये जल मे एक चम्मच **तारपीन का तेल** मिला कर (Turpentine stupes) उसमे तौलिया भिगाकर प्र० ४ घण्टा उदर सेकना चाहिये। उदर पर गरम तौलिया लगाने के पूर्व तौलिये को अच्छी तरह निचोड़ लेना चाहिये तथा तौलिये को अपने

हाथ के पृष्ठ भाग (Dorsum) पर लगा कर देख लेना चाहिये कि वह अत्यधिक गर्म तो नहीं है अन्यथा त्वचा के जल जाने की संभावना रहती है। यह क्रिया एक बार मे प्रायः २० मिनट तक कर सकते है। गरम तौलिया उदर पर लगाने के पश्चात् तौलिये पर गरम पानी की बोतल रखने से देर तक गरमी बनी रहती है। गुदा मार्ग मे मोटी रबर की नलिका (Catheter, flatus tube) लगा कर रखने से भी वायु परित्याग होती है। नलिका के बाहर वाले भाग से पिचकारी (Syringe) द्वारा भी वायु निकाल सकते हैं। नलिका को यथासम्भव जितना अन्दर जा सके प्रवेश कराना चाहिये। इस प्रकार आन्त्र के अन्तिम भाग से वायु निकाली जा सकती है। रबर की नलिका (Catheter) के द्वारा तारपीन के तेल का एनीमा (Turpentine enema:यो. ११४) भी लगाया जा सकता है। रबर की नलिका द्वारा गरम लवण घोल (N.saline) प्रवेश कर **आंत्र को धो** भी सकते हैं। एक बार मे जितना जल अन्दर जा सके, जाने देना चाहिये। जल प्रवेश करते समय नलिका का बाहरी भाग शरीर से दो फिट से अधिक ऊँचा नही होना चाहिये। १०–१२ औ० जल प्रवेश करने के पश्चात् नलिका का बाहरी भाग शरीर से नीचे कर देना चाहिये जिससे आन्त्र के अन्दर जो जल गया है वह बाहर निकल जाय। इस क्रिया को ३–४ बार करने से आन्त्र धुल जाती है तथा वायु का भी परित्याग होता है। आमाशय मे वायु रहने पर नासा मार्ग से राइल (Ryle's tube) की नलिका प्रवेश कर १ पा० जल मे एक चम्मच सोडी-बाइकार्ब मिला कर आमाशय को धोया (Stomach wash) जा सकता है। आमाशय से जल निकालने के लिये नलिका के बाहरी भाग में पिचकारी (Syringe) लगाकर जल खीच कर बाहर निकाल सकते हैं। कभी कभी उदर पर बरफ की थैली लगाने से भी लाभ होता है। नाभि पर रेड़ी का तेल (Ol : Recini) गरम कर उसमे हीग (Asafoetida) मिला कर लगा सकते है।

(४) **औषधियों** का प्रयोग :—उदर मे वायु कम करने अथवा उसका परित्याग करने के लिये अनेक औषधियाँ प्रयोग की जाती है :—

(क) **आंत्रीय जीवाणुनाशक औषधियाँ** (Intestinal antiseptics) :—दालचीनी का तेल (Ol.cinnamon) मि० ३ कैपस्यूल मे रख कर प्रति ४ घण्टे दे। पित्त (Ox bile, bilron) ग्रे० ५ कैपस्यूल

में रख कर या अजवायन का सत्व (Spt:menthi pip:) मि० ५ त्रि० प्र० दि० भो० प० दे सकते हैं। सेलोल (Salol) ग्रे० ३, डेकोलीन (Decholin) ग्रे० $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{2}$ अथवा तारपीन का तेल (Ol turpentine) मि० १० कैप्स्यूल में रखकर त्रि० प्र० दि० भो० प० दे सकते हैं। इन औषधियों का प्रभाव उत्तम नहीं है तथा अन्तिम औषधि से वृक्क में विकृति हो सकती है।

(ख) पुरस्सरण (Peristalsis) की वृद्धि कर वायु परित्याग कराने वाली औषधियाँ:—इन औषधियों को रोग की गम्भीर अवस्था में प्रयोग करना चाहिये। **आंत्रिक ज्वर** में विशेष सावधानी की आवश्यकता है अन्यथा आंत्र के तेजी से संकोच करने से आंत्र का निच्छिद्रण हो सकता है। प्रोस्टिगमीन (Prostigmine) मुख द्वारा गो० १ अथवा अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से सी० सी० १, नेयोस्टिगमीन ग्रे० $\frac{1}{4}$, कार्बाकोल (Carbachol) गो० १ मुख से या ऐसरीन (Eserine) ग्रे० १/१५०, पिट्यूटरीन (Pituitrin) $\frac{1}{2}$–१ सी० सी०, ऐसेटिलकोलीन (Acetyl choline) ग्रे० १–१$\frac{1}{2}$ आदि अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से त्रि० या० चा० प्र० दि० दे सकते हैं। पिट्यूटरीन तथा ऐसरीन मिला कर एक साथ इन्जेक्शन लगा सकते हैं।

(ग) अधिचूषण (Adsorption) द्वारा कार्य करने वाली औषधियां :—ये औषधियाँ निरापद हैं। ये मुख से दी जाती हैं। ये पचती नहीं हैं और जब ये मल द्वारा शरीर से बाहर निकलती हैं तब साथ-साथ वायु भी लेती जाती है। जानवरों की अस्थि का कोयला (Animal charcoal, ultracarbon Mk, carbantrin Ca यो. ४८) ग्रे० ५ त्रि० प्र० दि० भो० प० दे सकते हैं। एक प्याला जल में दो चम्मच केयोलीन (Kaolin) घोल कर आंत्रिक ज्वर, विसूचिका (Cholera) आदि में देनेसे मल गाढ़ा होता है, वायु की कमी होती है तथा मल की संख्या कम होती है।

(घ) अन्य औषधियाँ :—टि० बेलाडोना मि० ८ त्रि० प्र० दि० या एट्रोपीन (Atropine) ग्रे० १/१२०–१/१०० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देने से लालास्राव में कमी होती है तथा वायु घोटने में भी कमी होती है। टि० लौह (Tr:ferri perchlor) मि० १२ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। फुफ्फुसपाक (Pneumonia) में प्राणवायु (O_2) देना चाहिये।

आध्मान की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

सर्वप्रथम स्नेहन, स्वेदन, विरेचन व आवश्यकतानुसार स्नेह वस्ति दे। औषधियाँ सारक एवं वातनाशक होनी चाहिए। उदर पर परिषेक व लेप करना चाहिए। लशुनक्षीर देना अच्छा है।

औषधियाँ :—त्र्यूषणादि घृत, पिप्पल्यादि घृत, हिंगुसौवर्चलादि घृत, हपुषाद्य घृत, कुमारी आसव, अभयारिष्ट, पलाशक्षार, तिलक्षार, हिंग्वादि चूर्ण, नाराच चूर्ण, अर्कलवण, अभया लवण, फलवर्ति, गुल्मकालानल रस, गुल्म कुठार रस।

प्रयोग—

(१) क्रिमिमुद्गर	४ र०	मि. ४ मात्रा
नवायस लौह	४ र०	आद्रक रस व मधु के साथ
गुल्म कालानल	४ र०	(२) हिंग्वादिवटी २ व. २ मात्रा
शंख भस्म	४ र०	भोजनोत्तर उष्णोदक से

(१९) हिचकी, हिक्का (Hiccough, hiccup)

परिचय :—हिचकी आने के अनेक कारण हैं इनमे महाप्राचीरा वातनाड़ी (Phrenic nerve) का प्रक्षोभ (Irritation), मनोवैज्ञानिक कारण (Psy), शरीर मे क्षार (Alkali) की कमी, आमाशय (St) का प्रक्षोभ, औपसर्गिक रोग, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, पचन-संस्थान, वातनाड़ी-संस्थान (C. N.system) आदि के रोग, प्रधान कारण हैं। कभी-कभी यह अकारणज (Idiopathic) भी होती है। इस प्रकार हम देखते है कि हिचकी अत्यन्त क्षुद्र कारणो से प्रायः होती है परन्तु कभी-कभी यह मूत्रविषमयता (Uraemia) आदि गम्भीर अवस्थाओं की द्योतक है। इन अवस्थाओं में हिचकी रोकना कभी-कभी अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव होता है। रात-दिन हिचकी आने से दुर्बल अथवा वृद्ध रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और उसकी मृत्यु हो सकती है। इसलिये साधारण उपचार से शीघ्रता से लाभ न होने पर रोगी की ध्यान पूर्वक परीक्षा करनी चाहिये तथा विषमयता, अम्लोत्कर्ष (Acidosis) आदि के लिये आवश्यक परीक्षायें करनी चाहिये तथा इनके प्रमाण मिलने पर इन अवस्थाओ की यथोचित चिकित्सा करनी चाहिये। इन परीक्षाओ मे रक्त मे यूरिया (Blood urea) का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

चिकित्सा :—रोग के कारण का निवारण आवश्यक है। रोगी का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करना चाहिये। बालकों को भय दिखला कर, वयस्क को वार्तालाप आदि से उनका ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। आमाशयोर्ध्व प्रांत (Epigastrium) पर सरसों की पट्टी (Mustard plaster) लगाना, केवल सोडा पानी (Soda water) पीना, बड़ी इलायची का जल पीना, सुँघनी लेना, श्वास रोकना, जिह्वा को बाहर खींचना, उदर को वस्त्र से कस कर बाँधना, ग्रीवा पर प्राणदा वातनाड़ी (Vagus) को दबाना आदि क्रियायें करना चाहिये। शामक औषधि (Sedatives) का प्रयोग भी कर सकते हैं। रोग की उग्र अवस्था में महाप्राचीरा वातनाड़ी काटने (Phrenic avulsion) से लाभ हो सकता है। बरफ का पानी थोड़ा-थोड़ा पीने से, अमिल नाइट्रस (Amyl nitras) तथा अमोनिया (Liq: Ammon fort, smelling salt) आदि दुर्गन्धित पदार्थ सूँघने से रोगी का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित किया जा सकता है। **रक्त में क्षार** (Alkali) की कमी रहने पर एक गिलास जल में सोडी बाइकार्ब (Sodi: bicarb) च० १ मिला कर अनेक बार पिलाना चाहिये। नाक बन्द कर कागज अथवा रबर की थैली में मुख से दो, चार मिनट तक अनेक बार वायु अन्दर बाहर करने से रक्त में कार्बन डायोक्साइड (CO_2) की वृद्धि होती है। प्राणवायु (O_2) में कार्बन डायोक्साइड ५–१५ प्र० श० मिला कर थैली (Face mask) के द्वारा दो-चार मिनट सूँघने से भी कार्बन डायोक्साइड (CO_2) का शरीर में वृद्धि होती है। कुछ समय श्वास रोकने से भी यही परिणाम होता है। आमाशय का विस्फार (Dilatation) रहने पर १ पा० जल में सोडी बाइकार्ब च० २ मिलाकर राइल की नलिका (Ryle's tube) द्वारा आमाशय धोना (St: Wash) चाहिये। जल गरम अथवा अत्यन्त शीतल हो सकता है।

औषधियाँ :—आमाशय का प्रक्षोभ (Irritation) रहने पर **पाचक** (यो. ४१) औषधियाँ देना चाहिये। पाचक औषधि में टि. बेलाडोना (Tr. Belladonna) मि. ८, घुलनशील फेनोबारबिटोन (Sol. phn) ग्रे० ½–१, एड्रिनलीन (Adrenaline) मि. ५, हाइड्रोसायनिक अम्ल (Hcn: dil) मि. १ आदि मिलाकर त्रि०प्र०दि० दे सकते हैं।

शामक (Sedative) औषधियों में फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे०

½–१½ त्रि० प्र० दि० मुख से अथवा अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से, मौरफीन (Morphine) ग्रे० ⅙–¼ तथा एट्रोपीन (Atropine) ग्रे० १/१०० दे सकते है। इनका प्रभाव अस्थायी है। सोडियम फेनोबारबिटोन (Na : phn) ग्रे. २ की मात्रा मे बत्ती (Soppository) के रूप मे गुदामार्ग से प्रयोग कर सकते है। एट्रोपीन का उद्वेष्टन निरोधी (Antispasmodic) प्रभाव भी लाभदायक है। इसको अकेले भी प्रयोग कर सकते है। नोवोकेन (Novocaine), कोकेन (Cocaine), पैण्टोकेन (Pantocaine) आदि स्थानिक **संज्ञाहर** (Local anaesthetic) औषधियो का २ प्र० श० घोल नासा, ग्रसनिका (Pharynx), कण्ठ आदि मे लगा सकते है। साधारण उपचार से लाभ न होने पर रोगी को **व्यापक संज्ञाहर** (General anaesthetic) जैसे क्लोरोफौर्म (Chloroform), इथर (Ether) आदि के द्वारा बेहोश किया जा सकता है। बेनजीड्रीन सल्फ (Benzedrine sulph) की मि० ग्रा० ५ की गोली, २–३ गो० आ० अ० दे। **जलाल्पता** (Dehydration) रहने पर आ० अ० सिरामार्ग (I.V.) से ग्लूकोस (Glucuse) ५ प्र. श. समबल लवण घोल (N. Saline) के साथ पा० १ दे सकते है। केवल ग्लूकोस १२½ प्र. श. २५–१०० सी० सी० भी सिरामार्ग से दिया जाता है।

अन्य चिकित्सा :—रोगी की अवस्था अत्यन्त गम्भीर रहने पर, मृत्यु की सम्भावना रहने पर तथा उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ न होने पर वाम ओर की महाप्राचीरा वातनाडी (Phrenic nerve) मे नोवोकेन (Novocaine) आदि स्थानिक सज्ञाहर (Local anaesthetic) औषधि के १–२ प्र० श० घोल का इन्जेक्शन लगाया जाता है। दोनो ओर की महाप्राचीरा वातनाडी काटने (Bilateral phrenicotomy) से भी लाभ होता है।

हिक्का की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

यत्किंचित कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
भषज पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने॥

च० चि० अ० २१ श्लो० ३४१

यदि रोगी बलवान हो तो वमन विरेचन करावे अन्यथा कर्षण नही करना चाहिए। आवश्यकता होने पर वस्ति दे सकते है। शामक औषधियाँ धूम व

लेह के रूप मे प्रयोग करे। बृंहण कराने के लिए स्निग्धयूष एवं मास रस दे। वातानुलोमक चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रथम कण्ठ व वक्षस्थल पर तैल मर्दन कर उपनाह या पोटली द्वारा स्वेदन कराना चाहिए। ततः स्निग्ध एवं लवण युक्त पदार्थों द्वारा वायु का अनुलोमन कराना चाहिए। हारिद्राद्य धूमवर्ति, उड़द या धत्तूर पंचाग का धुँआ अथवा मोम राल और घी का धुँआ भी हितकारी है। नस्य का भी प्रयोग कर सकते हैं।

औषधियाँ :—मयूरपुच्छ भस्म ½–१ र०, मधुपिप्पली चूर्ण के साथ बेर की गुठली का चूर्ण ४ र०–१ मा० मधु के साथ, भार्गी गुड, कूष्माण्ड चूर्ण, मुक्ताद्य चूर्ण, वासावलेह, दशमूलाद्यघृत, कनकासव, द्राक्षारिष्ट।

प्रयोग :—(१) सूत शेखर ३ र०
माक्षिक भस्म ३ र०
मयूर पुच्छभस्म ३ र०
वराट भस्म ३ र०
मि० ३ मात्रा पथ्याचूर्ण व मधु के साथ।

(२) द्राक्षारिष्ट २ तो. २ मात्रा समजल के साथ भोजनोत्तर।

(१७) कोष्ठबद्धता, कब्ज (Constipation)

परिचय :—जो पदार्थ मुख द्वारा लिया जाता है उसके अवशेष (Residue) का ४८ घण्टे के अन्दर शरीर से परित्याग न होने पर कोष्ठबद्धता समझना चाहिये। कब्जियत के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। **पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार** यह आवश्यक नही है कि मनुष्य प्रतिदिन मल परित्याग करे। इनके मत के अनुसार स्वस्थ रहने के लिये प्र० दि० मल परित्याग करना आवश्यक नहीं है तथा नियमानुसार समय-समय पर विरेचक (Purgative) औषधियो द्वारा मल परित्याग कराने से विशेष लाभ नहीं है। ये समझते हैं कि आन्त्र मे मलसचय होने से विष का प्रचूषण (Auto-intoxication) नही होता तथा अनेक लक्षण जिनकी उत्पत्ति हम कब्ज से समझते हैं, यह धारणा गलत है। इनके मत के अनुसार मल परित्याग का उपयुक्त समय भोजनोपरात है। आमाशय मे जब भोजन जाता है तब भोजन का दबाव आमाशय की प्राचीर पर पड़ता है और एक प्रतिक्षेप

(Reflex) की उत्पत्ति होती है जिससे बृहदान्त्र (Colon) को मलपरित्याग करने की उत्तेजना मिलती है और इस समय मलपरित्याग न करने से अतवोगत्वा यह प्रतिक्षेप नष्ट भी हो जाता है। उग्रविरेचक औषधियो (Cathartics) तथा एनीमा के निरन्तर प्रयोग से भी यह प्रतिक्षेप नष्ट हो जाता है तथा इनके बराबर प्रयोग करने का अभ्यास हो जाता है। **पूर्व के विद्वानों** के मतानुसार मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिये प्र० दि० मल परित्याग करना आवश्यक है तथा आन्त्र मे मल संचय होने से अनेक विकारो की उत्पत्ति होती है, इसलिये यदाकदा साधारण विरेचक औषधियों से आन्त्र को स्वच्छ रखना लाभप्रद है। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रायः प्रत्येक ज्वर के प्रारम्भ मे विरेचन (Purge) कराना आवश्यक समझा जाता है। जो भी धारणा सही हो मनुष्य को प्र० दि० नियमित समय पर मल परित्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस क्रिया मे जल्दी नहीं करनी चाहिये तथा जिस समय भी मलपरित्याग करने की इच्छा प्रतीत हो उस समय शौचालय मे जाना आवश्यक है। भोजन के शरीर से परित्याग होने का समय जानने के लिये रोगी को कोयले (Animal charcoal) से बना बिस्कुट देकर मल मे देखना चाहिये कि यह कोयला मल मे कितने समय पश्चात् निकलता है। पान न खाने वाले लोगो मे यह परीक्षा पान खिला कर की जा सकती है। इस परीक्षा के करने पर मल मे कत्थे (Catecheu) के रग के लिये देखना चाहिये। आन्त्र से भोजन का अवशेष निकलने का समय जानने के लिये विशेप परिस्थिति मे रोगी को बेरियम (Barium-meal) पिलाने के बाद **क्ष-किरण** (X-ray) परीक्षा की जा सकती है। कुछ औपधियो के प्रयोग से भी कब्ज होती है जैसे, लोह (Fe), बिसमथ (Bismuth), कैलसियम (Cal:), अफीम आदि नशीली औषधियाँ (Narcotics), एल्यूमिनियम (Aluminium) आदि। नियमित समय से प्र० दि० मलपरित्याग करने की क्रिया का जल, भोजन, व्यायाम तथा अभ्यास से घनिष्ट सम्बन्ध है।

कोष्ठबद्धता दो प्रधान **कारणों** से हो सकती है, **रचनात्मक** (Organic) विकृति तथा **क्रियात्मक** (Functional) विकृति। आन्त्र के अन्दर अर्बुद, शल्य (F. B.), आन्त्र के प्राचीर मे आन्त्रपरिवेष्ठन (Volvulus), उपसंकोच (Stricture), आन्त्रान्तर प्रवेश (Intussusception) गर्भावस्था, जलोदर (Ascites), बीजग्रन्थि कोष्ठार्बुद (Ovarian cyst)

अथवा अन्य अर्बुद के कारण आन्त्र पर बाहर से दबाव पड़ने से मल का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। ये अवस्थाये रचनात्मक हैं तथा गर्भावस्था के अतिरिक्त इनकी चिकित्सा शल्यकर्म (Op) द्वारा करनी पड़ती है। अवरोध की गंभीरता के अनुसार कोष्ठबद्धता तीव्र अथवा चिरकालीन होती है। **क्रियात्मक** विकृतियाँ प्रायः भोजन की गड़बड़ी, जल की कमी, अत्यधिक सरलता से तथा पूर्णरूप से पचने वाला भोजन प्रयोग करने से, मल परित्याग की आवश्यकता प्रतीत होने पर शौचालय न जाने के कारण मल परित्याग के प्रतिक्षेप (Reflex) मे कमी हो जाने से तथा बृहदान्त्र (Colon) में उद्वेष्टन (Spasm) होने से होती है।

प्रकार :—कब्ज के कुछ विशेष प्रकार है जैसे :—

(१) **मलाशय विस्फार** (Dyschezia, proctogenous const:) :—नियमानुसार मल परित्याग न करने से अथवा मल परित्याग करने की इच्छा होने पर शौचालय न जाने से मल परित्याग करने का प्रतिक्षेप (Reflex) नष्ट हो जाता है। परिणामस्वरूप मल, मलाशय मे संचित होता है और मलाशय की पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं तथा मलाशय का विस्फार हो जाता है। यह अवस्था प्रायः स्त्रियो मे अनेक वार गर्भाधान के पश्चात होती है। सचित मल मे किण्वीकरण (Fermentation) होने के कारण समय समय पर पतले दस्त होने लगते है। इस अवस्था की **चिकित्सा** के लिये आवश्यक है कि निश्चित समय पर मल परित्याग करने का अभ्यास किया जाय, मलत्याग करने की इच्छा प्रतीत होने पर अविलम्ब उस इच्छा की पूर्ती की जाय, उदर तथा मलाशय (Rectum) की पेशियो के बल (Tone) की वृद्धि की जाय, प्र. दि. का कार्य नियमित रूप से किया जाये तथा भोजन मे परिवर्तन किया जाय। उदर की पेशियो को बलिष्ट करने के लिये व्यायाम तथा उदर की मालिश करना चाहिये। रोगी को प्र. दि. खड़े होकर अथवा लेट कर बिना घुटना मोड़े, पैर के अंगूठों को छूना चाहिये। सेनाय की पत्ती (Senna) का सेवन करने से मलाशय की पेशियों के बल (Tone) की वृद्धि होती है। भोजन मे सेव, पपीता, अमरूद आदि फलो (पृ० ४) तथा हरी सब्जियो का प्रयोग करना चाहिये। जल की मात्रा बढाना आवश्यक है। भोजन की मात्रा अधिक होनी चाहिये जिससे पचने के पश्चात् पर्याप्त अवशेष (Residue) बच सके।

(२) **स्तम्भिक कोष्ठबद्धता** (Spastic const: spastic colon) :-यह अवस्था प्रायः वातप्रकृति (Nervous) तथा दुर्बल रोगियो मे विशेष कर स्त्रियों मे होती है। अन्तराशय भ्रंश (Visceroptosis) के कारण उदर के आशय (Viscera) नीचे की ओर स्थानान्तरित हो जाते हैं। इन रोगियो मे गुदा के समीप विदार (Fissure), अर्श (Piles) आदि विकृतियाँ मिल सकती हैं। उदर मे भिन्न-भिन्न स्थानो मे अस्पष्ट पीडा होती है। रोगी का ध्यान उदर की ओर केंद्रित रहता है। सकोचिनी (Sphincters) का संकोच (Contraction) हो सकता है। उण्डुक (Coecum) पीड़ाकर तथा विस्फारित (Dilated) रहता है। अवग्रहान्त्र (Sigmoid) की भित्ती कडी हो जाती है। इस अवस्था की **चिकित्सा** के लिये रोगी को मानसिक तथा शारीरिक विश्राम करना चाहिये। मानसिक विश्राम के लिये रोगी को शामक (Sedative) ओषधियाँ भो.प. देना चाहिये जैसे:—फेनोबार्बिटोन (Phn) ग्रे. ½–१, पिकौक की ब्रोमाइड (Peacock's bromide) मि. २०–६० अथवा टि. वेलाडोना (Tr. belladonna) मि. ८ आदि द्वि.प्र.दि.भो.प. दे सकते हैं। इस अवस्था मे वेलाडोना, एट्रोपीन (Atropine), कुचलासत्व (Strychnine) आदि का विशेष महत्व है। सरलता से पचने वाला तथा अल्प अवशेष (Residue) वाला आहार देना चाहिये जैसे, बिना चोकर की रोटी, मक्खन, घी, चावल, फलो का रस आदि। वसा (Fat) विशेष लाभप्रद है। कच्चे फल, हरी तरकारी आदि के इसमे लाभ नही होता। इन पदार्थों का कम प्रयोग करना चाहिये। इनसे आन्त्र मे कष्ट होता है। उदर की मालिश भी नही करनी चाहिये। स्थान परिवर्तन से लाभ होता है। उदर मे पीडा रहने पर गरम पानी की बोतल अथवा एक गिलास गरम पानी मे तारपीन का तेल १–२ चम्मच मिला कर उदर सेंकना चाहिये। रात्रि मे सोने के पूर्व रबर की नलिका (Catheter) द्वारा जैतून का तेल (Ol. Olive) तथा लिक्विड पैरेफिन (Liq:paraffin) बराबर बराबर मिलाकर औ. १–६ गुदा मार्ग मे प्र. दि. प्रवेश कराना चाहिये। रोगी को यथासंभव इस औषधि को गुदा के अन्दर रोक कर रखना चाहिये। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढाना चाहिये। इससे अर्श (Piles) मे भी लाभ होता है। रात्रि मे सोने के पूर्व लि. पैरेफिन औ. १, एगर एगर (Agar agar) च. २–४, पेट्रोलएगर (Petrolagar)

च. २–४ दूध मे मिलाकर दे सकते हैं। आ. अ. त्रिफला, सेनाय, कैसकरा, आदि प्रयोग कर सकते हैं।

(३) **अबल्यताजन्य कोष्ठबद्धता** (Atonic : const :):—इस अवस्था मे औदरिक पेशियों (Abdominal muscles) के बल (Tone) मे कमी हो जाती है। ये रोगी प्रायः वृद्ध तथा मोटे होते है। इनमे प्रायः अन्य स्थानों मे भी विकृति रहती है जैसे :—यकृत, पित्ताशय, (Gall bladder), उण्डुक पुच्छ (Appendix), आमाशय, अग्न्याशय (Pancreas) आदि के रोग। वात सस्थान (C.N. system) के रोग, मधुमेह (Diabetes) तथा घातक अर्बुद (Malignant disease) आदि के कारण भी औदरिक पेशियो के बल (Tone) मे कमी होती है इसलिये कब्ज की चिकित्सा के पूर्व रोगी की ध्यान पूर्वक परीक्षा करनी चाहिये तथा इन रोगो के प्रमाण मिलने पर इनकी चिकित्सा करनी चाहिये। इन रोगियो ने प्रायः जीवन पर्यन्त,मल परित्याग करने की इच्छा होने पर उसका निरादर किया, व्यायाम नही किया तथा भोजन की ओर पर्याप्त ध्यान नहा दिया है। इनकी **चिकित्सा** के लिये आवश्यक है कि मूल रोग का निवारण किया जाय। वातनाड़ी संस्थान के रोगो मे बल (Tone) की कमी होने पर प्रोस्टिगमीन (Prostigmine) की गो० १ द्वि० प्र० दि० देने से लाभ होता है। इनके भोजन मे फल, मक्खन, हरी सब्जी आदि की प्रधानता होनी चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। आ० अ० मृदु विरेचक (Mild purgative) औषधियाँ प्रयोग कर सकते है।

परीक्षायें :—गुद परीक्षा (Rectal exam :), क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा आदि के द्वारा पचन-संस्थान की रचनात्मक विकृति (Organic disease) का पता लगाना चाहिये तथा इसके लक्षण रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। आम प्रवाहिका (E.H. dys:) की सम्भावना रहने पर मल परीक्षा, अवग्रहान्त्र वीक्षण परीक्षा (Sigmoidoscopy) आदि द्वारा रोग विनिश्चिति करनी चाहिये तथा रोग को उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

चिकित्सा :—(१) **सिद्धान्त** :—विरेचक औषधियो के प्रयोग की अपेक्षा व्यायाम, विशेपकर औदरिक व्यायाम, आहार मे परिवर्तन, मनो-

वैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा, शामक (Sedative) औषधियाँ तथा नियमित समय पर मल परित्याग करने का अभ्यास आदि का कोष्ठबद्धता की चिकित्सा में अधिक महत्व है।

(२) **औपसर्गिक (Ifn)** रोगों में कब्ज की चिकित्सा :—**आम प्रवाहिका (E.H.dys:)** में रोगी को प्रायः कब्ज रहती है। इसके लिये कब्ज की साधारण चिकित्सा के अतिरिक्त आ० अ० मृदु विरेचक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसफगोल की भूसी का विशेष महत्व है। इसको च० ४–६ की मात्रा में दूध में मिलाकर अथवा मिश्री के साथ रात्रि में निद्रा के पूर्व ले सकते हैं। **आन्त्रिक ज्वर** (Typhoid) में प्रथम चार दिन के पश्चात् विरेचक औषधियों के प्रयोग से हानि होती है तथा अधिक मात्रा में एनीमा लगाने से रक्तस्राव (Bleeding) हो सकता है। इस रोग में प्रति दूसरे दिन मल परित्याग करना आवश्य है अन्यथा प्रलाप (Delirium), विषमयता (Toxaemia), आध्मान (Tympanites) आदि गम्भीर उपद्रवों की सम्भावना रहती है। प्रति दूसरे दिन मल परित्याग न होने पर गुदा में ग्लीसरीन की बत्ती (Glycerine suppository) अथवा जैतून के तेल के साथ ग्लीसरीन का एनिमा (यो.११९) लगाना चाहिये। विषमयता (Toxaemia) के साथ कब्ज रहने पर तथा अन्य उपचारों से विषमयता में कमी न होने पर अथवा रोग के प्रारम्भ में कब्ज के साथ मलावृत (Furred) जिह्वा रहने पर अत्यल्प मात्रा में कैलोमेल (यो.९२) की एक पुड़िया प्रति आध घण्टे दे सकते हैं। मल परित्याग हो जाने पर अथवा कैलोमेल की पूर्ण मात्रा ग्रे० २ हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर में इस औषधि के प्रयोग में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

(३) **कब्ज की साधारण चिकित्सा** :—व्यायाम, जल का अधिक प्रयोग, भोजन में शाक तथा फलों की प्रधानता, नियमित विश्राम तथा आहार, जौ-गेहूँ की रोटी, चोकर सहित रोटी का प्रयोग, नियमित समय पर मल परित्याग करने का प्रयत्न, उदर की मालिश आदि उपाय औषधि की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। जैतून का तैल (Olive oil) कागजी नीबू में मिलाकर लेना, लिक्विड पैरेफिन (Liq: paraffin) से अच्छा है। त्रिफला, सेनाय (Senna), कैसकरा (Cascara), घृतकुमारी (Aloes), अंजीर, मुनक्का, पपीता, सेव, हरी सब्जी, पक्का केला, वेल, आम, अम-

-रूद, कलेजी आदि का प्रयोग कर सकते हैं। आ० अ० एनिमा लगा सकते हैं परन्तु इसका अभ्यास हानिकर हो सकता है। पित्त (Bile) तथा अवटुका ग्रन्थि सत्व (Thyroid ext:) के प्रयोग के लिये पर्याप्त कारण होना आवश्यक है। यदा-कदा सिडलिज पाउडर (Seidlitz powder) ले सकते है। **विरेचक औषधियाँ** अनेक प्रकार की होती हैं। इनका गुण और प्रयोग भी भिन्न-भिन्न है :—

(क) **मृदु विरेचक** (Mild, Bland laxatives) :—ये औषधियाँ अस्थायी रूप से प्रयोग की जा सकती हैं। कब्ज ठीक हो जाने पर इनको बन्द कर देना चाहिये। सेनाय (Senna), त्रिफला, मैगनीशियम हाइड्रोक्साइड (Magnesium hydroxide, milk of magnesia), मुलहठी (Pulv glycyrrhiza) आदि औषधियाँ इसमें सम्मिलित हैं। लि० पैरेफीन (Liq: paraffin) के अनेक समय तक प्रयोग करने से जीवतिक्ति 'ए' (Vit: A) के प्रचूषण में कठिनाई होती है तथा इस जीवतिक्ति की शरीर में कमी हो सकती है।

(ख) **अन्थ्रासीन विरेचक** (Anthracene) :—ये औषधियाँ भी मृदु विरेचक है तथा कब्ज की चिरकालीन प्रवृत्ति रहने पर प्रयोग की जा सकती है। ये हानिकर नही होती परन्तु कुछ समय प्रयोग करने के पश्चात् प्रभावहीन हो जाती है इसलिये एक औषधि को कुछ समय प्रयोग करने के पश्चात् उसको बन्द कर इसी वर्ग की अन्य औषधि प्रयोग करना चाहिये। इन औषधियो में **रेवाचिनी** (Rhubarb) विशेषकर यकृत विकृति तथा बालकों मे प्रयोग की जाती है। **सेनाय** (Senna) की पत्ती तवे पर भून कर, पीस कर चूर्ण बना सकते हैं। इस चूर्ण को च० ½–१ आ० अ० रात्रि में ए० बा० देना चाहिये। सेनाय की प्रायः ७५–१०० पत्ती एक छटाक गर्म पानी में भिगा कर रात्रि में रख दें। दूसरे दिन प्रातःकाल औषधि को छान कर, चीनी मिला कर पीना चाहिये। यह औषधि प्रायः स्त्रियो मे प्रयोग की जाती है। इससे प्रायः उदर में ऐंठन नहीं होती। **त्रिफला** का चूर्ण च० १ रात्रि मे दे सकते हैं। हर, बहेड़ा, आँवला प्रत्येक एक-एक लेकर, उसके टुकड़े कर रात्रि मे दो छटाक जल मे भिगा देना चाहिये। दूसरे दिन प्रातः-काल औषधि को छानकर पीना चाहिये। इन औषधियो के अतिरिक्त घृतकुमारी (Aloes), फेनोफ्थलीन (Phenolphthalein), कैसकरा

(Cascara), मुलैठी सत्व (Ext:glycyrrhiza) आदि भी प्रयोग की जाती हैं। इन औपधियों से उदर में ऐंठन होने पर इनके साथ-साथ टि० वेलाडोना (Tr. belladonna) मि० ८ अथवा टि० हायोसायमस (Tr. hyocyamus) मि० १०–३० प्रति मात्रा देना चाहिये।

(ग) आवयविक (Mechanical) औषधियाँ :—इन औषधियों का आन्त्र से प्रचूषण नहीं होता। ये औषधियाँ आन्त्र को स्निग्ध (Lubricate) करती है तथा आन्त्र से निकलते समय मल का भी परित्याग कराती है। इनके द्वारा आहार-विषमयता (Food poisoning), अजीर्ण आदि में आन्त्र से दूषित पदार्थ बाहर निकाला जा सकता है।

बच्चों मे पतले दस्त आने पर आन्त्र से दूषित पदार्थ निकालने के लिये प्रायः रेंड़ी का तेल (यो०३२)दिया जाता है। लि०पैरेफीन (Liq:paraffin), पेट्रोल एगर (Petrol agar), एगर-एगर (Agar agar), जैतून का तेल (Ol. Olive), एगेरौल (Agarol) आदि इसी वर्ग की औपधियाँ हैं।

(घ) लवण के योग (Saline) :—ये औपधियाँ शरीर से जल खींचकर मल में मिलाती है। इसलिय इनके प्रयोग के पश्चात् रोगी दुर्बल हो जा सकता है। दुर्बल तथा वृद्ध मनुष्यो मे विशेष सावधानी की आवश्यकता है। ये औपधियाँ यदा कदा आ.आ. प्रयोग की जा सकती है। इनका बराबर प्रयोग हानिकर हो सकता है। ये प्रायः आन्त्रकृमि मे कृमिनाशक (Anthelmentics) औषधि के प्रयोग के पश्चात् कृमि बाहर निकालने के लिये दी जाती है। शोथ (Oedema) मे शरीर से जल निकालने के लिये इनका प्रयोग किया जा सकता है परन्तु रोगी दुर्बल नहीं होना चाहिये। ये औपधियाँ प्रायः प्रातःकाल दी जाती है। **क्रूशन का लवण** (Crushan salt), एन्ड्रू का लिवर साल्ट (Andrew's liver salt) आदि च. ½–१ प्रातः काल दे सकते हैं। एनो का फ्रूटसाल्ट (Eno's fruitsalt) च. १–४ एक गिलास जल के साथ प्रातः अथवा रात्रि मे दे सकते है। सिडलिज के चूर्ण (Seidlitz powder) की १–२ मात्रा प्रातःकाल दी जाती है। इस वर्ग की औपधियो मे सल्फेट (Mag : sulph, sodi sulph), टार्टेट (Pot : tart:), फौसफेट (Sodi : phos) आदि के लवण सम्मिलित है।

(४) **अन्य चिकित्सा** :—भारतवर्ष में राजगृह, सहस्रधारा आदि असंख्य स्थान हैं जहां के झरनों का जल कोष्ठबद्धता आदि अनेक रोगों में प्रयोग किये जा सकते हैं। दुर्भाग्यवश इन का जल बोतलों में उपलब्ध नहीं है और हमको विलायती झरनों (Carlsbad, Vichy) का जल प्रयोग करना पड़ता है। जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit : B. Complex, bemax, marmite, yeast) आदि के प्रयोग से लाभ होता है। रात्रि में निद्रा के पूर्व तथा प्रातःकाल खाली पेट एक गिलास पानी पीना लाभप्रद है। उदर की मालिश, औदरिक व्यायाम, प्रातःकाल अथवा रात्रि में भो० प० स्वच्छ वायु में टहलना लाभप्रद है। कुचलासत्व (Strychnine), यकृत तथा पित्त मार्ग (Bile passages) की विकृति में रात्रि में कैलोमेल (गो.५.२) ग्रे०२ तथा दूसरे दिन प्रातःकाल मैगसल्फ(Mag: sulph :) ड्रा० ४ देना चाहिये।

(५) **कोष्ठबद्धता की आयुर्वेदिक चिकित्सा** :—

प्रथम स्नेहन, स्वेदन कराना चाहिए तत्पश्चात् विरेचन व बस्ति का प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए।

आमजन्य या पुरीषजन्य होने पर तदनुसार चिकित्सा करे।

निम्न औषधियों का प्रयोग करे।

पञ्चसकार चूर्ण ४ माशा उष्ण जल के साथ प्रातः या सायंकाल।

पथ्यादि चूर्ण ४ ,, ,,

मंजिष्ठादि चूर्ण ४ ,, ,,

सुखविरेचनी वटी १ गोली (२ र० की) सोते समय शीतल जल से।

त्रिवृत्तादि लेह ½–१ तो. गरम जल से प्रातःकाल।

(१८) अतिसार, पतलेदस्त (Diarrhoea)

परिचय :—इस अवस्था मे पतलेदस्त होते हैं। भोजन का अवशेष (Residue) तीव्रता से कुछ घंटो मे आन्त्र के बाहर चला जाता है। यह अवस्था वास्तविक, मिथ्या (Pseudo : dia), स्थायी, अस्थायी, तीव्र, चिरकालीन आदि हो सकती है।

निदानः—निदान की दृष्टि से, मल परीक्षा, गुद परीक्षा (Rectal exam:) आन्त्र की क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा, अवग्रहान्त्रवीक्षण परीक्षा (Sig-

moidoscopy) आदि से सहायता मिलती है। मल की सूक्ष्म दर्शक यंत्र (Microscope) द्वारा साधारण परीक्षा के अतिरिक्त आ० अ० संवर्ध (Culture) परीक्षा भी कर सकते हैं।

वर्गीकरण:—(१) **वातिक, वातप्रकृतिक, मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक (Psychological, nervous, lienteric)**:—इस अवस्था मे भय, भावना (Emotion) आदि के कारण पतले दस्त होते है। प्रायः भोजन के तत्काल पश्चात् मल परित्याग करने की इच्छा होती है।

( ) **आमाशयिक** (Gastric, gastrogenous, gastrogenic) :—इसमे आमाशय मे उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी रहती है। अल्पाम्लता (Achlorhydria), मदात्यय (Alcoholism) आदि के कारण चिरकालीन आमाशय शोथ (Chro:gastritis) हो सकता है।

(३) **आन्त्र में विकृति के कारण** (Intestinal, enterogenous) :—अतिसार आत्र के रोगो का प्रधान लक्षण है। आन्त्र मे प्रायः, औषधि, विष, उपसर्ग (Ifn), अर्बुद (Tumour), आहार-विहार मे अनियमितता, भोजन मे अत्यधिक कार्बोज (Cho) के कारण अजीर्ण (Dyspepsia) होने से या नाड़ीव्रण (Fistula) आदि के कारण विकृति होती है। **औषधियों** मे कठिन विरेचक (Cathartics) औषधियॉ, संखिया (As), बिसमथ (Bis) आदि की विषमयता, आहार विषमयता (Food poisoning), **उपसर्ग** मे आत्रिक ज्वर (Typhoid), प्रवाहिका (Dys:), आत्रकृमि (Worms), यक्ष्मा (T. B.), विसूचिका (Cholera) आदि के कारण प्रायः पतले दस्त आते हैं। विष तथा उपसर्ग के कारण अतिसार होने पर रोग का आरम्भ प्रायः अकस्मात् होता है। विष-जन्य अतिसार मे प्रायः वमन भी होता है तथा उपसर्ग मे ज्वर रहता है। **कर्कटार्बुद** (Cancer) प्रायः मध्यावस्था के पश्चात् होता है। इस रोग का प्रारम्भ शनैः शनै होता है, तथा अतिसार होने के पूर्व कब्ज रहता है और रोगी दुर्बल होता जाता है। वृद्धावस्था मे दौर्बल्य प्रायः घातक अर्बुद (Malignant disease) अथवा मधुमेह (Diabetes) के कारण होता है। मण्डाभ अपजनन (Amyloid disease), वृक्कशोथ (Nephritis), उदर मे शीत लगने से, यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Cirrhosis liver), जलोदर (Ascites), मदात्यय (Cho : alcoholism) आदि के कारण भी

दस्त आते हैं। इन अवस्थाओं में आन्त्र प्रसेकी शोथ (Catarrhal inflammation) हो जाता है। कभी कभी अतिसार अकारण (Idiopathic) अथवा अनूर्जता (Allergy) के कारण होता है। यह अवस्था व्रणज बृहदान्त्र शोथ (Ulcerative colitis) में मिलती है। इस रोग का कारण अज्ञात है। बृहदान्त्र (Colon) के अर्बुद आदि रोगों में भी पतले दस्त आते हैं।

(४) **अन्य अवयवों की विकृति में प्रतिक्षेप (Reflex) के कारण**:—आमाशय, यकृत, अग्न्याशय (Pancreas), वृक्क, **पित्ताशय** (Gall bladder) आदि के रोगों में भी पतले दस्त होते हैं। **अग्न्याशय** के रोगों में अग्न्याशय के स्राव (Secretion) की कमी के कारण यह लक्षण होता है। इस अवस्था में मल अत्यन्त दुर्गन्धित, श्वेत, तथा चिकना होता है। मल में विना पचा हुआ वसा (Fat) रहता है। वृक्क के रोगों में **मूत्रविषमयता** (Uraemia) होने पर पतले दस्त के साथ वमन, मलावृत (Furred) जिह्वा, तंद्रा आदि लक्षण रहते हैं। फिरंगी खजता (Tabes dorsalis) आदि वातनाड़ी संस्थान के रोगों में प्रतिक्षेप (Reflex) के कारण पतले दस्त आते हैं। **उपसर्गजन्य** अतिसार जब ठीक होता है तब प्रथम वमन बन्द होता है तत्पश्चात अतिसार ठीक होता है। **मूत्रविषमयता** में प्रथम दस्त बन्द होते हैं तत्पश्चात वमन ठीक होता है।

(५) **भोजन में फालिक अम्ल** (Folic acid) की कमी के कारण संग्रहणी (Sprue) में पतले दस्त होते हैं।

(६) **अन्तःस्रावी ग्रन्थियों** (Endorines) के स्राव में गड़बड़ी होने से जैसे ग्रैव का रोग (Grave's disease) आदि में भी अतिसार होता है।

(७) **अन्य कारण** :—वृद्धावस्था, वायुमंडल के ताप में शीघ्रता से परिवर्तन, शैशवीयातिसार (Infantile dia :), पर्वतियातिसार (Hill: dia:) आदि।

चिकित्सा :—(१) सिद्धान्त :—अतिसार की चिकित्सा के लिये शारीरिक तथा मानसिक विश्राम, उदर को गरम रखना, उपवास करना, रोग के कारण का निवारण, उपयुक्त आहार, पर्याप्त जल का प्रयोग, जलाल्पता (Debydration) आदि अतिसार जन्य विकृतियों की चिकित्सा करना

तथा आ.अ. औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। अतिसार रोकने का प्रयत्न करना प्रायः अच्छा नहीं होता। मलोत्सर्ग की संख्या कम की जा सकती है। किसी भी कारण से अतिसार होने पर शरीर मे **जल, प्रोटीन** (Ptn), **कैलसियम** तथा **जीवतिक्तियों** (Vit:) की कमी हो सकती है। अतिसार के कारण रोगी को **चिंता** होती है। इसके लिये सान्त्वना आदि मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा करनी पड़ती है।

(२) **आहार:**—अतिसार मे आहार का विशेष महत्व है। रोग की **तीव्र अवस्था** मे प्रारम्भ में २४ घण्टे उपवास करना ही अच्छा है। केवल जल का प्रयोग करना चाहिये। इसके पश्चात् ३–४ दिन तक तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। अतिसार मे छेने का पानी (Whey) बनाने के लिये दूध को फिटकीरी (Alum) अथवा कैलसियम (Cal:) से फाड़ना चाहिये। दस्त की मात्रा कम हाने पर तथा मल गाढ़ा हो जाने पर अर्ध-तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये।

भोजन सरलता से पचने वाला ठंडा तथा आन्त्र मे किसी प्रकार का प्रक्षोभ (Irritation) करने वाला नहीं होना चाहिये। मद्य, कौफी, कच्चे फल, कच्ची या भूनी तरकारी, अचार आदि नहीं देना चाहिये। रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर शनैः शनैः आहार मे वृद्धि करना चाहिये। प्रारम्भ ही से जीवतिक्तियो का मिश्रण (Multivitamins) देना चाहिये। इनकी मात्रा स्वस्थ मनुष्य की प्र. दि. की मात्रा से ४–६ गुना अधिक होनी चाहिये। कार्बोज (Cho) के ठीक से न पचने के कारण दस्त होने पर भोजन में कार्बोज की मात्रा कम कर देनी चाहिये तथा कार्बोज पचाने वाली औषधियाँ (यो. ४८) भो. प. देनी चाहिये। कभी कभी आन्त्र के प्राकृत जीवाणुओ (Bacterial flora) में परिवर्तन करने से भी लाभ होता है। इसके लिये अम्लप्रिय दण्डाणु (B. acidophilis), दही आदि दिया जाता है। अतिसार मे दूध, होरलिक्स आदि की अपेक्षा एलेडौन (Eledon) अधिक उपयुक्त है।

कार्बोज (Cho) के किण्डवीकरण (Fermentation) के कारण दस्त होने पर मल की प्रतिक्रिया (Reaction) आम्लिक (Acidic) होती है। इस अवस्था मे कार्बोज के स्थान पर अण्डे की सफेदी (Albumin water) जल मे मिलाकर देना चाहिये। रोगी यदि दूध का प्रयोग

करता हो और उसके मल में दही (Curd) के टुकड़े के समान पदार्थ निकलता हो तब समझना चाहिये कि दूध नहीं पच रहा है। दूध में जल, बार्ली, सोडी साइट्रस (Sodi : citras) ग्रे. १० प्रति औं. ८ दूध मे मिला देने से दूध पचने मे सरलता होती है।

(३) औषधियाँ :—(क) तीव्र अवस्था मे रोग के प्रारम्भ में यदि आंत्र मे दूषित पदार्थ हो तब रोगी को रेंडी का तेल (Ol. Recini:) औं० १ एक बार अथवा ड्रा० १–२ (यो० ३२) त्रि० प्र० दि० देकर दूषित पदार्थ निकाल देना चाहिये। यदि चिकित्सा में विलम्ब हुआ हो तब विरेचन (Purge) नहीं कराना चाहिये, इससे रोगी दुर्बल हो जाता है। रोग के प्रारम्भ मे अजीर्ण आदि के कारण पीड़ा के साथ अतिसार रहने पर अफीम (Opium) के योग दे सकते हैं परन्तु सिद्धान्ततः अतिसार में अफीम का प्रयोग न करना अच्छा है। उण्डुकपुच्छशोथ (Appendicitis) आदि रोग जिनकी चिकित्सा शल्यकर्म (Op.) द्वारा करनी पड़ती है उनमें तथा शैशवावस्था, बाल्यावस्था, यकृत के रोग आदि मे अफीम का प्रयोग नहीं करना चाहिये। उपसर्ग की सम्भावना रहने पर सल्फागोनेडीन (यो० ३०) प्र० ४ घण्टा, टेरामाइसीन (Tn) कै० १–२ या औरियोमायसीन (Au) कै० १–२ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। जलाल्पता (Dehydration) की उपर्युक्त चिकित्सा करना चाहिये। ग्रीष्मातिसार (Summer dia:) में आंत्र से रेंडी के तेल (Ol. Recini) के द्वारा दूषित पदार्थ निकाल देने के पश्चात् अम्ल (Hcl, H_2SO_4) आदि का प्रयोग करना चाहिये। आंत्रिक ज्वर मे दस्त आने पर प्रथम आहार स्थगित करना अथवा उसमें परिवर्तन करना चाहिये। विशेषकर कार्बोज (Cho) नहीं देना चाहिये। इससे लाभ न होने पर केओलीन (Kaolin), विस्मथ (यो० ५४) आदि त्रि०प्र०दि०भो०प० देना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर मे अकस्मात् दस्त बन्द नहीं करना चाहिये। इससे आध्मान (Tympanites) तथा आंत्र का निच्छिद्रण (Perforation) होने की सम्भावना रहती है। अधिक दस्त होने से आन्त्र से रक्तस्राव (Haemorrhage) हो सकता है। आन्त्रिक ज्वर में २–३ बार प्र० दि० मल का परित्याग होना लाभदायक है। इससे विष का परित्याग होता है। मैदे मे अफीम मिला कर (यो० ११२) एनीमा लगाने से भी अस्थायी लाभ होता है।

(ख) चिरकालीन अतिसार की चिकित्सा :—रोग के कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। इस अवस्था मे प्रवाहिका (Dys:), यक्ष्मा, बृहदान्त्रशोथ (Colitis) आदि रोग मिलते हैं। **वातप्रकृति** (Nervous, lienteric) जन्य विकार मे ब्रोमाइड (Br:), फेनोबारबिटोन (Phn), टि० बेलाडोना (Tr:belladonna) आदि से लाभ होता है। **बृहदांत्र शोथ** (Colitis) रहने पर आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिये। भोजन सरलता से पचने वाला तथा वसा (Fat) युक्त होना चाहिये। इसके लिये अर्धतरल आहार (पृ. ४) तथा मक्खन आदि देना चाहिये। इसका कोई विशिष्ट कारण न होने से इसकी कोई विशिष्ट औषधि नहीं है। भो० प० विश्राम, उदर पर वस्त्र बाँध कर रखना, उदर को सर्दी लगने से बचाना, पीड़ा रहने पर उदर को सेकना, आदि से लाभ होता है। मानसिक विश्राम के लिये मनोवैज्ञानिक (Psy:) चिकित्सा तथा ब्रोमाइड (Br), फेनोबारबिटोन (Phn), टि० बेलाडोना (Tr. belladonna) आदि दे सकते हैं। अनूर्जता (Allergy) की सम्भावना रहने पर एन्टीस्टीन (Antistin), कौरटिसोन (Cortisone) आदि दे सकते हैं।

(ग) आमाशयिक (Gastrogenous) **अतिसार में** आमाशय में उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी रहने पर भोजन के साथ उदनीरिकाम्ल (Hcl : dil :) मि० ६० सन्तरे के रस मे मिलाकर देना चाहिये। इस औषधि को शीशे की नली से पीना चाहिये जिससे दाँत खट्टे न हो और इसको पीने के पश्चात एक गिलास पानी मे सोडी बाइकार्ब च० १ मिलाकर कुल्ला करना चाहिये जिससे अम्ल (Acid) के कारण दाँत मे विकृति न हो। ग्लिसरीन पेप्सीनी (यो.४९) भी दे सकते है। इस अवस्था मे कार्बोज (Cho) की अपेक्षा मासाहारी प्रोटीन (Ptn) प्रधान आहार अधिक लाभप्रद है। कभी कभी कार्बोज अथवा प्रोटीन का पचन ठीक से नही होता तथा उदर मे वायु की उत्पत्ति होती है। **कार्बोज** न पचने पर मल की प्रतिक्रिया अम्ल (Acidic) होती है तथा मल फेनिल (Frothy) होता है। इस अवस्था मे भोजन मे कार्बोज कम कर देना चाहिये तथा कार्बोज पचाने की औषधियाँ जैसे टाकाडायेस्टेस, पैङ्क्रयाटीन आदि (यो० ४८) भो० प्र० देना चाहिये। केयोलीन (Kaolin), कोयला (Charcoal, ultracarbon) भी दे सकते हैं। **प्रोटीन** न पचने पर मल की प्रतिक्रिया

क्षारीय (Alkaline) होती है तथा मल अत्यन्त दुर्गन्धित होता है। इस अवस्था मे मासाहारी भोजन स्थगित कर कार्बोज प्रधान आहार देना चाहिये जैसे चावल, खिचड़ी, मठ-चावल, दही-चावल आदि। आन्त्र के जीवाणुओं (Bacterial flora) का परिवर्तन करना विशेष लाभप्रद है। इसके लिये दही का विशेष महत्त्व है। इसमे लैक्टिक एसिडक दण्डाणु (B.Lactic acid) रहते हैं। ये जीवाणु अन्य जीवाणुओं का नाश करते हैं तथा अपनी वृद्धि करते हैं। इस प्रकार आन्त्र के जीवाणुओं मे परिवर्तन होता है।

(घ) **पर्वतियातिसार** (Hill : dia :):— पर्वत पर रहने के पश्चात संग्रहणी (Sprue) के समान प्रातःकाल दुर्गन्धरहित, सफेद तथा पतले दस्त होते हैं। साथ साथ आध्मान (Tympanites) तथा अजीर्ण होता है। **चिकित्सा** :—रोगी को पर्वत से हटाकर नीचे स्थान मे भेज देना चाहिये। उपसर्ग (Ifn) की सम्भावना रहने पर सल्फा (यो० २०) के योग० त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। आध्मान के लिये केयोलीन, कोयला आदि दे। कार्बोज (Cho) के पचने मे मदद देने के लिये पेप्सीन (यो० ५८) भो० प० देना चाहिये।

(४) अतिसार की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

प्रारम्भ में स्तम्भक औषधि का प्रयोग न करे किन्तु दोष-निष्क्रमणार्थ निर्बलो को छोड़कर मृदु रेचक व पाचक औषधि दे। कोष्ठ शुद्धि होने पर धारक औषधियाँ दे तथा दीपन-पाचन पथ्य व अनुपान का प्रयोग करे। प्रथम दिन लंघन करना हितकर है तत्पश्चात् लाजामण्ड, बिल्व या पिप्पलीसिद्ध क्षीर दे सकते हैं। चावल या खिचड़ी के साथ तक्र एवं दही का प्रयोग उत्तम है। फलो मे अनार, शन्तरा, केला, गूलर दे सकते है। तृष्णा शाति के लिये मुस्तादि का जल दे।

रक्तातिसार में मधुशर्करायुक्त बकरी का दुग्ध पीने को दें। मासाहारियो को घृतभृष्ट हरिण या अजरक्त देना चाहिये। पिच्छा बस्ति का प्रयोग करे। कपित्थ बिल्व, चागेरी-क्वाथ, तक्र या चावल का मण्ड दे।

औषधियाँ :—धान्यपञ्चक क्वाथ, वत्सकादि क्वाथ, ह्रीवेरादि क्वाथ, षडङ्गयूष, दाडिमाष्टक चूर्ण, बिल्वादि चूर्ण, जातीफलादि चूर्ण, शतपुष्पादि चूर्ण, कर्पूरादि वटी, कुटजघन वटी, अहिफेनासव, कुटजारिष्ट, रामबाण रस,

महागन्धक, पीयूषवल्ली रस, नृपतिवल्लभ रस, मुष्टि योग, लवगाभ्र योग, दाडिम चतु:सम, संजीवनी वटी, आनन्द भैरव रस।

निम्नक्रम से औषधि का प्रयोग करना उत्तम है :—

(१) रामबाण ४ र०
महागन्धक ४ र०
शंख भस्म ४ र०
दाडिमचतु:सम ४ र०
मि० ४ मात्रा
भृष्ट जीरक व मधु के साथ

(२) शतपुष्पादि चूर्ण ४ मा० २ मात्रा भोजन के बाद ऊष्ण जल से दें।

(१९) क्षुधानाश (Anorexia)

परिचय :—रक्ताल्पता (Anaemia), उपसर्ग (Ifn :), औषधि का प्रयोग, आमाशय शोथ (Gastritis) आदि के कारण रोगी को भूख नहीं लगती।

चिकित्सा :—रोग के कारण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन के पूर्व टि०नक्सवोमिका (यो०४२, ४३) मि०८ जल में मिला कर प्रयोग कर सकते है। आ० अ० रोगी को विरेचन (Purge) कराना चाहिये। जीवतिक्ति 'बी,' (Vit : B_1) मि. ग्रा. १०–२० त्रि. प्र. दि. भो. पू. देना चाहिये। विनकारनिस (Wincarnis), पोर्टवाइन (Port wine) आदि च. २ भो. पू. दे सकते है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy :) से लाभ होता है। भोजन स्वादिष्ट तथा रोगी की रुचि के अनुकुल होना चाहिये। रोग अत्यन्त गम्भीर रहने पर इनस्यूलिन (Insulin) अं. इ. ५ द्वि. प्र. दि. भो. पू. देना चाहिये।

क्षुधानाश को आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

समस्य रक्षण कार्यं विषमे वातनिग्रहः।
तीक्ष्णेपित्त प्रतीकारः मन्देश्लेष्माति शोधनम्॥

विषमाग्नि मे वातशामक चिकित्सा करे और स्निग्ध अम्ल लवण द्रव्यों का प्रयोग करे। तीक्ष्णाग्नि मे पित्तशामक चिकित्सा करे तथा दही, दूध, खीर आदि मधुर स्निग्ध द्रव्यों को खिलावें।

मन्दाग्नि मे साधारणतः कफनाशक चिकित्सा करें। कटुतिक्त कषाय द्रव्यों का विशेष रूप से सेवन करे। उपवास रूक्षताजन्य मन्दाग्नि में दीपनीय औषधियों से सिद्ध घृतपान कराये। अति कठिन मल में घृत और लवणयुक्त अन्नावग्रह दे। अति स्नेह-जनित मन्दाग्नि मे चूर्ण, अरिष्ट, आसव, सुरा, मद्य आदि का प्रयोग करे।

सैन्धवादि चूर्ण	
हिंग्वाष्टक चूर्ण	मात्रा ३ माशा
लवण भास्कर चूर्ण	उष्णजल या तक्र से।

(२०) वमन (Vomiting)

यह लक्षण केन्द्रीय (Central) तथा परिसरीय (Peripheral) कारणों से उत्पन्न होता है।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—रोग के कारण की चिकित्सा आवश्यक है। नासामार्ग से राइल की नलिका (Ryle's tube) आमाशय मे प्रवेश कर पिचकारी द्वारा प्रति घण्टे आमाशयिक स्राव निकाल कर सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ड्रा. १ को १ पा. शीतल जल में मिला कर आमाशय धोना (St : wash) चाहिये। तारपीन के तैल (Ol. turpentine) से उदर सेकने से तथा आमाशयोर्ध्व प्रांत (Epigastrium) मे सरसों की पट्टी (Mustard plaster) लगाने से भी लाभ होता है।

(२) आहार :—रोग की **साधारण** अवस्था मे भोजन मे यदि कोई गड़बड़ी हो तब उसको सुधारना चाहिये तथा रोगी की रुचि के अनुसार सरलता से पचने वाला आहार देना चाहिये। नीबू काट कर एक पर लवण तथा दूसरे पर चीनी रखकर गरम कर पारी-पारी चूसने से लाभ होता है। बरफ चूसने से भी वमन में कमी होती है। रोगी की प्रवृत्ति के अनुसार आहार गरम अथवा ठण्ढा होना चाहिए। साधारण गरम (Lukewarm) पेय से वमन की वृद्धि होती है। ज्वर आदि की चिकित्सा में रोगी की प्रवृत्ति का ध्यान मे रखना आवश्यक है। किसी-किसी रोगी को उपवास करने से वमन होता है। ऐसे रोगियो को ज्वर आदि होने पर उपवास नही करना चाहिये।

गर्भिणी स्त्री को वमन अधिक कष्टप्रद होने पर प्रातःकाल शैय्या से उठने के पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिये। प्रारंभ में तरल की अपेक्षा ठोस आहार (पृ० ४) अधिक सरलता से आमाशय मे ठहरता है। अल्पमात्रा मे आहार अनेक बार देना चाहिये। डाब का पानी पीने से लाभ होता है। रोग की **गम्भीर** अवस्था मे थोड़े समय के लिये आहार एकदम बन्द कर देना चाहिये। इस अवस्था मे जलाल्पता (Dehydration) होने की संभावना रहती है इसलिये रोगी को समबल लवण घोल (N. Saline) मे ग्लूकोस (Glucose) ५ प्र० श० मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से आ० अ० पा० १–२ देना चाहिये। प्रत्येक मार्ग से प्रायः ६–८ पा० जल० प्र० दि० शरीर मे जाना चाहिये। रोगी को सान्त्वना देकर उसका साहस बनाये रखना चाहिये। रोगी के समीप कोई भी दुर्गन्धित पदार्थ नहीं होना चाहिये।

(३) **औषधियां** :—वमन की चिकित्सा मे मुख से औषधि देने की अपेक्षा अन्य उपायों पर निर्भर करना अधिक लाभप्रद है। इस रोग मे प्रायः **शामक** (Sedative) तथा उद्वेष्ठन-निरोधी (Antispasmodic) औषधियाँ प्रयोग की जाती हैं। वमन के साथ कब्ज रहने पर तथा जिह्वा मलावृत (Furred) रहने पर क्लोरेटोन (Chloretone) ग्रे० १ तथा कैलोमेल (यो०५०) ग्रे० १।८ प्र० १।२ घटे कर तब तक देना चाहिये, जब तक दस्त प्रारम्भ न हो जाय। ८–१२ मात्रा तक दे सकते है। लूगोल की आयोडीन (यो ६७) मि०१ जल च०२ मे मिलाकर प्र०घटे कर ४–६ बार तक दें। एड्रिनलीन क्लोराइड (Adrenaline chloride) १ : १००० का मि० ५ जिह्वा के नीचे प्र० १।२ घटे कर ६ बार तक देना चाहिये। हाइड्रोसायनिक एसिड डिल (यो०६,१०) मि० १–३ प्र०१–२ घ० कर चार बार तक दें। एक गिलास साधारण गरम जल (Lukewarm) मे सोडी बाइ-कार्ब ग्रे० ३० मिलाकर सपूर्ण औषधि एकदम पिला देने से रोगी को वमन होता है और इस प्रकार आमाशय धुल जाता है तथा बार बार वमन करने की इच्छा कम हो जाती है। वमन ठीक हो जाने पर भोजन मे शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। सीरियमऑक्जेलेट (Cerium oxalate), थया-मिडीन (Thiamidin), बेनजोकेन (Benzocaine) ग्रे० ३ आदि प्र० ४ घं० दे सकते हैं। **यात्राजन्य वमन** (Sea, **mountain sickness**) मे फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे० १।२ या बारबिटोन (यो०७२)

ग्रे० २ यात्रा के पूर्व १–२ बार लेने से लाभ होता है। **गर्भावस्था जन्य वमनमें** पाइरीडौक्सीन (Vit: B_6) तथा थीलिन (Theelin) सी०सी० १पेशी मार्ग (I. M.) से देना चाहिये। वमन बन्द हो जाने पर भोजन में शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। प्रारम्भ में ठोस आहार (पृ० ४) देना ठीक है।

(४) वमन की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

केवल वातज को छोड़कर सभी प्रकार की छर्दि मे प्रथम लंघन करावे तत्पश्चात् कफ पित्तहारक संशोधन करावे। पिप्पलीयुक्त मैनफल क्वाथ से या त्रिकुट व चित्रक द्वारा साधित यूप से वमन कराना अच्छा है। हल्के पदार्थों का यूप दे। मधुर द्रव्यो के साथ मृदु रेचन करा सकते हैं। दुर्बल रोगियों मे संशोधन न कर शामक चिकित्सा करना चाहिये। गर्भवती में लाजाचूर्ण शहद के साथ दे।

लेहार्थ कषाय व कटु द्रव्य शहद के साथ देना हितकर है। गोंदकतीरे का शीत कषाय मिश्री के साथ देना लाभकारी है। काला सफेद जीरा, सौंफ व मधुयष्टी इनका चूर्ण शर्बत के साथ दे। इसके अतिरिक्त हेतुविपरीत चिकित्सा करे।

औषधियां :—एलादि चूर्ण, धान्यकादि योग, सर्पिलगुड योग, मयूर-पुच्छ भस्म, मक्षिकाविट।

कल्याण, त्र्यूषण एवं जीवनीय घृत।

वान्तिविध्वंसी, रसेन्द्र, वृषध्वज रस।

(२१) पैत्तिक विषमयता (Cholaemia)

परिचय :—कामला (Jaundice) मे यह विकृति उपद्रवस्वरूप होती है। बेचैनी, निद्रानाश, प्रलाप (Delirium) आदि मानसिक लक्षण होते हैं। यह विकृति अत्यन्त घातक है।

चिकित्सा :—यकृत को विष के प्रभाव से बचाने का तथा विष को शरीर से परित्याग कराने का प्रयत्न करना चाहिये। **यकृत विकृत होने से बचाने के लिये** अमीनोएसिड (Aminoacids, proteinhydrolysate), कार्बोज (Cho), जीवतिक्ति बी. सी. (Vit : B, C), क्षार (Alkali) तथा कैलसियम (Cal) का प्रयोग (योप्र.७) करना चाहिये। ग्लूकोस (Glucose) १२½–२५ प्र. श. १०० सी.सी.द्वि. या त्रि. प्र. द्वि. सिरामार्ग

(I.V.) से देना चाहिये । इसके साथ इनस्यूलिन (Insulin I.U.=Glucose 2 Gm) का अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से प्रयोग करने से ग्लूकोस के पचने मे सहायता मिलती है । ग्लूकोस के साथ जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C.) मि. ग्रा. ५०० प्र. बा. सिरामार्ग से देना चाहिए । **विष का परित्याग** कराने के लिये ग्लूकोस ६ प्र. श समबल लवण घोल (N. Saline) पा. १ के साथ सिरामार्ग (I. V.) से ३०–४० बूँद प्र. मि. की गति से (Drip method) देना चाहिये । मानसिक लक्षणो के लिये बारबिटोन, (Bn) ब्रोमाइड (Br,) आदि **शामक** (Sedative यो. २२) औषधियाँ **सावधानी पूर्वक** प्रयोग कर सकते है ।

(२२) खुजली (Itching)

परिचय :—यह लक्षण प्रायः कामला (Jaundice), मधुमेह (Diabetes), विस्फोटक (Eruptive) ज्वर आदि मे मिलता है ।

चिकित्सा :—(१) औषधि :—कब्ज रहने पर रोगी को अत्यल्प मात्रा में कैलोमेल (यो. ५२) प्रति ½–१ घंटा तब तक देना चाहिये जब तक मल परित्याग न हो । कैलोमेल की सपूर्ण मात्रा ग्रे. २ से अधिक नही होनी चाहिये । ब्रामाइड (यो. २२) की एक मात्रा त्रि. प्र. दि. या फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ½–१ त्रि. प्र. दि. आदि **शामक** (Sedative) औषधियाँ दे सकते हैं । **हिस्टामीन निरोधी** (Anti:histamine) औषधियाँ जैसे बेनाड्रिल (Benadryl) की गो. १ त्रि. प्र. दि. मुख से अथवा एक ऐम्प्यूल पेशीमार्ग (I.M.) से आ. अ. दे सकते है । **अवटुका ग्रन्थि सत्व** (Thyroid ext :) ग्रे. ¼–½ त्रि. प्र. दि., बेनजीड्रीन (Benzedrine) गो. १ द्वि. या त्रि. प्र. दि., **पिलोकारपीन** (Pilocarpine nitras) ग्रे. ⅙–¼ त्रि. प्र. दि दे सकते हैं । कौरटीसोन (Cortisone, ACTH), वृषण ग्रथिसत्व (Tetstosterone) आदि प्रायोगिक अवस्था मे है ।

(२) स्थानिक चिकित्सा :—खुजली के रोगी को क्षारीय (Alkaline) जल से या पानी मे मैदा मिलाकर नहलाना चाहिये । इसके लिये एक बाल्टी जल मे सोडी बाइकार्ब. च. ४ अथवा हाइपो (Hypo) च. २ मिलाकर प्रयोग करें । नहलाने के पश्चात् रोगी का शरीर तौलिये से पोछकर कैलामीन (यो. ७३) का चूर्ण लगाना चाहिये । त्वचा पर हिस्टामीन निरोधी

(Antihistamine, vioform cream) मलहम, कार्बोलिक अम्ल (यो. ८६) १ : ६०–१ : १०० जल या जैतून के तेल (Ol. Olive) में बनाकर, चालमुग्रा का तेल, अजवायन सत्व (यो. ८६), चन्दन का तेल आदि लगा सकते हैं।

(२३) प्रोटीन की कमी (Hypo-proteinemia)

परिचय :—इस अवस्था मे शरीर मे प्रोटीन की कमी हो जाती है। भोजन मे प्रोटीन (Ptn) की मात्रा कम रहने से, आन्त्र के रोगों मे प्रोटीन का प्रचूषण न हो सकने पर, वृक्क के रोगमे मूत्र द्वारा तथा दग्धव्रण (Burn) मे लसिका (Serum) द्वारा अधिक मात्रा मे शरीर से प्रोटीन का परित्याग होने से यह विकृति होती है। इस विकृति के कारण प्रायः शोफ, दौर्बल्य, पोषणाभाव जन्य रोग होते हैं तथा व्रण (Ulcer) के भरने में विलंब होता है। यकृत स्वस्थ रहने के लिये प्रोटीन आवश्यक है।

चिकित्सा :—(१) **आहार** :—दुग्ध की प्रोटीन (Milk casein), छेना, मक्खन निकाला दूध (Skimmed milk) सेर १–२ प्र० दि०, अण्डा, आदि देना चाहिये।

(२) **औषधियाँ** :—अमाइनोएसिड (Aminoacids), कोलीन (Choline) २५ प्र० श० जल मे ड्रा० १ या चूर्ण के रूप में ड्रा० १, मेथियोनीन (Methionin) ग्रा० १–२, सिस्टीन (Cystine) ग्रा० १, मेओनीन (Meonin) ग्रा० १, डेलफिकौल च० १ आदि त्रि० प्र० दि० भो० प० देना चाहिये। प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Ptn : Hydrolysate) रोग की साधारण अवस्था मे मुख से च० २–१० त्रि० प्र० दि० भो० प० दे सकते हैं। रोग की **गम्भीर** अवस्था मे इस औषधि को ग्लूकोस के साथ सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते हैं। दोनो औषधियाँ ५ प्र० श० होनी चाहिये। इस घोल का पा० २-५ प्र० दि० दे सकते हैं। प्रोटीन की शरीर मे **अत्यधिक** कमी रहने पर विषाणुरहित रक्तरस (Virus free plasma) सिरामार्ग (I. V.) से पा० १।२–१ त्रि० प० स० कर ८–१० वार दे सकते हैं।

(२४) जलाल्पता (Dehydration)

परिचय :— मनुष्य को प्र० दि० प्रायः १५०० सी० सी० मूत्र निर्माण करना पड़ता है। इसके लिये ऋतु के अनुसार प्रायः ६ से ८ पा० जल की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य जो जल पीता है उसमे से प्रायः मूत्र से ४० प्र०श०, फुफ्फुस से ४४ प्र०श०, पसीने से १२ प्र० श० तथा मल से ४ प्र० श० जल शरीर से बाहर निकल जाता है। मनुष्य के शरीर की बनावट मे प्रायः ५० प्र० श० जल का अश होता है। जल का यह भाग पुरुष में ५० प्र० श से थोड़ा अधिक तथा स्त्रियो मे थोड़ा कम होता है। शरीर की क्रियाओं को प्राकृतरूप से कार्यशील रखने के लिये तथा लवण आदि को घोलने के लिये जल की आवश्यकता पड़ती है। शरीर मे जल मुख, गुदा तथा इन्जेक्शन द्वारा दिया जा सकता है। गुदामार्ग से प्रायः साधारण जल या समबल लवण घोल (N. Saline) में ग्लूकोस (Glucose) २–५ प्र० श० तथा सोडी बाइकार्ब २ प्र० श० दिया जाता है। सिरामार्ग (I. V.) से जब ग्लूकोस २५ प्र० श० या उससे अधिक दिया जाता है तब उसमे जितना जल रहता है वह शरीर के काम आता है। केवल शुद्ध परिश्रुत जल (Aq-dist), सिरामार्ग से कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये। इससे रक्तकणों (RBC) के नष्ट होने की संभावना रहती है। रोगी को समबल लवण घोल (N. Saline) देने से उसमे जितना जल रहता है उसकी अत्यल्प मात्रा ही रोगी के शरीर मे समवर्त (Mbm) की क्रिया में काम आती है क्योंकि मूत्र से जब लवण आदि का परित्याग होता है तब इन पदार्थों को घोलने मे समबल घोल (Isotonic) की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार समबल घोल में जितना जल रहता है वह सब इस क्रिया मे समाप्त हो जाता है और समवर्त (Mbm) के लिये अत्यल्प जल ही मिल पाता है। इसीलिये विसूचिका (Cholera) आदि रोगों मे जिनमे शरीर से लवण तथा जल दोनों का अत्यधिक मात्रा मे परित्याग होता है उनमे परमबल (Hypertonic) घोल का प्रयोग ही उत्तम है। हृदय की दुर्बलता आदि मे जिनमे जल की अपेक्षा प्रोटीन (Ptn) आदि का अधिक महत्व है उनमे प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट (Protein hydrolysate) ५ प्र० श० अथवा रक्तरस (Plasma) आदि का प्रयोग लवण जल की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। इन औषधियों का जल थोड़ी मात्रा मे ही समवर्त (Mbm)

क्रिया मे काम आता है। **जल तथा लवण आदि का प्रयोग** निम्न मार्गों से किया जाता है :—

(१) अधस्त्वक मार्ग (S. C.):—इस मार्ग से समबल लवण जल (Normal saline) या ग्लूकोस (Glucose, dextrose Etc) का २½ से १० प्र. श. घोल जल मे या समबल लवण जल मे प्रयोग किया जाता है। २½ प्र. श. घोल ही अधिक उपयुक्त है। ये औषधियाँ उरु (Thigh) मे, स्तन के नीचे या औदरिक पेशियो (Abd:muscles) मे ½ से १ पा. प्र. घं. की गति से प्रवेश की जाती हैं। औषधि, यन्त्र तथा त्वचा को विशेष सावधानी पूर्वक जीवाणु-रहित (Sterilize) करना आवश्यक है अन्यथा विद्रधि (Abscess), अधस्त्वक्शोथ (Cellulitis) आदि उपद्रवो की सम्भावना रहती है। इस मार्ग से ६ से ८ पा. से अधिक जल प्रवेश नहीं कर सकते। जल के कारण त्वचा पर तनाव नहीं होना चाहिये अन्यथा रक्त-प्रवाह मे विकृति होगी और कर्दम (Gangrene) होना निश्चित है।

(२) सिरामार्ग (I. V.):—इस मार्ग से अनेक प्रकार के घोल प्रयोग किये जाते हैं। केवल परिश्रुत जल (Aq : dist) इस मार्ग से कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस मार्ग से प्रायः **परमबल लवण जल** (Hypertonic saline) तथा **ग्लूकोस** ५ से ५० प्र. श. प्रयोग किया जाता है। अधिक मात्रा मे जल की आवश्यकता होने पर ग्लूकोस ५ से १० प्र. श. ६ पा. तक दे सकते हैं। साधारणतः ग्लूकोस देने की गति औं. १०–१२ प्र. घं. से अधिक नहीं होनी चाहिये। यदि १० प्र. श. ग्लूकोस का घोल प्रयोग किया गया है तब प्र. घं. मे पा. १ से अधिक घोल नहीं देना चाहिये। रोगी के भार के अनुसार ग्लूकोस ग्रे. १२ प्र. से. भा. प्र. घ. से अधिक सिरामार्ग से नहीं देना चाहिये। इससे तीव्र गति से ग्लूकोस सिरामार्ग से देने से मूत्र मे शर्करा आने लगेगी और इस शर्करा को घोलने मे जल की आवश्यकता होगी। इसलिये शर्करा तथा जल दोनो का शरीर से परित्याग होगा। **जल, लवण,** तथा **ग्लूकोस** के अतिरिक्त निम्न औषधियाँ भी सिरा मार्ग से प्रयोग की जाती है :—

(क) रक्तरस (Plasma) :—यदि रोगी को जल की अपेक्षा प्रोटीन तथा लवण आदि की अधिक आवश्यकता हो तब इसका प्रयोग करना

चाहिये । इस औषधि में लवण प्रायः ०·६ प्र. श. तथा प्रोटीन (Ptn) ७ प्र. श. होता है । यह औषधि प्र. दि १००० सी. सी. से अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

(ख) लसिका की शुक्लि (Serum albumin) :—यदि रोगी को जल तथा लवण की अपेक्षा प्रोटीन (Ptn) की अधिक आवश्यकता हो तब इसको प्रयोग करना चाहिये । इस औषधि मे लवण कम तथा शुक्लि (Alb) २५ प्र. श. होती है । इस औषधि को प्र. दि. पा. २ से अधिक नहीं प्रयोग करना चाहिये ।

(ग) प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट (Protein hydrolysates) :—यदि रोगी को अमीनोएसिड (Aminoacids) देना हो तब इस औषधि का ५ प्र. श. घोल ग्लूकोस के जल ५ प्र. श. में मिलाकर प्र. घ. १ पा. की गति से देना चाहिये ।

(घ) लवण घोल (Saline) के निम्न योग प्रयोग किये जाते हैं :—समबल (यो. ६६), प्रमबल (यो. ६४), क्षारीय लवण घोल (यो. ६५) आदि ।

रसायनिक पदार्थों (Electrolytes) **की विकृति** :—जल के अतिरिक्त मनुष्य को अनेक प्रकार के लवण की आवश्यकता पड़ती है इनमे सोडियम क्लोराइड (Nacl) प्रधान है । इसकी प्र. दि. ७० से १५० ग्रे. की आवश्यकता पड़ती है । शरीर में जल जो प्रायः शरीर का ५० प्र. श. होता है उसमे से प्रायः ३३ प्र. श. कोषाओं (Cells) के अन्दर तथा १७ प्र. श. कोषाओं के वाहर रहता है । कोषाओं के अन्दर वाले जल मे पोटासियम (K.) तथा कोषाओं के बाहर वाले जल मे प्रधानतः सोडियम (Na.) रहता है । पोटासियम, फौसफेट (Ph) के रूप मे प्रोटीन (Ptn) से मिल कर एक जटिल (Complex) पदार्थ के रूप मे रहता है । कैलसियम (Cal) तथा मैगनीसियम (Magnesium) भी शरीर मे रहते है । शरीर मे **अत्यधिक सोडियम** (Na) **संचय होने से** अथवा पोटासियम (K.) के शरीर से निकल जाने से कोषाओं (Cells) में जल की कमी होती है और कोषाओ के वाहर अत्यधिक मात्रा में जल संचय होता है । इसके कारण शरीर मे शोफ (Oedema) होता है, रक्त-निपीड (B. P.) की

वृद्धि होती हैं, मूत्र का वि. गु. प्रायः कम होता है और रक्त में शोणवर्तुलि (Hb) प्र. श. तथा रक्तकण (Rbc) प्र. घ. मि. मी. कम हो जाते हैं। यह अवस्था हृदयातिपात (Ht : failure) के अतिरिक्त अत्यधिक लवण के सेवन से, वृक्क निपात के साथ-साथ शरीर में सोडियम (Na) के संचय होने से तथा यकृत की कार्यहीनता के कारण जलोदर (Ascites) होने पर मिलती है। इसकी **चिकित्सा** में सोडियम बन्द कर देना चाहिये, तथा डिजिटेलिस (Digitalis) का प्रयोग करना चाहिये। वृक्क में विकृति न रहने पर पारद के मूत्रल योग (Hg : diuretic) के द्वारा शरीर से लवण का परित्याग कराना चाहिये।

शरीर से **अत्यधिक सोडियम (Na) निकल जाने** से या कोषाओं (Cells) में अत्यधिक पोटासियम सचय होने से पेशियों में ऐंठन (Cramp), रक्तनिपीड़ (B.P.) में कमी तथा मूत्र की मात्रा में कमी हो जाती है। यह अवस्था पारद के मूत्रल योग (Hg : diuretic) का प्रयोग करने से, लवण (Nacl) कम लेने से, अडिसन (Addison) के रोग में, ताप के कुप्रभाव (Heat exhaustion, sunstroke) में, अत्यधिक पसीना होने के पश्चात, बिना लवण के अधिक जल पीने से तथा विसूचिका (Cholera) में मिलती हैं। पसीना अधिक होने से शरीर से सोडियम (Na) का परित्याग होता है। यह विकृति अम्लीयता (Acidosis) में भी पाइ जाती है। इस अवस्था की **चिकित्सा** के लिये रोगी को सिरामार्ग (I.V.) से परमबल (Hypertonic) लवण जल देना चाहिये।

पोटासियम (K) की गड़बड़ी होने से पेशियो में दुर्बलता तथा अगंवात (Paralysis) होता है। ये विकृतियाँ पोटासियम की वृद्धि तथा कमी-दोनों अवस्थाओं में मिलती हैं। वृक्क के निपात में पोटासियम की वृद्धि तथा अम्लीयता (Acidosis) में कमी होती है। **मैगनीसियम** (Mag:) की वृद्धि के कारण केंद्रीय वातनाड़ी संस्थान (C. N. S.) में अवसाद (Depression) तथा पेशियों में शिथिलता होती है। कैलसियम (Calcium) की वृद्धि के कारण शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में कैलसियम संचय होने लगता है। यह अवस्था उपावटुका ग्रंथि के स्राव की अधिकता (Hyperparathyroidism) में मिलती है। इसकी कमी के कारण अपतानिका (Tetany) के लक्षण होते है और शरीर के भिन्न भिन्न भागो

(अस्थि आदि) में कैलसियम की कमी होती है। यह अवस्था अस्थिमृदुता (Osteomalasia), उपावटुका ग्रन्थि के स्राव में कमी (Hypoparathyroidism) होने से तथा अम्लोत्कर्ष (Acidosis) में मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर में इन लवणों का प्राकृत मात्रा में रहना अति आवश्यक है। ये लवण शरीर में जल की मात्रा पर नियन्त्रण रखते है और शरीर के स्रावों की प्रतिक्रिया (Reaction) को प्राकृत रखते है। आमाशय (Stomach) के रोगों में वमन होने के कारण या अन्य किसी कारण से शरीर में **यदि केवल जल की कमी** होती है तब रोगी को प्यास लगती है, मूत्र का वि. गु. (Sp. gr) बढ़ जाता है तथा रक्त में शोणवर्तुलि (Hb) प्र. श. की तथा रक्तकण (R.B.C.) प्र. घ. मि.मी. में वृद्धि होती है। इस अवस्था में शरीर में सोडियम (Na) तथा पोटासियम (K) दोनों की मात्रा प्राकृत रहती है। केवल जल की कमी होती है और यह कमी कोषाओं तथा उसके बाहर दोनों ही स्थानों के जल में होती है। इस विकृति की **चिकित्सा** के लिये केवल जल देना पर्याप्त है। लवण देने की आवश्यकता नहीं है। **अमूत्रता** (Anuria) या **मूत्राल्पता** (Oliguria) में केवल अत्यधिक जल देने से भी कोषाओं तथा उसके बाहर दोनों ही स्थानों में जल संचय होने लगता है और रोगी के शरीर के भिन्न भागों में शोफ (Oedema) हो जाता है। अमूत्रता तथा मूत्राल्पता में शोणवर्तुलि (Hb) प्र. श. तथा रक्तकण प्र. घ मि. मी. में वृद्धि होती है और यदि रोगी मूत्र परित्याग करता रहता है तब मूत्र का वि. गु. (Sp.gr) प्राकृत से कम हो जाता है। इस अवस्था की **चिकित्सा** में जल तथा लवण नहीं देना चाहिये।

(२६) शोफ (Oedema)

परिचय :—शरीर में शोफ होने के अनेक कारण है। इन कारणों में वृक्क, यकृत तथा हृदय के रोग प्रधान हैं।

(क) वृक्क जन्य शोफ :—यह शोफ कदाचित अनेक विकृतियों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है जैसे:—लवण का सचय, रक्त में प्रोटीन (Ptn) की कमी, रक्तवाहिनियों (B. V.) के प्राचीर की प्रवेशक्षमता (Permeability) में वृद्धि, ततुओं (Tissues) में प्राणवायु (O_2) की कमी, सिरोओं (Veins) तथा लसवाहिनियों (Lymph ducts) के निपीड़

(Pressure) में परिवर्तन, रक्त की प्रतिक्रिया (Reaction) में परिवर्तन तथा रक्तवाहिनियों से सम्बन्धित वातनाड़ियो (Nerves) में विकृति होने से। **वृक्कशोथ** (Nephritis) की **तीव्र** अवस्था मे केशिकाओं में शोथ (Endo-cappillaritis) होने के कारण शोफ होता है। इसकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं है।

अनुतीव्र अवस्था (Sub acute) मे रक्त मे लवण (Nacl) की वृद्धि तथा प्रोटीन (Ptn) की अत्यधिक कमी (Hypo-proteinaemia) के कारण शोफ होता है। **चिरकालीन अवस्था** मे शोफ की उत्पत्ति हृदयातिपात (Ht-failure) के कारण होती है। **चिकित्सा** :—वृक्कजन्य शोफ कम करने के लिये भोजन तथा औषधि में **सोडियम** बन्द करना आवश्यक है। लवण (Nacl) के स्थान पर अनेक सोडियम रहित लवण (Neo-cifonal camden, neo-curtasal. W. S., ruthmol, selarom Br) आदि उपलब्ध है। इनका प्रयोग नहीं करना ही अच्छा है। रोगी को लवणरहित भोजन प्रयोग करने का अभ्यास होना चाहिये। शोफ कम करने की यह सर्वोत्तम विधि है परन्तु यह सर्वदा प्रभावशाली नही होती। लवण बन्द करने से सोडियम (Na) की कमी के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। इसीलिये आवश्यकता से अधिक दिन तक लवण मे कमी नहीं करना चाहिये तथा इस अवधिपर्यन्त सोडियम (Na) की कमी के लक्षणों की उत्पत्ति के लिये ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिये। इनकी सम्भावना प्रतीत होने पर लवण की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये। लवण कम करने की अवधि में भोजन मे लवण की मात्रा १५ ग्रे० प्र० दि से कम होनी चाहिये। **प्रोटीन** की मात्रा तथा प्रयोग के विषय मे मतभेद है। सर्वप्रथम लवण बन्द कर देखना चाहिये कि इसका शोफ पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि प्ररिणाम आशाप्रद न हो तब प्रोटीन देने का निश्चय करना चाहिये। प्रोटीन होने के पूर्व निम्न विपयों का ज्ञान आवश्यक है :—

(क) **रक्त में नाइट्रोजन** (N.P.N.) की मात्रा :—प्राकृत अवस्था मे यह १०० सी. सी. रक्त मे २०–३० मि. ग्रा. होता है। यह मात्रा ५० मि० ग्रा. से अधिक होने पर प्रोटीन देना हानिप्रद है।

(ख) मूत्र में **मिह संकेन्द्रण कसौटी** (Urea concentration test) का परिणाम।

(ग) प्रातःकाल के प्रथम मूत्र का **विशिष्ट गुरुत्व** (Sp : Gr :) (घ) मूत्र मे **शुक्लि** (Alb :) की प्र. दि. की मात्रा। उपर्युक्त परीक्षाये वृक्क की कार्यशीलता जानने के लिये की जाती है। प्रातःकाल के मूत्र का **वि० गु०** स्वस्थ अवस्था मे प्रायः १०२०–१०२५ होता है। मूत्र का वि. गु. जितना प्राकृत से कम होता है उतना ही कम प्रोटीन दिया जा सकता है। **मिह संकेन्द्रण कसौटी** (Urea concentration test) मे प्राकृत अवस्था मे यूरिया का सकेन्द्रण (Concentration) ३'५ प्र. श. होता है। वृक्क मे साधारण विकृति होने पर यह मात्रा २'५ प्र. श. हो जाती है तथा गम्भीर अवस्था मे १'५ प्र. श. हो जाती है। साधारण विकृति रहने पर प्रायः ७५ ग्रा. प्रोटीन प्र. दि. दिया जा सकता है। इस विधि द्वारा प्रोटीन की मात्रा निर्धारित करने मे समय लगता है। जब तक मूत्र मे रक्त रहता है तथा मूत्र की मात्रा कम रहती है तब तक यह परीक्षा नही की जा सकती है इसलिये प्रोटीन देने की मात्रा निम्न सूत्र से निर्धारित की जा सकती है :—

$$\text{प्र. दि. प्रोटीन देने की मात्रा} = \frac{\text{रोगी का भार सेर मे}}{२} + \text{मूत्र से प्र. दि. प्रोटीन परित्याग होने की मात्रा ग्राम मे।}$$

उदाहरण :—यदि रोगी का भार ४० सेर है और उसके मूत्र द्वारा प्र. दि. शुक्लि (Alb:) १०ग्रा. (Gm.) जाती है तब उसको प्रोटीन ग्रा. ३० प्र. दि. दिया जा सकता है। ४०/२ + १० = ग्रा. ३०।

प्रोटीन देते समय ध्यान रखना चाहिये कि रोगी को प्रोटीन इसलिये दिया जा रहा है कि रक्त मे नाइट्रोजन का सतुलन (Nitrogen balance) प्राकृत रहे। अत्यधिक मात्रा में प्रोटीन देकर वृक्क के कार्य मे वृद्धि नही कराना चाहिये। इस प्रकार शोफ की अवस्था मे रोगी को **भोजन में** लवण ग्रे. १५ प्र.दि. से कम, प्रोटीन ५० ग्रा. प्र. दि. से कम तथा वसा (Fat) अत्यल्प मात्रा मे देना चाहिये। भोजन मे कार्बोज (Cho) की प्रधानता रहनी चाहिये। लवण बन्द कर देने पर **जल** मे कमी करना निरर्थक है। पर्याप्त मात्रा मे जल दे सकते हैं।

मूत्रल औषधियों का प्रयोग तभी करना चाहिये जब वृक्क द्वारा मूत्र का

निर्माण होता हो। रोग की तीव्र अवस्था में जब मूत्र का निर्माण स्थगित हो जाता है अथवा अत्यल्प मात्रा में मूत्र परित्याग होता है तब मूत्रल औषधियों से हानि हो सकती है। पोटास साइट्रस, बाइकार्ब तथा एसीटेट (Pot:cit, bicarb, acetate) आदि ग्रे. १०–२० त्रि.प्र.दि. दे सकते हैं। उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। अवटुका ग्रन्थि (Thyroid) सत्व ग्रे. ३ प्र. दि. देने से भी शोफ में कमी होती है। मूत्र की मात्रा बढ़ाने के लिये आवश्यक है कि रक्त का आस्रुतीय निपीड़ (Osmotic pressure) बढ़ाया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये समय समय पर गोंद (Gum-acacia), जेलटीन (Gelatin), रक्तरस (Plasma) आदि का सिरामार्ग (I. V.) से प्रयोग किया जाता रहा है। रक्तरस (Plasma) में लवण की मात्रा अधिक रहती है तथा अन्य पदार्थ भी विशेष लाभप्रद नहीं है। आ. **लवण रहित मानवीय शुक्लि** (Salt poor human albumin) ५० प्र. दि. सिरामार्ग (I.V.) से दे सकते हैं। यह औषधि अनेक सप्ताह पर्यन्त देनी चाहिये। इससे शीघ्रता से मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है परन्तु औषधि का मूत्रल (Diuretic) प्रभाव अस्थायी है और औषधि बन्द कर देने पर रक्त में शुक्लि (Alb:) की मात्रा शीघ्रता से कम होने लगती है। सिरामार्ग (I. V.) से प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Protein hydrolysate) दे सकते हैं। जलोदर (Ascites) का जल भी सिरामार्ग (I.V.) से दिया जाता है।

पारद के मूत्रल योग (Hg–diuretics) प्रयोग नहीं करना चाहिये। अमोनियम क्लोराइड (Ammon: chloride) शरीर में अम्ल (Acid) की वृद्धि करता है तथा हानिकर है। रक्त में नाइट्रोजन (N.P.N) की मात्रा जाने बिना यूरिया (Urea) नहीं देना चाहिये।

विरेचन (Purge) :—वृक्कशोथ में कैलोमेल (Calomel) का प्रयोग नहीं करना चाहिये। मैगसल्फ (Mag:sulph) ड्रा. ४ या सिडलिज पाउडर (Seidlitz powder) १ मात्रा प्रातःकाल या जलप (Pulv Jalap Co.) की भस्म ग्रे. ३०–६० रात्रि में दे सकते हैं। कैसकरा का तरल सत्व (Cascara evacuant) मि. २० या मुलैठी का सत्व (Ext: glycyrrhiza liq) मि. २० त्रि. प्र. दि. दें।

नोट :—रोग की **चिरकालीन अवस्था** में उच्चरक्त निपीड़ (B.P.)

के कारण हृदयजन्य शोफ (Cardiac oedema) होता है । इस अवस्था में अन्य चिकित्सा के अतिरिक्त डिजिटेलिस (Digitalis) प्रयोग करना चाहिये ।

शल्य चिकित्सा :—हृदयावरण (Pericardium), फुफ्फुसावरण (Pleura), उदरावरण (Peritoneum) आदि की गुहाओं (Cavity) से शल्यकर्म (Op.) द्वारा जल निकाला जा सकता है । पैर पर शोफ रहने पर सदे की नलिका (Southey's tube) प्रयोग कर सकते हैं । इससे उपसर्ग (Ifn) की संभावना रहती है । जलोदर (Ascites) के जल मे प्रोटीन की मात्रा अधिक रहती है । सिद्धान्ततः इस जल को निकालना नही चाहिये ।

(ख) यकृत जन्य शोफ :—इस अवस्था मे भी शरीर मे प्रोटीन (Ptn) की कमी होती है तथा सोडियम (Na.) का सचय होता है इसलिये रोगी के **भोजन मे लवण** (Nacl) को कमी तथा **प्रोटीन की प्रधानता** होनी चाहिये ।

यकृत के रोग में लवण बिलकुल बन्द कर देने से सन्यास (Hepatic coma) होने की सभावना रहती है इसलिये लवण पूर्ण रूप से बन्द न कर ३० ग्रे. प्र. दि. तक दे सकते हैं । औपधियो की अपेक्षा **आहार** पर ही निर्भर करना चाहिये । दूध, अमीनोएसिड (Aminoacid), प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Protein hydrolysate), अण्डे की सफेदी (Alb), रक्तरस (Plasma), जीवतिक्ति 'बी' (Vit : B.) आदि देना चाहिये ।

औपधियाँ :—मैगसल्फ (Mag sulph) ड्रा ४, सोडी सल्फ (Sodisulph) ग्रे. ३० त्रि. प्र. दि. आदि **विरेचक** (Purgative) औपधियाँ सावधानी पूर्वक देना चाहिये। **मूत्रल** औषधियो मे डायूरेटिन (Diuretin) ग्रे.४, पोटास एसिटस, (यो.१, २) ग्रे.१० त्रि.प्र.दि. पुनर्नवासत्व मि.३० त्रि.प्र.दि, यूरिया (Urea) ग्रे. २० द्वि. प्र. दि. अमोनियम क्लोराइड (Ammon: chloride) ग्रे. १५—३० त्रि. प्र. दि. भो. प., केफीन सोडी बेनजोअस (Caffeine sodi benzoate) ग्रे. ४—७½ मुख से त्रि. प्र. दि. अथवा पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते हैं । **पारद** (Hg) के मूत्रल योग पेशी या सिरा मार्ग से १—२ सी. सी. की मात्रा मे १—२ बार. प्र. स. दिये जाते हैं ।

(ग) हृद्‌जन्य शोफ :—इस प्रकार का शोफ प्रायः दक्षिण हृदया-

तिपात (Rt : ht : failure) मे होता है। इस अवस्था की **चिकित्सा** में लवण रहित आहार, पारद के मूत्रल योग (Hg : diuretics) तथा डिजिटेलिस (Digitalis) दिये जाते हैं। सावधानीपूर्वक विरेचक (Purgative) औषधियाँ दे सकते हैं।

शोफ की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

लंघनं पाचनं शोथे शिरःकायविरेचनम् ।
वमनञ्च यथासत्वं यथादोषं प्रकल्पयेत् ॥ (भै० र०)

रोगी मे आमदोष होने पर प्रथम लंघन व पाचन कराना श्रेयस्कर है यदि निराम है तो यथादोष शोधन कराना चाहिए। शिरोगत दोष में शिरोविरेचन आमाशय के ऊपर के दोषो मे वमन और अधोग मे विरेचन या बस्ति से शोधन करे।

शिरोगतंशीर्षविरेचनैरधोविरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम् ।
च. चि. अ. १७ श्लो० १५

इसके बाद स्निग्धता और रूक्षता का विचार करते हुए बाह्य आलेपन स्वेदन, परिषेक आदि का भी प्रयोग करे। यकृद्दोषजन्य शोथ मे विरेचन, हृदयविकारजन्य मे मूत्रल व स्वेदल द्रव्य तथा वृक्कविकारजन्य मे विरेचन और स्वेदन विशेष रूप से कराना चाहिए।

शोथ रोगी को लवण, मास, शुष्कशाक, नया अन्न, गुड़, अम्ल, गुरु असात्म्य, विदाही भोजन और मैथुन त्याग देना चाहिए। ऐसे रोग मे दुग्ध (विशेषकर उंटनी का) और गोमूत्र का विशेष प्रयोग करना चाहिए।

औषधियाँ :—लेप—बहेडे की फल की मज्जा, मुलैठी, मोथा, कैथ, चन्दन, दशाग लेप, पुनर्नवादि लेप, तैल—शुष्क मूलाद्य, शैलेयादि, अन्य—विल्वपत्र स्वरस शरपुंखा क्वाथ, दशमूलक्वाथ, पुनर्नवाष्टक क्वाथ, शोथारि चूर्ण, पुनर्नवाद्यारिष्ट, पुनर्नवामण्डूर, शोथारि लौह, शोथ कालानल, त्रिनेत्रा रसोरस, दुग्ध वटी, सर्वतो भद्र वटी, आरोग्य वर्धिनी, इच्छाभेदी रस।

प्रयोग :—(१) शोफारि लौह ४ र०
पुनर्नवामण्डूर ४ र०
चन्द्रामृत ४ र०
नवायस लौह ४ र०
मि. ४ मात्रा पुनर्नवास्वरस व मधु से अथवा गोमूत्र से।

(२) पुनर्नवारिष्ट १॥ तोला समजल मिलाकर भोजन के बाद। (३) आरोग्यवर्धिनी २ गोली दुग्ध से रात्रि मे। (४) परिषेक व लेप।

जलोदर की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

यह रोग पथ्य प्रधान है। 'षण्मासान् क्षीरवृत्तिः स्यात्। रोगी को छः माह दुग्ध पर और छः माह यवागू व फलरस पर रक्खे। नमक वर्ज्य है, जल नहीं देना चाहिये बहुत प्यास लगने पर नारिकेलोदक, पुनर्नवा अर्क, काकमाची, अर्क, हरे आवले का अर्क, अथवा शृतसलिल दे सकते है, उदर पर यह बंधन करे।

जलोदरेषु विश्राव्यं जातं जातं विरेचनैः।
विरिक्तं जठराध्मान स्नेहाद्यैर्वस्तिभिर्जयेत् ॥

प्रथम दीपन, घृतपान जैसे पचकोल, चित्रक एवं नागर घृत दे। फिर जल निष्कमणार्थ विरेचन करावे इसके लिये पटोलादि चूर्ण, जलापा, काला-दाना, जयपाल, इच्छाभेदी का प्रयोग करे, सेहुण्ड दुग्ध उग्र होने से केवल बलवान रोगियो को ही देना चाहिये। मूत्र मात्रा बढाने के लिए गोमूत्र व क्षारों का प्रयोग करे। पथ्य लघु दीपन हो व्योषादिसिद्ध दुग्ध एव बलानुसार मण्डपेया विलेपी का प्रयोग कर सकते है।

जल शोषणार्थ ताम्र व स्वर्ण के योग दे। वृक्कशोथ होने पर दुग्ध वटी (धत्तूर युक्त अहिफेन रहित), पुनर्नवामण्डूर, आरोग्यवर्धिनी, सर्वतोभद्र वटी (स्वर्ण युक्त) का प्रयोग करे। कुछ हृद्य औषधियाँ यथा रससिन्दूर, मुक्तापिष्टी हृदयार्णव, चिन्तामणि, विश्वेश्वर रस, अर्जुनत्वक चूर्ण एवं हृत्पत्री चूर्ण प्रयोग करे। शोथ होने पर पुनर्नवादि क्वाथ, पुनर्नवामण्डूर, शोथारि लौह, शोथ कालानल रस भी दे। कुछ लेप यथा—शोभाञ्जन, काकमाची, देव-दार्वादि लेप, शोथ शार्दूल एव शुष्कमूलाद्य तैल का भी प्रयोग कर सकते है।

औषधियो को निम्न क्रम से बललक्षणासार न्यूनाधिक विभेद से रोगियो में प्रयोग कर सकते हैं :—

(१) जलोदरारि रस ४ र०/२ मात्रा
पुनर्नवा रस व मधु के साथ।

(२) हृदयार्णव २ र०
रससिन्दूर १ र०
मि. २ मात्रा
अर्जुनत्वक् चूर्ण व मधु के साथ।

(३) आरोग्यवर्धिनी वटी २
रात्रि मे दुग्ध के साथ।

(२७) लसिका जन्य रोग (Serum-sickness)

लसिका (Serum) द्वारा चिकित्सा करने के प्रायः ८–१० दिन पश्चात्

लसिकाजन्य रोग (Serum sickness) होने की सम्भावना रहती है। इस विकृति मे ज्वर, विस्फोट (Rash), संधियों (Joints) में पीड़ा, सर्वांगशोफ (Oedema) आदि लक्षण होते हैं। इस विकृति से बचने के लिये कैलसियम लैकटेट, ग्लुकोनेट अथवा क्लोराइड (Cal:lactate, gluconate, chloride) ग्रे० ३–५ त्रि० प्र० दि० कर ५–७ दिन देना चाहिये। यह विकृति उत्पन्न होने पर कैलसियम, एड्रीनलीन (Adrenalin) तथा एन्टिस्टीन (Antistin) आदि अनूर्जता निरोधी (Anti-allergic) औषधियाँ देना चाहिये। विस्फोट (Rash) के ऊपर कैलामीन (यो० ७३), मेनथौल की मलहम (Ung:menthol) ५ प्र० श० अथवा क्लोरलहाइड्रस (Chloral hydras:) लगाना चाहिये। इससे खुजली में कमी होती है।

कभी-कभी लसिका का इन्जेक्शन लगाते समय तत्काल प्रतिक्रिया (Reaction) होती है। यह विकृति होने पर लसिका का इन्जेक्शन बन्द कर रोगी को तत्काल एड्रीनलीन (Adrenalin) १:१००० सी० सी० ½–१ अधस्त्वक् (S. C.) मार्ग से तथा कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal:gluconate) १० प्र० श० सी० सी० १० सिरा मार्ग (I. V.) से देना चाहिये।

लसिका का प्रयोग करने के पूर्व यह देख लेना चाहिये कि रोगी इस औषधि को सह सकता है या नहीं।

(२८) फुफ्फुसावरण जन्य पीड़ा

शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ (Dry pleurisy) के कारण वक्ष मे पीड़ा होती है। वक्ष पर गाय का पुराना घृत अथवा लिनिमेन्ट ए०बी०सी० (Lt. ABC) जैतून के तेल (यो० ८५) मे मिलाकर मालिश करना चाहिये। वक्ष पर सेंकने, एन्टीफ्लेमिन (Antiflamin) लगाने अथवा तीसी की पुल्टिस लगाने से लाभ होता है। पुल्टिस वक्ष के चारो ओर विशेष कर सामने नहीं लगाना चाहिये अन्यथा पुल्टिस के भार से श्वसन मे कष्ट होता है। पीड़ा के स्थान पर एथिल क्लोराइड ½–१ मिनट छिड़कने (Ethyl chloride spray) से लाभ होता है। तीव्र पीड़ा मे पीड़ा के स्थान से २ इंच ऊपर तथा दो इंच नीचे की त्वचा मे नोवोकेन (Novocaine) अथवा प्रोकेन हाइड्रोक्लोर (Procaine hyd) ½–१ प्र० श० अनेक स्थान पर सूई से

वितरित (Infiltrate) करने से प्रायः १२ घं० तक पीड़ा बन्द रहती है। पीड़ा असह्य होने पर सावधानी पूर्वक पेथिडीन (Pethidine), यूकेडौल (Eukadol), फाइसेप्टौन (Physepton), डेमेरोल (Demerol) आदि की ५०–१०० मि० ग्रा० की गोली मुख से दे सकते हैं। अन्य विधियों से लाभ न होने पर फुफ्फुसावरणीय गुहा मे २०० से ५०० सी० सी० वायु (A. P.) प्रवेश कर सकते हैं।

(२९) पीड़ाकर ध्वजहर्ष (Priapism)

परिचय :—इस विकृति में पुरुष के लिंग का पीड़ाकर ध्वजहर्ष (Erection) होता है। यह लक्षण रक्ताल्पता (Anaemia), श्वेतमयता (Leukaemia), उपदश (Gono) आदि मे मिलता है। **चिकित्सा :**—रोग के कारण का निवारण करना चाहिये। शिश्नपार्श्विका पेशी (Corpora cavernosa) का छेदन (Incision) अथवा निर्हरण (Aspiration) कर सकते हैं। टेट्राएथिल अमोनियम क्लोराइड (Tetra ethyl ammonium chloride) मि० ४५ का भी प्रयोग किया जाता है।

(३०) श्यावता (Cyanosis) तथा श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea)

इन अवस्थाओ मे प्राणवायु (O_2) का प्रयोग आवश्यक है। इसके लिये रबर की नलिका (Catheter) अथवा बी० एल० बी० की थैली (B.L.B. mask) का प्रयोग करना चाहिये। प्राणवायु का प्रयोग निरन्तर (Continuous) करना चाहिये। प्राणवायु ९५ प्र० श० के साथ कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) ५ प्र० श० का मिश्रण सर्वोत्तम है। ग्रीवा पर की सिरायें (Veins) यदि रक्त के कारण फूली हो तब सिरा से रक्त औं० १०–२० निकाल देना (V. S.) चाहिये।

(३१) अकणिक श्वेतकायाण्वुत्कर्ष (Agranulocytosis)

परिचय :—विष आदि के कारण इस गंभीर रोग मे श्वेतकणो (W. B. C.) की अत्यधिक कमी हो जाती है। त्वचा, मुख, श्लैष्मिक कला (M. M.) आदि पर व्रण (Ulcer), पूयोत्पत्ति (Sepsis) के साथ अक-

स्मात् ज्वर, स्थानिक लसग्रंथियों (L. G.) की वृद्धि आदि लक्षण होते हैं। यह रोग प्रायः सल्फा (S), संखिया (As), सुवर्ण (Gold), पारद (Hg), अमीनोपायरीन (Aminopyrine), थायोरेसिल (Thiouracil), एसिटानिलिड (Acetanilid), बिस्मारसन (Bismarsan), सिनकोफेन (Cinchophen) आदि के कारण हो सकता है। कभी-कभी यह विकृति एस्पीरीन (Aspirin), नाइट्रोजन मस्टर्ड (NH_2), ट्राइडीओन (Tridione), बारबिटोन (Bn), बेनजोल (Benzol), क्लोरोमायसिटीन (Cln), क्वीनीन (Q), क्वीनीडीन (Quinidine), पारद के मूत्रलयोग (Hg : diuretic), डी. डी. टी. (D. D. T.), फेनासिटीन (Phenacetin) तथा तीव्र उपसर्ग आदि के कारण होती है। कभी कभी इस रोग का कोई कारण नहीं मिलता। **रक्तपरीक्षा** में श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या २००० प्र. घ. मि. मी. से कम हो जाती है। सापेक्षगणन (D. C.) में कणिकामज्जा कायाणु (Granulocytes) ५० प्र. श. से कम हो जाते हैं। रक्तल्पता (Anaemia) प्रायः नहीं रहती।

रोग के अन्य कारण:—पोषणाभाव (Malnutrition), आहार के प्रधान तत्वों में कमी, क्ष-किरण, रेडियम आदि किरणों (Irradiation) का प्रभाव, प्लीहा की अत्यधिक कार्यशीलता (Hypersplenism), अस्थिमज्जा (Bonemarrow) के रोग आदि में भी यह विकृति होती है। उपर्युक्त औषधियों के प्रयोग के समय यदि बिना कारण ज्वर, तन्द्रा (Drowsiness), दौर्बल्य, मुखशोथ (Stomatitis), विस्फोट (Rash), कंप (Rigor) आदि हो तब औषधि बन्द कर रक्त परीक्षा करनी चाहिये।

चिकित्सा :—सर्व प्रथम रोग के कारण का ज्ञान आवश्यक है। औषधि या विष के कारण यदि यह लक्षण उत्पन्न हो तब इन वस्तुओं का प्रयोग बन्द कर देना चाहिये। उपद्रव बचाने तथा उपसर्ग (Im) की विशिष्ट चिकित्सा के लिये पेनिसिलिन (P) १०—१२ लाख अं.इ.प्र.दि., टेरामाइसिन (Tn.) आदि प्रयोग करना चाहिये। पेन्टन्यूक्लियोटाइड (Pentnucleotide) ८ प्र. श. १० सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से प्र. दि. ३—४ बार दे सकते हैं। यकृतसत्व (Liver ext :), फोलिक एसिड (Folic acid), पाइरीडोक्सिन (Vit : B_6) का प्रयोग भी प्रचलित है। **पेनिसिलीन**

का प्रयोग तब तक करना चाहिये जब तक उपसर्ग ठीन न हो जाय तथा श्वेतकणों (W. B. C.) की सख्या प्राकृत न हो जाय । उपसर्ग न रहने पर भी पेनिसिलीन देना चाहिये । विशेष परिस्थिति मे ओरिमायसीन (Au) या टेरामायसीन (Tn) मि. ग्रा. २५०—५०० त्रि. प्र. दि. मुख से अथवा स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा. १/२, पेनिसिलीन (P) ३—४ लक्ष अ. इ के साथ द्वि. या त्रि. प्र. दि. पेशीमार्ग (I. M.) से देना चाहिये । पेन्टन्यूक्लियोटाइड, सोडियम न्यूक्लिनेट (Na-nucloinate) ५ प्र. श. सी. सी. १—२ फोलिक एसिड तथा पाइरीडोक्सीन श्वेत कणो (W. B. C.) को बढाने के लिये पेशीमार्ग (I. M.) से दिये जाते हैं। परिणाम निराशाप्रद है। रक्ताल्पता (Anaemia) भी रहने पर रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये ।

साधारण चिकित्सा :—विपाक्त औपधियो के प्रयोग के समय श्वेतकणों (W.B.C.) की सख्या जानने के लिये अनेक बार रक्त परीक्षा करनी चाहिये । श्वेतकणो की सख्या कम होने पर तथा रोग के अन्य लक्षण होने पर उपसर्ग से बचना आवश्यक है । मुख मे व्रण (Ulcer) होने पर नमक के पानी, पास्टूरिन (Pasturin) आदि से अनेक बार प्र. दि. कुल्ला करना चाहिये । गर्दन पर बरफ की थैली रखने से कण्ठ की पीड़ा कम होती है । व्रण पर मरक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) १/२—१ प्र. श. द्वि.प्र.दि. लगाना चाहिये । ज्वर रहने पर विश्राम करना चाहिये तथा पौष्टिक और तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये । पीड़ा के लिये पीड़ाहर (प. पृ. ६६) औषधियाँ देना चाहिये । सखिया (As), पारद (Hg), सुवर्ण (Gold) आदि के कारण विकृति होने पर बी. ए.ल. (B.A.L.) १० प्र.श. १२५—१५० मि० ग्रा. पेशीमार्ग (I. M.) से प्रथम दो दिन ५—६ बार प्र. दि. तत्पश्चात् २—४ बार प्र. दि. तब तक इन्जेक्शन लगाना चाहिये जब तक रोगी स्वस्थ न हो जाय । प्रायः १०—१२ दिन औषधि देना पड़ता है । इस रोग मे अनेक बार रक्त परीक्षा आवश्यक है ।

(३२) रक्तप्रवाह का निपात (Circulatory failure)

वर्गीकरण :—रक्तप्रवाह का निपात निम्न प्रकार का होता है :—

(अ) परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Peripheral vascular, or circulatory failure):—

(क) **स्तब्धता तथा निपात** (Shock, collapse) ।

(ख) **मूर्च्छा** (Syncope) :—

(च) **साधारण मूर्च्छा** (Simple syncope, vasovagala ttack, fainting) :—

(छ) **हृद्जन्य मूर्च्छा** (Cardiac, Stokes-Adams's syndrome):—

नोट :—चिकित्सा, लक्षण तथा परिणाम की दृष्टि से इन अवस्थाओं में केवल गम्भीरता के अंश (Degree) का अन्तर है। इनका अन्तिम परिणाम चेतनानाश, सन्यास (Coma) तथा मृत्यु है।

(आ) **केन्द्रीय हृदयातिपात** (Central cardiac failure) :—

(क) **दक्षिण हृदयातिपात** (Rt: Ht: Failure) :—इस अवस्था मे हृत्पेशी (Myocardium) मे विकृति होने के कारण हृदय में जो रक्त आता है वह आगे नहीं भेजा जा सकता।

(ख) **वामहृदयातिपात** (Lt: Ht: Failure) इस अवस्था में हृत्धमनी (Coronary) या महाधमनी (Aorta) मे विकृति होने से प्रायः रोगी की अकस्मात् मृत्यु हो जाती है।

(इ) **मस्तिष्क में स्थित हृदय के केन्द्र का निपात** (Failure of cardiac center) :—

नोट :—हृत्धमनी की घनास्रता (Thrombosis) आदि अवस्थाओं मे वाम तथा दक्षिण हृदयातिपात एक ही रोगी मे मिल सकता है। इसी प्रकार उपसर्ग (Ifn:) आदि मे परिसरीय तथा केन्द्रीय हृदयातिपात एक ही रोगी में मिल सकता है।

(अ) **परिसरीय रक्तवाहिनी निपात** (Peripheral vascular or circulatory failure) :—

परिचय :—इस अवस्था मे सिराओं (Veins) द्वारा रक्त हृदय मे नहीं पहुँच पाता इसलिये हृदय को आगे भेजने के लिए रक्त नही मिलता यह विकृति प्रायः विषमयता (Toxaemia),तीव्र उपसर्ग (Ifn:) आदि में मिलती हैं। इस अवस्था मे रक्तप्रवाह के महत्वपूर्ण तथा प्रधान मार्गों मे अकस्मात् रक्त की मात्रा मे कमी हो जाती है। इस उपद्रव से रोगी को बचाने का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिये। तीव्र उपसर्ग आदि मे इस उपद्रव के

लक्षण उत्पन्न हो जाने पर चिकित्सा करने का परिणाम अत्यन्त निराशाजनक है। इसमें रक्तनिपीड़ (B. P.) अत्यन्त कम हो जाता है, रक्त के वि० गु० में विशेष वृद्धि नहीं होती। विशिष्ट (Specific) ज्वरो मे प्रायः इसी उपद्रव के कारण रोगी की मृत्यु होती है।

चिकित्सा (१) **सिद्धान्त** :—चिकित्सा की दृष्टि से **रोग के कारण** का निवारण करना चाहिये तथा **रक्तप्रवाह** के प्रधान मार्गो मे रक्त की कमी को पूरा करना चाहिये जिससे हृदय मे पर्याप्त मात्रा मे रक्त पहुँच सके। साथ-साथ मस्तिष्कगत रक्ताल्पता (Cerebral anaemia) मे कमी करना चाहिये तथा रक्तवाहिनियो का बल (Vaso-motor tone) ठीक करना चाहिये। इन क्रियाओ को करने मे समय लगता है इसलिये जब तक ये उद्देश्य सिद्ध न हो तब तक हृदय को कार्यशील रखने के लिए **उत्तेजक** (Stimulant) औषधियाँ प्रयोग करना पड़ता है।

(२) साधारण :—रोगी का सिर नीचा तथा अधोशाखाये ऊँची रखना चाहिए। रोगी को हर प्रकार से गरम रखने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को कम्बल से ढक कर उसके चारो ओर गरम पानी की बोतले रखना चाहिए। सुविधा रहने पर रोगी के चारो ओर बिजली के बल्व लगा कर कम्बल से ढक देना (Electric Cradle) चाहिए। कम्बल के अन्दर गरम वायु प्रवेश करने से भी लाभ होता है। गरम पानी मे रोगी को १५–२० मिनट रख सकते है। जल का ताप११०° फा० के समीप होना चाहिये। रोग ठीक हो जाने के पश्चात् ३–४ मास किसी प्रकार का परिश्रम नही करना चाहिए। रोगी की ग्रीवा तथा वक्ष के समीप का वस्त्र ढीला कर देना चाहिए जिससे श्वास लेने मे किसी प्रकार की वाधा न हो। रोगी के अधोशाखा की ओर शैय्या २ फीट ऊँची कर देना चाहिए। शाखाओ को पट्टी से कस कर लपेट सकते है। रोगी चैतन्य रहने पर उसको गरम पेय, चाय, कौफी आदि देना चाहिए तथा गरम पानी की बोतलो, बिजली के बल्व, कम्बल आदि से गरम रखना चाहिए। हाथ पैर की **मालिश** करना चाहिए। सिर के नीचे से तकिया हटा देना चाहिए। आ० अ० प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिए।

(३) **रक्तप्रवाह के प्रधान मार्गों में रक्त की कमी को पूरा करना** :—संपूर्ण रक्त, केवल रक्तकण (RBC), रक्तरस (Plasma), रक्तरस प्रतिनिधि (Plasma substitutes, Intradex), लवण

घोल (Saline), ग्लूकोस (Glucose) आदि के द्वारा रक्त की मात्रा प्राकृत रखने का प्रयत्न करना चाहिये। रक्तस्राव (Bleeding) होने पर सम्पूर्ण रक्त अथवा रक्तकण सिरा मार्ग (I. V.) से दे सकते है। लवण घोल की अपेक्षा रक्तरस से इस रोग मे अधिक लाभ होता है। **रक्तरस** पा० १ सिरा मार्ग से देना चाहिये। अधिक लवणघोल देने से हानि हो सकती है। ग्लूकोस ५ प्र० श० समबल लवण घोल मे मिला कर पा० १–४ आ० अ० सिरा मार्ग से बूँद-बूँद कर (Drip method) दे सकते हैं।

अत्यन्त आवश्यक होने पर धमनी मार्ग (Intra-arterial) से भी संपूर्ण रक्त प्रवेश कर सकते हैं। इस क्रिया के करने के पूर्व प्रथम रोगी के रक्त निपीड़ (B. P.) का पता लगाना चाहिये। तत्पश्चात् पप (Pump) के द्वारा रोगी के रक्त निपीड़ से २५ मि० मि० पा० अधिक चाप पर रोगी की धमनी मे सपूर्ण रक्त प्रवेश कराना चाहिये। सिरा मार्ग (I.V.) से अधिक मात्रा मे औषधि प्रवेश कराते समय ध्यान रखना चाहिये कि रोगी मे फौफ्फुसीय शोफ (Pulmonary oedema) की उत्पत्ति न हो।

सम्पूर्ण रक्त को किसी प्रकार से भी सचय करने से १२ घ० के अन्दर रक्त की चक्रिकाये (Platelets) नष्ट हो जाती है। इस लिये रक्तस्राव (Bleeding) होने पर यदि सपूर्ण रक्त प्रयोग करना हो तब उसका ताजा होना आवश्यक है।

(४) **उत्तेजक** (Stimulant) औषधियाँ :—इस रोग मे निम्न औषधियाँ प्रयोग कर सकते है :—

१—**कोरामीन** (Coramine) :—यह औषधि मुख द्वारा १५–२० मि० प्र० वा० प्रयोग की जाती है। गम्भीर अवस्था मे अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से १·७ सी० सी० (C. C.) इन्जेक्शन दे सकते है। साइक्लीटोन (Cycliton), वेरीटोल (Varitol) आदि मि० १०–३० आ० अ० प्र० ४–८ घ० मुख से दे सकते है।

२—**पिट्यूटरीन** (Pituitrin) :—निपात के साथ-साथ आध्मान (Tympanites) रहने पर या मूत्र का निर्माण स्थगित हो जाने पर यह औषधि विशेष लाभप्रद है। इसका प्रभाव भी स्थाई है। अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से $\frac{1}{2}$–१ सी० सी० द्वि० या त्रि० प्र० दि० प्रयोग कर सकते हैं।

३—**अड्रेनलीन** (Adrenalin) :—यह रोगी की गम्भीर अवस्था

में विशेष लाभप्रद है परन्तु इसका प्रभाव अस्थाई है। यह प्रायः अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से प्रयोग की जाती है। रक्तनिपीड़ (B. P.) मे वृद्धि करने के कारण मूत्र के निर्माण मे भी सहायता देती है।

४—अड्रीनल कौरटिकल सत्व (Adrenal cortical ext):—इसके प्रयोग से रक्तनिपीड़ (B. P.) की वृद्धि होती है इसलिये रक्तनिपीड़ कम रहने पर विशेष लाभप्रद है। इसके अनेक योग मिलते है :—कौरटीन (Cortin), डोका (DOCA), यूकौरटन (Eucorton), परकौरटन (Percorton) आदि। रोगी की अवस्था के अनुसार ये औषधियाँ पेशी मार्ग (I. M.) या सिरा मार्ग (I. V.) से प्रयोग कर सकते है।

५—अन्य औषधियाँ :—स्ट्रिकनीन (Strychnine) श्वसन क्रिया के निपात मे लाभप्रद है। **केफीन सोडी बेनजोएट** (Caffeine Sodi benzoate) मूत्र-निर्माण मे सहायक है तथा हृदय को भी उत्तेजित (Stimulate) करती है और इस पर निर्भर किया जा सकता है। यह पेशी मार्ग (I. M.) से २ से ७½ ग्रे० अथवा मुख द्वारा ५–१५ ग्रे० त्रि० प्र० दि० प्रयोग कर सकते है। **एट्रोपीन** (Atropine) भी निपात में प्रयोग की जाती है परन्तु यह औषधि फुफ्फुस शोफ (Oedema lungs) आदि मे विशेष लाभप्रद है। आध्मान (Tympanites) या परमज्वर (Hyperpyrexia) रहने पर इसका प्रयोग नही करना चाहिये। इसकी ग्रे० १/१०० की मात्रा अधस्त्वक मार्ग (S C.) से द्वि० या त्रि० प्र० दि० प्रयोग कर सकते है। **कर्पूर** (Camphor) के योग विसूचिका मे प्रयोग नहीं करना चाहिये। इनसे वृक्क (Kidney) मे प्रक्षोभ (Irritation) होता है। **इफेड्रिन** (Ephedrine) ग्रे० ½ प्र० ६ घं० प्रयोग कर सकते है। तीव्र हृदयातिपात (Ht:failure) रहने पर **स्ट्रोफैनथीन** (Strophanthin) सिरा मार्ग से दी जाती है। श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) तथा श्यावता (Cyanosis) रहने पर प्राणवायु (O_2) प्रयोग करना चाहिये। पीडा तथा रक्तस्राव (Bleeding) की उपयुक्त चिकित्सा करे। ग्लूकोस (Glucose) १२½ प्र० श० सी० सी० २५–५० तथा इनस्यूलिन (Insulin) अं० इ० ५–१० अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से देने से हृत्पेशी (Myocardium) को बल मिलता है। हृदय के साथ-साथ श्वसन भी क्षीण प्रतीत होने पर एड्रीनलीन, स्ट्रिकनीन तथा एट्रोपीन का संयुक्त घोल

(यो० १०६) अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से० आ० अ० देना चाहिये । **कार्डियोजोल** (Cardiozol) सी० सी० १.१ पेशी या सिरा मार्ग से दे सकते है । उत्तेजक घोल (यो० २६) प्र० ४ घं० दे सकते हैं ।

दुर्बल तथा मद्यपान करने वाले रोगी को स्पिरिट वाइनम गलेशिआई (Spt:vin:galaci) ड्रा० १–४ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं । दक्षिण हृदयातिपात (Rt:ht:failure), अलिंदीय तनुप्रकंप (A.fib) या अलिन्दीय विस्फुरण (A.flutter) के कारण नाड़ी में अनियमितता (Arrhythmia) रहने पर डिजिटेलिस (Digitalis) अधिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिये जिससे इसका शीघ्रता से प्रभाव हो सके ।

(क) **स्तब्धता या निपात** (Shock, collapse) :—

परिचय :—इस अवस्था में रक्त-प्रवाह में तीव्रता से गम्भीर विकृति होती है । महत्वपूर्ण स्थानों में रक्त की अत्यधिक कमी हो जाती है । केशिकाओं (Capillaries) का विस्फार (Dilatation) हो जाता है और उनकी प्राचीर से रक्तरस (Plasma) बाहर निकल कर धातुओं (Tissues) में चला जाता है । **परिणामस्वरूप** रक्त की मात्रा में कमी हो जाती है, रक्त गाढ़ा हो जाता है, शोणवर्तुलि (Hb) प्र. श. में वृद्धि होती है तथा रक्त निपीड़ (B P.) कम हो जाता है । स्तब्धता का प्रारम्भ जब अकस्मात न होकर शनैः शनैः होता है तब स्तब्धता वास्तविक तथा अधिक गम्भीर होती है और चिकित्सा से इसका शीघ्र शमन नहीं होता है ।

चिकित्सा :—रोग के कारण का निवारण करना चाहिये । साधारण चिकित्सा के अतिरिक्त आ.अ. **उत्तेजक** (Stimulant) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये तथा **रक्त की कमी को** पूरा करना चाहिये । **पीड़ा** के लिये मौरफीन (Morphine) ग्रे० १/४, एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० के साथ पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते है। मूर्छा रहने पर, श्वसन-संस्थान का निपात होने पर, शिर पर आघात होने पर तथा शैशवावस्था में अफीम का प्रयोग नही करना चाहिये। इन अवस्थाओं में पीड़ा रहने पर मौरफीन के स्थान पर बारबिटोन (Bn) देना चाहिये । उपसर्ग (Ifn), अम्लीयता (Acidosis), जलाल्पता (Dehydration), रक्तस्राव (Haemorrhage) तथा रक्ताल्पता (Anaemia) की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये । रक्तकण

(R. B. C.) तथा शोणवर्तुलि (Hb.) की प्र. श मात्रा के अनुसार रक्त अथवा रक्तरस (Plasma) का प्रयोग करना चाहिये । रोगी के गुदा का ताप (Rectal temp :) प्र. १५ मिनट पर देखना चाहिये । नाड़ी और श्वसन की गति तथा रक्तनिपीड़ (B. P.) बराबर देखते रहना चाहिये । प्राणवायु (O_2) की कमी रहने पर प्राणवायु देना चाहिये । अन्य उपायो से लाभ न होने पर उपवृक्कीय शल्कीयसत्व (Adrenal cortical ext :) देना चाहिये । केन्द्रीय हृदयातिपात (Central heart failure) रहने पर डिजिटेलिस (Digitalis) का प्रयोग कर सकते हैं । लवण घोल (Saline) आदि सिरामार्ग (I. V.) से एक बार देने की अपेक्षा बूंद बूद कर (Drip method) देना अधिक उपयुक्त है । इस प्रकार २४ घंटे मे ६–१६ पा. तक लवण घोल दे सकते हैं । इसके लिये हृदय का स्वस्थ होना आवश्यक है । **शुष्क मानवीय लसिका** (Dried human serum) मे जल मिलाकर सिरामार्ग (I.V.) से दे सकते है । इसके लिये रक्तगणीकरण (Blood grouping) परीक्षा करना आवश्यक नही है । धातुओ (Tissues) से लसिका (Serum) को पुनः रक्त वाहिनियो मे लाने के लिये पुनः सघटित लसिका (Reconstituted serum) सिरामार्ग से ५ सी. सी. प्र. मि. की गति से दे सकते है । यह औषधि साधारण लसिका की अपेक्षा ४ गुना अधिक सकेन्द्रित (Concentrated) होती है । खण्डीय फुफ्फुसपाक (Lobar pneumonia) में निपात होने पर स्ट्रिक्नीन (Strychnine) ग्रे० १/६०–१/३० पेशीमार्ग (I. M.) से प्र. २ घटे देना चाहिये । रक्तस्राव (Bleeding) होने पर या रक्तस्राव की प्रवृत्ति रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये ।

निपात की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

ऐसी आत्ययिक अवस्था मे क्षीण नाड़ी व हृदय को बल देने वाले उत्तम योगो का प्रयोग करना चाहिये । दोषानुकूल अनुपान दे । ओजवर्धक स्रोतो प्रसारक औपधियाँ देना हितकर है । पूर्ण विश्राम, शान्ति व आश्वासन दे । हाथ पैर ठडे पड़ने पर उनका मर्दन करना चाहिए । अर्जुन सिद्ध क्षीर दे । अर्जुन, पुष्करमूल, बला, नागबला, मधुयष्टि, मृगशृंगभस्म आदि द्रव्यों या इनसे बने योगो का प्रयोग उत्तम है ।

औषधियाँ :—अर्जुनत्वक् चूर्ण, सृङ्गैला चूर्ण, अर्जुन घृत, बलादि घृत, चिन्तामणि रस, विश्वेश्वर रस, हृदयार्णव रस, मुक्ता भस्म, मकरध्वज, जवाहर मोहरा।

प्रयोग :—(१) शृंगाराभ्र ३ र०
हृदयार्णव ३ र०
नवायस लौह ३ र०
मि. ३ मात्रा
अर्क व अर्जुन मूलत्वक् चूर्ण व मधु से।
(२) अर्जुनारिष्ट १ तोला सम जल से भोजनोत्तर।

(ख) चेतनानाश (Unconsciousness) तथा मूर्छा (Syncope)

परिचय :—चेतनानाश क्षणिक होने पर **मूर्छा** (Syncope) कहते है, अपूर्ण होने पर **अपूर्ण सन्यास** (Stupor) तथा पूर्ण, गंभीर और वर्धनशील रहने पर **सन्यास** (Coma) कहते हैं। चेतना (Consciousness) में दो प्रकार की **विकृति** होती है।

(क) **चेष्टावह क्रियाओं** मे **कमी** होने से तन्द्रा (Drowsiness), मूर्छा तथा सन्यास होता है।

(ख) **चेष्टावह क्रियाओं** की **वृद्धि** होने पर प्रलाप (Delirium), उत्तेजना (Excitement), उन्माद (Mania) आदि लक्षण होते हैं। चेतनानाश के **कारणों** का सापेक्ष निदान (D. D.) तालिका मे देखिये। तालिका में दिये गये कारणो के अतिरिक्त ज्वर, उपसर्ग (Ifn:) मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), दक्षिण हृदयातिपात (Rt : ht : failure), पैत्तिक विषमयता (Cholaemia), उपमधुमयता (Hypo-Glycaemia), शामक औषधियाँ (Sedatives), विषमज्वर (M. F.) तथा अंशुघात (Sunstroke) मे भी चेतनानाश होता है। जिन अवस्थाओं मे आक्षेप (Convulsions) होते है उनमे भी चेतनानाश हो सकता है।

मूर्छा (Syncope) मे चेतनानाश क्षणिक होता है। इसमे प्रायः मस्तिष्क मे प्राणवायु (O_2) में अस्थायी रूप से कमी होती है। इस विकृति के अनेक **कारण** है जैसे :— अपतन्त्रक (Hysteria), रक्त-वह-संस्थान (C-V. System) के रोग, प्रतिक्षिप्त क्रियाजन्य मूर्छा (Reflex)

तथा समवर्तीय (Mbm) मूर्छा। अपतन्त्रक मे प्रायः अन्य लोगो के सन्मुख मूर्छा होती है। **रक्त-वह संस्थान** के रोगो में हृदय के कार्य में अस्थायी रूप से कमी होने के कारण मस्तिष्क मे प्राणवायु (O_2) की कमी होती है और मूर्छा होती है। यह विकृति स्टोक ऐडम के संरूप (S : A : Syndrome), हृत्पेशी के अन्तस्फान (Myocardial infarct), प्रावेगिक शीघ्रहृदयता (Paroxysmal tachycardia), फौफुसीय अंतःशल्यता (Pulmonary embolism) आदि मे होती है। **समवर्त** (Mbm) की दो प्रकार की विकृतियो मे मूर्छा होती है, रक्त में शर्करा की कमी (Hypoglycaemia) होने से अथवा रक्त मे क्षार(Alkali) की वृद्धि होने से। अत्यधिक श्वास लेने से रक्त मे कार्बनडायोक्साइड (CO_2) की कमी होती है और अपतानिका (Tetany) के समान आक्षेप (Convulsions) के साथ मूर्छा होती है। **प्रतिक्षिप्त क्रिया** (Reflex action) जन्य मूर्छा तीन प्रकार की होती है:—(क) जिस रोगी मे रक्त निपीड़ (B.P.) प्राकृत रूप से कम रहता है वह रोगी जब अकस्मात उठ कर बैठ जाता है तब रक्त निपीड़ और कम हो जाता है तथा मूर्छा होती है। यह अवस्था विरल है। (ख) प्राणदा वातनाड़ी (Vagus) के अधिक कार्यशील होने के कारण हृदय की गति मन्द हो जाती है तथा अकस्मात रक्त निपीड़ मे कमी होती है। परिणाम स्वरूप मूर्छा होती है। भावना, पीड़ा आदि के कारण इस प्रकार की मूर्छा होती है। इसको **रक्तवाहिनी वातनाड़ी संरूप** (Vasovagal syncope) कहते है। इसमे मूर्छा के प्रारम्भ होने के समय रोगी प्रायः बैठा या खड़ा रहता है। लेटने से मूर्छा ठीक हो जाती है। (ग) **मन्या कोटर** (Carotid sinus) को उत्तेजित करने से भी मूर्छा होती है। ग्रीवा के एक पार्श्व के मन्या कोटर (Carotid sinus) को १/२ मिनट दबाने या मालिश करने से मूर्छा हो सकती है। वृद्धावस्था मे यह क्रिया नहीं करना चाहिये। अकस्मात शिर को उठाने या घुमाने से अथवा ग्रीवा पर कस कर वस्त्र बाँधने से भी मन्या कोटर (Carotid sinus) में विकृति हो जाती है और मूर्छा होती है। इस प्रकार के रोगी को प्रायः चक्कर आता है तथा बेहोशी मालुम होती है।

निदान :—(क) चेतनानाश के कारण का पता लगाने के लिये रोगी की विधिवत परीक्षा करना चाहिये। मद्य, अफीम आदि के व्यसन का इतिहास,

आघात, व्यवसाय, औषधियों का प्रयोग, मधुमेह (Diabetes), वृक्क-शोथ (Nephritis), कामला (Jaundice), उच्च रक्तनिपीड़ (B. P.) आदि का पता लगाना चाहिये। चेतनानाश होने के पूर्व रोगी की शारीरिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक, रक्त-वह संस्थान (C. V. S.) तथा वातनाड़ी संस्थान (C.N.S.) की स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। (ख) **नैदानकीय परीक्षाओं में मूत्र** में शर्करा, शुल्कि, एसिटोन (Acetone), रक्त तथा निर्मोक (Casts) के लिये विशेष रूप से देखना चाहिये। **रक्त परीक्षा** कर रक्त मे श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या (T.C.) तथा उनका अनुपात (D.C.), लाल कणो (R.B.C.) की संख्या, शोण-वतुर्लि (Hb.) की मात्रा प्र. श., शर्करा, अ० प्रो० भू० (N. P. N.) तथा कार्बन डायोक्साइड (CO_2) की संयोग-शक्ति (Combining power) का पता लगाना चाहिये। रक्त का **संवर्धन** (Culture) कर तथा आवश्यकता प्रतीत होने पर मल-मूत्र आदि का संवर्धन कर उपसर्ग(Ifn:) का पता लगाना चाहिये। रक्त परीक्षा मे विषम ज्वर (M.P.) आदि के जीवाणु का पता लग सकता है। इसके अतिरिक्त **ब्रह्मवारि** (C. S. Fluid) मे निपीड़ (Pressure), कोषायें (Cells), उपसर्ग तथा रासायनिक पदार्थों (Chemicals) की मात्रा का पता लगाना चाहिये। रोगी का **रक्तनिपीड़** (B.P.), उसके करोटी (Skull) की **क्ष किरण** (X-Ray) परीक्षा तथा **नेत्रवीक्षण यन्त्र** (Ophthalmoscope) द्वारा दृष्टि पटल (Retina) की परीक्षा करनी चाहिये।

चिकित्सा :—चेतनानाश की चिकित्सा का सिद्धान्त है कि जब तक रोग के कारण का ठीक पता न लगे तब तक रोगी को जीवित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। चेतनानाश की अवस्था मे **श्वसन के निपात** का विशेष भय रहता है तथा **स्तब्धता** (Shock) की स्थिति मिल सकती है। इन दोनो की चिकित्सा का उपयुक्त प्रबन्ध करना चाहिये। स्तब्धता रहने पर रोगी की शैय्या का पैर की ओर का भाग ऊँचा तथा सिर नीचा रहना चाहिये। ज्वर, उपसर्ग (Ifn), विष, स्तब्धता आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

(१) **श्वसन क्रिया** को चालू रखना आवश्यक है। श्वसन मार्ग मे रुकावट रहने पर अवरोध दूर करना चाहिये। नाक, मुख, कंठनलिका (Tra-

chea) आदि मे रक्त, स्राव, ष्ठीवन (Expect:) आदि का यदि संचय हुआ हो तब इन पदार्थों को रबर की नलिका से खींचकर निकाल देना चाहिये। श्वास लेने मे यदि कठिनाई होती हो तब **प्राणवायु** (O_2) ९५ प्र. श. तथा कार्बन डायोक्साइड (CO_2) ५ प्र. श. रोगी को सुघाना चाहिये तथा श्वसन की कठिनाई का कारण पता लगाना चाहिये। मस्तिष्क में स्थित श्वसन केन्द (Resp : center) के कार्यहीन होने से, रक्त-वह संस्थान के निपात (C.V. Failure) के कारण तथा फुफ्फुस के रोगो के कारण श्वास लेने मे कठिनाई होती है। इन कारणो का पता लगाना चाहिये तथा उनकी उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। श्वसन यदि बन्द होता प्रतीत हो तब कृत्रिम श्वसन (Artificial resp :) का प्रबन्ध करना चाहिये।

(२) **साधारण** :—परिचारिका अथवा रोगी के सम्बन्धियो को बता देना चाहिये कि यदि रोगी का ताप १००·५° फा. से अधिक हो या नाड़ी की गति १२५ प्र० मि० से अधिक या ६० प्र० मि० से कम हो, आक्षेप (Convulsions) हो, श्वसन अनियमित या शब्दयुक्त (Stertorous) होता हो, अथवा कनीनिकायें (Pupils) असम प्रतीत हो तब चिकित्सक को तत्काल इसकी सूचना देना चाहिये। प्रारम्भ मे रोगी की नाड़ी की गति तथा ताप प्र० घं० देखना चाहिये। सिर मे चोट लगने के कारण जब रोगी बेहोश हो जाता है तब प्रतिक्रिया (Reaction) की अवस्था मे ज्वर १००·५° फा. तक पहुँच कर शनैः-शनैः कम हो जाता है। परन्तु सिर के अन्दर रक्तस्राव (Intracranial bleeding) होने पर जब ताप की वृद्धि होती है तब वह गम्भीर अवस्था की द्योतक है और इस अवस्था मे ताप कम नही होता। रोगी का रक्तनिपीड (B.P.) भी देखते रहना चाहिये। कब्ज रहने पर प्रति दूसरे दिन एनिमा द्वारा मल परित्याग कराना चाहिये।

(३) **चेतनानाश** के कारण की चिकित्सा :—**अपतन्त्रक** (Hysteria) मे तथा **अधिक श्वास लेने की प्रकृति** रहने पर मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy) करना चाहिये। द्वितीय अवस्थामे बेहोश रहने पर प्राणवायु (O_2) के साथ कार्बन डायोक्साइड (CO_2) ५–१० प्र० श० मिला कर सुँघाना चाहिये। चैतन्य होने पर रोगी को श्वास रोकने, प्राणायाम करने तथा कागज या रबर की थैली मे श्वास फेंकने तथा खीचने का प्रयत्न करना चाहिये।

रक्त में शर्करा की कमी रहने पर ग्लूकोस (Glucose) १२½ प्र० श० २५–५० सी. सी. सिरमार्ग (I.V.) से देना चाहिये। मधुमेह (Diabetes) के कारण रक्त मे **अम्ल की वृद्धि** (Acidosis) होने पर उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। **विषपान** की सम्भावना रहने पर आमाशय को धोना (St-wash) चाहिये। **सिर में चोट** लगने पर कम से कम दो सप्ताह विश्राम करना चाहिये। प्राणदा (Vagus) **वातनाड़ी** की उत्तेजना के कारण मूर्छा होने पर रोगी को अमोनिया (Spt:ammon:aromat:) सुँघाना चाहिये तथा उसका सिर नीचा कर लेटाना चाहिये। **मन्याकोटर** (Carotid sinus) दबाने से तीन परिणाम हो सकते हैं :—

(क) यदि हृदय की गति तथा रक्त निपीड़ (B. P.) मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो तब इस अवस्था को **मस्तिष्क प्रकार** (Cerebral) कहते हैं। इसमे औषधियो से लाभ नही होता।

(ख) यदि **रक्त निपीड़** (B.P.) मे कमी हो तब **वाहिनी नियंत्रकी** (Vaso-motor) प्रकार कहते है। यह रोग प्रायः युवावस्था मे होता है। इस प्रकार मे इफेड्रिन (Ephedrine) या फेनोबारबिटोन (Phn:) के प्रयोग से मूर्छा का उद्वेग बचाया जा सकता है। एट्रोपीन (Atropine) लाभदायक नही है। एड्रिनलीन (Adrenalin) १:१००० सी० सी० ½ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से प्रयोग कर सकते है।

(ग) वृद्धावस्था मे **हृदय की गति** कम हो जाती है। इसको **प्राणदा** (Vagal) प्रकार कहते है। इस अवस्था मे इफेड्रिन (Ephedrine) ग्रे० ½ के साथ फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे० ¼ त्रि० या० चा० प्र० दि० देने से या एट्रोपीन (Atropine) ग्रे० १/१०० त्रि० या० चा० प्र० दि० देने से मूर्छा रोकी जा सकती है। मूर्छा हो जाने पर एट्रोपीन ग्रे० १/१००–१/६० सिरा मार्ग से देने से मूर्छा ठीक की जा सकती है। मन्याकोटर (Carotid sinus) की विकृति के कारण जब मूर्छा होती है तब कोटर (Sinus) मे स्थानिक सज्ञाहर (Local anaesthetic) औषधि का इन्जेक्शन लगाने से प्रत्येक प्रकार मे लाभ हो सकता है। ग्रीवा पर किसी प्रकार का वस्त्र कस कर नही बाँधना चाहिये। रोग अत्यन्त उग्र हो जाने पर शल्य कर्म (Op.) द्वारा कोटर (Sinus) के चारो ओर की वातनाड़ियाँ पृथक (Denervation) करने से लाभ होता है। भावना (Emotion) की

उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। रोगी के **उठने या खड़े** होने के कारण यदि मूर्च्छा हो तब रोगी को पैरों पर पट्टी तथा उदर पर पेटी (abd: belt) बाँधकर रखना चाहिये। **हृदजन्य** (Cardio-vascular) मूर्च्छा मे रोग के कारण की चिकित्सा करना चाहिये।

मूर्च्छा (Syncope) के भिन्न प्रकार :—

(च) साधारण मूर्च्छा (Fainting, simple syncope, Gower's syndrome, vasovagal attack) :—

परिचय :—स्वतन्त्र वातनाड़ी संस्थान (Autonomic nervous system) मे गडबडी होने के कारण रक्तवाहिनियो (B. V.) का अकस्मात् विस्फार (Vaso-dilatation) होता है। परिणाम स्वरूप रक्तनिपीड़ (B. P.) कम हो जाता है और मस्तिष्क मे रक्त की कमी (Cerebral anaemia) हो जाती है। मूर्च्छा कई घण्टे तक रह सकती है।

निदान :—भय, स्तब्धता, (Shock), दुर्गन्धि, उदर शूल, फुफ्फुसावरण (Pleura) आदि स्थानों मे स्थित सावेदनिक वातनाड़ियो के अग्र (Sensory. N. endings) के उत्तेजित (Stimulate) होने के कारण इस अवस्था की उत्पत्ति होती है, इसलिये इन कारणो का तथा अतीत मे मूर्च्छा होने का इतिहास मिल सकता है। एक बार मूर्छित होने पर पुनः उसकी सम्भावना रहती है। इस अवस्था में हृदय मे किसी प्रकार की रचनात्मक (Organic) विकृति का प्रायः कोई प्रमाण नहीं मिलता। मूर्च्छा ठीक होने पर रोगी प्रायः पूर्ण-स्वस्थ हो जाता है।

चिकित्सा :—रोगी को अमोनिया (NH_4) सुंघाना चाहिये। मुख पर शीतल जल के छींटे मारना चाहिये। परिसरीय रक्त वाहिनी के निपात रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करें। एड्रिनलीन सी० सी० $\frac{1}{2}$ के साथ इफेड्रिन ग्रे० $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ पेशीमार्ग से प्र० ४ घं० प्रयोग करना विशेष लाभदायक है।

वेहोशी (Faintness) से बचने के उपाय :—जिन रोगियो को प्रायः वेहोशी हो जाती हो उनको शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम, कब्ज, दुर्गन्धि, भीड़, वीभत्स दृश्य, भय, आघात, शुद्ध वायु रहित गर्मस्थान, नमी, अधिक शीत, उपवास, अधिक समय खडे रहना, मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक कष्ट आदि से बचाना चाहिये। जीवनचर्या नियमित होनी चाहिये। ल्यूमिनल

(Luminal) ग्रे. ½–१ रात्रि मे निद्रा के पूर्व ले सकते हैं। खड़े खड़े मूत्र परित्याग नहीं करना चाहिये। इन रोगियों की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करनी चाहिये। इन पर यदि शल्यकर्म (OP) आवश्यक हो तब संज्ञाहर औषधि (Anaesthetics) द्वारा इनको बेहोश कर लेना आवश्यक है। फिरंग (Syphilis), उच्चरक्त निपीड (B.P.) महाधमनी प्रत्युद्गीरण (Aortic regurgitation), पीड़ा, आन्त्रकृमि (Worms), पचन सस्थान मे गड़बड़ी, उपसर्ग (Ifn), रक्ताल्पता, आर्तव (Mens) की गड़बड़ी, आदि रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। कभी कभी इन रोगियो मे मन्या कोटर (Carotid sinus) अत्यन्त असहनशील (Sensitive) रहता है। यह अवस्था रहने पर जिस ओर यह विकृति हो उस पार्श्व की मन्या धमनी (Carotid art :) के प्राचीर के बाह्य भाग को पृथक (Stripping) किया जा सकता है। यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि बेहोशी के कारणों मे पीड़ा का प्रधान स्थान है और इसका निवारण आवश्यक है। पीड़ा यदि अन्य औषधियो से कम न हो तब अफीम का प्रयोग कर सकते हैं। उदर पर एक चौड़ा वस्त्र कस कर बाँधना चाहिये। बेहोशी मालूम होने पर रोगी को शैय्या पर लेट जाना चाहिये। अथवा शिर आगे की ओर झुकाकर बैठ जाना चाहिये।

(घ) **हृज्जन्य मूर्छा** (Cardiac syncope) :—हृद्जन्य मूर्छा हृत्स्पंद (Ht : beat) की विकृति के कारण होती है। इस विकृति के परिणाम स्वरूप मस्तिष्क मे रक्त की कमी (Cerebral anaemia) हो जाती है और इसी कारण लक्षणो की उत्पत्ति होती है। हृत्स्पन्द की विकृति दो प्रकार के कारणो से हो सकती है :—

(१) **प्रावेगिक शीघ्र हृदयता** (Paroxysmal tachycardia) ;—इसमे हृदय की गति तीव्र (Tachycardia) होती है।

(२) **स्टोक अदम का संरूप** (Stokes-Adam's syndrome) इसमे हृदय की गति अत्यन्त मन्द होती है।

नाड़ी की गति मे परिवर्तन होने के साथ साथ मस्तिष्क मे रक्त की कमी होने के कारण, मूर्छा, आक्षेप (Convulsions) आदि लक्षण होते है। रोग का आवेग क्षणिक होता है।

चिकित्सा :— प्रावेगिक शीघ्रहृदयता की उपयुक्त चिकित्सा करना

चाहिये । **स्टोक-एडम के संरूप के आवेग से बचने के लिये** इफेड्रिन अथवा एड्रिनलीन का प्रयोग कर सकते है । इफेड्रिन (Ephedrine) ग्रे. $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ मुख से त्रि. प्र. दि. दें । इससे लाभ न होने पर तैल मे एड्रिनलीन का योग (Adrenaline in oil) सी. सी.२ पेशी मार्ग (I.M.) से प्र. दि. प्रयोग कर सकते हैं । नाड़ी की गति तीव्र करने के लिये वेरियमक्लोराइड (Barium chloride) ग्रे $\frac{1}{2}$–१ मुख से त्रि. प्र. दि. अथवा एट्रोपीन सल्फ (Atropine sulph) ग्रे. १/१०० अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से प्रयोग कर सकते हैं । **आवेग के समय** यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आवेग **गंभीर** रहने पर रक्तप्रवाह शिथिल हो जाता है, परिणामस्वरूप साधारण मार्गों से इन्जेक्शन लगाने से विशेष लाभ की संभावना नही रहती, इसलिये रोगी की अवस्था गंभीर रहने पर हृदय मे (Intracardiac) एड्रिनलीन १ : १००० सी. सी. $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ प्रवेश कराना चाहिये । आ. अ. अन्य **उत्तेजक** (Stimulant) औषधियों का प्रयोग कर सकते है । परिसरीय रक्तवाहिनी का निपात रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये । आवेग की **साधारण अवस्था** मे अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से एड्रिनलीन का प्रयोग कर सकते हैं ।

(आ) **केन्द्रीय हृदयातिपात** (Central cardiac failure):—
(क) दक्षिण हृदयातिपात (Right or congestive heart failure) :—

परिचय :—इस अवस्था मे हृत्पेशी (Myocardium) मे प्रधान विकृति होती है । यह विकृति अनेक कारणो से हो सकती है जैसे :—आमवात (Rheumatism), कापाटिक विक्षत (Valvular disease), विशेष कर द्विपत्रक संकोच (Mitral stenosis), हृत्पेशी का अपजनन (Degeneration), उच्च-रक्त निपीड़ (B.P.), रोहिणी (Diphtheria) आदि का उपसर्ग, फुफ्फुस मे चिरकालीन खाँसी के कारण तन्तूत्कर्ष (Fibrosis), वातोत्फुल्लता (Emphysema), धमनीजरठता (Arterio-sclerosis), अवटुका ग्रंथि की विषमयता (Thyrotoxicosis), अन्य विष के कारण विषमयता तथा सहज (Congenital) हृद्रोग आदि । यह रोग दो प्रधान कारणों से होता है, **प्रथम** कारण रक्त-वह सस्थान (C.-V. System) तथा **द्वितीय** कारण श्वसन

संस्थान (Resp : system) में प्रतीत होता है। इसी आधार पर इस अवस्था की उत्पत्ति के विषय में दो धारणायें (Theories) प्रचलित है :—(१) हृत्पेशी में विकृति होने के कारण हृदय संपूर्ण रक्त को आगे नहीं भेज सकता परिणामस्वरूप हृदय के पीछे वाले भागों में जो रक्त-प्रवाह से सम्बन्धित अवयव हैं उनमें रक्ताधिक्य (Congestion) होता है विशेष कर फुफ्फुस में। यह अवस्था विशेषकर द्विपत्रक सकोच (Mitral stenosis) में होती है। (२) फुफ्फुस में चिरकालीन खाँसी के कारण वातोत्फुल्लता (Emphysema) होती है। इसका हृदय के दक्षिण भाग पर प्रभाव पड़ता है और दक्षिण हृदयातिपात के लक्षण होते हैं। इस प्रकार के हृदयातिपात में हृदय की सीमा की वृद्धि होना अनिवार्य है। शनैः शनैः हृदय की अभिस्तीर्णता (Dilatation) होती है और अन्त में हृत्पेशी की कार्यक्षमता अत्यल्प हो जाती है। यह अभिस्तीर्णता वर्धनशील होती है। सिराओं (Veins) में निपीड़ (Pressure) की वृद्धि होती है। शरीर में कोषाओं के बाहर (Extra-cellular) जल तथा सोडियम (Na) संचय होने लगते हैं। जल संचय होने के कारण अकस्मात रोगी के भार की वृद्धि होती है, शरीर के नीचे वाले भाग पर शोफ (Oedema) होता है तथा यकृत की वृद्धि होती है। रक्त के सम्पूर्ण शरीर में प्रवाह करने के समय में वृद्धि होती है। श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) होता है और प्राणशक्ति (Vital capacity) कम हो जाती है।

परीक्षायें :—हृदयातिपात के निदान तथा चिकित्सा की दृष्टि से रोगी का भार, शोफ की व्यापकता, हृदय का क्षेत्र, हृत्पेशी की अवस्था, नवीन लक्षणों के उदय होने का क्रम, हृदय की परीक्षा, हृदय की गति, रक्तनिपीड़ (B.P.), सिराओं का निपीड़ (Pressure), वक्ष पर आगतुक ध्वनियाँ, रक्त की सपूर्ण शरीर मे प्रवाह का समय, प्राणशक्ति (Vitalcapacity), हृदय की क्ष-किरण परीक्षा (X-Ray) तया विद्युतहृल्लेख (Ecg.) द्वारा हृत्पेशी की स्थिति का ज्ञान आवश्यक है।

चिकित्सा :—(१) सिद्धान्त :—हृद्रोग मे लक्षणों की चिकित्सा की जाती है। हृद्रोग के रोगी का भविष्य बहुत कुछ स्वयं उसी प्रकार निर्भर करता है। नियमित रूप से विश्राम, आहार, व्यायाम, निद्रा तथा मलोत्सर्ग होना चाहिए। मद्यपान, तमाखू सेवन आदि वर्जित हैं। हृदयातिपात की

चिकित्सा का लक्ष्य है हृत्पेशी की क्षीणता को कम करना तथा शरीर मे लवण की मात्रा को प्राकृत करना। हृत्पेशी को प्राकृत करने के लिये डिजिटेलिस (Digitalis), खेलिन (Khellin) आदि का प्रयोग किया जाता है। शरीर मे लवण (Nacl) की मात्रा प्राकृत करने के लिये भोजन मे लवण की मात्रा कम करना पड़ता है। लवण कम करने पर शरीर से जल भी कम होने लगता है परन्तु यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि वृक्क मे विकृति रहने पर लवण एकदम बन्द करने से वृक्क की कार्यक्षमता भी समाप्त हो सकती है और वृक्क का निपात हो सकता है। रोग की गंभीर अवस्था मे उपर्युक्त विधियाँ पर्याप्त न होने पर पारद के मूत्रल योग (Hg: Diuretics) का प्रयोग किया जाता है। इससे शरीर से सञ्चित जल तथा लवण का परित्याग होता है। साथ-साथ उच्च रक्तनीपिड़ (B.P.) रहने पर रोगी को शैय्या पर बैठाकर रखने से, शाखाओं पर रक्त-निपीड़ मापक यन्त्र (Sphygmomanometer) का रबड़ का पट्टक बाँधने से सिराओं मे भार की कमी होती है तथा श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) का आवेग भी शान्त होता है।

(२) **भोजन** :—रोग की तीव्र अवस्था मे दूध ही सर्वोत्तम है। भोजन मे प्रोटीन (Ptn) तथा वसा (Fat) की मात्रा कम तथा कार्बोहाइड्रेट (Cho) की अधिक होनी चाहिये। प्र० दि० १ सेर दूध देने से रोगी के शरीर मे प्रायः ग्रे० २० लवण (Nacl) जाता है। दूध से मक्खन निकाल देना चाहिये। लोनालैक (Lonalac) दुग्ध का, लवण तथा वसा (Fat) रहित एक योग है। रोग की तीव्र अवस्था मे तरल आहार (पृ. ४) दे सकते हैं। विश्राम काल मे १५०० कैलोरी (C) से अधिक का भोजन नहीं देना चाहिये। जल एक दम रोक कर रोगी को कष्ट देना श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता क्योकि लवण के अभाव में जल संचय होने की सम्भावना नही रहती। रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर अर्ध तरल (पृ०४), तथा ठोस आहार (पृ०४) दे सकते हैं। हृदय के रोगी को अल्प मात्रा मे अनेक बार भोजन देना चाहिये। एक बार मे अधिक मात्रा मे भोजन देने से आमाशय (St) का विस्फार होता है और हृदय को कष्ट होता। जीवतिक्तियाँ (Vit:) विशेष-कर 'बी,' तथा 'सी' (B_1, C.) की मात्रा भी पर्याप्त होनी चाहिये। भोजन मे यदि लवण की मात्रा प्र० दि० ग्रे० २२ से कम रहती है तब जल की मात्रा

कम न करने पर भी शोफ मे कमी होती है। इसके विपरीत लवण न कम कर यदि केवल जल की मात्रा कम की जाती है तब शोफ मे कमी नहीं होती। साथ-साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि अनेक औषधियो में सोड़ियम (Na) रहता है जैसे सोडी-सैलिसिलस (Sodi:salicylas), सोडीबाइ-कार्ब आदि। शोफ रहने पर इन औषधियो का प्रयोग नही करना चाहिये। इन औषधियो के प्रयोग से भोजन मे लवण बन्द करना निरर्थक हो जाता है।

(३) **विश्राम :**—इस विषय से सम्बन्धित विचार धारा में आज पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है। यह निश्चित है कि हृद्रोग के रोगी के लिये विश्राम नितात आवश्यक है परन्तु विश्राम रोग की स्थिति के अनुकूल होना चाहिये। प्रत्येक रोगी को अनिवार्य रूप से जीवनपर्यन्त शैय्या पर लिटा के रखना अनावश्यक के साथ-साथ हानिकर है। वेडपैन (Bedpan) मे मल परित्याग करना एक भारतीय के लिये अत्यन्त कठिन कार्य है। कदाचित रोगी को शैय्या के नीचे बैठ कर मल परित्याग करने की आज्ञा देने से रोगी को परिश्रम भी कम होता है, परिणाम भी अच्छा होता है और मन को सन्तोष होता है। हृद्रोग की **साधारण** अवस्था मे रात्रि मे १० घण्टा सोना, भो० प० दोनो समय विश्राम करना तथा थकावट से बचना पर्याप्त है। रोग की **तीव्र अवस्था** मे रोगी को फाउलर की शैय्या (Fowler's bed, cardiac bed) पर शिर ऊँचा कर लेटने से सुख प्राप्त होता है। शिर ऊँचा तथा आगे की ओर झुका रहने से वृद्धित यकृत का फुफ्फुस पर भार नहीं पड़ता और श्वास लेने मे कम कष्ट होता है। ग्रीष्म ऋतु में रोगी का कमरा ठण्डा रहना अच्छा है। शैय्या पर पड़े-पड़े भी रोगी हाथ-पैर हिला कर थोड़ा परिश्रम कर सकता है। इससे रक्त-वाहिनियो मे रक्त-प्रवाह की वृद्धि होती है, सिराओ मे घनास्रता (Thrombosis) नहीं होती तथा फुफ्फुस मे घनास्रता जन्य अन्तः शल्यता (Infarct) नही होती। रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर जब हृत्पेशी की कार्यक्षमता प्राकृत हो जाय तब परिश्रम की शनैः शनैः वृद्धि होनी चाहिये, परन्तु परिश्रम के कारण थकावट नही होनी चाहिये। शारीरिक विश्राम के साथ-साथ मानसिक विश्राम भी आवश्यक है। यथासम्भव चिकित्सा के प्रारम्भ मे ही कुछ दिन रोगी को शैय्या पर रखना चाहिये। रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर यथाशीघ्र उसको कुर्सी पर बैठने की आज्ञा देनी चाहिये।

(४) **भोजन तथा औषधि में लवण कम करना** :—इस रोग की चिकित्सा मे सोडियम (Na) कम करना अत्यावश्यक है। इसको कम करने पर रोगी को आ. अ. जल पीने दे सकते हैं। लवण (Nacl) के स्थान पर अनेक सोडियम रहित लवण उपलब्ध है जैसे :—टाइट्रोडायेटिकसौल्ट (Titrodietic salt, neocifanol. C. Ch., tabasco, diasal) आदि। इनका प्रयोग न करना ही अच्छा है। इस रोग की अन्य चिकित्सा से लाभ न होने पर भी सोडियम मे कमी करने से शोफ में लाभ होता है। इसी से सोडियम कम करने का विशेष महत्व है। शोफ जितना व्यापक होता है उतना ही लवण की मात्रा कम करनी पड़ती है परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वृक्क मे विकृति रहने पर सोडियम (Na) बिलकुल बन्द करने से **मूत्रविषमयता** (Uraemia) की संभावना रहती है। पोटासियम (Potassium) का सोडियम से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये सोडियम कम होने पर पोटासियम की भी कमी हो सकती है। इसलिये भोजन मे लवण की मात्रा कम करते समय रोगी को पोटासियय के लवण (Pot : citras, bicarb, acetas) देना चाहिये। लवण बन्द करने के कारण मूत्रविषमयता की उत्पत्ति का ज्ञान यदि समय से हो जाय तब रोगी को प्रत्येक मार्ग से लवण देने से लाभ हो सकता है। पारद के मूत्रल योग (Hg : diuretics) देने से शरीर से जल के साथ साथ लवण (Nacl) का भी परित्याग होता है। कभी-कभी हृद्रोग के रोगी मे प्रोटीन (Ptn) की भी कमी रहती है। इस अवस्था में लवण बन्द करने से तथा शोफ कम करने के अन्य उपायो से शोफ पूर्णरूप से कम नहीं होता और प्रोटीन की कमी के कारण शोफ बना रहता है। रोग निवृत्त हो जाने के पश्चात् भी लवण की मात्रा २२ ग्रे. प्र. दि. से कम रहनी चाहिये। इससे शोफ का पुनरावर्त नहीं होता।

(५) **औषधियाँ** :—दक्षिण हृदयातिपात (Rt : ht : failure) की चिकित्सा मे (क) **डिजिटेलिस** (Digitalis), (ख) **पारद** (Hg) के मूत्रल योग (ग) **जैनथीन** (Xanthin, cardiophylline, aminophilline, diuretin) के मूत्रल (Diuretic) योग यूरिया (Urea), (घ) **स्ट्रोफेनथिन** (Strophanthin), (ङ) **रेजिन** (Resins) (च) **खेलिन** (Khellin) आदि का प्रयोग किया जाता है। इनका वर्णन अन्यत्र (पृ० १०७) देखिये।

(छ) **सिल्लारेन** (Scillaren) :—जब डिजिटेलिस का प्रभाव उत्तम नहीं होता अथवा वह किसी कारणवश प्रयोग नहीं की जा सकती तब इस औषधि का प्रयोग किया जा सकता है। यह औषधि **मूत्रल** (Diuretic) है तथा वृद्धावस्था मे विशेष लाभप्रद है।

(ज) **तेजोद्गर आयोडीन** (Radio-active Iodine I131) :—अन्य विधियों से जब रोगी को लाभ नहीं होता तब इसका प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग से अवटुकाग्रन्थि की कार्यशीलता मे कमी (Hypothyroidism) होती है। परिणामस्वरूप शरीर का आधारिक समवर्त (B. M. R.) कम हो जाता है और विकृत हृत्पेशी (Myocardium) को विश्राम मिलता है।

(झ) **अमीनोफाइलीन** (Aminophylline) के प्रयोग से श्वसनिकायों (Bronchioles), फौफ्फुसीय रक्तवाहिनियों (Pulmonary B.V.) तथा हृत्धमनी (Coronary art:) आदि का विस्फार होता है। इसलिये रोगी को रात्रि मे यदि खाँसी अथवा प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र (Paroxysmal dyspnoea) होता है तब उसमे लाभ होता है। चेन-स्टोक-श्वसन (C. S. Resp:) में भी लाभ होता है। फुफ्फुस की वायु कोपाओं (Alveoli) मे रात्रि मे स्राव (Secretion) सञ्चय होने के कारण रोगी को रात्रि मे खाँसी होती है।

(ञ) **रक्तस्कन्दन निरोधी औषधियाँ** (Anti-coagulants, Dicumerol, heparin) :—दक्षिण हृदयातिपात मे फौफ्फुसीय घनास्रता (Pulmonary thrombosis) तथा अन्तस्फान (Infarct) के कारण अनेक रोगियो की मृत्यु हो जाती है। इन अवस्थाओ की चिकित्सा के लिये रोगी की **अवस्था अच्छी** रहने पर प्रारम्भ मे डिकूमेरोल (Dicumerol) ३०० मि० ग्रा० देकर अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से डीपोहेपरीन (Depot heparin) मि०ग्रा० २०० का इंजेक्शन लगाना चाहिए। १२ घंटे पश्चात् डीपोहेपरिन का आधी मात्रा मे पुनः प्रयोग करे। रोगी की **अवस्था चिन्ताजनक** रहने पर इन दोनो औषधियो की मि० ग्रा० १०० की मात्रा सिरामार्ग से देना चाहिए। तत्पश्चात् प्रति चार घण्टे पर आधी मात्रा मे औषधि का ६–१२ बार पुनः प्रयोग करे।

(६) **सिरा से रक्तस्राव कराना** (Venesection) :—ग्रीवा

की सिराओं में रक्ताधिक्य (Congestion) रहने पर अथवा यकृत वृद्धित तथा पीड़ाकर रहने पर सिरा से ३००–१००० सी० सी० तक रक्त निकाला जा सकता है। यकृत पर ८–१० जोंक लगाने से भी लाभ होता है। उच्च-रक्तनिपीड (B. P.), तीव्र फौफ्फुसीय शोफ (Acute pulmonary oedema) तथा श्यावना (Cyanosis) में भी रक्त निकालने से लाभ होता है।

(७) **प्राणवायु (O_2) का प्रयोग** :—प्राणवायु का प्रयोग प्रायः चेनस्टोक श्वसन (C. S. Resp:), हृच्छूल (Angina), बेचैनी, श्यावता (Cyanosis) तथा श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) कम करने के लिए तथा फौफ्फुसीय रक्ताधिक्य (Pulmonary : congestion) में किया जाता है। प्रारम्भ में यह औषधि विशेष यन्त्र (Pressure mask) द्वारा देना चाहिए, पश्चात् चेहरे पर मास्क (Mask) रख कर अथवा नाक में रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर देना चाहिए। प्राणवायु को रोक रोक कर देने की अपेक्षा निरन्तर देना अच्छा है।

(८) **शामक (Sedative) औषधियाँ** :—निद्रा न आने पर शामक औषधियों का प्रयोग सावधानी पूर्वक करना चाहिए। हृद्रोग में प्र०दि० ८–१० घण्टा नींद आना आवश्यक है। इसके लिये मौरफीन (Morphine) के योग सर्वोत्तम हैं।

(९) **विरेचन (Purge)** :—रोगी के शरीर से जल निकालने की यह विधि उत्तम नहीं है। इससे दुर्बलता होती है। हृद्रोग के रोगी को प्रायः कब्ज रहती है। इसके लिये कैसकरा इवैकुएण्ट (Cascara evacuant) मि० १०–२० आ० अ० दे सकते है। रात्रि में घृतकुमारी (Pill aloes) ग्रे० ३ तथा दूसरे दिन प्रातःकाल मैग सल्फ (Mag : sulph) ड्रा ४ दे सकते हैं। ग्लीसरीन की बत्ती (Glycerine suppository), जैतून के तेल (Ol. Olive) का एनिमा आदि आवश्यकतानुसार दे सकते है।

(१०) **अन्य चिकित्सा** :—पुनर्नवा (Ext : punarnava) मि. २०–३० त्रि. प्र. दि. देने से मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है। पुनर्नवा की ताजी पत्तियों का रस अधिक लाभप्रद है। तीव्र फौफ्फुसीय शोफ (Acute pulmonary oedema) की उपर्युक्त चिकित्सा करें। सिराओं में रक्त का भार कम करने के लिये क्रमशः प्रत्येक शाखा पर रबर की नलिका अथवा

रक्तचाप मापक यन्त्र (Sphigmo-manometer) का बाहुपटक (Arm-band) बाँधा जा सकता है। हृदयावरण (Pericardium), फुफ्फुसावरण (Pleura) तथा उदर में जल संचय होने के कारण यदि हृदय अथवा फुफ्फुस में कष्ट हो तब जल को सूई से निकाल (Paracentesis) देना चाहिये। खाँसी के लिये इफेड्रिन (Ephedrine) तथा मौरफिन (Morphine) का योग (यो. २३) त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। यदि ग्लूकोस देना आवश्यक हो तब शोफ की अवस्था में अल्पमात्रा में ग्लूकोस (Glucose) २५–५० प्र. श. २५ सी. सी. सिरामार्ग (I.V.) से दे सकते हैं। जल की अधिक मात्रा देने से हृदय के परिश्रम में वृद्धि होती है। ग्लूकोस से हृत्पेशी (Myocardium) को बल प्राप्त होता है। शैय्या पर दीर्घकाल पर्यन्त पड़े रहने से शैय्या व्रण (Bedsore) होते हैं। शरीर में जल सञ्चय होने से शोफयुक्त स्थानों में व्रण होने की संभावना रहती है। इन स्थानों पर स्पिरिट (Spt:) तथा डस्टिंग पाउडर (यो.७३) लगा कर उन्हें रबर के गद्दे (Air cushion) पर या रूई पर रखना चाहिये। पुरुष की जननेन्द्रियों को लंगोट से उठाकर रखना चाहिये। फुफ्फुस, प्लीहा आदि में अंतःस्फान (Infarct) होने के कारण पीड़ा होती है। इसके लिये रक्तस्कन्द निरोधी औषधियाँ (Anti-coagulants), मौरफीन (Morphine) आदि का प्रयोग करना चाहिए। दक्षिण हृदयातिपात की चिकित्सा में अवटुका ग्रंथि के कुछ भाग का निकाल देना (Thyroidectomy) अभी प्रायोगिक अवस्था में है।

भविष्य में रोग के पुनरावर्तन से **बचने** के लिये भोजन में लवण का प्रयोग कम करना चाहिये। श्वसन-संस्थान में उपसर्ग होने पर शीघ्रता से उसकी चिकित्सा करनी चाहिये तथा प्रयत्न करना चाहिये कि ये उपसर्ग न हों। रोगी की दिनचर्या नियमित होनी चाहिये। समय पर आहार, विश्राम, निद्रा आदि होना आवश्यक है। हृदय की अवस्था के अनुकूल ही परिश्रम करना चाहिये। हृद्रोग के रोगी का भविष्य बहुत कुछ उसी पर निर्भर करता है। नियमित जीवन व्यतीत करने से हृद्रोग का रोगी भी दीर्घायु हो सकता है। रोगी को सर्वदा आशावादी होना चाहिये। हृदय की अगर वृद्धि हो तब समय से डिजिटेलिस (Digitalis) के प्रयोग से हृदयातिपात रोका जा सकता है। लवण का अत्यधिक प्रयोग, अधिक परिश्रम, विषम ज्वर (M.F.)

आदि का उपसर्ग, डिजिटेलिस बन्द करने से, नाड़ी में अनियमितता (Arrhythmia) होने से तथा हृत्पेशी मे अन्तःस्फान (Infarct) होने से हृदयातिपात की उत्पत्ति मे सहायता मिलती है। रोगी को पतले दस्त अथवा तन्द्रा (Drowsiness) होने पर मूत्रविषमयता (Uraemia) की सम्भावना रहती है।

(ख) **वाम हृदयातिपात** (Left heart failure) :—इसका वर्णन अन्यत्र देखिये।

(इ) **मस्तिष्क में स्थित हृदय के केंद्र** (Cardiac center) का निपात :—इस अवस्था मे विषमयता (Toxaemia), उपसर्ग (Ifn) आदि के कारण अकस्मात तीव्र तथा गम्भीर हृदयातिपात होता है। इसकी चिकित्सा में **लेप्टाजोल** (Leptazol), कोरामीन (Coramine), सी. सी. १/२–२, स्ट्रिकनीन (Strychnine) ग्रे. १।६०, साइक्लीटोन (Cycliton), वेरीटौल (Varitol) आदि का इन्जेक्शन लगाना चाहिये।

(११) हृदयातिपात की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

रोगी को गर्भ रखने का उपाय करे। अर्जुनत्वक् सिद्ध दुग्ध, अर्जुनघृत, व च्यवनप्राश का प्रयोग करे तथा निम्न हृद्य औषधियाँ दे—

औषधियाँ :—मकरध्वज, रससिन्दूर, कस्तूरीभैरव रस, वृहद्वात चिन्तामणि, योगेन्द्र रस, रसराज रस, हिरण्यगर्भपोहली रस, रत्नेश्वर रस, समीरपन्नग रस, हृदयार्णव रस।

प्रयोग :—

वृहद्वात चिन्तामणि	१/२ र.	**या**	मकरध्वज १ र.
चन्द्रोदय	१/२ र.		स्वर्णभस्म १/४ र.
वृहत्कस्तूरी भैरव	१/२ र.		मोतीपिष्टी १ र.
हिरण्यगर्भ पोहली	१।२ र.		कपूर १।२ र.
	मि०		दो या तीन बार शहद मे दे।

जायफल, रुद्राक्ष, चन्दन घिसकर।
आर्द्रक स्वरस मे दे।

पञ्चम अध्याय

ज्वर

चिकित्सा :—ज्वर की चिकित्सा प्रारम्भ करते समय ज्वर का विशिष्ट **कारण** समझने तथा उसे ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये। ज्वर को छिपाने का प्रयत्न करना या ज्वरनाशक (Antipyretics) औषधियों द्वारा ज्वर को बलपूर्वक कम करना उचित नहीं है। तापनियन्त्रण केन्द्र (Heat center) मे विकृति होने पर ज्वर की मात्रा अत्यधिक हो जाती है। इससे बचाने के लिये **जल चिकित्सा** (Hydrotherapy) तथा **प्राण वायु** (O_2) का प्रयोग करना चाहिये। ज्वर की अवधि दीर्घ होने की सम्भावना रहने पर रोगी के **आहार** पर विशेष ध्यान रखना चाहिये जिससे रोगी दुर्बल न हो जाय। दुर्बल रोगी मे रोगक्षमता (Immunity) की कमी हो जाती है। ज्वर कारक उपसर्ग (Ifn) की विशिष्ट चिकित्सा करनी चाहिये। कभी-कभी औषधि (जैसे सल्फा) के कारण भी ज्वर होता है। इस अवस्था मे औषधि बन्द कर देना चाहिये।

(१) जल चिकित्सा (Hydrotherapy):—ज्वर मे जल की कमी होने की विशेष सम्भावना रहती है। जल की कमी के कारण भीषण उपद्रव होते हैं इसलिये रोगी को प्रारम्भ से ही जल ८–१० पा० प्र० दि० देना चाहिये। साधारणतः रोगी कितना जल पी रहा है इसका ज्ञान **मूत्र की मात्रा** से हो सकता है। रोगी को प्र० दि० उतना जल देना चाहिये जिससे रोगी कम से कम १५०० सी० सी० मूत्र प्र० दि० परित्याग कर सके।

विष का परित्याग प्रधानतया मूत्र द्वारा ही होता है इस लिये विषाक्तता (Toxaemia) मे अधिक जल की आवश्यकता होती है। मुख द्वारा रोगी यदि पर्याप्त मात्रा मे जल नहीं ले सकता हो तब नाक मे **राइल की नलिका** (Ryle's tube) प्रवेश कर (पृ० १२), नलिका द्वारा जल, आहार तथा औषधि दे सकते हैं। जल का प्रयोग मुख के अतिरिक्त अन्य मार्ग से भी कर सकते हैं। साधारणतः ज्वर के रोगी का शरीर प्र० दि० शीतल **जल से धोकर** स्वच्छ रखना चाहिये। इस क्रिया से ताप मे कमी होती है, शैय्याव्रण (Bedsore) की सम्भावना नहीं रहती, निद्रा आती है, मस्तिष्क (Brain)

को आराम मिलता है, मूत्र की मात्रा बढती है, विषाक्तता (Toxaemia) तथा प्रलाप (Delirium) मे कमी होती है, हृदय को शक्ति मिलती है, रक्तनिपीड़ (B. P.) तथा रक्तप्रवाह (Circulation) की वृद्धि होती है, परिसरीय रक्त-वाहिनी निपात (Peripheral vascular failure) की सम्भावना में कमी होती है, पचन-सस्थान के लक्षण कम उत्पन्न होते हैं तथा श्वसन गभीर होने के कारण फुफ्फुस मे सिरागत रक्ताधिक्य (Passive congestion) नही होता। रोगी का शरीर धोते समय उसके शरीर की मालिश करते रहने से रक्तप्रवाह मे सहायता मिलती है।

ताप अत्यधिक होने से, निद्रा नष्ट होती है, प्रलाप (Delirium) तथा सन्यास (Coma) होता है, इसलिये शरीर का ताप १०४°फा. से अधिक होने पर रोगी को शीतल कमरे मे रख कर जल चिकित्सा (पृ.३७) करनी चाहिये। ताप कम करने का प्रयत्न तब तक करते रहना चाहिये जब तक ज्वर १०२° फा. से कम न हो जाय। इससे कम ज्वर रहने पर अर्धोष्ण (Tepid) जल से शरीर पोछना अधिक उपयुक्त है। ज्वर कम करने के लिये फेनासेटीन (Phenacetin), ऐसपिरीन (Aspirin) आदि ज्वरनाशक (Anti-pyretics) औषधियों का प्रयोग नही करना चाहिये।

(२) **आहार**:—तीव्र ज्वर, विषाक्तता तथा विशेष कर दीर्घकालीन रोगों मे आहार मे कमी होने से रोग से युद्ध करने की शक्ति मे कमी होती है। इन रोगों मे अधिक कैलोरी (C) की आवश्यकता पड़ती है। भोजन पर्याप्त न होने पर शरीर का वसा (Fat) नष्ट होने लगता है। कुछ समय पश्चात् शरीर के अन्य अवयव भी बारी बारी जल कर ताप उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार पेशी, मस्तिष्क, हृत्पेशी (Myocardium) आदि क्षीण हो जाते हैं। शरीर को नष्ट होने से बचाने के लिये आवश्यक है कि रोगी को प्र० दि० प्रायः **दो हजार कैलोरी** के बराबर भोजन दिया जाय। इसके लिये निम्न आहार प्र० दि० दे सकते हैं।

दुग्ध :—दो सेर (एक छटॉक = ३७ कैलोरी) = ११५२ कैलोरी
शर्करा :—तीन छटॉक (" = २२७ " = ६७८ "
शन्तरा :—६ (एक शन्तरा = ३० कैलोरी) = १८० "
२०१०

मासाहारी रोगियों में दुग्ध की मात्रा कम कर मुर्गी का सूप (एक छटॉक

= ३२ कैलोरी) या अण्डा (एक अण्डा = १७३ कै०) दे सकते है। अंडे को अधिक उबाल कर कड़ा नही करना चाहिये। शर्करा के स्थान पर ग्लूकोस (Glucose) दे सकते है। ऋतु के अनुसार शन्तरे की जगह अनार, मौसमी, आदि फल प्रयोग कर सकते है। दूध मे सोडी साइट्रस (Sodi: citras) मिलाने से दूध पचने मे सरलता होती है। निम्न वस्तुये भी प्रयोग कर सकते है। जैसे :—वार्ली का जल, डाब का जल आदि।

मूत्र द्वारा **लवण का परित्याग** होता रहता है इसलिये रोगी को प्र० दि० १०–६० ग्रे० लवण देना भी आवश्यक है। **वाइटेमिन** (Vit :) का प्रयोग भी करना चाहिये। इसके लिये जीवतिक्ति सम्पूर्ण के योग (Multivitamins) प्रयोग करना चाहिये।

रक्तस्राव (Bleeding) की संभावना रहने पर जीवतिक्ति 'सी' (Vit: C.) का प्रयोग करना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) मे जीवतिक्ति 'सी' का प्रयोग प्रारम्भ से ही किया जाता है।

(३) **परिचर्या**:—रोगी को ज्वर की अवधिपर्यन्त तथा कुछ दिन बाद तक पूर्ण **विश्राम** करना चाहिये। विश्राम से निद्रा आती है, हृदय तथा अन्य अवयवो के परिश्रम मे कमी होती है। तीव्र उपसर्ग मे (Inf:) केन्द्रीय हृदयातिपात की अपेक्षा परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Peripheral vascular failure) की अधिक सम्भावना होती है। पूर्ण विश्राम से इन दोनों प्रकार के उपद्रवो की सम्भावना कम रहती है। रोहिणी (Diphtheria), आमवात (Rheumatism), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि में हृतपेशी (Myocardium) मे विकृति होने के कारण केन्द्रीय हृदयातिपात होता है। इन अवस्थाओ मे जब तक इस उपद्रव की सम्भावना हो तब तक पूर्ण विश्राम करना चाहिये। विश्राम की अवधि ज्वर की अवधि से कम से कम दूनी होनी चाहिये।

रोगी को ऋतु के अनुसार हवादार कमरे मे रखना चाहिये। कमरे मे सूर्य का प्रकाश और कमरे मे शान्ति रहनी चाहिये। आवश्यकता से अधिक समान नहीं होना चाहिये। फूल आदि से कमरे को सुसज्जित करना चाहिये। रोगी की शैय्या के चारो ओर रिक्त स्थान रहने से रोगी की चारो ओर से देख-भाल की जा सकता है। रोगी की शैय्या प्रायः २ से २½ फिट ऊँची होती है परन्तु

हिन्दुस्तानी घरो मे लोग प्रायः रोगी के समीप पृथ्वी पर बैठना अधिक पसन्द करते हैं। ऐसी अवस्था मे सुविधा के अनुसार शैय्या ३ से ६ इच ऊँची हो सकती है। रोगी का वस्त्र तथा कमरे मे वायु का प्रवेश ऋतु के अनुकूल होना चाहिये। वायु के आने-जाने का मार्ग खुला रखना अच्छा है परन्तु रोगी की शैय्या वायु के मार्ग मे नही होनी चाहिये। ग्रीष्म ऋतु मे खस की टट्टी तथा पखे आदि से कमरे को शीतल रखना अच्छा है परन्तु शीतकाल मे कमरे मे आग जला कर कमरे को गरम करना ठीक नही है। इसके लिये बिजली के यन्त्र (Heater) तथा गरम पानी की बोतलों का प्रयोग कर सकते हैं। रोगी को ठढक से बचाने के लिये कम्बल आदि का प्रयोग कर सकते है परन्तु ग्रीष्म ऋतु मे अधिक वस्त्र प्रयोग कर रोगी को कष्ट देना ठीक नही है। स्नान आदि की सुविधा के लिये रोगी को ऐसा वस्त्र पहनना चाहिये जो सरलता से बदला जा सके। शैय्या पर सबसे नीचे गद्दा, उस पर चादर तथा मोमजामा (Oil cloth) होना चाहिये। मोमजामे को चारो ओर से चादर से लपेट देना चाहिये जिससे वह रोगी के शरीर को स्पर्श न कर सके। कमरे के साथ स्नानगृह तथा शौचालय होना अच्छा है। वेडपैन (Bed pan) की अपेक्षा कमोड (Commode) का प्रयोग रोगी को कम कष्टप्रद होता है। कमोड आवश्यकता के समय शैय्या के समीप लगाया जा सकता है। रोगी का मुख प्र. दि. मजन से एक बार साफ कर देना चाहिये। तत्पश्चात भोजन करते रहने से भी मुख साफ होता रहता है। भोजन के बाद जल से कुल्ला करना चाहिये। लिस्टरीन (Listerin), पास्टुरिन (Pasturin) आदि औषधियो को एक गिलास गरम पानी मे एक चम्मच औषधि मिलाकर भोजन के पश्चात् तथा रात्रि मे निद्रा के पूर्व कुल्ला करने से मुख शुद्ध रहता है तथा कर्णमूल ग्रंन्थिशोथ (Parotitis) आदि की संभावना नही रहती। आध सेर पानी मे सोडी बाइकार्ब (Sodi:bi:carb) च. १ डालकर भी कुल्ला करा सकते हैं। बाल्यावस्था तथा चेतनाहीन रोगी में अंगुली पर कपड़ा लपेट कर मुख, नासा, ओष्ठ आदि पर बोरोग्लिसरीन (Boro-glycerine) लगाना चाहिए। त्वचा स्वच्छ रखने के लिये रोगी का सपूर्ण शरीर ए. प्र. दि. अर्धोष्ण (Tepid) जल तथा साबुन से पोंछ देना चाहिये। इस क्रिया को करते समय सम्पूर्ण शरीर एक साथ नग्न नही करना चाहिये। एक एक अग को साफ कर,

तौलिये से पोछ कर, चादर से ढक देना चाहिये। शरीर पोछ लेने के बाद पीठ की ओर उन स्थानों पर जहाँ अस्थियों पर शैय्या का दबाव पड़ता हैं, स्पिरिट (Spt:meth) से मालिश कर साधारण पाउडर (यो. ७३) लगा देना चाहिये। ये स्थान सात हैं, शिर के पीछे का भाग (Occiput), दोनों अंसफलक (Scapula) के ऊपर, दोनो नितम्ब तथा दोनो एड़ियो का भाग। इस क्रिया से **शैय्याव्रण** (Bedsore) नही बन पाते। किसी स्थान पर शरीर के दबाव के कारण यदि त्वचा रक्तवर्ण प्रतीत हो और शैयाव्रण बनने की सभावना हो तब उस स्थान को वायु से भरी रबर की अंगूठी के आकार की गोल थैली (Air ring) पर रखना चाहिये अथवा रोगी को इस प्रकार करवट बदल कर रखें कि विकृत स्थान पर शरीर का दबाव न पड़े। विकृत स्थान पर टैनिक एसिड (Tannic acid) ५प्र.श तथा पोटारगल (Protargol) या सिलवर नाइट्रेट ($Agno_3$) १०प्र०श०का घोल, एक के बाद दूसरे को सूख जाने पर लगाना चाहिये। इसको दिन मे कई बार लगाना चाहिये। विकृत स्थान पर स्टिकिंग प्लास्टर (Sticking plaster) की ३-४ तह चिपका देने से भी लाभ होता है। इस प्लास्टर को रक्तवर्ण स्थान के एक इंच बाहर तक ढकना चाहिये। फिटकिरी (यो० ८८) का घोल भी लगाया जाता है। रोगी की त्वचा को शुद्ध रखने, रोगी का करवट बदलते रहने तथा रोगी के आहार मे प्रोटीन (Ptn) तथा जीवतिक्तियो (Vit:) की प्रधानता रहने से शैय्याव्रण की सम्भावना कम रहती है। रोगी के ज्वर, नाड़ी तथा श्वसन की गति को प्र० ४ घं० लिख कर रखना चाहिये। मल की संख्या, मूत्र की मात्रा तथा रोगी प्र०दि०कितनी मात्रा मे जल पीता है, इसको भी लिखना चाहिये। ज्वर १०२° फ०से अधिक रहने पर **जलचिकित्सा** (पृ० ३७) करनी चाहिये। रोगी को सर्वदा एक पार्श्व मे लेटे रहने नही देना चाहिये, विशेष कर वृद्धावस्था में, इससे शैयाव्रण हो जाते हैं और फुफ्फुस मे सिरागत रक्ताधिक्य (Hypostatic congestion) होने की सम्भावना रहती है। इसलिये रोगी को करवट बदलते रहना चाहिये। साधारणतः ग्रीष्म ऋतु में द्वि० प्र० दि० और शीत ऋतु मे ए० प्र० दि० रोगी का शरीर पोछ देना चाहिये। अनावश्यक परिश्रम से सर्वदा रोगी को बचाना चाहिये। शुष्क मलावृत (Coated) जिह्वा, जलाल्पता (Dehydration) तथा विषमयता (Toxaemia) की द्योतक है। इस अवस्था मे **जल** की आवश्यकता है। रोगी को शुद्ध वायु मे

रखने से बेचैनी मे कमी होती है, निद्रा आती है, भूख लगती है तथा रक्तप्रवाह की वृद्धि होती है। फुफ्फुस के रोगियो को खुले स्थान मे रखना अच्छा है। ज्वर के प्रारम्भ मे चिकित्सा करते समय विरेचक औषधि (Purgative) द्वारा मल परित्याग करा देना चाहिये, तत्पश्चात एनीमा (Enema) या ग्लिसरिन की पिचकारी (यो. ११५) द्वारा प्र. दू. दि. मल परित्याग कराना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) की सम्भावना रहने पर, ज्वर प्रारम्भ होने के चार दिन पश्चात् विरेचक औपधि या एनीमा (Enema) का प्रयोग नहीं करना चाहिये। ओष्ठ पर पपड़ी, विदार आदि होने पर, उस पर नारियल का तेल या वेसलीन (Vaseline) लगाना चाहिए। मुख में व्रण (Ulcer) होने पर उस पर मरक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) १ प्र० श० लगाना चाहिए।

उपद्रव :—शिरःशूल, निद्रानाश (Insomnia), पतले दस्त हृदयातिपात (Ht: failure), प्रलाप (Delirium) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए। ज्वर की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त क्षारीय घोल (यो० १) के प्रयोग से अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की सम्भावना नहीं रहती। आन्त्रिक ज्वर मे कभी-कभी रोगसन्निवृत्ति (Convalescene) के समय, अधिक वार्तालाप करने, पुस्तक पढ़ने, प्रक्षोभ (Excitement), परिश्रम आदि से सन्ध्या समय प्रायः ज्वर हो जाता है। इस प्रकार के अकारणज ज्वर मे रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिए और क्रायोजेनीन (यो० ४६) का प्रयोग कर सकते हैं। रोगी की सिरा से ५–१० सी० सी० रक्त निकाल कर पेशीमार्ग (I. M.) से उसके नितम्ब मे इञ्जेक्शन लगाने से भी इस प्रकार का ज्वर कम हो जाता है। दुग्ध २–५ सी० सी० भी इसी प्रकार प्रयोग कर सकते है। ज्वर के कारण के अनुसार पेनिसिलीन (P), सल्फा (S.), वैक्सीन (Vaccine), लसिका (Serum) आदि द्वारा रोग को **विशिष्ट** चिकित्सा करनी चाहिये।

प्रतिषेध (Prophy) :—औपसर्गिक रोगों मे रोगी को **पृथक** रखना चाहिये। उसके शरीर के प्रत्येक स्राव को जीवाणुनाशक औषधियों द्वारा शुद्ध करना चाहिये। पचन-संस्थान के रोग प्रायः सवाहक (Carrier), जल, भोजन, मक्खी, अँगुलियाँ, वर्तन आदि के द्वारा फैलते हैं। इन पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। मसूरिका (Smallpox), प्लेग (Plague)

आदि रोगो मे परिचारिका को स्वयं टीका लगवा कर, तत्पश्चात् रोगी की सेवा करनी चाहिये ।

ज्वर की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

चिकित्सा की दृष्टि से ज्वर के दो मुख्य भाग किए जा सकते हैं :—

१—साम ज्वर या नव ज्वर या तरुण ज्वर ।

२—निराम या जीर्ण ज्वर या पक्व ज्वर ।

सप्ताहात्परतो स्तब्धे सामे स्यात् पाचन ज्वरे ।
निरामे शमनं स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत् ॥

साम या नव-ज्वर :—

लघनं स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस ।
पाचनान्यविपक्वाना दोषाणा तरुण ज्वरे ॥

नव-ज्वर मे दोषपाचन, लंघन, स्वेदन, काल, यवागू व तिक्तरस द्वारा होता है । प्रारम्भ मे ही दोषपाचनार्थ व अग्निप्रदीपनार्थ लंघन करावे । बला-बलके अनुसार स्वस्थ मे पूर्ण उपवास व निर्बल मे लघुभोजन देते हुए १, ३ या ६ दिन लंघन कराये । क्षय, वात, भय, क्रोध, काम, शोक व श्रम पीड़ित व्यक्तियो में लघन न करावे ।

पीने के लिए उष्णोदक दे, दोषानुसार औषधद्रव्यो से सिद्ध करके जल का प्रयोग उत्तम है जैसे षडंगपानीय । आवश्यकता होने पर आमाशय स्थित कफ दोष निष्क्रमणार्थ वमन करावे । तत्पश्चात् दोष, ज्वर व तृष्णानाश के लिए तथा अग्निबल प्रदीपन के लिए मण्ड, पेया, विलेपी यवागुओ का क्रमशः प्रयोग करे । ग्रीष्मऋतु मे तथा ऊर्ध्वंग रक्तपित्तयुक्त ज्वरो मे यवागू न दे । तर्पणार्थ लाजा सत्तू, फल रस व यूष देना हितकर है । एक सप्ताह बाद पाचन व शमन कषाय देना आरम्भ कर दे किन्तु 'यः कषायः कषायः स्यात्स-वर्ज्यस्तरुणज्वरे ।' इसके पश्चात् घृतपान, दुग्धपान व मासरस आदि का प्रयोग कर सकते हैं । प्रकृति व बलानुसार पित्त प्रधान मे विरेचन और वात-प्रधान मे बस्ति दे ।

औषधियाँ :—हिंगुलेश्वर, महाज्वरांकुश, रामबाण, मृत्युञ्जय, आनन्द भैरव, चण्डेश्वर, शीतभञ्जीरस, तरुणज्वरारि, रक्तगिरि रस और स्वल्प कस्तूरी भैरव ।

अपथ्य :—नवज्वरे दिवास्वप्न स्नानाभ्यंगान्नमैथुनम् ।

क्रोधप्रवातं व्यायाम कषायांश्च विवर्जयेत ॥

जीर्ण-ज्वर :—

अभ्यंगश्च प्रदेहाश्च सस्नेहान् सावगाहनान् ।
विभज्यशीतोष्णकृतान्कुर्यात् जीर्णज्वरे भिषक्॥
स्नेहात् वातं शमयति शैत्यात्पित्तं नियच्छति ।
घृततुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत्कफम् ॥

प्रथम आवश्यकतानुसार, दोषानुकूलविरेचन, अनुवासन एवं निरूह बस्ति करावे। साधारणतः 'ज्वरेभ्यो बहु दोषेभ्यः ऊर्ध्वाधः शोधनं कारयेत् ।' अभ्यंग, प्रदेह व धूपन आदि भी करावे। ज्वरनाशक कषाय व घृत दे। तद्दोषनाशक औषधि सिद्ध दुग्धपान करावे।

जीर्ण ज्वराणा सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् ।

ज्वर त्रिदोषज होने पर पहले कफनाशक बाद मे वातपित्तशामक चिकित्सा करे।

वर्धनेनैक दोषस्य क्षपणेतोद्धतस्य वा ।
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्॥
लंघन बालुकास्वेदः नस्यं निष्ठीवनं तथा।
अवलेहाञ्जनं चैव प्राग्प्रयोज्यं त्रिदोषजे ॥

क्वाथ :—किरातादि, गुडूच्यादि, पञ्चतिक्त, अमृताष्टक, दशमूल, पंचभद्र, पर्पटकादि, निम्बत्वक् ।

चूर्ण :—सुदर्शन, गुडूच्यादि ।

अन्य औषधियाँ :—मृत्युञ्जय वटी, जया वटी, ज्वर धूमकेतु, संशमनी वटी, अमृता वटी, सौभाग्य वटी, हिंगुलेश्वर, चण्डेश्वर, चन्द्रकला रस, त्रिभुवन कीर्त्ति, कफकेतु, सूतशेखर, कल्पतरु, कस्तूरी भैरव, बृहत कस्तूरीभैरव और पंचानन ।

ज्वर मुक्त रोगी को विदाही, गुरू, विरुद्ध व असात्म्य अन्नपान नहीं करना चाहिए। व्यायाम, व्यवाय, स्नान व घूमना भी न करे जब तक कि बलवान न हो जाये।

तापजन्य रोग

(अ) शीत का प्रभाव

परिचय :—पोषणाभाव (Malnutrition), सिराओ के रक्तप्रवाह

मे कमी (Venous Stasis) तथा धमनीजरठता (Arteriosclerosis) आदि के कारण धमनियों के मार्ग में रुकावट रहने से मनुष्य के शरीर पर शीत का कुप्रभाव पड़ता है।

विश्राम तथा **वायु** की गति से भी शीत का सम्बन्ध है। शीत के कारण रक्तवाहिनियों का मार्ग सकीर्ण (Vaso-constriction) हो जाता है। प्रारम्भ मे यह अवस्था स्थानीय होती है, परन्तु शीघ्र ही व्यापक हो जाती है। शरीर अत्यन्त शीतल हो जाने पर शरीर के तन्तुओं (Tissues) मे बरफ बन जाती है या रक्तवाहिनियो (B. V.) में **घनास्रता** (Thrombosis) हो जाती है। इससे रक्तप्रवाह मे कमी हो जाने के कारण तन्तुओं में पर्याप्त मात्रा मे **प्राणवायु** (O_2) नहीं पहुँच पाती और **तन्तुओं की मृत्यु हो जाती** है त्वचा का ताप २०° फ. या इससे कम होने पर तन्तुओ में बर्फ जमने लगती है और तन्तुओं की मृत्यु हो जाती है। परिणामस्वरूप त्वचा का वर्ण श्वेत प्रतीत होता है। त्वचा का ताप लगभग ८०°–६०° फ. रहने पर रक्तप्रवाह की गति कम हो जाती है और तन्तुओ मे प्राणवायु (O_2) पर्याप्त मात्र मे नहीं पहुँच पाती। परिणामस्वरूप त्वचा **श्यामवर्ण** (Cyanosed) हो जाती है। इन दोनो अवस्थाओं के मध्य की स्थिति मे जब त्वचा का ताप प्रायः **६०° फ. के** लगभग होता है तब शोणवर्तुलि (Hb.) प्राणवायु का ठीक से परित्याग नहीं कर सकती और त्वचा का रंग **गुलाबी** हो जाता है। देखने से त्वचा मे प्राणवायु की कमी प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि त्वचा का ताप शनैः शनैः कम किया जाय तब **प्रारम्भ** मे त्वचा का वर्ण श्याम, **पश्चात** गुलाबी तथा **अंत** मे मृत्यु के कारण श्वेत प्रतीत होगा। मृत्यु के **पश्चात्** शोणवर्तुलि (Hb) मे परिवर्तन होता है और त्वचा काली हो जाती है। त्वचा का ताप ६०° फ. तक कम हो जाने पर तन्तुओ के पुनः स्वस्थ होने की अल्प संभावना रहती है।

प्रतिषेध :—शीत के दुष्परिणाम **से बचने के लिये** शरीर को **शुष्क** रखना चाहिये। गीले वस्त्र, मोजे, जूते आदि नहीं पहनना चाहिये। शुष्क ढीले तथा गर्म कपड़े पहना चाहिये। बाहरी वस्त्र, चमड़े आदि ऐसे पदार्थ का होना चाहिये जिससे शरीर पर **वायु का प्रभाव न पड़** सके। **व्यायाम** द्वारा हाथ पैर, अंगुलियो आदि के रक्तप्रवाह को मदद करना चाहिये। पैरो को अधिक समय तक **लटका कर नहीं** रखना चाहिये और अधिक समय तक एक

आसन में नहीं रहना चाहिये। त्वचा को स्वच्छ रखना तथा **पौष्टिक आहार** प्रयोग करना चाहिये। शीतल वायु, गीली मिट्टी तथा गीले स्थान से बचना चाहिये।

वर्गीकरण :—शीत के प्रभाव से मुख्यतः तीन प्रकार के रोग होते हैं:—

(क) **खातपाद** (Trenchfoot)–प्रथम महायुद्ध मे सैनिकों को पृथ्वी मे गढ़े खोद कर उनमे अनेक काल पर्यन्त खड़े रहना पड़ता था। इन गढ़ो में जल संचय हो जाता था तथा मिट्टी गीली हो जाती थी। परिणामस्वरूप सैनिको को खातपाद हो जाता था। यह रोग शरीर के किसी भाग को अधिक समय तक ठंडे पानी मे या गीली मिट्टी मे डुबाकर रखने से उत्पन्न होता है।

लक्षण :—रोग की अवस्था के अनुसार **विकृत शाखा** श्वेत या श्याम वर्ण, शीतल तथा **संज्ञाहीन** (Anaesthetic) होती हैं। कुछ समय पश्चात् शाखा मे अत्यन्त **जलन** होने लगती है। शाखा उष्ण हो जाती है और उसमे तीव्र **पीड़ा** होती है। नाड़ी स्पन्दन (Pulsation) मे कमी हो जाती है। अन्त मे विकृत शाखा गरम, रक्तवर्ण तथा शोफयुक्त (Swollen) हो जाती है। शाखा पर फफोले (Blisters) निकल आते है। शाखा पर कर्दम (Gangrene), निलाछन (Ecchymosis) तथा रक्त-स्राव हो जाता है। द्वितीयक उपसर्ग के कारण अधस्त्वक् शोथ (Cellulitis) लहवाहिनी शोथ (Lymphangitis) आदि उपद्रव होते है।

चिकित्सा :—रोग की सपूर्ण अवधि पर्यन्त **विश्राम** करना चाहिये। विकृत शाखा को भिगाना या जल मे डुबाना नहीं चाहिये। शीतल वायु द्वारा उसे **शनैः शनैः गरम करना** चाहिये। शाखा को आघात तथा द्वितीयक उपसर्ग (Secondary inf) से बचाना चाहिये। **मालिश, वर्फ, सेंक आदि नही करना चाहिये**। शैय्याव्रण (Bedsore) उत्पन्न होने वाले स्थानो पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। तकियो द्वारा इन स्थानो पर दबाव कम करना चाहिये। आवश्यकतानुसार **द्वितीयक उपसर्ग** होने पर पेनिसिलीन (P.) आदि का प्रयोग करना चाहिये। शोफ कम करने के लिये **शाखा को ऊँचा रखना** चाहिये। रोगमुक्त हो जाने पर व्यायाम की सहायता से विकृत शाखा के रक्त प्रवाह को बढ़ाना चाहिये।

(ख) **हिमदग्ध** (Frost bite) :— अत्यधिक शीत के कारण तंतुओं (Tissues) मे **वर्फ जम** जाने से उत्तान (Superficial) तंतुओं में

विकृति हो जाती है। रोग की अवस्था के अनुसार प्रारम्भ में केवल तन्तुओं में बर्फ जमती है, तत्पश्चात् बर्फ जमने के साथ-साथ विकृत स्थान पर **फफोले** (Blisters) पड़ जाते हैं और अन्तिम अवस्था में त्वचा तथा तन्तुओं की **मृत्यु** हो जाती है।

लक्षण :—रोग के **प्रारम्भ** में विकृत स्थान में **संज्ञानाश** (Numbness), खुजली, सूई चुभना आदि लक्षण होते हैं। रोग गम्भीर होने पर विकृत स्थान **कड़ा** हो जाता है और उसमें संज्ञापरिवर्तन (Paresthesia) हो जाता है। **बर्फ के घुलते समय** विकृत स्थान में जलन होती है तथा दबाने से उसमें पीड़ा होती है। त्वचा **श्वेत** या पीतवर्ण तथा कड़ी हो जाती है। उस पर फफोले पड़ते हैं और कर्दम (Gangrene), द्वितीयक उपसर्ग (Secondary infection) आदि उपद्रव होते है।

चिकित्सा :—विकृत भाग को आघात, उपसर्ग (Ifn:) आदि से बचाना चाहिये। उस पर मालिश नहीं करना चाहिये और उसको सेकना या बर्फसे ठंडा नही करना चाहिए। जिस समय बरफ गलने लगती है और प्रतिक्रियात्मक रक्ताधिक्य (Reactive hyperemia) प्रारम्भ होता है उस समय चिकत्सा प्रारम्भ करना सर्वोत्तम है। रोग की **साधारण अवस्था** में विकृत भाग को कक्षा (Axilla), वंक्षण (Groin) या उदर पर रख कर गर्म करना चाहिये। **गम्भीर अवस्था** में विकृत भाग को ठण्डा रखने से अधिक सुख मिलता है। इसके लिये विकृत अंग में वायु लगने देना चाहिये। पंखे का प्रयोग भी कर सकते है। फफोले (Blisters) आदि के कारण अधिक पीड़ा होने पर विकृत भाग को ठण्डे पानी में डुबाने या पंखा झलने से सुख मिलता है। विकृत स्थ न में **घनास्रता** (Thrombosis) न हो इसके लिये हेपरिन सोडियम (Heparin sodium) का इन्जेक्शन लगा सकते है। उपसर्ग (Ifn) के लिये पेनिसिलीन (P.) तथा तृणाणुनाशक (Antibiotic) औषधियों का प्रयोग कर सकते हैं। विकृत स्थान पर कर्दम (Gangrene) अत्यन्त उत्तान होता है इसलिये अभ्युच्छेदन (Amputation) करने में शीघ्रता नही करनी चाहिये स्वतन्त्र वातनाड़ी उच्छेदन (Sympathectomy) का परिणाम निराशाप्रद है। रोगमुक्त हो जाने पर व्यायाम द्वारा विकृत स्थान के रक्तप्रवाह को मदद देना चाहिये।

(ग) **बिवाई** (Chilblains) :—शीत के कारण यह विकृति प्रायः

शाखाओं की त्वचा में होती है। विकृत स्थान मे **बर्फ नहीं जमती। त्वचा रक्तवर्ण** हो जाती है तथा उसमे **खुजली** होती है। उस पर **शोफ** हो सकता है और **फफोले** पड़ सकते हैं। विकृत स्थान को सेकने से रोग की वृद्धि होती है। अवस्था जीर्ण हो जाने पर विकृत स्थान मे रक्तस्राव, व्रण (Ulcer), तंतूत्कर्ष (Fibrosis) आदि उपद्रव होते है।

चिकित्सा :—विकृत स्थान को ऊँचा उठा कर **शनैः शनैः गर्म** होने देना चाहिये। बर्फ, सेंक तथा मालिश नहीं करना चाहिये। विकृत भाग को आघात तथा उपसर्ग (Ifn:) से बचना चाहिये।

(आ) उष्णता जन्य रोग

परिचय :—जिस प्रकार शीत के प्रभाव से रक्त वाहिनियो का सकोच (Vaso constriction) होता है उसके विपरीत **गर्मी** के प्रभाव से रक्त-**वाहिनियों का विस्तार** (Vaso-dilatation) होता है। इस विस्फार के कारण त्वचा के रक्तप्रवाह मे वृद्धि होती है और अधिक **पसीना** होता है। पसीने से **जल तथा** लवण (Nacl) का परित्याग होता है। अधिक गर्मी मे शारीरिक परिश्रम करने से प्र० घ० ६–८ पा० जल का परित्याग होता है और पसीने मे लवण की मात्रा ½ प्र० श० तक पहुँच जाती है। गर्मी मे पसीने का बन्द होना अत्यन्त अनिष्टकारी लक्षण है और भविष्य मे गर्मी के कुप्रभाव का सूचक है। शरीर मे जल की कमी होने पर हृदय को अधिक परिश्रम करना पडता है, रक्तप्रवाह मे गड़बडी होती है और रोगी को खड़े होने पर मूर्छा (Syncope) आ जाती है। १०–१२ दिन गर्मी मे रहने के पश्चात् रोगी को अभ्यास हो जाता है परन्तु शरीर मे जल, नमक तथा भोजन की कमी होने से, निद्रा न आने से, अधिक परिश्रम करने से, मद्यपान से तथा उपसर्ग (Ifn:) होने से यह अभ्यास नष्ट हो जाता है और गर्मी के कुपरिणाम उदय होने लगते है। गर्मी के प्रभाव से पसीना बन्द हो जाता है और रक्तप्रवाह के निपात (Circulatory failure) के लक्षण होते है।

प्रतिषेध :—गर्मी के कुपरिणाम से बचने के लिये यथासम्भव गर्मी से बचना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तब पौष्टिक पदार्थ, लवण तथा जल का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिये। आम का पन्ना तथा कच्चे प्याज का विशेष महत्व है। धूप मे निकलने के पहले थोड़ा नमक खा कर जल पी लेना चाहिये। वस्त्र ढीला तथा श्वेत होना उत्तम है। परिश्रम, मद्यपान तथा उप-

सर्ग (Inf:) से बचना चाहिये। रात्रि मे जागना नहीं चाहिये। गर्म स्थान मे रहने का अभ्यास हो जाने के पश्चात् शनैः शनैः परिश्रम में वृद्धि करना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु में अनेक बार स्नान करना चाहिये तथा दोपहर को ठंडी जगह विश्राम करना चाहिये। कब्ज न हो इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

वर्गीकरण-(क) ताप क्षीणता (Heat-exhaustion) :—

परिचय:—अधिक समय तक गर्म स्थान में रहने से शरीर में **जल** तथा **लवण** की कमी होने पर यह विकृति होती है। परिसरीय रक्तप्रवाह (Peripheral circulation) का निपात होने के कारण कमजोरी मालूम पड़ती है, चक्कर आता है, मानसिक भ्रम (Confusion) तथा अपूर्ण संन्यास (Stupor) हो सकता है। शिरःशूल, शीघ्रहृदयता (Tachycardia), ऐंठन (Cramps), मूत्राल्पता (Oliguria), असामंजस्य (Incoordination) आदि लक्षण होते हैं। रक्त परीक्षा में लवण मे कमी एव **लालकण** (R.B.C.) तथा **शोणवर्तुलि** (Hb.) **में वृद्धि** होती है। प्रारम्भ मे अधिक पसीना होता है और त्वचा शीतल तथा श्वेत प्रतीत होती है, पश्चात् पसीने में कमी हो जाती है। वमन, पतले दस्त क्षुधानाश, अजीर्ण आदि लक्षण होते हैं। यकृत की वृद्धि तथा शरीर के भार मे कमी होती है।

चिकित्सा :—रोगी को शीतल स्थान मे रख कर **लवण** तथा **जल** पीने को देना चाहिये। समबल लवण जल (N. Saline) पा० २–४ सिरा मार्ग (I. V.) से प्रवेश करा सकते हैं। पैर ऊँचे कर **मालिश** करना चाहिये और निपात (Collapse) की यथोचित चिकित्सा करना चाहिये। इसके लिये एड्रीनलीन, (Adrenalin), पिट्यूटरीन (Pituitrin), ग्लूकोस (Glucose), क्षार (Alkali) आदि का प्रयोग कर सकते हैं। लवण जल मुख (०·१प्र०श०), सिरा (०·६प्र०श०) तथा गुदा मार्ग से प्रयोग कर सकते हैं। इस अवस्था को उष्णता जन्य स्तब्धता (Heat shock) भी कहते हैं। **इसमें ज्वर नहीं होता** और **निपात** (Shock) की प्रधानता रहती है। लवण की कमी के कारण ऐंठन (Cramps) होती है। लवण देने से इस लक्षण का शमन होता है।

(ख) अंशुघात (Sunstroke)

परिचय :—इस अवस्था को लू लगना भी कहते है। यह विकृति अधिक

गर्मी के कारण होती है। **प्रारम्भिक अवस्था** मे चेहरा तथा नेत्रकला (Conj:) रक्त वर्ण होते हैं, कनीनिकायें (Pupils) संकुचित रहती है, प्रकाश से कष्ट होता है, मूत्रोत्सर्ग की संख्या बढ़ जाती है, अत्यधिक प्यास लगती है, त्वचा शुष्क तथा गर्म होती है, सिर मे दर्द तथा चक्कर आता है और रोगी को वक्ष अन्दर से कसा प्रतीत होता है। जी मिचलाता है। शीघ्र ही **प्रक्षोभ (Irritation) की अवस्था** प्रारम्भ होती है। इसमे अकस्मात् **ताप की वृद्धि** होती है और ताप १०४° से ११०° फा० तक पहुँच जाता है। गुदा का ताप ११२° फा० तक हो जाता है। अकस्मात् मूर्च्छा होती है। **ताप नियन्त्रण केन्द्र** (Heat regulating center) के निपात (Failure) के कारण **पसीना बंद हो जाता है** और परमज्वर (Hyperpyrexia) होता है। रक्त मे जल तथा लवण की मात्रा प्राकृत रह सकती है। इस अवस्था मे **मूत्र की मात्रा** कम हो जाती है और उसमे शुक्लि (Alb) मिल सकता है। जानुसंधि क्षेप (Knee jerk) मे कमी हो जाती है या वह नास्त्यात्मक (–) हो जाता है। सिर मे अत्यन्त पीड़ा, प्रलाप (Delirium) तथा प्रक्षोभ (Excitement) होता है। नाड़ी कमजोर हो जाती है और उसकी गति तीव्र तथा अनियमित हो जाती है रोग की **अन्तिम अवस्था** मे संन्यास (Coma) हो जाता है। स्वच्छमंडल क्षेप (Cornel reflex) नष्ट हो जाता है। श्वसन तीव्र या चेनस्टोक हो जाता है। आकृति नीली तथा हृदयातिपात (Ht-failure) के कारण त्वचा गीली प्रतीत होती है।

प्रकार :—इस रोग के **तीन प्रकार** माने गये है:—(१) **हृदयजन्य** (Cardiac) :— हृदय प्रदेश (Precordium) मे **पीड़ा** होती है तथा नाड़ी कमोजोर हो जाती है (२) **फुफ्फुसजन्य** (Pulmonary) :— चेहरा नीला (Cyanosis) होता है। फुफ्फुस मे रक्ताधिक्य (Congestion) तथा शाफ (Oedema) के कारण आर्द्र कर्कराहट (Crepitant rales) मिलते हैं तथा श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) होता है। (३) **मस्तिष्कजन्य** (Cerebral) :—मानसिक लक्षणो की प्रधानता रहती है। प्रलाप (delirium), सन्यास (Coma), आक्षेप (convulsions) आदि लक्षण होते है। आत्मघात या दूसरे को मारने की प्रवृत्ति होती है।

चिकित्सा :—शीघ्रता से ज्वर कम करना आवश्यक है। इसके लिये जलचिकित्सा (पृ. ३७) करनी चाहिये। ज्वर का वास्तविक ज्ञान गुदा या योनि के ताप से संभव है। निपात (Collapse) रहने पर कैम्फर इन इथर (Camphor in ether), केफीन (Caffeine), कोरामीन (Coramine) आदि **उत्तेजक औषधियाँ** (प. पृ. ७४) मुख तथा इंजेक्शन द्वारा प्रयोग करना चाहिये। अंशुघात मे स्ट्रिकनीन (Strychnine) का प्रयोग वर्जित है। इससे आक्षेप (Convulsions) होने की संभावना रहती है। शामक औषधियाँ (Sedatives) भी नहीं देना चाहिये। इससे ताप नियंत्रण की क्रिया (Heat regulating mechanism) मे गड़बड़ी होती है। शरीर मे **जल, लवण तथा क्षार** (Alkali) की कमी होती है इसलिये रोगी को लवण घोल (०·१–०·२५ प्र.श.) पिलाना चाहिये। आम का पन्ना दे सकते है। **यदि रोगी जल न पी सके** या सांकोचिक रक्त निपीड़ (Systolic B.P.) १०० मि. मी. पा. से कम हो या मूत्र की मात्रा कम हो, रक्तकण (RBC) तथा शोणवर्तुलि (Hb) की मात्रा प्राकृत से अधिक हो या जलाल्पता (Dehydration) के अन्य लक्षण मिलते हो तब सिरामार्ग (I. V.) से समबल लवण जल (N.Saline) पा. १–२ शनैः शनैः सावधानीपूर्वक प्रवेश कर सकते हैं। लवण जल का ताप ६०° फा. होना चाहिये। इस क्रिया के करने के पूर्व हृदय की अवस्था पर ध्यान देना आवश्यक है अन्यथा यदि जल प्रवेश करने पर रक्त निपीड (B.P.) की वृद्धि न हुई तब फौफ्फुसीयशोफ (Pulmonary oedema) से रोगी की मृत्यु हो सकती है। मूत्र मे कमी रहने पर क्षारीय लवण जल (यो. ६५) भी सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते है। गुदा द्वारा भी क्षारीय लवण घोल (यो. ६५) शनैः शनैः दे सकते हैं। सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे. ३० प्रति तीन घंटे पर मुख द्वारा, लवण या शर्करा के साथ मिलाकर देना चाहिये। इससे अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की संभावना नहीं रहती। **मुख से पानी पी सकने** पर रोगी को मुख द्वारा बराबर जल देते रहना चाहिये। श्यावता (Cyanosis) होने पर या ग्रीवा की सिराओं मे रक्ताधिक्य (Congestion) होने पर या आक्षेप (Convulsions) होने पर सावधानी पूर्वक **सिरावेध** (V. S.) द्वारा रक्त निकाल देने से लाभ होता है। शीर्षान्तरीय निपीड़ (Intra cranial tension) की

वृद्धि के लक्षण मिलने पर **कटिवेध (L. P.)** द्वारा करीब २० सी. सी. ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) निकाल देना चाहिये। श्वसन का निपात होने पर कृत्रिमश्वसन (Artificial respiration) करना चाहिये। चेहरे तथा वक्ष पर शीतल जल छिड़कना चाहिये तथा जिह्वा को बार-बार, अन्दर, बाहर खींचना चाहिये।

रोगमुक्त हो जाने पर रोगी को गर्म स्थान से बचना चाहिये क्योंकि रोगी को सरलता से लू लगने की सम्भावना अनेक काल पर्यन्त रहती है। मद्य का प्रयोग बन्द कर देना चाहिये और मस्तिष्कीय स्तब्धता (Concussion) के रोगी के समान ही उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

(ग) उष्णता जन्य ऐंठन (Heat cramps)

परिचय :—अनेक काल पर्यन्त गर्मी मे रहने के कारण शरीर मे **जल तथा लवण की कमी** हो जाने से ऐच्छिक पेशियो (Voluntary muscles) मे पीड़ाकर ऐंठन (Spasm) होने लगती है। शरीर का **ताप** प्रायः प्राकृत या उससे कुछ अधिक रहता है। पेशियो मे चमक (Twitching) होती है। त्वचा गीली तथा शीतल रहती है। रक्त परीक्षा मे लसिका में सोडियम (Serum Na) की मात्रा कम होती है और जल की कमी के कारण रक्तकण (RBC), शोणवर्तुलि (Hb) आदि की मात्रा अधिक हो जाती है।

चिकित्सा :—रोगी को शीतल स्थान मे विश्राम करना चाहिये। उसकी पीड़ाकर पेशियो (Muscles) को धीरे-धीरे **मालिश** करना चाहिये। अधिक मात्रा मे **जल** पीने को देना चाहिये और मुख द्वारा प्रति आध घण्टे या एक घण्टे पर **लवण** १०–१५ ग्रे० देना चाहिये। सिरा मार्ग (I. V.) से भी समबल लवण जल (N.saline) पा० २ तक दे सकते है।

(घ) दग्ध व्रण (Burns)

गर्मी के प्रत्यक्ष प्रभाव से शरीर के तन्तुओ पर आघात होता है। आघात के कारण जले हुये स्थान से रक्तरस (Plasma) बहने लगता है और शरीर मे **प्रोटीन की कमी** (Hypo:proteinemia) हो जाती है। शरीर से रक्तरस (Plasma) निकल जाने से रक्त की मात्रा में कमी होती है, रक्त अधिक **गाढ़ा** हो जाता है, रक्तप्रवाह मे कमी होती है, हृदय से निकलने वाले रक्त की मात्रा कम हो जाती है, **रक्तकण** (R. B. C.)

तथा श्वेतकण (W.B.C.) की संख्या प्र० मि० मी० अधिक हो जाती है, **शोणवर्तुलि** (Hb) प्र० श० तथा रक्त में अ० प्रो० भू० (N.P.N.) की वृद्धि होती है और मूत्राल्पता (Oliguria) होती है। जले हुए स्थान मे जब तक कणिकाभवन (Granulation) रहता है तब तक शरीर से रक्तरस (Plasma) निकलता है और प्रोटीन (Ptn) की कमी होती रहती है। प्रोटोन की कमी के कारण व्रण के रोपण (Heal) मे देरी होती है। जलने के समय रक्तकण (R.B.C.) नष्ट होने के कारण **रक्ताल्पता** (Anaemia) होती है परन्तु रक्त के उस समय गाढ़ा रहने के कारण इस रक्ताल्पता का ज्ञान नही होता। **पाँच-सात दिन पश्चात्** जब रक्त पतला होने लगता है तब इस रक्ताल्पता का स्पष्ट ज्ञान होता है और रोगी पाण्डुवर्ण प्रतीत होता है। जले हुये स्थान मे **द्वितीयक उपसर्ग** (Secondary ifn:) होने की अधिक सम्भावना रहती है। बाल्यावस्था मे शरीर की त्वचा के १० प्र० श० भाग और युवावस्था में २० प्र० श० भाग जल जाने से मृत्यु की अधिक सम्भावना रहती है। उत्तान सावेदनिक वातनाड़ियो (Superficial sensory nerves) मे आघात होने के कारण जलनेके समय रोगी को **स्तब्धता** (Shock) होती है। जलने के कुछ समय पश्चात् प्रथम ४८ घटे के अन्दर शरीर से रक्तरस (Plasma) निकल जाने के कारण पुनः स्तब्धता (Shock) के लक्षण होते हैं। तत्पश्चात् प्रायः तीसरे दिन **विषमयता** (Toxaemia) तथा पूयोत्पत्ति (Sepsis) के कारण **ज्वर** होता है। उसके बाद जला हुआ स्थान शनैः शनैः ठीक होने लगता है। रोगी की मृत्यु प्रायः स्तब्धता (Shock) या उपसर्ग (Ifn) के कारण होती है। रोग की गम्भीरता जानने के लिये निम्न विषयो पर ध्यान देना चाहिये। सर्वप्रथम शरीर का कितना भाग जला है। शरीर का २ प्र० श० भाग से अधिक जलने पर रोगी की अवस्था गम्भीर समझी जाती है और ३० प्र० श० से अधिक होने पर मृत्यु निश्चित् है। सम्पूर्ण शरीर को निम्न भागो मे विभाजित किया जाता है :—

(क) शिर ६ प्र० श०।

(ख) दोनो ऊर्ध्व शाखा १८ प्र० श० (बाहु, पूर्व बाहु, हस्त, प्रत्येक ३ प्र० श०)।

(ग) दोनों अधो शाखा ३८ प्र० श० [प्रत्येक उरू (Thigh) ६

प्र०श० जंघा (Legs) ७ प्र० श०, पाद (Feet) ३ प्र०श० ।

(घ) धड़ (Trunk) के सामने का भाग १८ प्र० श० } सम्पूर्ण धड़

(ङ) " " के पीछे का भाग २० प्र० श० } ३८ प्र० श० ।

संपूर्ण शरीर १०० प्र० श० ।

स्तब्धता (Shock), जलाल्पता (Dehydration) आदि के कारण रोगी की अवस्था, उपसर्ग (Ifn) की प्रकृति तथा जलने के स्थान पर भी रोगी का भविष्य निर्भर करता है। सधियो (Jts) आदि मे विकृति होने से व्यंगता (Crippling) की सम्भावना रहती है । अधिक समय तक गर्म वस्तु का सम्पर्क रहने से तथा हड्डियो के टूटने से रोग की गम्भीरता बढ़ती है । शरीर के उत्तान (Superficial) भाग की अपेक्षा आन्तरिक (Deep) भाग नष्ट होने पर घाव भरने मे अधिक समय लगता है और रोग भी गम्भीर होता है ।

चिकित्सा :—इस रोग की स्थानिक चिकित्सा मे इतना मतभेद है कि अन्त में हम पुरानी चिकित्सा को ही उपयुक्त समझते है जो हम आज से १५ वर्ष पूर्व करते थे । साधारण चिकित्सा मे अवश्य प्रगति हुई है और हमको उससे लाभ उठाना चाहिए । इस रोग की **चिकित्सा के उद्देश्य तीन हैं,** रोगी का जीवित रहता, विकृति भाग का कार्यशील रहना तथा रोगी के शरीर को कुरूप न होने देना । इस ध्येय की पूर्ति के लिए रोगी को चिकित्सालय मे रखना आवश्यक है । **स्तब्धता** (Shock) तथा **उपसर्ग** की चिकित्सा करना चाहिए, सन्धियो को यथाशीघ्र गतिशील करना चाहिए, आवश्यकतानुसार त्वक् सन्धान (Skin grafting) द्वारा कुरूपता बचाने का प्रयत्न करना चाहिए तथा वक्रता (Contracture) आदि बचाने के लिए कुशाओ (Splints) का प्रयोग करना चाहिये । चिकित्सा के प्रारम्भ मे ही रक्तकण (R.B.C.) की सख्या, शोणवर्तुलि (Hb.) की मात्रा, रोगी का रक्तनिपीड (B.P.), नाड़ी की अवस्था तथा रक्तरस मे प्रोटीन (Plasma Ptn) की मात्रा का ज्ञान आवश्यक है। ये परीक्षाये बाद मे भी बराबर करते रहना चाहिए । सर्वप्रथम **स्तब्धता** (Shock) की चिकित्सा करनी चाहिए । यह उपद्रव प्रायः जलने के ६–८ घण्टे पश्चात् उत्पन्न होता है । इसके दो कारण हैं, पीड़ा तथा **जलाल्पता** । स्तब्धता की अवस्था मे स्थानिक चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । इस समय केवल जले स्थान को

जीवाणुरहित गाज (Gauze) से ढक देना चाहिए। स्थानिक चिकित्सा स्तब्धता के पूर्व या स्तब्धता के ठीक हो जाने पर करना चाहिये। स्तब्धता से रोगी की मृत्यु हो सकती है इसलिये पीड़ा के लिए **मोरफीन** (M & A) ग्रे० १/४ पेशीमार्ग से आ० अ० प्रयोग करना चाहिये। पेथिडीन (Pethidin), फाइसेप्टोन, (Physepton) आदि मोरफीन से कम हानिकारक हैं। शरीर का ताप प्राकृत रखने के लिए गर्म पानी की बोतलें, बिजली की बत्तियाँ (Electric cradle) आदि प्रयोग करना चाहिये। अस्थिभग्न (Fracture) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिए। मुख द्वारा बराबर जल देते रहना चाहिए। यदि रक्तस्राव (Bleeding) न हुआ हो तब इस रोग मे **सम्पूर्ण रक्त** का सिरामार्ग से प्रयोग **नहीं करना** चाहिए। **रक्तरस** (Plasma) का प्रयोग उत्तम है। सिरामार्ग से तबतक रक्तरस देना चाहिये जबतक शोणवर्तुलि (Hb.) प्र० श० प्राकृत न हो जाये। इसके लिए प्रायः ६–८ पा० तक रक्तरस की आवश्यकता पड़ती है। रक्तकण (R. B. C.) यदि ५० ल० प्र० घ० मि० मी० से अधिक हो तब ५० के ऊपर प्रति १ लाख के लिए १०० सी० सी० रक्तरस की आवश्यका पड़ती है। इसी प्रकार यदि शोणवर्तुलि (Hb.) १०० प्र. श. से अधिक हो तब १०० के ऊपर प्रति दो प्र. श. के लिये १०० सी. सी. रक्तरस की आवश्यक्ता पड़ती है। यदि रक्त परीक्षा की सुविधा न हो तब रोगी के रक्तनिपीड़ (B. P.) के अनुसार रक्तरस की मात्रा निर्धारित करना चाहिये। स्तब्धता (Shock) की सपूर्ण अवधि पर्यन्त यूकार्टोन (Euc cortone) २ सी. सी. पेशीमार्ग (I.M.) से प्र. घ. प्रयोग करना चाहिए। यह औषधि उपवृक्कीय शल्कीय सत्व (Adrenal cortical ext:) है। आ. अ. प्राणवायु (O_2) का प्रयोग कर सकते हैं। जले हुए रोगी की पीड़ा कम करनेके लिये मोरफीन सर्वोत्तम है। इस रोग मे युवा तथा बालक दोनों ही मे यह औषधि प्रयोग की जा सकती है। पीड़ा कम हो जाने पर निद्रा लाने के लिये अन्य शामक औषधियाँ (Sedatives) प्रयोग कर सकते हैं जैसे ल्यूमिनल ग्रे. ½ द्वि. प्र. दि. या मेडिनल (Medinal) ग्रे. १० सोने के पूर्व। इस रोगी की परिचर्या के लिये विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। प्रति २४ घंटे का मूत्र सञ्चय करना चाहिये। **मूत्र की मात्रा** मे कमी होना गंभीरता का सूचक है। रोगी का **भोजन** पौष्टिक होना चाहिये।

उसमें **प्रोटीन** (Ptn) की मात्रा अधिक होना आवश्कक है । प्रतिदिन २½ से ३ हजार कैलोरी (C.) उत्पन्न करनेवाला भोजन होना चाहिये । भोजन मे ग्लूकोस (Glucose) तथा जीवतिक्ति ए.बी.सी.डी. (Vit:A,B,C,D) रहना चाहिये । इसके लिये शाक, शार्क मछली के यकृत का तैल, हैलिवर-औल (Haliverol), मारमाइट (Marmite) आदि का प्रयोग करना चाहिये । रोगी को प्र.दि. उतना **जल** देना चाहिये जिससे कम से कम १५०० सी. सी. मूत्र प्र. दि. हो सके । २–३ ड्रा० **लवण** भी प्र. दि. देना चाहिये । चिकित्सा के प्रारम्भ मे ही धनुर्वात (Tetanus) तथा वायुकर्दम (Gas gangrene) रोकने के लिये इन रोगो की निरोधी लसिका (Antitoxic serum) का पेशीमार्ग (I.M.) से प्रयोग करना चाहिये । उपसर्ग रोकने के लिये पेनिसिलीन (P.) का प्रयोग उत्तम है । **ए.सी.टी.एच** (ACTH) के प्रयोग से जलने की चिकित्सा मे पर्याप्त सुधार हुआ है। इसके प्रयोग से स्तब्धता (Shock), मूत्राल्पता (Oliguria), विषमयता (Toxaemia) आदि की सभावना नहीं रहती, घाव भरने मे सहायता मिलती है और कुरूपता अत्यन्त अल्प होती है । टैनिक ऐसिड (Tannic acid), सल्फा, सिल्वर नाइट्रेट ($AgNO_3$) आदि को घाव पर लगाना नही चाहिये । इनके प्रयोग से तीव्र विषाक्तता होने की अधिक संभावना रहती है ।

तीव्र विषमयता (Toxaemia) प्रायः जलने के चतुर्थ दिन प्रारम्भ होती है और अत्यन्त मारक है । इसमे ज्वर, वमन, कामला (Jaundice) आदि लक्षण होने है । **चिरकालीन विषमयता** प्रायः जलने के १० दिन पश्चात् प्रारम्भ होती है और इसके लक्षण दो सप्ताह पर्यन्त रहते हैं । ज्वर, श्वेतकणो की वृद्धि (Leucocitosis), अरति (Malaise), तीव्र नाड़ी आदि लक्षण होते हैं । इस अवस्था की **चिकित्सा** के लिये जल तथा ग्लूकोस की मात्रा बढ़ा देना चाहिये । अत्यधिक वमन होने पर नासा, गुदा तथा सिरामार्ग से पौष्टिक आहार दे सकते हैं । गर्म या शीतल जल मे सोडीबाइकार्ब मिलाकर आमाशय (St) धोना चाहिये । आ.अ. कोरामिन (Ce) का प्रयोग करना चाहिये । रक्त मे प्रोटीन की कमी रहने पर सिरामार्ग (I.V.) से रक्तरस (Plasma) या अल्प मात्रा में संपूर्ण रक्त का प्रयोग करना चाहिये । **रक्ताल्पता** (Anaemia) के लिये अल्प मात्रा मे अनेक बार संपूर्ण रक्त सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये । सम्पूर्ण रक्त २५०–३००

सी. सी. द्वि. प्र. सप्ताह कर तीन सप्ताह पर्यन्त देने से लाभ होता है। **रक्ताल्पता** प्रायः जलने के १० दिन बाद स्पष्ट प्रतीत होती है। शोणवर्तुलि (Hb.) ७० प्र. श. से कम होने पर रोगी की अवस्था गंभीर समझना चाहिये। लौह तथा यकृत सत्व (Liver ext) का प्रयोग भी करना चाहिये। कभी कभी तीव्र **अपाचीय व्रण** (Peptic ulcer) के लक्षण भी होते हैं। इसकी यथोचित चिकित्सा करनी चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा :—सर्व प्रथम जले हुए स्थान को साफ करना आवश्यक है। इस क्रिया को करने के पूर्व रोगी की पीड़ा कम करने के लिए संज्ञाहर औषधि (Anaesthetic) का प्रयोग आ० अ० कर सकते हैं। यह क्रिया स्तब्धता (Shock) की अवस्था में नहीं करना चाहिये। रोगी को संज्ञाहीन (Anaesthetize) करने के पश्चात् जले हुए स्थान को लवण जल तथा साबुन से साफ करना चाहिये। इथर (Ether) की सहायता से जले हुए स्थान पर लगे हुए वसा, तैल आदि को दूर करना चाहिये। तत्पश्चात् फफोलो को काट देना चाहिए। मरे हुए तन्तुओं (Tissues) के टुकड़ो को कैंची से अलग कर देना चाहिए तथा वस्त्र आदि गन्दे पदार्थों को दूर कर देना चाहिये। इस प्रकार जले हुए स्थान को साफ करने के पश्चात् उस पर जीवाणुरहित वेसलीन (Sterile vaseline) लगाकर गौज (Gauze) तथा रूई से ढक कर, जैकोनेट (Jaconet) से कस कर बॉध देना चाहिये। १०–१५ दिन पश्चात् इस पट्टी को बदल कर त्वक्-सन्धान (Skin grafting) करना चाहिये।

लेखक के मत से सम्पूर्ण फफोले, जो टूटे न हो उनको काटना नही चाहिए। इनको काटने से पीड़ा अधिक होती है, उपसर्ग (Inf) की संभावना रहती है और रक्तरस (Plasma) अधिक निकलता है। जले स्थान को साफ करने के लिये सीटेवलौन (Cetavlon I.C.I.) का प्रयोग कर सकते हैं। वक्रता (Deformity) को बचाने के लिये कुशा (Splints) लगाना चाहिये। शोफ (Oedema) बचाने के लिये जले हुये स्थान को ऊँचा रखना चाहिये। स्तब्धता (Shock) के समय पट्टी नहीं बदलनी चाहिए। उपसर्ग के लक्षण उत्पन्न होने पर पट्टी खोलकर पीप को कॉच-पट्टी (Slide) पर रखकर सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र (Microscope) द्वारा परीक्षा कर जीवाणु का पता लगाना चाहिये और उसकी उपयुक्त चिकित्सा

करनी चाहिये। निम्न औषधियाँ भी समय समय पर इस रोग की स्थानिक चिकित्सा मे प्रयोग की गई है :—

(१) सल्फानिलामाइड (S—nilamide) की मलहम ३ प्र० श० अकेले या प्र० ग्रा० मलहम मे पेनिसिलीन (P.) १०० युनिट मिलाकर। (२) टैनिक एसिड (Tannic acid) १० प्र० श०। (३) सिलवर नाइट्रेट ($Agno_3$) ४ प्र०श०। (४) ट्रिपलडाइ (Tripple dye)। जेनशिय वायोलेट (Gentian violet), ब्रिलियन्ट ग्रीन (Brilliant green) एक्रीलफेविन (Acriflavin), प्रत्येक १प्र०श० जल मे मिला कर अथवा। (५) जेनशियन वायोलेट (Gentian violet jelly) की मलहम।

अन्य चिकित्सा :—जलने के १½–२ वर्ष पश्चात् कुरुपता ठीक करने के लिये संधान शस्त्रकर्म (Plastic surgery) करना चाहिये। हाथ, पैर जलने पर, जले हुये अंग को लटकाने मे जल्दी नही करना चाहिये। घाव ठीक हो जाने पर प्र० दि० तेल मालिश करना चाहिये। जले स्थान मे कोण (Keloid) हो जाने पर क्ष-किरण (x-ray) द्वारा चिकित्सा शीघ्र ही प्रारम्भ करना चाहिये, तत्पश्चात् कोण को निकाल कर त्वक्संधान (Skin graft) कर देना चाहिये।

(ङ) **विद्युत जन्य स्तब्धता** (Electric shock) :—साधारणतः दो प्रकार की बिजली की धाराये (Current) होती है, **ए० सी०** (A.C.) तथा **डी० सी०** (D. C.)। डी० सी० की अपेक्षा ए० सी० अधिक हानिकर होती है। बिजली के कारण दो प्रकार की विकृति होती है, **श्वसन क्रिया का निपात** या निलयीय तंतुप्रकम्प (V.fib)। अधिक वोल्टेज (Voltage) की ए० सी० करेन्ट मे प्रथम विकृति तथा कम वोल्टेज मे द्वितीय विकृति होती है। मध्यम वोल्टेज मे दोनों विकृतियाँ मिल सकती है। स्तब्धता के कारण मनुष्य थोड़े या अधिक समय के लिये **बेहोश** हो जाता है। **श्वसन का निपात** प्रधान होने पर बेहोशी के साथ-साथ श्वसन बन्द हो जाता है, त्वचा नीली तथा शीतल हो जाती है, रक्त निपीड़ (B.P.) कम हो जाना है परंतु नाड़ी कुछ समय तक स्पर्शलभ्य रहती है। **निलय में तन्तुप्रकम्प** होने पर बेहोशी के साथ साथ हृदय के शब्द सुनाई नही पड़ते और नाड़ी भी स्पर्श नहीं की जा सकती। श्वासावरोध (Asphyxia) के साथ साथ श्वसन की गति तीव्र होकर बन्द हो जाती है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। इन

दोनो ही प्रकार की विकृतियों के पश्चात् यदि रोगी बच जाता है तब रोगी के सिर तथा पेशियो मे **पीड़ा** होती है, थकावट मालूम पड़ती है और मानसिक प्रक्षोभ (Irritability) होता है। बिजली से जले हुये स्थान पर छोटे, गोल या अण्डाकार, पीड़ारहित धब्बे पड़ जाते हैं। ये धब्बे भूरे रंग के होते हैं और इनमे शोथ (Inflammation) के लक्षण नहीं मिलते। कुछ सप्ताह तक इन धब्बों में कोई परिवर्तन नही होता, तत्पश्चात् काफी दूर तक शनैः शनैः क्लेदीभवन (Sloughing) होने लगता है। कभी-कभी आकाश की बिजली से जलने पर वृक्ष के समान काले रंग के निशान बन जाते हैं।

चिकित्सा :—रोगी को तत्काल बिजली के **तार से अलग** कर देना चाहिये। इसके लिये स्विच (Switch) बन्द करना चाहिये और यदि यह संभव न हो तब लकड़ी की सहायता से तार अलग करना चाहिये। यदि तार रोगी के शरीर से लिपट गई हो तब लकड़ी की मूठ वाली कुल्हाड़ी से तार काट देना चाहिये। रोगी को छूना खतरनाक है अतः लोहे आदि किसी धातु से रोगी को नहीं छूना चाहिये। रोगी को बिजली से पृथक करने के पश्चात तत्काल कृत्रिम श्वसन (Artificial resp) प्रारम्भ कर देना चाहिये। यह क्रिया तब तक करना चाहिये जब तक श्वसन प्राकृत न हो जाय या मृत्यु के चिन्ह स्पष्ट रूप से प्रतीत न हो। इस क्रिया के करते समय यदि सभव हो तब प्राणवायु (O_2) तथा कार्बनडाइऑक्साइड (CO_2) ५ प्र.श. का प्रयोग करते रहना चाहिये। स्तब्धता तथा तन्तुप्रकम्प (Fib) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी के खतरे से बाहर हो जाने पर उसे चिकित्सालय में भेजने की व्यवस्था करनी चाहिये। शीर्षान्तरीय निपीड़ (Intracranial tension) की वृद्धि के लक्षण होने पर कटिवेध (L. P.) द्वारा ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) निकाल देना चाहिये। जले हुए स्थान की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग मे कुछ समय पश्चात् रक्तस्राव (Secondary bleeding) तथा अकस्मात हृदय का विस्फार (Dilate) हो जाने की भी सभावना रहती है।

(च) अन्य प्रकार से जलने की चिकित्सा :—

(१) फौसफोरस (Ph) से जलना :—विज्ञान के आधुनिक विनाशकारी काल मे जब मनुष्य एक दूसरे का सामूहिक विनाश करने पर

तुला है, अपने अस्त्रो मे अनेक प्रकार के घातक पदार्थों का प्रयोग कर रहा है। इन पदार्थों मे फौसफोरस भी एक है। यह पदार्थ अंधेरे मे चमकता है और सूख जाने पर स्वयं ही इससे ज्वाला निकलने लगती है। इसलिये अंधेरे मे रोगी को रखने पर इसकी पहिचान सरलता से हो सकती है और जब तक यह पूर्ण रूप से शरीर से अलग न कर दिया जाय तब तक शरीर या वस्त्र का वह भाग जहाँ पर फौसफोरस की सभावना हो, गीला रखना चाहिये। एक सेर जल मे सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) च. ४ मिलाकर जले स्थान को बराबर धोना चाहिए तथा गीला रखना चाहिये। तत्पश्चात विकृत स्थान को तूतिया (Copper sulphate) १ प्र. श. से भिगाना चाहिये। तूतिया तथा फौस्फोरस के सयोग से कौपर फौसफाइड (Copper phosphide) नाम का लवण बनता है और अत्यन्त सूक्ष्ममात्रा मे भी फौसफोरस रहने पर उसका परित्याग किया जा सकता है। फोसफौरस को शरीर से पृथक करने के पश्चात घाव की साधारण चिकित्सा करना चाहिये।

(२) एटमबम (Atom bomb) **से जलने की चिकित्सा :—** बम गिरते समय मनुष्य को पृथ्वी पर लेट जाना चाहिये। यदि सम्भव हो तब किसी मकान या दीवार अथवा वृक्ष के पीछे बम गिरने के कुछ समय पश्चात् तक छिपे रहना चाहिये और अपने को पूर्ण रूप मे वस्त्र से ढक देना चाहिये जिससे शरीर का कोई भाग खुला न रहे और शरीर पर बम से निकली रश्मियो (Rays) का प्रभाव कम पड़े। बम के गिरने के १० सेकण्ड बाद तक इसी स्थिति मे रहना चाहिये तत्पश्चात् प्रत्येक वस्त्र को जिस पर बम की रश्मियो का प्रभाव पड़ा हो नष्ट कर देना चाहिये। इस क्रिया के करते समय यथासम्भव वस्त्र का विकृत भाग शरीर से स्पर्श नही करना चाहिये। शरीर का वह भाग जो खुला रह गया हो तथा विशेष कर नख, बाल, शरीर के छिद्रो के समीप का स्थान, कक्षा (Axilla), वक्षण (Groin) आदि को साबुन से मलकर धो देना चाहिये। इस क्रिया मे वही जल प्रयोग करना चाहिये जिस पर बम का प्रभाव न पड़ा हो। इस क्रिया को अत्यन्त सावधानी से करना चाहिये जिसमे त्वचा मे किसी प्रकार का आघात न हो। यदि स्वच्छ जल न मिल सके तब किसी भी स्वच्छ पदार्थ से जिस पर एटमबम का प्रभाव न पड़ा हो उससे शरीर पोछ डालना चाहिये। इसके लिये घास, पत्तियाँ, बालू, कागज, तौलिया आदि का प्रयोग कर सकते हैं। इसकी कोई विशिष्ट चिकित्सा

न होने के कारण लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को पूर्ण विश्राम तथा पौष्टिक आहार देना चाहिये। उसके स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना चहिये, इसके लिये जीवतिक्ति 'संपूर्ण' (Multi-vit:) तथा पौष्टिक औषधियाँ देना चाहिये। उपसर्ग की सम्भावना रहने पर तृणाणुनाशक औषधियो (Antibiotics) का प्रयोग कर सकते है। रक्त मे कमी होने पर सिरा मार्ग से सम्पूर्ण रक्त देना चाहिये।

(३) रश्मिजन्य रोग (Irradiation sickness)

परिचय :—कर्कटार्बुद (Cancer) तथा श्वेतमयता (Leukaemia) आदि की चिकित्सा मे प्रायः अनेक प्रकार की रश्मियो का प्रयोग किया जाता है जैसे क्ष-किरण (X ray), रेडियम (Radium) आदि। इन किरणो के कारण कभी-कभी रोगी को अनेक प्रकार का कष्ट होता है जैसे :—आलस्य, थकावट, कमजोरी, क्षुधानाश जीमिचलाना, वमन, आदि।

चिकित्सा :—इन उपद्रवों से बचने के लिये चिकित्सा प्रारम्भ करने के ½–१ घण्टा पूर्व तथा चिकित्सा के १, १½ तथा ४½ घण्टा पश्चात् ड्रामामाइन (Dramamine) १०० मि० ग्रा० प्रयोग करना चाहिये। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी को स्वास्थ्यवर्धक औषधियाँ तथा पौष्टिक आहार देना चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) के लिये सिरा मार्ग से रक्त प्रदान करना चाहिये तथा लक्षणों की चिकित्सा करनी चाहिये। शरीर मे लवण तथा जल की कमी न हो इसका विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। इस रोग की विशिष्ट औषधि **पाइरीडोक्सीन** (Vit : B_6) है। यह औषधि सिरा मार्ग (I.V.) से ५०–१०० मि० ग्रा० ए० या० द्वि० प्र० दि० प्रयोग की जाती है। डोका (DOCA) ५ मि० ग्रा० पेशी मार्ग से द्वि० या० त्रि० प्र० दि० कर ४–५ दिन तक प्रयोग कर सकते हैं। निद्रा मे कमी होने पर, शामक (Sedative औषधि प्रयोग करना चाहिये।

विषम ज्वर (Malaria)

निदान :—यह औपसर्गिक रोग प्लासमोडियम (Plasmodium) के किसी एक प्रकार के जीवाणु के उपसर्ग से उत्पन्न होता है। यह जीवाणु प्रोटोजोआ (Protozoa) का एक प्रकार है। विषम ज्वर का निदान तीन प्रकार से किया जाता है :—

(क) लक्षणों के अनुसार :—स्थानपदिक (Endemic) स्थानो मे अकारण बार बार ज्वर का आना विषम-ज्वर की सम्भावना का प्रतीक है। ऐसे किसी भी प्रकार के ज्वर मे जिसका कारण समझ मे न आता हो ५ दिन तक विषम ज्वर की विशिष्ट चिकित्सा करना चाहिये।

अघातक तृतीयक, (B. T.) तथा चतुर्थक (Quartan) मे प्रायः स्पष्ट लक्षण होते हैं जैसेः—कम्प के साथ मध्यान्ह के पूर्व नियमानुसार ताप की वृद्धि, पसीने के साथ ज्वर का कम होना, मंदगामी नाड़ी, मलावृत जिह्वा, प्लीहा तथा यकृत की वृद्धि, शीत, उष्ण, प्रस्वेद की अवस्थाओ का स्पष्ट रूप से मिलना, सिर मे दर्द, वमन, कब्ज, भूख न लगना, कामला (Jaundice), रक्ताल्पता (Anaemia), ज्वर का प्रायः ८ से १२ घण्टे रह कर उतर जाना, अघातक तृतीयक (B. T.) मे प्रति तीसरे दिन तथा चतुर्थक मे प्रति चतुर्थ दिन ज्वर का नियमपूर्वक आना इत्यादि। **घातक तृतीयक (M. T.)** मे ज्वर की तीनों अवस्थाएँ स्पष्ट नही होती। इसमें कभी कम्प, कभी उष्णता तथा कभी पसीना होता है, परन्तु रोगी को निरन्तर जाड़ा लगता रहता है और पसीने के साथ ज्वर प्राकृत नही होता। यह क्रम १०-१२ घण्टे तक चलता रहता है। ज्वर का प्रारम्भ दिन रात मे किसी समय प्रायः बिना कम्प (Rigor) के होता है। यह ज्वर प्रायः नियमपूर्वक प्रति तीसरे दिन नहीं आता। ज्वर प्रायः दो-तीन दिन बराबर बना रहता है। कभी-कभी ज्वर की प्रकृति अर्धविसर्गी (Remittent) या अन्येद्युष्क (Quotidian) भी हो सकती है। **विषमयता** (Toxaemia) की प्रधानता रहने के कारण सिर मे दर्द, वमन, शरीर मे जलन आदि लक्षण ज्वर की तीव्रता की अपेक्षा अधिक उग्र होते हैं। तापक्रम आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) के समान भी मिलता है परन्तु न्यूनतम (Minimum) तथा उच्चतम (Maximum) ताप मे आन्त्रिक ज्वर की अपेक्षा अधिक अन्तर रहता है। रक्ताल्पता (Anaemia), दौर्बल्य, पतले दस्त, कामला (Jaundice), बेहोशी, प्रलाप (Delirium), उन्माद (Mania) यकृत तथा प्लीहा की वृद्धि आदि लक्षण भी मिलते हैं।

(ख) रक्त परीक्षा :—विषम ज्वर के **जीवाणु** का मिलना रोग का निश्चित निदान है परन्तु इसके लिये अनेक बार रक्त परीक्षा करनी पड़ती है। जीवाणु का न मिलना रोग की सम्भावना को पूर्णतया दूर नहीं करता। रक्त-

परीक्षा के पूर्व रोगी को विषम ज्वर की विशिष्ट औषधि देने से जीवाणु के मिलने की सम्भावना नहीं रहती। विषम ज्वरके जीवाणु की खोजके लिये तनु-प्रलेप (Thin slide), स्थूल प्रलेप (Thick slide) तथा सन्द्रेन्द्रण पद्धति (Concentration method), तीनों प्रकार से रक्त की परीक्षा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त रक्तपरीक्षा मे **श्वेतकणों की कमी** (Leucopenia) तथा **बृहत एककायाणु** (Large mono:) की **वृद्धि** मिलती है। **उपवर्णिक रक्ताल्पता** (Hypo chromicanaemia) के प्रमाण भी मिलते हैं। बृहत एककायाणु मे रागक (Pig) भी मिलते हैं।

(ग) विषम ज्वर की संभावना रहने पर यदि **कीनीन** (Q) देने से विशेष हानि की सभावना न हो तब इस औषधि का ५ दिन प्रयोग कर देखना चाहिये। इसको औपशायिक कसौटी (Therapeutic test) कहते हैं। किसी भी प्रकार के विषमज्वर का ५ दिन कीनीन देने से अच्छा होना अनिवार्य है। इस प्रकार भी राग का निदान संभव है।

चिकित्सा (क) **प्रतिषेध** (Prophy) :—इस रोग से बचने के लिये तीन प्रकार की व्यवस्था की जा सकती है (१) **मच्छर के विरुद्ध** :—प्रत्येक साधन से मच्छर की उत्पत्ति तथा उसका मनुष्य से सम्पर्क रोकना चाहिये। मच्छरों की उत्पत्ति के स्थानों मे यथासम्भव जल संचित होने नही देना चाहिये। ध्यान मे रखना आवश्यक है कि एनोफिलीस (Anopheles) प्रकार के कुछ ही मच्छर है जो इस रोग को फैला सकते हैं। इसलिये सर्व प्रथम पता लगाना चाहिये कि किन-किन स्थानो मे मलेरिया फैलाने वाले मच्छर उत्पन्न हो रहे हैं। इस क्रिया को विषम ज्वर परिमार्गण (Malaria survey) कहते हैं। जिन जलाशयो मे ये मच्छर उत्पन्न होते है उन जलाशयों का जल निकाल देना चाहिये। यदि यह संभव न हो तब उन स्थानो मे मच्छर के अण्डे तथा इल्लियो (Larva) को नाश करने वाली औषधियाँ डालनी चाहिये जैसे, मट्टी का तेल (Crude oil) २ प्र. श., डी. डी. टी., (D.D.T.), पैरिस ग्रीन (Paris green) १–५ प्र.श., मलेरिओल (Malariol) इत्यादि। कवई आदि कुछ विशेष प्रकार की मछलियो को भी जलाशय मे छोड़ा जाता है। ये मछलियाँ मच्छरों के अण्डे तथा इल्लियो को खा जाती है। यथासम्भव नये जलाशयो के निर्माण पर भी प्रतिबन्ध लगाना चाहिये और जो भी नये जलाशय बनाये

जाये उनके जल को समय समय पर बदलने का प्रबन्ध होना चाहिये। मच्छरो को मारने के लिये घरों मे द्वि. प्र. मा. डी. डी. टी का छिड़काव (Spary) करना चाहिये। इस कार्य के लिये मिट्टी के तेल ४ गैलन मे डी. डी. टी. ग्रे. १ मिलाना चाहिये। यह कार्य मशकगण अनुधावी (Mosquito brigade) के द्वारा किया जाता है। बडे बडे जलाशयो तथा धान के खेतो में डी. डी. टी. छिडकने के लिये वायुयान का भी प्रयोग किया जाता है। दिन मे मच्छर प्रायः छोटी छोटी झाड़ियो या अन्धेरे और शीतल स्थानों मे शरण लेते है। इन झाड़ियो को नष्ट करना या इन पर डी. डी. टी. छिड़कना चाहिये। मच्छरों को नष्ट करने के पिंजरे (Traps) भी मिलते हैं। मच्छरो की प्रत्येक अवस्था को डी. डी. टी. नष्ट करती है। डी. डी. टी. के अतिरिक्त पायरेथ्रम (Pyrethrum) ५ प्र. श., गामेक्सीन (Gammexine) आदि का भी प्रयोग किया जाता है। (२) **मनुष्य** को मच्छर के सम्पर्क से बचाना चाहिये। जनता मे इस रोग के विषय का ज्ञान फैलाना चाहिये। इस प्रकार का **प्रचारकार्य** अत्यन्त आवश्यक है और यह कार्य स्कूल के बालको से ही प्रारम्भ होना चाहिये। जनता का स्वास्थ्य तथा उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने से भी रोगक्षमता (Immunity) बढती है। प्रत्येक मनुष्य को मच्छरो से बचने के लिये मसहरी मे सोने का अभ्यास करना चाहिये। पखे के प्रयोग से, शरीर मे सिट्रोनीला का तेल (Ol citronella) या माइलोल (Mylol 'Bo') लगाने से भी मच्छर भागते है। ऊपर की मजिल मे सोना अच्छा है क्योंकि ऊँचे स्थानो मे मच्छर कम पहुँच पाते हैं। जलाशयो से दूर निवास करना चाहिये। मलेरिया से पीडित स्थानों में उन ऋतुओ मे न जाना चाहिये जब मलेरिया का प्रकोप अधिक रहता है और यदि उन स्थानों मे जाना आवश्यक हो तब दिन ही मे यात्रा करनी चाहिये। इन स्थानो मे रात्रि मे नहीं रहना चाहिये। मकानो की खिड़कियों तथा दरवाजो मे महीन जाली लगाना चाहिये। वर्षाऋतु आदि मे जब इस रोग के मरक की संभावना रहती है तब मलेरिया से बचाने वाली औषधियों का प्रयोग करना चाहिये जैसे :—(क) **मेपाक्रीन** (Mepacrine, atebrin quinacrine) की ग्रा. ०·१ की एक गोली रात्रि मे सोते समय सप्ताह मे ६ दिन लेने से प्रत्येक प्रकार का मलेरिया दबा रहता है, परन्तु औषधि बन्द करने पर ज्वर का पुनरागमन होता है। इस विधि को संन्नि-

रोधी (Suppressive) चिकित्सा कहते हैं। (ख) **क्लोरोक्वीन** (Chloroquine diphosphate nivaquin M. B, Resochin 'Br') की ग्रा. ०·१५ की ३ गोली प्रति सप्ताह दी जाती है। (ग) **क्वीनीन** (Q) ग्रे. ५ ए. या द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। (घ) **पैलुड्रीन** (Paludrin) ग्रा. ०·१ की १ गो. प्र. दि. या द्वि. प्र. स. या ग्रा. ०·३ की गो. १ प्र. स. दी जाती है। (ङ) **प्लास्मोक्वीन** (Plasmoquine) अत्यधिक विषाक्त है और इस कार्य के लिये प्रयोग नहीं करना चाहिये। पामाक्वीन (Pamaquin) ग्रैं. $\frac{1}{6}$–$\frac{1}{3}$ प्र. दि. दी जाती है।

(३) **विषम ज्वर के जीवाणु** (M.P.) नष्ट करने के लिये तथा उनका स्वस्थ मनुष्यके शरीरमे प्रवेश रोकनेके लिये रोगी तथा संवाहक (Carriers) को पृथक कर मसहरीमे सुलाना चाहिये। औषधि द्वारा इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये तथा इनके शरीर मे जीवाणुओ का नाश करना चाहिये। इसके लिये **पामाक्वीन** (Pamaquine), **पैलूड्रीन** (Paludrin) तथा **प्लास्मोक्वीन** (Plasmoquine) का प्रयोग करना चाहिये। विषम ज्वर से पीड़ित जनसमुदाय मे रोग की स्थिति जानने के लिये बालको की प्लीहावृद्धि का पता लगाया जाता है। इसको **प्लैहिक देषणा** (Splenic index) कहते है। इसी प्रकार मलेरिया के जीवाणु का प्रकोप समझने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की रक्त परीक्षा की जाती है, इसको **परोपजीवी देषणा** (Parasite index) कहते है। मच्छरो की लालाग्रंथि (Salivary glands) मे विषम ज्वर के जीवाणु का पता लगाया जाता है। इसको जीवाणु देशणा (Sporozoite index) कहते हैं। इन तीनो परीक्षाओं के ज्ञान से मरक की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है और पता चलता है कि शहर के किस भाग मे मलेरिया का प्रकोप अधिक है। जिस भाग मे रोग का प्रकोप अधिक हो उस भाग के लोगो को बराबर मलेरिया के जीवाणुओ को नाश करने वाली औषधियाँ देना चाहिये। इसी प्रकार जब किसी मलेरिया से आक्रान्त स्थान मे अधिक सख्या मे नवागन्तुको को कुछ मास निवास करना हो तब नवागन्तुको को बराबर ये औषधियाँ देते रहना चाहिये। इस विधि का प्रयोग विशेष कर युद्ध के समय सैनिकों मे तथा नवनिर्माण के लिये एकत्रित मजदूरो मे किया जाता है। नागरिको के आर्थिक स्तर मे उन्नति करना भी लाभप्रद है।

(ख) **चिकित्सा** :—मलेरिया के रोगी की चिकित्सा मे **क्वीनीन** (Q)

का सर्व प्रथम स्थान है। इस रोग की यह सर्वोत्तम औषधि है। उपयुक्त मात्रा में ५ दिन इस औषधि का प्रयोग करने से सब प्रकार के मलेरिया का शमन होना अनिवार्य है। विषम ज्वर की संभावना रहने पर रोग की विशिष्ट औषधि प्रारम्भ कर देनी चाहिये। औषधि प्रारम्भ करने के लिये ज्वर का प्राकृत होना आवश्यक नहीं है। रोग की साधारण अवस्था में क्वीनीन का मुख मार्ग से प्रयोग करना चाहिये। यदि वमन, सन्यास (Coma) आदि के कारण रोगी मुख से औषधि न ले सके या रोगी की अवस्था अत्यन्त गभीर हो तब पेशीमार्ग (I. M.) से इन्जेक्शन लगा सकते हैं अन्यथा इन्जेक्शन का विशेष महत्व नहीं है और यह मार्ग सर्वदा हानिकारक होता है। सिरामार्ग से इंजेक्शन अत्यन्त हानिकारक हो सकता है और यथासभव इस मार्ग का प्रयोग नही करना चाहिए। अत्यन्त गभीर अवस्था मे ही सिरामार्ग का प्रयोग करना चाहिये। **हृत्पेशीशोथ** (Myocarditis) मे क्वीनीन का इन्जेक्शन विशेषरूपसे हानिकर है। **गर्भावस्था** तथा रोगी की **प्रत्यात्मक प्रकृति** (Idiosyncrasy) मे क्वीनीन का प्रयोग निषिद्ध है। इसकी **विषाक्तता** (Cinchonism) के कारण सिर मे दर्द, चक्कर कान मे आवाज, वमन, विस्फोट (Rash), पतले दस्त, श्वास लेने मे कष्ट, आदि लक्षण होते हैं। **मध्यकर्ण** (Middle ear) **में विकृति** रहने पर रोगी बहरा हो सकता है। देखनेमे भी विकृति हो सकती है। यह औषधि प्रायः ग्रे. ६ की मात्रा मे त्रि. प्र. दि. दी जाती है। इससे अधिक मात्रा मे देने से औषधि के प्रभाव मे वृद्धि नही होती। साधारणतः ज्वर उतरते समय या चढने के पूर्व इसको देना अच्छा है। क्वीनीन की मात्रा (यो. ४) देने के एक घटा पूर्व क्षारीय घोल (यो.१) देना अच्छा है। रोग के पुनरावर्तन (Relapse) पर क्वीनीन का विशेष प्रभाव है। प्रारम्भ मे इसको **सात दिन देकर सात दिन के लिये बन्द कर देना चाहिये।** लगातार क्वीनीन देने से रोगी के शरीर में रोगक्षमता (Immunity) नहीं बन पाती और औषधि बन्द करने पर ज्वर के पुनरागमन की सभावना रहती है। रोग की तीव्र अवस्था में इसको अकेला ही देना अच्छा है। ज्वर के समय तथा ज्वर प्राकृत होने के दो दिन पश्चात तक इसको त्रि.प्र.दि. देना चाहिये, तत्पश्चात् द्वि.प्र.दि.भो.प. देना चाहिये। इस प्रकार ७ दिन औषधि देने के पश्चात् ७ दि. बन्द रखना चाहिये तत्पश्चात पुनः ७ दिन तक द्वि. प्र.दि. भो. प. औषधि देकर एक सप्ताह बन्द

कर देना चाहिये तदुपरात एक सप्ताह तक सोने के पूर्व एक बार प्र. दि. औषधि देना चाहिये। इस औषधि की गोलियों का प्रायः प्रचूषण नहीं होता और वे मल द्वारा शरीर से निकल जाती हैं। कैप्सूल में रखकर औषधि देने से उसका प्रचूषण भी होता है और औषधि का स्वाद भी प्रतीत नहीं होता। साधारणतः **क्वीनीनसल्फ** का ही प्रयोग किया जाता है परन्तु क्वीनीन बर्दास्त न होने पर **क्वीनीनहाइड्रोब्रोम** (Q. hydrobrom) देना चाहिये। क्वीनीन देने के पूर्व कैलसियम, (Cal), ब्रोमाइड तथा बेलाडोना आदि (यो. ६) देने से क्वीनीन की विषाक्तता के लक्षण होने की सभावना कम रहती है। क्वीनीन की विषाक्तता के लक्षण होने पर भी ये औषधियाँ (यो.६) दी जाती हैं। कैफीन साइट्रस (यो. २१) प्र. ४ घ. देने से विषाक्तता में कमी होती है। वमन की अवस्था मे भी क्वीनीन देना सभव है। इसके लिये क्विनीन देने के ½ घ. पूर्व एड्रीनलीन (Adrenalin) १ : १००० मि. १० मुख से देना चाहिये। क्वीनीन का दुस्वाद कम करने के लिये झागदार घोल (यो. २) प्रयोग करना चाहिये। जैतून का तेल (Ol. Olive), लिक्विड पैरफिन (Liq: paraffin), मुलहठी का तरलसत्व (Ext:glycyrrhiza liq), ग्लिसरीन (Glycerine) तथा दुग्ध आदि के साथ भी क्वीनीन देने से उसका दुस्वाद कम किया जा सकता है। क्विनीन पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग करने के पूर्व पिचकारी (Syringe) तथा सूई को अच्छी तरह उबाल कर जावाणु-रहित कर लेना चाहिये अन्यथा विद्रधि (Abscess), धनुर्वात (Tetanus) आदि उपद्रवों की सभावना रहती है। इस मार्ग का उपयोग तभी करना चाहिये जब वमन या दस्त के कारण रोगी क्विनीन को पचा न सके या रोगी बेहोश हो अथवा उसकी अवस्था अत्यन्त गंभीर हो। इस विधि से क्विनीन देने पर प्रति ८ घंटे पर तबतक इंजेक्शन लगाना पड़ता है जबतक रोगी मुख से औषधि न ले सके। मुख से औषधि ले सकने की अवस्था हो जाने पर औषधि मुख से ही देना अच्छा है। पेशीमार्ग (I.M) से इन्जेक्शन लगाने के लिये क्विनीन बाइहाइड्रोक्लोर (Q: bihydrochlor) या बाइहाइड्रोब्रोमाइड (Q. bihydrobromide) की ग्रे. ६ की २ सी. सी. की मात्रा को पहले ५ या १० सी सी. प. स. में मिला लेना चाहिये। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि मुख मार्गसे प्रायः क्विनीन की सम्पूर्ण मात्रा का प्रचूषण होता है और इंजेक्शन द्वारा प्र. दि. औषधि की उतनी ही मात्रा की आवश्यकता

पड़ती है जितना की मुख द्वारा। इसलिये प्र. ८ घंटे पर इंजेक्शन लगाना आवश्यक है अन्यथा किसी भी मात्रा मे प्र. दि.ए. बा. ही इन्जेक्शन लगाने से असफलता निश्चित है।

घातक विषमज्वर (M. T.) में तत्काल क्विनीन के प्रभाव की आवश्यकता होती है इसलिये परमज्वर (Hperpyrexia), सन्यास (Coma), मानसिक प्रकार (Cerebral) या शीताग (Algid) प्रकार के विषम ज्वर मे अथवा रक्त मे इस रोग के जीवाणु अत्यधिक संख्या मे रहने पर **सिरामार्ग** से क्वीनीन का प्रयोग करना पडता है। इस मार्ग से औषधि प्रयोग करने से उसका शीघ्रता से शरीर से परित्याग होता है इसलिये सिरामार्ग से औषधि प्रति **४ घंटे पर** देना पड़ता है। इसकी दो विधियाँ हैं:-

(१) **प्रथम विधि** :—इस विधि मे क्विनीन बाइहाइड्रक्लोर (Q. bihydrochlor) या बाइहाइड्रोब्रोम (Q. Bihydrobrom) का ग्रे. ६ का एम्पूल (Ampule) ग्लूकोस (Glucose) १२½ से २५ प्र. श. २५ सी. सी. मे मिलाकर सिरामार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः इन्जेक्शन लगाना चाहिये। औषधि की सम्पूर्ण मात्रा के इन्जेक्शन लगाने मे कम से कम ५ मिनट का समय लगना चाहिये।

(२) **द्वितीय विधि** :—इस विधि मे उपर्युक्त मात्रा को **समबल लवण जल** (N. Saline) २ पा. मे मिलाकर सिरामार्ग से ३०-४० बूँद प्र. मि. की गति से औषधि प्रवेश करते है। सम्पूर्ण मात्रा के प्रवेश कराने मे कम से कम **२-४ घंटे** समय लगना चाहिये। इस विधि से औषधि प्रयोग कराने के लिये विशेष यन्त्र (Saline apparatus) की आवश्यकता पड़ती है।

सिरामार्ग से औषधि प्रवेश कराने के पूर्व रोगी को शैय्या पर चित्त लिटा कर उसके हृदय की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिये। रक्तनिपीड (B P.) पर भी ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि क्विनीन के इन्जेक्शन से रक्तनिपीड़ के अकस्मात कम हो जाने की सम्भावना रहती है। इन्जेक्शन की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त नाड़ी देखते रहना चाहिये। **नाड़ी की गति** मे किसी प्रकार की **अनियमितता** (Irregularity) मिलने पर औषधि का प्रवेश स्थगित कर देना चाहिये। कुछ समय पश्चात नाड़ी की गति नियमित हो जाने पर पुनः औषधि का प्रवेश प्रारम्भ करना चाहिये। इन्जेक्शन प्रारम्भ

करने के पूर्व यदि हृदय की अवस्था कमजोर हो तब सिरामार्ग से औषधि प्रवेश करने के १/२ घटे पूर्व रोगी को कोरामिन (Ce.) १·७ सी. सी. या डिजिटेलीन (Digitalin) ग्रे. १।१०० तथा स्ट्रिकनीन (Strychinine) १।६० का अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से इन्जेक्शन लगाना चाहिये। आ. अ. इन औषधियों का पुनः प्रयोग कर सकते हैं। इन्जेक्शन द्वारा क्विनीन प्रयोग करने मे यदि रोगी इस औषधि को सहने मे असमर्थ हो तब मृत्यु की सम्भावना रहती है।

क्वीनीन की सूक्ष्मवेदना (Sensitiveness) **की परीक्षा** :—**रोगी** क्विनीन सह सकता है या नही इसका पता लगाने के लिये किसी तीव्र यन्त्र से बाहु (Arm) पर दो स्थानो मे अत्यन्त उत्तान, छीलना चाहिये जैसा कि मसूरिका (Small pox) मे टीका (Vaccination) लगाने के लिये किया जाता है। अब एक स्थान पर क्विनीन का १० प्र. श. घोल लगाना चाहिये तथा दूसरे स्थान पर समबल लवण जल (N. Saline) लगाना चाहिये। यदि रोगी क्विनीन बर्दाश्त न करता हो तब क्विनीन वाला स्थान लाल हो जायगा अथवा वहाँ पर शोफ (Oedema) हो जायेगा। यदि रोगी क्विनीन बर्दाश्त न कर सकता हो तब मलेरिया की अन्य औषधियाँ जैसे अटेब्रिन (Atabrin), पैलुड्रीन (Paludrine) आदि का प्रयोग करना चाहिये। गर्भावस्था मे भी क्विनीन का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

क्विनीन के अन्य योग :—(१) **यूक्वीनीन** (Euquinine, Q ethyl carbonate, aristochin 'Br') :—ये औषधियाँ कम कड़वी होने के कारण प्रायः बच्चो को दी जाती हैं। युवावस्था मे इसकी मात्रा ग्रे. १० होनी चाहिये। **एरिस्टोचीन** मे प्रायः ९६ प्र. श. क्विनीन होती है। रोगी की गम्भीर अवस्था मे इन दोनो औषधियो पर निर्भर नही किया जा सकता। ये औषधियाँ जल मे नहीं घुलतीं और अम्ल (Acid) तथा क्षारीय (Akaline) दोनो ही प्रकार की औषधियो के सम्पर्क मे ये नष्ट हो जाती है। गोंद मे मिलाकर इनका घोल (यो. ७) बनाया जा सकता है। (२) **सिनकोना फीब्रीफ्यूज** (Cinchona febrifuge) :—इस औषधि का स्वाद अत्यन्त खराब होने के कारण प्रायः यह प्रयोग नही की जाती। इसमे क्वीनीन की मात्रा प्रायः ७ प्र. श. रहती है। इसमे क्वीनीन के अतिरिक्त सिनकोना के अन्य क्षाराभ (Alkaloid) भी रहते है जैसे क्वीनीडीन

(Quinidine), सिनकोनीन (Cinchonine), सिनकोनिडीन (Cinchonidine) आदि ।

साधारण चिकित्सा :—मलेरिया की साधारण चिकित्सा 'ज्वर' के समान ही है परन्तु इस रोग की कुछ विशेषतायें हैं जिन पर चिकित्सा के समय ध्यान देना आवश्यक है । ज्वर की अवस्था मे रोगी को शैय्या पर रखना आवश्यक है । मलेरिया के रोगी को प्रायः **कब्ज** रहती है इसलिये चिकित्सा के प्रारम्भ मे जुलाब देना चाहिये । आन्त्र मलरहित रहने से मलेरिया की विशिष्ट औषधि के पचने मे सहायता मिलती है, औषधि का प्रभाव शीघ्र होता है और सिर मे दर्द, आध्मान (Tympanites) आदि उपद्रव होने की कम सम्भावना रहती है । जिह्वा मलावृत होने पर रात्रि मे कैलोमेल (यो०५३) ग्रे० २, सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ५ के साथ तथा दूसरे दिन प्रातःकाल मैगसल्फ (Mag sulph) ड्रा० ४ देना चाहिये । कब्ज रहने पर ज्वर के पुनरागमन की सम्भावना रहती है । इसलिये प्रारम्भ मे विरेचक (Purgative) देने के पश्चात् भी चिकित्सा की सपूर्ण अवधि पर्यन्त कब्ज बचाने का प्रयत्न करना चाहिये । इसके लिये क्वीनीन के योग (यो० ४) मे प्रायः थोड़ा मैगसल्फ मिला दिया जाता है । परिश्रम, चिन्ता, शल्यकर्म (Op) थकावट, समुद्र-यात्रा, शीत लगने से, भीगने आदि से भी रोग के पुनरावर्तन की संभावना रहती है इसलिये जब तक रोगी पूर्ण स्वस्थ न हो जाय ज्वर के पुनरावर्तन के इन कारणों से रोगी को बचाना चाहिये । यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि विषम ज्वर कभी-कभी अत्यन्त भयंकर रूप धारण कर सकता है और विशिष्ट औषधियो द्वारा रोगी की जान बचाई जा सकती है । इसलिये रोगी की गम्भीर अवस्था रहने पर विरेचन-क्षारीय घोल (यो०१) आदि मे समय नष्ट न कर प्रारंभ ही से रोग की विशिष्ट औषधि देना चाहिये । विषम ज्वर से पूर्णरूप से निवृत्त होने के लिये रोगी के शरीर में **रोगक्षमता** (Immunity) उत्पन्न करना आवश्यक है । विशिष्ट औषधियो से केवल लक्षणो का शमन होता है, इससे रोग निवृत्ति संभव नहीं है । विषम ज्वर मे किस प्रकार की रोगक्षमता उत्पन्न होती है यह कहना कठिन है इसलिये रोगी के **स्वास्थ्य पर** विशेष ध्यान रखना चाहिये । स्वास्थ्य का **आहार** से अत्यन्त निकट का संबन्ध है । प्रायः देखा गया है कि मलेरिया के रोगी को उपवास कराने से ज्वर शान्त होने में अधिक समय लगता है । इसलिये इस

रोग के रोगी को **पौष्टिक आहार** पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिये। ज्वर की अवधि पर्यन्त **तरल** आहार (पृ. ४) देना चाहिये। ज्वर प्राकृत हो जाने पर प्रारम्भ मे अर्धतरल (पृ. ४) तत्पश्चात ठोस आहार (पृ. ४) देना चाहिये। रोगी का आहार शनैः शनैः प्राकृत हो जाना चाहिये। इसमे विलम्ब करना ठीक नहीं है। रोगी की साधारण परिचर्या 'ज्वर' (पृ. २५६) के समान होनी चाहिये।

उपद्रवों की चिकित्सा:—विषम ज्वर के **शिरःशूल** (पृ० १४२) में निकोटिनिक एसिड (Vit:B_7) मि० ग्रा० ५० द्वि० प्र० दि० देना चाहिये। एसपिरीन (यो०६२), सिबाल्जिन (Cebalgin), सैरीडौन (Saridon) आदि गो. १ आ. अ. दे सकते हैं। वमन (पृ. २१४), आध्मान (पृ. १६१) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) के लिये लौह के योग (यो०८), क्वीनोहिमोजेन (Quinohemogen'Bi'), एडवर्डटौनिक (Edward tonic B. K. P. Co) आदि च० १ त्रि० प्र० दि० भो० प० देना चाहिये। आ० अ० यकृत सत्व (Liver ext:) प्रयोग करना चाहिये। रक्तालपता गम्भीर होने पर सिरा मार्ग से रक्त प्रदान (Blood trans) की आवश्यकता पड़ती है। मस्तिष्कीय (Cerebral) प्रकार के विषम ज्वर मे **शीर्षान्तरीय निपीड़** (Intracranial tension) की वृद्धि के लक्षण होने पर कटिवेध (L.P.) कर प्रायः २० सी. सी. ब्रह्मवारि (C. S. fluid) निकाल देना चाहिये। प्रारम्भ से ही मलेरिया की उपयुक्त चिकित्सा करने से प्रायः **प्लीहा** की अधिक वृद्धि नही हो पाती और जो भी साधारण वृद्धि होती है वह चिकित्सा के साथ-साथ ठीक हो जाती है परन्तु कभी-कभी जीर्ण विषम ज्वर मे **प्लीहा की अत्यधिक वृद्धि** हो जाती है और यह वृद्धि साधारण उपचार से कम नहीं होती। इसके लिये प्लीहा के ऊपर त्वचा मे हाइड्राजबिनआयोडाइड की मलहम (Ung:hydrag : bin : iodide) लगाने से लाभ होता है, परन्तु इस औषधि से त्वचा मे फफोले पड़ जाते हैं। एड्रीनलीन (Adrenalin) सिरा मार्ग से अत्यन्त सावधानी पूर्वक प्रयोग करने से भी प्लीहा के आकार मे कमी होती है परन्तु यह चिकित्सा निरअपवाद नहीं है। मि० ग्रा० १/१०० से प्रारम्भ कर शनैः शनैः १/९० मि० ग्रा०, मि० ग्रा० १/८०, १/६० इस प्रकार मात्रा बढ़ाते हुये मि० ग्रा० १/१० तक एड्रिनलीन द्वि० प्र० सप्ताह कर २० वार

सिरा मार्ग से प्रयोग करना चाहिये, तत्पश्चात् **क्वीनोस्टोवार्सल** (Quimo stovarsol M. B.) की २–४ गोली द्वि० प्र० दि भोजन के साथ १० दिन तक देना चाहिये ।

मूत्र मे क्विनीन की परीक्षा :—कभी-कभी यह जानने की आवश्यकता पड़ती है कि रोगी पर्याप्त मात्रा मे क्विनीन (Q) प्रयोग कर रहा है अथवा नहीं । इसके लिये दो प्रकार का घोल बनाया जाता है । (क) **प्रथम घोल** में २० सी० सी० जल मे पोटास आयोडाइड (Pot : iodide) ग्रा० ५ मिलाया जाता है (ख) **दूसरे घोल** मे ७५ सी० सी० जल मे हाइड्रार्ज पर क्लोर (Hydrarg perchlor) ग्रा० १·३ मिलाया जाता है । अन्त में दोनों घोल आपस मे मिला दिये जाते हैं । अब यदि इस घोल की कुछ बूँद रोगी के मूत्र मे मिला दी जाय तब यदि रोगी क्विनीन ले रहा है तब मूत्र में सफेद तलछट (Ppt) जम जायेगा ।

मलेरिया की अन्य औषधियाँ :—क्विनीन (Q.) के अतिरिक्त अभी तक और किसी औषधि का आविष्कार नहीं हुआ है जिस पर शतप्रतिशत निर्भर किया जा सके । जहाँ क्विनीन की एक मात्रा देने पर रक्त परीक्षा मे मलेरिया के जीवाणु (M.P.) का मिलना असम्भव हो जाता है वहाँ लेखक ने इन अन्य औषधियों को अनेक दिन प्रयोग करने के पश्चात अनेक बार रक्त परीक्षा में इन जीवाणुओं को देखा है और रोगी को ज्वर से निवृत्त करने के लिये अंत में क्विनीन की शरण लेनी पड़ी है । फिर भी इन औषधियों का मलेरिया की चिकित्सा मे अपना स्थान है । ये औषधियाँ ज्वर की अवस्था में सरलता से दी जा सकती हैं, इनकी मात्रा तथा कुछ का मूल्य भी कम होता है । कुछ औषधियों का स्वाद भी उतना खराब नहीं है और भारत मे प्रायः रोगी ज्वर की अवस्था में क्विनीन का प्रयोग करना नहीं चाहते, इस स्थिति मे इन औषधियों को सरलता से दिया जा सकता है ।

(१) क्लोरोक्वीन (Chlorquine):—यह औषधि मलेरिया तथा अं.का. धा. ना.(E.H.) जन्य यकृत विकृत मे लाभदायक है । यह औषधि सब प्रकार के विषम ज्वर पर प्रभावशाली मानी जाती है । यह अटेब्रिन (Atebrin) से कम विषाक्त है और विषम ज्वर के विभक्तों (Schizonts) पर विशेष प्रभावकारी है । इसकी प्रत्येक गोलीमे प्रायः क्लोक्वीन ग्रा. ०·१५ रहती है । **इसकी विषाक्तता** के कारण सिर में दर्द, क्षुधानाश, थकावट, खुजली, शीत–

पित्त (Urticaria), धुँधला दिखलाई देना आदि लक्षण होते हैं। ये लक्षण यदि गंभीर हों तब औषधि को बन्द कर देना चाहिये और मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल (Acid) बनाना चाहिये। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होने पर इस औषधि का शरीर से सरलता से परित्याग होता है। इसलिये रोगी को अमोनियम क्लोराइड ग्रे. १५–३० प्रति चार घंटे पर देना चाहिये। क्लोरोक्वीन के निम्न योग हैं:—

(क) निवाक्वीन (Nivaquin M. B.), रेसोचिन (Resochin'Br') आदि। प्रथम दिन एक बार में गो. २ तत्पश्चात तीन दिन तक गो. १ प्र. दि. देना चाहिये। तदुपरांत गो. १ प्र. सप्ताह प्रयोग करने से रोग के पुनरावर्तन (Relapse) की संभावना नहीं रहती।

(ख) क्लोरोक्वीन फॉस्फेट (Aralen) :—इस औषधि की सर्वप्रथम ग्रे० १५ की मात्रा देनी चाहिये, तत्पश्चात् ६ घण्टे के बाद ग्रे० ७½ तदुपरांत दूसरे और तीसरे दिन केवल ग्रे० ७½ प्र० दि० देना चाहिये।

(ग) क्लोरोक्वीन हाइड्रोक्लोर (Chlorcquine hydrochlor) :—यह औषधि विशेष परिस्थिति में पेशी मार्ग (I. M.) द्वारा प्रयोग की जा सकती है परन्तु जब रोगी मुख द्वारा औषधि ग्रहण कर सके तब इसको मुख से ही देना ठीक है। ग्रे० ४½ औषधि को ७ सी० सी० परिस्रुत जल में मिला कर पेशी मार्ग से प्रयोग करना चाहिए। आ. अ. ३–८ घण्टे पश्चात् पुनः इंजेक्शन लगा सकते हैं।

(२) पैलुड्रिन (Paludrin chloroguanide, biguanide):—यह श्वेत वर्ण की औषधि अटेब्रिन (Atebrin) से कम विषाक्त है। जिन अवस्थाओं में क्विनीन (Q) देना संभव न हो उन अवस्थाओं में इसका प्रयोग कर सकते हैं। रोग के पुनरावर्तन (Relapse) को रोकने में यह विशेष लाभदायक है। अघातक तृतीयक (B.T.) की अपेक्षा घातक विषमज्वर (M.T.) पर इसका अधिक प्रभाव है परन्तु इस पर भी यह सर्वदा प्रभावशाली नहीं होती। इसकी दो प्रकार की गोली मिलती है ०·१ ग्रा० तथा ०·३ ग्रा० की। व्यवायक कायाणुओं (Gametocites) पर इसका कोई प्रभाव नहीं है। अघातक (B.T.) तथा घातक विषम ज्वर (M.T.) में प्रायः पुनरावर्तन (Relapse) होता है। मनुष्य के रक्त में यह औषधि रहने से, जब मच्छर उस रोगी का रक्त चूसता है तब मच्छर के आमाशय

(St.) मे जीवाणु (M. P.) का विकास नहीं होता। मनुष्य के रक्त में जो विषम ज्वर के जीवाणु मच्छर के काटने से प्रवेश करते हैं उनके रक्तकण (R.B.C.) में प्रवेश करने के पूर्व यह औषधि उनको नष्ट करती है और जीवाणु का विकास नहीं हो पाता। जीवाणु की इस अवस्था को रुधिरकायाणु बाह्य-अवस्था (Exo-erythrocytic phase) कहते हैं। इसके प्रयोग की अनेक **विधियाँ हैं** (क) ग्रा. ०·३ की गो० १ द्वि० प्र० दि० ५ दिन तक देना चाहिये। **तत्पश्चात्** रोग का पुनरावर्तन रोकने के लिये गो० १ प्रति चतुर्थ दिन देनी चाहिये। लेखक की राय मे यह विधि सर्वोत्तम है। (ख) ग्रा. ०·३ की मात्रा द्वि. प्र. दि., १० दिन तक दी जाती है। इस विधि से विषाक्तता की अधिक सम्भावना रहती है। (ग) ग्रा. ०·३ की केवल एक गोली देने से भी कभी-कभी ज्वर प्राकृत हो जाता है। परन्तु शीघ्र ही वह बिना कम्प (Rigor) के पुनः चढ़ता है और फिर एक सप्ताह प्राकृत रहता है। अब यदि प्रति सप्ताह एक गोली दी जाय तब ज्वर बन्द रहता है और कुछ समय पश्चात् शरीर से जीवाणु (M.P.) नष्ट हो जाते है। (घ) रोगी यदि इस औषधि को बरदाश्त नहीं कर सकता तब ग्रा. ०·१ की गो. १ त्रि० प्र० दि० कर ५ दिन देना चाहिये। **तत्पश्चात्** गो. १ द्वि. प्र.स. देते रहने से रोगी को पुनः विषम ज्वर का उपसर्ग नहीं होता और ज्वर का पुनरावर्तन भी नहीं होता। इस प्रकार रोगी रोग मुक्त हो सकता है। यह औषधि रोग की गम्भीर अवस्था मे **सिरामार्ग** से भी प्रयोग की जा सकती है। इसके लिये **पैलुड्रीन एसिटेट** (Paludrin acetate) ग्रा. ०·१ या ०·३ की मात्रा समबल लवण जल (N. Saline) पा० १–२ मे मिला कर अत्यन्त शनैः शनैः सिरामार्ग से देना चाहिये। पैलुड्रीन की **विषाक्तता** के कारण वमन, पतले दस्त, दौर्बल्य, तन्द्रा (Drowsiness), शीतपित्त (Urticaria), मिचली आदि लक्षण होते हैं। कभी-कभी, मूत्र मे रक्त (Hematuria), कमर मे पीड़ा तथा त्वचा मे निस्तरण (Desquamation) हो सकता है। ये सब लक्षण प्रायः उन रोगियो मे होते है जो इस औषधि को सह नहीं सकते। औषधि तथा उसकी मात्रा से प्रायः इन लक्षणो का सम्बन्ध नहीं होता।

सूचना :—मलेरिया की किसी भी औषधि के प्रभाव मे सन्देह करने के पूर्व यह आवश्यक है कि औषधि उपयुक्त मात्रा मे ५ दिन दी जाये। ज्वर को

प्राकृत अवस्था में ही स्थायी रखने के लिये प्रत्येक औषध दो सप्ताह तक ५ दिन देना पड़ता है।

पैलुड्रीन (Paludrin) ग्रा. ०·१ की गो० प्रयोग करने का परिणाम

विधि	२ दि. में ज्वर का प्राकृत होना	३ दि. में अमैथुनिक (Asexual) जीवाणु अदृश्य होना	३ मास में ज्वर का पुनरावर्तन
गो. १ एक बार	७३ प्र. श. में	८१ प्र. श. में	८४ प्र. श. में
गो. ३ एक बार	८८ प्र. श. में	८८ प्र. श. में	३० प्र. श. में
गो. १ त्रि. प्र. दि. ५ दि.	६० प्र. श. में	६३ प्र. श. में	५ प्र. श. में

उपर्युक्त वर्णन से निम्न निष्कर्ष निकलता है :—

१—प्रारम्भ से त्रि० प्र० दि० कर ५ दिन औषधि प्रयोग करने से ज्वर प्रायः प्राकृत हो जाता है तत्पश्चात् द्वि० प्र० स० औषधि देते रहने से रोग के पुनरावर्तन (Relapse) की सम्भावना अल्प रहती है।

२—यह औषधि घातक विषम ज्वर (M.T.) को रोकती है परन्तु अघातक तृतीयक (B.T.) पर प्रभावहीन है।

३—प्र० दि० गो० १ होने के पूर्व लेने से घातक विषम ज्वर (M.T.) नहीं होता और इसके जीवाणु रक्त में दिखाई नहीं पड़ते। ये जीवाणु मच्छर के काटने से जब मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं तब वे रक्तकण (R.B.C.) में प्रवेश करने के पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार घातक विषम ज्वर का उपसर्ग नहीं हो पाता।

४—यह औषधि मैथुनी (Sexual) जीवाणु को नष्ट नहीं कर पाती परन्तु जब मच्छर उपसृष्ट व्यक्ति को काटता है तब रक्त में यह औषधि रहने के कारण मच्छर के आमाशय (St.) में जीवाणु की वृद्धि नहीं हो पाती और यह मच्छर जब दूसरे मनुष्य को काटता है तब वह रोग नहीं फैला सकता। मैथुनी जीवाणु की एक निर्धारित आयु होने के कारण मनुष्य के शरीर में उनकी मृत्यु हो जाती है और मनुष्य का रक्त कुछ समय पश्चात् जीवाणुरहित हो जाता है।

५—केवल पाँच दिन औषधि देने से ज्वर के पुनरावर्तन की संभावना रहती है विशेषकर अघातक तृतीयक (B. T.) में, परन्तु १–२ गो. प्र. स. देते रहने से यह सम्भावना नहीं रहती।

६—यह औषधि मुख द्वारा काफी प्रभावशाली है। विशेष परिस्थिति मे इसका इन्जेक्शन दिया जा सकता है।

(३) कामोक्विन (Camoquin P.D.) :—इस औषधि की ग्रा. ०·२ की गोली आती है। इस औषधि की केवल एक मात्रा से विषम ज्वर में लाभ सम्भव है। युवावस्था मे रोगी के वजन के अनुसार केवल एक बार गो.२–४ देना चाहिये। दो वर्ष की आयु मे गो. १/२, २–५ वर्ष मे गो.१, ५ से १४ वर्ष मे गो. १½ केवल एक बार देना चाहिये। रोगी के वजन के अनुसार इसकी मात्रा मि. ग्रा. १० प्र. से. भा. है। कभी कभी युवावस्था मे प्रथम दिन गो. १½ द्वि. प्र. दि. तत्पश्चात ३ दिन तक गो. १/२ द्वि. प्र. दि. देने से अधिक लाभ होता है। यह औषधि विषाक्त नहीं है। इसके प्रयोग से रोग के पुनरावर्त की सम्भावना अल्प रहती है। एक मात्रा के पश्चात प्रायः ४८ घण्टे के अन्दर ज्वर प्राकृत हो जाता है। चिकित्सा के पश्चात घातक विषम ज्वर (M.T.) के मैथुनी (Sexual) जीवाणु रक्त मे दिखलाई नहीं पड़ते।

(४) डाराप्रिम (Daraprim B.W.&Co, Pyrimethamine) :—यह औषधि **स्वादरहित** तथा विषाक्त न होने के कारण बच्चो के लिये उपयुक्त है। इसकी गो. १ मि. ग्रा. २५ की आती है। युवावस्था मे दो दिन तक गो. १ द्वि. प्र. दि. दी जाती है। रोग से बचने के लिये गो. १ प्र. स. दी जाती है। इसका प्रभाव क्लोरोक्विन (Chloroquin) तथा कामाक्विन (Camoquin) से कम प्रतीत होता है। घातक विषम ज्वर (M.T.) के लिये यह औषधि ठीक नही प्रतीत होती। अघातक तृतीयक (B.T.) तथा चतुर्थक (Q.T) पर इसका प्रभाव अच्छा प्रतीत होता है परन्तु ज्वर का पुनरावर्तन भी होता है। घातक विषम ज्वर मे ज्वर का पुनरावर्तन अधिक देखा गया है।

डाराप्रिम (Daraprim) प्रयोग करने का परिणाम।

विधि	३ दिन में रोग मुक्त	२ दिन मे ज्वर का शमन	अमैथुनिक (Asexual) जीवाणु का २ दि. में अदृश्य होना
गो. २ एक बार	६७ प्र. श.	|	|
गो. २ एक दिन में द्वि. बार	६५ प्र. श.	९२ प्र. श.	६५ प्र. श.

(५) मेपाक्रिन (Mepacrine, atebrin, quinacrine):— यह पीले रंग की औषधि विषाक्त होने के कारण तथा शरीर को पीला कर देने के कारण प्राय: प्रयोग नहीं की जाती है। गर्भावस्था, असात्म्य प्रकृति (Idiosyncrasy) आदि जिन अवस्थाओं में क्विनाइन का प्रयोग नहीं किया जा सकता उनमें यह औषधि प्रयोग की जा सकती है। मारक विषम ज्वर (M.T.) पर इसका विशेष प्रभाव प्रतीत होता है। इसकी ग्रा. ०·१ की गोली मिलती है। यह औषधि प्रत्येक प्रकार के मलेरिया में लाभदायक है परन्तु ज्वर के पुनरावर्तन में कमी नहीं करती। यह प्राय: पचन संस्थान में गड़बड़ी करती है, इसलिये इसको भोजन के साथ या उसके तत्काल पश्चात देना चाहिये। यह कालमेह ज्वर (Blackwater fever) तथा हृद्रोग में भी प्रयोग की जा सकती है। इस औषधि के देने के पश्चात यदि मनुष्य को उपसृष्ट (Infected) मच्छर काटता है तब मनुष्य में विषम ज्वर का उपसर्ग हो सकता है। औषधि देने के ७ दिन पश्चात रक्त में विषम ज्वर के जीवाणु मिलते हैं परन्तु ३–८ दिन के अन्दर ही वे नष्ट हो जाते हैं और उपसर्ग ठीक हो जाता है। क्लोरोक्वीन (Chlorquin) की अपेक्षा इस औषधि के पश्चात ज्वर के पुनरावर्तन की अधिक सम्भावना रहती है और लक्षणों के शमन होने में भी अधिक समय लगता है। रोगी जब औषधि बन्द करता है तब पुनरावर्तन की सम्भावना रहती है परन्तु पैलुड्रीन (Paludrin) में पुनरावर्तन की सम्भावना केवल अघातक विषम ज्वर (B.T.) में ही अधिक रहती है। यह औषधि प्रत्येक प्रकार के अमैथुनिक (Asexual) जीवाणु पर प्रभावशाली है परन्तु मैथुनिक (Sexual) जीवाणु पर इसका प्रभाव उत्तम नहीं है। क्विनीन (Q) देने के पश्चात इस औषधि को प्रयोग करने से पुनरावर्त की सम्भावना कम हो जाती है। विपाक्त होने के कारण इस औषधि के देने के १५ दिन के अन्दर पुनः इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। यह रक्त कणों (R.B.C.) को नष्ट नहीं करती। रोग के प्रथम आक्रमण में इसका प्रभाव उत्तम प्रतीत होता है। इसकी एक गोली प्रायः क्वीनीन ग्रे. ६ के बराबर होती है। इसकी **विपाक्तता** के कारण क्षुधानाश, मिचली, वमन, पतले दस्त आदि लक्षण होते हैं। औषधि के कारण त्वचा, नेत्रकला (Conj:), मूत्र, श्लैष्मिक कला (M.M.) आदि पीले हो जाते हैं। यह लक्षण यकृत विकृति या विपाक्तता के कारण नहीं होता। इस औषधि के प्रयोग के समय

यदि शरीर पीला न हो तब औपधि वन्द कर देना चाहिये अन्यथा औपधि आंत्र में सञ्चित होती रहेगी और एक साथ अधिक मात्रा में उसका प्रचूषण होने पर विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होंगे। इस औपधि के कारण अस्थायी मानसिक उपद्रव हो सकते हैं। औपधि वन्द करने पर ये उपद्रव शान्त हो जाते हैं। इसका हृदय पर कोई हानिकारक प्रभाव न होने के कारण इसको हृत्पेशीशोथ (Myocarditis) या अन्तर्हृच्छोथ (Endocarditis) के साथ विषम ज्वर होने पर दे सकते हैं। आमाशय (St.) में यह औषधि पुरस्सरण गति (Peristalsis) को वढ़ाती है और आंत्र में उद्वेष्टन (Spasm) करती है इसलिये उदर में पीड़ा तथा पतले दस्त हो सकते हैं। इन उपद्रवों को वचाने के लिये, औपधि मुख से देने के पूर्व. रोगी को विश्राम करना चाहिये, जुलाब द्वारा पेट साफ कर लेना चाहिये, अधिक मात्रा में जल पीना चाहिये और औषधि की प्रत्येक मात्रा के पूर्व क्षारीय घोल (यो० १) पीकर भोजन के साथ या भो. प. औषधि लेना चाहिये। मुख द्वारा औपधि देने की अनेक विधियाँ हैं—

(१) युवावस्था में इस औषधि की गो० १ प्रायः त्रि० प्र० दि० कर, पाँच दिन दी जाती है। इसी प्रकार बच्चों में एक वर्ष की आयु से कम में गो० ¼, १ से ३ वर्ष की आयु में गो० ¼–⅓, ३ से ६ वर्ष की आयु में गो० ½ तथा ६ से १२ वर्ष की आयु में गो० ¾ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। औपधि की प्रत्येक मात्रा में ६–८ घंटे का अन्तर होना आवश्यक है। कुछ लोग इस औपधि को ६ से ८ दिन तक देते हैं परन्तु ५ दिन से अधिक देना हानिकर हो सकता है। औपधि की प्रत्येक मात्रा एक दूसरे के बराबर होनी चाहिये। लेखक के अनुभव में उपर्युक्त विधि ही सर्वोत्तम है।

(२) युवावस्था में प्रथम दो दिन गो० २ त्रि० प्र० दि० तत्पश्चात् तीन दिन गो० १ त्रि० प्र० दि० तदुपरात २ दिन तक गो० १ द्वि० प्र० दि० देना चाहिये, इस प्रकार ७ दिन तक औपधि दी जाती है।

(३) युवावस्था में प्रथम दिन गो० २ प्रति ६ घंटे कर ४ बार दी जाती है। तत्पश्चात् ६ दिन तक गो० १ त्रि० प्र० दि० दी जाती है।

(४) युवावस्था में प्रथम दिन ४ गोली तत्पश्चात् ४–७ दिन तक गो० १ त्रि० प्र० दि० दी जाती है।

अन्तिम तीनों विधियाँ भारत के साधारण भार वाले रोगी के लिये उपयुक्त

नहीं प्रतीत होती। मेपाक्रिन, पैलुड्रिन (Paludrin) तथा प्लास्मोक्वीन (Plasmoquin) आदि औषधियाँ विपाक्त होने के कारण एक साथ प्रयोग नहीं करना चाहिये। यदि रोगी के शरीर को मैथुनिक (Sexual) कायाणु से रिक्त करना हो तब पाँच दिन निरन्तर अटेब्रिन या मेपाक्रिन प्रयोग करने के पश्चात् प्लास्मोक्विन की गो० १ द्वि० प्र० दि० कर ५ दिन तक देना चाहिये। दोनों औषधियो को एक साथ देने से विपाक्तता की वृद्धि होती है। ये औषधियाँ ५ दिन देने के पश्चात् १० दिन के अन्दर पुनः नहीं देनी चाहिये। रोगी की गम्भीर अवस्था में या जब रोगी मुख से औषधि न ले सके तब इस औषधि का **इन्जेक्शन** भी लगा सकते हैं। इसकी भी अनेक विधियाँ हैं :—

१—**अटेब्रिन मसोनेट** (Atebrin musonate 'Br') या मेपाक्रिन मीथेन सल्फोनेट (Mepacrine methane sulphonate):—ग्रा. ०·१–०·३ को १० सी० सी० प० ज० में मिला कर पेशी मार्ग (I. M.) या सिरा मार्ग से इन्जेक्शन लगाना चाहिये। इन औषधियों की ग्रा. ०·१ तथा ०·३ की मात्रा मिलती है। आ० अ० दूसरे दिन या जब तक रोगी मुख से औषधि न ले सके तब तक १२ से २४ घण्टे के अन्तर पर इन औषधियो का इन्जेक्शन लगा सकते है। बच्चो में यह मार्ग हानिकर है, इसलिये उनमे इन औषधियो का इन्जेक्शन नहीं लगाना चाहिये।

२—**क्विनाक्रिन हाइड्रोक्लोर** (Quinacrine hydrochor):—इस औषधि की ग्रा. ०·२ की मात्रा ५ सी० सी० प० ज० मे मिला कर प्रत्येक नितम्ब मे पेशी मार्ग (I.M.) से इन्जेक्शन लगाये, तत्पश्चात् प्रति ६–८ घण्टे पर उपर्युक्त मात्रा एक नितम्ब मे प्रवेश करे। जब तक रोगी मुख से औषधि न ले सके तब तक इसका इन्जेक्शन लगाते रहना चाहिये।

(६) **प्लास्मोक्वीन** (Plasmoquine, pamaquin, plas mochin) आदि :—ये औषधियाँ विषम ज्वर की प्रतिषेधक (Prophy) हैं। लक्षणो के शमन करनेमे इनका कोई स्थान नहीं है। ये औषधियाँ विषाक्त होने के कारण प्रायः प्रयोग नही की जाती है। ये स्वाद रहित होती है और इनकी ग्रा. ०·०१ की गोली तथा इन्जेक्शन के लिये १ प्र.श. घोल की १ सी० सी० की मात्रा मिलती है। अघातक तृतीयक (B. T.) तथा चतुर्थक (Q. T.) के अमैथुनिक (Asexual) कायाणु पर इनका साधारण

प्रभाव है। मारक विषम ज्वर (M. T.) के अमैथुनिक कायाणु पर यह औषधि प्रभावहीन है। इसका विशेष प्रभाव सब प्रकार के मैथुनिक (Sexual) कायाणु विशेष कर घातक विषम ज्वर (M. T.) के मैथुनिक कायाणु पर है। इस प्रकार मलेरिया के पश्चात रोगी को मैथुनिक कायाणु से रहित करने मे यह काम आती है, जिससे रोगी कायाणुरहित हो जाने पर रोग फैला न सके। यह औषधि गर्भावस्था मे भी प्रयोग की जा सकती है। इस औषधि को यकृत, वृक्क तथा रक्त-वह संस्थान के रोगों मे प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसकी **विषाक्तता** के कारण पतले दस्त, वृहद आन्त्रशोथ (Colitis), उदर मे पीड़ा, श्यावता (Cyanosis), रक्ताल्पता (Anaemia), कामला (Jaundice), शोणवर्तुलिमेह (Hb.-uria), वमन, वृक्क में विकृति, अधता, दृष्टिनाड़ीशोथ (Optic neuritis), नाड़ी की अनियमितता आदि लक्षण होते है। पैलुड्रिन (Paludrin), मेपाक्रिन (Mepacrine) आदि विषाक्त औषधियो के साथ इसको देने से इसकी विषाक्तता बढ़ती है। विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। रोगी के शरीर को मैथुनिक (Sexual) कायाणुरहित करने के लिये मलेरिया की अन्य विशिष्ट औषधियाँ देने के कुछ दिन पश्चात इसका प्रयोग करना चाहिये। इस औषधि की गो० १ द्वि. प्र० दि०. कर ५ दिन से अधिक नही देना चाहिये।

(७) **पेन्टाक्विन** (Pentaquine phosphate, isopentaqine) :—अघातक (B. T.) विषम ज्वर मे रोग का पुनरावर्तन रोकने के लिये इन औषधियों का प्रयोग क्विनीन (Q) के साथ किया जाता है। इनकी **विषाक्तता** के कारण क्षुधानाश, मिचली, वमन, रक्ताल्पता (Anaemia), श्यावता (Cyanosis), ज्वर, औदरिक पेशियो में उद्वेष्ठन (Cramp) आदि लक्षण होते है। रक्तकण (RBC) का नाश होने के कारण रक्ताल्पता होती है। पेन्टाक्विन की अपेक्षा आइसोपेन्टाक्वीन (Isopentaquine) कम विषाक्त है। क्वीनीन (Q) ग्रे. ६ के साथ इस औषधि की ग्रे. ½ की मात्रा त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। दो सप्ताह से अधिक इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसकी विषाक्तता पर ध्यान रखना आवश्यक है।

विषम ज्वर की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

यथावश्यक स्नेहन, स्वेदन के बाद वमन करावे। पित्त प्रधान होने पर विरेचक देना चाहिये। आस्थापन व अनुवासन वस्ति दे। मद्ययुक्त सुरा मांस का सेवन करावे। अञ्जन नस्य व धूपन करे।

योग :—ज्वराङ्कुश, महाज्वराङ्कुश, दन्ती भस्म, शीतभञ्जी रस तथा त्रिलोचन रस।

जीर्ण होने पर :—ज्वराशनि, विषम ज्वरान्तक लौह, वृहत सर्वज्वरहर लौह और जयमङ्गल रस।

सर्वज्वरों में लक्षणानुसार यह योग दे सकते हैं :—

१—तुवरीमल्ल योग ६ र.
पंचानन ३ र.
शंख भस्म ३ र.
गुडूची सत्व १½ र.
मि. ३ मात्रा
शेफाली स्वरस व मधु से

२—अर्क लवण ३ मा.
हिंग्वादि वटी ४ व.
मि. २ मात्रा
अमृतारिष्ट व जल के साथ भोजनोत्तर

३—सौभाग्य वटी ४ व.
मृत्युंजय ४ र.
शु. टंकण ४ र.
चन्दनादि लौह ४ र.
दन्ती भस्म ४ र.
मि. ४ मात्रा
शेफाली स्वरस व मधु से

या

४—प्रतापलंकेश्वर ३ र.
चन्दनादि लौह ३ र.
पंचानन ३ र.
दन्ती भस्म ३ र.
मि. मात्रा
तुलसी रस व मधु से

कालमेह ज्वर (Blackwater fever)

निदान :—इस रोग का घातक विषम ज्वर (M. T.) तथा क्वीनीन (Q) से सम्बन्ध होने के कारण, जिन स्थानों में घातक विषम ज्वर अधिक होता है उन स्थानों में रोगी के निवास करने का **इतिहास** मिलता है। अतीत

में रोगी के विषम ज्वर से पीड़ित होने का तथा विषम ज्वर की चिकित्सा के लिये क्विनीन का अनियमित रूप से प्रयोग करने का तथा विषम ज्वर की उपयुक्त चिकित्सा न कराने का भी इतिहास मिलता है। घातक विषम ज्वर के समान ज्वर, मूत्र परित्याग करने में कष्ट, मूत्र के वर्ण में परिवर्तन, मूत्राल्पता (Oliguria), कमर में पीड़ा, बेचैनी, आकृति मे चिन्ता, शुष्क तथा मलावृत जिह्वा, यकृत तथा प्लीहा की पीड़ाकर वृद्धि, श्वेत चेहरा, शोणांशिक कामला (Hemolytic jaundice) के कारण नेत्रकला (Conj :) का नीबू के समान साधारण पीला होना आदि लक्षण होते हैं। ज्वर प्रायः सर्वदा बना रहता है। जब भी अधिक संख्या में रक्तकण (R. B. C.) नष्ट होते हैं तब कम्प के साथ ज्वर की वृद्धि होती है। रक्तकणों के अत्यधिक नष्ट हो जाने के कारण कुछ दिनों के पश्चात् रोगी की अवस्था **गंभीर** हो जाती है, रक्ताल्पता तथा श्यावता (Cyanosis) स्पष्ट प्रतीत होती है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। रोग की **साधारण अवस्था** में शनैः२ लक्षणों का शमन होता है और रोगी स्वस्थ होने लगता है परन्तु रोग के पुनरागमन की संभावना बनी रहती है। **रक्तपरीक्षा** में विषम ज्वर कायाणु (M. P.) मिलने की कम संभावना रहती है परन्तु इनके मिलने से रोगविनिश्चिति में सहायता मिलती है। **मूत्र परीक्षा** मे मूत्र का वर्ण शोणवर्तुलि (Hb) के कारण काला, लाल या गुलाबी होता है। मूत्र में शोणवर्तुलि के अनेक लवण मिलते हैं विशेषकर प्राणवायु (O_2) के साथ। इसको जारशोणवर्तुलि (Oxy-hemoglobin) कहते हैं। यह लवण कालमेह की संभावना की ओर संकेत करता है। शुक्लि (Alb) की प्रधानता रहती है और मूत्र से शोणवर्तुलि के बन्द हो जाने के बहुत दिन बाद तक भी शुक्लि (Alb) आती रहती है। भूरे रंग का कणिकामय तलछट (Granular-deposit), मूत्रपित्त (Urobilin), समशोणवर्तुलि (Meth-Hb) निर्मोक (Casts) आदि पदार्थ भी मूत्र मे मिल सकते हैं। निर्मोक (Casts) का मिलना वृक्क की विकृति का सूचक है।

चिकित्साः–(क) प्रतिषेधः–रोग से बचने के लिये यथासंभव उन स्थानों मे नहीं जाना चाहिये जहाँ यह रोग प्रायः होता है। यदि इन स्थानों में रहना ही हो तब मलेरिया से बचने का उपाय करना चाहिये। पैलुड्रीन (Paludrin) की गो. १. द्वि. प्र. सप्ताह लेने से मलेरिया से बच सकते हैं। मलेरिया होने पर

उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। कालमेह ज्वर की संभावना रहने पर क्विनीन का प्रयोग नहीं करना चाहिये। रक्त परीक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। घातक विषम ज्वर (M. T.) के कायाणु मिलने पर विशेष सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर प्राकृत हो जाने के कुछ दिन पश्चात तक नियमानुसार रक्त परीक्षा करना चाहिये। विषम ज्वर के दोनों प्रकार के कायाणुओं, मैथुनिक (Sexual) तथा अमैथुनिक (Asexual) से रोगी के रक्त को पैलुड्रनी (Paludrin) तथा प्लाज्मोक्वीन (Plasmoquine) द्वारा कायाणुरहित करना चाहिये।

(ख) साधारण चिकित्सा :—कालमेह ज्वर की चिकित्सा में प्रधानतया लक्षणों की चिकित्सा की जाती है जिससे रोगी का जीवन बच सके। ये लक्षण प्रायः उग्ररूप धारण करते हैं और रोगी की अवस्था अत्यन्त अल्प काल में ही गम्भीर हो जाती है। इन लक्षणों में प्रधान हैं वमन, जलाल्पता (Dehydration), रक्तकणों का नाश (Hemolysis), वृक्क की कार्यहीनता (Renal Eailure), रक्ताल्पता (Anaemia), हृत्पेशी (Myocardium) की दुर्बलता, परमज्वर (Hyperpyrexia), हिचकी आदि। इन लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। उसको किसी भी हालत में शैय्या पर बैठने या नीचे उतरने नहीं देना चाहिये। रोगी का स्थान परिवतन करने से लक्षणों की तीव्रता में वृद्धि होती है। रोग की तीव्रता के समय रोगी को प्रचुर मात्रा में जल, क्षार (यो० १) तथा ग्लूकोस (Glucose) देना चाहिये। जल तथा क्षार से मूत्र के निर्माण में सहायता मिलती है तथा वृक्क की नलिकायें (Tubules) जो शोपवर्तुलि (Hb.) आदि से बन्द हो जाती हैं उनके खुलने में सरलता होती है। प्रत्येक मार्ग से जल प्रयोग करना चाहिये और इतना जल देना चाहिये कि प्र.दि. कम से कम १५०० सी.सी. मूत्र का निर्माण हो सके। ग्लूकोस देने से हृत्पेशी को बल प्राप्त होता है, मूत्र निर्माण में सहायता मिलती है, रक्तकणों (R.B.C.) के नष्ट होने में कमी होती है और रोगी को आहार मिलता है। रोग की तीव्र अवस्था में रोगी को तरल आहार (पृ० ४) देना चाहिये। रोगी की अवस्था में सुधार होने पर आहार में शनैः शनैः वृद्धि करनी चाहिए। प्रथम अर्धतरल आहार (पृ० ४) देना चाहिए। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वमन की तीव्रता के कारण

शरीर से अत्यधिक मात्रा में लवण (Nacl) तथा जल का परित्याग होता है, इसलिये वमन होने पर रोगी को लवण तथा जल अधिक मात्रा मे देना आवश्यक है। वमन के कारण यह कार्य मुख द्वारा यदि सम्भव न हो तब लवण, क्षार (Alkali) तथा जल अन्य मार्ग से देना चाहिये। सिरामार्ग, पेशीमार्ग, गुदामार्ग या राइल की नलिका (Ryle's tube), द्वारा नासा-मार्ग से ये पदार्थ दे सकते हैं। क्षार का प्रयोग पेशीमार्ग से नहीं करना चाहिये। इसमार्ग से क्षार देने से विद्रधि (Abscess) अधस्तवक्-शोथ (Cellulitis) आदि उपद्रव होते हैं। **रक्तकणों को नष्ट होने से बचाने के लिये** जीवतिक्ति ए. बी. सी. तथा 'के' (Vit: A.B.C.K.) का प्रयोग किया जाता है। ये औषधियाँ मुख या इञ्जेक्शन द्वारा प्रयोग की जाती है। वमन होने पर इनको पेशी या सिरामार्ग से दे सकते हैं। सिरामार्ग से प्रयोग करने के लिए यो. १०० सर्वोत्तम है। जीवतिक्तियो का यह मिश्रण आ. अ. सिरामार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः प्रति १२ घटे पर प्रयोग कर सकते हैं। जीवतिक्ति 'ए' (Vit: A. Prepalin) पेशीमार्ग से दे सकते हैं। जब रोगी की अवस्था मुख से औषधि लेने के योग्य हो जाय तब मुख से इन औषधियो का प्रयोग कर सकते हैं परन्तु रोग की तीव्र अवस्था में इंजेक्शन द्वारा ही इन औषधियो का प्रभाव मुख की अपेक्षा उत्तम होता है। इसके अतिरिक्त कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal: gluconate) १० या २० प्र. श. ५ या १० सी. सी. सिरामार्ग से प्रति ८ घण्टे पर दे सकते हैं। यकृत सत्व सम्पूर्ण (Whole liver ext :) सी. सी. २ को पेशीमार्ग से प्रयोग करने से भी लाभ होता है। रोग की **तात्कालिक चिकित्सा** के लिए रोग की गम्भीर अवस्था मे रोगी के पिता, माता, संतान आदि अत्यन्त निकट के सम्बन्धियों की सिरा से १०–२५ सी. सी. रक्त निकाल कर रोगी के नितम्ब मे पेशीमार्ग से प्रवेश कर सकते हैं। सिरा से रक्त निकालने के पूर्व पिचकारी मे सोडी साइट्रस (Sodi: citras) ३ प्र. श. घोल का १/२–१ सी. सी. लेने से रक्तस्कन्दित (Coagulate) नहीं होता और उसका पुनः इजेक्शन लगाने मे सहायता मिलती है। इस क्रिया को **ए.** या द्वि. प्र. दि. कर सकते है। जिन रोगों मे सिरामार्ग से ग्लूकोस, लवण जल (Saline), क्षार (यो. ६५) आदि अनेक बार देने की आवश्यकता पड़ती **है** उनमें रोगी को बार बार इंजेक्शन के कष्ट से बचाने के लिए रोगी की मध्य

बाहुका शिरा (Cubital vein) मे सूई प्रवेश कर सूई को रबर की नलिका द्वारा पलिध (Flask) से मिला कर रख देना चाहिए। रोगी के बाहु को कुशा (Splint) से बाँध देना चाहिये जिससे वह हाथ न हिला सके और सूई को चिपकने वाली पट्टी (Sticking Plaster) से स्थिर कर देना चाहिये। लवण जल आदि घोल को इस विधि से ४० बूँद प्र. मि. की गति से सिरा मे जाने देना चाहिये। अन्य औषधियाँ भी जो सिरामार्ग से दी जा सकती है उनको भी समय-समय पर पलिध (Flask) मे डाल सकते है या कोरामिन (Co.) आदि जिनके तत्काल प्रभाव की आवश्यकता हो उन्हे सूई के निकट रबर की नलिका मे पिचकारी द्वारा प्रवेश कर सकते हैं। इस रोग मे लवण, जल, क्षार, ग्लूकोस आदि को अत्यधिक मात्रा मे सिरा-मार्ग से प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है इसलिये हृदय की अवस्था पर ध्यान देना आवश्यक है अन्यथा फुफ्फुस शोफ (Oedema lungs) हो सकता है। यदि हृदय की अवस्था प्राकृत हो तब ग्लूकोस २५ प्र. श. सिरा-मार्ग से २५–१०० सी. सी. तक द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। यदि हृदय दुर्बल हो तब ग्लूकोस ६$\frac{1}{4}$ से १२$\frac{1}{2}$ प्र. श. २५ से १०० सी. सी. तक पेशी मार्ग (I.M.) से नितम्ब या स्तन के नीचे द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। इस मार्ग से ग्लूकोस प्रयोग करने से पीड़ा होती है और विद्रधि (Abscess) आदि होने की सम्भावना रहती है। ग्लूकोस तथा लवण घोल मुख या गुदा मार्ग से प्रत्येक अवस्था में प्रयोग कर सकते हैं परन्तु गुदा मार्ग से प्रयोग करने के लिये साधारण जल अधिक उपयुक्त है। इसके प्रचूषण की अधिक सम्भा-वना रहती है। यदि रोगी मुख मार्ग से औषधि ग्रहण कर सके तब क्षारीय घोल (यो. ६५) मुख से प्र. ४ घं० पर देना चाहिये। गंभीर अवस्था मे सोडी बाइकार्ब ७$\frac{1}{2}$ प्र.श.२५.सी.सी.सिरामार्ग से दे सकते है अन्यथा रोग की साधारण अवस्था मे सोडी बाइकार्ब च. १, एक गिलास जल मे मिलाकर रोगी को निरन्तर पीने के लिये देना चाहिये। समबल लवण जल (N. Saline) औं. २० मे सोडी बाइकार्ब ग्रे.१२० तथा ग्लूकोस ५ प्र. श. मिला कर निरन्तर गुदामार्ग से (यो. ११२) बूँद बूँद कर देना चाहिये। हृत्पेशी (Myocar-dium) मे दौर्बल्य होने पर ग्लूकोस के साथ इनसुलिन अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से प्रयोग करना चाहिये। अत्यन्त गम्भीर रक्ताल्पता होने पर सिरामार्ग से रक्तप्रदान (Blood trans :) की आवश्यकता पड़ती है।

(ग) विशिष्ट चिकित्सा :—इस रोग मे विषम ज्वर की सर्वदा सम्भावना रहती है। इसलिये लक्षणों की चिकित्सा के अतिरिक्त **अटेब्रिन** (Atebrin) या **पैलुड्रिन** (Paludrin) आदि विषम ज्वर नाशक औषधियाँ भी साथ साथ रोगी को देना चाहिये। यदि रोगी मुख से औषधि न ले सके तब इन औषधियों का इन्जेक्शन लगाना चाहिये।

(घ) अन्य चिकित्सा :—यदि रोगी अत्यन्त बेचैन हो तब बारबिटोन (Bn.) ग्रे॰ १/२–२ मुख से या परालडिहाइड (Paraldehyde) सी. सी. २–८ पेशीमार्ग (I.M.) से दे सकते हैं। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी को कब्ज नहीं होने देना चाहिये। जलाल्पता की उपयुक्त चिकित्सा (पृ॰ ३७) करनी चाहिये।

(ङ) रोगमुक्त हो जाने के पश्चात रोगी को स्वास्थ्य वर्धक तथा पौष्टिक औषधियाँ (यो. ४०) कुछ समय तक देना चाहिये। वायिनयन अमारा (Byanian amara), इस्टन सिरप (Easten syrup) आदि पौष्टिक औषधियाँ च. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये। मछली के यकृत का तेल, कैलसियम (Cal.), पैराथायरौयड (Parthyroid), जीवतीक्ति सपूर्ण (Multivit) आदि औषधियाँ रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि तथा रक्त मे कैलसियम की वृद्धि कराने के लिये दी जाती है।

लीशमानजन्य रोग (Leishmaniasis)

वर्गीकरण:–(क) **अवयवीय विकृतियाँ** (Visceral lesions):–(१) **भारतीय कालज्वर** (Indian K.A.)। कारण:–लीशमान डोनोवान पिंड (L. D. Body) (२) **भूमध्य सागरीय कालज्वर**(Mediterranean K.A.)। **कारण**:–लीशमन शैशवीय (L.Infantum)।

(ख) **त्वचागत विकृतियाँ**, (Cutaneous lesions) :—(१) **प्राच्यव्रण** (Oriental sore)। कारण :—लीशमन ऊष्ण कटिबन्धज (L. tropica) (२) **चर्मीय लीशमनीयता** (Dermal leishmaniasis) :—**कारण** लेशमन डोनोवानपिण्ड (L. D. Body)।

भारतीय काल ज्वर (Indian kala azar)

निदान इत्यादि :—लक्षणों की दृष्टि से प्रारम्भ मे इस रोग की प्लीहा विषम ज्वर (M. F.) की प्लीहा की अपेक्षा **मृदु** होती है। **विषमयता**

(Toxaemia) की कमी के कारण आन्त्र-ज्वर तथा अन्त्रदण्डाणु (B coli) के उपसर्ग में लक्षणों की उग्रता रोगी को कम प्रतीत होती है। इन दोनों रोगों की यह एक मुख्य प्रकृति है। इन दोनों रोगों के रोगी अनेक दिन तीव्र ज्वर रहने पर भी भोजन के लिये आग्रह करते हैं, मानसिक स्थिति में विशेष विकृति नहीं होती और अनुकूल परिस्थिति में प्रफुल्लचित्त बातचीत करते हैं। रोगके प्रारम्भ में कालज्वर की अपेक्षा **मलेरिया** में अधिक **रक्ताल्पता** (Anaemia) प्रतीत होती है। ध्यान में रखने योग्य है कि इन ज्वरों में, रोहिणी (Diphtheria), अन्तर्हृद्रोग (Endocarditis), तथा तीव्र वृक्कशोथ (Acute nephritis) में प्रारम्भ में ही रक्ताल्पता स्पष्ट प्रतीत होती है। कालज्वर के प्रारम्भ में मलेरिया के समान लक्षण होने पर भी जब मलेरिया की विशिष्ट औषधियों द्वारा ज्वर का शमन नहीं होता तब कालज्वर की सम्भावना ध्यान में रखना चाहिये, विशेष कर उन स्थानों में जहाँ यह रोग प्रायः मिलता है।

प्रायः यह प्रश्न उठता है कि चिकित्सा का क्रम पूर्ण होने के पश्चात् रोगी पूर्णरूप से रोग मुक्त हुआ है या नहीं क्योंकि इस रोग में रोग के पुनरावर्तन की सर्वदा सम्भावना रहती है। **रोगमुक्त** होने के लिये आवश्यक है कि रोग के लक्षणों का शमन हो, रोगी के भार में वृद्धि हो, रोगीका ताप सर्वदा प्राकृत रहे, रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करे और प्लीहा कम होकर प्राकृत हो जाय। प्लीहा की जब अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तब चिकित्सा समाप्त होने के प्रायः ६ मास के अन्दर प्लीहा प्राकृत होती है।

रक्त परीक्षा :—अन्जन (Sb.) तथा सुव्युद (Aldehyde) कसौटियो के अतिरिक्त श्वेतकणों (W. B. C.) तथा रक्त कणों (R.B.C.) का अनुपात १:७५० से घट कर १:१५०० तक हो जाता है। प्राकृत अवस्था में यह अनुपात प्रायः १:७५० रहता है। **मलेरिया** में श्वेतकणों की अपेक्षा रक्तकणों की अधिक कमी होने के कारण यह अनुपात प्रायः १:४०० तक रहता है। रोगी के स्वस्थ हो जाने पर श्वेत तथा रक्तकणो का यह अनुपात भी प्राकृत हो जाना चाहिये। जैसे-जैसे रोगी स्वस्थ होता है श्वेतकणों की वृद्धि होती है विशेषकर बहुाकारी श्वेतकणो (Polymorphs) की। सुव्युद कसौटी तथा अन्जन कसौटी के प्राकृत होने मे समय लगता है इसलिये चिकित्सा समाप्त होने के साथ-साथ इनके प्राकृत होने की आशा नही करनी

चाहिये, परन्तु चिकित्सा समाप्त होने के पश्चात् भी कुछ समय तक इन परिचाओं को करते रहने से रोगी के स्वस्थ होने की दिशा मे प्रगति हो रही है या नहीं इसका ज्ञान होता है। कालज्वर के कायाणु (L. D. bodies) की खोज के लिये **यकृत तथा प्लीहा का वेधन** (Puncture नहीं करना चाहिये। इस क्रिया से रक्तस्राव (Bleeding) की सम्भावना रहती है। इस खोज के लिये उरःफलक वेध (S. P.) तथा लसग्रंथि वेध (G. P.) ही अधिक उपयुक्त हैं। रक्तसवर्ध (Blood culture) से भी इन जीवाणुओ का पता चलता है परन्तु इस क्रिया मे प्रायः दो सप्ताह लगता है और इसके लिये एक विशेश वर्धनक (N. N. N. media) मे रक्त मिला कर २१° से. पर रखना पड़ता है। रोग का यह विशिष्ट प्रमाण है और रोगमुक्त हो जाने पर इन परीक्षाओ द्वारा जीवाणु नहीं मिलने चाहिये।

निष्कर्ष :—इस प्रकार हम देखते है कि कालज्वर के निदान मे इस रोग की कुछ विशेष प्रकृतियो पर ध्यान देना आवश्यक है जैसे :—यह रोग प्रायः उन्ही **स्थानों** मे पाया जाता है जहाँ वह स्थानपदिक (Endemic) होता है। अन्य स्थानो मे उसकी सभावना नही रहती। रोग का संचयकाल [I. P.) दीर्घ होने के कारण **दो वर्ष से कम की** आयु वाले शिशुओ में प्रायः इसकी सम्भावना नही रहती। भारतवर्ष मे इस आयु के बालकों मे विशेष कर हिन्दू परिवारो मे यकृत तथा प्लीहा की वृद्धि होने पर शैशवीय यकृद्दाल्यूत्कर्ष की अधिक सम्भावना रहती है। कालज्वर के प्रारम्भ मे प्रायः **ज्वर का क्रम आंत्रिक ज्वर** (Typhoid) के समान सन्तत (Continuous) हो सकता है परन्तु इस अवस्था मे भी आन्त्रिक ज्वर के विपरीत, कालज्वर मे प्रतिदिन के उच्चतम (Maximum) तथा निम्नतम (Minimum) तापों का अंतर प्रायः २ अंश (Degree) से अधिक होता है। ज्वर का प्र. दि. **द्विवार आरोह** (Double rise) मिल सकता है। ज्वर कम होते समय पसीना हो सकता है। कभी कभी ज्वर प्राकृत के समीप पहुँच जाता है। कभी कभी आन्त्रिक ज्वर की तीन सप्ताह की प्राकृत अवधि समाप्त हो जाने पर भी ज्वर कम होता प्रतीत नही होता। रोगी की मानसिक स्थिति प्राकृत रहती है और रोगी अपने चारो ओर के वातावरण मे दिलचस्पी लेता है। ज्वर की तीव्रता के अनुकूल रोगी को अधिक कष्ट प्रतीत नहीं होता, **रक्तस्राव** की प्रवृत्ति रहती है। प्रारम्भ मे

प्लीहा की अपेक्षा **यकृत की वृद्धि** होती है। प्लीहा जब बढ़ने लगती है तब निरन्तर बढ़ती जाती है और प्रारम्भ मे मृदु होती है। बाल्यावस्था में यकृत तथा प्लीहा की वृद्धि के कारण उदर पर सिरायें वक्र हो जाने के कारण यकृद्दाल्पूत्कर्ष (Cirrhsosis) के समान प्रतीत होती है। **बाल्यावस्था** मे रक्ताल्पता अधिक प्रतीत होती है, कामला (Jaundice) हो सकती है और श्वेतकणों (W.B.C.) मे विशेष कमी नही भी हो सकती है, बल्कि कभी-कभी उनकी वृद्धि (Leucocitosis) मिलती ह।

चिकित्सा :—कामरूपीय जीवाणु (Protozoa) जन्य तीनो रोग, मलेरिया, कालज्वर तथा आम प्रवाहिका (A. Dys) मे रोग की विशिष्ट औषधियॉ है परन्तु रोगनिवृत्ति का अंतिम निर्णय रोगक्षमता (Immunity) पर ही निर्भर करता है। इन रोगो मे किस प्रकार की रोगक्षमता उत्पन्न होती है। इसका विशेष ज्ञान न होने के कारण रोगक्षमता के मूल सिद्धान्तो पर निर्भर करना पड़ता है। इन सिद्धान्तों मे दो सर्वोपरि हैं। प्रथम पौष्टिक आहार तथा औषधि द्वारा मनुष्य के **स्वास्थ्य की वृद्धि** करने से रोग से निवृत होने मे सहायता मिलती है। द्वितीय, रोगी को अनेक बार **ज्वर आने से** रोगक्षमता के निर्माण को उत्तेजना मिलती है। इसी सिद्धात के अनुसार प्रायः रोगियो को अविशिष्ट प्रोटीन (Non-specific proteins) के इजेक्शन द्वारा **कृत्रिम ज्वर** उत्पन्न किया जाता है। इसलिये रोग की विशेष प्रकृति का ध्यान रखते हुये इन सिद्धान्तो से लाभ उठाया जाता है। मलेरिया जैसे मारक रोग मे सभव नहीं है कि रोगी को कुछ समय तक ज्वर आने दिया जाय और उसकी विशिष्ट औषधि को स्थगित रखा जाय। आमप्रवाहिका (A.Dys) मे पचनसंस्थान मे विकृति होनेके कारण अधिक पौष्टिक आहार मुख द्वारा नही दिया जा सकता. परन्तु भाग्यवश कालाजार मे ये कठिनाइयॉ नही होती। साधारतः कालज्वर के रोगी की क्षुधा उत्तम रहती है और वह भोजन पचा सकता है और यदि रोग का विशिष्ट चिकित्सा न भी की जाये तब भी दो वर्ष के अन्दर इस रोग से रोगी की मृत्यु होने की सभावना अत्यल्प रहती है। इसलिये रोगी को स्थायी रूप से लाभ पहुँचाने के लिये तथा रोग के पुनरावर्तन की सभावना को कम करने के लिये **कुछ समय तक विशिष्ट औषधि को स्थगित रखना वैज्ञानिक है**। साथ-साथ इस रोग के निश्चित

निदान में समय लगता है और कालज्वर न रहने पर इसकी विशिष्ट औषधि प्रयोग करने से हानि हो सकती है, विशेष कर यक्ष्मा (T. B.) की सम्भावना रहने पर। इसलिये इस रोग का केवल संदेह रहने पर ही रोग की विशिष्ट औषधि प्रारंभ कर देना वैज्ञानिक दृष्टि से क्षम्य नहीं है विशेष कर यह जानते हुए कि विशिष्ट औषधि कुछ देर से प्रारम्भ करने से भविष्य में रोगी को लाभ होने की ही आशा अधिक है। चिकित्सा की सपूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी को **पौष्टिक आहार, कैलसियम (Cal), लौह (Fe), यकृत सत्व (Liver ext), जिवतिक्तियाँ** विशेषकर, 'ए', 'बी' सपूर्ण, सी, तथा डी, (Vit: A, B, Complex, C.D) देना चाहिये।

(क) साधारण चिकित्सा :—रोग की साधारण चिकित्सा अन्य 'ज्वर' के समान ही है। ज्वर की तीव्र अवस्था मे रोगी को शैय्या पर **विश्राम** करना ही उत्तम है। जब तक आन्त्रिक ज्वर की सम्भावना पूर्ण रूप से दूर न हो जाय तब तक रोगी की साधारण चिकित्सा, विशेषकर आहार के सम्बन्ध में, आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) के समान ही करनी चाहिए।

आहार :—पचन क्रिया उत्तम रहने पर भोजन मे विशेष कड़ाई करने की आवश्यकता नहीं है। ज्वर की **तीव्र अवस्था** मे रोगी को तरल आहार (पृ.४) देना चाहिए। ज्वर की कमी हो जाने पर तथा आन्त्रिक ज्वर की संभावना न रहने पर आहार मे वृद्धि करनी चाहिए। यह वृद्धि रोगी की क्षुधा के अनुकूल होनी चाहिए। इस अवस्था मे रोगी को अर्धतरल आहार (पृ.४) दे सकते हैं। ज्वर प्राकृत होने पर ठोस आहार (पृ.४) देना चाहिए। सिंघाड़ा उन थोड़े से पदार्थों मे है जिनमे कार्बोज (Cho) की मात्रा अधिक रहने पर भी आध्मान नहीं होता। जल मे उत्पन्न होने वाले पदार्थ मखाना, कोटू आदि में कैलसियम (Cal) की मात्रा अधिक रहती है और काल ज्वर मे रक्तस्राव की प्रकृति होने के कारण इसकी चिकित्सा मे **कैलसियम का** विशेष महत्व है।

रोगी प्र. दि. मल परित्याग करे इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए, इस लिए पके पपीते, मुनक्का तथा अञ्जीर का विशेष महत्व है। मुनक्का तथा अंजीर को दूध मे उबाल कर दूध देने से भी कब्ज नही होती। रोगी मे यदि अर्श (Piles) का इतिहास मिले तब इस विषय पर विशेष सावधानी रखनी चाहिये अन्यथा ज्वर मे प्रायः कब्ज होने की प्रकृति रहती है और कब्ज से

अर्श के रोगी को कष्ट होता है। रात्रि में लिक्विड पैरेफिन (Liq. Paraffin) औं. १ या दूध में इसफगोल की भूसी उबाल कर दे सकते हैं। इन उपचारों से लाभ न होने पर ग्लीसरीन की वत्ती (Glycerine suppository) या ग्लीसरीन तथा जैतून के तैल का का एनोमा (यो.११५) प्र.दू.दि. गुदामार्ग से देना चाहिये। इसी प्रकार रोगी के शरीर को ऋतु के अनुसार गरम या शीतल जल से प्र.दि.कम से कम एक बार अवश्य पोंछकर शुद्ध करना चाहिये। **मुखशुद्धि** पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि इस रोग में मुख में मुखकर्दम (Cancrum oris) ऐसा भयंकर उपद्रव हो सकता है। इसलिये ध्यान रखना चाहिये कि मुख में किसी प्रकार का आघात न हो। मुख में किसी प्रकार व्रण (Ulcer) उत्पन्न होने पर प्रारम्भ से ही पेनिसिलीन (P) का इंजेशन,पास्युरिन (Pasturin) का कुल्ला तथा ½–१ प्र. श. मरक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) लगाने का प्रबन्ध करना चाहिये। इस रोग में श्वेतकणों (W.B.C.) में विशेष कमी हो जाने के कारण पूयज (Septic) उपद्रवों की विशेष सम्भावना रहती है इसलिये शरीर के प्रत्येक भाग को पूर्ण रूप से स्वच्छ रखना चाहिये। शैय्याव्रण (Bedsore) न हो इस पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। अन्त में ध्यान रखने योग्य है कि जिन स्थानों में कालज्वर होता है उन स्थानों में प्रायः मलेरिया भी होता है इसलिये इन दोनों रोगों के साथ साथ होने की भी सम्भावना रहती है। इस स्थिति में यदि काल-ज्वर की विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व मलेरिया की रोकथाम नहीं की जाती है तब एन्टीमनी (Sb.) के इन्जेक्शन के पश्चात अकस्मात परमज्वर (Hyperpyrexia) द्वारा रोगी की मृत्यु हो सकती है। एन्टीमनी के प्रारम्भिक दो, चार इन्जेक्शनों के पश्चात कभी कभी ज्वर तीव्र हो जाता है और मलेरिया में भी तीव्रज्वर होने की प्रकृति रहती है इसलिये तीव्र ज्वर के ये दोनों कारणों के एक साथ मिलने से परमज्वर हो जाता है। इसलिये कालज्वर की विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व प्रत्येक रोगी को ५ दिन पर्यन्त **मलेरिया की औषधि** देना चाहिये। मलेरिया के निश्चत निदान के लिये केवल रक्त परीक्षा पर निर्भर करना ठीक नहीं है क्योंकि रक्त में मलेरिया के कायाणु की खोज अत्यन्त कठिन है और कालज्वर के जीवाणु प्रायः साधारण रक्त परीक्षा में नहीं मिलते। कालज्वर का जो रोगी भोजन लेता रहता है वह उपवास करने वाले रोगी की अपेक्षा एन्टीमनी

(Sb) को अच्छा सहन करता है और उसमे इस औषधि की विषाक्तता की कम सम्भावना रहती है। परमज्वर होने पर जलचिकित्सा (पृ. ३७) करनी चाहिये।

(ख) **प्रतिषेध** :—कालज्वर से बचने के लिये मरुमक्षिका (Sand-fly) को डी. डी. टी. द्वारा नष्ट करना चाहिये। यह मक्षिका दिन मे प्रायः ठण्डी तथा अन्धेरी जगहो मे रहती है इसलिये इन स्थानो पर डी. डी. टी. छिड़कने का विशेष प्रबन्ध होना चाहिये। किसी भी नगर मे प्रायः यह रोग विशिष्ट मुहल्लो तथा घरों मे पाया जाता है। उसी प्रकार देहात मे भी खास खास गॉवो मे इसका प्रकोप अधिक होता है। सौभाग्यवश इस मक्षिका के उड़ न सकने के कारण इस रोग के मरक (Epidemic) की प्रगति, एक स्थान से दूसरे स्थान मे, अत्यन्त मंदगति से होती है। इसलिये रोग से सम्बन्धित स्थानो तथा मकानो का पता लगाकर उन स्थानो मे डी.टी.टी. द्वारा मरुमक्षिकाओं को नष्ट करना विशेष कठिन कार्य नही है। इसके अतिरिक्त रोगी को यथासम्भव पृथक कर रात्रि मे मसहरी मे रखना चाहिये। यह मक्षिका प्रायः रात्रि मे मनुष्य को काटती है इसलिये स्वस्थ मनुष्यो को यथासंभव ऊपरी मंजिल मे मसहरी लगाकर सोना चाहिये। इस मक्षिका का आकार अत्यन्त छोटा होता है इसलिये मसहरी का छिद्र भी अत्यन्त छोटा होना आवश्यक है। इस रोग से पीड़ित रोगियो की यथोचित चिकित्सा का भी प्रबन्ध होना चाहिये जिसमे रोगी के शरीर से रोग के कायाणु मक्षिका मे प्रवेश न कर सके। यह मक्षिका प्रायः अन्धेरे मे ही मनुष्य पर आक्रमण करती है, इसलिये प्रकाश में सोने का अभ्यास करना चाहिये। जनता मे भी इस रोग के विषय मे प्रचार करने की आवश्यकता है। इस रोग से सम्बन्धित अनेक विषयो का ज्ञान होते हुए भी अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह कैसे फैलता है। इसलिये रोगो से बचने के मूल सिद्धान्तों से लाभ उठाना चाहिये। रोगी के मल-मूत्र आदि प्रत्येक स्राव को नाली मे फेंकने के पूर्व जीवाणुरहित कर लेना चाहिये। यह सम्भव है कि रोगी के मल से इस जीवाणु का शरीर से परित्याग होता हो।

(ग) रोग की चिकित्सा :—इस रोग की चिकित्सा पर्याप्त सरल तथा लाभप्रद है। विशिष्ट चिकित्सा द्वारा प्रायः शत प्र० श० लाभ होने की संभावना रहती है परन्तु इस रोग के उपद्रव प्रायः गम्भीर होते हैं। इन उप-

द्रवों की चिकित्सा कठिन होती है और प्रायः रोगी की मृत्यु भी इन उपद्रवों के कारण ही होती है। इन उपद्रवों के लिये भी आजकल विशिष्ट औषधियाँ सुलभ हैं। इस लिये रोग की तथा उपद्रवों की ठीक समय पर विशिष्ट औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

इस रोग की चिकित्सा दो प्रकार की औषधियो से की जाती है, अंजन (Sb) के भिन्न-भिन्न योग तथा अंजन रहित (Non-sb) औषधियों के योग :—

(१) **अंजन (S. B.) के योग** :—अंजन के दो प्रकार के योग प्रयोग किये जाते हैं। त्रियुज (Trivalent) तथा पञ्चयुज (Pentavalent) योग। विशिष्ट चिकित्सा के प्रारम्भिक काल मे त्रियुज योग ही प्रयोग किये जाते थे परन्तु अत्यधिक विषाक्त (Toxic) होने के कारण इनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया है और आजकल प्रायः पंचयुग योग ही प्रयोग किये जाते हैं। इन पञ्चयुज योगो में ब्रह्मचारी की यूरियास्टिबेमिन (Urea-stibamine) प्रधान है। अंजन (Sb) के योगो द्वारा चिकित्सा करते समय ध्यान रखना चाहिये कि इस औषधि के इन्जेक्शन की सख्या की अपेक्षा चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि में अंजन की सपूर्ण मात्रा का विशेष महत्व है। औषधि की मात्रा रोगी के भार के अनुसार निधारित करनी चाहिये।

अंजन के निम्न योग हैं :—(अ) यूरियास्टिबेमिन (Ureastibamine Brahmachari) :—भारतवर्ष की आधुनिक औषधि अनुसन्धान के इस ज्वलन्त उदाहरण का सम्पूर्ण श्रेय डा० यू० एन० ब्रह्मचारी को है। इस औषधि द्वारा न केवल लाखों निर्धन रोगियो का उपकार ही संभव हो सका परन्तु साथ ही साथ निर्धन जनता का करोड़ों रुपया विदेश जाने से बचा। जब तक संसार मे कालज्वर का प्रकोप रहेगा, तबतक यह अमृतरूपी औषधि डा० ब्रह्मचारी की कीर्ति को उज्ज्वल करती रहेगी और उनके नाम को भारतीय औषधि के गवेषणा शास्त्रियो में अमिट बनाती रहेगी तथा प्रत्येक भारतीय चिकित्सक का ललाट गर्व से उन्नत करती हुई, नवीन अनुसन्धान के लिए चिरकाल पर्यन्त प्रेरित करेगी।

आज से केवल अर्धशताब्दि पूर्व इस रोग ने आसाम, बंगाल, बिहार आदि प्रान्तों मे जो विनाशकारी दृश्य उत्पन्न किया था वह लेखनी बद्ध नहीं किया जा सकता और आज चिकित्सक वर्ग यदि किसी रोग का उपचार दावे

के साथ कर सकते हैं तो वह है कालज्वर । इस औषधि के विषाक्त (Toxic) होते हुए भी कालज्वर की औषधियो मे इसका प्रमुख स्थान है । यह भूरे रंग का चूर्ण निम्न मात्राओं मे उपलब्ध है तथा इन्जेक्शन के पूर्व इसको निम्न मात्रा मे प० ज० में मिश्रित करना चाहिये ।

ग्रा० ०·०१	—	को १/२	सी० सी०	जल मे मिश्रित करें ।
ग्रा० ०·०२५	—	को १/२	सी० सी०	” ”
ग्रा० ०·०५	—	को १	सी० सी०	” ”
ग्रा० ०·१	—	को २	सी० सी०	” ”
ग्रा० ०·१५	—	को ३	सी० सी०	” ”
ग्रा० ०·२	—	को ४	सी० सी०	” ”

जल शुद्ध तथा शीतल होना आवश्यक है । प्रत्येक रोगी के लिए उसकी निर्धारित मात्रा पृथक् पृथक् बनानी चाहिए । इन्जेक्शन सिरा मार्ग (I.V.) से अत्यन्त शनैः शनैः देना चाहिये । इन्जेक्शन के समय रोगी को शैय्या पर उत्तान लेटे रहना चाहिए और इन्जेक्शन के पश्चात् कम से कम आध घण्टे तक चिकित्सक के सन्मुख उसी अवस्था मे रहना चाहिए । घोल बनाने के पश्चात् शीघ्र ही उसका प्रयोग करना चाहिये । वायु के सम्पर्क से औषधि विषाक्त हो जाती है । इनजेक्शन के दिन रोगी को प्रातःकाल भोजन न करना चाहिए और इन्जेक्शन के दो घण्टा पूर्व चीनी के साथ एक प्याला दूध और आध घण्टे पूर्व चीनी का एक पाव शर्बत पीना चाहिए । खाँसी, यकृत फुफ्फुस तथा वृक्क के रोगो मे विशेष सावधानी आवश्यक है । इनमे अत्यल्प मात्रा में इस औषधि का प्रयोग करना चाहिए । चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व तथा चिकित्सा की अवधि मे शुक्लि (Alb) के लिए मूत्र परीक्षा करते रहना चाहिये । युवावस्था में निम्न मात्रा मे प्रति सप्ताह दो बार सिरामार्ग से इन्जेक्शन लगाना चाहिए :—

प्रथम इन्जेक्शन ग्रा० ०·०५, द्वितीय ग्रा० ०·१, तृतीय ग्रा० ०·१५, तत्पश्चात् १४ इन्जेक्शन ग्रा० ०·२ की मात्रा मे देना चाहिए ।

इस प्रकार दो मास मे ग्रा० २·४३ की सम्पूर्ण मात्रा समाप्त हो सकती है ।

बाल्यावस्था मे आयु के अनुसार ग्रा० ०·०१–०·०२५ से प्रारम्भ कर प्रत्येक इन्जेक्शन की मात्रा तथा चिकित्सा काल की सम्पूर्ण मात्रा भी कम रहनी चाहिए । प्रत्येक बार ग्रा० ०·१ से अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

शैशवावस्था में सपूर्ण चिकित्सा क्रम में औषधि की मात्रा ग्रा० १'५ से अधिक नहीं होनी चाहिये। यह औषधि सब प्रकार के कालज्वर में लाभप्रद है और इसके द्वारा चिकित्सा करने पर रोग के पुनरावर्तन की सम्भावना अत्यल्प रहती है। इजेक्शन द्वारा चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी को कैलसियम (Cal), ग्लूकोस (Glucose), क्षार (Alkali),अमीनोएसिड (Aminoacid) तथा जीवतिक्ति 'बी' और 'सी' (Vit:B.C.) के योग (यो० ५७) देते रहने से यकृत में विकृति नहीं होती।

कभी-कभी इसके इजेक्शन के तत्काल पश्चात् **प्रतिक्रिया** (Reaction) के लक्षण होते हैं। ये लक्षण प्रायः स्तब्धता (Shock) के समान होते हैं। रोगी की नेत्रकला (Conj:) रक्तवर्ण हो जाती है, वमन होता है, उदर में पीड़ा होती है, नाड़ी क्षीण होकर लुप्त हो जाता है, पसीना आने लगता है, श्वास लेने में कष्ट होता है तथा शरीर पर शीत पित्त (Urticaria) निकल आता है। ये लक्षण कभी कभी अत्यन्त भयंकर होते हैं और रोगी की मृत्यु निकट प्रतीत होती है। इस स्थिति में चिकित्सक को हिम्मत नहीं हारनी चाहिये और निपात (Collapse) की चिकित्सा तत्काल प्रारम्भ कर देनी चाहिये। रोगी को शैय्या पर लिटा कर, कम्बल से ढक कर, पंखा करना चाहिये। पसीना कम करने के लिए उसके सारे शरीर में डस्टिंग पाउडर (यो. ७३) लगा कर हाथ-पैर की मालिश करना चाहिए। रोगी यदि औषधि पी सके तब उत्तेजक औषधियाँ (यो. ३६) मुख से देना चाहिये अन्यथा एड्रिनलीन (Adrenaline) १/२ सी.सी. का अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से इजेक्शन देना चाहिये। कोरामीन (Ce) मुख द्वारा मि. १५ या अधत्वक मार्ग से १'७ सी. सी. प्रयोग करें। आ. अ. कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal) १० प्र. श. ५–१० सी. सी. सिरामार्ग द्वारा, एट्रोपीन सल्फ (Atropine sulph) ग्रे. १/१०० पेशीमार्ग द्वारा तथा समबल लवण घोल (N. Saline) पा १–२ सिरामार्ग से प्रयोग करना चाहिये। भविष्य में अंजन (Sb.) की मात्रा कम कर देनी चाहिये और रोगी को इंजेक्शन के पूर्व हिस्टामिन निरोधी (Antihistamine) औषधि जैसे **बेनाड्रिल** (Benadryl) कै. १ या एन्टीस्टीन (Antistine) गो. १ मुख से देना चाहिये। बेलाडोना (Belladonna), इफेड्रीन (Ephedrine) आदि का योग (यो. ३५) भी प्रयोग कर सकते हैं।

यूरियास्टिबमीन का उपर्युक्तवर्णित चिकित्साक्रम ही सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त निम्न चिकित्साक्रम भी प्रयोग किये जाते हैं। ये प्रयोग निर्अपवाद नहीं हैं। १—रोगी की आयु तथा भार के अनुसार प्रथम ६ दिन प्र. दि. इंजेक्शन लगा कर एक सप्ताह औपधि बन्द रखना चाहिये तत्पश्चात् पुनः ५ दिन प्र. दि. इंजेक्शन देना चाहिये। २—रोगी की आयु तथा भार के अनुसार निरन्तर ११ दिन प्र. दि. इञ्जेक्शन लगाये।

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि रोगी औषधि सहन कर सकेगा या, नहीं इसलिये इन दोनो (१ और २) विधियों मे सर्वप्रथम अत्यन्त अल्पमात्रा मे औषधि प्रयोग करना चाहिये और यदि रोगी औषधि सहन कर सकता है तब मात्रा बढानी चाहिये। युवावस्था मे इन दोनो विधियो मे औषधि की सम्पूर्ण मात्रा प्रायः ग्रा० २·१ होती है। इन विधियों का प्रयोग रोगी को चिकित्सालय मे रख कर ही करना चाहिये जिससे आवश्यकता पड़ने पर रोगी हर समय चिकित्सक के निरीक्षण मे रहे। औषधि की प्रत्येक मात्रा को १० सी.सी.प.ज. मे मिला कर इंजेक्शन दें। इन विधियो से चिकित्सा मे कम समय लगता है और रोगी को अधिक काल तक चिकित्सालय मे रखने की आवश्यकता नही पड़ती।

(आ) न्योस्टिबोसन (Neostibosan) :—इस औषधि मे अंजन (Sb) की मात्रा ४० प्र. श. होती है। इसको पेशी (I. M.) या सिरा (I. V.) दोनो ही मार्गों से प्रयोग कर सकते है।

इसकी निम्न मात्राये शीतल प. ज. मे घोल कर प्रयोग करना चाहिये :—

०·०५ ग्रा. १ सी. सी. जल मे, ०·१ ग्रा. २ सी. सी. जल मे, ०·२ ग्रा. ३ सी. सी. तथा ०·३ ग्रा. ४ सी. सी. जल मे मिश्रित करे।

इस औषधि के प्रयोग मे भी उपर्युक्त वर्णित सावधानियो पर ध्यान रखना आवश्यक है। इस औषधि के प्रयोग करने की निम्न विधियाँ हैं।

१—इस विधि मे सप्ताह मे दो बार इञ्जेक्शन लगाना चाहिए:—

प्रथम बार ग्रा. ०·१, द्वितीय बार ग्रा. ०·२ तत्पश्चात् ग्रा. ०·३ का दस बार प्रयोग करे। इस चिकित्सा क्रम मे औषधि की सम्पूर्ण मात्रा ग्रा. ३·३ होती है।

२—इस विधि मे निरन्तर ११ दिन इंजेक्शन लगाना चाहिये :—
प्रथम दिन ग्रा. ०·१ पेशी (I. M.) या सिरामार्ग से प्रयोग करना चाहिये।

तत्पश्चात् रोगी की प्रत्यात्मप्रकृति (Idiosyncrasy) का ज्ञान कर लेने पर, ग्रा. ०·३ की मात्रा प्र. दि. कर १० दिन तक प्रयोग करना चाहिये। रोगी को इस विधि की सम्पूर्ण अवधि में शैय्या पर तथा चिकित्सक के निरीक्षण में रहना चाहिये। चिकित्सा समाप्त होने पर रोग के सम्पूर्ण लक्षणों का निवारण नहीं होता परन्तु शनैः शनैः रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है।

यह औषधि कम विपाक्त तथा प्रभावशाली है। बाल्यावस्था में, अत्यन्त दुर्बल रोगी में तथा उपद्रवों के साथ कालज्वर रहने पर इस औषधि का विशेष महत्व है। इसमें प्रतिक्रिया (Reaction) की संभावना अत्यल्प होती है।

(इ) **सोल्यूस्टिबोसन** (Solustibosan 'Br') :—यह पीड़ा-रहित तथा अत्यल्प विषाक्त (Toxic) है इसलिये इस औषधि को प्रायः पेशी मार्ग (I. M.) से बाल्यावस्था, अत्यन्त दुर्बल रोगी, उपद्रवों के होते हुए तथा स्त्रियों में प्रयोग कर सकते हैं। इस औषधि में जल मिश्रण करने की आवश्यकता नहीं होती। साधारण रोगी के लिए प्रत्येक बार ६ सी. सी. इञ्जेक्शन लगाना चाहिए। सम्पूर्ण चिकित्सा के लिए ६० सी. सी. पर्याप्त है। यदि रोगी का भार प्राकृत से अधिक हो तब प्रति बार ८ सी. सी. तक प्रयोग कर सकते हैं। इस औषधि की प्रति सी. सी. में,अंजन (Sb) की मात्रा ग्रा. ०·१ होती है। भार के अनुसार सम्पूर्ण चिकित्साक्रम में सी. सी. १ प्र. से. भा. की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार ६० सेर वाले रोगी को प्रायः ६० सी. सी. की आवश्यकता पडती है। इस मात्रा को १० में विभाजित कर द्वि. प्र. स. इन्जेक्शन लगाना चाहिये या प्र.दि.निरन्तर १०दिन तक इन्जेक्शन दे सकते हैं।

(ई) **स्टिबेटीन** (Stibatine 'Go'):—इस औषधि के दो योग मिलते हैं सेन्द्रित (Concentrated) तथा अवमिश्र (Dilute) योग:—

१—संकेन्द्रित औषधि की मात्रा, इन्जेक्शन का मार्ग तथा क्रम नेयोस्टिबोसन के ही समान है परन्तु औषधि पीड़ाकर है तथा पूर्णरूप से प्रभावशाली न होने के कारण इससे प्रायः रोग का पुनरावर्तन होता है।

२—अवमिश्र औषधि में अधिक मात्रा की आवश्यकता पडती है। यह अव्यवहारिक है।

(ए) **एन्थियोमेलीन** (Anthiomaline MB) :—यह औषधि अंजन (Sb) का त्रियुज (Trivalent) योग है। मूल औषधि में १६ प्र. श. अजन (Sb) की मात्रा रहती है। इस औषधि का ६ प्र. श. घोल

मिलता है। घोल की प्रत्येक सी.सी. में ०.०१ ग्रा. अंजन रहता है। सोलूस्टिबोसन के समान इसका भी पेशीमार्ग से प्रयोग करते हैं। युवावस्था में इसकी मात्रा सी, सी. २–४ प्र.वा. है परन्तु ½ सी.सी. से प्रारम्भ कर शनैः शनैः इस मात्रा पर पहुँचना चाहिये। इसका इन्जेक्शन प्रायः द्वि. प्र. स. दिया जाता है। सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम में सी. सी. ४०–८० की आवश्यकता पड़ती है। **बाल्यावस्था** में ½–२ सी. सी. प्र. वा. प्रयोग करना चाहिये। अपवि पीड़ाकर है।

(उ) **नेयोस्टिबीन** (Neostibene Brahmachri) :—यह औषधि पेशी मार्ग से प्रयोग की जाती है। इसकी मात्रायें यूरियास्टिबमीन के समान हैं और उसी के समान इसको जल में घोलना पड़ता हैं परन्तु इसके घोलने का एक विशेष जल (Stibo solvent) मिलता है जिससे इन्जेक्शन में पीड़ा कम होती है। इसका चिकित्साक्रम सोलूस्टिबोसन के समान है।

सूचना :—यक्ष्मा (T.B.) में अजन (Sb) के इंजेक्शन से हानि होती है। जलोदर (Ascites) में भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। जलोदर यदि कालज्वर के कारण हो तब अत्यल्प मात्रा में अजन का प्रयोग कर सकते हैं इसके लिये नेयोस्टिबोसन या सोलूस्टिबोसन का प्रयोग ही उत्तम है। कामला, यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Cirrhosis), फुफ्फुसपाक (Pneumona), वृक्कशोथ (Nepritis) आदि में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। पतले दस्त तथा प्रवाहिका (Dys:) में औषधि बन्द कर देना चाहिये या उसकी मात्रा कम कर अत्यन्त सावधानी से प्रयोग करना चाहिये। ये उपद्रव अत्यन्त मारक हैं।

(ऊ) **नेओस्टैम** (Neostam B.W & Co):— इस औषधि का ६ प्र. श. घोल सिरामार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः द्वि. प्र. स. प्रयोग करना चाहिये। इसकी प्र. मा. युवावस्था में प्रायः ग्रा. ० १५ की होती है। सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम में प्रायः ग्रा. ४–४½ की आवश्यकता पड़ती है।

(ए) **सोडियम तथा पोटासियम एन्टीमनी टार्ट** (Na & K. Sb-tart) :—यह औषधि अजन (Sb.) का त्रियुज (Trivalent:) योग है। विषाक्त होने के कारण इस औषधि का आज कल प्रयोग नहीं किया जाता है परन्तु यदा-कदा ऐसे रोगी मिलते है जिन्हे कालज्वर की अन्य औषधियों से लाभ नहीं होता, उनमे इस औषधि का प्रयोग कर सकते है। इस औषधि का **२ प्र.श. घोल** १/२ से २ सी.सी. तक द्वि.प्र.स. सिरामार्ग

से प्रयोग करना चाहिये। कुछ लोग ६ सी. सी. तक प्रयोग करते हैं परन्तु २ सी सी. से अधिक प्रयोग करने पर विशेष सावधानी की आवश्यकता है। १ प्र. श. घोल बनाने पर १–४ सी. सी. तक प्रयोग करना चाहिये। यदि रोगी औषधि सहन करता है तब इस घोल का १२ सी. सी. तक प्रयोग कर सकते हैं। सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम में युवावस्था में ३० ग्रे (२ ग्रा.) की आवश्यकता पड़ती है। सिर तथा छाती में दर्द, ज्वर, वमन आदि विषक्तता के लक्षण होने पर औषधि की मात्रा कम कर देना चाहिये।

(ख) अञ्जनरहित (Non-Sb) औषधियाँ :—ये औषधियाँ विषाक्त होने के कारण भारत में प्रचलित नहीं हैं :—

(१) स्टिलबामेडिन (Stilbamidine-M.B. 744) :—यह औषधि सिरा या पेशी मार्ग (I.M.) से प्रयोग की जा सकती है। औषधि की प्रत्येक मात्रा १० सी. सी. ५. ज. में मिश्रित कर अत्यन्त शनैः शनैः दस दिन तक निरन्तर अथवा प्र. तीसरे दिन प्रयोग करना चाहिये। ग्रा. ०·०५ से प्रारम्भ कर ग्रा. ०·२ तक प्र. बा. इंजेक्शन दिया जाता है। इस औषधि के प्रयोग में रक्त निपीड़ (B. P.) तथा रक्त शर्करा (Blood sugar) की अत्यन्त कमी होने का भय रहता है। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि में ग्रा. १·३–२·५ की मात्रा आवश्यक है।

कालज्वर के साथ यक्ष्मा (T. B.) रहने पर इस औषधि के द्वारा चिकित्सा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त रोग के पुनरावर्तन में तथा जब रोगी को अञ्जन (Sb.) के योगों से लाभ नहीं होता तब इस औषधि का प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु यह औषधि विषाक्त है। इसकी विषाक्तता के दो स्वरूप होते हैं। तात्कालिक प्रतिक्रिया होने पर यूरियास्टिबमीन के समान स्तब्धता (Shock) होती है और इसकी चिकित्सा भी उसी के समान करनी चाहिये। चिकित्सा समाप्त होने के प्रायः चार, पाँच मास पश्चात् त्रिधारा वातनाड़ी (Trigeminal N.) त्वचा के जिस भाग को प्रदाय करती है उस स्थान पर संवेदना में परिवर्तन होता है। संवेदना नष्ट हो जाती है अथवा दुःसंवेदना (Paresthesia) होता है।

(२) पेन्टामिडीन (Pentamidine) :—यह औषधि भी स्टिलबामिडीन के समान है। ये दोनो औषधियाँ प्रारम्भ में अफ्रिका में तरकटीतनु उपसर्ग (Trypanosomiasis) में प्रयोग की जाती थी। इस औषधि

की मि. ग्रा. १०० की मात्रा, सिरामार्ग से १० सी. सी. प. ज. मे मिलाकर १२ दिन तक प्र. दि. इन्जेक्शन लगाना चाहिये।

कालज्वर में प्रयोग की जाने वाली औषधियों की रोगी के भार के अनुसार मात्रा

औषधि	प्र. मा. प्र. से. भा. के अनुसार	सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम मे औषधि की मात्रा प्र.से.भा. के अनुसार
नेओस्टैम (Neo stam)	२·२ मि. ग्रा.	६६ मि. ग्रा.
स्टिलबामिडीन (Stilbamidine)	१–४ मि. ग्रा.	४० मि. ग्रा.
सोलूस्टिबोसन (Solostibosan)	८ मि. ग्रा.	१०० मि. ग्रा.

(घ) **अन्य चिकित्सा :**—विशिष्ट चिकित्सा के क्रम मे या उसके पश्चात् रोगी का **स्थान परिवर्तन** कर ऐसे स्थान मे कुछ समय के लिये ले जाने से जहाँ यह रोग नहीं होता है, लाभ होता है। श्वेतकणो (W.B.C.) मे अत्यधिक कमी होने के कारण द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn :) होने की सम्भावना रहती है इसलिये श्वेतकणो की वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। अञ्जन (Sb.) द्वारा चिकित्सा करने से श्वेतकणो की प्रायः स्वयं ही वृद्धि होती है परन्तु यह वृद्धि यदि सन्तोषजनक न हो तब **सोडियम न्यूक्लिनेट** (Sodi : nucleinate) ५ प्र. श. का २ सी. सी. पेशीमार्ग से प्र.दू.दि. इन्जेक्शन दे सकते हैं। प्रायः ६–१२ बार इञ्जेक्शन देने की आवश्यकता पड़ती है। **यकृत सत्व** (Liver ext:) सी.सी. २ पेशीमार्ग से द्वि.प्र.स. अथवा लूगोल की आयोडीन (यो.६७) सिरामार्ग से, ½–२सी.सी.द्वि.प्र.स. प्रयोग कर सकते है। आयोडीन की प्रत्येक मात्रा को ५–१० सी. सी. प. ज. मे घोल कर प्रयोग करना चाहिये। द्वितीयक उपसर्ग रहने पर पेनिसिलीन (P) या वैक्सीन (Vaccine) का इंजेक्शन देना चाहिये। चिकित्साशास्त्र के सिद्धात के अनुसार प्रायः किसी भी रोग मे सर्व-प्रथम द्वितीयक उपसर्ग की चिकित्सा करनी चाहिये और रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर या उपद्रवो की तीव्रता मे कमी होने पर मूल रोग की चिकित्सा यथा-सम्भव शीघ्र ही प्रारम्भ कर देनी चाहिये। दोनो चिकित्साये साथ-साथ भी की जा सकती हैं।

कालज्वर मे उपद्रवों की तीव्रता के समय प्रायः अञ्जन (Sb.) के योग अत्यन्त लघुमात्रा मे पेशीमार्ग से ही प्रयोग किये जाते हैं। अजन (Sb.) के योग जब द्वि. प्र. स. प्रयोग किये जाते हैं तब ज्वर प्रायः ४–५ इन्जेक्शन के पश्चात् प्राकृत हो जाता है। यदि प्लीहा की अत्यधिक वृद्धि नहीं रहती तब चिकित्साक्रम समाप्त होने पर प्लीहा प्राकृत हो जाती है परन्तु प्लीहा की यदि अत्यधिक वृद्धि रहती है तब प्लीहा के प्राकृत होने मे तीन मास तक समय लग सकता है। इसी प्रकार जब अजन (Sb.) का इन्जेक्शन प्र. दि. करके १०–११ दिन तक निरन्तर दिया जाता है तब चिकित्सा समाप्त होने पर प्रायः ज्वर तथा प्लीहा दोनों ही प्राकृत नहीं होते। चिकित्सा समाप्त होने के १५ दिन के अन्दर प्रायः ज्वर प्राकृत हो जाता है और यदि प्लीहा की अत्यधिक वृद्धि नहीं रहती तब वह भी एक मास मे प्राकृत हो जाती है। इस विधि से अत्यधिक बढ़ी हुई प्लीहा के प्राकृत होने मे प्रायः ३–४ मास समय लगता है। प्लीहा कम करने के लिये श्वेतकणों की वृद्धि करनी चाहिये तथा चार सल्फेट का योग (यो. ८) प्रयोग करना चाहिये। प्रातःकाल मैगसल्फ (Mag : sulph) प्र. दू. दि. ४ ड्रा. द्वारा विरेचन कराने से भी प्लीहा मे कमी होती है।

(ङ) उपद्रवों की चिकित्सा :— प्रवाहिका (Dys :), फुफ्फुसपाक (Pneumonia), रक्तस्राव (Bleeding), रक्ताल्पता (Anaemia) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। प्रवाहिका (Dys:) तथा पतले दस्त होने पर अंजन (Sb.) का प्रयोग स्थगित कर देना चाहिये और इस उपद्रव के शान्त हो जाने के पश्चात् लघुमात्रा मे अजन के योग पेशीमार्ग से सावधानी पूर्वक देना चाहिये। इञ्जेक्शन के मध्य की अवधि बढ़ा देना चाहिये। समस्त शरीर पर खुजली या मुहासा (Pimples) आदि निकल आने पर या विद्रधि (Abscess) अथवा अन्य पूयजनक (Septic) उपद्रव होने पर पेनिसिलीन (P) का प्रयोग करना चाहिये। श्वेतकणों (W.B.C.) की कमी रहने पर सल्फा (S) के प्रयोग से हानि हो सकती है। फुफ्फुसपाक (Pneumonia) में श्वेतकणों की वृद्धि होने के कारण कालज्वर मे लाभ होने की सम्भावना रहती है परन्तु यह विकृति ठीक होने के तत्काल पश्चात् कालज्वर की चिकित्सा प्रारंभ कर देनी चाहिये अन्यथा इस उपद्रव के पुनरावर्तन की सम्भावना रहती है।

इस उपद्रव के पश्चात् कालज्वर में फुफ्फुस में विद्रधि (Abscess), कर्दम (Gangrene), पूयोरस (Empyema) आदि होने की अधिक संभावना रहती है। फुफ्फुसपाक के शमन होने में भी अधिक समय लग सकता है। कालज्वर के दो विशिष्ट उपद्रवो की चिकित्सा निम्न है :—

(च) कर्दमास्य (Cancrum oris) :—

परिचय :—कालज्वर का यह एक अत्यन्त घातक उपद्रव है। इसमे मुख में व्रण (Ulcer) हो जाता है और वह अति शीघ्रता से कर्दम (Gangrene) का स्वरूप धारण करता है। व्रण की शीघ्रता से वृद्धि होती है। बाहर की ओर कपोल की त्वचा काली हो जाती है। दाँत ढीले पड कर गिरने लगते हैं। कपोल की त्वचा नष्ट हो जाने पर दन्तपंक्ति तथा हनु (Mandible) दिखलाई देने लगते हैं। द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn) के कारण मुखसे दुर्गन्धि आने लगती है। रक्तस्राव (Hemorrage) की सम्भावना रहती है। व्रण से दुर्गन्धित स्राव निकलता है। यह उपद्रव प्रायः रोगी की दुर्बलता का सूचक है और कालज्वर के अतिरिक्त, आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), मसूरिका (Smallpox) आदि रोगो मे भी मिलता है। शीघ्रता से इसकी उपयुक्त चिकित्सा न करने से विषमयता, (Toxaemia), रक्तस्राव (Bleeding), दौर्बल्य आदि के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा :—इस उपद्रव की चिकित्सा मे निम्न विषयोपर ध्यान रखना आवश्यक है :—

१—रोगी के अत्यन्त दुर्बल होने पर यह उपद्रव होता है इसलिए रोगी को पौष्टिक आहार तथा स्वास्थ्यवर्धक औषधियाँ देनी चाहिये। स्वास्थ्यवृद्धि के लिये संखिया (As), कुचला (Nuxvomica), लौह (Fe), आदि के योग (Esten syr, Bynian amara) च. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. दे सकते है। रक्ताल्पता (Anaemia) ठीक करने के लिये यकृत-सत्व (Liver ext) सी. सी. २ पेशीमार्ग से प्र. दू. दि. देना चाहिये। इससे श्वेतकणो (W.B.C.) की भी वृद्धि होती है। लौह के लिये फेरी यट अमोन साइट्रस (यो. ३७–३९) ग्रे. ३० त्रि.प.दि. भो. प. दे। **भोजन** मे दूध, साबूदाना, शन्तरा, मौसम्बी आदि फलो के अतिरिक्त प्रोटीन (Ptn.) तथा जीवतिक्तियो (Vit) की अधिक आवश्यकता होती है। प्रोटीन हाइड्रोलाईसेट (Protein hydrolysate) च. १ त्रि. प्र. दि. भो. प. दे।

जीवतिक्ति सम्पूर्ण के योग (Multicebrin, Wimin) कै. १ द्वि. प्र.दि. भो. प. देना चाहिये ।

२—**द्वितीयक उपसर्ग** (Secondary ifn:) के लिये पेनिसिलीन (P) तथा वैक्सीन (Autovaccine) का प्रयोग करना चाहिये । श्वेत-कणों (W.B.C.) की सख्या में वृद्धि करने के लिए सोडियम न्यूक्लिनेट (Sodi: nucleinate) ५ प्र. श. सी. सी. ३ पेशीमार्ग से प्र. दू. दि. या न्यूक्लिक एसिड (Nucleic acid) सी. सी. १ पेशीमार्ग से प्रयोग कर सकते हैं ।

३—**व्रण की स्थानिक चिकित्सा** के लिये रोगी को पोटासियम परमेंगनेट ($KmnO_4$) के हलके गुलाबी रग के घोल से या एक गिलास गर्म जल मे लिस्टरीन (Listerin) च. १ या पास्टुरीन (Pasturin) च. १ या इ. सी. (E.C.) मि. ३० डालकर कुल्ला करना चाहिये । २० सी. सी. जल मे कैलसियम पेनिसिलीन (Cal : P) ल. १ अ. इ. मिलाकर व्रण में त्रि. या चा. प्र. दि. लगाना चाहिये । इसी पेनिसिलीन सी २०,००० अ.इ. अधस्त्वक् मार्ग (S. C.) से प्रति ३ घण्टे करे कम से कम एक सप्ताह तक इन्जेक्शन लगाना चाहिये । ट्राईक्लोर एसटिक एसिड (Trichlor-acetic acid) का ग्लीसरीन मे १० प्र. श. घोल सूई मे भिगा कर द्वि. या त्रि. प्र. दि. व्रण मे लगाना चाहिये । पेनिसिलीन द्वारा जब स्थानिक चिकित्सा की जाती है तब इन अन्य जीवाणुनाशक (Antiseptic) औषधियों का व्रण मे लगाना अच्छा नहीं है ।

४—इस उपद्रव का मूल कारण कालज्वर होने के कारण, तत्परता से कालज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये नेयोस्टिबोसन (Neostibosan) ११ दिन तक प्र. दि. इन्जेक्शन लगाना विशेष लाभप्रद है ।

सूचना :—कालज्वर के रोगी की मुख शुद्धि का विशेष प्रबन्ध करना आवश्यक है । उसके मुख की बराबर परीक्षा करनी चाहिये और ध्यान रखना चाहिये कि दतुअन आदि से रोगी अपने मुख मे किसी प्रकार का आघात न करे । मुख परीक्षा मे व्रण दिखलाई पड़ने पर उसकी तत्परता से चिकित्सा करनी चाहिये ।

(छ) **चर्मण्य लीशमनीयता** (Dermal leishmaniasis) :—

परिचय :—त्वचा की यह विकृति कालज्वर मे अजन (Sb) द्वारा

चिकित्सा करने के पश्चात या कालज्वर के इतिहास के अभाव मे भी होती है। यह विकृति जब स्तरिक प्रकार (Scaly) की होती है या अंजन के इन्जेक्शन के पश्चात होती है तब यह प्रायः असाध्य होती है। यह जब ग्रन्थिक प्रकार की या कालज्वर के अभाव मे होती है तब चिकित्सासाध्य होती है।

चिकित्सा :—इस उपद्रव की चिकित्सा कालज्वर के समान ही अंजन द्वारा करनी चाहिये। इस विकृति में अंजन के चिकित्साक्रम को अनेक बार करने की आवश्यकता पड़ती है। सिरामार्ग की अपेक्षा पेशी मार्ग से अंजन का प्रयोग करने से इसमे अधिक लाभ होता है। साथ साथ रोगी के स्वास्थ्य की उन्नति भी पौष्टिक औषधि तथा आहार द्वारा करना चाहिये। भोजन में प्रोटीन (Ptn) तथा विटामिन (Vit) की प्रधानता होनी चाहिये। इसलिये रोगी को हरे शाक, फल, दूध, अण्डा, मॉस, मछली आदि अभ्यास के अनुसार देना चाहिये। जीवतिक्ति सम्पूर्ण (Multi-vit) का कै. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये। अजन की मात्रा तथा इन्जेक्शन की विधि कालज्वर के समान है। परन्तु एक क्रम मे १०-१२ इन्जेक्शन लगाने के पश्चात, एक मास औपधि बन्द कर पुनः १०–१२ वार इन्जेक्शन लगाना चाहिये। इस अवधि मे यदि रोगी पूर्णरूप से रोग मुक्त न हो जाय तब ३ मास औपधि बन्द करने के पश्चात पुनः १०–१२ वार इन्जेक्शन लगाना चाहिये। इस रोग मे अनेक वार अंजन का प्रयोग करना पड़ता है। इसलिये बराबर मूत्र परीक्षा कर शुल्कि (Alb) के लिये देखते रहना चाहिये और यकृत को हानि से बचाने के लिये चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधिपर्यन्त रोगी को मुख द्वारा क्षार (Alkali), अमीनोएसिड (Aminoacids), वाइटेमिन, 'वी' तथा 'सी' (Vit : B.C.) कैलशियम (Cal) और ग्लूकोस (यो. २७) त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। साथ साथ पोटासियम आयोडाइड (K.I.) ग्रे. ५–१५ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। इस औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये। अंजन को बन्द करने की अवधि मे इस औषधि को स्थगित करने की आवश्यकता नही है। दूध के साथ इसका प्रयोग करने से प्रतिक्रिया की सम्भावना कम रहती है। द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn) रहने पर पेनिसिलीन (P) का प्रयोग कर सकते हैं। लेशमान डोनोवान पिण्ड (L.D. body) से बनी वैक्सीन (Leishmo-dermin)

अभी प्रायोगिक अवस्था मे है। श्वेतकणों (W.B.C.) की वृद्धि के लिये यकृत सत्त्व (Liver ext :), दूध (Milk), न्यूक्लीन (Nuclin) आदि का पेशीमार्ग से प्रयोग करना चाहिये। रोग के निश्चत **निदान** के लिये ग्रन्थि (Nodule) को छेदकर लि. डो. पिण्ड (L. D. Body) के लिये खोजना चाहिये।

कालज्वर की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—यह रोग लघु करने वाला क्षय के समान है। इसमे जीर्णज्वर के समान चिकित्सा करना चाहिये। रोगी का प्रथम आवश्यकतानुसार शोधन करने के उपरान्त बलवर्धक औषधियों की योजना करना चाहिए। पथ्य में प्रमुखतः दुग्ध दे।

इस रोग की मुख्य औषधि मुक्तानीलाञ्जनयोग (सुश्रुत) है। इसमें नीलाञ्जन (Sb) भी पड़ता है। इसका अनुपान गोमूत्र है। यह पुराने रोगियों पर प्रभावकारी औषधि है।

प्राच्यव्रण (Oriental sore)

निदान :—उष्णकटिबंधीय लीशमन पिण्ड (Leishmania tropica) जन्य यह जीर्ण, पीड़ा रहित, व्रण (Ulcer) चेहरा, हाथ, पैर, आदि शरीर के खुले हुये भागो मे कर्णिका (Papule) के समान प्रारम्भ होकर, शनैः शनैः व्रण का स्वरूप धारण करता है। व्रण संख्या मे प्रायः अकेला होता है। व्रण का किनारा उठा हुआ तथा कड़ा होता है। यह प्रायः दिल्ली के दक्षिण ओर के प्रान्तो मे बाल्यावस्था में मिलता है। लस ग्रंथियों (Lymph glands) की प्रायः वृद्धि नहीं होती। व्रण की मित्ती तथा तले (Floor) को खुरच कर स्राव को एक विशिष्ट वर्धनक (N. N. N. media) मे कुछ दिन रख कर, कायाणुओं का संवर्ध (Culture) करने से रोगविनिश्चिति संभव है।

चिकित्सा (क) साधारण :—इस रोग की साधारण चिकित्सा चर्मण्यलीशमनियता (Dermal leishmaniasis) के समान ही है। पौष्टिक आहार, औषधि, विटामिन (Vit:) आदि द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। कालज्वर के समान ही अंजन (Sb.) के योग का सिरा या पेशी मार्ग से १०–११ बार इन्जेक्शन करना चाहिये। द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn) के लिये मुख द्वारा सल्फा (S) या पेनिसिलीन (P.) का इन्जेक्शन देना चाहिये। फोआडीन (Fowadin)

०'५–५ सी० सी० तक पेशी मार्ग से या क्विनीन आयोडोबिसमथेट (Iodo-bismuthate of quinine) ३ सी० सी० द्वि० प्र० स० सिरा मार्ग से दिया जाता है। इन औषधियों की अपेक्षा यूरियास्टिबमीन (Urea sti-bamine) या नेयोस्टिबोसन का प्रयोग अधिक लाभप्रद है। मुख द्वारा प्रातःकाल ट्रिपारसोल (Triparsol) ग्रे० १०–१५ ए० प्र० दि० भो० पू दिया जाता है। लेशमानिया ट्रोपिका (L.tropica) को न० न० न० (N. N. N. media) मीडिया पर संवर्ध (Culture) कर वैक्सीन (Vaccine) बनाकर अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से ½–२ सी० सी० द्वि० प्र० स० कर ६–८ बार इन्जेक्शन देने से भी लाभ होता है। इसी प्रकार की एक औषधि 'रे' की वैक्सीन (Leishmo-dermin) है। ये वैक्सीन प्रायोगिक अवस्था मे हैं।

(ख) स्थानिक चिकित्सा :—बरबेरिन सल्फ (Berberine sulph) ग्रे० १ को प० ज० सी० सी० ६ मे घोल कर व्रण के चारो ओर त्वचा के नीचे १½ सी० सी० प्र० बा० द्वि० या त्रि० प्र० स० इन्जेक्शन लगाना चाहिये। इस प्रकार प्र० बा० ग्रे० ⅓ से अधिक औषधि प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस औषधि का १ प्र० श० घोल भी १½ से २ सी० सी० तक प्र० बा० प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त **इमेटिन हाइड्रोक्लोर** (Emetine hydrochlor) का ५ प्र० श० घोल, १५–२० सी० सी० तक व्रण के तले (Floor) तथा किनारे मे इन्जेक्शन द्वारा प्रवेश किया जाता है। इस औषधि का ग्रे० ०'१३ से ०.७५ तक व्रण के किनारे के बाहर इन्जेक्शन लगा सकते हैं। **ओरीसोल** (Orisol MB), बरबेरिनसल्फ का योग है, इसके २ प्र० श० घोल का २–३ सी० सी० त्रि० प्र० स० व्रण के चारो ओर इन्जेक्शन लगाया जाता है। **मेपाक्रिन** (Mepacrine) का २ प्र० श० घोल का ३ सी० सी० द्वि० प्र० स० व्रण के चारा ओर तीन स्थान मे इन्जेक्शन लगा सकते हैं। एक बार मे औषधि की संपूर्ण मात्रा ३ सी० सी० से अधिक नहीं होनी चाहिये। **व्रणोपचार** (Dressing) के लिये समय-समय पर अनेक औषधियो का प्रयोग किया गया है। परमबल लवण जल (Hypertonic saline) या कैलसियम पेनिसीलीन (Cal-p) ल० १ अं० इ० को २० सी० सी० प० ज० मे घोल कर अथवा पेनि-सीलीन की साधारण मलहम (Ung:P) घाव मे लगा सकते हैं। इसके

अतिरिक्त सिगनोलीन (Cignolin) या कर्पूर की मलहम (गो० ७६) लगा सकते हैं। कर्पूर की मलहम चेहरे पर नहीं लगाना चाहिये। **एरण्ड बीज** (Recinus seed) की मलहम १० प्र० श० लगाने से प्रारम्भ में व्रण में कष्ट होता है तथा स्राव की वृद्धि होती है परन्तु ५–६ दिन पश्चात् घाव भरने लगता है। **कार्बन डायोक्साइड स्नो** (CO_2 snow) १०–१५ दिन तक ५–३० सेकण्ड प्र० दि० लगाने से या **क्ष-किरण** (X-ray) द्वारा चिकित्सा करने से भी लाभ होता है।

आमरूपीयता (Amoobiasis)

परिचय :—अ० का० धा० ना० (Endmoeba histolytica) के कारण शरीर में व्यापक विकृति होती है। इस अवस्था को आमरूपीयता कहते हैं। **आंत्र** की विकृति को बृहदान्त्र शोथ या आमप्रवाहिका (Colitis or dys:) कहते हैं। इस रोग की तीव्र अवस्था में प्रायः पतले दस्त के साथ साथ पचन-संस्थान के लक्षण होते हैं और चिरकालीन अवस्था में प्रवाहिका की अपेक्षा प्रायः कब्ज होती है। **यकृत** में विकृति की अवस्था के अनुसार केवल शोथ हो सकता है अथवा यकृत की कोषाओं के नष्ट होने के कारण विद्रधि का निर्माण होता है। प्रथम अवस्था को **यकृतशोथ** (hepatitis) तथा द्वितीय अवस्था को **यकृतविद्रधि** (Liver abscess) कहते हैं। ये दोनों अवस्थायें तीव्र या जीर्ण हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त बृहदान्त्र में अर्बुद हो सकता है। इसको कामरूपीय कणिकार्बुद (Amoebic granuluma) कहते हैं। फुफ्फुस या मस्तिष्क में विद्रधि (Abscess) हो सकती है। उण्डुक (Coecum) में विकृति होने से उण्डुकपुच्छ शोथ के लक्षण होते हैं। इसको मिथ्या उण्डुक पुच्छ शोथ (Pseudo-appendicitis) कहते हैं। गुदा के पास अथवा अन्य किसी स्थान पर त्वचा के समीप अ० का० धा० ना (E. H.) का संपर्क होने से त्वचा पर व्रण हो जाता है। यह अवस्था प्रायः यकृत से निर्हरणक्रिया (Aspiration) द्वारा पूय निकालने पर मिलती है। जिस मार्ग से पूय निकाला जाता है उस मार्ग के द्वारा अं० का० धा० ना० (E. H.) त्वचा तक पहुँच जाता है और त्वचा पर व्रण उत्पन्न करता है। अनेक बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य की आन्त्र में इस जीवाणु के रहते हुये भी वह लक्षणरहित रहता है।

इस अवस्था को संवाहक (Carrier) अवस्था कहते हैं। रोग के फैलाने में इन लक्षण रहित मनुष्यो का प्रमुख हाथ होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह उपसर्ग मनुष्य के शरीर मे व्यापक विकृति उत्पन्न करता है और पृथ्वी के प्रायः सब भागो मे पाया जाता है।

आम प्रवाहिका (Amoebic dysentery) :—

निदान इत्यादि :—कभी-कभी रोग की **तीव्र अवस्था** मे रोगी को मलोत्सर्ग के समय अर्श (Piles) के समान **केवल रक्त** आता है। यह लक्षण प्रायः बाल्यावस्था मे पाया जाता है और अर्श का भ्रम उत्पन्न करता है। मल परीक्षा द्वारा इस भ्रम का निवारण सम्भव है। रोग की **चिरकालीन अवस्था** में रोगी की जिह्वा तथा मल की प्रकृति **संग्रहणी** (Sprue) के समान हो सकती है। रोगी की जिह्वा लाल, चिकनी तथा चमकीली हो जाती है। मल परीक्षा के अतिरिक्त रोगी को मुख या गुदामार्ग से बेरियम (Barium) दे कर **क्ष-किरण** (X-Ray) परीक्षा करने से निदान मे सहायता मिलती है। इस देश मे प्रायः आम तथा दण्डाण्डवीय (Amoebic & Bacillary) दोनो प्रकार की प्रवाहिकाये (Dys :) साथ-साथ मिल सकती हैं। इस अवस्था मे रोगी को ज्वर हो सकता है।

मलपरीक्षा करने से आमप्रवाहिका मे कभी-कभी केवल रक्त या स्कन्दित रक्त (Clot) मिल सकता है। अं. का. धा. ना. (E.H.) तथा स्थूलभक्ष (Macrophage) मे भ्रम हो सकता है। **अं. का. धा. ना.** (**E. H.**) का शरीर दो भागो मे विभाजित रहता है। बाहर का भाग शीशे के समान पारदर्शी (Transparent) तथा निर्मल होता है। इसको **बहिर्जीवरस** (Exoplasm) कहते हैं। कूटपाद (Pseusopodia) का निर्माण इसी भाग से होता है। कूटपाद की सहायता से यह कायाणु शीघ्रता से चल सकता है। अन्दर का भाग कणिकामय (Granular) होता है। इसको **आंतरिक** जीवरस (Endoplasm) कहते है। इस भाग मे प्रायः रक्तकण (R. B. C.) होते है और यह अं. का. धा. ना. की विशेष पहिचान है। इसके अतिरिक्त अ. का. धा. ना. मे रिक्तगोल (Vacuoles) नही होते। इसके कोष्ठ (Cyst) गोल होते हैं और **उनमें १–४** तक न्यष्ठिलाये (Nuclei) रहती है। **बृहदांत्रिक अन्तः**

कामरूपीय जीवाणु (E. coli) में प्रायः ८ से अधिक न्यष्टीलायें होती हैं और इनका वर्ण हरा होता है।

रक्तपरीक्षा में आमप्रवाहिका में श्वेतकणों (W. B. C.) की वृद्धि होती है विशेष कर बृहत् एककायाणु (Largo mono) की। दण्डाणवीय प्रवाहिका (B. dys:) में यह वृद्धि नहीं मिलती।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—इस रोग का प्रसार मक्खी, गन्दे हाथ, मल, दूषित जल तथा भोजन और संवाहक (Carrier) द्वारा होने के कारण इन पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। मक्खियों की उत्पत्ति कम करने के लिये मकान के समीप कूड़ा इकट्ठा नहीं होना चाहिये। नगरपालिका आदि द्वारा कूड़े को यथाशीघ्र जलाने या गाड़ने का प्रबन्ध होना चाहिये। नालियों की सफाई आवश्यक है। मलशोधन के लिये दूषित टंकी (Septic tank) तथा उद्धावित शौचस्थान (Flush latrines) का प्रबन्ध होना चाहिये। भोजन शीशेदार या जालीदार अलमारी में रखना चाहिये जिससे मक्खी के सम्पर्क में न आ सके। रसोईघर तथा भोजन करने के कमरे की खिड़की तथा दरवाजों में जाली लगानी चाहिये। कच्ची तरकारी, फल आदि जो पदार्थ बिना गरम किये खाये जाते हैं उनको शुद्ध जल से धोकर स्वच्छ कर लेना चाहिये। यदि सम्भव हो तब इन पदार्थों को पोटास परमैंगनेट ($Kmno_4$) के हलके गुलाबी रंग के घोल से धो देना चाहिये। पीने का जल शुद्ध होना चाहिये। यदि उसकी पवित्रता में सन्देह हो तब उसको उबाल कर पीना अच्छा है। कूएँ, तालाब, नदी आदि स्थानों के समीप मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिये। इससे पीने का जल अशुद्ध हो जाता है। जो मनुष्य रोग की संवाहक (Carrier) अवस्था में हो उसकी चिकित्सा करके उसे उपसर्ग (Ifn) से मुक्त करना चाहिये और उसे भोजन बनाने, बेचने आदि का कार्य नहीं करने देना चाहिये। भोजनालय, विद्यालय आदि में जो मनुष्य भोजन से सम्बन्धित हो उसके मल की समय-समय पर परीक्षा करनी चाहिये। भोजन के पूर्व तथा पश्चात् और मलोत्सर्ग के पश्चात् हाथ को साबुन तथा जल से शुद्ध कर लेना, प्रत्येक मनुष्य को पृथक्-पृथक् भोजन करना, रसोई-घर तथा भोजन करने वाले कमरे में जूता पहन कर न जाना आदि अपने देश के सिद्धांतों को बराबर प्रयोग में लाना चाहिये। रोगी को पृथक कर उसके मल-मूत्र को फेनाइल (Phenyl) आदि जीवाणुनाशक औषधियों से

शुद्ध कर देना चाहिये। खुले स्थान मे मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिये तथा मल का मक्खियों के सम्पर्क मे नही आने देना चाहिये। यदि मैदान मे मलोत्सर्ग करना आवश्यक हो तब मल को मिट्टी मे गाड़ देना चाहिये। मेले आदि में शुद्ध जल, शुद्ध भोजन तथा मलोत्सर्ग का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये। इस रोग से बचने के लिये कोई विशिष्ट औषधि न होने के कारण इस रोग के विषय मे साधारण जनता मे प्रचार आवश्यक है। पाकगृह तथा भोजन करने वाले कमरे मे द्वि. प्र. मा. डी. डी. टी. (D. D. T.) का प्रयोग करना चाहिये।

(ख) आहारः—यह रोग प्रधानतया आन्त्र में विकृति करता है। इसलिये इसकी चिकित्सा मे आहार का विशेष महत्व है। रोग की तीव्र अवस्था में प्रायः सरलता से पचने वाला तथा तरल पदार्थ (पृ. ४) ही उपयुक्त है। चिरकालीन अवस्था मे शरीर मे प्रोटीन (Ptn) तथा जीवतिक्तियों (Vit:) की कमी होने की विशेष सम्भावना रहती है। इसका विशेष प्रबन्ध करना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था मे दूध नहीं देना अच्छा है। ईसफगोल का प्रयोग उत्तम है। ईसफगोल की भूसी च. ४ थोड़े दही के साथ द्वि. या त्रि. प. दि. देना चाहिये। ईसफगोल का जल मिश्री के साथ प्रयोग कर सकते हैं। रोगी की अवस्था तथा क्षुधा मे सुधार होने पर अर्धतरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। लालमिर्च, मसाला तथा मद्य आदि का प्रयोग वर्जित है। इससे यकृत मे विकृति होने की सम्भावना रहती है। रोगी की अवस्था में पर्याप्त सुधार हो जाने पर शनैः शनैः आहार की वृद्धि करनी चाहिये। सर्वप्रथम चावल (पृ. ४) के योग देना चाहिये। कच्चे केले की तरकारी प्रायः प्रवाहिका मे दी जाती है।

(ग) साधारण चिकित्सा :—रोग की तीव्रता के समय रोगी को विश्राम करना चाहिये। यदि इमेटीन (Emetine) द्वारा रोगी की चिकित्सा की जाती है तब चिकित्सा की सपूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी को **विश्राम** करना चाहिये। रोगी के शरीर में लवण तथा जल की कमी न हो इस पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। यकृत या अन्य स्थानों मे विकृति होने पर रोगी को विश्राम करना चाहिये। दस्त रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। रोगी की जिह्वा यदि मलावृत हो और **कब्ज** मालुम पडे तब रेड़ी का तेल (यो.३२) त्रि.प्र.दि. दे सकते है। यह योग रोग की चिरकालीन अवस्था मे अधिक उपयुक्त

है । तीव्र अवस्था में रोगी को यदि पतले दस्त होते हो तब विरेचन (Purgative) व्यवहारिक नहीं है । दस्त की सख्या कम करने के लिये एक गिलास जल में केओलीन या लैक्टोकेओलीन (Kaolin or. lactokaoln 'Bo') च. ४ मिलाकर रोगी को बराबर आ. अ. पीने को दे । उदर के पीड़ा होने पर रेड़ी के तेल के योग (यो. ३२) मे टि. बेलाडोना (Tr. belladonna) मि. ८ या टि. हायोसायमस (Tr. hyocyamus) मि. २०–३० प्रतिमात्रा मिला देना चाहिये । गरम पानी की बोतल से उदर सेंकने से भी पीड़ा कम होती है। आध्मान (पृ.१६१) की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये ।

(घ) विशिष्ट चिकित्सा :– (१) तीव्र अवस्था की चिकित्सा:— **इमेटिन** (Emetine) का इन्जेक्शन हानिकारक है। इस औषधि की, चिकित्सा के लिए उपयुक्त मात्रा (Therapeutic dose) तथा विषाक्त (Toxic) मात्रा मे अत्यन्त अल्प अन्तर है । बाल्यावस्था तथा स्त्रियों मे यह औषधि विशेष हानिकर है । दण्डाण्वीय प्रवाहिका (B. dys:) भी साथ साथ रहने से इसकी विषाक्तता बढ़ जाती है । यह औषधि अं. का. धा. ना. (E.H.) जन्य आन्त्रगत विकृति की अपेक्षा उसके उपद्रवों (जैसे यकृतशोथ) मे अधिक लाभकर है । चिकित्सा की अवधि मे शैय्या पर विश्राम न करने से या परिश्रम करने से हृदय मे स्थायी रूप से विकृति हो जाती है । इस औषधि की शरीर मे संचित होने की प्रवृत्ति होने के कारण अनेक प्रकार की विकृतियाँ होती हैं, जैसे :—मिचली, वमन, हृत्पेशीशोथ (Myocarditis), हृदय की अनियमितता (Irregularity), अलिन्दीय तन्तुप्रकम्प (A. fib), वातनाड़ीशोथ (Neuritis), अगघात (Paralysis), शारीरिक तथा मानसिक दौर्बल्य, निम्न रक्तनिपीड़ (Low B. P.), त्वचा का निस्तरण (Desquamation), नख मे अपौष्टिक परिवर्तन, नख का सरलता से टूटना तथा इन्जेक्शन के स्थान मे विद्रधि की उत्पत्ति आदि । ये लक्षण इसकी **विषाक्तता** के परिणाम हैं। अन्तःकामरूपीय जीवाणु (E.H.) की कोष्ठावस्था (Cystic stage) पर इसका कोई प्रभाव नही है । आन्त्रस्थित कामरूपीय उपसर्ग को यह औषधि नष्ट नही कर सकती ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अन्य प्रभावशाली औषधियो के रहते इस औषधि के इन्जेक्शन का महत्व अत्यन्त सीमित है । रोग की अत्यन्त गम्भीर अवस्था मे रोगी की स्थिति पर शीघ्रता से नियन्त्रण पाने के लिये कदाचित

चिकित्सा के प्रारम्भ में दो, चार बार इन्जेक्शन लगाना क्षम्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इमेटिन (Emetine) ग्रे. ½ तथा स्ट्रिकनीन (Strychnine) ग्रे. १/६० प्र. दि. पेशीमार्ग से प्रयोग करना चाहिये। स्थिति पर नियन्त्रण हो जाने पर इन्जेक्शन बन्द कर मुख मार्ग से ही औषधि देना चाहिये। इमेटीन तथा संखिया (As) के योग एक साथ नहीं देना चाहिये। ये दोनो औषधियाँ वातनाड़ियों मे विकृति उत्पन्न करती है। हृत्पेशी (Myocardium) मे विकृति रहने पर इसका प्रयोग नही करना चाहिये। विपाक्तता के लक्षण मालूम पड़ने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। **चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त** रोगी की प्र. दि. परीक्षा करनी चाहिये, विशेषकर हृदयाग्र (Apex) पर प्रथम हृत् शब्द ध्यान पूर्वक सुनना चाहिये। इससे हृत्पेशी की अवस्था का ज्ञान होता है। रोगी के नाड़ी की परीक्षा चा. प्र. दि. तथा रक्तनिपीड़ (B.P.) की द्वि. प्र. दि. परीक्षा कर लिखना चाहिये। यकृत को विकृति से बचाने के लिये कैलसीयम, ग्लूकोस, जीवीतक्ति बी. सी. क्षार तथा अमीनोएसिड के योग (यो. ५७) त्रि. प. दि. देना चाहिये। इन सब उपायो से इमेटीन की विषाक्तता से कमी होती है। यदि सम्भव हो तब इमेटीन द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व तथा पश्चात विद्युतहृल्लेख (Ecg) द्वारा हृदय की परीक्षा करनी चाहिये। इस औषधि का प्रयोग प्रायः रोग की **तीव्र** (Acute) अवस्था मे ही किया जाता है। इसके इन्जेक्शन के पश्चात ट्राईलैक्टिक अम्ल (Tri-lactic acid) मुख से देने से लाभ होता है।

पेशी मार्ग (I.M.) से इमेटिन प्रयोग करने की निम्न विधियाँ हैं :—

प्रथम विधि :—प्रथम ६ दिन इमेटिन ग्रे. १ प्र. दि. देना चाहिये। इसके साथ साथ **प्रथम ७ दिन** कारबरसोन (Carbarsone) कै. १ द्वि. प्र. दि. मुख से देना चाहिये। **८ वें से** २१ वे दिन तक चिनियोफौन (Chinofon) या एन्टरोवायोफार्म (Enterovioform 'Ca') अथवा डायडोक्वीन (Diodoquin) गो. १ त्रि. प्र. दि. मुख से देना चाहिये।

द्वितीय विधि :—प्रथम ४ दिन तथा ७ वें और ८ वें दिन इमटिन ग्रे. १ प्र. दि. दे। साथ साथ ८ दिन तक रेड़ी का तेल (यो. ३२) ए. बा. प्रातःकाल तथा क्षार (यो. १) त्रि. प्र. दि. दे।

तृतीय विधि :—यह विधि रोग की **अत्यन्त तीव्र** अवस्था मे प्रयोग

की जाती है। **प्रथम दो दिन** इमेटिन ग्रे. १/२ त्रि. प्र. दिन तथा तीसरे से ८ वे दिन तक ग्रे. १/२ द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। अन्य औषधियाँ द्वितीय विधि के समान दी जाती है।

चतुर्थ विधि :—यह विधि रोग की **परम तीव्र** अवस्था मे प्रयोग की जाती है। **प्रथम ३ दिन** तथा ११ वे से १३ वें दिन तक इमेटिन ग्रे. २/३–१ द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। इसके साथ साथ **प्रथम ६ दिन** कार्बरसोन कै. १ द्वि. प्र. दि. अथवा प्रथम दिन से १३वे दिन तक याट्रिन (Yatrin) आ. ०·२५–०·५ द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। एक मास पश्चात सम्पूर्ण चिकित्साक्रम दोहराना चाहिये।

सूचना :—**इमेटीन** के चिकित्साक्रम मे प्रायः ग्रे. ८ से अधिक औषधि नही दी जाती। रोगी का भार साधारण से अधिक होने पर ग्रे. १२ तक दे सकते है परन्तु एक चिकित्सा क्रम मे औषधि की पूर्ण मात्रा इससे अधिक नहीं हो ी चाहिये। ३–४ सप्ताह पश्चात एक बार पुनः औषधि दे सकते है परन्तु यह चिकित्साक्रम पहले से छोटा होना चाहिये और औषधि की पूर्ण मात्रा भी पहले से कम होनी चाहिये। ८ वर्ष के बालक को इमेटीन की मात्रा ग्रे. १/६ से १/३ तक प्रति बार होनी चाहिये।

(२) चिरकालीन (Chro:) अवस्था की चिकित्सा:—आम-प्रवाहिका के चिरकालीन हो जाने की अत्यधिक सभावना रहती है इसलिये यथासभव रोग के प्रथम तथा तीव्र आक्रमण की चिकित्सा विशेष परिश्रम तथा ध्यानपूर्वक करनी चाहिये जिससे यथासम्भव रोगी रोगमुक्त हो जाये और रोग जीर्ण न हो। जीर्ण अवस्था मे चिकित्सा प्रारम्भ करने पर ध्यान रखना चाहिये कि इस अवस्था मे इमेटीन (Emetine) के इन्जेक्शन की अपेक्षा मुख तथा गुदा मार्ग से औषधि देना अधिक लाभप्रद है और पूर्ण-रूपेण रोग निवृत्ति तभी सम्भव है जब रोगी के स्वास्थ्य मे भी वृद्धि हो और रोगक्षमता (Immunity) उत्पन्न होकर रोगी को व्याधिमुक्त करे। इस-लिये विशिष्ट चिकित्सा के साथ साथ रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये पौष्टिक आहार तथा औषधियो का प्रयोग करना चाहिये। इस हेतु की पूर्ति के लिये यकृत तत्व (Liver ext :) सी.सी. १ तथा जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit: B. Complex) सी.सी. १ मिलाकर पेशी मार्ग से द्वि.प्र.स. देना चाहिये। साथ साथ मुख मार्ग से लौह (Fe.) तथा फोलिक एसिड (Folic acid)

का योग जैसे फौल्वरोन (Folvron) की गो. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये। विशिष्ट औषधि देते समय यकृत सत्व तथा जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण का इन्जेक्शन साथ साथ लगा सकते हैं परन्तु लौह का योग प्रायः विशिष्ट औषधि के चिकित्साक्रम के समाप्त होने के पश्चात दिया जाता है। चिरकालीन अवस्था में रोगी को प्रायः कब्ज रहती है। इसका निवारण अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये रोगी को दही के साथ इसफगोल की भूसी च. ४ ए. या द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। क्वीनोबेल (Qvinobael E. I.) च. १ त्रि. प्र. दि. या लिक्वीड पैरेफीन (Liq. paraffin) औ. १ सोने के पूर्व या रेड़ी का तेल (यो. ३२) त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। आन्त्र मे विकृत का स्थान गुदा के समीप होने के कारण इस मार्ग से औषधि प्रयोग करने से अधिक लाभ की सम्भावना रहती है, इसलिये चिरकालीन अवस्था में इस मार्ग का विशेष महत्व है और मुख तथा गुदा मार्ग से औषधि साथ साथ प्रयोग करना चाहिये। चिरकालीन अवस्था मे निम्न औषधियाँ प्रयोग की जाती है :—

(१) **आयोडीन (I) के योग** :—वृक्क मे विकृति रहने पर आयोडीन के योग नहीं देना चाहिये। इसकी **विषाक्तता** के कारण पहले दस्त आदि पचन-संस्थान की विकृति के लक्षण होते है। रोगी की प्र दि. ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये जिससे विषाक्तता के लक्षणो का ज्ञान हो सके। विषाक्तता के लक्षण दिखलाई पड़ने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। कुछ समय पश्चात् विषाक्तता के लक्षणों का शमन हो जाने पर, कम मात्रा मे पुनः औषधि प्रारम्भ कर सकते हैं। आयोडीन के निम्न योग हैं :—

(क) **इमेटिन विस्मथ आयोडाइड** (Emetine bismuth-iodide, E. B. I.) :—भारतवर्ष जैसे उष्ण प्रदेश (Tropics) में विषाक्तता के कारण इस औषधि का प्रयोग प्रायः नहीं होता। इसकी विषाक्तता के कारण वमन, अतिसार, रक्तनिपीड़ (B. P.) की कमी आदि उपद्रव होते हैं। दुर्बल रोगी तथा स्त्रियों मे विशेष सावधानी की आवश्यकता है। औषधि देने के पश्चात् रोगी को विश्राम करने तथा निद्रा लाने का प्रयत्न करना चाहिये। चिकित्सा सफल होने के लिये पतले दस्त होना आवश्यक है। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी के हृदय, रक्तनिपीड़ (B. P.) तथा नाड़ी की स्थिति पर विशेष ध्यान देना चाहिये और रोगी को तरल भोजन

(पृ. ४) देना चाहिये । यह औपधि रोग की चिरकालीन अवस्था में विशेष लाभप्रद है । अन्तःकामरूपीय जीवाणु (E. H.) की कोष्ठावस्था (Cystic stage) पर इसका विशेप प्रभाव है । इस औपधि मे आयोडीन (I) ५८ प्र. श. तथा इमेटिन (Emetine) २८ प्र. श. रहती है । इसकी ग्रे. १ की गोली द्वि. प्र. दि. प्रारम्भ मे देना चाहिये । औपधि भोजन के चार घण्टे के बाद, दस दिन तक निरन्तर देना चाहिये । रोगी की अवस्था के अनुसार औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये । प्रतिबार ३ ग्रे. से अधिक नहीं देना चाहिये ।

कभी कभी इस औपधि की ग्रे. २ की केवल एक मात्रा रात्रि मे कैप्स्यूल में रखकर सोने के पूर्व १० दिन तक दी जाती है । औपधि देने के १/२ घटे के पूर्व निद्रा लाने के लिये पेथिडीन (Pethidin) गो. १ या ओमनोपौन (Omnopon) ग्रे. १/६ देने से रोगी को कम कष्ट होता है और औषधि पचने की अधिक सम्भावन रहती है । इमेटिन के इन्जेक्शन के क्रम मे इमेटिन के योग मुखमार्ग से नहीं देना चाहिये ।

(ख) इमेटिन पेरीआयोडाइड (Emetine periiodide) कैपस्यूल मे रखकर ग्रे. २ द्वि. प्र. दि. दे सकते हैं ।

(ग) एन्टरोवायोफार्म (Enterovioform-Ca):—ग्रा. ०·२५ की एक गोली भो. प. त्रि. प्र. दि. दस दिन तक निरन्तर देना चाहिये । तत्पश्चात् दस दिन तक औपधि बन्द कर पुनः इसी प्रकार दस दिन तक देना चाहिये । गुदामार्ग से प्रयोग करने के लिये आठ गोली २०० सी. सी. जल में मिला कर प्रयोग करना चाहिये । इस औपधि में ३०·५ प्र. श. आयोडीन (I) रहती है । एन्टरोकीनोल (Enteroquinol E.I.P.) भी इसी प्रकार का योग है । दोनो की मात्रा तथा चिकित्साक्रम समान है ।

(घ) डाइडोक्वीन (Diodoquin):—इस प्रकार की औषधियों में एम्बीकीन (Embequin) एक है । इसमे लगभग ६४ प्र. श. आयोडीन है । ३·२ ग्रे. की १–३ गोली १५ दिन तक त्रि. प्र. दि. दी जाती है । डाइडोकीन ग्रे. ६ तक त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं । औपधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये । रोग की अतिजीर्ण अवस्था में भी यह लाभप्रद है । याट्रीन (Yatren or oxyquinoline) भी इसी प्रकार का योग है गो. १–४ त्रि. प्र. दि. कर ७ दिन दी जाती है ।

(ङ) **चिनियोफौन** (Chiniofon):—इस औषधि के दो योग हैं।

१. **गोली** :—ग्रा. ०'२५ तथा ०'५ की गोली मिलती है। १० दिन तक ग्रा. ०'२५ से १ तक त्रि. प्र. दि. देना चाहिए। तत्पश्चात् १० दिन औषधि बन्द कर पुनः दस दिन देना चाहिये।

२. **भस्म** (Powder) :— इसको गुदा मार्ग से प्रयोग करते है प्रथम मलाशय (Rectum) को सोडी बाइकार्ब (Sodi-bicarb) २ प्र. श. के २० औं. घोल से धोकर एक घण्टे पश्चात् चिनियोफौन **२'५** प्र. श. गुदमार्ग से प्रवेश करना चाहिये। रोगी को औषधि मलाशय मे चार घण्टे तक रखने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रथम दिन औषधि का घोल औं. १ प्रवेश करना चाहिये और शनैः शनैः यह मात्रा बढ़ा कर औं. ८ कर देना चाहिये। यह औषधि रोग की सवाहक (Carrier) अवस्था मे प्रयोग की जाती है। इस अवस्था की चिकित्सा के लिये प्रथम **कारबरसोन** (Carbarsone) ०'२५ ग्रा. त्रि. प्र. दि. ७ दिन तक मुख से देने के पश्चात् चिनियोफौन ग्रा. ०'२५ से १ तक त्रि. प्र. दि. १० दिन तक देना चाहिये। चिकित्सा के पश्चात् मल परीक्षा आवश्यक है।

(च) **क्विनोक्सिल** (Quinoxyl) :—यह औषधि भी मुख तथा गुदमार्ग से एक साथ प्रयोग करना चाहिये। मुख द्वारा ४ ग्रे. की गो. १ त्रि० प्र० दि० कर दस दिन तक देना चाहिए। गुदा मार्ग से यह औषधि चिनयोफौन के समान ही प्रयोग करना चाहिए।

(२) **संखिया (As) के योग** :—ये औषधियाँ प्रायः आमप्रवाहिका से मुक्त हो जाने पर रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए दी जाती है। यदि यकृत या वृक्क मे विकृति हो तब ये औषधियाँ नहीं देना चाहिए। इसके निम्न योग हैं :—

१–स्टोवारसल (Stovarsol) :—इस औषधि मे २७ प्र० श० संखिया है। ग्रे० ४ की गो० १ द्वि०प्र०दि० कर एक सप्ताह तक दी जाती है।

२–कारबरसोन (Carbarsone, Ly) :—इस औषधि मे २८ प्र० श० संखिया है। ग्रे० ४ का कै १ द्वि० या त्रि० प्र० दि० कर दस दिन तक देना चाहिए।

सखिया की **विषमयता** के कारण वमन, मिचली, पतले दस्त, त्वचा पर विस्फोट (Rash), उदर मे शूल, ज्वर, मूत्र में शुक्लि (Alb:)

आदि लक्षण हो सकते हैं। इसलिये रोगी की बराबर ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये और विषमयता के लक्षण प्रतीत होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। इन औषधियो के साथ क्षार (Alkali) का प्रयोग नही करना चाहिये। **अमीबीआरसन** (Amibiarsan BCPW) भी कारबरसोन (Carbarsone) के समान संखिया का योग है। संखिया के दो योग एक साथ नहीं देना चाहिये तथा संखिया को दो मार्ग से एक साथ नही देना चाहिये अन्यथा विषमयता की सम्भावना रहती है।

(३) कुरची (Kurchi) के योग :—इस औषधि का प्रधान तत्व कोनीसीन (Conessine, requessine) है। इसके निम्न योग है :—

१— **अनेबिन** (Anabin, kurchibide) :—इसमे कुरची बिस्मथ आयोडाइड (K. B. I) है। यह औषधि १० ग्रे० प्र० बा० कर द्वि० प्र० दि० दी जाती है। औषधि १० दिन देना चाहिये।

२—**कुर्चीनीन हाइड्रोक्लोर** (Kurchinine hyd) :—यह औषधि ½ से १ ग्रे० प्र० दि० कर निरन्तर तीन दिन तक अधस्त्वक् मार्ग (S. C.) से इन्जेक्शन द्वारा दी जाती है।

कुरची के योग देने के ½ घं० पूर्व क्षार (Alkali) देना आवश्यक है इसलिये सोडीबाईकार्ब ग्रे० ६० तथा सोडीसाइट्रस (Sodi:cit:) ग्रे० ३० जल मे मिला कर देना चाहिये। रेडी के तेल के साथ कुरची का तरल सत्व (यो० ३१) त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। **कोनेसीन** (Conessine) ग्रे० १½ प्रथम पॉच दिन मुख द्वारा ४ वार प्र० दि० देना चाहिये तत्पश्चात् त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। यह औषधि ५–१२ दिन तक दी जाती है। यह औषधि इमेटीन से कम प्रभावशाली तथा कम विषाक्त है और गर्भावस्था मे भी प्रयोग की जा सकती है।

(ङ) गुदा (Anus) मार्ग से औषधि प्रयोग करने की विधि:— आम प्रवाहिका के जीवाणु (E. H.) को नष्ट करने के लिये गुदा मार्ग से औषधि दी जाती है। गुदा मार्ग से औषधि प्रयोग करने के पूर्व आन्त्र के अन्तिम भाग को मल रहित करना आवश्यक है। इसके लिये प्रथम रोगी के गुदा मार्ग में गरम पानी मे सोडीबाइकार्ब (Sodi bicarb) २ प्र० श० पा० २ प्रवेश कर रोगी को मल परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार सोडीबाइकार्ब का एनिमा (Enema) देने के पश्चात् आमप्रवाहिका की औषधि प्रथम

अल्प मात्रा में देना चाहिये। रोगी को औषधि आन्त्र मे रखने का प्रयत्न करना चाहिये । यह क्रिया प्रायः रात्रिमे निद्रा के पूर्व की जाती है । औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये । रोगी को वाम पार्श्व मे लिटा कर, नितम्ब को तकिये से ऊँचा कर, गुदा मे रबर की नलिका (Catheter) काफी अन्दर तक प्रवेश कर, नलिका द्वारा औषधि अन्दर देनी चाहिये । औषधि देने के पूर्व रोगी को शामक औषधि (Sedative) देना चाहिये जिससे रोगी को निद्रा आ जाये और औषधि का प्रचूषण हो सके । इसके लिये ल्यूमिनल (Luminal) ग्रे० १ या डाइडायल (Didial 'Ca'), सोडियम एमिटल (Sodi amytal) या ओरटल (Ortal) आदि की एक गोली दे सकते हैं ।

(च) विशेष परिस्थितियों में आम प्रवाहिका की चिकित्सा :–

(१) अति जीर्ण अवस्था (Persistant) मे प्रथम इमेटीन (Emetine) का इन्जेक्शन लगाने के पश्चात् आमप्रवाहिका की किसी औषधि को मुख तथा गुदा मार्ग से प्रयोग करना चाहिये । इस अवस्था मे कुरची का मुख द्वारा प्रयोग विशेष लाभप्रद है ।

(२) अत्यन्त निराशाप्रद अवस्था में प्रथम आन्त्र मे स्थित द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn:) की चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये मुख द्वारा सल्फागोनीडीन (S-guanidine) या सल्फासक्सीडीन (S-succidine) की १० गोली प्रति ४ घण्टे कर १६० गोली तक देना चाहिये । साथ-साथ कैलसियम पेनिसिलीन (Cal P) ३०,००० अ० इ० प्रति तीन घण्टा कर पेशी मार्ग से २० ल० अं० इ० तक इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिये । सल्फा (S) की मात्रा समाप्त हो जाने पर आमप्रवाहिका की किसी औषधि को मुख तथा गुदा मार्ग से प्रयोग करना चाहिये ।

(छ) अन्य चिकित्सा:—रोग की **तीव्र अवस्था** होने के पूर्व आन्त्रगत तृणाणु (Bacteria) विशेष कार्यशील हो जाते हैं इसलिए रोग के प्रारम्भ मे सल्फा (S) औषधि, पेनिसिलिन (P), औरियोमाइसीन (Au), टेरामाइसीन (Tn) आदि का भी प्रयोग किया जाता है । अन्तिम दोनो औषधियो का प्रभाव अं. का. धा. ना. (E. H.) पर भी है । एन्टरोवायोफार्म (Enterovioform) के साथ साथ सल्फागोनेडीन (S-guanidine) की एक गोली त्रि.प्र.दि. कर तीन-चार दिन तक देना चाहिए । औरियोमइसीन

या टेरामायसीन मि.ग्रा.२५०का १–२ कैपस्यूल (Capsule) त्रि. या चा.प्र.दि. कर एक सप्ताह से १०दि. तक देना चाहिए। पेनिसिलीन का प्रयोग इन्जेक्शन द्वारा करना चाहिए। **चिरकालीन अवस्था** मे बेल का प्रयोग उत्तम है। ईसफगोल के प्रभाव से आन्त्रगत व्रणो के भरने मे सहायता मिलती है। औरियोमाइसीन से रोग की तीव्र अवस्था मे प्रारम्भ मे अत्यन्त लाभ प्रतीत होता है परन्तु रोग के पुनरावर्तन की अधिक संभावना रहती है। टेरामाइसीन, बैसीट्रेसीन (Btn) आदि प्रायोगिक अवस्था मे है। आमप्रवाहिका की चिकित्सा समाप्त हो जाने के पश्चात् मल परीक्षा करना चाहिये। यदि मल मे अ. का. धा. ना. (E. H.) मिले तब दो सप्ताह के पश्चात पुनः औषधि देना चाहिये और चिकित्साक्रम के समाप्त होनेपर पुनः मल परीक्षा करना चाहिये। यदि प्रथम चिकित्सा क्रम के पश्चात् मल मे अ. का. धा. ना. (E. H.) न मिले तब चिकित्सा की आवश्यकता नही है, केवल चार सप्ताह के पश्चात पुनः मल परीक्षा करनी चाहिये।

यदि तीन दिन निरन्तर मल परीक्षा करने पर कायाणु न मिले तब रोगी को रोग निवृत्त समझना चाहिये। रोग निवृत्ति के पश्चात प्रथम वर्ष रोगी का विशेष ध्यान रखना चाहिये। रोगी को मैगसल्फ (Mag:sulph:) देकर मल परीक्षा करनी चाहिये तथा गुद वीक्षणयंत्र (Sigmoidoscope) द्वारा अवग्रहान्त्र (Sigmoid) की परीक्षा करनी चाहिये। यदि सपूर्ण चिकित्सा क्रम समाप्त होने पर मल के नास्त्यात्मक (–) हो जाने के पश्चात् भी रोगी लक्षणो से मुक्त न हो तब संभव है कि ये लक्षण औषधियो द्वारा आन्त्र मे प्रक्षोभ (Irritation) होने से हैं या द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn) के कारण अथवा मनोवैज्ञानिक (Psy) कारणो से उत्पन्न है। इसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन पचने मे कठिनाई होने पर पाचक चूर्ण (यो. ४८) भो.प. देना चाहिये। इस चूर्ण मे टाकाडायेस्टेस, (Takadiastase), पेप्सीन (Pepsin) आदि हैं। उदनीरिक अम्ल (Hcl) मि. १५–२० भो. प. दे सकते हैं। वातनाड़ियो की शाति के लिए अवटुकाग्रन्थि सत्व (Thyroid ext:) ग्रे. ½–१ त्रि. प्र. दि. दिया जाता है। आन्त्र मे जो व्रण (Ulcer) हो जाते है उनके भरने मे सहायता देने के लिये **ईसफगोल** तथा **विसमथ सबनाट्रस** (Bis : sub : intras) ग्रे. ०२ त्रि. प्र. दि, २–४ मास तक

देना चाहिये। ये दोनो औषधियाँ व्रण के ऊपर जम जाती है और आंत्रगत पदार्थों के प्रभाव से व्रण को बचाती हैं। चिरकालीन अवस्था मे कब्ज रहती है। इसके निवारण मे इसफगोल से सहायता मिलती है। यह औषधि च.४ प्र.दि. निद्रा के पूर्व मिश्री या दूध के साथ लेना चाहिये।

(ज) प्रवाहिका की आयुर्वेदिक चिकित्सा:—

प्रथम आमदोष सहित है अथवा निराम है इस पर विचार कर लेना चाहिए। आमदोष अर्थात् अपक्व मल होनेपर पहले पाचक व दीपक अनुपान देना हितकर है। पाचन व निर्हरण के लिए बलानुसार लंघन, वमन व दीपन औषधियाँ प्रयोग कर सकते हैं। आवश्यकतानुसार बस्ति का प्रयोग भी करे।

दुर्बल रोगियो मे प्रारम्भ से ही ग्राही औषधियों का प्रयोग करना चाहिए किन्तु आम रस विद्यमान पाचन के साथ साथ दीपन औषधियो से सिद्ध पथ्य देना चाहिए।

इस रोग मे तक्र का प्रयोग विशेष लाभकारी है। रोगी के बलाबल पर विचार कर केवल तक्र पर कुछ दिन रख सकते हैं। तक्र लघु, दीपन, पाचन व ग्राही होने से प्रत्येक रोगी को दे दकते हैं इसके अतिरिक्त यह बिना पित्त को प्रकुपित किये कफ का नाश भी करता है। वातानुबन्ध होने पर स्निग्ध मठा (बिना मक्खन निकला हुआ) प्रयोग करना चाहिये। ज्वरानुबंध मे मट्ठा न दे।

अग्निमांद्य अधिक न होने पर गो अथवा अजदुग्ध का सेवन अधिक हितकारी है। दूध रेचक होने से शोधक है और इससे शक्ति भी जल्दी आती है। पथ्य मे पुराना चावल मंड, पेया, विलेपी के रूप मे दे सकते है। कच्चे गूलर या केला का शाक दे सकते हैं। पर्पटी का प्रयोग दूध या मट्ठे पर रोगी को रखकर करते है। पर्पटी की मात्रा साधारणतः २ रत्ती से १०रत्ती तक धीरे-धीरे बढ़ाकर क्रमशः घटाते है।

औषधियाँ :—शुण्ठ्यदि क्वाथ, धातुर्भद्र कषाय, चित्रकादि गुटिका, बृहत् गंगाधर चूर्ण, दाडिमाष्टक चूर्ण, चागेरी घृत, तक्रारिष्ट, महागंधक, ग्रहणीकपाटरस, हिरण्यगर्भ पोट्टली रस, रामबाण रस, ग्रहणीशार्दूल, दुग्धवटी, रस पर्पटी, लोह पर्पटी, पञ्चामृत पर्पटी, स्वर्ण पर्पटी, विजय पर्पटी।

प्रयोग :—

(१)	रामबाण	४ र०
	महागंधक	४ र०
	शंखभस्म	४ र०
	दाडिमचतुःसम	४ र०

मि. ४ मात्रा भृष्टजीरक व मधु से।

(२) शतपुष्पादिचूर्ण ६मा. । २मा. भोजनोत्तर उष्णोदक से । | (३) पंचामृत पर्पटी २ र० ४ मात्रा भृष्टजीरक व मधु से ।

अं. का धा. ना. (E.H.) जन्य यकृत विकृति की चिकित्सा:—

निदान :—ज्वर के साथ श्वेतकणों (W.B.C.) की वृद्धि तथा यकृत पर पीड़ा रहने पर यकृत विद्रधि (Abscess) की सम्भावना रहती है। इसके लिये इमेटीन (Emetine) या क्लोरोक्वीन (Chloroquin) का प्रयोग कर इस शका का निवारण करना चाहिये। यकृत की ऊर्ध्व दिशा मे वृद्धि होने के कारण क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) मे महा प्राचीरा पेशी (Diaphragm) का दक्षिण भाग गतिहीन प्रतीत होता है या उसकी गति मे कमी प्रतीत होती है। विद्रधि के कारण यकृत के स्थान पर काले धब्बे दिखलाई पड़ते हैं। मध्यावस्था के पुरुषो मे मिर्च, मसाला तथा मद्यपान का इतिहास, यकृत या दक्षिण स्कन्द (Shoulder) पर पीड़ा, कभी कभी कम्प (Rigor) के साथ या बिना कम्प के ही सन्ध्या समय ज्वर, वक्ष के दक्षिण भाग का उन्नत होना, यकृत की पीड़ाकर वृद्धि, यकृत का समतल (Smooth) तथा कड़ा होना, दक्षिण फुफ्फुस के आधार (Base) पर अंगुलिताडन से मन्द ध्वान (Dullness) का मिलना, श्वसन का सुनाई न देना या कम सुनाई देना, श्वसन के साथ सूक्ष्म आर्द्र रव (Fine rales) का मिलना, कभी कभी कामला (Jaundice) का मिलना, आदि लक्षण इस विकृति के द्योतक है। शका निवारणार्थ निर्हरण क्रिया (Aspiration) द्वारा यकृत से पूय निकाल कर परीक्षा करनी चाहिये। दक्षिण फुफ्फुस के आधार (Base) का फुफ्फुसपाक (Pneumonia), दक्षिण पार्श्व का सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ (Wet pleurisy) तथा यकृत का कर्कटार्बुद (Cancer) आदि भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

अ. का. धा. ना. (E.H.) का आन्त्र से यकृत मे प्रवेश तीन मार्गों से होता है, प्रतिहारी रक्तसंचार (Protal circulation) द्वारा या लसवाहिनियो (Lymphatics) के द्वारा अथवा सीधे उदरावरण (Peritoneum) के द्वारा। मल मे अ. का. धा. ना. (E.H.) के कोष्ठ (Cysts) का न मिलना इस रोग की सम्भावना को दूर नही करता।

चिकित्सा :—इस विकृति की चिकित्सा करते समय ध्यान रखना चाहिए कि इस विकृति की प्राधानतया दो अवस्थायें होती हैं, **यकृतशोथ**

(Hepatitis) तथा **यकृत विद्रधि** (Abscess) । इसकी दो प्रधान ओषधियाँ हैं, इमेटीन (Emetine) तथा क्लोरोक्वीन । प्रथम अवस्था केवल क्लोरोक्वीन (Chloroquine) मुख द्वारा देने से चिकित्सासाध्य है और यदि यह कार्य न करे तब इमेटीन (Emetine) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये । छोटी छोटी विद्रधियाँ केवल इमेटीन से ही ठीक हो जाती है । बडी विद्रधि में निर्हरणक्रिया (Aspiration) या अन्य शल्यकर्म (Op.) द्वारा पूय निकालना पड़ता है । इसमे इमेटीन का प्रयोग अधिक समय तक करना पड़ता है । यकृत विद्रधि के पूय मे आन्त्रदण्डाणु (B.coli) आदि द्वारा द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn) होने की सम्भावना रहती है । इसके लिये पेनिसिलीन (P), स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str.), टेरामाइसीन (Terramycin) आदि ओषधियाँ मुख से या इन्जेक्शन द्वारा अथवा विद्रधि के अन्दर प्रवेश करना पड़ता है । आमप्रवाहिका (A.dys:) की अन्य ओषधियो का मुख द्वारा प्रयोग सन्देहास्पद है । डाइडोक्वीन (Diodoquin) आदि आयोडीन (I.) के योग प्रायः मुखसे दिये जाते है। इस विकृति मे रक्ताल्पता (Anaemia) भी होती है । इसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये । पौष्टिक आहार तथा ओषधि के द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करनी चाहिये ।

यकृतशोथ (Hepatitis) की चिकित्सा :—

(क) क्लोरोक्वीन (Chloroquine, nivaquin MB, resochin 'Br' aralen) :—यह ओषधि मुख से दी जाती है । यह इमेटीन (Emetine) से कम विषाक्त है । आन्त्र के उपसर्ग पर इसका अल्प प्रभाव है । जिन रोगियो मे इमेटीन का प्रभाव अच्छा नहीं होता अथवा किसी कारणवश उसका प्रयोग नही किया जा सकता उनमे भी यह ओषधि दी जा सकती है । भारतवर्ष मे प्रायः बाल्यावस्था मे जब यकृत की वृद्धि होती है तब प्रायः शैशवीय यकृतद्दाल्यूत्कर्ष (Infantile cirrhosis) की ओर ध्यान जाता है । परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अं० का० धा० ना० (E. H.) का यकृत मे उपसर्ग बाल्यावस्था मे भी सम्भव है । प्रायः यह देखा गया है कि इन रोगियो मे यदि यकृद्दाल्यूत्कर्ष न हो गया हो तब निवाक्वीन देने से लाभ होता है । प्रवाहिका (Dys:) के अतिरिक्त जब अन्य स्थानों मे अं० का० धा० ना० (E. H.) के कारण विकृति होती है जैसे, फुफ्फुस विद्रधि (Lung abscess), कणिकार्बुद (Granuloma)

आदि तब भी इस औषधि से लाभ होता है। निवाक्वीन आदि की प्रत्येक गोली में ग्रे० २$\frac{1}{4}$ (०·१५ Gm.) क्लोरोक्वीन रहती है। इसको नो०प० देना चाहिये। इसके चिकित्साक्रम की निम्न विधियाँ प्रचलित हैं :—

दिन	प्रथम विधि	द्वितीय विधि	तृतीय विधि
१	गो. २ द्वि. प्र.दि.	गो. १ त्रि.या चा.प्र. दि.	गो. २ द्वि.प्र.दि.
२	"	"	"
३	गो. १ द्वि. प्र.दि.	"	गो. २ ए.प्र. दि.
४	"	"	"
५–१२	"	गो. १ द्वि. प्र. दि.	"
१३–१२	"	गो. १ ए. प्र. दि.	"

यदि औषधि से लाभ प्रतीत होता हो तब उपर्युक्त चिकित्साक्रम के पश्चात् **१५ दिन औषधि बन्द** कर एक बार पुनः उपर्युक्त क्रम से औषधि देना चाहिए। जिस समय यह औषधि बन्द रहती है उस समय रोगी को अमायनो एसिड (Meonin, Delphicol), प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Ptn: hydrolysate), जीवतिक्ति ए, बी, सी, के (Vit : A.B.C.K.), कैलसियम (Cal:), ग्लूकोस तथा क्षार (Alkali) आदि देना चाहिये।

(ख) इमेटीन (Emetine) :—क्लोरोकीन से लाभ न होने पर इमेटिन का इंजेक्शन पेशीमार्ग से लगाना चाहिए। साधारण भारवाले रोगी को निरन्तर **चार दिन तक** १२ घंटे के अन्तर पर ग्रे. १/२ द्वि. प्र. दि. इजेक्शन देना चाहिए। तत्पश्चात् **तीन सप्ताह तक** ग्रे. $\frac{1}{2}$–१ ए.प्र.दि. कर द्वि.प्र.स.इञ्जेक्शन लगाना चाहिए। इस औषधि के विषय में जिन सावधानियो की आवश्यकता पड़ती है उनका वर्णन आमप्रवाहिका (A. Dys :) की चिकित्सा में देखिए।

(ग) आयोडीन के योग :—आन्त्रगत उपसर्ग ठीक करने के लिए आयोडीन के योग भी साथ-साथ देना चाहिए। जैसे :—एन्टरोवायोफौर्म (Enterovioform), डायोडोक्वीन (Diodoquin), चीनियो

फौन (Chiniofon) या कुरची के योग जैसे, एनावीन (Anabin) आदि गो. १ त्रि. प्र. दि. कर १० दिन तक देना चाहिए, **तत्पश्चात्** १० दिन औषधि बन्द कर पुनः इसी क्रम से दस दिन तक औषधि देना चाहिए। इन औषधियों का यकृत विकृति पर विशेष प्रभाव नही है।

(घ) **अन्य चिकित्सा :**—ज्वर की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त तथा इमेटीन (Emetine) के सम्पूर्ण चिकित्साक्रम मे रोगी को **पूर्ण विश्राम** करना चाहिये। **आहार** तरल होना चाहिये तथा उसमे कार्बोज (Cho) तथा जीवतिक्ति 'बी', 'सी' (Vit: B & C) की प्रधानता रहनी चाहिये। यकृत के रोगों मे प्रोटीन (Ptn) का विशेष महत्व है। इसको अमीनोएसिड (Aminoacids) या प्रोटीन हाइड्रोलाइसे (Protein hydrolysate) के रूप में दे सकते हैं। मेयोनीन (Meonin 'JW') गो. १ त्रि. प्र. दि. या डेलफिकौल (DelphicolLe) च. १ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। साथ-साथ क्षार (यो. १) त्रि. प्र. दि. देने से इमेटीन के प्रभाव में वृद्धि होती है। यकृत को गरम पानी की बोतल, एंटीफ्लेमिन, तीसी की पुलटिस आदि से सेंकना चाहिए। इससे पीड़ा मे लाभ होता है।

(ङ) **आहार :**—रोग की तीव्रता के समय तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिए। जीवतिक्ति 'सी' (Vit: C) के कारण नीबू तथा शन्तरे का विशेष महत्व है। तरकारियों के बनाने मे अत्यल्प मात्रा मे घी का प्रयोग करना चाहिये। यकृत के रोगो मे घी तथा तेल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

यकृत विद्रधि की चिकित्सा:—(१) इमेटिन (Emetine):—यकृत विद्रधि की सम्भावना प्रतीत होने पर इमेटीन प्रारम्भ कर देना चाहिए। अं.का.धा.ना. (E.H.) जन्य यकृत विकृति मे यह औषधि सर्वोत्तम है। रोगी के भार के अनुसार इमेटीन ½ से १ ग्रे. तथा स्ट्रिक्नीन (Strychnine) १/६० ग्रे. ए. प्र. दि. करके १२ दिन तक पेशीमार्ग से इन्जेक्शन लगाना चाहिए। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिए तथा उसके रक्त निपीड़ (B.P.) पर विशेष ध्यान देना चाहिए। १ ग्रे. औषधि एक बार देने की अपेक्षा ½ ग्रे. द्वि.प्र.दि. १२ घटे के अन्तर में प्रयोग करना अच्छा है। इस रोग मे प्रायः इमेटिन का प्रयोग अनेक बार करने की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ६–१२ दिन निरन्तर इंजेक्शन लगाने के पश्चात **तीन सप्ताह औषधि बन्द** रखना चाहिये, **तत्पश्चात्**

१ सप्ताह औषधि का पुनः इंजेक्शन दें, **तदुपरान्त** ३ सप्ताह औषधि बन्द कर एक बार पुनः सात दिन तक औषधि दें। इस प्रकार प्रायः तीन बार औषधि का क्रम चलाना पड़ता है। साथ साथ **आयोडीन** (I) के योग भी मुख द्वारा दो बार १० दिन का अन्तर देकर देना चाहिये। प्रत्येक चिकित्सा क्रम में १० दिन औषधि देना चाहिए। साधारण विद्रधि इस क्रम से ठीक हो जाती है परन्तु विद्रधि बड़ी होने पर पूय निकालना अनिवार्य है।

(२) **क्लोरोक्वीन** ;—इमेटीन के बन्द रहने की अवधि में **क्लोरोक्वीन** (Chloroquin) का प्रयोग कर सकते हैं। क्लोरोक्वीन की मात्रा यकृतशोथ (Hepatitis) की चिकित्सा के समान होनी चाहिये।

(३) **तृणाणुनाशक** :— द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग हो जाने पर श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या में और अधिक वृद्धि होती है तथा ज्वर की प्रकृति प्रलेपक (Hectic) हो जाती है। ज्वर प्र. दि. कंप (Rigor) के साथ आता है और रात्रि में ज्वर कम होते समय अत्यधिक पसीना होती है। इस स्थिति में इमेटीन की चिकित्सा के साथ साथ पेनिसिलीन (P) तथा स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str.) का डाइक्रिस्टीसीन (Dicristicin) के रूप में ग्रा. ०·५ द्वि. प्र. दि. १२ घण्टे के अन्तर में पेशी मार्ग से इन्जेक्शन लगाना चाहिये। इस औषधि का प्रयोग कम से कम १५ दिन से एक मास पर्यन्त करना पड़ता है। निर्हरण (Aspiration) क्रिया के पश्चात इन औषधियों को यकृत विद्रधि में भी प्रवेश कराना चाहिये।

(४) **निर्हरणक्रिया** (Aspiration) :—उपर्युक्त औषधियाँ यकृतशोथ के लिए उत्तम है। यकृत में विद्रधि बन जाने पर पोटेन के एसपिरेटर (Potain's aspirator) के द्वारा यकृत से पूय निकालना चाहिए। इस क्रिया के लिये अष्टम या नवम पर्शुकान्तरीय स्थान में पुरः कक्षीय रेखा (Anterior axillary line) में सूई प्रवेश करना चाहिए। सूई ३½ इञ्च से अधिक अन्दर नहीं प्रवेश करना चाहिए। निर्हरणक्रिया करने के पूर्व यकृत विद्रधि की चिकित्सा औषधियों द्वारा करनी चाहिए। यदि औषधियों से लाभ न हो तब निर्हरणक्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया प्रायः इमेटिन के ६ इन्जेक्शन देने के पश्चात् की जाती है। रोग की अत्यन्त उग्र अवस्था में ३ बार इमेटिन का इन्जेक्शन लगाने के पश्चात इस क्रिया को कर सकते हैं। यह क्रिया सर्वदा शल्यकर्मगृह (Op. theater) में सावधानीपूर्वक

करनी चाहिये जिससे विद्रधि मे द्वितीयक (Secondary) जीवाणु प्रवेश न कर सकें। आ० अ० इस क्रिया को अनेक बार कर सकते हैं। यथासम्भव शल्यकर्म (Op.) द्वारा विद्रधि को खोलने से बचाना चाहिए। इससे द्वितीयक उपसर्ग होने की अधिक सम्भावना रहती है और व्रण के भरने मे समय लगता है।

(५) शल्यकर्म (Op.) :—यदि विद्रधि उदर मे या यकृत के वामखण्ड मे हो तब शल्यकर्म द्वारा उदर खोलकर पूय निकालना चाहिये। निर्हरण क्रिया (Aspiration) तथा शल्यकर्म दोनो के साथ इमेटिन (Emetine) का इन्जेक्शन भी आवश्यक है।

विद्रधि में द्वितीयक उपसर्ग हो जाने पर शल्यकर्म द्वारा विद्रधि को खोलना आवश्यक है। शल्यकर्म करने के पूर्व निर्हरणक्रिया द्वारा पूय निकालकर काँच की पटरी पर रख कर तथा उसको रंजित (Stain) कर सूक्ष्मवीक्षण यंत्र (Microscope) द्वारा जीवाणुओ को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिये। जीवाणु की प्रकृति के अनुसार पेनिसिलीन (P.), स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str.) आदि का प्रयोग करना चाहिये। जीवाणुओं की समवर्ध (Culture) परीक्षा भी करनी चाहिये। निर्हरणक्रिया अथवा शल्यकर्म के साथ साथ अ. का. धा. ना. (E. H.) के उपसर्ग की विशिष्ट औषधियों का प्रयोग तथा चिकित्साक्रम पूर्ण मात्रा मे करना चाहिये।

उलूक मुख उपसर्ग (Giardia infection)

परिचय :—इस कायाणु के द्वारा प्रायः बाल्यावस्था मे आन्त्र मे उपसर्ग होता है। पचन संस्थान के लक्षणों की प्रधानता रहती है। वमन, मिचली, तथा पतले दस्त होते हैं। मल दुर्गन्धि होता है और वह जल के समान तरल या अर्धतरल अथवा प्राकृत परन्तु मात्रा में अधिक होता है। मल परीक्षा मे उलूकमुख जीवाणु (Giardia lambelia) के कोष्ठ (Cysts) अथवा कायाणु की उद्भिद् अवस्था (Vegitative stage) मिलती हैं। चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व तथा चिकित्सा समाप्त करने के पश्चात अनेक बार मल परीक्षा करनी चाहिये। मल में कायाणु मिलने पर आ. अ. औषधि का पुनः प्रयोग करना चाहिये। दो चिकित्सा क्रम मे कम से कम एक मास का अन्तर होना चाहिये।

चिकित्साः—अटेब्रिन (Atebrine, mepacrin, quinacr-

ine) आदि :—इस औषधि की ग्रा. ०'१ की गो. १ त्रि. प्र. दि कर निरन्तर ५ दिन तक देना चाहिये। औषधि की विषाक्तता आदि के विषय में **मलेरिया** की चिकित्सा देखिये।

तृणाणवीय (Bacterial) उपसर्ग।

प्लेग (Plague)

निदान (१) परीक्षा :—लस ग्रंथि (Lymph gland) के स्राव, रक्त, ष्ठीवन (Sputum) या ब्रह्मवारि (C.S. Fluid) को पटरी पर रख कर रंजित (Stain) कर प्लेग दण्डाणु (Pasteurella pestis) के लिए देखना चाहिये। इन स्रावों की सम्वर्ध परीक्षा (Culture) करने से भी जीवाणु का पता लगता है परन्तु इस परीक्षा में समय लगता है और चिकित्सा की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है। इन स्रावों में प्लेग दण्डाणु (P. Pestis) का मिलना रोग का निश्चित प्रमाण है। **रक्त परीक्षा** में बहुकारी श्वेत कायाणुओं की वृद्धि (Poly : leucocitosis) मिलती है।

(२) लक्षण :—अकस्मात् तीव्र तथा अनियमित (Irregular) ज्वर के साथ विषमयता के लक्षण, चिन्ताजनक आकृति, लसग्रंथियों की वृद्धि के साथ-साथ उसके चारों ओर की धातु में शोफ (Periglandular oedema) तथा द्वितीय या तृतीय दिन रोगी के समस्त शरीर का **आंकुचित** (Flexed) होना, निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण लक्षण हैं। लसग्रन्थियों के चारों ओर की धातु में इस प्रकार का शोफ प्लेग के अतिरिक्त श्लीपद (Filaria) में भी पाया जाता है। नाड़ी की गति प्रायः तीव्र होती है, उसकी प्रकृति पश्चात्-द्विस्पन्दिक (Dicrotic) तथा आयतन (Volume) और आतति (Tension) अल्प रहता है। श्वसन तीव्र, उत्तान तथा कष्टप्रद प्रतीत होता है। इस रोग के **दोषमय** (Septicaemic) प्रकार में प्रायः सर्व लक्षण प्रारम्भसे ही तीव्र होते हैं परन्तु लेखक ने ऐसे भी प्लेग के दोषमय प्रकार के रोगी देखे हैं जिनका तापक्रम तथा लक्षणों की स्थिति आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) के समान रही और २–३ सप्ताह में रोगी की मृत्यु हो गई। इन रोगियों में प्रारम्भ में १–२ दिन ग्रीवा की लसग्रंथियों की अत्यन्त साधारण वृद्धि प्रतीत हुई और शीघ्र ही यह वृद्धि अदृश्य

हो गई। कभी-कभी किसी एक स्थान की लस ग्रंथियों की वृद्धि न होकर व्यापक रूप से शरीर की समस्त लसग्रथियाँ स्पर्शासह (Tender) हो जाती है। रोग के इस प्रकार में मानसिक लक्षणों की प्रधानता रहती है जैसे प्रलाप (Delirium), तन्द्रा (Drowsiness), संन्यास (Coma) आदि। प्लेग मे **फुफ्फुस** मे दो प्रकार की विकृति होती है। प्रथम विकृति प्लेग दण्डाणु (B. pestis) के कारण होती है और श्वसनी शोथ (Bronchitis), श्वसनी फुफ्फुसपाक (Broncho-pneumonia) तथा अत्यन्त विरल अवस्था मे खण्डीय फुफ्फुसपाक (Lobar-pneumonia का स्वरूप धारण करती है। द्वितीय विकृति द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के कारण, प्लेग मे उपद्रव स्वरूप होती है। यह विकृति प्रायः श्वसनी फुफ्फुसपाक (Broncho-pneumonia) का रूप धारण करती है। विकृति के अनुसार फुफ्फुस में लक्षण मिलते हैं। रोग का यह प्रकार अत्यन्त मारक है। इसमे खाँसी आदि के समय बिन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा सरलता से उपसर्ग फैलाता है। इसलिये चिकित्सक तथा परिचारकों के लिये विशेष खतरनाक है।

चिकित्सा (१) प्रतिषेध :—इस रोग का चूहों से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण उनकी उत्पत्ति तथा सम्पर्क कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। चूहों को नष्ट करने प्रयत्न करना चाहिये। चूहों को नष्ट करने का प्रयत्न निरन्तर करना चाहिये। केवल मरक (Epidemic) के समय इस पर ध्यान देना पर्याप्त नहीं है। इसके लिए चूहों के बिल में पम्प द्वारा सायनो गैस (Hcn) समय-समय प्रवेश कराना चाहिये। स्वास्थ्य विभाग के प्रयत्नो के अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक को अपने घर मे चूहेदानी या अन्य उपायो से चूहों को मारना चाहिये। इसके लिये चूहों को मारने वाली गोली मिलती है। इन गोलियों मे प्रायः बेरियम कार्बोनेट (Barium carb:) अथवा सोडियम फ्लोरो एसिटेट (Sodi: fluoro : acetate) १/२ प्र. श. रहता है। संखिया (As.), फौसफोरस (Ph.), जिन्क फौसफाइड आदि भी प्रयोग किये जाते हैं। इनके प्रयोग करने मे दो बातों का भय रहता है। यदि घर मे छोटे बच्चे हों तब वे इन गोलियों को उठाकर खा सकते हैं और चूहे प्रायः छप्पर आदि ऐसे स्थानों मे छिप कर मरते हैं जहाँ से उनको निकालना कठिन होता है। प्रायः देखा गया है कि चूहे, रसोईघर, अनाज के गोदाम आदि स्थानों

मे जहॉ भोजन रखा जाता है वहीं रहते हैं। इन स्थानो को पक्का बनवाना चाहिये जिससे चूहे उनमे बिल न बना सकें। इन स्थानो की नाली, खिडकी आदि जाली से ढकी रहनी चाहिये जिससे चूहे अन्दर प्रवेश न कर सके। गोदाम के चारोओर ६ इच का प्लैटफौर्म रहने से चूहे उस पर नही चढ पाते। घरो मे भोजन ढक कर रखना चाहिये जिससे वह चूहो के काम न आ सके। भोजन न मिलने पर प्रायः चूहे उस स्थान को छोड़ देते हैं। बिल्लियॉ भी चूहे मारने मे निपुण होती हैं। मरक के समय यदि घरमे चूहा मरे तब उस घर को छोड़कर मैदान मे तम्बू या झोपड़ीमे रहना चाहिये। मरक की अवधि पर्यंत उस मकान से सम्बन्ध नही रखना चाहिये और यथासम्भव सब वस्तुओ को उस मकान मे छोड़कर खाली हाथ ही जाना अच्छा है। मरे हुए चूहे के ऊपर मिट्टी का तेल डाल कर कपडे से ढक कर उसे उसी स्थान पर जला देना चाहिये। उसको हाथ से नही छूना चाहिये और सारे मकान मे डी. डी. टी. (D.D.T.) ५–१० प्र. श. या गामेक्सीन (Gammexane I.C.I.) पिचकारी द्वारा छिड़क कर मकान को बन्द कर देना चाहिये। इससे चूहे के पिस्सू जो प्लेग फैलाते हैं, उनकी मृत्यु हो जाती है। इन औषधियों का प्रभाव प्रायः दो सप्ताह रहता है। मकान मे पुनः प्रवेश करने के पूर्व एक बार पुनः डी. डी. टी. छिड़कवा कर दो दिन के बाद मकान मे जाना चाहिये। मरक के समय प्रत्येक मनुष्य को प्लेग का टीका (Vaccine) लगवाना चाहिये। इस औषधि की प्रत्येक सी. सी. मे मृत प्लेग जीवाणु २०० करोड़ रहते हैं। इसका ½–१ सी. सी. आयु भार तथा लिंग के अनुसार पेशीमार्ग से प्रयोग करना चाहिये। एक सप्ताह पश्चात् पुनः इसी मात्रा मे औषधि प्रयोग करे। इस औषधि का प्रभाव प्रायः ६ मास रहता है। गर्भवती स्त्री मे इसका प्रयोग नही करना चाहिये। इससे गर्भपात की सम्भावना रहती है। यदि दो बार इंजेक्शन सम्भव न हो तब केवल एक बार १–२ सी. सी. तक प्रयोग कर सकते हैं। रोगी को एक मास अन्य लोगो से पृथक रखना चाहिये। यथासंभव उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध औपसर्गिक रोग सम्बन्धित चिकित्सालय (I. D. hospital) मे ही करना अच्छा है। रोगी के प्रत्येक स्राव कफ, मल, मूत्र, रक्त, पूय आदि मे जीवाणुनाशक औषधि लाइसोल (Lysol) या पोटासियम परमैंग्नेट ($Kmno_4$) आदि मिला कर नाली मे फेंकना चाहिये। फौफ्फुसीय (Pneumonic) तथा दोषमय (Septicaemic) प्रकार में

कफ आदि अत्यन्त औपसर्गिक रहता है। इसको जला देना ही अच्छा है। चिकित्सक तथा परिचारिका आदि को स्वयं प्लेग का टीका लगवाने के अतिरिक्त कमरतक का भाग मोजे, जूते, पतलून आदि से ढक कर रखना चाहिये क्योंकि चूहे के पिस्सू (Flea) प्रायः ३ फीट से अधिक ऊँचा नही उड़ सकते। इनको अपने या रोगी के घर मे जाने के पूर्व अपने कपड़े पर डी.डी. टी. छिड़क लेना चाहिये और इन कपड़ो को बदल कर ही अपने घर मे पुनः प्रवेश करना चाहिये। फौफ्फुसिक (Pneumonic) प्रकार के रोगी की सेवा तथा चिकित्सा करते समय अपने नाक तथा मुख को ४–६ तह गौज (Gauze) से ढक कर रखना चाहिये। हाथो पर रबर का दस्ताना पहनना अच्छा है। रोग फैलाने मे ग्रन्थिक (Bubonic) प्रकार का रोगी फौफ्फुसिक (Pneumonic) तथा दोषमय (Septicemic) प्रकार की अपेक्षा कम भयानक होता है परन्तु किसी भी प्लेग के रोगी के शरीर तथा वस्त्र पर चूहे के पिस्सू मिल सकते हैं। रोगी के शरीर पर यदि खुला हुआ विद्रधि (Bubo) हो और उसमे से पूय निकलता हो तब उस पूय मे रोग के जीवाणु रहते हैं। दो मास अन्दर किसी अन्य देश से जहा पर प्लेग हो, वहाँ से जहाज आनेपर उस जहाज को पृथक कर उसके यात्रियो को २–३ सप्ताह पृथक रख कर उनमे प्लेग की सम्भावना के लिए देखना चाहिये। जहाज के चूहों को सायनोगैस (Hcn.) से मार डालना चाहिये और उस पर का सब सामान डी. डी. टी. (D.D.T:) द्वारा पिस्सू रहित करना चाहिये। यह क्रिया कम से कम ३ बार करना चाहिये। प्रचार द्वारा इस रोग के विषय में जनता को बतलाना आवश्यक है। जो लोग रोगी के संपर्क मे आये हो उनको रोग से बचाने के लिये सल्फा (S) औषधि की गोली २ त्रि. प्र. दि. कर ५ दिन तक देना चाहिये। इसके लिये सल्फाडियाजीन (S–Diazine) या सल्फामेराजीन (Merazine) आदि प्रयोग कर सकते है।

(२) **साधारण चिकित्सा** :—प्लेग की साधारण चिकित्सा अन्य किसी तीव्र ज्वर के समान ही करनी चाहिये। रोगी को परिवार के अन्य लोगो से पृथक कर शैय्या पर पूर्ण विश्राम करना चाहिये। ज्वर की तीव्रता के समय तरल आहार (पृ.४) देना चाहिये। जलचिकित्सा (पृ. ३७) के प्रयोग से यदि बेचैनी, प्रलाप (Delirium) आदि में कमी न हो तब शामक (Sedative) औषधियो का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये सोते समय वेरेमोन

(Veremon) या मेडिनल (Medinal) की एक गोली अथवा पराल डिहाइड (Paraldehyde) ५–१० सी. सी. पेशीमार्ग से प्रयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त गुदामार्ग से क्लोरल हाइड्रस (Choral hydras) ग्रे. २०–३०, आ. अ. दे सकते हैं। यूकेडोल (Eukadol) ग्रे. $\frac{1}{6}$–$\frac{1}{3}$, या पेथीडीन (Pethidin) मि.ग्रा. ५०–१०० या फाइसेप्टोन (Physeptone) का एक एम्प्यूल अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से प्रयोग कर सकते हैं। यदि इन औषधियों से लाभ न हो तब मोरफीन ग्रे. $\frac{1}{4}$ तथा एट्रोपीन (M.& A.) ग्रे. १/१०० अधस्त्वक मार्ग से प्रयोग करना चाहिये। तीव्र उपसर्ग में प्रायः परिसरीय हृदयातिपात (Peripheral cardiac failure) होता है। इसके लिये कोरामीन (Ce) मि. १० प्रति चार घण्टे पर मुख से देना चाहिये। इस औषधि को १.७ सी. सी. अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से आ. अ. प्रयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हृदय को शक्तिशाली करने के लिये ग्लूकोस (Glucose) १२$\frac{1}{2}$–२५ प्र. श. सिरामार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः प्र. दि. इंजेक्शन लगाना चाहिये। साथ साथ इनसुलीन (Insulin) ५–१० अ. इ. अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से देने से ग्लूकोस के समवर्त (Mbm.) में सहायता मिलती है। आ. अ. डिजिटेलिस का भी प्रयोग कर सकते। लस ग्रन्थि (Lymph gland) की स्थानिक चिकित्सा के लिये ग्रंथि पर इक्थियोल ग्लिसरीन बेलाडोना (यो. ७७) गरम कर द्वि. प्र. दि. लगाना चाहिए। आधुनिक चिकित्सा के कारण लसग्रंथियों का शोथ प्रायः स्वयं ही कम हो जाता है। ग्रंथियों में पूयभवन (Suppuration) होने पर शल्यकर्म (Op.) द्वारा पूय निकाल देना चाहिए। शल्यकर्म करने में जल्दी नहीं करना चाहिए क्योंकि प्लेग में ग्रन्थियों के चारों ओर की धातु में अत्यधिक शोफ (Oedema) होने के कारण पूय की उपस्थिति का भ्रम होता है। इस भ्रम के निवारण के लिए पिचकारी द्वारा पूय निकाल कर देख लेना अच्छा है। पूय रहने पर ही शल्यकर्म (Op.) करना चाहिए। इसके पश्चात् व्रण (Ulcer) में सिबाजोल (Cibazol) का भस्म, स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str.) या मैगसल्फ (यो. ७८) का प्रयोग करना चाहिए। स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) ग्रा. $\frac{1}{4}$ प. ज. सी. सी. २ में मिला कर लसग्रंथि में इंजेक्शन भी लगा सकते हैं। यह क्रिया ग्रन्थि में पूयभवन प्रारम्भ होने के पूर्व करना अच्छा है।

(३) विशिष्ट चिकित्सा :—

(क) स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str):—इस औषधि के इंजेक्शन के साथ-साथ मुख द्वारा सल्फा (S) औषधि का प्रयोग सर्वश्रेष्ठ है। स्ट्रेप्टोमाइसीन ग्रा. १ प. ज. १० सी. सी. मे मिश्रित कर ५ सी. सी. प्र. वा. पेशीमार्ग द्वारा प्रथम तीन दिन त्रि. प्र. दि. इंजेक्शन लगाना चाहिए। ज्वर प्राकृत हो जाने पर इसी मात्रा मे दो दिन और प्र. १२ घं. इन्जेक्शन लगाना चाहिए। स्ट्रेप्टोमाइसीन की प्रति मात्रा मे पेनिसिलीन (P) दो ल. अं० इ. मिला देना उत्तम है। प्रायः ५ दिन तक स्ट्रेप्टोमाइसीन प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। रोग की गम्भीरता के अनुसार स्ट्रेप्टोमाइसीन ग्रा. १–१½ तक प्रति ६ घण्टे इंजेक्शन दे सकते हैं। रोगी की अवस्था मे सुधार हो जाने पर औषधि की मात्रा कम कर देनी चाहिये। इस औषधि का प्रथम दिन से ही प्रयोग करने से मृत्यु की सम्भावना अत्यल्प रहती है। पाँच दिन औषधि देने के पश्चात् इसको बन्द कर रोगी को सल्फा (S) औषधि देना चाहिए। फौफ्फुसिक (Pneumonic) प्रकार में एरियोसौल पेनिसिलीन (Aerosol P) की तरह स्ट्रेप्टोमाइसीन को भी यंत्र के द्वारा फुफ्फुस मे प्रवेश कर सकते है। इस औषधि के प्रयोग से प्लेग मे मृत्यु संख्या में अत्यन्त कमी हो गई है। रोगी की अवस्था अत्यन्त गम्भीर होने पर अथवा फौफ्फुसिक (Pneumonic), दोषमय (Septicaemic) या मस्तिष्कीय (Meningitic) प्रकार रहने पर स्ट्रेप्टोमाइसीन के अतिरिक्त टेरामाइसीन (Tn.), औरियोमायेसीन (A. U.) या क्लोरोमायेसिटीन (Cln) का मि. ग्रा. २५० का कै. २ प्र. दि. ४–८ बार देना चाहिए।

(ख) सल्फा औषधि :—ये औषधियाँ अकेले ही या स्ट्रेप्टोमाइसीन तथा पेनिसिलीन के साथ प्रयोग की जाती हैं। सर्वप्रथम सल्फाडियाजीन (S-diazine) ग्रा. २–२·५ सिरामार्ग से इंजेक्शन द्वारा देना चाहिये। साथ-साथ प्रथम दिन इसी औषधि की ग्रा. ०·५ की २ से ४ गोली प्रत्येक चार घण्टे पर मुख से देना चाहिए। तत्पश्चात् चार दिन तक प्रति ६ घंटे पर २ से ४ गोली का प्रयोग करें। स्ट्रेप्टोमाइसीन के साथ सल्फा औषधि प्रयोग करने से सल्फा औषधि की मात्रा कम की जा सकती है। ५ दिन औषधि देने के पश्चात् २ गो० प्र० ६ घण्टे पर तब तक दें जब तक रोगी रोग निवृत्त न हो जाये। इसी प्रकार **सल्फाथियाजोल** (S-thiazole) का भी प्रयोग

कर सकते हैं। यह औषधि प्रथम दिन गो० २ प्र० ४ घण्टे पर देना चाहिये। प्रथम मात्रा मे ४ गोली देना अच्छा है। तत्पश्चात् गो० २ प्र० ६ घण्टे कर ४–७ दिन तक देना चाहिये। सल्फा औषधि के साथ-साथ सोडी बाइकार्ब तथा निकोटिनिक एमाइड (यो० ४७) देने से औषधि की विषाक्तता मे कमी होती है। प्लेग के लिये सल्फा औषधियों मे सल्फा डियाजीन सर्वोत्तम है।

(ग) पेनिसिलीन (P) :—इस औषधि का प्लेग पर उत्तम प्रभाव नहीं है। द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग को रोकने के लिये स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str.) की प्रत्येक मात्रा मे पेनिसिलीन 'जी' (P:G) २०–३० हजार अ० इ० मिला दे सकते हैं।

(४) अन्य चिकित्सा :—सल्फा औषधियो (S) को अत्यधिक मात्रा मे प्रयोग करने के कारण **रक्ताल्पता** (Anaemia) होने की सम्भावना रहती है। इसलिये **खमीर** (Yeast), लौह(Fe:), यकृत सत्व (Liver ext:), रक्तप्रदान (Blood:transfusion) आदि का प्रयोग यथासम्भव शीघ्र प्रारम्भ कर देना चाहिये। उपर्युक्त औषधियो के आविष्कार के कारण प्लेग निरोधी लसिका (Anti-plague serum) का प्रयोग महत्वहीन हो गया है। सोखी (Sokhi's) की प्लेग निरोधी लसिका सी० सी० ३०–४० सिरा मार्ग से दे सकते हैं। नेयोमाइसीन (Neomycin), एरोस्पोरीन (Aerosporin) आदि प्रायोगिक अवस्था मे है।

कुष्ठ (Leprosy)

निदान :—(क) **परीक्षा :**—कुष्ठ दण्डाणु (Mycobacterium leprae) जन्य यह रोग शरीर मे व्यापक विकृति करता है। रोग-विनिश्चिति के लिये **कुष्ठ दण्डाणु** का मिलना आवश्यक है। ये जीवाणु विकृत स्थान को काटने से अथवा **नाक की श्लैष्मिक कला** (M. M.) को किसी तीव्र यन्त्र से रगड़ने से जो पदार्थ निकलता है, उसमे मिलते हैं। इसको सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र (Microscope) द्वारा देखना चाहिये। **उरः फलक वेध** (S. P.) द्वारा मिली हुई मज्जा (Marrow) की परीक्षा से भी जीवाणु मिल सकते हैं। त्वचामे जिस स्थान पर सम्वेदनाओं (Sensations) का नाश हो चुका हो उस स्थान पर कुष्ठ दण्डाणुओं के मिलने की अत्यल्प सम्भावना रहती है।

(ख) लक्षण :—कुष्ठ की विभिन्न विकृतियों मे रंजनरहित (Depigmented) धब्वे प्रायः ८५ प्र० श० होते है । इनमे ८८ प्र० श० में संवेदना नही होती । १२ प्र० श० मे संवेदना मिल सकती है । बाकी १५ प्र० श० मे प्रायः १० प्र० श० धब्वे लाल रंग के होते है और ५ प्र० श० मे अन्य प्रकार की त्वचा की विकृतियाँ मिलती हैं जैसे, व्रण (Ulcer) आदि । **श्वेतकुष्ठ** (Leucoderma) में धब्वे दूध के समान सफेद होते हैं और प्रायः शरीर के दोनो ओर के सम स्थानों (Symmetrical) मे मिलते है । इनमे सम्वेदना का नाश नही होता । शरीर पर धब्वे मिलने पर उसके समीप की उत्तान वातनाड़ी (Superficial nerve) की परीक्षा करके देखना चाहिये कि वह मोटी तो नही है । वातनाड़ीशोथ (Neuritis) के लक्षण मिलने पर, उसके कारणो की खोज करनी चाहिये । अन्य कोई कारण न मिलने पर कुष्ठ की ही चिकित्सा करनी चाहिये । रक्तावसादन गति (E. S. R.) की परीक्षा करने से रोग की स्थिति का ज्ञान होता है ।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—मनुष्य मे इस रोग का उपसर्ग अत्यन्त पुराना प्रतीत होता है । भारतवर्ष के चिकित्साशास्त्र के पुराने ग्रथो मे इसका वर्णन मिलता है । संसार के भिन्न भिन्न भागो मे यह रोग व्यापक रूप से मिलता है । ऐसा अनुमान है कि समस्त संसार मे प्रायः ७०—८० लाख मनुष्य इस रोग के रोगी है और उनमें प्रायः १५ प्र० श० भारत मे है । ससार के अनेक देशो ने इस रोग के विरुद्ध प्रयत्न कर अपने देश मे इसकी संख्या नगण्य कर दी है । इस रोग के विषय मे अनेक गलत धारणाये जनता मे प्रचलित है । इनका दूर करना आवश्यक है । मनुष्य जाति के इतिहास मे अपने को सभ्य कहने वाले देशो की जनता ने समय-समय पर कुष्ठ के रोगियों पर इन गलत धारणाओं के कारण जो अत्याचार किये है वे इतने रोमाचकारी हैं कि उनका वर्णन कर **मनुष्य के अन्धविश्वास** के इतिहास को पुनः सजीव करना क्षम्य नहीं है । यह याद रखना आवश्यक है कि कुष्ट का रोगी भी अन्य मनुष्यो की तरह एक रोग से पीड़ित है न कि किसी पूर्व जन्म के पाप से । अन्य रोगियो की तरह उसकी सेवा करना भी मनुष्य का धर्म है । अन्य अनेक रोगो की तरह यह रोग **उतना औपसर्गिक** भी नही है । इस रोग का उपसर्ग होने के लिये **रोगी से अनेक वर्ष तक घनिष्ट** सम्पर्क आवश्यक है । यह सम्पर्क पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि मे ही सम्भव है । इसलिये

कुष्ठ के रोगी की निसंकोच सेवा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह रोग फिरंग (Syphilis) के समान कुजल (Hereditary) **नहीं है।** कुष्ठ का रोगी **प्रत्येक समय रोग नहीं फैला सकता।** यह तभी सम्भव है जब रोगी के शरीर पर खुले हुये व्रण (Ulcer) हों और उस व्रण से या नासास्राव (Nasal secretion) आदि से जीवाणु शरीर से बाहर निकल रहे हो। कुष्ठ के रोगी की सन्तान उससे पृथक रखने से सन्तान मे कुष्ठ होने की सम्भावना अत्यल्प रहती है। इसके जीवाणु में मनुष्य मे उपसर्ग फैलाने की शक्ति कम होने के कारण, जब अन्य रोगो या पौष्टिक आहार की कमी के कारण मनुष्य का **स्वास्थ्य खराब हो जाता है** तब ये जीवाणु उसके शरीर मे पनपते है। इसी कारण से यह रोग प्रायः **गरीब देशों** के निवासियो मे अधिक पाया जाता है। **बाल्यावस्था** मे उपसर्ग होने की अधिक सम्भावना रहती है, इसलिये कुष्ठ के रोगियों की **सन्तान को उनसे पृथक** रखना चाहिये। कुष्ठ के **रोगी** को यथासम्भव परिवार से **अलग** ऐसे स्थानों मे रखना चाहिये जहाँ केवल कुष्ठ के रोगियो की चिकित्सा का प्रबन्ध हो। ऐसे **कुष्ठआश्रमों** की स्थापना होनी चाहिये। इन आश्रमो मे चिकित्सा के अतिरिक्त रोगी को अपनी जीविका उपार्जन के निमित्त भिन्न भिन्न व्यवसायों के सीखने का प्रबन्ध होना चाहिये जिससे रोगी चिकित्साकाल मे मनोरंजन के अतिरिक्त **धनोपार्जन** भी कर सके और **चिकित्सा** की अवधि समाप्त होने पर समाज मे वह भारस्वरूप न हो। जनता के **आर्थिक स्तर** से इसका घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण देश को सम्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये। जनता के लिये **पौष्टिक आहार** का प्रबन्ध होना चाहिये और शिक्षा, प्रचार आदि से **दुश्चरित्रता** के परिणामों से जनता को अवगत कराना चाहिये। साथ साथ दुश्चरित्रता के कारणो का अध्ययन कर, इन दुश्चरित्रता के साधनो को यथासम्भव उन्मूल करना तथा उनको जनता से दूर रखना चाहिये। रोगी के नासा तथा व्रण (Ulcer) आदि से जो **स्राव** निकलता हो उसको जला देना ही अच्छा है। घरो मे काम करने वाले **नौकर, भोजन बनाने,** वितरण करने या बेचने वाले, **कपड़ा धोने** वाले आदि लोगो के **स्वास्थ्य की परीक्षा** का प्रबन्ध होना चाहिये। कुष्ठ के रोगियों को इन व्यवसायो से पृथक रखना चाहिये। रोगी के वस्त्र, जूठे बर्तन आदि को स्वस्थ मनुष्यो को प्रयोग नहीं करना चाहिये और

इनको जीवाणुनाशक औषधियों से स्वच्छ करना चाहिये। कुष्ठ की चिकित्सा के लिये पृथक चिकित्सालय होने चाहिये।

(ख) **साधारण चिकित्सा** :—रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। पौष्टिक आहार, सम्पूर्ण जीवतिक्तियाँ (Multi-vit) तथा पौष्टिक औषधियों आदि से रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करनी चाहिये। रोगी को शुद्ध जलवायु तथा स्वास्थ्यवर्धक वातावरण मे रखना चाहिये। उसके शरीर में यदि **अन्य रोगों** का प्रमाण मिले तब उनकी भी समुचित चिकित्सा करनी चाहिये। कुष्ठ से पीड़ित स्थानों में प्रायः कृमिरोग विशेष कर अंकुशकृमि (H. W.), मलेरिया, कालज्वर, श्लीपद (Filaria), फिरग (Syphilis), हीनता रोग (Deficiency diseases) आदि रोग पाये जाते हैं। इन रोगो के कारण स्वास्थ्य विकृत होता है और कुष्ठ के रोगी को चिकित्सा से शीघ्र लाभ नहीं होता। इसलिये इन रोगो की चिकित्सा आवश्यक है। स्वास्थ्य विकृत होने के अन्य कारणों की भी खोज करनी चाहिये जैसे :—व्यायाम की कमी, अस्वास्थ्यकर आदतें; आदि। इन कारणों का निवारण करना चाहिये। रोगी को यथासम्भव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिये। उसमे चिकित्सा के प्रति श्रद्धा तथा रोगनिवृत्ति की **आशा उत्पन्न** करना चाहिये। कुष्ठ की तरह जीर्ण रोगो मे चिकित्सा के साथ साथ **रोगी का सहयोग** भी नितान्त आवश्यक है और यह तभी सभव है जब रोगी को भविष्य मे रोगनिवृत्त होने की आशा हो। रोगी को खुले स्थान पर व्यायाम करना चाहिये। ऋतु के अनुसार **सूर्य किरण** मे शरीर को नग्न कर रखना चाहिये। भोजन मे दूध, फल, हरे शाक, अण्डा, मक्खन, मांस, मछली, आदि का प्रयोग करना चाहिये। रोगी को रोग फैलने की विधियों से अवगत कराना चाहिये जिससे वह अपने नासास्राव आदि का परित्याग करने में सावधानी रखे।

(ग) **विशिष्ट चिकित्सा** :—**विशिष्ट औषधियों** द्वारा कुष्ठ की चिकित्सा मे पर्याप्त प्रगति हुई हैं परन्तु इन औषधियों का प्रयोग भी कम से कम **६ मास से २ वर्ष** पर्यन्त करना पड़ता है। **सल्फोन** (Sulphone) वर्ग की औषधियाँ **विषाक्त हैं**। इनकी विषमयता का प्रभाव मुख्यतः **अस्थिमज्जा** (Bone marrow) पर पड़ने के कारण अपचायिक रक्ताल्पता (Aplastic anaemia) की सम्भावना रहती है। इसलिये इस औषधि

के प्रारम्भ करने के पूर्व तथा चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधिपर्यन्त समय समय पर **रक्त परीक्षा** करते रहना चाहिये और **खमीर** (Yeast) तथा **लौह** (Fe) के योग निरन्तर प्रयोग करना चाहिये। मुख द्वारा औषधि प्रयोग करते समय क़ब्ज नहीं होना चाहिये अन्यथा औषधि आंत्र मे संचित होती रहती है और किसी भी समय अधिक मात्रा में प्रचूषित होकर अकस्मात विषमयता कर सकती है।

(अ) **सल्फोन** (Sulphone) :—इस वर्ग की औषधियाँ वातनाड़ियों (Nerves) की पीड़ा मे प्रभावहीन हैं। पीड़ा के लिये चालमुग्रा (Hydnocarpus) के योग ही सर्वोत्तम हैं। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधिपर्यन्त रक्तावसादनगति (E.S.R.) के लिये बराबर परीक्षा करनी चाहिये। रोग की तीव्रता के समय यह गति भी तीव्र हो जाती है। इसलिये इस गति के तीव्र रहने पर चिकित्सा मे विशेष सावधानी आवश्यक है। इसके निम्न योग हैं :—

(१) **प्रोमीन** (Promin P.D.) :—यह औषधि इन्जेक्शन की अपेक्षा मुख मार्ग से अधिक विषाक्त है। इस औषधि का प्रत्यक्ष प्रभाव कम से कम एक वर्ष प्रयोग करने के पश्चात प्रतीत होता है और चार वर्ष तक चिकित्सा करना आवश्यक है। इसकी ग्रा० ५ की मात्रा प. ज. १० सी. सी. में मिश्रित कर सिरा मार्ग से (I.V.) इन्जेक्शन लगाना चाहिये। चिकित्सा क्रम की ३ विधियाँ हैं :—

(च) **प्रत्येक सप्ताह** मे ६ दिन इन्जेक्शन लगाना चाहिये और एक दिन औषधि स्थगित कर देना चाहिये।

(छ) **दो सप्ताह निरन्तर** इन्जेक्शन लगाने के पश्चात्, एक सप्ताह औषधि स्थगित कर पुनः दो सप्ताह औषधि का प्रयोग करना चाहिये। यही क्रम चलना चाहिये।

(ज) तीन सप्ताह पर्यन्त प्र. दि. इन्जेक्शन देने के पश्चात एक सप्ताह औषधि स्थगित कर पुनः तीन सप्ताह पर्यन्त प्र. दि. इन्जेक्शन लगाना चाहिये। यही क्रम अनेक वर्ष पर्यन्त चलाना चाहिये।

सूचना :—इस वर्ग की औषधियों के कारण शोणाशी रक्ताल्पता (Hemolytic anaemia) होने की सम्भावना रहती है। इसलिये चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रक्त परीक्षा द्वारा रक्तकणों (R.B.C.) की संख्या

पर विशेष ध्यान देना चाहिये । साथ साथ खमीर, (Yeast), लौह (Fe), यकृत सत्व (Liver ext :) तथा जीवतिक्तियों (Multi-vit:) का प्रयोग करते रहना चाहिये ।

(२) डायसोन (Diasone-Abt. D.A.D.P.S.):—यह औषधि मुख द्वारा सेवन की जाती है । यह औषधि विषाक्त होने के कारण रक्ताल्पता (Anaemia) होने की सम्भावना रहती है, इसलिये औषधि की मात्रा बढ़ाने के पूर्व प्रति सप्ताह रक्तपरीक्षा करनी चाहिये । चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि ५ वर्ष है । यदि दो वर्ष तक सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर रोगी के शरीर मे कुष्ठ दण्डाणु (B. lepra) न मिले तब चिकित्सा बन्द कर देना चाहिए । इस औषधि की ५ ग्रे. (०·३ ग्रा.) की गोली या कैपस्यूल (Capsule) मिलता है । इसके प्रयोग का क्रम पृष्ठ ३२८ पर देखिए ।

इस औषधि का प्रचूषण सरलता से होता है परन्तु मूत्र मार्ग से इसका परित्याग शीघ्रता से न होने के कारण यह औषधि शरीर में सचित होती है, इसलिये इसकी मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये ।

(ख) द्वितीय चिकित्सा क्रम :—

(औषधि की मात्रा मि. ग्रा. मे दी गई है)

दिन	प्रथम सप्ताह	द्वितीय सप्ताह	तृतीय सप्ताह	चतुर्थ सप्ताह	पंचम सप्ताह
१	५० द्वि.प्र.दि.	५० द्वि.प्र. दि.	१०० द्वि.प्र.दि.	१०० द्वि. प्र. दि.	१०० त्रि. प्र. दि.
२	”	”	”	”	५० द्वि. प्र. दि.
३	”	”	”	”	१०० त्रि. प्र. दि.
४	”	”	”	”	५० द्वि. प्र. दि.
५	”	”	”	”	१०० त्रि. प्र. दि.
६	”	”	”	”	५० द्वि. प्र. दि.
७	—	—	—	—	—

(क) प्रथम चिकित्सा क्रम :—

(गोली की मात्रा अंक मे दी गई है ।)

मास	प्रथम सप्ताह							द्वितीय सप्ताह							तृतीय सप्ताह							चतुर्थ सप्ताह						
प्रथम मास	१	—	१	—	१	—	१	—	२	—	२	—	२	—	२	१	२	१	२	१	—	३	—	३	—	३	—	३
द्वितीय मास	—	३	३	३	३	३	३	—	३	३	३	३	३	३	—	३	३	३	३	३	३	—	—	—	—	—	—	—
तृतीय मास	४	४	४	४	४	४	—	४	४	४	४	४	४	—	४	४	४	४	४	४	—	—	—	—	—	—	—	—
चतुर्थ मास	५	५	५	५	५	५	—	५	५	५	५	५	५	—	५	५	५	५	५	५	—	—	—	—	—	—	—	—
पंचम मास	६	६	६	६	६	६	—	६	६	६	६	६	६	—	६	६	७	६	६	६	—	—	—	—	—	—	—	—

सप्ताह में एक दिन औषधि बन्द रखना चाहिये। चतुर्थ सप्ताह के पश्चात अनेक वर्ष पर्यन्त पंचम सप्ताह वाला क्रम चलना चाहिये। औषधि की प्रति मात्रा मि. ग्रा. ५० या १०० होती है।

(३) **सल्फेट्रोन** (Sulphetrone), डायेमिडीन (Diamidin-P.D.) तथा प्रोमीजोल (Promizole-P. D.) :— ये औषधियाँ भी डायसोन के समान है। इनमे सल्फेट्रोन कम विषाक्त है। इसकी १२ गोली और खमीर (Yeast) की १२ गोली प्रति दिन मुख से देना चाहिये। कब्ज न हो इसका विशेष ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा औषधि उदर मे संचित होकर विषाक्तता कर सकती है।

(क) **सल्फेट्रोन** ग्रा. ०·५ मुख द्वारा ४-६ बार प्र. दि. दिया जाता है।

(ख) **प्रोमीजोल** ग्रा. १/४—१ मुख द्वारा ३—४ बार प्र. दि. दिया जाता है।

(ग) **नोवोफोन** (Novophone–B.C.P.W.) :—इस औषधि को मुख द्वारा मि. ग्रा. २५-१०० प्र. दि. कर सप्ताह मे ६ दिन देना चाहिये। प्रायः मि. ग्रा. ५० द्वि. प्र. दि. दिया जाता है। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढाना चाहिये।

(आ) **चालमुग्रा** (Chaulmoogra) तथा हिडनोकारपस तैल (Hydnocarpus oil) के योग :—

(१) **हिडनोकार्पस तैल** (Hydnocarpus oil):—यह औषधि क्रेयोजोट (Creosote) ४ प्र. श. के साथ अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से प्रयोग की जाती है। सी. सी. १/२ से प्रारम्भ कर शनैः शनैः सी. सी. २½ तक प्रयोग करना चाहिये। इस मात्रा पर पहुँचने पर साथ साथ इ. सी. सी. ओ. (E.C.C.O.) सी. सी. १/२—५ तक अन्तस्त्वक (I.D.) मार्ग से भी प्रयोग करना चाहिये। **केवल वातनाड़ियों** मे विकृति रहने पर, केवल हिडनोकार्पस तैल की सी. सी. २½ की मात्रा ६ मास तक प्रयोग करना चाहिये। त्वचा पर विकृति न रहने पर इ. सी. सी. ओ. का अन्तस्त्वक मार्ग से प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। **प्रधान विकृति त्वचा पर रहने पर** हिडनोकार्पस तैल अधस्त्वक मार्ग से सी. सी. १० तक प्रयोग करना चाहिये। साथ साथ इ. सी. सी. ओ., सी. सी. ५ तक अन्तःस्त्वक मार्ग से त्वचा की विकृति के चारो ओर इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिये। इस प्रकार इन

दोनों औषधियो की उच्चतम (Maximum) मात्राओं का १०—१२ बार इन्जेक्शन लगाने के पश्चात् एक मास औषधि बन्द कर पुनः यही क्रम अनेक वर्ष पर्यन्त चलाना चाहिये। चिकित्सा के परिणामस्वरूप जब रोगी के शरीर मे कुष्ठ दण्डाणु (B. lepra) मिलना बन्द हो जाय तब इन दोनों औषधियो का उपर्युक्त विधि से दो बार पुनः चिकित्सा क्रम चलाने के पश्चात् औषधि बन्द कर देना चाहिये और दो वर्ष तक प्रति तीन मास पर रोगी की परीक्षा करना चाहिये। हिडनाकार्पस तेल सी. सी. २½ से अधिक शरीर में एक स्थान पर प्रवेश नहीं करना चाहिये। यदि इस से अधिक मात्रा में औषधि देना हो तब अनेक स्थानो पर औषधि सी. सी. २½ करके प्रयोग करना चाहिये।

(२) इ० सी० सी० ओ० (E.C.C.O., Ethyl ester of hydnocarpus, creosote, camphor & olive oil) :—इस औषधि मे चालमुग्रा का एथिल इस्टर, क्रेओजोट, कर्पूर और जैतून का तैल है। इस औषधि का इन्जेक्शन अन्तस्त्वक मार्ग (I. D.) से करना चाहिये। ½ सी० सी० से प्रारम कर शनैः शनैः १ सी० सी० तक प्रयोग करना चाहिये।

(३) मूगरोल (Moogrol B.W. Co ethyl esters of chaulmoogra) :—यह चालमुग्रा के एथिल इस्टर्स का मिश्रण है। इसका प्रयोग सप्ताह मे एक बार पेशी मार्ग (I. M.) से किया जाता है। एक सी० सी० से प्रारम्भ कर शनैः शनैः ६ सी० सी० तक मात्रा बढ़ानी चाहिए।

(४) हिडनेस्ट्राइल (Hydnestryle S. S.) :—यह औषधि भी मूगरौल के समान चालमुग्रा का एथिल इस्टर है। यह औषधि कुष्ट प्रतिक्रिया (Lepra reaction) उत्पन्न करने के लिये दी जाती है। यह औषधि प्रारम्भ में धब्बो (Patch) के चारों ओर अन्तस्त्वक मार्ग (I. D.) से १–२ बूँद अनेक स्थानो में इन्जेक्शन द्वारा दी जाती है। प्रतिक्रिया न होने पर औषधि सी० सी० ½–२ पेशी मार्ग से तब तक देना चाहिये जब तक प्रतिक्रिया न हो। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिए। इसको कम से कम ६ मास तक प्रयोग करना चाहिए। प्रारम्भ मे अन्तस्त्वक मार्ग से तत्पश्चात् पेशी मार्ग से द्वि० प्र० स० प्रयोग करना चाहिए। प्रतिक्रिया होने पर औषधि की मात्रा कम कर ए० प्र० स० इन्जेक्शन लगाना चाहिए।

कुष्ठ प्रतिक्रिया (Lepra reaction) :—इस प्रतिक्रिया में दो प्रकार के लक्षण होते हैं। समस्त शरीर में पीड़ा के साथ साथ विकृत वात-नाड़ी (Nerve) में पीड़ा होती है और धब्बा (Patch) रक्तवर्ण हो जाता है तथा उसमें शोफ (Oedema) हो जाता है।

कुष्ठ प्रतिक्रिया की चिकित्सा :—कुष्ठ की विशिष्ट औषधियों के प्रयोग के समय कुष्ठ प्रतिक्रिया होने से विशिष्ट औषधि का प्रयोग स्थगित कर देना चाहिए। रोगी को विरेचक (Purgative) औषधि देना चाहिये और उसे शय्यापर विश्राम करना चाहिये। तत्पश्चात् निम्न औषधियाँ देनी चाहिये:—

(१) पोटासियम एन्टीमनी टार्टरेट (K:sb: tart) :— इस औषधि की १ से २ ग्रेन मात्रा ६ सी० सी० प० ज० में घोल कर (१–२प्र.श.) ½ सी० सी० से प्रारम्भ कर शनैः शनैः ४ सी० सी० तक सिरा मार्ग से सप्ताह में तीन बार इन्जेक्शन देना चाहिए।

(२) कैलसियम ग्लूकोनेट (Calcium gluconate) :—इस औषधि के १० प्र० श० घोल की १० सी० सी० सिरा मार्ग से प्रयोग करना चाहिये।

(३) सोडी बाइकार्ब (Sodi-bicarb) :—यह औषधि ६० ग्रे० चार बार प्र० दि० मुख द्वारा देना चाहिये।

कुष्ट की चिकित्सा में प्रतिक्रिया (Reaction) होने से अन्त में लाभ होने की ही सम्भावना रहती है। प्रतिक्रिया होने पर औषधि की मात्रा कम कर देना चाहिए और इन्जेक्शन के अन्तर को बढ़ा देना चाहिए। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रतिक्रिया तीव्र न हो। इससे रोगी को कष्ट होता है। प्रतिक्रिया उत्पन्न कराने के निमित्त **पोटासियम आयोडाइड** (KI) ग्रे० १–५ द्वि० प्र० दि० दिया जाता है। प्रतिक्रिया होने पर इस औषधि को बन्द कर देना चाहिए। वातनाड़ी में विकृति रहने पर पोटास आयोडाइड का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यह औषधि प्रायः अत्यन्त जीर्ण अवस्था में तथा त्वचा पर विकृति रहने पर की जाती है। इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी पूर्वक विशेषज्ञों द्वारा ही देना चाहिए अन्यथा अत्यन्त उग्र प्रतिक्रिया होने की संभावना रहती है। उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त इस औषधि को ग्रे० १ से प्रारम्भ कर, प्र० बा० ग्रे० १ की मात्रा बढ़ाकर ग्रे० २० तक द्वि० प्र० स० दे सकते हैं। तत्पश्चात ग्रे० २०–६० तक औषधि बढ़ाते समय प्र० बा० ग्रे० ५ की

मात्रा बढ़ाना चाहिए। विशेषज्ञों द्वारा ड्रा० ४ तक औषधि द्वि० प्र० स० प्रयोग की गई है। ड्रा० १–४ तक औषधि बढ़ाते समय १० वा० ग्रे० ३० की मात्रा बढ़ा सकते हैं। औषधि को दुग्ध के साथ देना चाहिए। सम्पूर्ण चिकित्साक्रम में प्रतिक्रिया के लक्षणों के लिए सावधानी पूर्वक देखते रहना चाहिए। प्रतिक्रिया होने पर अथवा ३ दिन से अधिक ज्वर रहने पर एन्टीमनी (Sb) द्वारा प्रतिक्रिया की चिकित्सा करना चाहिए।

प्रतिक्रिया के लक्षणों की प्रधानता ग्रथिका (Nodule) में रहने पर मरक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) प्र० श० २ सिरा मार्ग से सी० सी० १–५ ए० प्र० स० दे सकते हैं।

(घ) **अन्य चिकित्सा :**—फ्लोरेसीन (Fluorescine) सी० सी० १–५ द्वि० प्र० स० सिरा मार्ग से देनेसे वातनाड़ी की पीड़ा में लाभ होता है। इसके अतिरिक्त सोडी बाईकार्ब, सोडी सैलिसिलस (यो० २८), एड्रीनलीन (Adrenaline) या ए०पी० सी० (यो० ६२) त्रि० प्र० दि० देने से भी पीड़ा में कमी होती है। एड्रीनलीन सी०सी० ½–१ मुख से या अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से अथवा विकृत वातनाड़ी (Nerve) के मार्ग में इन्जेक्शन द्वारा दे सकते हैं।

वातनाड़ी की पीड़ा के लिए जीवतिक्ति **'बी' सम्पूर्ण** (Vit: B complex) १–२ सी० सी० पेशी मार्ग से द्वि० या त्रि० प्र० स० देना चाहिये। साथ-साथ मुख से जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multi-vit:) कै. १ द्वि. प्र. दि० भो० प० देना अच्छा है। इस औषधि में जीवतिक्ति 'बी१' (B_1) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। साथ-साथ इफेड्रिन सल्फ (Ephedrine sulph) ग्रे० ½–१ द्वि० या त्रि० प्र० दि० देने से लाभ होता है। रोगी के शरीर में रोगक्षमता (Immunity) बढ़ाने के लिये **विजातीय प्रोभूजिन चिकित्सा** (पृ० ३६) करनी चाहिये। **आत्मशोणित चिकित्सा** (Autohemotherapy) में रोगी का रक्त (पृ० ३६) सी०सी० ५–१० या दुग्ध के योग (Aolan, lactolan) सी० सी० २–१०, पेशी मार्ग से अथवा टी० ए० बी० वैक्सीन (T.A.B.) ५०–१०० ल० मृत जीवाणु सिरा मार्ग से ए० या० द्वि० प्र० स० दे सकते हैं।

(ङ) **स्थानिक चिकित्सा:**—विकृत स्थान बाहर से स्पर्शलभ्य होने पर उस पर कुष्ट की **विशिष्ट औषधि** की मलहम लगाई जा सकती है। नाक

में रोग होने पर **प्रोमीन** (Promin) आदि नाक मे यन्त्र द्वारा **छिड़की** जाती है । द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के लिये **पेनिसिलीन** (P), स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) आदि की **मलहम**, इन्जेक्शन अथवा छिड़कने (Spray) के रूप में प्रयोग कर सकते हैं । नाक, मुख, स्वरयन्त्र (Larynx), **नेत्र** आदि मे विकृति के कारण पीड़ा होने पर **नोवोकेन** (Novocaine), **ऑरथोफौर्म** (Orthoform), कोकेन (Cocaine) आदि सज्ञाहर औषधियाँ (Anaesthetics) लागायी जा सकती हैं । विकृत स्थान को रंजित (Stain) करने के लिये **मेथिलीन ब्लू** (Methylene blue) **२ प्र०श० या ट्राइक्लोर एसेटिक एसिड** (Trichlor-acetic acid) **का ३३ प्र० श०** घोल (जल मे) प्र० १५ दिन पर या क्रोमिक एसिड (Chromic acid) १० प्र० श० लगाया जाता है । फ्लोरेसीन (Fluorescein) का प० ज० मे २ प्र० श० घोल अथवा **ट्रीपेन ब्लू** (Trypan blue) का ४ प्र० श० घोल **सिरामार्ग** से प्र०स० ५–२५ सी०सी० प्रयोग कर सकते है । सधियो (Jts) की पीड़ा मे डायथर्मी, (Diathermy) लगाई जाती हैं तथा मालिश की जाती है । वक्रता (Deformity) के लिये **शल्य सम्बन्धी** साधनों का प्रयोग कर सकते हैं । अस्थि आदि में स्थानिक मृत्यु (Necrosis) रोकने के लिये तथा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये अल्ट्रावायलेट किरण (U. V. rays) का प्रयोग किया जाता है । रोग की तीव्रता किस अवस्था मे है तथा चिकित्सा का उस पर क्या प्रभाव पड़ रहा है यह जानने के लिये रक्तावसादन गति (E. S. R.) का ज्ञान आवश्यक है । कुष्ठ दण्डाणु (B.lepra) की खोज भी बराबर करते रहना चाहिये । इससे पता लगता है कि रोगी उपसर्ग फैला सकता है या नही । उपसर्ग न फैलाने की अवस्था रहने पर रोगीपर अधिक नियन्त्रण रखना अनावश्यक है। कुष्ठ के रोगी प्रायः **संखिया** (As) **का प्रयोग सहन नहीं करते** । इस लिये कुष्ठ के साथ-साथ **फिरंग** (Syphilis) भी रहने पर **पेनिसिलीन** (P.), **विसमथ** (Bis), पारद (Hg) आदि का प्रयोग करना चाहिये । **एवेनिल** (Avenyl) **पारद का** योग है । इसकी एक ग्रेन की मात्रा चालमुग्रा के योग के साथ प्रयोग कर सकते हैं । कुष्ठ के साथ फिरग रहने पर वासरमन कसौटी (W. R.) की अपेक्षा कान कसौटी (Kahn Test) अधिक विश्वासनीय है ।

(ङ) कुष्ठ का आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

इस रोग मे प्रायः सभी धातु दूषित होने के कारण प्रत्येक विधि से शरीर का शोधन करना चाहिए। विशेषतः वात प्रधान मे घृतपान, कफ प्रधान मे वमन व पित्त प्रधान मे विरेचन और रक्तमोक्षण कराना चाहिए। इस रोग मे बाह्य एवं स्थानिक उपचार विशेष महत्व के हैं परन्तु कोष्ठशुद्धि पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

इस रोग मे पुराना अन्न जैसे गेहूँ, जौ, चावल, तिक्त शाक का प्रयोग हितकर है। रूक्षाहार जौ, चना की रोटी व सत्तू सेवन उत्तम है। पीने के लिए खदिर युक्त या सिद्ध जल दे। लवण व अम्ल रस वर्ज्य हैं। गरिष्ट आहार व गुड़ नहीं देना चाहिए। सूर्य की पूजा व व्रत लाभकर है।

प्रयोग :—(१) बाकुची व काले तिल १॥ माशा प्रतिदिन वर्ष पर्यन्त सेवन करे।

(२) शुद्ध गन्धक या गन्धकरसायन, मेंहदी बीज चूर्ण व मधु से दे।

(३) कृष्ण सर्पास्थि भस्म ½–१ र० मधु से दे। ज्वर होने पर बन्द कर पुनः दे।

औषधियाँ :—पारदादि लेप, कुष्ठहर लेप, कुष्ठाद्य तेल, तुवरकादि तेल, सोमराजी तेल, कृष्णसर्प तेल, तुवरक चूर्ण, सौगधिक चूर्ण, महा पंचनिम्ब, मञ्जिष्ठादि क्वाथ, भल्लातक क्वाथ, खदिरारिष्ट, निम्ब मद, अमृता गुग्गुल कैशोर गुग्गुल, पंचतिक्त घृत, महाखदिर घृत, बाकुची घृत।

रसौषधियाँ :—उदय भास्कर रस, १–२ र० उदुम्बर स्वरस व मधु से। रसमाणिक्य ¼–१ र० घृत व मधु से। महातालेश्वर, सर्वेश्वर।

विसूचिका (Cholera)

निदान आदि:—विसूचिका वक्राणु (V. cholerae) के मुख से प्रवेश करने पर यह रोग होता है इसलिये प्रायः दूषित भोजन प्रयोग करने का **इतिहास** मिलता है। रात्रि मे रोगी प्रायः पूर्ण स्वस्थ अवस्था मे सोता है और प्रातःकाल नींद खुलने पर एक दो प्राकृत मल परित्याग होने के पश्चात शीघ्र ही पतले दस्त होने लगते हैं। ये **दस्त** पतले, **पीड़ारहित** तथा **श्रम-रहित** होते हैं। शीघ्र ही **ये वर्णहीन** तथा **मांड** के समान हो जाते हैं। विसूचिका में प्रायः **वमन के पूर्व पतले दस्त** होने लगते हैं। शीघ्र ही

भ्रमरहित, वर्णरहित वमन होने लगता है। विसूचिका की विशेषता है कि दस्त की मात्रा या संख्या अधिक न होने पर भी रोगी **अत्यन्त दुर्बल** हो जाता है और दौर्बल्य अत्यन्त **प्रबल तथा वर्धनशील** होता है। कभी कभी एक या दो दस्त या वमन होने के पश्चात रोगी को उठने बैठने का सामर्थ्य नही रहता। शीघ्र ही **मूत्र की मात्रा कम होकर** मूत्र बन्द हो जाता है। शरीर से जल निकल जाने के कारण **नाड़ी क्षीण** हो कर, स्पर्शलभ्य नहीं रहती। नाड़ी का विस्फार (Volume) तथा आतति (Tension) अत्यन्त कम हो जाती है। समस्त शरीर **पसीने** के कारण शीतल हो जाता है और **निपात** (Collapse) की स्थिति हो जाती है। **त्वचा के ताप** (Temp :) में **कमी** तथा उदर मे **पीड़ा का न होना** इस रोग की विशेषता है। रोग की अन्तिम अवस्था मे शरीर मे रक्तप्रवाह के विकृति हो जाने से सर्वाङ्ग शरीर **नीला** हो जाता है और **सन्यास** (Coma) हो जाता है। विसूचिका मे शरीर मे लवण की कमी के कारण जो ऐंठन होती है उससे उदर शूल से भ्रम नहीं होना चाहिये। विसूचिका मे ताप का वास्तविक ज्ञान **गुदा में** थरमौमीटर लगाने से ही सम्भव है। गुदा के ताप की अत्यधिक वृद्धि अनिष्ट का सूचक है। उसी प्रकार **मूत्र में यूरिया** (Urea) **की कमी** तथा अधिक मात्रा मे शुक्लि (Alb) का आना रोग की गम्भीर अवस्था के द्योतक है। **रक्त में क्षार** (Alkali) की प्रारम्भ से ही कमी होने लगती है। इसकी पूर्ति आवश्यक है अन्यथा मूत्रविषमयता (Uraemia) की सम्भावना रहती है।

शीतांग विषमज्वर (Algid malaria) मे रक्त का वि॰ गु॰ (Sp. Gr.) कम हो जाता है परन्तु विसूचिका मे इसकी वृद्धि होती है। **संखिया** (AS) की विषमयता मे रक्त मे बहाकारी श्वेत कायाणूत्कर्ष (Poly : leucocitosis) होता है परन्तु विसूचिका मे एकन्यष्ठीलीय बृहद श्वेतकायाणु (Large mono :) की वृद्धि होती है और लसकायाणुओ (Lympho:) की संख्या मे अत्यधिक कमी होती है।

विसूचिका मे रक्त का वि. गु. जानने के लिये ११ शीशियो मे ग्लिसरीन (Glycerine) तथा जल का भिन्न भिन्न वि. गु. (Sp. : Gr.) का घोल बनाकर रखना चाहिये। प्रथम शीशी के घोल का वि. गु. १०५०, दूसरी का १०५२, तीसरी का १०५४ इसी प्रकार १०७० वि. गु. तक का

घोल बनाना चाहिये। रक्त का प्राकृत वि. गु. १०५६–१०५८ होता है। रोगी का एक बूँद रक्त प्रत्येक शीशी मे डालकर देखना चाहिये कि किस शीशी मे रक्त घोल में, डूबने के पूर्व, १–२ सेकण्ड घोल के ऊपर तैरता है। जिस शीशी में यह अवस्था मिलती है उस शीशी के घोल का जो वि. गु. है वही रोगी के रक्त का भी वि. गु. है। रक्त का वि. गु. १०६१ होने पर पा. १, १०६२ होने पर पा. २, १०६३ रहने पर ३ पा., १०६४ पर ४ पा., १०६५ पर ५ पा., जल देने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार रोगी के शरीर से कितनी मात्रा मे जल का परित्याग हुआ है अथवा कितना जल उसके शरीर मे प्रवेश कराने की आवश्यकता है इसका पता चलता है।

चिकित्सा:—(१) प्रतिषेध :—प्रवाहिका (Dys:) के समान इस रोग का उपसर्ग **मुख द्वारा** होता है। रोग के फैलाने मे रोगी का मल, मूत्र, संग्राहक (Carrier), मक्खी, दूषित आहार तथा जल और मेले आदि की अस्वास्थ्यकर परिस्थिति का प्रमुख हाथ है। इसलिये इस रोग से बचने के लिये वे सब उपाय करने चाहिये जिनका वर्णन आमप्रवाहिका मे किया गया है। इसके टीके से गर्भपात की सम्भावना रहती है। विसूचिका की उत्पत्ति में विसूचिका वक्राणु (V. Cholerae) के अतिरिक्त **पचन संस्थान की विषमता** या आमाशय मे **उदनीरिकाम्ल** (Hcl) की **कमी** का सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसलिये विसूचिका के मरक के समय **आहार** सब प्रकार से **नियमित** होना चाहिये। आहार मात्रा में साधारण, सरलता से पचने वाला तथा निर्धारित समय पर लेना चाहिये। भोजन के पश्चात अधिक **रात्रि तक जागना नहीं** चाहिये। रात्रि मे भोजन में अधिक देर नहीं करनी चाहिये। इन दिनो भूख से थोड़ा कम भोजन करना अच्छा है। मरक के समय **विरेचक** (Purgative) औषधियों का **प्रयोग नहीं करना** अच्छा है। चिकित्सक, परिचारिका आदि को अपने **नख** काटकर शुद्ध रखना चाहिये। रोगी के पास जाने के पूर्व भोजन कर लेना अच्छा है। **खाली पेट** विसूचिका के रोगी के समीप जाना ठीक नहीं है। खट्टे कागजी नीबू का जल के साथ प्रयोग उत्तम है और सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिये कि इस रोग के वक्राणु का शरीर मे प्रवेश केवल मुख से ही संभव है। इसलिये यथासभव भोजन, दूध या जल को **गरम करके** खाना चाहिये। भोजन बासी या ठडा नहीं होना चाहिए। मरक के समय **कच्चे फल**

कच्ची तरकारियाँ जैसे सलाद आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। मकान के चारो ओर **सफाई रखना** चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को विसूचिका **वैक्सीन (Vaccine) का टीका लेना** चाहिये। इसकी प्रथम मात्रा $\frac{1}{2}$ सी॰ सी॰ अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से है। तत्पश्चात् एक सप्ताह बाद १ सी॰ सी॰ पुनः प्रयोग करना चाहिये। इस औषधि का प्रभाव ६ मास से अधिक नहीं रहता, इसलिये जिन स्थानों मे इस रोग का मरक प्रायः साल भर रहता हो उन स्थानों में प्रति ४–६ मास पर इस औषधि का १ सी. सी. इजेक्शन लेना चाहिये। गर्भावस्था मे प्लेग तथा विसूचिकाका टीका नहीं लगाना चाहिए। इनसे गर्भपात हो सकता है। घर मे रोग होने पर नगरपालिका के अधिकारियों को टीका देने के लिये सूचित करना चाहिये। इस औषधि की प्रत्येक सी.सी. मे ८० करोड़ मृत वक्राणु (V) रहते है। यदि दो बार इन्जेक्शन लेना संभव न हो तब आयु, लिंग तथा भार के अनुसार १–२ सी. सी. विसूचिका वैक्सीन (Vaccine) का एक बार इन्जेक्शन लेना चाहिये। मरक के समय पचन संस्थान मे गड़बड़ी होने पर उसकी तत्काल **चिकित्सा** करनी चाहिये। उदनीरिकाम्ल (Hcl dil) मि. १० द्वि. या त्रि. प्र. दि. भो. प. शीशे की नलिका द्वारा लेना अच्छा है। रोग से बचाने मे सल्फागोनेडीन (S-guanidine) का प्रभाव अनिश्चित है। मेलो मे शुद्ध जल भोजन तथा मल शोधन का प्रबन्ध होना चाहिये। मेले मे जाने के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को विसूचिका का टीका लेना चाहिये।

(२) **चिकित्सा का सिद्धान्त** :—विसूचिका की चिकित्सा का उद्देश्य है कि रोग के वक्राणुओ (V.) को नष्ट करने वाली औषधियो का प्रयोग किया जाय, वक्राणुओ के विषको **प्रभावहीन** किया जाय तथा **लक्षणों** और **उपद्रवों** का **शमन** किया जाये।

(३) **विशिष्ट चिकित्सा** :— दण्डाणवीय प्रवाहिका (B. Dys:) के समान इस रोग मे भी सल्फा (S) औषधियों के वे योग ही प्रायः प्रयोग किये जाते हैं जिनका विशेष प्रभाव आन्त्र मे ही होता है। इन औषधियो का आन्त्र से अत्यन्त अल्प मात्रा मे प्रचूषण होता है जैसे :—**सल्फागोनिडिन, सल्फासक्सीडीन, थैलाजोल** आदि। **फौरमोसिबाजाल का** आन्त्र से पर्याप्त मात्रा मे प्रचूषण होता है, इसलिए विषाक्तता की संभावना रहती है। इन औषधियों के साथ **पेनिसिलीन (P.), टेरामाइसीन** तथा लवण **जल**

(Saline) के प्रयोग से, रोग मुक्त होने की अधिक संभावना रहती है। मुख द्वारा औषधि प्रयोग करने के लिए **वमननिरोधी** (Anti-emetic) औषधियों का साथ-साथ प्रयोग आवश्यक है। **पेनिसिलीन 'जी'** (P.G.) २५ से ३०००० , अ.इ.प्रति चार घंटेपर अधस्त्वक् मार्ग (S.C.) से इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिए। औषधि की प्रथम मात्रा ल. १ अं. इ. से कम नही होनी चाहिए। पेनिसिलीन का प्रयोग कम से कम दो दिन करना चाहिए। रोग के प्रारम्भ से ही **सोडीबाइकार्ब** का १ प्र. श. घोल मुख द्वारा, तथा **क्षारीय लवण जल** (यो. ६५) पा. १–२ सिरामार्ग से प्रयोग करना उत्तम है। आ.अ. रक्तरस (Plasma) ५०-२००सी.सी.का भी प्रयोग कर सकते हैं। **स्ट्रेप्टोमाइसीन** ग्रा. १/२–१ अधस्त्वक् मार्ग (S.C.) से त्रि. या. चा. प्र. दि. दे सकते है। इस औषधि को पेनिसिलीन के साथ भी प्रयोग किया जाता है। सल्फा औषधियों के निम्न प्रयोग हैं :—

(क) **सल्फागोनेडीन** (S–guanidine) :—सर्व प्रथम इस औषधि की ग्रा. ०·५ की ४ से ६ गोली देना चाहिये। तत्पश्चात् जब तक रोग के लक्षण शान्त न हों, प्रत्येक दो घण्टे पर २–४ गोली देना चाहिये। तदनन्तर औषधि का समय बढा कर प्रत्येक चार घण्टे पर देना चाहिये।

(ख) **फारमो-सिबाजोल** (Formo-cibazole 'Ca') :—यह औषधि शरीर मे अधिक मात्रा मे शोषित होती है, इसलिये इसको कम मात्रा में तथा प्रत्येक गोली के साथ सोडी बाइकार्ब (Sodi-bi-carb) २० ग्रे. देना आवश्यक है। सोडी बाइकार्ब देने से अमूत्रता (Anuria) तथा वमन की सम्भावना कम रहती है। सर्वप्रथम २ से ६ गोली देना चाहिए, तत्पश्चात् रोग के लक्षण शान्त होने तक एक गोली प्रति दो घण्टे या ४ गोली प्रति ४ घण्टे पर देना चाहिए। तदन्तर एक गोली प्रति ६ घण्टे पर देना चाहिए।

(ग) **सोडियमसल्फाडियाजीन** (Na: S–diazine) :— रोग के प्रारम्भ मे इस औषधि की २ ग्रा० की मात्रा समबल लवण जल (N. saline) के साथ सिरा मार्ग से देना चाहिये। तत्पश्चात् औषधि की मात्रा आधी कर प्रति ८–१२ घण्टे पर सिरा मार्ग से देना चाहिए। सोडी बाइकार्ब के साथ **सल्फाडियाजीन** मुख से भी दे सकते हैं, परन्तु वमनके कारण औषधि का प्रचूषण संदिग्ध रहता है तथा इस औषधि के कारण भी वमन होता है।

(४) **टेरामाइसीन** (Tn) :—सल्फा (S) औषधियों का प्रयोग यदि सम्भव न हो तब इस औषधि का प्रयोग कर सकते हैं। रोगारंभ से इसका प्रयोग करने से लाभ होने की अधिक सम्भावना रहती है और प्रायः २४ घण्टे के अन्दर ही मल से विसूचिका वक्राणु (V. cholera) अदृश्य हो जाते हैं। इस औषधि का २५० मि० ग्रा० का सर्वप्रथम कै० ४ मुख से देना चाहिये, तत्पश्चात दो दिन तक कै. २ प्र० ४ घण्टे पर देना चाहिये।

(५ **जलाल्पता** (Dehydration) की चिकित्सा तथा रोगी को बल प्रदान करने का प्रयत्न :—इस आशय की पूर्ति के लिये सिरामार्ग (I.V.) से **रिंगर का घोल** (Ringer s sol), **लवण घोल** (Sali e) आदि का प्रयोग करना पड़ता है। इन औषधियों का प्रयोग तब तक करना चाहिये जब तक **जलाल्पता** या **स्तब्धता** (Shock) की सम्भावना हो और **मूत्र का निर्माण** सुचारु रूप से न होने लगे। सल्फा (S) औषधियों के प्रयोग के कारण वृक्क में सल्फा के स्फटिक (Crystals) सञ्चय होने की सम्भावना रहती है। १/६ **मोलर लैक्टेट घोल** (1/6 Molar lactate sol) के प्रयोग से स्फटिक के सञ्चय होने की संभावना कम हो जाती है और अम्लोत्कर्ष (Acidosis) का भी शमन होता है। लवणघोल प्रयोग करने की निम्न विधियाँ हैं :—

(क) सिरा द्वारा लवण घोल का प्रयोग (I. V. saline):— निम्न अवस्थाओं मे अतिबल लवण जल (Hypertonic saline) सिरा मार्ग से प्रवेश करना चाहिये :—**क्षीणनाड़ी**, साकोचक रक्त निपीड (Systolic B. P.) ८० मि० मी० पा० से कम हो जाने पर, **मूत्र का निर्माण स्थगित** हो जाने पर या **जलाल्पता** के अन्य लक्षण मिलने पर तथा रक्त के **वि० गु०** (Sp. gr.) की वृद्धि होने पर। विसूचिका मे जल की कमी की यथासम्भव पूर्ति करने का ध्येय होना चाहिये। प्रायः तीन या चार पा० की आवश्यकता पड़ती है। विसूचिका मे अतिबल लवण जल (यो. ६४) तथा क्षारीय लवण जल (यो० ६५) दिये जाते हैं।

सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) को शुष्क तथा उष्ण वायु मे जीवाणु-रहित (Sterilize) कर, प्रयोग के समय लवण घोल मे मिश्रित करना चाहिये। रोगी की अवस्था के अनुसार सर्वप्रथम जल की मात्रा निर्धारित करना चाहिये। इस मात्रा मे क्षारीय लवण घोल की एक पाइंट मात्रा के

लिये स्थान होना चाहिये। क्षारीय तथा अतिबल लवण घोल पृथक् पृथक् देना चाहिये। उदाहरणस्वरूप यदि ४ पा० जल देना है तब प्रथम १ पा० क्षारीय लवण घोल देकर, पश्चात ३ पा० अतिबल लवण घोल देना चाहिये। गुदा-मार्ग का ताप यदि १०१° फा० से अधिक हो तब लवण घोल को गरम नहीं करना चाहिए। लवण घोल का ताप रक्त के ताप से अधिक नहीं होना चाहिए। लवणघोल का ताप प्रायः ८०° फा० होना चाहिए। निपात की अवस्था मे लवण घोल प्रत्येक मिनट मे चार औं० की गति से सिरा मे प्रवेश कराना चाहिये। यदि रोगी के वक्ष मे किसी प्रकार का कष्ट प्रतीत हो तब लवण घोल की गति मन्द कर देना चाहिये। रोगी की अवस्था यदि अत्यन्त निराशाप्रद हो और उसके गुदामार्ग का ताप हीनप्राकृत (Subnormal) हो तब लवण घोल को गरम कर सकते है। विसूचिका मे क्षार की कमी होती है, इसलिये प्रारम्भ से क्षरीय लवण घोल देना चाहिये। क्षारीय लवणघोल पेशी मार्ग से नहीं देना चाहिये। लवण घोल देने के पश्चात यदि रोगी का ताप १०४° फा० हो जाय तब ताप कम करने की विधियो (६.३७) का प्रयोग कराना चाहिए। बाल्यावस्था मे पेशी मार्ग तथा अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से अतिबल लवण घोल देना चाहिये। व्याकुलता, निम्न रक्तनिपीड़ (B.P.) तथा ताप का निरन्तर हीनप्राकृत रहना अनिष्ट का सूचक है। निम्न अवस्थाओ मे रोगी को लवण घोल पुनः देने की आवश्यकता होती है :— अमूत्रता (Anuria), क्षीण नाड़ी, अधिक मात्रा मे अतिसार, निम्न रक्तनिपीड़ (Low B. P.) तथा रक्त का वि० गु० (Sp gr.) यदि १०६३ से अधिक हो। लवण घोल यदि सिरा मार्ग से देना हानिकर हो तब उसको अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से देना चाहिए।

निम्न अवस्थाओ मे सिरा मार्ग से लवण घोल का **प्रयोग नहीं करना चाहियेः**—अत्यन्त दुर्बल बालक, वृद्धावस्था, वातबलासक (Beriberi), जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy), हृदय के कपाटों की विकृति (Valvular disease), हृत्पेशीशोथ (Myocarditis) आदि के कारण हृदय की क्षीणता होने पर, गर्भावस्था, गुदा का ताप अत्यधिक रहने पर, फुफ्फुस मे शोफ (Oedema) आदि रोग रहने पर, अत्यधिक अध्मान (Tympanites) रहने पर तथा परिसरीय रक्त वाहिनी निपात (Peripheral vascular failure) के कारण रक्तनिपीड़ (B.P.) की

कमी के साथ साथ रक्त का वि. गु. (Sp. Gr.) प्राकृत रहने पर। नाड़ी की अवस्था प्राकृत हो जाने पर सिरा मार्ग से लवण घोल का प्रयोग स्थगित कर देना चाहिये परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि नाडी का विस्फार (Volume) तथा आतती (Tension) प्राकृत हो जाय।

लवण घोल प्रयोग करते समय रोगी को बेचैनी होने पर, फुफ्फुसशोफ (Oedema lungs) के कारण कास होने पर, हृत् प्रदेश मे कष्ट प्रतीत होने पर, हृदय का गति अनियमित (Irregular) हो जाने पर, तीव्र शिरःशूल होने पर तथा कम्प (Rigor) होने पर लवण घोल के सिरा में प्रवेश करने की गति को धीमी कर देना चाहिए। इससे यदि लाभ न हो तब सिरा मार्ग से औषधि का प्रवेश बन्द कर देना चाहिये।

लवण घोल आदि औषधियाँ सिरामार्ग से दो **विधियों** से प्रवेश की जाती है, खुली विधि (Open method) तथा बन्द विधि (Closed-method)। **प्रथम विधि** प्रायः उन अवस्थाओ मे प्रयोग की जाती है जब निपात आदि के कारण विशेषकर स्त्रियो मे सिरा का मिलना कठिन होता है। इस विधि मे त्वाचा आदि को काटने की आवश्यकता पड़ती है इसलिये रोगी की त्वचा तथा यन्त्र (Instruments) आदि को सावधानी पूर्वक जीवाणु रहित (Aseptic) करना आवश्यक है अन्यथा पूयोत्पत्ति (Sepsis), कर्दम (Gangrene) आदि की संभावना रहती है। यथासंभव **बंद विधि** का ही प्रयोग करना चाहिये। विसूचिका मे सिरामार्ग से ही लवण जल प्रवेश करना सर्वोत्तम है। निपात की अवस्था मे इस मार्ग से शीघ्रता से औषधि प्रवेश की जा सकती है। यथासंभव रोग के प्रारम्भ से ही, लवण घोल का प्रयोग करना चाहिये। इससे निपात गम्भीर होने की संभावना नहीं रहती और वृक्क मे भी विकृति नही होती। निपात के पूर्व लवण घोल का प्रयोग प्रारम्भ कर देने से घोल की मात्रा भी कम लगती है और लाभ भी अधिक होता है। 'निपात की अत्यन्त गम्भीर अवस्था मे **प्रति ५ मिनट में १ पा.** घोल प्रवेश करा सकते है। इस गति से प्रायः २० मिनट के अन्दर ४ पा. औपधि दी जा सकती है परन्तु साधारणतः लवण घोल मन्द गति से देना ही उत्तम है। पर्याप्त मात्रा मे लवण घोल प्रयोग करने के पश्चात भी यदि वमन या दस्त अधिक मात्रा मे होता रहे, या पुनः निपात होने की संभावना रहे अथवा रोगी के हृदय, फुफ्फुस आदि मे विकृति रहने के कारण लवण घोल की

मात्रा शीघ्रता से प्रवेश कराना ठीक न हो तब ४०–६० बूँद प्र. मि. की गति से देरतक औषधि प्रवेश कराना चाहिये। इसको **बूंद बूंद कर देने की विधि** (Drop method) कहते हैं। सिरामार्ग मे प्रायः **३ पा.** से अधिक लवण घोल एक बार मे देना ठीक नहीं है। यदि पा. ३ से अधिक देना आवश्यक हो तब पा. ३ सिरामार्ग से प्रवेश कर बाकी औषधि बूंद-बूंद करके सिरामार्ग से या अधस्त्वक मार्ग (S C.) से प्रयोग करना चाहिये। यदि रक्त का वि. गु. (Sp. gr.) देखने का साधन हो तब वि. गु. **१०५८ से** १०६० रहने पर १–२ पा. लवण घोल सिरा या अधस्त्वक मार्ग से प्रयोग करना चाहिये। **वि. गु. १०६० से १०६४** रहने पर २–३ पा. सिरामार्ग से और १ पा. अधस्त्वक मार्ग से या बूंद-बूंद कर सिरामार्ग से प्रयोग करना उत्तम है। लवण घोल के **ताप पर** ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा **परमज्वर** (Hyper-pyrexia) होने की सभावना रहती है और यह उपद्रव गम्भीर होता है। इसलिये लवण घोल प्रयोग करने के पूर्व गुदा का ताप देख लेना चाहिए। गुदा का ताप **१०३° फा० अधिक रहने पर प्रथम** शीतल जल, बर्फ आदि के प्रयोग से **ताप कम करने** का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार ताप यदि १००° फा. पर आ जाये तब लवण जल को बिना गरम किये ही प्रयोग करना चाहिये। गुदा का ताप इससे कम रहने पर लवण घोल को ९८ से १००° फा. तक गरम कर लेना अच्छा है। इसके लिए लवण घोल की बोतल को एक बाल्टी गरम पानी मे थोड़ी देर रख देना पर्याप्त है।

साधारणतः विसूचिका के रोगी की चिकित्सा आरम्भ करते समय प्रथम क्षारीय लवण घोल (यो.९५) १ पा. सिरामार्ग से देकर, परमबल लवण घोल (यो. ९४) आ० अ० प्रयोग किया जाता है। **क्षारीय घोल अधस्त्वक मार्ग से प्रयोग नहीं करना चाहिये।** इससे कदम (Gangrene) आदि होने की सभावना रहती है। आ.अ.परमबल लवण घोल का पुनः प्रयोग किया जा सकता है। कुछ समय पश्चात यदि रक्त के वि. गु. मे पुनः वृद्धि हो और रक्तनिपीड़ (B. P.) कम हो जाय तब लवण घोल का पुनः प्रयोग करना चाहिये। विसूचिका मे **रक्तनिपीड़ अनेक बार देखना** आवश्यक है। साकोंचिक रक्त निपीड़ (Systolic B. P.) का ७० मी. मि. पा. से कम रहना गम्भीर स्थिति का द्योतक है। लवण घोल देने पर यदि रक्त का वि. गु. कम होता प्रतीत हो परन्तु रक्तनिपीड़ मे वृद्धि न हो तब लवण घोल

का सिरा मार्ग से अधिक मात्रा में प्रयोग करना हानिकर है। रक्त का वि. गु. १०६३ से अधिक रहने पर, मूत्र का निर्माण स्थगित हो जाने पर, अधिक मात्रा में वमन या दस्त होने पर अथवा नाड़ी के बार बार क्षीण होने पर लवण घोल **पुनः देना** पड़ता है। बालकों में मध्यबाहुका शिरा (Cubital vein) की अपेक्षा उरु (Thigh) में या गुल्फ (Ankle) पर अन्तरधःशाखीया शिरा (Int : sephanus vein) में लवण घोल देना अधिक सुविधाजनक है। इनमें यदि सिरामार्ग संभव न हो तब औषधि को **उदरावरण के अन्दर** (Intraperitoneal) देना चाहिये।

(ख) अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से लवण घोल का प्रयोग :— इस मार्ग से परमबल (Hypertonic) लवण घोल की अपेक्षा **समबल** (Normal) लवण घोल (या.६६) अधिक उपयुक्त है। क्षारीय (Alkaline) लवण घोल इस मार्ग से कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये। जब अधिक लवण घोल प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है तब प्रायः ३ पा. सिरामार्ग से देकर बाकी घोल अधस्त्वक मार्ग से देना पड़ता है। विसूचिका की चिकित्सा में केवल इस मार्ग पर ही **निर्भर नहीं किया** जा सकता है। जिन अवस्थाओं में सिरामार्ग संभव न हो उनमें इस मार्ग का प्रयोग करना चाहिये। विशेषकर **परमज्वर** (Hyperpyrexia), **तीव्र आध्मान** (Tympanites) था **हृदय** अथवा **फुफ्फुस में विकृति** रहने पर। रोगी की अवस्था साधारण रहने पर या रक्त का वि. गु. अत्यधिक न रहने पर भी इस मार्ग का प्रयोग कर सकते हैं, परन्तु इस मार्ग से प्रयोग करने पर कर्दक (Gangrene), पूयभवन (Suppuration) आदि की संभावना रहती है और औषधि का प्रचूषण भी शनैः शनैः होता है। इस मार्ग से औषधि का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। लवण घोल के प्रत्येक पा. में परमियेस (Permease) १ ऐम्पूल मिला देने से औषधि के प्रचूषण में सरलता होती है। **स्त्रियों** तथा **बालकों** में इस मार्ग का सहारा प्रायः लेना पड़ता है। **बालक** प्रायः सिरा मार्ग से अधिक मात्रा में औषधि सहन नहीं कर सकते। इनमें रक्त के वि. गु. में भी अधिक परिवर्तन नहीं होता। इनमें अधस्त्वक तथा गुदामार्ग ही अधिक उपयुक्त है। अधस्त्वक मार्ग से समबल घोल (N. Saline) ६ **वर्ष** की आयु में ६–८ **औं.** तथा १२ **वर्ष की** आयु में ८–१६ **औं.** तक प्रयोग करना चाहिये। क्षारीय लवण घोल (यो. ६५), ग्लूकोस (Glucose)

आदि का प्रयोग बालकों में गुदामार्ग में ही करना चाहिये, यद्यपि गुदामार्ग से इन औषधियों का प्रचूषण सदेहास्पद है। स्त्रियाँ भी प्रायः सिरामार्ग से लवण घोल आदि अधिक मात्रा में सहन नहीं करती विशेष कर **गर्भावस्था** में। इसलिये इनमें अधस्त्वक (S. C.) मार्ग तथा सिरामार्ग से **बूंद बूंद कर** औषधि प्रवेश करना अधिक उपयुक्त है विशेषकर गर्भावस्था में। गर्भावस्था में गर्भपात होना प्रायः निश्चित है। **गर्भावस्था में** लवणघोल (Saline) की अपेक्षा रक्तरस (Plasma), ग्लूकोस (Glucose), कैलसियमग्लूकोनेट आदि अधिक उपयुक्त है।

गर्भावस्था में विसूचिका के प्रारम्भ से ही अधस्त्वमार्ग से समबल लवण घोल (यो.६६) प्रारम्भ कर देना चाहिये, साथ साथ सिरामार्ग से क्षारीय लवण घोल (यो.६५) अत्यन्त मन्द गति तथा अल्प मात्रा में अनेक बार देना चाहिये। क्षारीय लवण घोल की मात्रा एक बार में १६औं. से अधिक नहीं होनी चाहिये। इस औषधि को ग्लूकोस के साथ गुदामार्ग से भी निरन्तर शनैः शनैः देना चाहिये। चिकित्सा की अवधि में गर्भ की मृत्यु हो जाने पर उसके निकालने का प्रबन्ध करना चाहिए।

कंप (Rigor) होने के कारण:—सिरामार्ग (I.V.) से लवण घोल (Saline) प्रयोग करने से प्रायः **कंप** (Rigor) होने लगता है। इस विकृति का कारण स्पष्ट नहीं हैं परन्तु निम्न कारण हो सकते हैं :—जल को अधिक समय तक सचय करने से जल में एक प्रकार का पदार्थ उत्पन्न होता है जिसको "**पाइरोजेन**"(Pyrogen) कहते हैं। इस पदार्थ के कारण जब पुराना जल या जिसमें यह पदार्थ रहता है उसका सिरा मार्ग से प्रयोग किया जाता है तब कम्प होता है। इसके अतिरिक्त रोगी के ताप तथा लवण घोल के **ताप में अधिक अन्तर** रहने पर भी कप होता है। लवण घोल का ताप अधिक रहने पर कप के साथ-साथ परम ज्वर (Hyper-pyrexia) होने की भी सम्भावना रहती है। लवण घोलमें **लवण की मात्रा अत्यधिक रहने** पर या उसके सिरा में प्रवेश करने की **गति अति तीव्र** होने पर भी कंप होता है। अन्त में सम्भव है कि लवण घोल के प्रयोग के कारण जब रोगी के रक्त-प्रवाह में वृद्धि होती है तब आन्त्रसे **विसूचिका दण्डाणु के विष का अकस्मात् अधिक मात्रा में प्रचूषण** होता है और कप की उत्पत्ति होती है। उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि सिरा मार्ग से लवण घोल, ग्लूकोस आदि के प्रयोग

करते समय, संपूर्ण यन्त्र को पानी में उबाल कर जीवाणुरहित करना चाहिये। प० ज० ताजा, पाइरोजेनरहित (Pyrogen free) तथा उसका ताप रोगी के शरीर से विशेष अधिक न होना चाहिये और औषधि के सिरा में प्रवेश करने की गति अत्यन्त मंद होनी चाहिये। यथासंभव ग्लूकोस आदि का घोल समबल (Isotonic) हो तो अच्छा है। विशेष परिस्थिति में ही परमबल (Hypertonic) घोल सिरामार्ग से प्रयोग करना चाहिये।

परमज्वर (Hyperpyrexia) की अवस्था में प्रथम ज्वर को कम करने का प्रयत्न करना चाहिये और ध्यान रखना चाहिये कि इस विकृति में सिरामार्ग की अपेक्षा अधस्त्वक (S. C.) तथा गुदा मार्ग ही अधिक उपयुक्त है। यदि सिरामार्ग से ही औषधि प्रयोग करना आवश्यक हो तब औषधि का ताप रोगी के ताप से कम होना ही अच्छा है। ऐसी अवस्था में प्रायः लवण घोल को गरम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(६) उपद्रवों की चिकित्सा :—

(क) **निपात** (Collapse) :—विसूचिका में निपात तीन कारणों से होता है **(१) जलाल्पता** (Dehydration) के कारण। इस प्रकार का निपात प्रायः रोग के प्रारम्भ में मिलता है। इसमें रक्त का वि० गु० (Spgr) प्राकृत से अधिक रहता है। इसकी चिकित्सा के लिए लवणघोल आदि का प्रयोग किया जाता है। **(२) हृत्पेशी की क्षीणता** (Myocardial failure) :—कभी-कभी विसूचिका के विष के कारण या रोग के पूर्व हृदय के कपाटोंमें विकृति (Valvular disease) रहने के कारण हृत्पेशी में विकृति हो जाती है और निपात के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण रोग की किसी भी अवस्था में प्रारंभ हो सकते हैं। हृदय का प्रथम शब्दहृदयाग्र (Apex) पर क्षीण हो जाता है तथा हृदय की अभिस्तीर्णता (Dilatation) के लक्षण मिलते हैं। इस अवस्था में सिरा मार्ग से अधिक जल का प्रयोग हानिकर हो सकता है। इस विकृति की चिकित्सा दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) के समान है और **डिजिटेलिस** (Digitalis) आदि के प्रयोग से लाभ होता है। **(३) परिसरीय रक्तवाहिनी निपात** (Peripheral vascular-failure) रोग की किसी भी अवस्था में हो सकता है। इसकी उपयुक्त चिकित्सा (पृ० २३४) करनी चाहिए।

(ख) मूत्र विषमयता (पृ० १६८) तथा आध्मान (पृ० १६१) की

उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। पेशियों में ऐंठन (Cramp) होने पर लवण घोल (Saline) तथा कैलसियम (Cal) के प्रयोग से लाभ होता है। त्वचा पर फोड़े, फुसी निकलने से पेनिसिलीन (P) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये।

(७) **अन्य चिकित्सा** :—रोगी का शरीर अत्यन्त शीतल हो जाने पर, विशेषकर जाड़े के मौसिम में रोगी के शरीर को गरम करने के लिए उसके चारों ओर गरम पानी की बोतलें रखना चाहिए। परमज्वर (Hyperpyrexia) के साथ-साथ निपात (Collapse) होने पर, ज्वर कम करने के साथ-साथ सिरामार्ग से स्ट्रोफैनथिन (Strophanthin) का प्रयोग करना चाहिये। विसूचिका में सिरामार्ग से कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate) १० प्र. श. ५–१० सी.सी. देने का विशेष महत्व है। इसके प्रयोग से प्रक्षोभ (Irritability), ऐंठन (Cramps) तथा निपात (Collapse) में लाभ होता है। मल में रक्त आने पर, हृदय या फुफ्फुस में विकृति रहने पर तथा गर्भावस्था में भी इसका प्रयोग किया जाता है। **बैक्टीरियोफाज** (Bacteriophage) का परिणाम अनिश्चित् है। चिकित्सा के पश्चात् रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाने पर प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट (Ptn-hydrolysate) देना चाहिये। पोटासियम परमैंगनेट (Kmno$_4$) की गोली तथा एसेन्शियल औयल (Essential oil) का प्रायः आजकल प्रयोग नहीं होता। दस्त की संख्या कम करने के लिये अथवा आन्त्र से विष निकालने के लिये एक गिलास जल में केयोलीन (Kaolin) च० ४ मिला कर पीने को देना चाहिये। साधारणतः कैलोमेल, कर्पूर, केफीन (यो० २१) का प्रयोग उत्तम नहीं है परन्तु वमन कम करने के लिये अल्प मात्रा में क्लोरेटोन (Chloretone) के साथ कैलोमेल (यो० २०) का प्रयोग प्रति आध घण्टे कर सकते हैं। **ऐथोमीन** (Athomine, thioamindie) गो० प्र० २ घं० देने से वमन में लाभ होता है। **पाषाणभेद** या पत्ता अजवायन (Coleus aromaticus) का विसूचिका पर विशिष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। इसकी पत्ती का रस च. १ प्र. ½ घ० देना चाहिये। यह औषधि अभी प्रायोगिक अवस्था में है।

(८) **गुदा मार्ग से लवण घोल का प्रयोग** :—रोग की अन्तिम अवस्था में, फुफ्फुस विकृति या हृत्पेशी की क्षीणता के कारण सिरा मार्ग से

लवण घोल का अधिक मात्रा मे प्रयोग न कर सकने पर गुदा मार्ग से लवण घोल (यो० ११२) का निरन्तर प्रयोग करना चाहिए।

नोट :—विसूचिका की प्रत्येक अवस्था मे अफीम (Opium) का प्रयोग हानिकर है।

(१०) आहार :—विसूचिका मे पथ्य पर विशेष सावधानी आवश्यक है। रोग की तीव्र अवस्था मे प्रारम्भ के दो तीन दिन केवल **तरल आहार** (पृ.४) देना चाहिये। मल की सख्या मे कमी होने पर तथा रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर शनैः शनैः आहार मे वृद्धि कर **अर्ध तरल** आहार (पृ.४) देना चाहिये। दूध की अपेक्षा दही, तथा मट्ठा अधिक उपयुक्त है। ये पदार्थ पच जाने पर चावल के योग आदि **ठोस पदार्थ** (पृ.४) सावधानी पूर्वक प्रारंभ करना चाहिये।

(११) विसूचिका की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

प्रथम आमदोष निष्क्रमणार्थ प्रयत्न करे एतदर्थ वमन हेतु नमक उष्णोदक के साथ दे साधारण विरेचक औषधि भी दे सकते है। प्रारंभ मे लंघन पाचन तदुपरान्त मंड, पेया, विलेपी आदि का क्रमशः प्रयोग करे। निम्बु, व प्याज का रस यथालाभ देना चाहिए। अपामार्ग की जड़ का रस भी लाभकारी है। वमन अधिक होने पर दुग्ध मे टंकण अथवा गुड़ व घृत की गोली दे। मक्षिका विट नारीस्तन्य मे अत्यन्त लाभप्रद है।

विरेचन व तृष्णाधिक्य मे लवॅग सिद्ध या जायफल सिद्ध अथवा क्षुद्र मुस्तक क्वाथ देना चाहिये। कर्पूरयुक्त पर्पटक जल, तक्र, सोडावाटर या यवजल दना चाहिए।

वमन बन्द करने के लिए पेट पर, पेशाब लाने के लिए कमर के पिछले भाग पर राई की पट्टी लगवाना चाहिये। ऐंठन शान्त करने के लिए राई या कर्पूरयुक्त तेल मर्दन करे। मूर्छितावस्था मे शरीर गर्म रक्खे।

औषधियाँ :—महाशख वटी, महागधक वटी, वृहत लवगादि वटी, सजीवनी वटी, कर्पूरादि वटी, कुटजघन वटी, विसूचिकाविध्वसन रस।

आशुफलप्रद योग :—१. अर्क कर्पूर ५–२० बूॅद चीनी मिला कर आवश्यकतानुसार।

२. अमृतधारा ५–१० बूॅद चीनी या बतासे में।

३. महाशंख वटी ४ र० ।
श्वेत पर्पटी २ र० ।
मि० १ मात्रा निम्बु रस या तण्डुलोदक से ।

दण्डाणवीय प्रवाहिका (Bacillary dysentery)

परिचय :—प्रवाहिका दण्डाणु (B.dys:) जन्य यह उपसर्ग विशेषकर नवागन्तुक तथा बाल्यावस्था मे प्रायः भयकर रूप धारण करता है। इसकी तीव्र तथा चिरकालीन दोनो ही अवस्थायें मिलती हैं। यह विशेषकर अवग्रहान्त्र (Sigmoid colon) मे विकृति उत्पन्न करता है और **जलाल्पता** (Dehydration) तथा **विषमयता** (Toxaemia) की विशेष सम्भावना रहती है। रोग की विशिष्ट चिकित्सा के अतिरिक्त इन दोनों उपद्रवो पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है अन्यथा विशिष्ट चिकित्सा होते हुये भी रोगी की मृत्यु हो सकती है। लक्षणो के आधार पर ही विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ कर देना चाहिये। इसके लिये पूर्ण वैज्ञानिक निदान के होने तक विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ करने मे देरी करना ठीक नहीं है। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि किसी-किसी रोगी मे यह रोग अत्यन्त साधारण तथा अन्य मे अत्यन्त गम्भीर हो सकता है।

प्रतिषेध :—यह रोग भी आमप्रवाहिका (E. H. dys:) के समान ही, भोजन, जल, मल, मक्खी, संवाहक तथा गन्दे हाथो के द्वारा फैलता है। इस लिये इससे बचने के साधारण उपाय आमप्रवाहिका के समान है। मुख द्वारा या इन्जेक्शन द्वारा वैक्सीन (Vaccine) के प्रयोग का परिणाम अनिश्चित है।

चिकित्सा :—(क) तीव्र अवस्था की चिकित्सा :—

(१) **साधारण :**—रोग की साधारण चिकित्सा आन्त्रिक ज्वर के समान है। **जलाल्पता** (Dehydration) की सम्भावना पर ध्यान देना आवश्यक है। रोगी को शैय्या पर पूर्ण **विश्राम** करना चाहिये तथा शैय्या पर ही मल-मूत्र परित्याग करने का प्रबन्ध होना चाहिये। इसके लिये बेडपैन (Bed-pan) का प्रयोग करना चाहिए। बालक तथा अत्यन्त दुर्बल रोगी को कपड़े के टुकड़े पर ही मल परित्याग करना चाहिए। ये कपड़े के टुकड़े बाद मे जलाये जा सकते हैं। मल परित्याग करने के पश्चात् गुदा तथा नितम्ब को

जल से धोकर, साफ तौलिये से पोछ कर उस पर डस्टिंग पाउडर (यो० ७३) लगा कर, सूखा रखना चाहिये अन्यथा गुदा के समीप व्रण (Ulcer) हो जाने की सम्भावना रहती है। गुदा के चारो ओर वेसलीन (Vaseline) लगाना उत्तम है। उदर को सेकने से **पोड़ा** मे कमी होती है। उदर को सर्दी से बचाने के लिये उदर पर विशेष कर शीतऋतु मे फलैनेल (Flannel) का कमरबन्द बॉध कर रखना चाहिए।

इस रोग मे श्वसनी-फुफ्फुस पास (Broncho-pnenmonia) की संभावना रहती है विशेष कर बाल्या तथा वृद्धावस्था मे। इसलिये रोगी को शीत लगने से बचाना चाहिये।

(२) विशिष्ट चिकित्सा :—

(क) तीव्रावस्था की चिकित्सा :—इस रोग मे अनेक **सल्फा औषधियाँ** (S) प्रयोग की जाती है। सल्फागोनेडिन (S-guanidine) ४० प्र. श., थैलाजोल (Thalazole M. B.) १० प्र. श. तथा सल्फा-सक्सीडीन (S-suxidine S. D.) ५ प्र. श. प्रचूषित होती है। तीनों ही औषधियो का इस रोग पर उत्तम प्रभाव है। अन्तिम औषधि प्रायः बालको मे प्रयोग की जाती है। अन्य सल्फा औषधियाँ जैसे फार्मोसिबेजोल (For-mo-cibazole 'Ca') आदि इस रोग मे उत्तम कार्य करती हैं। परन्तु इनका अधिक मात्रा मे शरीर मे प्रचूषण होने के कारण ये औषधियाँ अधिक विषाक्त है।

१—सल्फागोनेडीन (S-guanidine) :—इस औषधि की ग्रा. ०·५ की गोली मिलती है। **सिद्धान्ततः** १४० पौड भार वाले रोगी को प्रथम १२ गोली देना चाहिए तत्पश्चात जब तक मलोत्सर्ग की संख्या प्रति दिन ६ तक रहती है, तब तक गो. ६ प्र. ४ घ. पर देना चाहिये। तदुपरात गो. ६ त्रि. प्र. दि. तब तक देना चाहिये जब तक कि रोगी का मल दो दिन पर्यन्त प्राकृत न रहे। सम्पूर्ण चिकित्सा की अवधि दो सप्ताह से अधिक नही होनी चाहिए। उपर्युक्त मात्रा भारतीयो मे रोग की साधारण अवस्था मे आवश्यकता से अधिक है। प्रायः चार गोली से प्रारम्भ कर प्रत्येक चार घण्टे पर दो गोली, तत्पश्चात् प्रत्येक आठ घटे पर दो गोली देना पर्याप्त है। प्रारम्भ मे रोगी की अवस्था गम्भीर रहने पर औषधि की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। सल्फा (S) औषधियॉ घोल (यो. ३०) के रूप मे प्रयोग की जा सकती है।

२—इसके अतिरिक्त कुछ लोग सल्फाडियाजीन (S-diazine) का भी प्रयोग करते हैं। इस औषधि को मुख से प्रथम गो. ४–८ दे, तत्पश्चात गो. २–४ प्र. ४ घ. दे सकते हैं। औषधि की प्रत्येक मात्रा के साथ समान मात्रा में सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) प्रयोग करना चाहिये। रोगी की अत्यन्त गम्भीर अवस्था में सोडियम सल्फाडियाजीन (Na:S.diazine) का इन्जेक्शन लगा सकते हैं। इस औषधि का रोग पर उत्तम प्रभाव माना जाता है।

नोट :—इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सल्फा (S) औषधियां भी प्रयोग की जाती है जैसे :-सल्फाथैलीडीन (S-thalidine'S & D'), थैलिस्टाटीन (Thalistatin) आदि। ये औषधियां भी सर्वप्रथम गो. ४, तत्पश्चात गो. २ प्र. ४ घ. देना चाहिए।

(३) **अन्य चिकित्सा** :—मल रोकने का प्रयत्न सिद्धान्त के प्रतिकूल है। अफीम तथा विरेचक औषधियों का प्रयोग हानिकर हो सकता है।

जलाल्पता :-(Dehydration) के लिए, प्रत्येक मार्ग से(पृ०२१६) पर्याप्त मात्रा में जल का प्रयोग करना चाहिए जिससे कम से कम १५०० सी. सी मूत्र परित्याग हो सके। सिरामार्ग से आ. अ. लवण घोल (Saline) तथा ग्लूकोस (Glucose) का प्रयोग करना चाहिये। मुख से पर्याप्त जल देने का प्रयत्न करना चाहिये। प्राय: २००० सी. सी. (C. C.) जल शरीर में प्रवेश करने पर १५०० सी. सी. मूत्र का निर्माण होता है। **उदर में पीड़ा** होने पर टि. बेलाडोना (Tr. belladonna) मि. ८ त्रि. प्र. दि., या कोडीनफौस (Codeine phos) ग्रे. ½–१ अथवा एट्रोपीन सल्फ (Atropine sulph) ग्रे. १/१०० दे सकते हैं। अन्तिम दोनो औषधिया मुख अथवा अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से प्रयोग कर सकते हैं। उदर को गरम पानी की बोतल से सेकने से लाभ होता है। उदर मे पीड़ा साधारण उपचार से कम न होने पर अफीम के योग प्रयोग कर सकते हैं परन्तु अफीम के योग बाल्यावस्था मे नही देना चाहिये। यूपाको (Eupaco), यूकेडौल (Eukodal), पेथिडीन (Pethidin), फाइसेप्टोन (Physepton) आदि अफीम के योग गो. १ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। मौरफीन (M & A) ग्रे. ⅙ तथा एट्रोपीन ग्रे. १/१०० का इन्जेक्शन भी दिया जाता है। उदर की पीडा तथा मल परित्याग करते समय की पीड़ा कम करने के लिये **गुदामार्ग**

से भी औषधियाँ प्रयोग की जाती है। इस रोग के विकृति का स्थान आन्त्र के अन्तिम भाग में रहने के कारण यह मार्ग भी औषधि प्रयोग करने के लिये उपयुक्त है। मल परित्याग करने के समय आन्त्र मे पीड़ा का कारण, आन्त्र मे श्लेष्मा (Mucous) का संचय होना प्रतीत होता है, इसलिये **प्रथम** सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) को २ प्र. श. (%) घोल गरम कर अथवा समबल लवण घोल (N. Saline) पा. १ का एनीमा (Enema) लगाकर आन्त्र को धोना चाहिये **तत्पश्चात** मैदे के साथ अफीम का एनामा (यो. ११२) औ. २ देना चाहिये। इस औषधि को गुदा के अन्दर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। इस क्रिया को रात्रि के समय सोने के पूर्व करना चाहिये। इससे मल की सख्या मे भी कमी होती है। समबल लवण घोल (N. Saline) पा. १ मे टि. अफीम (Tr. opii) मि. १० या टैनिक एसिड (Tannic acid) ग्रे. १५ अथवा फिटकरी (Alum) ग्रे १५ मिलाकर एनिमा लगाने से या मारफीन सपोजिटरी (Morphine suppository) ग्रे. ¼ लगाने से भी पीड़ा तथा मल की सख्या मे कमी होती है। मल की संख्या मे कमी करने के लिये १ गिलास जल मे केयोलीन (Kaolin) च. ४ मिलाकर पिलाना चाहिये। **आध्मान** (Tympanites) की उपयुक्त चिकित्सा (पृ० १६१) करनी चाहिये। इसके लिये कायला (Charcoal) ग्रे. ५ अथवा कारबान्ट्रिन (Carbantrin Ciba) की गो. १ त्रि. प्र. दि दे सकते है। **निद्रा लाने** के लिये सोने के पूर्व फेनोबार्बिटोन (Phn) ग्रे. ½–१, या सोडियम फेनोबारबिटोन Na-phn) ग्रे १½–२ अथवा ल्यूमिनल (Luminal) की एक गोली दे सकते है। **बेचैनी** कम करने के लिये ये औषधियाँ ग्रे. ¼–½ तक त्रि. प्र. दि. दे। **निपात** (Collapse) का कारण जलाल्पता (पृ. २१६) या दक्षिण हृदयातिपात (पृ.२४७) अथवा परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (पृ. २३४) हो सकता है। विकृति के कारण के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। इन्सूलिन (Insulin) के साथ ग्लूकोस का इन्जेक्शन करने से शरीर को बल मिलता है। एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/२००–१/१०० अथवा कार्डियोजोल के इन्जेक्शन से परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Peripheral vascular failure) मे लाभ होता है। आ. अ. रक्तप्रदान (Blood transfusion) करना चाहिये। शैशवावस्था मे माता या पिता के शरीर से ५–१० सी. सी. रक्त निकाल कर शिशु के नितम्ब

की पेशियों में इंजेक्शन दे सकते हैं। दस्त की संख्या अत्यधिक रहने के कारण इस रोग मे गुदामार्ग से जल देना निरर्थक है। शंशयावस्था में समबल लवण घोल (N. Saline) ९९° फा. पर उदरावरण में (Intraperitoneally) पा. १ तक दे सकते हैं। **वैक्टिरियोफाज** (Bacteriophage) द्वारा चिकित्सा का परिणाम अनिश्चित है। रोग के प्रारम्भ में रेंडी का तेल (Ol. recini) अथवा मैगसल्फ (Mag : sulph) आदि द्वारा विरेचन (Purge) कराने से जलाल्पता में वृद्धि होती है तथा शरीर से अधिक क्लोराइड (Cl) निकल जाने की सभावना रहती है। प्रवाहिका निरोधी **लसिका (B : dys : polyvalant antitoxic serum) द्वारा चिकित्सा :**—इसके प्रयोग से प्रवाहिका के विष का नाश होता है परन्तु जीवाणुओं की मृत्यु नहीं होती इसलिये लसिका द्वारा चिकित्सा करने के साथ-साथ सल्फा (S) औषधि का भी प्रयोग करना चाहिये। शीगा दण्डाणु (B.shiga) के कारण अत्यन्त तीव्र उपसर्ग रहने पर लसिका से लाभ हो सकता है। लसिका तथा लवणघोल (Saline) का प्रयोग साथ-साथ सिरामार्ग से कर सकते हैं। फ्लेक्शनर (B. Flexner) दण्डाणु तथा अन्य जीवाणुओं द्वारा उपसर्ग होने पर लसिका से लाभ नहीं होता।

विधि :—१०० सी. सी. लसिका को समबल लवणघोल (N. saline) पा. २ में मिलाकर प्र. दि. सिरा मार्ग से ४० बूँद प्र. मि. की गति से तब तक दें जब तक विषमयता (Toxaemia) पूर्ण रूप से ठीक न हो जाये अथवा ५० – १०० सी० सी० लसिका को समबल लवणघोल पा. १ में मिलाकर सिरामार्ग से द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। लसिका देने के पूर्व रोगी को लसिका के लिये सूक्ष्मवेदनता (Sensitivity) की परीक्षा करना आवश्यक है। लसिका देने के पूर्व एड्रीनलीन (Adrenalin) १/२ सी. सी. अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से इन्जेक्शन लगाने से प्रतिक्रिया (Reaction) की अल्प सम्भावना रहती है। (५) **आहार :**—रोगी की तीव्र अवस्था में **प्रारम्भ** में रोगी को तरलपदार्थ (पृ० ४) ही देना चाहिये। इस रोग में आन्त्र से भोजन का अति शीघ्रता से परित्याग होने के कारण तथा आंत्र के प्रचूषण (Absorption) की शक्ति अत्यन्त कम हो जाने के कारण आ. अ. सिरामार्ग से पौष्टिक द्रव का प्रयोग करना चाहिये। रोगी को पूर्ण उपवास करा कर दुर्बल कर देना उत्तम नहीं है। आहार मे

वृद्धि मल की अवस्था के अनुकूल होनी चाहिये। मल की अवस्था मे सुधार होने पर अर्ध तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। **तत्पश्चात** चावल के योग देना चाहिये। इनके पच जाने पर शनैः शनैः प्राकृत भोजन देना चाहिये। दुग्ध का प्रयोग नही करना चाहिए। रोगी की अवस्था मे पर्याप्त सुधार हो जाने पर प्रोटीन मिश्रित दूध (Ptn. milk) आध छटाक से प्रारम्भ कर शनैः शनैः मात्रा बढ़ानी चाहिये। शिशु मे अलेडोन (Eledon), बेंगर फूड (Benger's food) सेब का रस आदि दे सकते है। प्रत्येक तीव्र उपसर्ग मे जीवतिक्ति "सी" (Vit : C) की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये रेडोक्सन (Redoxon) की ५०–१०० मि. ग्रा. की गो. १ द्वि. प्र. दि. दें। शन्तरे का रस पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिये। रोगी यदि पी सके तब बार्ली आदि नमक के साथ बनाने से स्वाद बदलता है तथा शरीर में लवण जाता है। भारतवर्ष मे यह रोग प्रायः शीगा दण्डाणु (B. shiga) के कारण होता है इसलिये प्रचुर मात्रा मे कार्बोज (Cho) ही देना अच्छा है। शीत प्रधान देशो मे फ्लेक्सनर दण्डाणु (B. flexnor) का उपसर्ग अधिक होता है इसलिये वहाँ भोजन मे प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक होनी चाहिये।

(ख) **चिरकालीन (Chro) अवस्था :—**

परिचय :—इस अवस्था की चिकित्सा के लिये विशिष्ट औषधि के अतिरिक्त, **गुदामार्ग** से औषधि का प्रयोग, उपयुक्त आहार तथा नियमपूर्वक मल परित्याग होना आवश्यक है। सिद्धान्तः इस अवस्था की चिकित्सा चिरकालीन व्रणज बृहदान्त्र शोथ (Chro : ulcerative colitis) के समान करना चाहिये तथा ध्यान रखना चाहिये कि शरीर मे अधिक काल तक प्रोटीन न मिलने के कारण प्रोटीन की कमी (Hypo-proteinemia) होने की सम्भावना रहती है और परिणामस्वरूप शरीर मे जल संचय हो सकता है। इस प्रकार का **शोफ** (Oedema) प्रायः पैर से प्रारम्भ होकर ऊपर की ओर जाता है और अन्तिम अवस्था मे सर्वाङ्ग शरीर मे छा जाता है। इसलिये चिरकालीन अवस्था मे **आहार** मे प्रोटीन (Ptn) की प्रधानता रहनी चाहिये। शोफ की अवस्था मे लवण कम करने की आवश्यकता पड़ती है। चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व **मल का संवर्धन** (Culture) कर जीवाणु का पता लगाना चाहिये। जिस जिवाणु का पता चले उस पर **प्रत्यमूहन**

परीक्षा (Agglutination) करने से निदान का निश्चय हो जाता है। अवग्रहान्त्र वीक्षण परीक्षा (Sigmoidoscopy) तथा क्ष किरण (X-ray) द्वारा परीक्षा करने से आन्त्र की अवस्था का ज्ञान होता है। चिकित्सा के पूर्व रोगविनिश्चिति आवश्यक है अन्यथा आन्त्र का यक्ष्मा (T.B.), चिरकालीन व्रणज वृददान्त्र शोथ (Chro : ulcerative colitis) आदि आन्त्र के गम्भीर रोगो का निदान नहीं हो पाता और विशिष्ट चिकित्सा का परिणाम अच्छा नहीं होता।

चिकित्सा :—(१) विशिष्ट औषधि :—इस अवस्था मे सल्फागोनेडीन (S guanidine) मुख द्वारा तथा गुदा (Anus) मार्ग से भी दे सकते है। इसके लिये औषधि की दस गोली ८ औ० जल मे गोंद (Gum) की सहायता से मिला कर प्र० दि० गुदामार्ग (Anus) द्वारा देना चाहिये। औषधि देने के पश्चात् रोगी को लिटा कर रखना चाहिए जिससे औषधि अन्दर ठहर सके। इस क्रिया के पूर्व सोडी बाइकार्ब (Sodi-bicarb) की बस्ति (Enema) द्वारा मलाशय (Rectum) का मलरहित करना आवश्यक है।

मुख द्वारा सल्फागोनेडीन की २ गोली ४–६ बार प्र. दि. देना चाहिये। **गुदामार्ग से** निम्न औषधियाँ भी प्रयोग की जाती हैं :—गरम लवणघोल (Saline) अथवा बोरिक एसिड (Boric acid) के घोल पा० १ से प्र. दि. या प्र. दू. दि. आन्त्र को धोना (Bowel wash) चाहिये। आन्त्र धोने के पश्चात् प्रोटारगल (Protargol) या सिलवर नाइट्रेट ($AgNO_3$) अथवा अन्य चाँदी के योग ½–१ प्र.श. १–८ औ० तक गुदा मे प्रवेश कराना चाहिये। यह क्रिया रात्रि मे सोने के पूर्व करना चाहिये। औषधि की मात्रा तथा घोल का बल शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये। औषधि के बाद पीड़ा होने पर लवण घोल (Saline) पा. १ से आन्त्र धो देना चाहिये। चाँदी के योग की अपेक्षा तूतिया (Copper sulph) के ½ प्र.श घोल से पीड़ा कम होती है।

(२) अन्य औषधियाँ :—चिरकालीन अवस्था में सल्फा (S) औषधि के साथ-साथ स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) ग्रा. ½ द्वि. प्र. दि. पेशीमार्ग से इन्जेक्शन लगा सकते है। स्ट्रेप्टोमाइसीन तथा क्लोरोमयसेटीन (Cln) प्रायोगिक अवस्था मे हैं। **कब्जियत** पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिये रेड़ी का तेल (यो. ३२) अथवा मैगसल्फ (यो. ३३) आ. अ.

दें। एगर के योग जैसे एगरोल (Agarol) या पेट्रोलएगर (Petrol agar) च० ४, इसफगोल की भूसी च. ४, दही, दूध या मिश्री के साथ या लिक्वीड पैरेफिन (Liq : Paraffin) च. ४, अथवा त्रिफला का चूर्ण च. १ रात्रि मे सोने के पूर्व दे सकते हैं। कैसकरा इवैक्युयेन्ट (Cascara evacuant P. D.) मि. २० त्रि. प्र. दि. अथवा च.१ सोने के पूर्व.प्र.दि. दे सकते हैं। मल में विशिष्ट जीवाणु का पता लगा कर आत्ममसुरी (Auto vaccine) का इन्जेक्शन भी दिया जाता है। रोग से मुक्ति पाने के लिये रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना आवश्यक है। इसके लिये स्वास्थ्यकर स्थान मे जलवायु बदलने के लिए जाना अच्छा है। रक्ताल्पता (Anaemia) रहने पर लौह (Fe) का प्रयोग करना चाहिये। रोग की अन्तिम अवस्था मे रोगी के अत्यन्त दुर्बल हो जाने के कारण अवसाद (Depression), घबराहट आदि मानसिक विकृतियाँ होती है। इसके लिये अवटुका ग्रंथि सत्व (Thyroid ext:) ग्रे० $\frac{1}{2}$ द्वि. प्र. दि. कर ३–४ दिन निरतर देकर, ३–४ दिन औषधि बन्द कर देना चाहिए। यही क्रम कुछ दिन तक चला सकते हैं।

(ग) भोजन :—रोगी के पचन शक्ति के अनुसार रोगी को स्वास्थ्यवर्धक पौष्टिक आहार देना चाहिये। कार्बोज (Cho) की अपेक्षा प्रोटीन अधिक लाभप्रद है। दूध की अपेक्षा दही, मट्ठा आदि तथा गेहूँ की अपेक्षा चावल अधिक उपयुक्त हैं। जीवतिक्तियो का मिश्रण (Multi-vit) का प्रयोग करना चाहिये जैसे मल्टीसेब्रीन (Multicebrin-'Ly'), वाइमीन (Wimin-J.W.) आदि। इन औषधियो का कै० १ द्वि. प्र. दि. दे। जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit. B. complex) के प्रयोग से पचन शक्ति मे वृद्धि होती है। इसके लिये मारमाइट (Marmite) च. १ द्वि. प्र. दि. भोजन के साथ दे सकते है। जीवतिक्ति 'बी' में प्रायः दुर्गन्धि होती है इसलिये बिकोटीन (Becotin 'Ly') कै० १ द्वि. प्र. दि. दे सकते हैं। मासाहारी रोगी, मछली, अण्डा, मास आदि का प्रयोग कर सकते हैं। इन पदार्थों मे मिर्च, मसाला नहीं होना चाहिये। पक्के बेल का प्रयोग उत्तम है। बेल का मुरब्बा या क्वीनोबेल (Quinobael) च० १ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। कच्चे केले तथा पपीते की तरकारी, पक्का पपीता आदि देना चाहिये।

(घ) **संवाहक** (Carrier) **अवस्था** :—इस अवस्था की चिकित्सा अत्यन्त निराशाजनक है। सल्फागोनेडीन (S guanidine) या सल्फा-सक्सीडीन (S suxidine) आदि की गो० २–४ त्रि० प्र० दि० कर ७–१० दिन तक दे सकते हैं।

आन्त्रिक ज्वर (Typhoid)

परिचय :—एबरथीलिया टाइफोसा (Eberthella-typhosa) जन्य यह उपसर्ग शरीर मे व्यापक विकृति उत्पन्न करता है। इसकी विकृति का विशिष्ट स्थान क्षुद्रान्त्र (Small int:) के लसधातु (Lymphoid tissue) मे हैं परन्तु रोग के प्रारम्भ से ही रक्त मे जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं और गम्भीर **विषमयता** (Toxaemia) उत्पन्न होती है। इसमें गम्भीर उपद्रव होते है इसलिए इसकी चिकित्सा में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। रोगी की **परिचर्या**, रोगी के बल को यथासंभव उपयुक्त **आहार** द्वारा बनाये रखना, विषमयता में कमी करना, उपद्रवो को उत्पन्न न होने देना तथा उनके उत्पन्न होने पर उपद्रवों का शमन करना आदि इसकी चिकित्सा के प्रमुख अङ्ग हैं। कब्ज होने से विषमयता मे वृद्धि होती है, दस्त होने से रोगी दुर्बल हो जाता है, इसलिये आहार पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

प्रारम्भ मे कालज्वर (K. A.) आदि रोगों से आन्त्रिकज्वर का निदान निश्चय करना अत्यन्त कठिन होता है और गलत निदान के आधार पर आन्त्रिक ज्वर में अनावश्यक औषधियों का प्रयोग करने से हानि होती है। इसलिये कोई भी ज्वर जब एक सप्ताह से अधिक सन्तत (Constant) रह जाता है तब, जब तक ज्वर के विशिष्ट कारण का ज्ञान न हो जाये तबतक आन्त्रिक ज्वर की सम्भावना ध्यान में रखना चाहिये और उसी के अनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये।

आंत्रिक ज्वर में मूत्र की परीक्षा :—यह परीक्षा ज्वर के प्रथम सप्ताह मे अस्त्यात्मक (+) होती है। पोटासियम पर मैंगनेट ($KmnO_4$) का १ : १००० का प ज. मे घोल बनाइये। दो टेस्टट्यूब (Test tube) मे मूत्र का प. ज. में १ : ६ का घोल बनाकर प्रत्येक टेस्टट्यूब मे ५ सी. सी. रखिये। प्रथम टेस्टट्यूब मे कुछ मत मिलाइये, द्वितीय मे पोटास पर मैगनेट के घोल का १० बूँद मिलाइये और टेस्टट्यूब को अच्छी प्रकार हिलाइये। अस्त्या-

त्मक (+) कसौटी होने पर द्वितीय टेस्टट्यूब का रङ्ग पीला (Yellow) हो जाना चाहिये। यह कसौटी प्रायः आन्त्रिक ज्वर के प्रथम सप्ताह में अस्त्यात्मक होती है।

चिकित्सा :—(१) प्रतिषेध :—आन्त्रिक ज्वर के समान आहार द्वारा फैलने वाले समस्त रोगों का जल, भोजन, मल, मक्खी, गन्दे हाथों तथा संवाहक से घनिष्ट सम्बन्ध है। रोग प्रायः रोगी के प्रत्येक स्राव से फैलता है। भोजन, पीने का पानी, मलाइ की बरफ (Icecream), दूध आदि मे उपसर्ग मक्खियो द्वारा या सवाहक द्वारा पहुँचता है, इसलिये भोजन को शुद्ध रखना, मक्खियों को नष्ट करना तथा सवाहको (Carriers) की चिकित्सा करना तथा उनका भोजन से सम्पर्क नहीं होने देना चाहिये। रोग प्रायः जीवन मे एक बार होता है। रोग से पीड़ित होने पर या प्रतिषेधक **वैक्सीन** (Vaccine) का इजेक्शन लेने पर पर्याप्त रोगक्षमता (Immunity) उत्पन्न होती है। टी. ए. बी. वैक्सीन (T A. B. vaccine) मे प्रति सी. सी. मृत टाइफाइड के जीवाणु १०० करोड तथा पैरा 'ए' और 'बी' प्रत्येक ५० करोड़ रहते हैं। इस औषधि की प्रथम १/२ सी. सी., तत्पश्चात् १० दिन के बाद १ सी. सी. अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से इन्जेक्शन देना चाहिये। रोग के संचय काल (I. P.) मे वैक्सीन नही लगाना चाहिये। इसलिये जब किसी परिवार मे यह रोग हो तब उस परिवार के अन्य लोगो को वैक्सीन का इजेक्शन नही देना चाहिये। नगरपालिका को शुद्ध जल तथा मलशोधन का प्रबन्ध करना चाहिये। मक्खियो की उत्पत्ति रोकनी चाहिये। रोगी को पृथक कर उसके प्रत्येक स्राव मे जीवाणुनाशक औषधि मिला कर नष्ट करना चाहिये तथा रोगी के बर्तन आदि को अलग रखना चाहिये। रोगी तथा संवाहक की चिकित्सा का प्रबन्ध होना चाहिये। संवाहक को आत्मसमसूरी (Autovaccine) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। मूत्रमार्ग या पित्ताशय (Gallbladder) मे उपसर्ग रहने पर हेक्सामीन (Hexamine) आदि जीवाणुनाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। पाक-गृह तथा उसमे काम करने वाले, स्वच्छ होने चाहिये। भोजन के पूर्व अच्छी तरह हाथ धोना चाहिये। मरक (Epidemic) के समय पानी गरम कर पीना चाहिये। बाजार की चीजे नहीं खाना चाहिये। फल तथा कच्ची तरकारी आदि को खाने के पूर्व पोटास परमैगनेट ($KmnO_4$) के गुलाबी रंग के घोल से

धो लेना चाहिये। दूध, आइसक्रीम आदि के बनाने तथा वितरण में विशेष सावधानी आवश्यक है। संवाहक की चिकित्सा में क्लोरोमाइसेटीन (Cln) आदि महत्वहीन है। रोगी के मल में ब्लीचिंग पाउडर (Bleaching powder), कार्बोलिक (Carbolic) आदि मिलाकर २ घण्टे रखना चाहिये। तत्पश्चात् उसको नाली में बहाना चाहिये। रोग का सञ्चयकाल (I. P.) प्रायः दो सप्ताह है। रोगी के उपसर्ग फैलाने की शक्ति तब प्रारम्भ होती है जब उसके मल, मूत्र आदि द्वारा जीवाणु का परित्याग प्रारम्भ होता है और यह शक्ति तबतक रहती है जबतक मल-मूत्र आदि रोग के जीवाणु से रहित नहीं हो जाते। यह समय अत्यन्त अनिश्चित है।

(२) **साधारण :—**साधारण चिकित्सा 'ज्वर' के समान (पृ. २५६) होनी चाहिये। विश्राम, तरल आहार (पृ. ४), मुख शुद्धि, उपयुक्त शुश्रूषा, कोष्ठबद्धता, निद्रा, आध्मान (Tympanites) आदि का विशेष ध्यान रखना चाहिये। ज्वर प्राकृत होने पर अत्यन्त शनैः शनैः आहार की वृद्धि करना चाहिये। ज्वर में अधिक भोजन का सिद्धान्त अव्यवहारिक है। जल की मात्रा पर्याप्त रहनी चाहिये। मुख द्वारा विरेचक (Purgative) औषधियों का प्रयोग निषिद्ध है। रोगी की त्वचा तथा आसन का विशेष ध्यान रखना चाहिये। करवट बदलते रहना चाहिये तथा प्र. दि. साधारण उष्ण जल से शरीर पोछना चाहिए। गुदा मार्ग से ग्लिसरीन (यो. ११८) प्रवेश कर प्र. दू. दि. मल परित्याग कराना चाहिये। आध्मान की उपयुक्त चिकित्सा (पृ. १६१) करनी चाहिये।

(३) **भोजन :—**आन्त्रिक ज्वर में भोजन द्वारा रोगी का बल बनाये रखना नितान्त आवश्यक है परन्तु सिद्धान्त के अतिरिक्त रोगी के आन्त्र तथा पचन शक्ति पर भी ध्यान देना चाहिये। किसी भी हालत में ज्वर की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त तथा एक सप्ताह बाद तक कोई भी ठोस पदार्थ नहीं देना चाहिये। तरल पदार्थ ही उपयुक्त है। रोग के प्रारम्भ में तथा कब्ज की प्रवृत्ति रहने पर दूध का प्रयोग करना चाहिये। पतले दस्त होने पर दूध का प्रयोग नहीं करना चाहिये। **आध्मान** (Tympanites) की सम्भावना प्रतीत होने पर कार्बोज (Cho) की अपेक्षा प्रोटीन (Ptn) का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये जल में अण्डे की सफेदी मिलाकर या मूँग की दाल का पानी अथवा परवल का सूप आदि दे सकते हैं। कार्बोज से वायु उत्पन्न

होती है। प्रोटीन से रोगी को बल मिलता है और शैय्याव्रण (Bedsore) आदि की कम सभावना रहती है। जल का प्रयोग पर्याप्त मात्रा मे करना चाहिये। जल के प्रयोग से विषमयता (Toxaemia) मे कमी होती है। आन्त्रिक ज्वर मे गुदामार्ग से जल प्रयोग करने से पतले दस्त होने की सम्भावना रहती है और अधस्त्वकमार्ग (S. C.) प्रायः पीड़ाकर होता है इसलिये मुख तथा सिरामार्ग पर ही निर्भर करना चाहिये परन्तु तीव्र विषमयता, आध्मान, चेतनाहीन रोगी तथा आन्त्र से रक्तस्राव (Haemorrhage) होने के कारण मुख मार्ग से पर्याप्त जल न दे सकने पर गुदामार्ग तथा अधस्त्वकमार्ग का भी प्रयोग करना चाहिये। गुदामार्ग से साधारण कलका पानी सर्वोत्तम है। इसको २ औं. प्रति घण्टे की गति से देना चाहिए। इसका ताप शरीर के प्राकृत ताप के बराबर होना चाहिये। अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से समबल लवण घोल (N.saline) पा. १ से अधिक एक स्थान मे नही देना चाहिये। दूध की अपेक्षा दही या मठे का प्रयोग अच्छा है विशेष कर आध्मान (Tympanites) या पतले दस्त होने की प्रवृत्ति रहने पर। एक गिलास जल मे ग्लूकोस च.४, सोडी बाइकार्ब च. १/२ तथा २०० मि. ग्रा. जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) मिलाकर बराबर पीने को देना चाहिये। डाब का पानी, अनार, मोसम्बी का रस आदि दे सकते हैं। ग्लूकोस (Glucose) की अपेक्षा नीबू डाल कर साधारण चीनी का शर्बत अच्छा है। दुग्धशर्करा (Lactose) से वायू कम उत्पन्न होती है। बार्ली का पानी चीनी या नमक डालकर देने से मूत्र की मात्रा मे वृद्धि होती है। दूध सहन न हो सकने पर हौरलिक्स (Horlicks), एलेडौन (Eledon) आदि दे सकते हैं। रोगी की अवस्था मे पर्याप्त सुधार हो जाने पर शनैः शनैः भोजन मे वृद्धि करना चाहिये। यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि आन्त्रिक ज्वर मे अत्यन्त क्षुद्र कारणो से रोग का पुनरावर्तन (Relapse) होता है और ताप मे वृद्धि होने लगती है। ये कारण है :—भोजन मे किसी प्रकार की गड़बड़ी, अधिक भोजन, अनुपयुक्त भोजन, भोजन के समय मे गड़बड़ी, अधिक वार्तालाप, शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम आदि। क्षुधा मे वृद्धि होने पर थोड़ा उबाल कर अण्डा, गीला चावल, खिचड़ी आदि शनैः शनैः दे सकते है। कार्बोज (Cho) प्रधान आहार मे सिंघाडा अथवा उसके आटे से कम वायु उत्पन्न होती है। शुद्ध बनी हुई मलाई की बर्फ(Icecream), दूध तथा अण्डे की बनी पुडिंग (Pudding), आदि दे

सकते हैं । **पतले दस्त होने** पर कार्बोज (cho) प्रधान आहार बन्द कर देना चाहिये । अधिक दस्त होने पर पल्व इपिकाक को (Pulv : ipecac co) ग्रे.५ त्रि.प्र.दि. तथा रात्रिमे अफीमका एनिमा (यो.११२) लगा सकते हैं। इस अवस्था में उबलते हुए दूध मे थोड़ा फिटकरी डाल कर दूध को फाड़ कर छान लेना चाहिये और इस प्रकार बना छेने का पानी चीनी मिलाकर देना चाहिये । कैलसियम लैक्टेट (Cal : lactate) से भी दूध फाड़ा जाता है । रक्तस्राव (Bleeding) की प्रवृत्ति रहने पर यह विशेष लाभ-दायक है । ये सब पदार्थ पच जाने पर अन्त मे रोटी देना चाहिये । जीव-तिक्तियो मे कमी न हो इसके लिये जीवतिक्ति सम्पूर्ण (Multi-vit :) के योग दे सकते है जैसे :—वाइमीन (Wimin J. W.) या मल्टीसेब्रिन (Multicebrin 'Ly') कै. १ द्वि.प्र. दि. अथवा एबडेक ड्राप्स (Ab-dec drops P. D.) मि. १० द्वि. प्र. दि. । प्रोटीन की कमी न हो इस पर भी ध्यान देना आवश्यक है । इसके लिये प्रोटीन या केसीन हाइड्रोलाइ-सेट (Ptn: or casein hydrolysate) का योग दे सकते हैं, जैसे :—लेडीनैक (Ledinac Le), प्रोन्यूट्रीन (Pronutrin HP.) आदि । ये औषधियाँ प्रायः दुर्गन्धित होती हैं और स्वाद भी खराब होता है इसलिये इनका १–२ चम्मच दूध अथवा फल के रस के साथ द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये । चेतनाहीन रोगी मे नासा मार्गसे राइल की नलिका (Ryl-e's tube) द्वारा आहार देने की आवश्यकता पड़ सकती है। ज्वर की तीव्रता के समय कुछ लोग ३००० से ५००० कैलोरी (C) तक प्र. दि. देते है । इसके लिये १ सेर दूध मे १ पाव क्रीम (Cream) तथा दो छटाक लैक्टोस (Lactose) मिलाकर प्र. दि. करीब २–३ सेर दूध दिया जाता है । विशेष परिस्थिति मे इस आहार का प्रयोग कर सकते है । कब्ज के लिए रात्रि मे लिक्विड पैरेफिन (Liq : paraffin) औ. ½ देना चाहिये ।

(४) **विशिष्ट चिकित्सा** :—क्लोरोमाइसिटीन (Cln) या औरो-माइसीन (Au.) का २५० मि. ग्रा. का १ कैपस्यूल (Capsule) त्रि. प्र. दि. मुख द्वारा देना चाहिये । यदि रोगी यह औषधि न ले सके तब स्ट्रेप्टो-माइसीन (Str) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये । स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग मुख द्वारा भी किया जाता है । द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के कारण दस्त होने पर इससे लाभ होता है ।

कुछ लोग १०० पौ. के रोगी को सर्वप्रथम क्लोरोमायेसिटीन का २५० मि.ग्रा. का ८ कैपस्यूल देते हैं तत्पश्चात् कै. ४ प्र. २ घ. तब तक देते हैं जब तक ज्वर प्राकृत नहीं हो जाता। तदुपरान्त २ दिन तक कै.४ प्र.४ घ. देते हैं। यह मात्रा अत्यधिक प्रतीत होती है और इससे यह भी ज्ञान होता है कि आन्त्रिक ज्वर में इस औषधि की उपयुक्त मात्रा का अभी निर्णय नहीं हुआ है और प्रत्येक रोगी के लक्षणों की तीव्रता के अनुसार औषधि की मात्रा निर्धारित करना चाहिये।

(२) **अन्य चिकित्सा** :—आध्मान (Tympanites) की उपयुक्त चिकित्सा (पृ.१६१) करें। अन्य जीवाणुनाशक औषधियों के प्रयोग से आन्त्रिक ज्वर में विशेष लाभ नहीं होता। प्रत्येक ज्वर में अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की सम्भावना रहती है। इसलिये प्रारम्भ से ही क्षारीय घोल (यो. १) त्रि. प्र. दि. देना चाहिए। अकस्मात ज्वर यदि प्राकृत हो जाय तब आन्त्र से **रक्तस्राव** (Bleeding) या आन्त्र का निच्छिद्रण होने की सम्भावना रहती है। इसकी उपयुक्त (पृ. १८६) चिकित्सा करें।

आंत्र निच्छिद्रण (Perforation) में उदर में तीव्र पीड़ा के साथ साथ उदरावरण के प्रक्षोभ (Peritoneal irritation) के लक्षण होते हैं। ज्वर कम होकर शीघ्र ही पुनः तीव्र हो जाता है। नाड़ी की गति तीव्र तथा नाड़ी तार के समान कठिन (Wiry) हो जाती है। स्तब्धता (Shock) के लक्षण होते हैं। उदर प्राचीर अनम्य (Rigid abd : wall) हो जाती है। अन्तिम अवस्था में दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश (Hypochondrium) में यकृत की मर्यादा पर प्रतिस्वनन (Resonance) मिलता है। यकृत मन्दता क्षेत्र (Dull area) में कमी हो जाती है। इस अवस्था की चिकित्सा तत्काल शल्यकर्म (Op) द्वारा करना चाहिये। अचेत रोगी में प्रायः **मूत्रनिरोध** (Retention) हो जाता है। इसके लिये कटिप्रदेश (Lumbar) तथा भगास्थ्यार्ध्व (Suprapubic) प्रदेश को सेकना चाहिये। टि. वेलाडोना (Tr : belladonna) मि. ८ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। औषधियों द्वारा मूत्र न होने पर रबर की नलिका (Catheter) द्वारा मूत्र निकाल देना चाहिये। **फुफ्फुसपाक** (Pneumonia) होने पर रोग के कारण के अनुसार पेनिसिलीन (P), औरियोमाइसीन (Au), स्ट्रेप्टोमायेसीन (Str)

आदि का प्रयोग करें। कर्णमूल ग्रंथि शोथ (Parotitis) प्रायः द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के कारण होता है।

(६) **आंत्रिक ज्वर की अन्य औषधियाँ** :—कुछ समय पूर्व आन्त्रिक ज्वर की चिकित्सा मे टिन (Tin) के योग दिये जाते थे। इन औषधियो का परिणाम अनिश्चित है। **एलडेस्टान** (Aldestan) इसी प्रकार की एक औषधि है। इस औषधि को १–२ गो. त्रि. प्र. दि. कर १०–१२ दिन तक दी जाती है। साथ-साथ पोटास आयोडाइड (KI) ग्रे. ५ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। आन्त्रिक ज्वर की **विषमयता** का कब्ज तथा जलाल्पता (Dehydration) से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसलिये कब्ज रहने पर १/१२ ग्रे० की मात्रा मे कैलोमेल (यो. ५२) प्र. २ घं. अथवा अरड का तेल (यो० ३२) त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। २–३ बार मल परित्याग हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। विषमयता की चिकित्सा से प्रलाप (Delirium) मे भी कमी होती है। रोगी को प्रत्येक मार्ग से आ० अ० जल देना चाहिये तथा उसका शरीर पोछना चाहिये। जल का ताप रोगी के शरीर के ताप के अनुकूल होना चाहिये। साधारण चिकित्सा से प्रलाप मे लाभ न होने पर शामक औषधियो (Sedatives) का सावधानी पूर्वक प्रयोग करना चाहिये क्योकि आन्त्रिक ज्वर मे इनसे हानि हो सकती है। विषमयता की कमी करने के लिए मूत्र की मात्रा मे वृद्धि कराना आवश्यक है, इसी निमित्त, जल तथा समबल लवणघोल (N.saline) मे ग्लूकोस (Glucose) ५ प्र० श० आदि का प्रयोग किया जाता है। प्राणवायु (O_2) तथा कार्बन डायोक्साइड (CO_2) श्यावता (Cyanosis) तथा श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) के लिये देना चाहिये।

आन्त्रिक ज्वर मे रक्त-प्रवाह का निपात प्रायः परिसरीय (Peripheral) होता है इसलिये डिजिटेलिस (Digitalis) से विशेष लाभ नही होता। हृत्पेशी (Myocardium) की क्षीणता तथा दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) के लक्षण मिलने पर डिजिटेलिस का प्रयोग कर सकते है अन्यथा परिसरीय निपात की औषधियाँ (पृ.२३४) प्रयोग करना चाहिये। **कर्णमूल ग्रंथि शोथ** (Parotitis) हो जानेपर पेनिसिलीन (P) का इन्जेक्शन देना चाहिये और ग्रंथि को तीसी की पुल्टिस से या एन्टीफलोजेस्टीन (Antiphlogestine) से त्रि० प्र० दि० सेंकना चाहिये। इक्थियोल

वेलाडोना (यो० ७७) गरम कर प्र. दि. ३–४ बार लगा सकते हैं। पूयभवन (Suppuration) होनेपर शल्यकर्म (Op.) द्वारा पूय निकाल देना चाहिये।

नोट :—उपआन्त्रिक ज्वर (Para-tpyphoid) की चिकित्सा आन्त्रिक ज्वर के समान ही है।

रोहिणी (Diphtheria)

परिचय :—कोरीनी वैक्टीरीयम डिफ्थेरी (Coryne-bacterium diphtheriae) जन्य यह औपसर्गिक ज्वर विशिष्ट चिकित्सा के अभाव मे, बाल्यावस्था मे अत्यन्त मारक होता है। प्रारम्भ से ही विशिष्ट चिकित्सा करने से रोगी के स्वस्थ्य होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है। विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ करने के लिये लक्षणो पर निर्भर करना पर्याप्त है। कण्ठ के श्राव की परीक्षा द्वारा, विशिष्ट जीवाणु का निदान हो जाने तक विशिष्ट चिकित्सा स्थगित रखना क्षम्य नही है। बाल्यावस्था के प्रत्येक रोगीके कण्ठ की परीक्षा अत्यन्त सावधानी पूर्वक करना चाहिए विशेषकर मन्द ज्वर, वाणी में परिवर्तन तथा बालक के आहार न ग्रहण करने पर। इन लक्षणो के अतिरिक्त ग्रीवा की लस ग्रंथियो (Cervical glands) की वृद्धि, कण्ठ मे गलतोरणिका (Fauces), मृदु तालु (Soft palate), तुण्डिकाओ (Tonsils) आदि पर धूसरवर्ण की मिथ्याकला (Pseudo-membrane) का मिलना, श्लैष्मिक कलाओ (M. M.) का श्वेत-वर्ण होना, मुख या नाक से श्राव बहना, मूत्र मे शुल्कि (Alb) का मिलना, तथा रोगी के अत्यन्त दुर्बल प्रतीत होने पर रोग की सम्भावना निश्चित समझना चाहिये। रोग के प्रारम्भ मे ज्वर प्रायः सामान्य ही रहता है, १०२° फा. से कभी अधिक नहीं होता। ज्वर १०२° फा. से अधिक रहने पर इस रोग की सम्भावना अत्यल्प रहती है। मिथ्याकला (Pseudo-membrane) अत्यन्त कठिनाई से छुड़ाई जा सकती हैं। इस रोग के जीवाणु कण्ठ, नाक, स्वरयन्त्र (Larynx) तथा त्वचा पर मिथ्या कला का निर्माण करते है और स्वय विकृत स्थान पर ही रह कर वहिर्विष (Exoto-xin) उत्पन्न करते हैं। वहिर्विष रोगी के शरीर मे प्रवेश कर अनेक उपद्रव करता है। कण्ठ मे जीवाणुनाशक औषधि (Antiseptic) प्रयोग करने के पश्चात् कण्ठ के श्राव की परीक्षा करने पर जीवाणुओं के मिलने की सम्भावना

नहीं रहती। स्वरयंत्र (Larynx) में विकृति रहने पर वाणी में परिवर्तन (Hoarseness), कष्टप्रद श्वास, श्वसन, कर्कश कास (Croupy cough), शब्द युक्त श्वसन (Stridor) आदि लक्षण होते हैं। वाणी पूर्ण रूप से बन्द हो सकती है। नाक में विकृति होने पर नासापुट (Nostrils) के समीप व्रण (Ulcer) हो सकते हैं तथा नासा स्राव (Nasal secretion) रक्तमिश्रित हो सकता है। इस रोग की उत्तम चिकित्सा होते हुये भी प्रायः २० प्र० श० रोगियों की मृत्यु हो जाती है। इसके उपद्रवों में हृत्पेशीशोथ (Myocarditis), अंगघात (Paralysis) तथा वातनाड़ीशोथ (Neuritis) प्रधान हैं। रोग के प्रारम्भ में हृत्पेशीशोथ का होना प्रायः मारक होता है। नाड़ी की गति अनियमित (Irregular) अथवा अत्यन्त मन्द होना अनिष्ट का सूचक है। पर्शुकान्तरीय पेशी (Intercostal muscles) के अंगघात के साथ साथ फुफ्फुसपाक (Pneumonia) का होना प्रायः मारक होता है। प्रारम्भ में विस्फोट (Rash) का निकलना रोग की गम्भीरता का द्योतक है। विस्फोट प्रायः रक्तवर्ण (Erythematous) होते हैं। ये अन्य प्रकार के भी हो सकते हैं। प्रायः ३०–४० प्र. श. रोगियों में अंगघात होता है। वातनाड़ीशोथ से प्रायः रोगी की मृत्यु नहीं होती। रोग निवृत्त होने पर प्रायः रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। विकृत स्थान के चारो ओर शोफ (Oedema) तथा श्लैष्मिक कला (M. M.) रक्तवर्ण होती है। मूत्र में शुक्लि (Alb) तथा निर्मोक (Casts) का मिलना वृक्कशोथ (Nephritis) का द्योतक है। श्रुतिसुरंगिका (Eustachian tube) के द्वारा मुख से मध्यकर्ण में उपसर्ग पहुँच सकता है। स्वरयन्त्र में विकृति होने पर अथवा कंठनलिकाच्छेदन (Tracheotomy) के पश्चात् फुफ्फुसपाक की संभावना रहती है। कभी-कभी उपवृक्क (Suprarenal) में रक्तस्राव होने से रक्तनिपीड (B.P.) अत्यन्त कम हो जाता है। ग्रीवा की लसग्रंथियों (Cervical glands) में द्वितीयक उपसर्ग के कारण पूयभवन (Suppuration) हो सकता है। इस रोग का एक विशेष प्रकार अत्यन्त मारक होता है। इसको विषाक्त (Toxic) प्रकार कहते हैं।

चिकित्सा (१) **प्रतिषेधः**—रोग का संचयकाल (I. P.) प्रायः २ से ७ दिन तक होता है इसलिये प्रत्येक बालक जो रोगी के सम्पर्क में आया हो उसे १० दिन तक स्वस्थ बालकों से **पृथक** कर उसके कण्ठ की परीक्षा करते रहना

चाहिये तथा सावधानी पूर्वक उसमे रोग के लक्षणों की उत्पत्ति के लिये देखना चाहिये। रोग की सम्भावना प्रतीत होने पर तत्काल चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिये। उपसृष्ट (Infected) बालको में रोहिणी निरोधी लसिका (Anti toxic serum) का अल्प मात्रा मे प्रयोग कर, रोग से बचाने का प्रयत्न करना ठीक नहीं है। ऐसा करने से रोगक्षमता (Immunity) प्रायः १ सप्ताह तक ही काम करती है और उसके पश्चात रोग होने पर इस औषधि का प्रयोग, भयंकर प्रतिक्रिया (Reaction) उत्पन्न कर सकता है। इससे अच्छा है कि जिन बालको मे उपसर्ग की सम्भावना प्रतीत हो उनके कण्ठस्राव (Throat swab) की बराबर परीक्षा कर रोहिणी के जीवाणुओं के लिये खोज की जाये अथवा उनपर **शिक कसौटी** (Schick's test) की जाय और पता लगाया जाय कि किन बालकों मे रोगक्षमता (Immunity) कम है। जिनमे रोगक्षमता कम हो उन बालको मे अधस्त्वकमार्ग (S. C.) से **टोक्सायड** (Toxoid) का इन्जेक्शन प्र. ४ स. पर ३ बार दे। इस क्रिया से रोगक्षमता की उत्पत्ति प्रायः २ मास पश्चात् प्रारम्भ होती है, परन्तु वह दीर्घकाल तक कार्यशील रहती है। टोक्सायड का प्रयोग प्रायः प्रत्येक बालक मे ६ मास से १२ मास की आयु मे करना चाहिये। इस औषधि मे कुकुरखाँसी का टोक्सायड (W. C. toxoid) तथा धनुर्वात का टोक्सायड (Tetanus toxoid) मिला देने से एक साथ ही इन तीनो रोगो से बालक को बचाया जा सकता है। इस क्रिया के करने के पूर्व शिक कसौटी कर लेना अच्छा है।

शिक कसौटी (Schick's test) :—बालक के अग्रबाहु (Fore-arm) पर एक स्थान पर रोहिणी विष (Toxin) ०·२ सी. सी. अन्तःस्त्वक (I. D.) मार्ग से प्रवेश करें तथा दूसरे स्थान पर इसी औषधि को ७५° सेन्टीग्रेड तक गरम कर इसी प्रकार प्रयोग करे। २४–४८ घन्टे पश्चात् दोनों स्थान पर लाल वर्ण के लिये देखें। निम्न परिणाम निकल सकते है :—

	प्रथम स्थान रोहिणी विष (Toxin)	द्वितीय स्थान गरम किया हुआ रोहिणी विष (Toxin)	शिक कसौटी (Schick's test)	परिणाम
१	रक्तिमा	अपरिवर्तित	+	रोग-क्षमता नहीं है
२	अपरिवर्तित	"	−	रोगक्षमता है
३	रक्तिमा	रक्तिमा	±	रोहिणी विष ठीक नही है

इस प्रकार अस्त्यात्मक परिणाम (+) वाले बालको को टोक्सायड (Toxoid) से रोगक्षमता बढ़ाना आवश्यक है। नास्त्यात्मक (−) परिणाम वालो मे पर्याप्त रोगक्षमता है इसलिये इनमे टोक्सायड (Toxoid) का इन्जेक्शन आवश्यक नहीं है। अनिश्चित (±) परिणाम वालो मे उत्तम रोहिणी विष द्वारा पुनः शिक कसौटी करना चाहिए। इस प्रकार यह निश्चय हो जाने के पश्चात कि किन बालकों मे टोक्सायड द्वारा रोगक्षमता (Immunity) बढ़ाने की आवश्यकता है यह भी पता लगाया जा सकता है कि इनमें से किन किन बालको मे टौक्सौयड के विरुद्ध असहनशीलता (Sensitivity) है। इसके लिए मैलोनी की कसौटी करना पड़ता है।

'**मैलोनी की कसौटी** (Maloney's test):—यह कसौटी प्रायः युवावस्था मे करनी पड़ती है। बाल्यावस्था मे इसका विशेष महत्व नहीं है। इस परीक्षा को शिक कसौटी के समान किया जाता है और उसके परिणाम का ज्ञान भी उसी प्रकार होता है।

इस परीक्षा मे रोहिणी विष के स्थान पर टोक्सौयड (Toxoid) का प्रयोग किया जाता है। इस औषधि का १ : २० घोल सी. सी. ०·१ अन्तः स्त्वक (I. D.) मार्ग से प्रयोग करना चाहिये। इन्जेक्शन देने के २४–४८ घं. के पश्चात इन्जेक्शन के स्थान पर लाल रंग के लिये देखना चाहिए। लाल रंग होने पर कसौटी अस्त्यात्मक (+) होती है और बालक को टोक्सायड देने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। इस कसौटी के परिणाम के अनुसार टोक्सायड का प्रयोग निम्न विधि से करना चाहिए।

टोक्सायड (Toxoid) के प्रयोग की विधि :—(क) मेलोनी (Maloney's test) कसौटी **अस्त्यात्मक** (+) रहने पर :—इस अवस्था मे प्रतिक्रिया के अनुसार टोक्सायड का १ : १०० से १ : १० तक के घोल से

प्रारम्भ करना चाहिए। प्रारम्भ में इस घोल का ०'१ सी. सी. अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से इंजेक्शन लगायें। तत्पश्चात प्र. स. औषधि की मात्रा दूनीकर प्रयोग करें। प्रतिक्रिया (Reaction) की ओर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। इसी क्रम से ५—६ बार इंजेक्शन लगाने के एक मास पश्चात पुनः शिक कसौटी करना चाहिये। यह कटौती नास्त्यात्मक (–) हो जाने पर इजेक्शन स्थगित कर देना चाहिये। यह कसौटी अस्त्यात्मक (+) रहने पर टोक्सायड (Toxoid) के इन्जेक्शन का क्रम तबतक चलाते रहना चाहिये जब तक कसौटी नास्त्यात्मक (–) न हो जाये।

(ख) मेलोनी कसौटी नास्त्यात्मक (–) रहने पर:—सर्वप्रथम टोक्सायड (Toxoid) की मात्रा ०'५ सी. सी. होनी चाहिये। तत्पश्चात प्रति एक मास के अन्तर पर १ सी. सी. दो बार देना चाहिये। शैशवावस्था मे इस औषधि के इन्जेक्शन का उपयुक्त समय शिशु के ६ मास से १ वर्ष की आयु तक है। प्रथम इन्जेक्शन देने के ६ मास बाद पुनः शिक कसौटी करना चाहिये और आगे का कायक्रम उसीके अनुसार निर्धारित करना चाहिये। २ तथा ५ वर्ष की आयु पर पुनः १ सी.सी. औषधि का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। इस औषधि के प्रयोग से पर्याप्त रोगक्षमता (Immunity) उत्पन्न होती है। १ से ३ बार इन्जेक्शन देने से ७५ से ९५ प्र. श. बालको मे इस रोग के होने की संभावना नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त रोग से बचनेके अन्य उपायोका भी प्रयोग करना चाहिये। चिकित्सक तथा परिचारिका आदि को रोहिणी के रोगी को छूने के पश्चात् अपने हाथ ठीक से धोकर, जीवाणुनाशक औषधि मे डुबाकर पोछना चाहिये तथा लिस्टरीन (Listerin), पास्टूरिन (Pasturin) आदि से कुल्ला करना चाहिये अन्यथा इनके द्वारा दूसरे बालको मे रोग फैलने की संभावना रहती है। रोगी से सपर्क मे आये हुए प्रत्येक पदार्थ को **जीवाणुरहित** करना चाहिये। साधारण रूमाल आदि को जला देना अच्छा है। बर्तन आदि को पोटास पर मैंगनेट ($KmnO_4$) अथवा अन्य जीवाणुनाशक औषधियों मे डुबाकर ½ घंटा रखना चाहिये। रोगी को **पृथक** रखना आवश्यक है। जबतक रोगीके नासा-ग्रसनिका मार्ग (Nasopharynx) मे रोहिणी के जीवाणु मिलते हैं तब तक रोग फैलने की संभावना रहती है इसलिये रोगी के कण्ठ की परीक्षा ए. प्र. स. करनी चाहिये। इस प्रकार ३ बार परीक्षा करने

पर यदि रोहिणी के जीवाणु न मिले तब रोगी को स्वस्थ बालकों से मिलने देना चाहिये, अन्यथा नहीं। **संवाहक** (Carrier) के कण्ठ को जीवाणुरहित करने के लिये यंत्र द्वारा सवाहक के कण्ठ में पेनिसिलीन (P.) छिड़कना (Spray) चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि :— **रोगक्षमता** (Immunity) उत्पन्न करने की प्रायः दो विधियाँ प्रयोग की जाती है। **प्रथम विधि से टौक्सौयड** (A. P. T.) प्रथम ०.२ सी. सी. तत्पश्चात् एक मास के बाद ०.५ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से देना चाहिये। **द्वितीय विधि से रोहिणी निरोधी लसिका** (Anti-toxic serum) १०००–२००० अ. इ. पेशी मार्ग से एक बार दी जाती है। इसका प्रभाव दो सप्ताह से अधिक नहीं रहता।

चिकित्सा (१) सिद्धान्त :—बाल्यावस्था मे यदि कण्ठ मे मिथ्याकला (Pseudomembrane) हो, ग्रीवा की लसग्रन्थियों (Cervical glands) की स्पष्ट वृद्धि हो तथा कण्ठ, तालु (Palate) अथवा गलतोरणिका (Fauces) पर शोफ (Oedema) मिले तब रोगी की चिकित्सा सर्वदा रोहिणी मानकर तबतक करना चाहिये जबतक रोहिणी न होने की संभावना वैज्ञानिक विधियो से प्रमाणित न हो जाय।

(२) साधारण :—पूर्ण विश्राम, पर्याप्त मात्रा मे जल का प्रयोग तथा पेनिसिलीन (P) का इन्जेक्शन आवश्यक है। रोगी को कम से कम दो सप्ताह विश्राम करना चाहिये। श्वासावरोध (Suffocation) होने पर कण्ठनलिकाच्छेदन (Tracheotomy) कर वायु मार्ग का निर्माण करना चाहिये। हृदयातिपात (Ht-failure) के लिये कोरामिन (Ce) का प्रयोग करना चाहिये। एट्रोपीन (यो. १०६) प्रति ६ घण्टे पर अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से दे सकते हैं।

इस रोग में किसी भी समय **हृदयातिपात** हो सकता है। रोगमुक्त हो जाने के पश्चात् भी हृत्पेशीशोथ (Myocarditis) होने की सम्भावना रहती है। इसलिये रोगी को शैय्या पर १–३ मास पर्यन्त **पूर्ण विश्राम** करना चाहिये। विश्राम मानसिक तथा शारीरिक दोनो होना चाहये। विश्राम की अवधि समाप्त होने के पूर्व विद्युतहृल्लेख (Ecg.) द्वारा रोगी के हृत्पेशी की परीक्षा करनी चाहिये। यह परीक्षा पूर्ण रूप से प्राकृत रहने पर ही रोगी को शैय्या परित्याग करने की आज्ञा देना चाहिये। बालको मे **इस प्रकार**

विश्राम की व्यवस्था करने के लिये बुद्धिमान परिचारिका की आवश्यकता पड़ती है। समय के पूर्व बालक को पुस्तकें पढ़ने, तसवीर देखने, खिलौने से खेलने आदि से **अङ्गघात** (Paralysis) होने की सम्भावना रहती है। विश्राम की अवधि समाप्त होने पर शनैः शनैः परिश्रम मे वृद्धि करना चाहिये। पर्याप्त जल देना आवश्यक है अन्यथा **जलाल्पता** (Dehydration) हो सकती है। प्रत्येक मार्ग से जल (पृ. २१६) देने का प्रयत्न करना चाहिये। आ.अ. सिरामार्ग (I.V.) से ग्लूकोस १२½ प्र. श. २५ सी. सा. अथवा पेशीमार्ग (I. M.) से समबल लवण घोल (N. saline) पा. १ अथवा गुदामार्ग से बूँद-बूँद कर साधारण जल देना चाहिये। जल की मात्रा का निर्णय मूत्र की मात्रा के अनुसार करना चाहिये। इसलिये प्र. दि. की मूत्र की मात्रा का ज्ञान आवश्यक है। इस मात्रा को प्र. दि. लिखकर रखना चाहिये। **वृक्कशोथ** (Nephritis) की सम्भावना पर भी ध्यान रखना चाहिये। इसलिये शुक्लि (Alb), निर्मोक (Casts) आदि के लिये **मूत्र-परीक्षा** करते रहना चाहिये। शीत के प्रभाव से वृक्कशोथ हो सकता है, इसलिये उदर तथा कटिप्रदेश (Lumbar) को गरम वस्त्र से ढक कर रखना चाहिये। शैशवावस्था मे गरारा कराना सम्भव नही है परन्तु बड़े बालकों तथा युवावस्था में जीवाणुनाशक औषधियो से त्रि. प्र. दि. **गरारा** कराना चाहिये। इसके लिये लिस्टरीन (Listerin), पास्टूरीन (Pasturin), ग्लाइकोथाइमोलीन (Glycothymolin), ग्लूकोस ३० प्र. श. अथवा लवणघोल प्रयोग कर सकते हैं। गरारा कराने का जल गरम होना चाहिये। रूई गरम कर बाहर से कण्ठ सेकने से पीड़ा मे कमी होती है। **पीड़ा** के लिये सिबालजिन (Cebalgin), कोडीन (Codeine), एसपिरीन (यो. ६२) आदि का प्रयोग कर सकते हैं। प्रारम्भ मे रोगी के सिर के नीचे तकिया देना अच्छा नहीं है। हृदय मे विकृति रहने की सम्भावना प्रतीत होने पर शैय्या के पैर की ओर का भाग ऊँचा कर देना चाहिये।

(३) **भोजन** :—प्रारम्भ मे तरल आहार (पृ. ४) उपयुक्त है। मुख से आहार ग्रहण न कर सकने पर नासामार्ग से राइल की नलिका (Ryle's-tube) आमाशय मे प्रवेश कर इस नलिका द्वारा तरल आहार देना चाहिये। आहार की मात्रा तथा प्रकृति में शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। ठोस पदार्थ आरम्भ करने में शीघ्रता नहीं करना चाहिये। इसके पूर्व अर्ध-तरल

आहार देकर रोगी के पचन शक्ति का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

(४) **विशिष्ट चिकित्सा :—रोहिणी निरोधी लसिका** (Anti-diphtheric serum) :—निदान के तत्काल पश्चात रोग की तीव्रता के अनुसार यह औषधि पेशीमार्ग (I.M.) से प्रयोग करना चाहिये। साधारण अवस्था मे इस औषधि की प्रथम मात्रा ८००० अ. इ. (I. U.) तथा गम्भीर अवस्था मे २०,००० अ. इ. होनी चाहिये। यह औषधि प्र. १२ घं. पर पुनः प्रयोग करना चाहिये। इस औषधि के पूर्व उपवृक्की (Adrenaline) ½ सी. सी. तथा कोलो कैलसियम (Colo calcium) १ सी. सी. का अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से इन्जेक्शन देने से अनवधानता (Anaphylaxis) की सम्भावना अल्प रहती है। लसिका के इन्जेक्शन को स्थगित करने के पूर्व कला (Membrane) अदृश हो जानी चाहिये। लसिका द्वारा चिकित्सा के निम्न **सिद्धान्तों** को ध्यान मे रखना आवश्यक है। (क) रोग की सम्भावना प्रतीत होने पर यथासम्भव **शीघ्र** ही लसिका का प्रयोग करना चाहिये। चिकित्सा प्रारम्भ करने मे जितना विलम्ब होता है उतना ही रोगमुक्त होने की आशा कम होती जाती है। यदि रोहिणी के निदान मे शका प्रतीत हो तब लसिका का प्रयोग करना ही अच्छा है। (ख) यथासम्भव औषधि की सम्पूर्ण मात्रा **एक बार** देने का ही प्रयत्न करना चाहिये। (ग) **औषधि की मात्रा**, रोग की अवधि, उसकी गम्भीरता रोग का प्रकार, रोगी का भार तथा विकृति के स्थान पर निर्भर करती है। (घ) औषधि को **सिरामार्ग** से प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। रोग की अत्यन्त साधारण अवस्था में तथा रोगी को लसिका के लिये असहनशीलता (Sensitive) रहने पर पेशी मार्ग ही उपयुक्त है। (ङ) प्रत्येक रोगी मे लसिका प्रयोग करने के पूर्व **असहनशीलता** (Sensitivity) के लिये देख लेना चाहिये। असहनशील (Sensitive) रहने पर अत्यंत अल्प मात्रा मे औषधि का पेशीमार्ग से अनेक बार प्रयोग कर रोगी को सहनशील (Desensitize) कर लेना आवश्यक है। (च) औषधि की मात्रा आवश्यकता से कम की अपेक्षा **अधिक** रहना ही अच्छा है। (छ) सिरा (Vein) न मिलने पर औषधि **को उदरावरण** मे (Intraperitoneally) भी प्रयोग कर सकते हैं। (ज) साधारण लसिका की अपेक्षा संकेन्द्रित (Concentrated) तथा **स्वच्छ** (Refined)

लसिका उत्तम है। औषधि, विश्वासनीय औषधि निर्माता की बनी होनी चाहिये। (फ) **युवावस्था** मे लसिका की मात्रा बाल्यावस्था की मात्रा की दूनी होनी चाहिये।

असहनशीलता की कसौटी (Sensitivity test) :—परिवार मे अनूर्जता जन्य (Allergic) रोगो का इतिहास रहने पर अथवा रोगी को ६ दिन के पूर्व यदि किसी कारण से लसिका का इन्जेक्शन दिया गया हो तब प्रतिक्रिया (Reaction) होने की सम्भावना रहती है। इन रोगो का इतिहास रहने पर लसिका के प्रयोग मे विशेष सावधानी आवश्यक है। **असहनशीलता** का पता लगाने के लिये रोगी के अग्रबाहु (Forearm) पर अन्तःस्त्वकमार्ग (I. D.) से लसिका की एक बूँद इन्जेक्शन द्वारा प्रवेश करना चाहिये। इन्जेक्शन वाला स्थान यदि १० मिनट मे लाल रङ्ग का हो जाय तब रोगी लसिका सहन नही कर सकता। यदि यह लालिमा न हो तब रोगी लसिका सह सकता है और लसिका की पूर्ण मात्रा का इन्जेक्शन दिया जा सकता है।

बाल्यावस्था में रोहिणी निरोधी लसिका (Anti-diphtheric serum) की सम्पूर्ण मात्रा अं. इ में

रोहिणी का प्रकार तथा विकृति का स्थान	मात्रा
(अ) साधारण प्रकार :—	५००० से ४०,०००
(क) नासागत (Nasal)	५०००.
(ख) ग्रसनिका मे (Pharyngeal)	१०,०००.
(ग) स्वरयन्त्रीय (Laryngeal)	१०,०००.
(आ) गम्भीर प्रकार :—	२०,०००–८०,०००.
(क) ग्रसनिका मे	२०,०००.
(ख) व्रण (Ulcer), नेत्रकला (Conj) पर	२०,०००.
(इ) परम गम्भीर प्रकार :—	४०,०००–८०,०००.
(क) ग्रसनिका मे	४०,०००.
(ख) नासा-ग्रसनिका मे (Naso-pharyngeal)	४०,०००.
(ग) चिकित्सा प्रारम्भ होने मे विलम्ब होने पर	४०,०००–२ लक्ष तक
(घ) स्वरयन्त्रीय (Laryngeal)	५०,०००.
(ङ) गलतोरणिका मे (Faucial)	५०,०००.

चिकित्सा की दृष्टि से रोहिणी के तीन प्रकार माने गये है:—(क) **साधा-**

रण प्रकार:-इस प्रकार में मिथ्या कला (Membrane) का आकार अत्यन्त लघु होना चाहिये और साथ-साथ विषमयता (Toxaemia) के लक्षण नहीं मिलने चाहिये। लसग्रन्थियों (Lymph glands) की वृद्धि नहीं रहनी चाहिये। इस प्रकार में प्रायः एक बार ही औषधि की सम्पूर्ण मात्रा का इञ्जेक्शन देना पर्याप्त होता है। **(ख) गम्भीर प्रकार :**—इस प्रकार में मिथ्याकला प्रायः दो स्थानों में मिलती है जैसे कण्ठ में दोनों गलतोरणिकाओं (Fauces) अथवा दोनों तुण्डिकाओं (Tonsils) पर। इस प्रकार में साधारण विषमयता तथा लसग्रन्थियों की सामान्य वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार में तालिका में दी गई मात्रा को २४ घण्टे पश्चात् एक बार पुनः देना अच्छा है। **(ग) परमगम्भीर प्रकार :**—इस प्रकार में रोहिणी के समस्त लक्षण पूर्ण तथा स्पष्ट रूप से मिलते हैं जैसे, विषमयता, लसग्रन्थियों की वृद्धि, मूत्र में शुक्लि (Alb) तथा निर्मोक (Cast) आदि का मिलना, तन्द्रा (Drowsiness), नाड़ी की गति तीव्र तथा अनियमित होना, गलतोरणिका (Fauces) के समीप शोफ (Oedema) होना आदि। इस अवस्था में :—कला (Membrane) प्रायः स्पष्ट तथा वृहदाकार होती है, परन्तु रोग की गम्भीरता कला (Membrane) के आकार पर निर्भर नहीं करती। इसके लिये उपर्युक्त वर्णित लक्षणों के लिये देखना चाहिये और उसी के अनुसार औषधि की मात्रा निर्धारित करना चाहिये। इस प्रकार में उपर्युक्त वर्णित सम्पूर्ण मात्रा को प्रति दिन तबतक देना चाहिये जब तक रोगी लक्षण-रहित न हो जाये।

(५) अन्य औषधियाँ :—(क) पेनिसिलीन (P.) :—यह औषधि रोहिणी की विश्वस्त औषधि नहीं है। इसके प्रयोग से रोग की अवधि में परिवर्तन नहीं होता। यह औषधि मालागोलाणु (Strepto), स्तवकगोलाणु (Staphylo) आदि द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के जीवाणुओं पर प्रभावशील है और रोहिणी के जीवाणुओं का भी शनैः शनैः नाश करती है। इसलिये यह औषधि रोगी के कण्ठ से रोहिणी के जीवाणुओं का अन्त करने में सहायता करती है और संवाहक (Carrier) अवस्था उत्पन्न होने में कमी करती है। रोग की तीव्रता के अनुसार पेनिसिलीन 'जी' (P. 'G') १/२–१ ल. अं. इ. प्र. ३ घं. पर पेशीमार्ग से अथवा प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr. P.) २–४

ल. अं. इ. ए. या द्वि. प्र. दि. पेशीमार्ग से इन्जेक्शन देना चाहिये। इस ओषधि को प्रायः एक सप्ताह प्रयोग करना पड़ता है। इस औषधि का रोहिणी के जीवाणुओं को नष्ट करने का प्रभाव यद्यपि उत्तम नहीं है फिर भी लसिका (Serum) द्वारा चिकित्सा करते समय इस औषधि का भी प्रयोग करना चाहिये। लसिका केवल रोहिणी के विष को नष्ट करती है और पेनिसिलीन रोहिणी के जीवाणुओं का नाश करती है।

(ख) इलियोटाइसीन (Itn) :—यह औषधि मुख द्वारा प्रयोग की जाती है परन्तु अभी प्रायोगिक अवस्था मे है इसलिये पूर्णरूप से इस पर निर्भर नहीं किया जा सकता, परन्तु लसिका (Serum) के इन्जेक्शन के साथ-साथ इसका भी मुख द्वारा प्रयोग करना चाहिये। **मात्रा** :—बाल्यावस्था मे ५० मि. ग्रा. प्र. ४ घं. पर मुख द्वारा देना चाहिये।

(ग) सल्फा (S.) ओषधियाँ :—ये ओषधियाँ मुख द्वारा द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग रोकने के लिये प्रयोग की जाती है। **मात्रा** :—सल्फाथियाजोल (S-thiazole) या डियाजीन (Diazine) बाल्यावस्था मे १/२ गो. त्रि. प्र. दि. कर ४–६ दिन तक दें।

(६) उपद्रवों की चिकित्सा :—**(क) हृत्पेशीशोथ** (Myocarditis) :—इस अवस्था की कोई सन्तोषप्रद चिकित्सा नही है। शैय्या के पैर की ओर का भाग ऊँचा कर देना चाहिये। पूर्ण विश्राम आवश्यक है। हृदय को उत्तेजित करने वाली औषधियाँ (Stimulants) निराशाजनक हैं। सावधानी पूर्वक सिरामार्ग (I. V.) से ग्लूकोस २५ प्र. श. १०० सी. सी. प्र. दि. देना चाहिये। ग्लूकोस सिरामार्ग से तथा इनसुलीन (Insulin) अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से इन्जेक्शन देने से ग्लूकोस के समवर्त (Mbm) मे सहायता मिलती है। ग्लूकोस की जितनी मात्रा ग्राम (Gm.) मे हो उसकी आधी मात्रा इनसुलीन की अ. इ. मे होनी चाहिये। उदाहरणस्वरूप ग्लूकोस २५ प्र. श. १०० सी. सी. मे ग्लूकोस २५ ग्राम होता है इसलिये इनसुलिन १२½ अं. इ. होनी चाहिये। नाड़ी की गति तीव्र तथा अनियमित होने पर आ. अ. डिजिटेलिस (पृ. १०७) अथवा क्वीनीडीन (पृ. ११३) का प्रयोग करना चाहिये। प्राणवायु (O_2) के प्रयोग से लाभ होता है। शैशवावस्था मे डिजिटेलिस तथा स्ट्रोफेनथिन (Strophanthin) का प्रयोग नही करना चाहिये। उपवृक्कीय

अधिवृक्क बाह्यक सत्व (Adrenal cortical ext :) पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग कर सकते हैं। साथ-साथ **वमन** होने पर मुख से आहार बन्द कर अधस्त्वक मार्ग (S. C.) अथवा गुदामार्ग से लवण जल का प्रयोग करना चाहिये। हृत्प्रदेश (Precordium) पर **पीड़ा** होने पर गरम पानी की बोतल से हृत्प्रदेश को सेकना चाहिये। (ख) **परिसरीय रक्तवाहिनी निपात** (Peripheral-failure) की उपयुक्त (पृ. २३४) चिकित्सा करना चाहिये। कोरामीन, इफेड्रीन (Ephedrine), एड्रीनलीन (Adrenaline), एट्रोपीन (Atropine), केफीन साइट्रस (Caffeine cit :) आदि का अ। अ. प्रयोग कर सकते हैं।

(ग) **अङ्गघात** (Paralysis) :—इस अवस्था की चिकित्सा विकृति के स्थान तथा लक्षण के अनुसार की जाती है। महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) मे अंगघात होने से श्वसन क्रिया विकृत होती है। इसके लिये रोगी को लौह-फुफ्फुस (Iron-lung) में रखकर अनेक दिन तक कृत्रिम-श्वसन (Artificial respiration) कराना पड़ता है। साथ-साथ प्राणवायु (O_2) तथा कार्बनडाईऑक्साइड (CO_2) का भी प्रयोग करना चाहिये। हाथ-पैर का अंगघात होने पर **कुशा** (Splint) आदि के द्वारा वक्रता बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। नवं (IX.) शीर्षण्य वातनाड़ी (Cranial N.) का घात होने से तरल पदार्थ पीने पर वह आमाशय मे न जाकर नाक द्वारा निकलता है। इस अवस्था मे गुदामार्ग से अथवा राइल की नलिका (Ryle's tube) के द्वारा आमाशय मे पौष्टिक पदार्थ प्रवेश कराना चाहिये। मुख द्वारा आहार देने पर तरल पदार्थ की अपेक्षा अर्धतरल (पृ. ४) पदार्थ अधिक उपयुक्त है।

(घ)— **वातनाड़ी शोथ** (Neuritis) अथवा **वातनाड़ी** शूल के लक्षण होने पर स्ट्रिकनीन (Strychnine), जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit: B : complex) तथा यकृत सत्व (Liver ext :) का इन्जेक्शन देना चाहिये। टि. नक्सवोमिका (Tr. nucisvom) युवावस्था मे मि. १० त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। जीवतिक्ति 'बी'$_1$ (Vit: B_1) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। रोग की साधारण अवस्था मे मुख द्वारा ईस्टन का शर्बत (Easton's syr :) प्रयोग करे। अंगघात मे मालिश, बिजली, सेंक आदि बाह्य उपचार करने से भी लाभ होता है।

(ङ) **श्वसन मार्ग में रुकावट** होने से श्वास लेने में कठिनाई होती है। इस अवस्था मे प्रायः शल्यकर्म (Op.) करना पड़ता है। शल्यकर्म करने का निश्चय करने के पूर्व रोहिणी निरोधी लसिका (Anti toxic serum), पेनिसिलीन (P:) तथा इलियोटाइसीन (Iliotysin) आदि का परिणाम देख लेना चाहिये। इन औषधियो के प्रयोग से शल्यकर्म की आवश्यकता अत्यन्त कम हो गई है। कण्ठ को बाहर से सेकने अथवा एक लोटा गरम पानी मे टि. बेनजोइन (Tr. benzoin) च. २ डालकर भाप को सूघने से लाभ होता है। शैशवावस्था मे यह क्रिया करना सम्भव नही है इसलिये रोगी को मसहरी के अन्दर रखकर रबर की नलिका से मसहरी के अन्दर १०-१५ मिनट तक भाप प्रवेश करा सकते है। यह क्रिया त्रि. या चा. प्र. दि. कर सकते हैं। इनसे लाभ न होने पर **कला** (Membrane) को नलिका से यन्त्र द्वारा चूसकर (Suction) निकाल सकते हैं या कण्ठनलिका मे रबर की नलिका प्रवेश (Intubation) करा सकते है अथवा कण्ठनलिका को काटकर (Tracheotomy) श्वसनमार्ग का निर्माण कर सकते है। श्वास लेने मे कष्ट की वृद्धि होने पर यह क्रिया श्यावता (Cyanosis) उत्पन्न होने के पूर्व करना चाहिये।

(च) **विषमयता** (Toxaemia) की प्रधानता प्रतीत होने पर ग्लूकोस तथा जल की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस अवस्था मे सिरामार्ग (I. V.) से ग्लूकोस १२½ प्र. श. २५ से १०० सी. सी. तक प्र. दि. प्रवेश कराने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तब गुदामार्ग से ग्लूकोस, लवण तथा सोडी-बाइकार्ब (यो. ११२) बूँद-बूँद कर प्रवेश करना चाहिये। यह घोल प्रति बार २–४ औं. प्रवेश कराने के पश्चात् १–२ घंटा बन्द कर पुनः प्रारम्भ करना चाहिये। जबतक रोगी मुख से पर्याप्त जल न ले सके तबतक यही क्रम चलना चाहिये। आ. अ. अधस्त्वक मार्ग (S C.) से समबल लवण घोल (N. saline) भी १६ औं. तक प्र. बा. प्रयोग कर सकते हैं। अत्यन्त गम्भीर अवस्था मे **रक्तप्रदान** (Blood transfusion) से भी लाभ होता है। रोगी यदि मुख से जल ले सके तब एक ग्लास जल मे ग्लूकोस च. २ तथा सोडी-बाइकार्ब च. १/२ मिला कर बराबर पीने के लिये दें। रोगमुक्त हो जाने के पश्चात् पौष्टिक औषधियों द्वारा स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। इसके लिये मछली का तेल, सम्पूर्ण जीवतिक्तियों के योग (Multivit:) आदि प्रयोग करना चाहिये।

(७) **परमगम्भीर अवस्था की चिकित्सा** :—हृदय तथा रक्त-प्रवाह का निपात (Collapse) बचाने के लिये प्रचुर मात्रा में ग्लूकोस का प्रयोग सर्वोपरि है। इस अवस्था में लसिका (Serum) की सम्पूर्ण मात्रा को ग्लूकोस के ५ प्र. श. घोल के पा. १–२ में मिला कर सिरामार्ग से लगातार देना चाहिये। ग्लूकोस का घोल समबल लवणघोल (N. saline) मे बनाना चाहिये। इस प्रकार लसिका की सम्पूर्ण मात्रा प्रवेश कराने के पश्चात् प्र. दि. सिरामार्ग से ग्लूकोस का १२½ से २५ प्र.श. घोल १००–२०० मी. सी. तब तक देना चाहिये जब तक अनिष्ट की सम्भावना हो। अधिक जलाल्पता (Dehydration) अथवा विषमयता (Toxaemia) प्रतीत होने पर सिरामार्ग से ग्लूकोस ६¼ प्र. श. पा. १–२ बूँद ४० प्र. मि. की गति से प्रयोग कर सकते हैं। **लसिकाजन्य रोग** (पृ. २२६) होने पर उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये।

कुकुरखाँसी (Whooping cough)

परिचय :—कुकासदंडाणु (Haemophilus - pertussis) जन्य यह औपसर्गिक रोग प्रायः बाल्यावस्था मे ६ मास से ५ वर्ष की आयु मे होता है। रोग प्रायः एक ही बार होता है इसलिये रोग का पूर्व इतिहास नहीं मिलता। अत्यन्त औपसर्गिक होने के कारण परिवार के प्रायः सब बच्चों मे, जिनमे यह रोग पहले हुआ नहीं रहता उनमे रोग के होने की प्रबल सम्भावना रहती है। बच्चे की आयु जितनी कम रहती है उतना ही रोग उग्र रूप धारण करता है और उपद्रवो के कारण बालक की मृत्यु हो सकती है। प्रारम्भ में ही रोग अधिक औपसर्गिक होता है इसलिये प्रायः निदान के पूर्व ही रोगी अन्य बालको मे उपसर्ग फैला देता है। रोग की दो अवस्थायें होती हैं (१) **प्रसेकी** (Catarrhal) तथा (२) **प्रावेगिक** (Paroxysmal)। प्रसेकी अवस्था प्रायः २ सप्ताह रहती है। इस अवस्था में विशिष्ट चिकित्सा विशेष लाभप्रद होती है। प्रावेगिक अवस्था मे ६ सप्ताह के पश्चात् लक्षणो की तीव्रता में कमी होने लगती है। इस अवस्था मे विशिष्ट औषधियों का प्रभाव उत्तम नही होता। इस अवस्था मे कास औदवेष्ठनिक (Spasmodic) हो जाता है इसलिये खाँसी कम करने के लिये उद्वेष्ठन निरोधी (Anti-spasmodic) औषधियों से लाभ होता है। प्रथम अवस्था मे प्रायः

ज्वर होता है परन्तु द्वितीय अवथा मे ज्वर होना उपद्रव का सूचक है। रोग में भो. प. वमन की प्रकृति होने के कारण रोगी दुर्बल होता जाता है, इसलिए रोगी को वमन होने पर भी आहार देना चाहिये और उसके पोषण पर विशेष ध्याय देना चाहिये। जीवन के प्रारम्भ मे कदाचित रोगी को माता से कुछ रोग-क्षमता (Immunity) प्राप्त होती है इसलिये प्रथम ६ मास की आयु मे यह रोग प्रायः कम मिलता है। प्रायः ५० प्र. श. रोगी ६ मास से दो वर्ष की आयु मे मिलते हैं। बालक की अपेक्षा बालिकाओ मे रोग होने की अधिक सम्भावना रहती है परन्तु बालिकाओ की अपेक्षा बालकों मे रोग अधिक मारक होता है। दिन की अपेक्षा रात्रि मे कास अधिक कष्टप्रद होता है। आधुनिक विशिष्ट चिकित्सा के आविष्कार के पूर्व प्रायः २० प्र. श. रोगियों की मृत्यु हो जाती थी। बड़े बालकों की अपेक्षा कम आयु वाले रोगियों मे मृत्यु संख्या अधिक होती है। रोग का सञ्चयकाल (I.P.) प्रायः १–२ सप्ताह है।

निदान :—लक्षणों की दृष्टि से जबतक अन्तःश्वसन के समय अप्राकृतिक ध्वनि (Whoop) की उत्पत्ति नही होती तब तक निदान मे कठिनाई होती है। कास के पश्चात वमन का होना महत्वपूर्ण है। बाल्यावस्था, पड़ोस मे अन्य बालकों मे रोग का होना, नेत्रकला मे रक्तश्राव (Conj:haemorrhage) होना, आदि लक्षणों से निदान में सहायता मिलती है। निदान की दृष्टि से निम्न परीक्षाये की जा सकती है :—

(क) कुकास दण्डाणु (H. pertussis) की खोज :—रोगी के कठ से स्राव लेकर उसको सवर्ध (Culture) कर कुकास के जीवाणुओ का पता लगाया जा सकता है। प्रसेकी (Catarrhal) अवस्था मे ही इस परीक्षा का महत्व है। औदवेष्ठनिक (Spasmodic) अवस्था मे प्रायः लक्षणों से ही निदान हो जाता है और इस अवस्था मे रोगी के कण्ठ मे कुकास दण्डाणुओ की संख्या मे पर्याप्त कमी हो जाती है।

(ख) रक्तपरीक्षा :—इस परीक्षा मे श्वेतकणो (W. B. C.) की संख्या मे पर्याप्त वृद्धि होती है। इनकी सख्या २०,००० प्र. घ. मि. मी. तक पहुँच सकती है। यह वृद्धि विशेष कर लसकायाणुओ (Lympho) में ही होती है इसलिये सापेक्ष गणन (D. C.) मे इनकी सख्या ५० से ८०

प्र. श. तक हो सकती है। इस प्रकार का रक्त मे परिवर्तन अन्य रोगो में प्रायः कम मिलता है इस लिये इसका निदान की दृष्टि से विशेष महत्व है।

उपद्रव :—रोग की अवधि प्रायः ३मास है। यह समय व्यतीत हो जाने पर रोगी प्रायः स्वय ही स्वस्थ होता है परन्तु रोग की अपेक्षा उपद्रव अधिक भयकर होते हैं। ये उपद्रव सामान्य से लेकर अत्यन्त गम्भीर हो सकते है। विशिष्ट चिकित्सा से रोग की अवधि कम की जा सकती है साथ साथ उपद्रवो की संभावना भी अल्प हो जाती है। श्वसनीशोथ (Bronchitis), श्वसनी-फुफ्फुसपाक (Broncho-pneumonia), मध्यकर्ण शोथ (Otitis-media), जिह्वासीवनी (Fraenum linguae) पर व्रण, यक्ष्मा तथा आक्षेप (Convulsions) आदि उपद्रव होते है। कठ मे उद्वेष्ठन (Spasm) होने के कारण रोगी की अकस्मात् मृत्यु हो सकती है। रोग की प्राकृत अवधि के पश्चात् यदि कास तथा ज्वर का शमन नहीं हो तब यक्ष्मा (T. B.) की संभावना पर ध्यान देना आवश्यक है। पतले दस्त होना, मूत्र तथा मल परित्यागके नियंत्रण मे कमी, अंधता, वाधिर्य, मस्तिष्क (Cerebral) मे तथा नेत्रकला (Conj:) के नीचे रक्तस्राव, अंगघात (Paralysis), प्रलाप (Delirium) तथा मतिभ्रम (Hallucination) आदि मानसिक उपद्रव भी संभव हैं।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—बालकों को रोग से बचाने के ३ उपाय हैं। (१) रोहिणी, धनुर्वात तथा कुकास (Diphtheria, tetanus, W. C. toxoid) **टॉक्सोयेड** का इञ्जेक्शन (२) कुकास **मसूरी** (Vaccine) (३) हाइपर इम्यूनसिरम (Hyperimmune serum) या गामाग्लोब्यूलिन (Gammaglobulin) का पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग। इसकी मात्रा का वर्णन आगे (पृ.४१२) देखिये। प्रथम दोनो विधियां से सक्रिय (Active) तथा तृतीय विधि से निष्क्रिय क्षमता (Passive immunity) उत्पन्न होती है।

सक्रिय **क्षमता** उत्पन्न करने के लिये **टॉक्सोयेड** की प्रथम मात्रा ६ मास की आयु के पहले, द्वितीय मात्रा २ वर्ष की आयु पर तथा तृतीय मात्रा ५ वर्ष की आयु पर देना चाहिये। **मसूरी** की मात्रा का वर्णन आगे देखिये। **निष्क्रिय क्षमता** उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रायः उन बालकों में होती

है जो रोगी के सम्पर्क मे आ चुके है। रोग के प्रारम्भ मे रोगी अधिक औपसर्गिक रहता है। रोग निवृत्त होने के १ मास पश्चात रोगी के शरीर से जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और रोग फैलाने की सभावना कम हो जाती है।

(ख) रोग के आरम्भ मे मसूरी (Vaccine) तथा औरियोमाइसीन (Au) का प्रभाव उत्तम है। कास के आवेग के लिये टि० बेलाडोना (Tr. belladonna) का प्रयोग करना चाहिये। आहार विशेष रूप से पौष्टिक होना चाहिये।

कुकास मसूरी (Vaccine, petein Sch) :—यह औषधि रोग से बचने तथा चिकित्सा दोनो अवस्थाओ मे प्रयोग की जाती है। प्रथम दिन १००० करोड़ जीवाणु, तृतीय दिन तथा पचम दिन प्र.दि. २००० करोड़ जीवाणु का पेशीमार्ग से इन्जेक्शन देना चाहिये। औषधि की तीनो मात्रायें अलग अलग मिलती है और प्रतिपेध तथा चिकित्सा दोनों के लिये उपर्युक्त मात्राएं पर्याप्त है। साथ-साथ यक्ष्मा की संभावना रहने पर इस औषधि का प्रयोग नही करना चाहिए। प्रायः चिकित्सा प्रारम्भ करने के ८ स १० दिन के अन्दर लाभ होता है। साथ-साथ मुख या गुदामार्ग से औरियोमाइसीन (Au) आदि विशिष्ट औषधियाँ भी प्रयोग कर सकते हैं।

(ग) **विशिष्ट औषधियाँ** :—औरियोमाइसीन (Au), क्लोरोमाइसिटीन (Cln), इलियोटासीन (Itn), टेरामाइसीन (Tn) आदि औषधियाँ मुख या गुदामार्ग से प्रयोग की जा सकती है। इन औषधियो को प्र. दि. मि. ग्रा. २५–५० प्र. से. भा. के अनुसार देना चाहिये। बालकों के लिये क्लोरोमाइसेटीन पामिटेट (Cln-palmitate P. D.) का घोल अच्छा है। इसकी एक सी. सी. मे ३१ मि. ग्रा. औषधि रहती है। चाय का च. १=४ सी. सी.=१२५ मि. ग्रा.। इलियोटाइसीन (Itn-'Ly') तथा औरियोमाइसीन (Au) की प्र. गो. १०० मि. ग्रा. की होती है। औरियोमाइसीन की गोली जल मे घुल सकती है। इन औषधियो को निम्न मात्रा मे देना चाहिये। ये मात्राये प्र. दि. की है।

इन मात्राओं को ४–६ भाग में विभाजित कर, ४–६ बार प्र. दि. देना चाहिए। यदि रोगी मुख मार्ग से औषधि न ले सके तब गुदा मार्ग का प्रयोग करना चाहिए।

आयु	मुख मार्ग से	गुदा मार्ग से
0 से ६ मास	१०० से ५०० तक	२०० से १००० तक
६ मास से १ वर्ष	२०० से १००० तक	४०० से २००० तक
१ वर्ष से ६ वर्ष	४०० से २००० तक	४०० से २००० तक
६ वर्ष से १२ वर्ष	६०० से ३००० तक	आवश्यकता नहीं होती
१२ वर्ष के ऊपर	१००० से ६००० तक	,, ,,

नोट :—उपर्युक्त मात्रायें मि.ग्रा. में हैं। इन औषधियों को ६ दिन देना पर्याप्त है। उपर्युक्त मात्रा से यदि एक सप्ताह मे लाभ न हो तब ३-४ दिन औषधि और देना अच्छा है। स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) प्र. दि. ग्रा. १ विभाजित कर एक सप्ताह पेशीमार्ग से दे। पोलीमिक्सीन (Px.) पेशी-मार्ग से ५ मि. ग्रा. प्र. से. भा. दे सकते हैं, परन्तु औषधि विषाक्त है।

(घ) अन्य चिकित्सा :—रोग के प्रारंभ मे प्रायः ज्वर रहने के कारण **तरल आहार** (पृ.४) देना ही अच्छा है। आहार अल्प मात्रा मे अनेक बार कास के उद्वेग के पश्चात देना चाहिये। वमनके भय से आहार में कमी नहीं करना चाहिये। वमन द्वारा आहार की जितनी मात्रा का परित्याग हो जाय उतना आहार और देने का प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा पोषणाभाव की सम्भावना रहती है।

रोगी को स्वच्छ वायु में रखना चाहिये परन्तु रोगी को शीत के प्रभाव से बचाना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये रोगी को भींगने से बचाना चाहिये तथा शीतल वायु के सामने नहीं रखना चाहिये। इस रोग मे प्रायः मल-मूत्र का परित्याग अनियन्त्रित हो जाता है इसलिये शिशु का वस्त्र भीग जाने पर तत्काल बदल देना चाहिये। ऋतु के अनुसार रोगी के शरीर पर पर्याप्त वस्त्र होना चाहिये। भारतवर्ष में अनेक स्थानो मे किसी-किसी ऋतु मे प्र. दि. के न्यूनतम तथा उच्चतम ताप मे ३०° फा. तक का अन्तर हो जाता है। इन ऋतुओ मे प्रायः शीत लगने का भय होता है। शीत के प्रभाव से पतले दस्त होने लगते हैं इसलिये शीतकाल मे गरम कपड़े से शिशु के उदर को बाँध कर रखना चाहिये। कुछ लोगों का विश्वास है कि मसूरिका (Smallpox) से बचने के लिये जो टीका (Vaccination) लगाया जाता है उससे कुकास

की गम्भीरता तथा लक्षणों में कमी होती है। **कास** कम करने के लिये समय समय पर अनेक औषधियों का प्रयोग किया गया है।

१—इनमें सर्वप्रथम **टिं. बेलाडोना** (Tr. Belladonna) का प्रयोग है। इस औषधि से लाभ होने के लिये यह आवश्यक है कि साधारण विषमयता के लक्षण उत्पन्न हो जैसे, कनीनिकाओं की अभिस्तीर्णता (Dilatation of pupils), गला सूखना, प्यास लगना आदि। साधारणतः बालक की आयु जितने वर्ष की हो, औषधि की प्रत्येक मात्रा मिनिम मे इन वर्षों की आधी होनी चाहिये। इस मात्रा को त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते है। १० वर्ष के बालक को ५ बूँद त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। विषमयता के लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि बंद कर देना चाहिये।

२—**ईथर तथा जैतून का तेल** (Ether, ol : olive) गुदामार्ग से रबर की नलिका (Catheter) द्वारा दिया जाता है। इन दोनों औषधियों की बराबर बराबर मात्रा मिला कर घोल बनाना चाहिए। इस घोल को बनाकर १ वर्ष से कम आयु वाले रोगी को ड्रा. $\frac{१}{२}$, एक वर्षमे ड्रा १, २ वर्ष मे ड्रा २, इसी प्रकार प्रतिवर्ष आयु के लिए ड्रा. १ की मात्रा मे औषधि गुदामार्ग से ए. प्र. दि. देना चाहिए। औषधि प्रयोग करने के आध घण्टे के अन्दर मल परित्याग हो जाने पर औषधि का पुनः प्रयोग करना चाहिए। ईथर १–२ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से भी प्रयोग कर सकते है परन्तु यह पीड़ाकर है।

३— **इफेड्रिन हाइड्रोक्लार** (Ephedrine hyd) :—यह औषधि बाल्यावस्था मे अत्यन्त सावधानी पूर्वक प्रयोग करना चाहिए। आध्मान (Tympanites), बेचैनी, अधिक पसीना आदि लक्षण होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिए। बाल्यावस्था मे यह औषधि आयु के अनुसार ग्रे. $\frac{१}{८}$ से $\frac{१}{४}$ द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। शैशवावस्था मे अफीम का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन औषधियों के मिश्रित योग (यो. १८) भी प्रयोग किए जा सकते हैं।

४—**शामक** (Sedatives) **औषधियाँ** :—कास कम करने तथा निद्रा लाने के लिए निम्न शामक औषधियाँ प्रयोग कर सकते हैं। ये मात्रायें ३ वर्ष की आयु वाले रोगी की हैं :—

(**च**) **शामक घोल** (यो. २२) :—इस घोल की १ मात्रा का $\frac{१}{२}$ भाग त्रि. प्र. दि. दें।

(छ) **पल्व इपिकाक को** (Pulv : ipecac co:) ग्रे. २, **परट्यूसिन** (Pertussin) च. ४, स्वर्ण के योग (Gold tri: Bromide) ग्रे. २१/७, फेनाजोन (Phenazone) ग्रे. २, ऐन्टीपाइरीन (Antipyrine) ग्रे. २ या लियूमिनल (Luminal) ग्रे. १/२ त्रि. प्र. दि. मो. प. दे सकते हैं।

एक प्याला जल मे **सोडी-बाइकार्ब** (Sodi : bicarb) ड्रा. १/२ मिलाकर रोगी को द्वि. प्र. दि. पिलाने से वमन होता है और आमाशय (St) साफ हो जाता है। इससे बार बार वमन करने की इच्छा नही होती। वक्ष पर **पुराना घृत**, लिनिमेन्ट (Lt : A.B.C.) आदि की मालिश कर सकते हैं। एक लोटा गरम पानी मे **टि. बेनजोइन** च. १ मिलाकर उसकी भाप सूंघने से भी लाभ होता है। **कनवेलेसेन्ट सिरम** (Convalescent serum) ५ सी. सी. पेशीमार्ग (I.M.) से अथवा माता या पिता का रक्त १० सी. सी. दो तीन, दिन, ए. प्र. दि. पेशीमार्ग (I.M.) से प्रयोग कर सकते है। वक्ष पर क्ष-किरण (X-ray) अथवा अल्ट्रावायोलेट (U.V.) किरण लगाने से भी लाभ होता है। **कोकेन** (Cocaine) का ५–१०प्र.श. घोल जल तथा ग्लिसरीन मे बनाकर कान के अन्दर कर्णपटह (Drum) मे ए. या. द्वि. प्र. दि. लगाने से खाँसी मे कमी होती है। **हाइपरइम्यूनसिरम** (Hyper-immune serum) पेशीमार्ग (I.M.) से २० सी. सी. प्र. दि. या **गामाग्लोब्यूलीन** (Hyper :immune gamma globulin) २·५ सी. सी. पेशी मार्ग से ४-५ बार देने से लाभ होता है।

(ङ) **उपद्रवों की चिकित्सा :—आक्षेप** (Convulsions) के लिये शामक औषधियाँ (Sedatives), कटिवेध (L.P.) तथा प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिये। **मध्यकर्ण शोथ** (Otitis-media), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि उपद्रव द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग (Ifn) के कारण होते है इसलिये पेनिसिलीन (P.) सल्फा (S) आदि का प्रयोग करना चाहिये। शरीर के भिन्न भागों मे चाप (Pressure) की वृद्धि के कारण आन्त्रवृद्धि (Hernia), गुदभ्रंश (Prolapse), नेत्रकला मे रक्तस्राव (Conj : bleeding) आदि उपद्रव होते हैं। इनकी चिकित्सा, कारण तथा लक्षणों के अनुसार करनी चाहिये।

पाषाण गर्दभ (Mumps)

परिचय :—यह विषाणु (Virus) जन्य तीव्र औपसर्गिक रोग प्रायः शीतऋतु मे ५–१२ वर्ष की आयु मे होता है और प्रायः लालाग्रंथियो (Salivary glands) मे विकृति उत्पन्न करता है। सर्वप्रथम वाम कर्णमूल ग्रंथि (Parotid) मे विकृति होती है। शीघ्र ही दक्षिण ओर की ग्रथि मे विकृति होती है। अन्य स्थानो मे भी विकृति हो सकती है जैसे बीजग्रथिशोथ (Oophoritis), वृषणग्रंथिशोथ (Orchitis), अग्न्याशयशोथ (Pancreatitis), सावरणमस्तिष्कशोथ (Meningoencephalitis) आदि। रोग का सचयकाल (I.P.) प्रायः तीन सप्ताह है। विकृति कर्णमूल ग्रन्थि (Parotid) के अतिरिक्त किसी भी लालाग्रथि में हो सकती है। खट्टे भोजन से विकृत लालाग्रंथि मे पीड़ा होती है। कभी कभी जिह्वा मे संवेदना (Sensation) नष्ट हो जाती है परन्तु यह अवस्था अस्थायी है। ग्रीवा के समीप की लसग्रन्थि (Lymph-glands) भी विकृत हो सकती है। लालाग्रथि मे शोथ प्रारम्भ होने के तत्काल पूर्व से लेकर, शोथ का पूर्णरूप से शमन हो जाने तक की अवधि पर्यन्त रोगी दूसरे मे रोग फैला सकता है। **वृषणग्रंथि** मे शोथ के कारण पीड़ा होती है। **अग्न्याशय** (Pancreas) मे शोथ होने के कारण उदर मे पीड़ा होती है। सावरणमस्तिष्कशोथ (Meningo encephalitis) होने पर तन्द्रा (Drowsiness), शिर मे पीड़ा आदि लक्षण होते है। **निदान** की दृष्टि से मस्तिष्क मे विकृति होने पर ब्रह्मवारि (C.S. fluid) की परीक्षा से सहायता मिल सकती है। रोगसन्निवृत्ति (Convalescence) की अवस्था मे संपूरक बंधन (Compliment fixation) कसौटी अस्त्यात्मक (+) होती है। यह रोग ज्वर के अभाव मे भी हो सकता है।

चिकित्सा:–(क) **प्रतिषेध**:–रोग से बचने के लिये विषाणु (Virus) से बनी मसूरी (Vaccine) का प्रयोग कर सकते है। जो मनुष्य रोगी के सम्पर्क मे आ गये हों उनको कनवेलेसेन्ट सिरम (Convalescent serum) २० सी. सी. पेशीमार्ग (I.M.) से देना चाहिये। रोगी को प्रायः एक मास पृथक रखना चाहिये। रोग प्रायः संवाहको (Carrier) द्वारा फैलता है। इसलिये रोगी के सम्पर्क मे आए हुए लोगो का ध्यान रखना आवश्यक है।

(ख) **साधारण चिकित्सा :**—इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है इसलिए लक्षणों के अनुकूल चिकित्सा करनी चाहिए। **ओरियोमाइसीन** (Au) २५० मि. ग्रा. त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। रोग अत्यन्त औपसर्गिक होने के कारण जब तक कर्णमूल ग्रंथि मे शोथ कम न हो जाय तब तक रोगी को पृथक रखना चाहिए। विश्राम में कमी होने पर उपद्रवों की संभावना रहती है इसलिए जब तक ज्वर प्राकृत न हो जाय रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिए और तरल **आहार** (पृ. ४) लेना चाहिए। मुख शुद्ध रखना आवश्यक है इसके लिए लिस्टरीन (Listerine) आदि से कुल्ला करना चाहिए। **पीड़ा** के लिए सिबाल्जिन (Cibalgin) की एक गोली आ. अ. अथवा एसपिरीन (यो. ६२) आदि का प्रयोग कर सकते है। लालाग्रन्थि पर इक्थियोल बेलाडोना (यो.७७) लगाने से पीड़ा कम होती है। कब्ज न हो इसका ध्यान रखना चाहिए। **वृषणग्रन्थिशोथ** (orchitis) प्रायः एक सप्ताह पश्चात होता है और एक सप्ताह मे ठीक होता है। इसके लिए स्टिल्बेस्ट्रौल (Stilboestrol) मि. ग्रा. $\frac{1}{2}$–१$\frac{1}{2}$ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। कनवेलेसेन्ट गामाग्लोब्यूलिन (Convalescent gamma globulin) २·५ सी. सी. पेशीमार्ग (I.M.) से देने से वृषणग्रन्थिशोथ आदि उपद्रव होने की कम संभावना रहती है। यह उपद्रव हो जाने पर वृषण ग्रन्थि (Testes) पर बरफ का ठंडा लेप अथवा इक्थियोल बेलाडोना (यो. ७७) का गरम लेप लगाने से पीड़ा कम होती है। ग्रन्थि को लँगोट से उठाकर रखना चाहिए। सिबाल्जिन (Cibalgin), मोरफीन (M & A) आदि औषधियों का प्रयोग कर सकते हैं।

बीजग्रन्थिशोथ (Oophoritis), **अग्न्याशयशोथ** (Pancreatitis), बाधिर्य (Deafness), दृष्टिनाड़ीशोथ (Optic neuritis) की चिकित्सा लक्षणों के अनुसार है। **शिर में** अत्यधिक **पीड़ा** होने पर कटिवेध (L. P.) किया जा सकता है। यह लक्षण मस्तिष्क मे विकृति होने का सूचक है। यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि ये सब उपद्रव रोग के ही लक्षण हैं और कर्णमूलग्रन्थि (Parotid) मे विकृति न रहने पर भी ये लक्षण मिल सकते हैं।

(ग) **पाषाण गर्दभ की आयुर्वेदिक चिकित्सा :**—इस रोग में मुख शुद्धि परमावश्यक है। कर्णमूलग्रन्थि पर शोथ होने पर सेक कर उस पर

दशाग लेप लगाना चाहिये। पथ्य में केवल लघु व तरल पदार्थ देना चाहिये। आवश्यकतानुसार विरेचक औषधि अथवा आस्थापन वस्ति द्वारा कोष्ठ शुद्धि कर लेना हितकारी है।

औषधि प्रयोग :—

(१) मृत्युञ्जय ४ र.
दन्ती भस्म ४ र.
चन्दनादि लौह ४ र.
मि. ४ मात्रा शेफाली स्वरस व मधु से।

अथवा

संजीवनी ३ व.
रस सिन्दूर १ र.
मि. ३ मात्रा मधु से

(२) गुग्गुलु वटी १/२ मात्रा प्रायः सायं उष्णोदक से।

(३) सेंक व दशाग लेप।

श्लीपद (Filaria)

परिचय :— श्लीपद कृमि (Wuchereria-bancrofti) जन्य यह रोग शरीर में व्यापक विकृति उत्पन्न करता है। **निदान** की दृष्टि से सूक्ष्म-श्लीपदी (Microfilaria) के लिये खोज करना पड़ता है परन्तु श्लीपद (Elephantiasis) की अवस्था में लसवाहिनियों (Lymph channels) का मार्ग शोथ के कारण अवरुद्ध हो जाने पर रक्त में सूक्ष्मश्लीपदी के मिलने की सम्भावना नहीं रहती। इस अवस्था में लक्षणों तथा अनूर्जता (Allergy) के प्रमाणों पर निर्भर करना पड़ता है जैसे, रक्त में उषसिप्रिय (Eo) का २० प्र. श. तक हो जाना आदि। सूक्ष्मश्लीपदी **रक्त** के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी मिल सकते हैं जैसे पायसमेह (Chyluria) की अवस्था में **मूत्र** में तथा लसवृषण (Lymph scrotum) आदि में लसिका (Lymph) में। इसलिये निदान की दृष्टि से निम्न **परीक्षायें** की जाती हैं :—

(१) **सूक्ष्मश्लीपदी** (Microfilaria) के खोज की निम्न विधियाँ है :—

(क) सूक्ष्मश्लीपदी (Microfilaria) का मिलना रोग का निश्चित प्रमाण है। इस परीक्षा के लिये रात्रि में निद्रित अवस्था में रोगी के रक्त की तीन-चार बूँद कॉचपटरी (Slide) पर रख कर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) से देखने से जीवित सूक्ष्मश्लीपदी सर्प के समान दिखाई पड़ते है। ये अपने स्थान पर तीव्रता से हिलते रहते हैं। रक्त को पटरी पर सुखा

लेने के पश्चात्, रञ्जन (Stain) करके भी परीक्षा की जा सकती है। पायस (Chyle) में भी सूक्ष्मश्लीपदी मिल सकते हैं।

(ख) एसिटिक एसिड (Acetic acid) के २ प्र. श. घोल के ९ सी. सी. में २ सी. सी. रोगी का रक्त मिला कर ५ मिनट तक केन्द्रापसारित (Centrifuge) करना चाहिये। तत्पश्चात् नीचे से तलछट (Sediment) निकाल कर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने से सूक्ष्मश्लीपदी दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार पायसमेह (Chyluria) में मूत्र को केन्द्रापसारित (Centrifuge) कर तलछट (Sediment) की परीक्षा कर सकते हैं। यह परीक्षा दिन या रात्रि किसी भी समय कर सकते हैं। दिन में परीक्षा करते समय रक्त की मात्रा अधिक लेना पड़ता है। पायसमेह (Chyluria) की अवस्था में सूक्ष्मश्लीपदी रक्त में प्रायः सर्वदा ही मिलते हैं।

(२) **अनूर्जता** (Allergy) **का प्रमाण** :—रक्त में उपसिप्रिय (Eo) की वृद्धि के अतिरिक्त श्लीपदकृमि (Filaria worm) के शरीर से प्रतिजनक (Antigen) तैयार कर, सूई द्वारा मनुष्य की त्वचा में प्रवेश कराने से इस रोग में परीक्षा के स्थान की त्वचा रक्तवर्ण हो जाती है और परीक्षा अस्त्यात्मक (+) होती है।

(३) **रोगक्षमता** (Immunity) **का प्रमाण** :—शरीर में श्लीपदकृमि का उपसर्ग रहने पर श्लीपदकृमि के शरीर से प्रतिजनक (Antigen) बना कर रोगी के रक्त में सम्पूरक बन्धन (Compliment fixation) परीक्षा भी कर सकते हैं। श्लीपदकृमि का उपसर्ग रहने पर यह परीक्षा अस्त्यात्मक (+) होती है।

चिकित्सा :—(क) **प्रतिषेध** :—रोग से बचने के लिये विषमज्वर (पृ.) के समान मच्छरों को नष्ट करना चाहिये। मसहरी आदि लगा कर सोने से मच्छरों के काटने से बच सकते हैं। अभी तक ऐसी किसी औषधि का आविष्कार नहीं हुआ है जिसके प्रयोग करने से उपसर्ग से बचा जा सके।

(ख) **साधारण** :—रोग की तीव्र अवस्था में रोगी को विश्राम करना तथा तरल आहार (पृ.२८२) लेना चाहिये। ज्वर, कब्ज आदि के लिये साधारण चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर तीव्र होते समय कम्प (Rigor) अधिक कष्टप्रद होने पर एक प्याले गरम जल में २ चम्मच शहद तथा आधा नीबू का रस मिला कर पीना चाहिये। जिस स्थान में शोथ हो उसको ऊँचा उठा

कर रखने से, विश्राम देने से तथा उस स्थान पर गुलांड लोशन (Goulard lotion) से ठण्डक अथवा इक्थियोल बेलाडोना (यो. ७७) लगाकर गर्मी पहुँचाने से पीड़ा में कमी होती है। द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के कारण शोथ होने पर पेनिसिलीन (P.) तथा सल्फा (S.) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। पूयभवन (Suppuration) होने पर शल्यकर्म (Op.) करना आवश्यक है।

चिरकालीन अवस्था में आत्म-मसूरी (Auto-vaccine), टी. ए. बी. (T.A.B.), दुग्ध (पृ. ३६) आदि का इंजेक्शन देना चाहिये। श्लीपद (Elephantiasis) प्रारम्भ होने पर नीचे से ऊपर की तरफ मालिश कर पट्टी (Elastic bandage) बाँधने से शाखा के आकार की वृद्धि में कमी होती है। पायसमेह (Chyluria) में साधारण चिकित्सा तथा विशिष्ट औषधि के अतिरिक्त मूत्र से मसूरी (Vaccine) बना कर इन्जेक्शन दे सकते हैं और मूत्र से रक्तस्राव होने पर हेमेमेलिस (Hemmamelis) आदि का योग (यो. २४) त्रि. प्र. दि. देना चाहिये।

(ग) विशिष्ट चिकित्सा :—(१) **हेट्राजान** (Hetrazan Le):—सूक्ष्मश्लीपदी (Micro-filaria) पर इस औषधि का अच्छा प्रभाव है। यह औषधि धातुरहित है तथा मुख द्वारा प्रयोग की जाती है। इसकी प्रत्येक गोली ५० मि. ग्रा. की होती है। १५० पौंड (Lb.) के रोगी को एक मास तक एक गोली त्रि. प्र. दि. देनी चाहिये। **बैनोसाइड** (Banocide. B. W.& Co.) तथा कारबिलाजीन (Carbilazine. U.C. B), डाइ-एथिलकार्बामाजीन (Diethyl-carba-mazine Co) आदि भी इसी प्रकार की औषधियाँ हैं। विषाक्त होने के कारण इन औषधियों को लगातार सात दिन से अधिक नहीं देना चाहिये। एक सप्ताह औषधि देने के पश्चात् ३-४ दिन औषधि बन्द रखना अच्छा है। इन औषधियों की **विषाक्तता** होने पर विस्फोट (Rash), मिचली, वमन, शिर में पीड़ा आदि लक्षण हो सकते हैं।

(२) **अंजन** (Sb) :—इस औषधि का इन्जेक्शन कालज्वर (K.A.) के समान दिया जाता है।

(३) **संखिया** (As) के योग:—**एन. ए. बी** (N. A. B) ग्रा. ०·१५ से प्रारम्भकर ग्रा. ०·४५ तक सिरामार्ग (I.V.) से ए.प्र.स. कर ८–१० बार इन्जेक्शन दे सकते हैं। परिणाम अनिश्चित है। संखिया के प्रयोग के

समय शुल्कि (Alb.) के लिये बराबर मूत्र परीक्षा करते रहना आवश्यक है ।

(घ) **अन्य चिकित्सा**:— (१) **फ्लोरीन** (Fluorine) के योग:— श्लीपद (Elephantiasis) मे **फ्लोरोसिड** (Florocid) का पेशी मार्ग (I. M.) से इन्जेक्शन देने से विकृत भाग के आकार मे कमी होती है। यह **फ्लोरीन** का योग है। श्लीपद कृमि (Milrofilaria) पर इसका कोई प्रभाव नहीं है। यह तॉत्विक धातु (Fibrous tissue) को नष्ट करती है। इसके प्रयोग के साथ-साथ विकृत भाग को पट्टी से बॉध कर रखना आवश्यक है। (२) **फाइलोसिड** (Filocid), **आर्सिनो टायफायड** (Arseno-typhoid) आदि का एक एम्प्यूल द्वि.प्र.स. पेशीमार्ग से दिया जाता है। **पायस मेह** (Chyluria) में मूत्र से रक्त भी आने से एड्रिनलीन (यो. ६०) से मूत्राशय (Bladdar) धो सकते हैं।

आंत्रकृमि (Intestinal worms)

परिचय :—इन रोगों के लक्षण प्रायः निम्न अवस्थाओं पर निर्भर करते है :— (१) कृमि के आकार के अनुसार **अवरोध** (Obst) की उत्पत्ति। (२) **अनूर्जता** (Allergy) के लक्षण (३) **विषमयता** (Toxaemia) के लक्षण (४) रक्तस्राव तथा लालरक्तकणों (R.B.C) के नष्ट होने से **रक्ताल्पता** (Anaemia) की उत्पत्ति। (५) श्लीपद (Filaria) मे **द्वितीयक** (Secondary) उपसर्ग के कारण शोथ के लक्षण। (६) अंकुश कृमि (H. W.) आदि के इल्ली (Larva) के भिन्न भागों मे भ्रमण के कारण **स्थानिक लक्षण** जैसे भूविचर्चिका (Ground itch), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि। (७) **आहार विपर्यय** के कारण शरीर मे जीवतिक्ति (Vit:), प्रोटीन (Ptn) आदि की कमी। इसलिये चिकित्सा की दृष्टि से इन अवस्थाओ का ध्यान मे रखना अच्छा है।

इन रोगों का **निदान मल** मे कृमि मिलने पर अथवा कृमि के अण्डे मिलने पर निर्भर करता है। अन्य लक्षण प्रायः अनिश्चित होते है। कभी-कभी वमन, मुख अथवा नाक द्वारा भी केचुये (R.W) निकलते हैं और निदान मे सहायक होते हैं। केचुये आकार मे बडे होने के कारण रोगी को मुख द्वारा वैरियम (Barium meal) देकर **क्ष-किरण** (X-ray) द्वारा उदर की

परीक्षा करने पर रस्सी के समान प्रतीत होते हैं। चिकित्सा प्रारम्भ करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनकी चिकित्सा मे प्रायः जो औपधियाँ प्रयोग की जाती है वे विषाक्त होती हैं और साथ साथ विरेचक (Purgative) औपधियो के कारण रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। कृमि की भयकरता के अनुसार रक्ताल्पता आदि के कारण रोगी पर्याप्त दुर्बल हो चुका रहता है, इसलिये विशिष्ट औपधि देने के पूर्व यथासमव रक्ताल्पता आदि की चिकित्सा कर लेनी चाहिये तथा रोगी को पौष्टिक आहार तथा औषधि देकर उसकी दुर्बलता मे कमी करना चाहिये। शरीर मे प्रोटीन (Ptn), जीवतिक्ति (Vit:) आदि की कमी रहने पर इसका भी प्रबन्ध करना चाहिये। केलसियम (Cal), जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C), ग्लूकोस (Glucose), क्षार (Alkali) तथा अमायनोएसिड (Aminoacid) आदि देकर यकृत को विकृत होने से बचाना आवश्यक है। कभी कभी केचुये (R. W.) का अत्यधिक उपसर्ग रहने पर रोगी को अल्प मात्रा मे औषधि देने से कृमि कार्यशील हो जाते हैं और रोगी को महान कष्ट होता है, इसलिये औषधि की मात्रा पर्याप्त रहना अच्छा है। विशिष्ट चिकित्सा का क्रम समाप्त होने के एक सप्ताह पश्चात दो, तीन बार लगातार मल परीक्षा कर कृमि के अण्डों के लिये देखना चाहिए। आ. अ. पुनः विशिष्ट औपधि का प्रयोग करना चाहिए। ये औषधियाँ प्रायः ३ बार एक-एक सप्ताह के अन्तर मे दी जाती हैं। कार्बनटेट्राक्लोर (Carbon tetrachlor) तथा टेट्राक्लोर एथ्लिीन (Tetrachlor-ethylene) से केचुये क्रियाशील हो जाते हैं और अवरोध उत्पन्न कर सकते है। सूत्रकृमि (Thread-worm) के अडे प्रायः मल परीक्षा मे नहीं मिलते। इनका पता लगाने के लिए गुदा के चारो ओर गीली रूई मे पोंछकर काच की पट्टी पर रूई रगड़ कर देखना चाहिए। केचुए (R. W.) के उपसर्ग मे प्रायः रक्ताल्पता नहीं होती।

(अ) केचुये का उपसर्ग (Ascariasis)

चिकित्सा (१) सेन्टोनीन (Santonin) :—यह इस रोग की विशिष्ट औपधि है। यह औपधि मद्य (Alcohol) तथा क्लोरोफोर्म (Chloroform) मे घुल जाती है इसलिए इन औषधियों का साथ-साथ प्रयोग वर्जित है। एरण्ड के तैल (Ol. Recini) मे अत्यल्प मात्रा मे घुलने के कारण इसका प्रयोग कर सकते हैं। सैण्टोनिन की **विषाक्तता**

(Toxicity) के कारण मल-मूत्र पीतवर्ण हो जाते हैं। प्रत्येक वस्तु पीली दिखाई पड़ती है। ये लक्षण साधारण हैं परन्तु वमन, मिचली, शिरःशूल, भ्रम (Vertigo), आक्षेप (Convulsions), मूत्रकृच्छ्र (Dysuria), शोणितमेह (Haematuria) आदि लक्षण गम्भीर विषमयता के सूचक हैं। सैन्टोनीन के प्रयोग की निम्न विधियाँ हैं :—

(क) सैन्टोनीन की ग्रे. २ (यो.७१) की एक पुड़िया प्रति रात्रि निरन्तर तीन दिन तक देना चाहिये। प्रथम व तृतीय मात्रा के पश्चात् दूसरे दिन प्रातः काल एरण्ड का तैल १ औं. या मैगसल्फ (Mag: sulph:) ड्रा ४ देना चाहिये। **बाल्यावस्था** मे आयु के अनुसार ½ से १ ग्रे. से अधिक सैन्टोनिन या कैलोमेल का प्रयोग नहीं करना चाहिये। (ख) उपर्युक्त मात्रा को दो या तीन भाग मे विभाजित कर मध्याह्न के पश्चात् प्र. ३ घं. पर भी दी जाती है। औषधि देने के पूर्व, दिन मे मैगसल्फ ड्रा ४ देकर विरेचन कराना चाहिये। और रात्रि मे हल्का भोजन करना चाहिये। औषधि देने के दूसरे दिन प्रातः काल पुनः मैगसल्फ द्वारा विरेचन कराना चाहिये। (ग) सैन्टोनीन ग्रे. २ (यो.७१) की एक पुड़िया रात्रि मे सोने के पूर्व दें। दूसरे दिन प्रातःकाल मैगसल्फ ड्रा. ४ देना चाहिये। १० दिन के अन्तर पर दो बार पुनः औषधि देना चाहिये। (घ) **बौनबौन** (Bonbon) की गोली बच्चों को दी जाती है।

(२) **हेक्सिलरिसोर्सिनौल** (Hexylresorcinol) :— इस औषधि का एक योग **क्रिस्टौयेड्स** (Crystoids. S D.) हैं। इसके ०.२ ग्रा. के कैपस्यूल आते हैं। इनको जल से निगलना पड़ता है। चबाना नहीं चाहिये। औषधि कम विषाक्त है। औषधि की सम्पूर्ण मात्रा खाली पेट पर प्रातःकाल एक बार मे देना चाहिये। औषधि देने के ६ घण्टे पश्चात् तक भोजन नही देना चाहिए। ६ वर्ष से कम की आयुमे कै.२, ६ से ८ वर्ष मे कै.३, ८–१२ वर्ष मे कै. ४ और १२ वर्ष से ऊपर कै.५ देना चाहिए। चिकित्सा के पूर्व तथा चिकित्सा की अवधि पर्यन्त मद्य का प्रयोग निषेध है। इसके देने की निम्न विधि है :– **प्रथम दिन** संध्या समय हल्का भोजन दें। **प्रथम दिन** रात्रि मे मैगसल्फ (Mag: sulph) ड्रा ४ दे। **द्वितीय दिन** ६ बजे प्रातःकाल विशिष्ट औषधि (क्रिस्टौयड) की सम्पूर्ण मात्रा दे। द्वितीय दिन ८ बजे दिन मे मैगसल्फ ड्रा. ४ दें। यदि मल परित्याग न हो तब २ घण्टे पश्चात् पुनः मैगसल्फ ड्रा ४ दें।

(२) **अन्य औषधियाँ** :—चीनोपाडियम तैल (Ol. Chenopodium) का भी प्रयोग किया जाता है। इसका वर्णन अंकुशकृमि की चिकित्सा में देखिये। **हेट्राजान** (Hetrazan) का प्रयोग श्लीपद (Filaria) की चिकित्सा के समान है। इसमें विरेचन (Purge) की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(आ) सूत्रकृमि (Thread-worm, pinworm, seatworm, oxyuris or enterobius vermicularis) का उपसर्ग

परिचय :—यह रोग प्रायः बच्चों में होता है। एक परिवार के अनेक लोगों में पाया जा सकता है। सब आयु में रोग मिल सकता है। गन्दी आदतों के कारण बालक गुदा खुजलाने के पश्चात भोजन के पूर्व यदि हाथ ठीक से नहीं धोते तब कृमि के अण्डे मुख में जाते हैं। नख ठीक से नहीं काटने से इस उपसर्ग में सहायता मिलती है। आन्त्र में पहुँचने पर अण्डों में से कृमि निकलती हैं। प्रारम्भ से कृमि क्षुद्रान्त्र (Small intestines) में रहतीं है परन्तु शीघ्र ही भ्रमण करने लगती है और बृहदान्त्र (Colon) में पहुँच जाती है। यह कृमि १/२ इञ्च से छोटी होती है और जब अण्डा देने का समय होता है तब मादा कृमि विशेष कर रात्रि में गुदा के बाहर पहुँच कर अण्डा देती है और उस स्थान पर खुजली करती है। भ्रमण करते करते कृमि योनि-गुहा (Vagina) में पहुँचकर शोथ तथा खुजली उत्पन्न कर सकती है। इन लक्षणों के अतिरिक्त नाक में खुजली, क्षुधानाश, आन्त्रशूल, पतले दस्त, बेचैनी, उदर से सम्बन्धित अनेक प्रकार के अस्पष्ट लक्षण, मतिभ्रम,(Hallucination), निद्रानाश, चिड़चिड़ापन, वातनाडी संस्थान (C.N.S.) के लक्षण, गुदा के समीप प्रक्षोभ होने से मूत्रपरित्याग की संख्या में वृद्धि, रात्रि में शैय्या में मूत्रपरित्याग, रक्ताल्पता (Anaemia), हस्तमैथुन आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—रोग से बचने के लिए स्वच्छ आदतें सीखना चाहिए। नख को ठीक से काटना, दांत से नख को न काटना, गुदा आदि गंदे स्थानों का न खुजलाना, भोजन के पूर्व हाथ को ठीक से धोना, गुदा के सम्पर्क में आने वाले वस्त्र को प्र. दि. साबुन से धोना, मलपरित्याग करने के पश्चात गुदा तथा हाथ को साबुन से ठीक से धोना आदि साधारण स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धान्तों पर चलना चाहिये। यह रोग प्रायः रोगी से

स्वस्थ मनुष्य में फैलता है। रोगी अपनी गन्दी आदतों से स्वयं अपने को बराबर उपसृष्ट करता रहता है, इसलिये परिवार के सब लोगों को जिनमें यह रोग हो उनकी एक साथ चिकित्सा करनी चाहिये। रात्रि में रोगी को पैजामा पहनकर सोना चाहिये जिससे सरलता से हाथ निद्रा में गुदा पर न पहुँच सके। प्र. दि. स्नान करना चाहिये तथा शैय्या की चादर द्वि. प्र. स. गरम जल में उबालना चाहिए अथवा धोबी को देकर भट्टी पर चढवाना चाहिए।

(ख) **चिकित्सा की विधि** :—इस रोग की चिकित्सा में तीन प्रकार से औषधियाँ प्रयोग की जाती हैं, **मुख द्वारा** विशिष्ट औषधियाँ क्रिमि को मारने के लिए दी जाती हैं। इन औषधियों के पश्चात विरेचक (Purgative) औषधि देना आवश्यक नहीं है। कुछ औषधिया **गुदामार्ग** से दी जाती हैं। गुदा पर खुजली कम करने के लिए **गुदा पर** कुछ औषधियाँ लगाई जाती है।

(१) **मुख द्वारा** दी जाने वाली विशिष्ट औषधियाँ :—(क) **पिप्रेजीन हाइड्रेट** (Piprezine hydrate, antipar syrup. B. W. & Co) :—यह औषधि शर्बत के रूप में है इस लिये बालकों में सरलता से दी जा सकती। **बाल्यावस्था** में इस औषधि का च. १ त्रि. प्र. दि. कर ७ दिन देना चाहिये। दो सप्ताह औषधि बन्द कर आ. अ. इसका पुनः प्रयोग कर सकते हैं।

(ख) **जेन्शियन वायलेट** (Gentian violet) :—यह औषधि हिमेनोलेपिसनाना (Hymenolepis nana) में भी लाभदायक है। यह एक प्रकार की स्फीत-कृमि (Tape worm) है जो प्रायः बाल्यावस्था में मिलती है। इस औषधि का योग **मेरोक्सिल** (Meroxyl-Wan) मिलता है। इसकी दो प्रकार की गोली मिलती है। **साधारण** गोली बालकों के लिये ०·०३ ग्रा. की तथा युवकों के लिये ०·०६ ग्रा. की होता है। **बालक को** आयु के अनुसार ग्रा. ०·०३ की १ से ३ गोली प्र. दि. तथा युवा को ०·०६ ग्रा. की गो. १ त्रि. प्र. दि. एक सप्ताह पर्यन्त भोजन के १ घंटा पूर्व देना चाहिये। **तत्पश्चात्** एक सप्ताह औषधि बन्द कर मल परीक्षा करनी चाहिये। आ. अ. पुनः एक बार ७ दिन तक औषधि प्रयोग कर सकते हैं। ये औषधियाँ **विषाक्त** हैं इसलिये उदर में कष्ट, जी मिचलाना, वमन, मल का रंग बैंगनी हो जाना आदि लक्षण हो सकते हैं। इन लक्षणों के होने पर

औषधि की मात्रा एक तिहाई कर देना चाहिये अथवा औषधि एकदम बन्द कर देना चाहिये। ये औषधियाँ पानी से निगल जाना चाहिये, चबाना नहीं चाहिये। यकृत या वृक्क में विकृति रहने पर ये औषधियाँ नही देना चाहिये।

(ग) **डाइफेनानम** (Diphenanum B. P.) :—इसकी मात्रा ७½–१५ ग्रे. है। इसकी ७½ ग्रे. की गोली आती है। औषधि विपाक्त नही है। इसके प्रारम्भ करने के ३–४ दिन पूर्व प्रति रात्रि क्वासा का एनिमा (Quassia enema) लगाना चाहिये। बालको में ½ से १ गो. तथा युवा में २ गो. त्रि. प्र. दि. कर ७ दिन देना चाहिये। मृत कृमि को निकालने के लिये आठवें दिन अरण्ड का तेल (Ol. recini) आयु के अनुसार च. १ से औं. १ तक देना चाहिये। एक सप्ताह औषधि बन्द कर पुनः एक सप्ताह औषधि दें। चिकित्सा अधिक प्रभावशाली करने के लिये डाइफेनान देने के पश्चात् द्वितीय तथा चतुर्थ सप्ताह मे जेनशियन वायोलेट (Gentian violet) भी दे सकते हैं।

(घ) **अन्य औषधियाँ (१) मेथिलिन ब्लू** (Methylene blue) :—मेथिलिन ब्लू ३ ग्रे. कैपस्यूल द्वारा त्रि. प्र. दि. कर एक सप्ताह पर्यन्त देना चाहिये। (२) **बूटालोन** (Butalon : 'Ba') :—यह बालको मे १/२ से १ गो. त्रि. प्र. दि. दी जाती है। (३) **निक्सोलान** (Nyxolan H.H.D.C) :—यह औषधि भी शर्वत के समान है।

(ङ) **संयुक्त चिकित्सा** :—(१) टेट्राक्लोर-इथेलिन तथा चीनोपोडियम तैल का भी प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग की विधि अकुश-कृमि (H. W.) की चिकित्सा मे वर्णन की गई है। ये औषधियाँ बाल्यावस्था के लिए उपयुक्त नही हैं। सैन्टोनीन (Santonin), हेक्सिलरिसौरसिनोल (Hexyl-resorcinol) आदि का भी प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग की विधि केंचुये (R.W.) की चिकित्सा मे देखिए।

(२) एनिमा (Enema) :—प्रथम १० औ. जल मे २ ड्राम लवण (Nacl) घोलकर एनिमा लगाना चाहिये। तत्पश्चात इसी मात्रा मे क्वासा (Quassia) का एनिमा लगाना चाहिये। क्वासा के स्थान पर हेक्सिलरिसौरसिनोल (Hexyl-resorcinol) ग्रे. २ को १० औ. जल मे घोल कर एनिमा लगा सकते हैं। एक पाइंट शीतल जल में क्वासा की लकड़ी १/२ औ. १२ घंटे भिगा कर प्रयोग करना चाहिए। प्रायः एक सप्ताह एनीमा

लगाकर, २-३ दिन बन्द कर पुनः एक सप्ताह एनिमा लगाना चाहिए। टैनिक एसिड (Tannic acid) १ प्र. श. या तूतिया (Copper: sulph) ०·००५ प्र. श. का भी एनीमा लगाया जाता है। अन्य औषधियाँ देने के पूर्व अथवा पश्चात भी एनीमा द्वारा चिकित्सा कर सकते हैं।

(३) **गुदा पर** लगाने की औषधियाँ :—कैलोमेल (Calomel) की मलहम १०-२० प्र. श., अथवा हाइड्रार्ज अमोनियाटा (Ung : hydrarg:ammoniata) की मलहम २-३ प्र. श.द्वि. या त्रि.प्र.दि. लगाने से खुजली कम होती है। व्रण के कारण पीड़ा होने पर न्यूपरकेन (Nupercrine 'Ca'), पैन्टोकेन (Pantocaine), नोवोकेन (Novocaine), अनेस्थेसीन (Anaesthesin) आदि की २-५ प्र. श. की मलहम लगा सकये हैं।

(६) अंकुशकृमि (Hookworm, ancylostoma duodenale)

परिचयः—इसके उपसर्ग की गम्भीरता जानने के लिये मल में कृमि के अण्डो की संख्या जानना आवश्यक है। इस कृमि का विष अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण रक्ताल्पता (Anaemia) उत्पन्न करता है और रक्तस्कन्दन काल (Coagulation time) को भी बढ़ा देता है। विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोगी को पौष्टिक औषधि तथा आहार, प्रोटीन (Ptn), लौह (Fe), जीवतिक्ति (Vit:) आदि देने से, लक्षणों की उग्रता में कमी होती है और रोगी पर विशिष्ट औषधि की विषाक्तता का प्रभाव कम पड़ता है। कभी कभी रोगी को पूर्ण रूप से इस उपसर्ग से निवृत्त करना असभव हो जाता है इसलिये विशिष्ट चिकित्सा का क्रम उपसर्ग की गभीरता पर निर्भर करता है। मल मे अंडों की संख्या जानने से उपसर्ग की गंभीरता का पता लगना है। अत्यन्त साधारण उपसर्ग म विषाक्त औषधियाँ देना उपयुक्त नही प्रतीत होता। साथ साथ केंचुये (R. W.) का उपसर्ग भी रहने पर प्रथम केंचुए की चिकित्सा क्रिस्टोयॅड (Crystoid. S. D.), हेट्राजान (Hetrazan) आदि से कर लेने के पश्चात अंकुशकृमि की चिकित्सा टेट्रक्लोरएथिलीन (Tetraclorethylene) से करना चाहिये अन्यथा केंचुए इधर उधर भागने लगते हैं और उदर मे पीड़ा आदि के अतिरिक्त अवरोध (Obst) कर सकते हैं।

चिकित्सा :—(क) विशिष्ट :—अंकुश कृमि की विशिष्ट चिकित्सा

प्रारम्भ करने के पूर्व यदि शोणवर्तुलि (Hb:) ५० प्र. श. से कम हो या लालकण (R.B.C.) की संख्या ५० ल. प्र. घ. मि. मी. से कम हो तब कृमि की विशिष्ट चिकित्सा करने के पूर्व रक्ताल्पता की चिकित्सा करनी चाहिए। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त लौह (Fe:) तथा यकृतसत्व (Liver-ext:) द्वारा रक्ताल्पता की चिकित्सा करनी चाहिये।

(१) **टेट्राक्लोर एथिलीन** (Tetra-chlor-ethylene):—यह औषधि प्रभावशाली तथा कम विषाक्त है। प्रयोग के समय इसकी मि.४५, कैपस्यूल में रखकर प्रातःकाल बिना भोजन किए रोगी को पिला देना चाहिये। आध घण्टे पश्चात् मैगसल्फ (Mag:sulph:) ४ ड्रा. देना चाहिये। यदि रोगी को दो घंटे में दस्त प्रारम्भ न हो तब मैगसल्फ ड्रा.४ पुनः देना चाहिये। दस्त हो जाने के पश्चात मध्याह्न में अर्धतरल आहार (पृ.४) देना चाहिए। समस्त दिन रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। इसी प्रकार १५दिन के अन्तर में यह औषधि दो बार पुनः देना चाहिये। तृतीय बार औषधि देने के पश्चात् रोगी की मल परीक्षा करनी चाहिए।

यह औषधि मि. १५ प्रति कै. **टेट्राकैप** (Tetracap. I. C. I.) के नाम से मिलती है। टेट्राक्लोर एथिलीन मि. ३० के साथ चिनापाडियम का तैल (Ol. chinapodium) मि. १५ कैपस्यूल में रखकर दे सकते हैं। अंकुशकृमि की यह चिकित्सा सर्वोत्तम मानी जाती है।

निम्न अवस्थाओं में टेट्राक्लोर ऐथिलीन तथा कार्बन टेट्राक्लोर नहीं देना चाहिये। :—मद्यपान करने वाला रोगी, कब्ज, यकृत तथा वृक्क के रोग, आदि। इन अवस्थाओं की चिकित्सा पहले कर लेने के पश्चात ये औषधियाँ देना चाहिये। चिकित्सा की अवधि में वसा (Fat) का प्रयोग हानिकर है। निम्न विधि से औषधि का अधिक प्रभाव होता है :—

प्रथम और द्वितीय दिन :—मद्य तथा वसा (Fat) निषेध है। कैलसियम जीवतिक्त 'सी' आदि की पुड़िया (यो.५७) त्रि.प्र.दि. दे। इससे यकृत में विकृति होने की संभावना कम होती है।

तृतीय दिन :—कैलसियम की पुडिया (यो.५७) त्रि.प्र.दि.दे.। रात्रि में हलका भोजन दें। सोने के पूर्व मैगसल्फ (Mag sulph) ड्रा. ४ जल में मिला कर दें। **चतुर्थ दिन** :— **प्रातःकाल** खाली पेट पर, टेट्राक्लोरएथिलीन की १५ मि. के तीन कैपस्यूल जल से रोगी निगले। २ घंटे पश्चात् मैगसल्फ

ड्रा. ४ दें । २–३ घंटे में दस्त न होने पर पुनः मैगसल्फ दें अथवा साबुन का एनीमा लगायें । **पंचम-षष्ठम** दिन कैलसियम की पुड़िया त्रि.प्र.दि. दे ।

(२) **कारबन टेट्राक्लोर** (Carbon-tetrachlor):—यह औषधि ट्रेटाक्लोर एथिलीन से अधिक विपाक्त है । इसके सेवन की विधि तथा मात्रा भी उसी के समान है । इस औषधि को रङ्गीन तथा बन्द शीशों में वायु से पृथक रखना चाहिए, अन्यथा इसकी विपाक्तता की वृद्धि होती है ।

विषाक्तता के लक्षण :—वमन, भ्रम, (Giddiness), शिरः शूल, कामला, (Jaundice), वृक्कशोथ (Nephritis) तथा उदर प्राचीर की अनम्यता आदि लक्षण होते हैं ।

विषाक्तता की चिकित्सा :—विशिष्ट औषधि के प्रयोग के पूर्व तथा पश्चात् कैलसियम (Cal lactate) ३० ग्रे. त्रि. प्र. दि. देना चाहिये । कैलसियम क्लोराइड (Cal chloride) का सिरामार्ग से इन्जेक्शन लगा सकते हैं । भोजन में ग्लूकोस (Glucose) तथा कार्बोज (Cho) की मात्रा अधिक और वसा (Fat) की मात्रा कम होनी चाहिए । शर्बत का अधिक मात्रा मे प्रयोग करना उत्तम है ।

सूचना :—बाल्यावस्था मे टेट्राक्लोर एथिलीन या कार्बन टेट्राक्लोर की अपेक्षा चीनोपोडियम का तैल अधिक उपयुक्त है ।

(३) **चीनोपोडियम का तैल** (Ol: chenopodium):—यह औषधि अत्यन्त शीघ्रता से प्रचूषित (Absorb) होती है । गर्भावस्था, वृक्क शोथ (Nephritis), हृदय, यकृत तथा दृष्टि की विकृतियो मे इसका प्रयोग निषिद्ध है । एरण्ड तैल (Ol:recini) के प्रयोग से इसकी विषाक्तता बढ़ती है । इस औषधि की युवावस्था मे अधिकतम मात्रा १५ बूँद है, इस मात्रा को कैपस्यूल मे बन्द कर प्रातःकाल बिना कुछ भोजन किये प्रयोग करना चाहिये । १५ मिनट पश्चात मैगसल्फ ४ ड्राम देना चाहिए । इस प्रकार प्रति दस दिन के अन्तर पर इस औषधि का दो बार पुनः प्रयोग करें । इस औषधि का योग **एसकेरिडोल** (Ascaridol) भी मिलता है । चिनोपोडियम के तैल से केचुये (R.W.) भी निकल जाते है । बाल्यावस्था मे यह औषधि बालक की जितनी आयु वर्ष मे होती है उतनी ही औषधि की बूंद दी जाती हैं । इसको निम्न विधि से भी दे सकते हैं :—

प्रथम दिन :—११ बजे सवेरे खिचड़ी आदि हलका तथा कार्बोज

(Cho) प्रधान भोजन देना चाहिये। रात्रि मे सोने के पूर्व मैगसल्फ (Mag : sulph) ड्रा. ४ जल मे दें।

द्वितीय दिन : प्रातःकाल खाली पेट पर चिनापोडियम का तैल मि. १५ कैपस्यूल मे रख कर दें। एक घण्टा पश्चात् पुनः इसी मात्रा मे औषधि दें। तीन घण्टे पश्चात् मैगसल्फ ड्रा. ४ जल मे मिला दे। आ. अ. दो सप्ताह पश्चात पुनः इसी क्रम से औषधि दे सकते हैं।

(४) हेक्सिल रिसौरसिनौल (Hexyl resorcinol, crystoids'S.D.'):—इसका प्रयोग केचुये (R.W.) की चिकित्सा के समान है।

(५) थाइमोल (Thymol) :—यह औषधि यकृत, वृक्क तथा हृदय के रोगो में प्रयोग नही करना चाहिये। वृद्धावस्था, अत्यन्त दुर्बल रोगी, प्रवाहिका (Dys :), पतले दस्त होने पर, वमन तथा गर्भावस्था मे भी यह उपयुक्त नहीं है। यह मद्य तथा वसा (Fat)मे घुलनशील है। इसलिए चिकित्सा के समय इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह औषधि बाल्यावस्था मे ग्रे. ५ से १५ तक तथा युवावस्था मे ग्रे. ३० से ६० तक दी जाती है। इसके प्रयोग की निम्न विधि है :—

प्रथम दिन :—प्रातःकाल हलका भोजन तथा सन्ध्या समय मैगसल्फ ड्रा.४देना चाहिये। सोडी-बाइकार्ब (Sodi:bicarb) ग्रे. २० त्रि.प्र.दि. दे।

द्वितीय दिन :—प्रातःकाल कैपस्यूल मे रखकर थाइमोल ग्रे. २० तथा सोडीबाइकार्ब ग्रे. २० रोगी निगल जाये। २ घण्टे के अन्तर मे पुनः यह औषधि इसी मात्रा तथा विधि से२बार और दे। औषधि की सम्पूर्ण मात्रा ग्रे.६० से अधिक न हो। अन्तिम मात्रा के दो घण्टे पश्चात मैगसल्फ ड्रा. ४ जल मे दे। जब तक ३–४ दस्त न हो जाय आहार न दें। आ. अ. पुनः मैगसल्फ दे सकते हैं। स्त्रियो मे थाइमोल की सम्पूर्ण मात्रा ग्रे. ४५ से अधिक नही होनी चाहिये। आ.अ.एक सप्ताह पश्चात् इसी प्रकार पुनः औषधि दे सकते है।

(ख) अन्य चिकित्सा :—विशिष्ट औषधि द्वारा चिकित्सा समाप्त हो जाने पर रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये तथा ध्यान रखना चाहिये कि रोगी को पुनः इसका उपसर्ग न हो। इसके लिये खेत आदि मे जाने के पहले जूता पहनना तथा उपसृष्ट जल तथा भोजन नही करना चाहिये। **स्वास्थ्यकर विधियों से** मल परित्याग करने का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये। खेतो मे मल परित्याग कर उसको खुले रहने देना ठीक नहीं है।

(ई) स्फीत कृमि (Tapeworm) का उपसर्ग

परिचय :—इस परिवार मे अनेक कृमि हैं। इनके कोष्ठ (Cysticercus) गाय, भैंस, सुअर, कुत्ते, मछली, चूहे आदि के शरीर मे मिलते हैं। इन जानवरों का मास खाने से उपसर्ग मनुष्य के आन्त्र मे प्रवेश कर कृमि की उत्पत्ति करता है। इन कृमियो के परिमाण मे बहुत अन्तर होता है। कुछ कृमि अत्यन्त छोटी तथा कुछ अत्यन्त बड़ी होती हैं। इनके उपसर्ग से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। इनका सचयकाल (I. P.) ३–४ मास है। रक्त-परीक्षा मे प्रायः श्वेतकायाणुओंकी वृद्धि (Leucocitosis) विशेष कर उपसिप्रिय (Eo) की वृद्धि मिलती है। किसी किसी कृमि के उपसर्ग में मल परीक्षा में कृमि के खण्ड (Segment, gravid proglottids) मिलते हैं तथा अन्य मे अण्डे मिलते हैं। जिनमे खण्ड मिलते हैं उनमें अण्डे कठिनाई से मिलते हैं क्योंकि इनके अण्डे भारी होने के कारण परमबल लवण घोल (S. S. of nacl) पर तैरते नहीं परन्तु नीचे चले जाते हैं। जब इनका शिर आन्त्र से निकल जाये तभी समझना चाहिये कि रोगी रोगमुक्त हो गया अन्यथा शिर आन्त्र मे रह जाने पर इनके शरीर की पुनः वृद्धि होने लगती है। इसलिये रोगी को विशिष्ट औषधि लेने के २४ घण्टे पश्चात तक, मल का निरीक्षण करना चाहिये। टीनियासोलियम (Tenea solium) के कोष्ठ (Gysticercus) प्रकृति मे सूअर के मास मे मिलते हैं परन्तु कभी-कभी इसके अण्डे भोजन द्वारा मनुष्य के आन्त्र मे प्रवेश करने पर मनुष्य के शरीर में कोष्ठ बना सकते हैं। अण्डे आन्त्र में पहुँच कर भ्रूण उत्पन्न करते हैं। ये भ्रूण (Embryo) मनुष्य के शरीर मे विशेष कर मस्तिष्क मे जाकर **कोष्ठ** बन जाते हैं और आक्षेप (Convulsions) आदि लक्षण होते हैं। ये कोष्ट टी. सोलियम, टी. सैजिनाटा तथा टी. ऐकौनीकोकस (T. echinococcus) में मिलते हैं। टी. ऐकोनीकोकस के कोष्ठ से बने रोग को कृमिकोष्टपुञ्ज (Hydatid) कहते हैं। ये प्रायः यकृत मे बनते है।

चिकित्सा :–(१) **फिलिक्स-मास** (Filix-mas) :—

प्रथम दिन :—अपूर्ण उपवास तथा मैगसल्फ (Mag : sulph :) ड्रा. ४। **द्वितीय दिन** :—अपूर्ण उपवास तथा मैगसल्फ ड्रा. ४। **तृतीय दिन** :—(क) प्रातःकाल ६ बजे :—फिलिक्समास मि. ६० कैपस्यूल मे

रख कर दें। **(ख) प्रातःकाल ८ बजे :**—मैगसल्फ ड्रा. ४ दें। **(ग) प्रातःकाल १० बजे :**—साबुन तथा जल का एनिमा लगायें।

सूचना :—चिकित्सा वाले दिन विश्राम करना चाहिए और जबतक पूर्ण रूप से मल परित्याग न हो जावे तबतक केवल गरम जल पीना चाहिए। इस औषधि को एक मास के पूर्व पुनः प्रयोग नही करना चाहिये। यह औषधि कब्ज, गर्भावस्था, शैशवावस्था, ज्वर, आन्त्रशोथ (Enteritis) तथा यकृत, हृदय, वृक्क आदि के रोगों मे प्रयोग नही करना चाहिये। औषधि देने के पूर्व २ दिन, वसा (Fat) तथा मद्य का प्रयोग नही करना चाहिये और अपूर्ण उपवास करना चाहिये। रोगी हलका भोजन, खिचड़ी, चावल आदि ले सकता है। विशिष्ट औषधि दो या तीन भाग मे विभाजित कर एक-एक घण्टे के अन्तर में भी दे सकते हैं। इस औषधि के योग है :—(क) फिलिक्समास का तरल सत्व (Ext: filicis:liq) मात्रा मि. ६०–१२० (ख) फिलिक्समास का शुष्क सत्व (Aspidium oleoresin) मात्रा ग्रे. ६०–७५।

(२) **संयुक्त चिकित्सा :**—टेट्राक्लोर एथिलीन (Tetrachlorethylene) तथा चीनोपोडियम तैल (Ol. Chenopodium) अंकुशकृमि की चिकित्सा के समान प्रयोग करना चाहिये। टेट्राक्लोर एथिलीन छोटे स्फीत कृमि पर कार्य नही करता। भोजन मे कुछ दिन तक वसा (Fat) का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(३) **अनार** (Pomegranate) :—अनार के वृक्ष के जड़ का छिलका २ से ४½ औ. १० से २० औ. जल मे बारह घण्टे भिगाने के पश्चात् उबालना चाहिए और जब जल की मात्रा आधी हो जाये तब इस औषधि को छान कर तीन मात्रा मे विभाजित करना चाहिए और प्रत्येक मात्रा प्रति ½ से १ घण्टे पर देना चाहिये। अन्तिम मात्रा के एक घंटे पश्चात् मैगसल्फ ४ ड्रा. देना चाहिए।

(४) पैलेटिरीन टैनेट (Pelletierine tannate) :—यह औषधि अनार से बनी है। इसकी ७ ग्रे. औषधि मद्य (Alcohol) मे घोल कर एक बार अथवा ३–४ मात्रा मे विभाजित कर एक मात्रा प्रति घंटे रोगी को देना चाहिए। दो घंटे पश्चात् मैगसल्फ ४ ड्राम देना चाहिए।

(५) **तरबूजे का बीज** (Melon seed) :—२२ औ. तरबूज के

बीज का छिलका निकाल कर रोगी को खिलाना चाहिए तथा दो घण्टे पश्चात् ४ ड्रा. मैगसल्फ देना चाहिए।

(६) **काशीफल** (Pumpkin) का बीज ग्रा. २–३ पीस कर एक साथ देना चाहिए। एक घण्टे पश्चात् मैगसल्फ ड्रा. ४ दें।

(७) **अन्य औषधियाँ :**—अटेब्रिन (Atebrin, mepacrine, quinacrine) ०·४ग्रा. की२मात्रायें, फिलमारोन (Filmaron)ड्रा.२–४, थाइमौल (Thymol) आदि का भी प्रयोग किया जाता है। इनके पश्चात् मैगसल्फ ड्रा.४भी देना चाहिए। लक्षणो की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

आन्त्र-कृमि की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

अपकर्षणमेवादौ क्रिमीणा भेषजं स्मृतम्।
ततोविघात: प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम्॥

—चरक वि. अ. ७ श्लो. २७.

प्रथम औपधियो से कृमियो का अपकर्षण करे उसके पश्चात् प्रकृति विघात और निदान परिवर्जन करना चाहिए।

पहले एक सप्ताह तक स्नेहन व स्वेदन औषधियो का प्रयोग करना चाहिए फिर औषधि देने के एक दिन पूर्व कृमिवर्धक पदार्थों यथा तिल, गुड़, दूध, दही, मत्स्य, पिष्टान्न आदि का भोजन करावे जिससे कृमि कोष्ठ मे निकल आवें तब दूसरे दिन प्रात: विरेचन व आस्थापन वस्ति का प्रयोग करे। सात दिन तक आस्थापन करना चाहिए। अन्तिम दिवस वामक व विरेचक औषधि का एक साथ प्रयोग करना चाहिये।

तिल, गुड, मत्स्य, पिष्टान्न, आदि कृमिकारक पदार्थों को छोड़ देना चाहिए। कटु, तिक्त, कषाय, क्षार, तथा उष्ण कफनाशक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। कृमि नाशक औषधियो का सेवन करे।

औपधियाँ :—मुस्तादि क्वाथ, कम्पिल्ल चूर्ण, पलाशबीजादि चूर्ण, पाराशीयादि चूर्ण, विडंगाद्य तैल, विडगासव, क्रिमिमुद्गर रस, क्रिमिकालानल रस, विडगादि लौह, कीटारि रस।

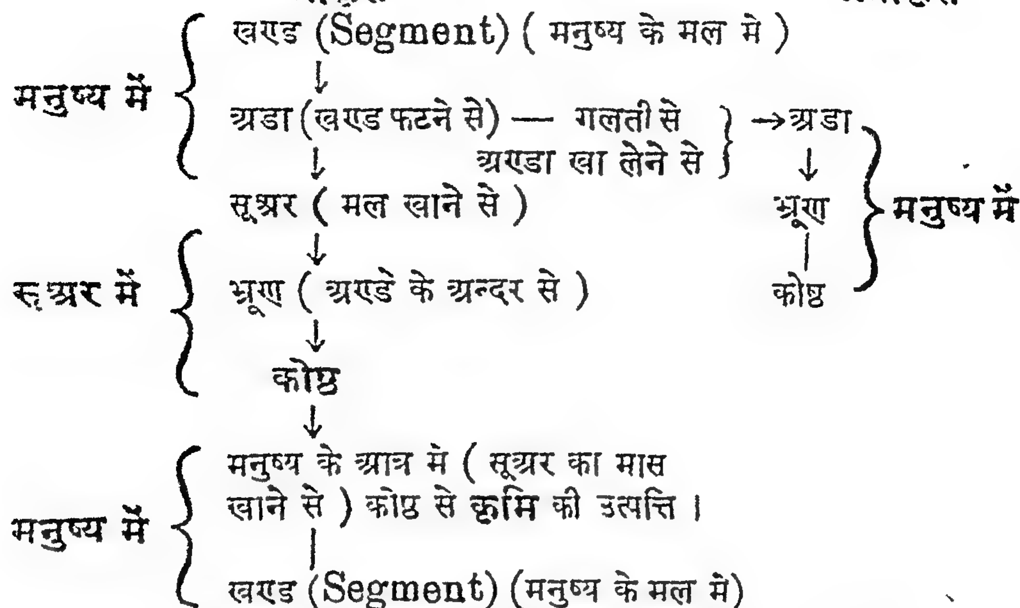
प्रयोग :—

(१) कृमि मुद्गर ३ र.
नवायस लौह ३ र.
शख भस्म ३ र.
मि. ३ मात्रा मधु के साथ

(२) विडंगसव १½ तोला समजल से भोजन के बाद।

(३) पलाशबीजादि चूर्ण १ मा.
आरोग्यवर्धिनी १ व.
मि.१मात्रा रात्रि मे गुड़ के साथ।

स्फोत कृमि (T. solium.) का जीवन चक्र



नोट :—भ्रूण (Embrio) सूअर या मनुष्य के आत्र की भित्ती फाड़ कर रक्त में प्रवेश करता है और शरीर के भिन्न भागों मे जाकर कोष्ठ (Cysticercus) बनता है विशेषकर पेशियों में ।

विषाणु (Virus) का उपसर्ग

दण्डक ज्वर (Dengue)

परिचय :—विषाणु (Virus) जन्य यह रोग एडिस इजेप्टाइ (Aedes aegypti) नामक मच्छर के काटने से फैलता है । रोग के प्रथम तीन दिन रोगी को मच्छर काटने से विषाणु मच्छर के शरीर मे प्रवेश करते हैं । इसका संचय काल (I. P.) प्रायः एक सप्ताह है । विषाणु जन्य रोगों मे प्रायः नाड़ी की गति मन्द होती है और रक्त मे श्वेतकणों (W. B. C.) की कमी तथा सापेक्ष गणन (D. C.) में लस-कायाणुओं (Lympho) की वृद्धि होती है । कभी कभी दण्डक ज्वर मे लसग्रथियो (Lymph glands) की व्यापक वृद्धि होती है । इस परिवार मे दण्डक ज्वर के अतिरिक्त, मरुमक्षिका ज्वर (Sandfly fever), एक सप्ताहवाला ज्वर (Seven day fever) आदि आते हैं । इन सब रोगो मे प्रायः **निदान** की दृष्टि से लक्षणो

पर ही निर्भर करना पड़ता है। ये ज्वर प्रायः वर्षा तथा शीत ऋतु के पश्चात् होते हैं। इन ऋतुओं में मच्छरों की वृद्धि होती है। एक बार रोग हो जाने पर प्रायः पर्याप्त रोगक्षमता (Immunity) उत्पन्न होती है और पुनः रोग नहीं होता परन्तु कभी कभी रोग का पुनरागमन देखा जाता है। इस परिवार के रोगों में ज्वर प्रायः एक सप्ताह से कम रहता है और इसकी प्रकृति मध्य-निम्न प्रकार (Saddle back) के समान होती है। सारे शरीर में भीषण पीड़ा होती है और यह पीड़ा किसी भी औषधि से कम नहीं होती। एस्पीरीन (Aspirin) भी पीड़ा कम करने मे असमर्थ रहती है। इसको दण्डक ज्वर का एक प्रमाण माना जाता है। इन रोगों मे मृत्यु अत्यन्त विरल है। रोमान्तिका (Measles) आदि अन्य विषाणु जन्य विस्फोटक ज्वरों (E.F.) के समान इस रोग के प्रारम्भ मे प्रतिश्याय (Coryza) नहीं होता। नेत्रकला (Conj) रक्तवर्ण होती है और रोगी को परम दुर्बलता प्रतीत होती है। मानसिक अवसाद (Depression) होता है। ज्वर प्रारम्भ होने के पाचवे या छठे दिन **विस्फोट** (Rash) निकलते हैं। ये विस्फोट लालरङ्ग के उद्वर्णिक एव उत्कर्णिक (Maculo-papular) अथवा लोहित ज्वर के विस्फोट के समान (Scarletiniform) होते हैं। ये प्रायः शरीर के मध्यभाग (Trunk), हाथ, पैर तथा हथेली पर निकलते हैं और ३–४ दिन ही दिखाई देते है। मुख का स्वाद खट्टा तथा कडुआ हो जाता है। ज्वर के प्रारम्भ में कम्प (Rigor) हो सकता है। भूख बन्द हो जाती है तथा सिर में पीड़ा होती है।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—रोग से **बचने के लिये** मच्छरों को नष्ट करना तथा उनकी उत्पत्ति कम करना और उनके काटने से बचना चाहिये। दण्डक ज्वर मसूरी (Vaccine) अभी प्रायोगिक अवस्था मे है।

(ख) सिद्धांत :—चिकित्सा की दृष्टि से इस रोग की कोई विशिष्ट औषधि नहीं है परन्तु रोग विषाणुजन्य होने के कारण औरियोमाइसीन (Au) से लाभ हो सकता है। लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

(ग) साधारण चिकित्सा :—रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये तथा तरल **आहार** (पृ.४) लेना चाहिये। रोगनिवृत हो जाने के पश्चात् भी रोगी को विश्राम करना चाहिये और परिश्रम मे शनैः शनैः वृद्धि होनी चाहिये। जल का प्रयोग अधिक मात्रा मे करना चाहिये। मुलाकातियों

के आने से रोगी को कष्ट होता है। जिह्वा प्रायः मलावृत (Coated) रहती है और कब्ज तथा जी मिचलाने की प्रवृत्ति रहती है। इसलिये प्रारम्भ में अत्यल्प मात्रा में प्रति घण्टे कैलोमेल (यो. ५२) ७–८ बार देना चाहिये। तत्पश्चात् एनिमा लगा सकते हैं अथवा मैगसल्फ (Mag : sulph) ड्रा. ४ या फ्रूट सौल्ट (Fruit salt) च. ४ अथवा सिडलिज पाउडर (Seidleitz powder) पानी में मिला कर दे सकते हैं। रोगी का शरीर प्र. दि. गरम पानी से धोना चाहिये तथा मुख शुद्ध रखना चाहिये। ज्वर १०२° फा. से अधिक होने पर शिर पर बरफ रखना चाहिये। पीड़ा के लिये सोडी-सैलिसिलस (यो. २८) त्रि. प्र. दि. दें। आ. अ. कोडीन फौस, एसपिरीन (योग ६२),सिबाल्जिन (Cebalgin) गो. १, नोवाल्जिन (Novalgin) गो. १, वेरेमौन (Veremon) गो. १, आदि दे सकते हैं। निद्रा लाने के लिये पेथिडीन (Pethidine) गो. १, ल्यूमिनल (Luminal) ग्रे. १–२, ब्रोमाइड (यो. २२) आदि की एक मात्रा सोने के पूर्व दे सकते हैं। रोग निवृत्त हो जाने पर रोगी को पौष्टिक आहार तथा औषधियाँ देकर स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये।

श्लैष्मिक ज्वर (Influenza)

परिचय :—विषाणु (Virus) जन्य यह रोग अत्यन्त औपसर्गिक है। अन्य विषाणु जन्य रोगों के समान इसमें भी श्वेतकणों (W. B. C.) की कमी तथा नाड़ी की गति मन्द हो जाती है। मरक (Epidemic) के समय मृत्यु-संख्या अत्यधिक होती है। मृत्यु का कारण प्रायः फुफ्फुसपाक (Pneumonia) अथवा हृदयातिपात (Ht-failure) होता है। इसलिये रोग की सम्भावना प्रतीत होने पर तत्काल सब कार्य स्थगित कर शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। इस रोग में हृदयातिपात की प्रबल सम्भावना रहने के कारण रोग की गम्भीरता ध्यान में रखना चाहिये। रोग को साधारण समझ कर उसकी अवहेलना करना ठीक नहीं है। रोग के प्रारम्भ से लेकर जब तक रोग के कुपरिणाम का भय दूर न हो जाये तब तक रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। रोग की कोई विशिष्ट औषधि न होने के कारण तथा मध्यकर्ण शोथ (Otitis media), फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy), पूयोरस (Empyema) **फुफ्फुसपाक** (Pneumonia), **मस्तिष्कावरण शोथ** (Meningitis), फुफ्फुस शोफ (Pulmonary oedema);

श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), श्यावता (Cyanosis) आदि **उपद्रवों** की सम्भावना रहने के कारण रोगी का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। **निदान** में किसी विशिष्ट परीक्षा से सहायता नहीं मिलती। लक्षणों पर ही निर्भर करना पड़ता है। साधारण प्रतिश्याय (Cold) की अपेक्षा इसमें अधिक दौर्बल्य प्रतीत होता है। नाक तथा नेत्र से पानी बहता है।

चिकित्सा :—(क) प्रतिषेध :—रोग से बचने के लिये चिकित्सक तथा परिचर्या करने वालों के अतिरिक्त रोगी के सम्पर्क में आने वालों को भी नाक-मुख पर पतले कपड़े की ४–५ तह लपेट कर रखना चाहिये तथा लिस्टरीन (Listerin) आदि जीवाणुनाशक औषधियों से कुल्ला करना चाहिये। चिकित्सकों से भी यह रोग फैल सकता है इसलिये रोगी को देखने के पश्चात साबुन से हाथ धोना चाहिये। विषाणु से बनी मसूरि (Vaccine) तथा रोगसन्निवृत्ति काल की लसिका (Convalescent serum) का प्रयोग अभी प्रायोगिक अवस्था में है। रोग का सञ्चयकाल (I.P.) १–३ दिन है। यह रोग प्रायः शीत ऋतु में होता है तथा बिन्दुक्षेप (Droplet) द्वारा फैलता है। रोग निवृत्त हो जाने के एक सप्ताह पश्चात् तक रोगी, रोग फैला सकता है। **मरक के समय** शीत लगने से बचना चाहिये। मद्य का प्रयोग हानिकर है। जन-समूह वाले स्थानों में नहीं जाना चाहिये। जीवनचर्या नियमित होनी चाहिये। शुद्ध वायु में रहना तथा पौष्टिक आहार प्रयोग करना चाहिये। ज्वर प्राकृत होने के ७ दिन पश्चात तक रोगी को पृथक रखना चाहिये। स्कूल, सिनेमा आदि बन्द कर देना चाहिये। रोगी के प्रत्येक स्राव में जीवाणु-नाशक औषधियाँ मिलाना चाहिये।

(ख) साधारण चिकित्सा :—रोगी को अन्य लोगों से पृथक कर शैय्या में पूर्ण **विश्राम** करना चाहिये। साधारणतः यह विश्राम ज्वर प्राकृत हो जाने के ३–४ दिन पश्चात् तक होना चाहिये। हृदय की क्षीणता का लेशमात्र भी प्रमाण मिलने पर जैसे नाड़ी की गति का मन्द, तीव्र अथवा अनियमित (Irregular) होना या साधारण परिश्रम से भी श्वासकृच्छ्र होने पर विश्राम की अवधि बढ़ा देना चाहिये। इस रोग में विशेष कर श्वसन-संस्थान में विकृति होने की सम्भावना रहती है इसलिये रोगी का कमरा हवादार होना चाहिये परन्तु रोगी की शैय्या वायु के मार्ग में नहीं होनी चाहिये अन्यथा शीत लगने का भय रहता है। प्रकाश से प्रायः रोगी को कष्ट होता है इसलिये

कमरे मे अधिक प्रकाश नहीं होना अच्छा है। ग्रीष्मऋतु में कमरा शीतल तथा शीत ऋतु मे गरम होना चाहिये और ऋतु के अनुकूल रोगी का वस्त्र होना चाहिये। रोगी के सम्पर्क मे आये रुमाल आदि जला देना चाहिये, बर्तन आदि गरम जल तथा जीवाणुनाशक औषधियों से धोना चाहिये। दूसरे लोगो को ये बर्तन प्रयोग नही करना चाहिये। ज्वर की तीव्रता के समय **आहार** तरल (पृ.४) होना चाहिये। **कब्ज** रहने पर रोग के **प्रारम्भ** मे मैगसल्फ (Mag : sulph) ड्रा. ४ देना चाहिये **पश्चात्** साबुन के एनिमा पर निर्भर करना ही ठीक है। **खाँसी** के लिये टि. बेनजोइन. का (Tr. benzoin. Co) च. १ गरम पानी मे मिलाकर उसकी भाप सूँघना चाहिये तथा पेनिसिलीन की गोली अथवा तालमिश्री चूसना चाहिये। टि. कैम्फर का (यो. १६) त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। **हृदय मे क्षीणता** प्रतीत होने पर कोरामीन (Ce) मुख से आ. अ. मि. १०–१५ अथवा १·७ सी. सी. अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दें सकते है। **श्वसन मे क्षीण** प्रतीत होने पर लोबेलीन १ सी. सी. अथवा स्ट्रिकनीन ग्रे. १/६० अधस्त्वक मार्ग से प्रयोग कर सकते हैं। जी मिचलाने अथवा **वमन** होने पर कैलोमेल ग्रे. १/८ (या. ५०) प्र. १/२ घं. पर देने से लाभ होता है। **आमाशयशोथ** (Gastritis) रहने पर रोगी को बरफ चूसने के लिये देना चाहिये, आमाशयोर्ध्व प्रदेश (Epigastrum) पर सरसो की पट्टी लगाना चाहिये तथा बिसमथ के योग (यो. ४४) देना चाहिये। **निद्रा नहीं** आने पर ब्रोमाइड (यो.२२) की एक मात्रा सोने के पूर्व दे। डायल (Dial, didial 'Ca'), आदि की गो. १ भी सोने के पूर्व दे सकते हैं।

(ग) विशिष्ट चिकित्सा :—इस रोग का मुख्य कारण विषाणु (Virus) है इसलिये सम्भवतः ऑरियोमाइसीन (Au) मि. ग्रा. २५० त्रि. प्र. दि. कर ७ दिन देने से लाभ हो सकता हैं। साथ-साथ प्रायः हिमोफाइलस इन्फलूएन्जा (Haemophylus influenza) का भी उपसर्ग रहता है। इसके लिये स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) ग्रा. १/२ से १, पेशीमार्ग (I. M.) से ए. प्र. दि. दे सकते है। इस रोग के उपद्रव प्रायः द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के कारण होते हैं। इनमे पेनिसिलीन (P.) तथा सल्फा (S.) से लाभ होता है। इस रोग के कारण फुफ्फुसपाक होने पर ऑरियोमाइसीन (Au) प्रयोग करना चाहिये। मस्तिष्कावरण शोथ (Me-

ningitis) होने पर कटिवेध (L.P.) करने की आवश्यकता पड़ती है।

(घ) रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात रोगी को कुछ समय तक शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम नहीं करना चाहिए। जल वायु बदलने से लाभ होता है। पौष्टिक आहार तथा औषधि द्वारा स्वास्थ्य की वृद्धि करना आवश्यक है।

विस्फोटक ज्वर (Eruptive fevers)

परिचय :—ये रोग विषाणु (Virus) के कारण होते हैं। इन सब मे विस्फोट (Rash) निकलते हैं। विशिष्ट परीक्षा के अभाव में विस्फोट तथा लक्षणो द्वारा ही निदान सम्भव है। इनमे प्रायः रोग के प्रारम्भ मे प्रसेक (Catarrh) होता है। ये रोग अत्यन्त औपसर्गिक है और बिन्दूत्क्षेप (Droplet) तथा वायु द्वारा फैलते है। रोमातिका (Measles) में ज्वर प्रारम्भ होने के पूर्व मुख मे कोपलिक के दाग (Koplik's spots) मिलते हैं और ये निदान मे सहायक होते हैं। टीका लगाने (Vaccination) से केवल मसूरिका (Smallpox) से बचा जा सकता है। इनकी कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है। विषाणु जन्य होने के कारण सम्भव है औरियोमाइसीन (Au) आदि से लाभ हो। प्रारम्भ से पेनिसिलीन (P.) के प्रयोग से द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग की भयंकरता मे कमी होती है। द्वितीयक उपसर्ग मसूरिका मे अधिक कष्टप्रद होता है। इन रोगो मे प्रायः श्वेतकणों (W. B. C.) की सख्या मे कमी तथा प्रारम्भ मे नाड़ी की गति मन्द होती है। **मसूरिका** (S-pox) मे प्रारम्भ में कमर मे तीव्र पीड़ा होती है। ये रोग विस्फोट निकलने के पूर्व से ही औपसर्गिक होते हैं। पश्चात् जब शरीर से पपड़ी गिरने लगती है तब फिर रोग फैलने की अत्यधिक सभावना रहती है। रोग की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त रोगी औपसर्गिक होता है। रोगी के प्रत्येक स्राव से रोग फैल सकता है। इनका संचयकाल (I. P.) प्रायः १०–२१ दिन होता है। विस्फोट प्रायः १–४ दिन के अन्दर निकल आते है। ये कभी-कभी अत्यन्त साधारण तथा कभी-कभी अत्यन्त गम्भीर होते हैं। इनकी चिकित्सा में धैर्यहीन होना नहीं चाहिये विशेष कर रोमान्तिका (Measles) में। इसमें बालक की अवस्था कभी-कभी अत्यन्त निराशाप्रद प्रतीत होती है परन्तु कुछ ही घण्टे पश्चात् चमत्कारिक सुधार होता है और जिस बालक के बचने की सम्भावना प्रतीत नही होती थी वह खेलता दिखाई देने लगता है। रोग की अपेक्षा उपद्रव अधिक व्यापक तथा गम्भीर होते हैं। रोमान्तिका

(Measles) मे तन्द्रा (Drowsiness) रोग का विशिष्ट लक्षण माना जाता है। इसमे त्वचा गीली तथा दुर्गन्धित रहती है। इन रोगों मे कभी कभी हृदय की क्षीणता तथा रोग की भयंकरता के कारण विस्फोट पूर्ण रूप से नहीं निकल पाते। विस्फोट निकलने पर मसूरिका (S-pox) मे ज्वर की कमी तथा रोमान्तिका (Measles) मे वृद्धि हाती है।

प्रतिषेध :—विस्फोटक ज्वर (E.F.) का रागी रोग के प्रारम्भ से लेकर ज्वर प्राकृत हो जाने के दो सप्ताह पश्चात् तक प्रायः रोग फैला सकता है। इस अवधि पर्यन्त रोगी को शैय्या पर अन्य लोगो से पृथक रखना चाहिये। रोगी को स्वस्थ लोगो से मिलने देने के पूर्व उसमे प्रतिश्याय (Catarrh) ठीक हो जाना चाहिये तथा पपड़ियाँ गिर जानी चाहिये। पपड़ियाँ (Scabs) गिर जाने के पश्चात् रोगी का बाल मुड़वा कर, उसको स्नान करवा कर, उसके शरीर पर कार्बोलिक का तेल (Ol. carbolic) लगा कर, तथा नवीन वस्त्र पहना कर स्वस्थ मनुष्यों से मिलने देना चाहिये। रोगी के प्रत्येक स्राव मे जीवाणुनाशक औषधि मिलाकर तब नाली मे बहाना चाहिये। रोगी की परिचर्या करने वालो को भी स्वस्थ बालकों से अलग रहना चाहिये। जिससे वे रोग न फैला सकें। रोगी के समीप जाते समय अपना नाक-मुख वस्त्र से ढक कर रखना चाहिये जिससे रागी मे द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग न पहुँच सके। रोगी के सम्पर्क मे आये हुए मनुष्यो को पृथक रखने की अवधि प्रायः ३ सप्ताह है।

(अ) रोमांतिका (Measles)

चिकित्सा :—(क) प्रतिषेध :—रोग से बचने के साधारण सिद्धातो का वर्णन विस्फोटक ज्वर के साथ किया गया है। जिन बालको के मुख मे कौपलिक के धब्बे (Koplik's-spots) दिखलाई पडे इनको पृथक रखना चाहिये। रोगी के सम्पर्क मे आने वाले लोगों को रोग से बचाने के लिये निम्न इन्जेक्शन पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते हैं :—

(१) मानवोक्षम आवर्तुलि (Human immune globulin, placental ext:) :—**मात्रा** सी. सी. २–१०. (२) **सन्निवृत्त लसिका** (Convalescent serum) :—इससे एक मास तक रोग-क्षमता (Immunity) रहती है। ४ वर्ष से कम की आयु मे औषधि सी. सी. ४ देना चाहिये। **मात्रा :**—सी. सी. ४–१२. (३) **गामा ग्लोब्यूलिन**

(Gamma globulin) **मात्रा** :—सी. सी. २–१०. (४) उन मनुष्यों **का रक्त** सी. सी. १०–२५ जिनको पहले कभी रोमान्तिका हो चुका हो।

उपर्युक्त विधियों का प्रभाव अस्थाई है। इन औषधियों को रोग की चिकित्सा के लिये भी प्रयोग करते हैं। इन औषधियों को उपसर्ग के प्रारम्भ में आधी मात्रा मे तथा अधिक विलम्ब हो जाने पर दूनी मात्रा में देने से, यदि रोग के लक्षण उत्पन्न होते है तब वे साधारण रहते हैं और रोग की गम्भीरता कम रहती है।

(ख) साधारण चिकित्सा :– लक्षणो के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रोग की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त तथा कुछ समय पश्चात् तक आहार पर विशेष सावधानी रखना चाहिये, अन्यथा प्रवाहिका (Dys :) की संभावना रहती है। दुग्ध आहार सर्वोत्तम है। फुफ्फुसपाक के लिए सल्फा (S) औषधि तथा पेनिसिलीन (P.) का प्रयोग कर सकते हैं। नेत्र मे लिक्विड पैरेफिन (Liq. paraffin) डालना अच्छा है। कास के लिये तालमिश्री देना चाहिये। रोग के प्रारम्भ मे विरेचक औषधि (Purgative) का प्रयोग लाभप्रद है। इस रोग की कोई विशिष्ट औषधि नही है परन्तु साधारण चिकित्सा का परिणाम अच्छा है। जब तक ज्वर प्राकृत नहीं हो जाता रोगी को शैय्या पर **विश्रम** करना चाहिये। रोगमुक्त हो जाने के पश्चात् रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है इसलिये उसे शीत से बचाना चाहिये अन्यथा फुफ्फुसपाक (Pneumonia), वृक्कशोथ (Nephritis) आदि होने की सम्भावना रहती है। इस रोग मे **खाँसी** अत्यन्त कष्ट देती है। इसके लिये एक लोटा गरम पानी में टि. बेनजोइन (Tr. benzoin) च २ डाल कर उसकी भाप सूँघना चाहिये। शैशवावस्था में यह क्रिया सम्भव नहीं है इसलिये रोगी को मसहरी से ढक कर टि. बेनजोइन की भाप रबर की नली द्वारा मसहरी मे प्रवेश करा सकते हैं। कमरे के एक कोने मे यह औषधि पानी मे मिलाकर उबालने से भी लाभ होता है। रोगी के वक्ष पर पुराना घृत, विक्स (Vics) अथवा लिनिमेंट (Lnt A. B. C, terebinth) आदि मालिश कर सकते हैं। ग्लाइकोडीन टर्प वसाका (Glycodin terp vasaka), परटयूसिन (Pertussin), सिरप वासक टोलू (Syr : vasak tolu) आदि आयु के अनुसार च. १/४ १ ए. ४ घं. दे सकते हैं। फुफ्फुस, मध्यकर्ण, कंठ, स्वरयन्त्र (Larynx) आदि मे विकृति होने पर पेनिसिलीन, (P.),

सल्फा (S) आदि प्रयोग कर सकते हैं। कभी-कभी रोमातिका के पश्चात् **मस्तिष्कशोथ** (Encephalitis) हो जाता है। यह उपद्रव अत्यन्त मारक है। इसकी चिकित्सा लक्षणों के अनुसार करनी पड़ती है। आ. अ. कटिवेध (L. P.), उद्वेष्ठननिरोधी (Anticonvulsants) औषधियाँ, पेनिसिलीन (P.), औरियोमाइसीन (Au) आदि देना पड़ता है।

विस्फोट निकलते समय तथा उसके पूर्व ज्वर तीव्र रहता है और कभी-कभी १०५–१०६° फा. तक पहुँच जाता है। इसके लिये रोगी का शरीर शीतल जल से धोना चाहिये तथा शिर पर बर्फ रखना चाहिये। मुख शुद्ध रखना आवश्यक है। **मुख में व्रण** हो जाने पर लिस्टरीन (Listerin) से कुल्ला करना, मक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) १ प्र. श. व्रण पर लगाना तथा जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit : B. compex) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। बकरी का दूध लगाने से भी व्रण मे लाभ होता है। **नेत्रकला में शोथ** (Conj) होने पर बोरिक (Boric) ऐसिड १–२ प्र. श. से नेत्र दिन मे २–३ बार धोकर प्रोटारगल (Protargol) ५ प्र. श. डालना चाहिये तथा रात्रि मे पलकों पर पेनिसिलीन (P.) की नेत्र की मलहम लगाना चाहिये। विकृति अधिक गम्भीर होने पर पेनिसिलीन 'जी' (P. 'G') की १ लक्ष की मात्रा २० सी. सी. समबल लवणघोल (N. saline) मे मिलाकर एक बूँद नेत्र मे प्र. घ. डालना चाहिये। औषधि बर्फ मे रखना चाहिये। प्र. दि. **मल परित्याग** होना आवश्यक है। इसके लिये रोग के प्रारम्भ मे कैलोमेल ग्रे.१/१२ सोडी-बाइकार्ब ग्रे.५ के साथ (यो.५२) प्र. घं. तबतक दें जबतक मल परित्याग न हो। तत्पश्चात् औषधि त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। रेंड़ी का तेल आयु के अनुसार ड्रा. १ से औं० १ तक अथवा मुलैठी सत्व (Ext: glycyrrhiza liq) मि. १०–३० तक त्रि. प्र. दि. दे सकते है। रोग के उत्तरार्ध में ग्लिसरीन सपोजिटरी (Suppository) अथवा ग्लिसरीन औलिव औयल के एनिमा (यो. १५५)पर ही निर्भर करना चाहिये।

आहार :—भोजन का सिद्धात निर्धारित करने के पूर्व दो विषयो पर ध्यान रखना आवश्यक है **प्रथम** रोगी को पर्याप्त मात्रा मे जल पीना चाहिये जिससे जलाल्पता न हो, द्वितीय इस रोग मे आन्त्रशोथ (Colitis) की सम्भावना रहती है इसलिये ज्वर की अवधि पर्यन्त सरलता से पचने वाला

तरल आहार (पृ. ४) ही प्रयोग करना चाहिये । रोगी की अवस्था में सुधार होने पर तथा ज्वर प्राकृत हो जाने पर आहार में शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये । ठोस पदार्थों में प्रथम चावल के योग जैसे खिचड़ी आदि से प्रारंभ करना ही ठीक है ।

(ग) **उपद्रव** :—इस रोग में अनेक उपद्रव होते हैं जैसे :—**श्वसन-संस्थान** में श्वसनिकाशोथ (Bronchitis), फुफ्फुसपाक, पूयोरस (empyema), श्वसनीविस्तीर्णता (Bronchiectasis), यक्ष्मा आदि तथा **अन्य संस्थानों** में मध्यकर्ण शोथ (Otitis media), नेत्रकला-शोथ (Conj), स्वच्छमण्डल व्रण (Corneal ulcer), रोहिणी (Diphtheria), वृक्कशोथ (Nephritis), लसग्रन्थि शोथ (Adenitis), अन्तर्हृत् शोथ (Endocarditis), हृत्पेशीशोथ (Myocarditis), मुखशोथ (Stomatitis), पहले दस्त, मस्तिष्कशोथ (Encephalitis), आन्त्रशोथ (Colitis) आदि ।

हृदय की क्षीणता के लक्षण होने पर उत्तेजक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये । जैसे, कोरामीन (Ce) मि. १०, मद्य (यो. ३६) मि.२०–६० आयु के अनुसार आ. अ. दे सकते हैं । श्यावता (Cyanosis) होने पर प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिये । **जलाल्पता** (Dehydration) होने पर प्रत्येक मार्ग से जल प्रवेश कराने का प्रबन्ध करना चाहिये । मुख से लवणघोल (Saline) १ प्र. श. के साथ ग्लूकोस ५ प्र. श. गुदा से साधारण जल, पेशीमार्ग से समबल लवणघोल (N. saline) तथा सिरामार्ग (I.V.) से ग्लूकोस (Glucose) १२½ प्र. श. ५० सी. सी. या इन्ट्राडेक्स (Intradex) आदि देना चाहिये । **आंत्रशोथ** (Colitis) रहने पर सल्फागोनेडीन (S–Guanidine), सल्फासक्सीडीन (S–succidine), थलाजोल (Thalazole) आदि का प्रयोग (यो. ३०) मुख द्वारा करना चाहिये ।

(आ) त्वङ्मसूरिका (Chicken-pox, vericella)

परिचय :—इस रोग का संचयकाल (I. P.) प्रायः दो सप्ताह है । ज्वर आरम्भ होने के पूर्व ही रोगी औपसर्गिक हो जाता है और जबतक सब पपड़ियाँ (Scales) गिर नहीं जाती तबतक रोग फैला सकता है । रोग की प्रकृति मसूरिका (S-pox) के समान है परन्तु विस्फोट ज्वर के प्रथम दिन

ही निकलते हैं और कई दिन तक निकलते रहते हैं। मध्य शरीर पर इनकी संख्या अन्य स्थानो से अधिक होती है। ज्वर प्रारम्भ होने के पूर्व लक्षण साधारण तथा अस्पष्ट होते हैं।

चिकित्सा :—(क) प्रतिषेध :—रोग से बचने की कोई विशिष्ट विधि नही है। जबतक ज्वर प्राकृत नही होता तबतक रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। रोग से बचने के साधारण सिद्धान्तों का वर्णन विस्फोटक ज्वर (पृ.४३७) मे देखिये। रोग से बचने के लिये सन्निवृत्त लसिका (Convalescent serum) सी. सी. १०–२० पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते हैं। परिणाम अस्थायी है।

(ख) साधारण चिकित्सा :—रोग की कोई विशिष्ट औषधि नहीं है परन्तु रोग विषाणु जन्य होने के कारण ऑरियोमाइसीन (Au) का प्रयोग कर सकते हैं। ज्वर की अवस्था मे तरल **आहार** (पृ. ४) देना चाहिये। उपद्रवो की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। इन सब विस्फोटक ज्वरों मे विस्फोट मे खुजली होती है और विस्फोट मे द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग (Ifn) होने की सम्भावना रहती है। इन उपद्रवा से बचने तथा इनको शान्त करने के लिये पेनिसिलीन (P.) का इन्जेक्शन तथा शरीर पर पेनिसिलीन (P.),टेरामाइसीन (Tn), टाइरोथ्रिसीन (Tyn), बैसिट्रेसीन (Btn) आदि की मलहम लगा सकते है। कैलामिन का घोल लगाने तथा मुख द्वारा एन्टिस्टीन (Antistin) १/४–१ गो. आयु के अनुसार त्रि. प्र. त्रि. देने से खुजली (पृ. २१७) कम होती है। मस्तिष्क-शोथ (Encephalitis) की चिकित्सा लक्षणों के अनुकूल है।

(इ) मसूरिका (Smallpox)

परिचय :—भिन्न-भिन्न मरक (Epidemic) मे विषाणु (Virus) की गम्भीरता पृथक पृथक होने के कारण इस रोग की गम्भीरता मे पर्याप्त अन्तर मिलता है। रोगी ने यदि पहले माता का टीका (Vaccination) लिया है तब रोग की गम्भीरता प्रायः साधारण रहती है। रोग की अवधि मे ज्वर तीव्र रहने पर, उपद्रवो के उत्पन्न होने पर, रक्तस्राव (Haemorrhagic) की प्रवृत्ति रहने पर तथा विस्फोट (Rash) के आपस मे मिलने की प्रवृत्ति रहने पर रोगी की प्रायः मृत्यु हो जाती है। विस्फोट मे द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग होने पर शरीर मे अत्यधिक दाग पड़ जाते है। इसलिये

प्रारम्भ से पेनिसिलीन (P.) का प्रयोग करने से दाग पड़ने की सम्भावना कम होती है और प्रायः रोग की गम्भीरता में भी कमी होती है। रोग के प्रारम्भ में प्रायः तीव्र तथा व्यापक लक्षण होते हैं जैसे बालकों में आक्षेप (Convulsions), युवा में प्रलाप (Delirium), **शिर तथा कमर में पीड़ा,** तीव्र ज्वर, अत्यधिक क्लेश, दौर्बल्य, विषमयता (Toxaemia) वमन, आदि। प्रायः चतुर्थ दिन विस्फोट निकलते है और रोग विनिश्चिति में सहायक होते हैं। विस्फोट सब एक साथ निकलते है और चेहरे तथा शाखाओं पर मध्य शरीर की अपेक्षा अधिक होते है। विस्फोट निकलने पर ज्वर तथा अन्य सब कष्टप्रद लक्षण कम हो जाते हैं। द्वितीयक उपसर्ग होने पर ज्वर पुनः तीव्र हो जाता है। रोग का संचयकाल प्रायः १–२ सप्ताह है। कुछ दिन पहले यदि रोगी ने माता का टीका लिया हो और टीका ठीक से उठा हो तब रोग की सम्भावना कम होती है। रोग के संचयकाल (I. P.) में भी टीका लेने से प्रायः रोग नहीं होता और यदि होता है तब कम भयंकर होता है। रोगी का प्रत्येक स्राव रोग फैला सकता है और ज्वर प्रारम्भ होने के कुछ दिन पूर्व से लेकर जबतक सब खुरण्ड (Scab) पृथक नहीं हो जाते तबतक रोगी औपसर्गिक रहता है। इसके विस्फोट त्वचा के अतिरिक्त नेत्र, मुख आदि की श्लैष्मिककला (M. M.) पर भी निकलते है। लक्षणों के अतिरिक्त इस रोग की कोई विशिष्ट परीक्षा नही है। यह रोग बिन्दूत्क्षेप (Droplet) के अतिरिक्त वायु द्वारा, खुरण्ड द्वारा तथा शरीर के समस्त स्रावों से फैल सकता है। स्त्रियों में प्रायः गर्भपात हो जाता है।

प्रकार :—इस रोग के अनेक प्रकार मिलते है। कभी-कभी विस्फोट बिल्कुल नहीं या कम निकलते हैं। यह प्रकार रोग साधारण तथा गम्भीर दोनों रूप धारण कर सकता है। **अत्यन्त साधारण** प्रकार प्रायः ७–१० दिन में ठीक हो जाता है। माता का टीका प्रचलित होने के कारण प्रायः साधारण प्रकार ही मिलता है। इसमें विस्फोट एक दूसरे के पृथक रहते हैं। **रक्तस्रावी प्रकार** (Haemorrhagic) गम्भीर होता है। त्वचा तथा अन्य स्थानों में रक्तस्राव होने पर रोगी के बचने की सम्भावना नही रहती। विस्फोट के आपस में मिलने की प्रकृति (Confluent) अनिष्ट की सूचक है।

उपद्रव :—विषाणु (Virus) तथा द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग का शरीर पर व्यापक प्रभाव पड़ने के कारण अनेक उपद्रव सम्भव हैं।

वृक्कशोथ (Nephritis), हृत्पेशीशोथ (Myocarditis), स्वच्छमण्डल मे व्रण (Corneal ulcer) के कारण अन्धता, त्वचा तथा अन्य स्थानों मे फोड़ा, फुन्सी, फुफ्फुसपाक (Pneumonia), दोषमयता, अस्थिशोथ (Osteomyelitis), वातनाड़ी-संस्थान (C. N. system) मे विकृति, आन्त्रशोथ (Colitis), मुख तथा कण्ठ मे व्रण, मध्यकर्णशोथ (Otitis media) आदि उपद्रव प्रायः मिलते हैं। माता का टीका लगाने के १० दिन पश्चात् कभी-कभी मस्तिष्कशोथ (Post : vaccinal encephalitis) भी होता है । इस उपद्रव से रोगी मर सकता है ।

चिकित्सा :—(क) प्रतिषेध :—रोग से बचने का सर्वोत्तम उपाय माता का टीका (Vaccination) लेना है । यह टीका जीवन मे अनेक बार लेना चाहिये । रोग प्रायः वसन्त ऋतु मे प्रारम्भ होता है और वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने पर प्रायः समाप्त हो जाता है इसलिये प्रति २–४ वर्ष पश्चात्, प्रत्येक व्यक्ति को वसन्त ऋतु के पूर्व माता का टीका लेना चाहिये । लेने टीका के पश्चात् रोगक्षमता (Immunity) प्रायः ६–७ वर्ष तक हो रहती है और अन्तिम २–३ वर्षों मे इसके प्रभाव मे कमी होने लगती है इसलिये जिस देश मे प्रति वर्ष इस रोग की सम्भावना रहती है वहाँ प्रति ३–४ वर्ष पर टीका लेना आवश्यक है । रोग होने पर रोगी की परिचर्या करने वाले चिकित्सक, रोगी के परिवार के प्रत्येक लोग, रोगी के आस-पास के महल्लो मे रहने वाले सब लोगों को टीका लेना चाहिये । इस टीके से मनुष्य के शरीर मे जीवित गोमसूरिका (Cowpox) के विषाणु प्रवेश किये जाते हैं । इस रोग मे प्राकृत रोगक्षमता (Natural immunity) अत्यल्प होती है इसलिये, माता का टीका लेने से अथवा रोग उत्पन्न होने पर ही रोगक्षमता उत्पन्न हो सकती है । एक बार रोग हो जाने पर प्रायः रोग होने की सम्भावना नहीं रहती परन्तु यह अनिवार्य नहीं है इसलिये जिन लोगो को रोग हो चुका हो उनको भी टीका लेना चाहिये । स्वस्थ मनुष्यो को ही टीका लगाना चाहिये । किसी अन्य रोग से ग्रसित रहने पर, उस रोग से निवृत्त हो जाने पर ही टीका लेना चाहिये । यह टीका अन्तस्त्वक मार्ग (I D.) से शाखाओ पर लगाया जाता है । प्रथम बार का टीका ४ स्थानो पर होना चाहिये । पुनः टीका लेने पर दो स्थान पर्याप्त है । टीका लगाने वाले स्थान को मद्य से पहले पोछ कर सुखा लेना चाहिये । कोई जीवाणुनाशक औषधि (Antiseptic) प्रयोग नहीं करना

चाहिये अन्यथा टीके में जो जीवित विषाणु रहते हैं उनकी मृत्यु हो जाती है और टीका प्रभावहीन हो जाता है। टीका लगाने के पश्चात् तृतीय दिन टीके का स्थान लाल हो जाता है, चतुर्थ दिन थोड़ा उभार होता है और पाँचवें दिन फफोला (Vesicle) बनता है। इस फफोले (Vesicle) को फटने से बचाना चाहिये। आठवें दिन इसका मध्य भाग सूखने लगता है, नवें दिन उसमें पूय (Pus) संचित होता है और १० वें दिन सूखने लगता है। ३ सप्ताह में प्रायः खुरण्ड (Scab) गिर जाता है। टीका लेने के एक सप्ताह पश्चात् रोगक्षमता की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। जीवन का प्रथम टीका ४–६ मास की आयु के अन्दर लेना चाहिये। बाल्यावस्था में प्रथम टीका लेने से मस्तिष्क शोथ (Encephalitis) की सम्भावना कम रहती है। प्रथम टीका लेने में जितना विलम्ब होता है उतना ही अधिक इस उपद्रव की सम्भावना रहती है। टीका लेने के नवम दिन शरीर में पर्याप्त रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है और चूँकि रोग का सचयकाल (I. P.) इस अवधि से अधिक है इसलिये रोगी के सम्पर्क में आने के दो-एक दिन पश्चात् भी टीका लेने से रोग होने की सम्भावना नहीं होती। टीका लेने के अतिरिक्त रोग से बचने के अन्य उपायों का वर्णन विस्फोटक ज्वर (पृ.४३७) में किया गया है। रोगी को संक्रामक अस्पताल(I.D.) में पृथक रखना अच्छा है परन्तु चूँकि यह रोग वायु से भी फैलता है इसलिये इन अस्पतालों को यथासम्भव बस्ती से दूर होना चाहिये। रोग होने पर स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों को **सूचना** देना आवश्यक है। रोग के सम्पर्क में आये हुये लोगों में किसी ने कुछ दिन पूर्व यदि टीका न लिया हो तब उसको २ सप्ताह अन्य लोगों से मिलने देना नहीं चाहिये। रोग से मरे मनुष्य के शव को नदी आदि में फेंकना ठीक नहीं है। फौरमलीन (Formalin) ४०प्र.श.में एक चादर भिगा कर शव को चादर में लपेट कर तब शव जला देना चाहिये। रोगी के कमरे के सामने भी इसी प्रकार फौरमलीन में भींगा पर्दा लटकाना अच्छा है। कमरे को सूखी झाड़ू से नहीं साफ करना चाहिये। इससे धूल उड़ती है और वायु दूषित होती है। झाड़ू लगाने के पूर्व कमरे में पानी में फौरमलीन मिलाकर छिड़क देना चाहिये। कमरे की दीवारों पर भी पिचकारी से फौरमलीन ५–१० प्र. श. छिड़कना चाहिये। रोगी के स्राव के सम्पर्क में आये समस्त वस्त्र जो जलाये जा सकें, जला देने चाहिये, अन्य को उबाल कर शुद्ध कर लेना चाहिये।

(ख) साधारण चिकित्सा :—इस रोग की चिकित्सा लक्षणों के अनुसार करनी चाहिये। द्वितीयक उपसर्ग रोकने के लिये प्रारम्भ से पेनिसिलीन (P.) या औरियोमाइसीन (Au) का प्रयोग उत्तम है। खुजली (पृ.२१७) के लिये चन्दन का तैल लाभप्रद है। त्वचा पर नारियल का जल लगाने से कुरूपता की सम्भावना कम रहती है। रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा न होने के कारण तथा रोग की अवधि दीर्घ होने के कारण रोगी की सेवा विशेष ध्यान-पूर्वक करनी चाहिये। **जलाल्पता** (Dehydation) तथा **आन्त्रशोथ** (Enteritis) की इस रोग मे विशेष सम्भावना रहती है इसलिये **भोजन** में जल की मात्रा अधिक होनी चाहिये तथा आहार तरल (पृ. ४) व सरलता से पचने वाला होना चाहिये। नेत्र, मुख, त्वचा, कर्ण, कण्ठ आदि को स्वच्छ रखना चाहिये। अन्य चिकित्सा त्वंङमसूरिका (Chicken pox) के समान है। **विषमयता** के कारण **प्रलाप** (Delirium) आदि होने पर शरीर से विष परित्याग कराने के लिये रोगी को अधिक मात्रा मे जल देना चाहिये। सिरामार्ग (I. V.) से ग्लूकोस (Glucose) १२½ प्र. श. ५०–१०० सी. सी. तथा जीवतिक्ति 'सी' (Vit: C) सी. सी. ५०० मि. ग्रा. तक प्र. बा. दे सकते हैं। शामक औषधियो (यो. २२) का आ. अ. प्रयोग करें। रोगी का शरीर गरम पानी से धोने से भी विषमयता मे कमी होती है। एक बाल्टी गरम जल मे सोडी-बाइकार्ब या हाइपो (Hypo) च. ४ डाल कर उससे रोगी को स्नान करा कर त्वचा पर कार्बोलिक तैल (Carbolic oil) अथवा चन्दन का तैल (यो. ८६) लगाने से भी लाभ होता है। कैला-मिन (यो. ७३) भी लगा सकते हैं परन्तु खुजली के लिये उपर्युक्त विधि सर्वोत्तम है। डरमौल (Dermol) लगाने से भी दाग में कमी होती है। शिर मे पीड़ा तथा कमर मे पीडा के लिये सिबाल्जिन (Cibalgin), सैरिडौन (Saridon) आदि की गो. १ आ. अ. दें। रोगनिवृत्ति हो जाने पर रोगी के आहार मे शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। पौष्टिक आहार, औषधि तथा जीवतिक्ति के मिश्रित घोल (Multi-vit) आदि से रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये।

(ग) विशिष्ट चिकित्सा:—इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है परन्तु फिर भी प्रारम्भ से प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr.P) ल. ४ अं.इ.ए.प्र.दि. पेशी मार्ग (I.M.) से १०–१२ दिन देने से लाभ होता है। कुछ दिन पहले

जिसको यह रोग हुआ हो उसकी लसिका (Convalescent serum) के प्रयोग का परिणाम अनिश्चित है। यकृत सत्व (Liver ext:) को पेशीमार्ग (I.M.) से २–५ सी. सी. कर रोग के प्रारम्भ में एक सप्ताह तक लगाने से रोग की गम्भीरता में कमी होती है। माता का टीका लगाने के कारण मस्तिष्क शोथ (Encephelitis) होने पर, जिन अन्य बालकों को उसी वर्ग (Batch) की औषधि का टीका लगा हो उनकी लसिका (Serum) १५–२० सी. सी. पेशीमार्ग (I.M.) से त्रि. या चा. प्र. दि. इन्जेक्शन लगाने से लाभ हो सकता है।

(घ) **अन्य चिकित्सा** :—आहार आदि **निगलते समय कष्ट** होने पर भोजन के पूर्व कण्ठ में नोवोकेन (Novocaine) २ प्र. श. या कोकेन (Cocaine) १ प्र. श. लगाने से पीड़ा कम होती है। **विस्फोट** पर मद्य में बना बोरिक एसिड (Boric acid) २५ प्र. श. का घोल पिचकारी से छिड़क सकते हैं।

विस्फोटक ज्वर (E.F.) की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

इस प्रकार के रोगों में लंघन, वमन, मृदुविरेचन के साथ साथ तरल, लघु पथ्य दें। जन्तुघ्नद्रव्यों का धूपन, हवन व पूजन आदि करें। मृदु शीतवीर्य औषधियाँ दें।

मसूरिका निश्चित होने पर अर्थात् दाने निकलने पर पाव भर कच्चे दूध में ३ माशा हरिद्राचूर्ण व १ तोला दूर्वा स्वरस डालकर एक बार तीन दिन तक नित्य पियें। दाने पड़ने पर लेपनार्थ कपूर व गोघृत तथा खुरंट निकलने वाली अवस्था में हरिद्राचूर्ण व कड़ुआ तैल का प्रयोग उत्तम है। खुरंट निकल जाने पर चिरौंजी आदि के उबटन एवं वर्ण्यलेप लगावें। उपद्रवों की सामान्य चिकित्सा करें अर्थात् ज्वर अधिक होने पर त्रिभुवनकीर्ति रस और कास के लिए वासावलेह दीजिये।

औषधियां :—किम्वादि वटी (१ सप्ताह पर्यन्त), दन्ती भस्म प्रातः सायं, शुक्ति भस्म, मुक्ता भस्म, माणिक्य भस्म, एलाद्यरिष्ट, चन्द्रप्रभा वटी, संशमनी वटी, पर्पटकक्वाथ या सुदर्शन फाण्ट से दें।

प्रयोग :—

दन्ती भस्म १ र.
मौक्तिक पिष्टी १ र.
चन्दनादि लौह १ र.
गुडूची सत्व ४ र.
१ मात्रा
भृष्टैला चूर्ण व मधु से दिन में तीन बार।

रति जन्य रोग (Venereal diseases)

परिचय :—ये रोग निम्न हैं :—(१) फिरंग (Syphilis) (२) उपदंश (Gono) (३) मृदु व्रण (Soft chancre, chancroid), (४) रतिजन्य लसकणिकार्बुद (Lympho granuloma-venereum), (५) वंक्षणीय कणिकार्बुद (Granuloma-inguinale),

कारण :—इनमे फिरंग चक्राणु (Treponema-pallidum) के कारण, उपदंश गुह्यगोलाणु (Neisseria gonorrhae) के कारण, मृदुव्रण डुक्रे दण्डाणु (Hemophilus ducreyi) के कारण तथा रतिजन्यलसकणिकार्बुद (L.G. venereum) एक विषाणु (Virus) के कारण होता है। वंक्षणीय कणिकार्बुद (G. Inguinale) का कारण अनिश्चित है। संभवतः यह डोनोवानपिंड (Donovan bodies) के कारण होता है।

प्रतिषेध :—इनका उपसर्ग प्रायः मैथुन से होता है। इनमें केवल फिरंग **कुलज** है (Hereditary) है, इसलिये मा-बाप मे फिरंग रहने पर संतान मे भी यह रोग हो सकता है। कभी कभी इन रोगो के जीवाणु द्वारा दूषित पदार्थ के संपर्क से भी ये रोग हो सकते है। प्रजनन के समय माता की जननेन्द्रिय मे उपदंश का उपसर्ग रहने पर शिशु के नेत्र मे विकृति हो सकती है। जूठे बर्तन मे पानी पीना या भोजन करना, अनेक लोगो का एक ही तौलिया प्रयोग करना, गोदना गोदवाना, गंदे हाथ नेत्र आदि मे लगाना, बिना दस्ताना पहने विकृत स्थान को छूना, दूषित उस्तरे से हजामत बनवाना आदि क्रियाओ से भी रोग फैल सकता है। परन्तु रोग के फैलाने मे अवैध मैथुन का प्रमुख स्थान है।

सभ्य समाज मे ये रोग तथा इस रोग के रोगियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है इसलिये इन रोगो की चिकित्सा के लिये जो भी प्रबन्ध हो वह अत्यन्त **गोपनीय** होना आवश्यक है अन्यथा रोगी का सहयोग प्राप्त न हो सकेगा। इन रोगों की रोक-थाम मे रोगी की चिकित्सा का प्रमुख स्थान है। वयस्क में इस रोग की रोक-थाम के विषय में प्रचार होना चाहिये। उनको इन रोगों से बचने के उपाय समझाना चाहिये। चिकित्सको को इन रोगों से सम्बन्धित नवीन धारणाओं का ज्ञान कराने के लिये निशुल्क संस्थायें होनी चाहिये। विश्वविद्यालयो मे पढ़ने वाले छात्रों मे इन विषयों पर भाषण, गोष्ठिया

आदि होनी चाहिये। विद्यार्थियों के छात्रावास आदि वेश्यालयों से दूर होने चाहिये। स्त्रियों की चिकित्सा तथा उन्हें इन विषयों का ज्ञान कराने के लिये पर्याप्त संख्या में स्त्रि-चिकित्सकों से सहायता होनी चाहिये। वेश्यावृत्ति समाप्त करने का तथा उनकी जीविका के लिये अन्य उपायों का प्रबन्ध होना चाहिये। वेश्याओं की चिकित्सा, समय समय पर उनकी परीक्षा, तथा उनमें इन रोगों के न होने का प्रमाणपत्र होना चाहिये। वेश्यालयों के समीप इन रोगों से बचने के उपचार का प्रबन्ध होना चाहिये। अन्य रोगों के समान इन रोगों के रोगियों के विषय में स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों को सूचना देने से रोग के छिपाने की ही अधिक सभावना है। वेश्यालयों के समीप चित्र द्वारा जनता को अवैध मैथुन के दोष समझाने का प्रयत्न करना चाहिये परन्तु ये चित्र ऐसे नहीं होने चाहिये कि ये मनुष्य की कामाग्नि को उत्तेजित करें और अवैध मैथुन की प्रवृत्ति में वृद्धि हो। वेश्यालय बस्तियों से दूर होने चाहिये जिससे उनतक पहुँचना सरल न हो। चरित्रहीनता सभ्य समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाना चाहिये। छात्रावास, भोजनालय, पाकगृह, क्षौरकर्म के स्थान, सोडावाटर, आइसक्रीम बनाने के स्थान आदि में काम करने वालों की समय समय पर परीक्षा होनी चाहिये। मेले आदि में वेश्यावृत्ति निषेध होनी चाहिये। रोग से पीड़ित सैनिक, नाविक, सिपाही, विद्यार्थी आदि के चिकित्सा का पृथक पृथक प्रबन्ध होना चाहिये। फिरङ्ग से पीड़ित गर्भिणी स्त्री तथा शिशु की चिकित्सा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वैज्ञानिक विधियों से रोग के निदान तथा चिकित्सा का निशुल्क प्रबन्ध होना चाहिये। अश्लील पुस्तकों, चित्रों, चित्रपट, आकाशवाणी के गाने आदि का प्रचार बन्द होना चाहिये। निष्क्रिय औषधियों के विज्ञापन तथा नीम हकीमों की चिकित्सावृत्ति पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। प्रजनन के बाद शिशु के नेत्र में प्रोटारगल (Protargol) अथवा पेनिसिलीन का घोल डालना चाहिये। अवैध मैथुन के समय फ्रेन्चलेटर (F. L.) का प्रयोग करना चाहिये। मैथुन के पूर्व सोडी-बाइकार्ब ग्रे. २० तीन, चार बार लेना चाहिये। इससे उपदंश की सम्भावना कम हो जाती है। मैथुन के पश्चात् सल्फा औषधियों (Cibazole, S-diazine) की गो. १ नि. प्र. दि. कर २ दिन तक लेना चाहिये और पुरुषों को लिंग साबुन से धोकर उस पर तथा उसके चारों ओर कैलोमेल (Calomel) की मलहम ३३

प्र. श. ५ मिनट तक मालिश करना चाहिये। मूत्रस्रोत (Urethra) को पोटास पर मैंगनेट ($KMnO_4$) के घोल १:५००० से १:१००० से प्रक्षालन (Irrigate) कर मूत्रस्रोत (Urethra) के अन्दर प्रोटारगल (Protargol) का २ प्र. श. घोल २०–३० बूँद प्रवेश कर ५ मिनट रोक कर रखना चाहिये। यह क्रिया ३ दिन तक द्वि. प्र. दि. करनी चाहिये। स्त्रियों को भी पोटास पर मैंगनेट के घोल से योनि को धोना चाहिये।

रतिजन्य रोगो का निदान :—(१) **फिरंग** का निदान रोग के **लक्षणों** पर निर्भर करता है। नैदानकीय परीक्षायें (Pathological tests) रोग के लक्षण रहने पर निदान मे सहायक हैं। ये परीक्षायें अपवाद रहित नहीं हैं। **प्रथम अवस्था** (Primary stage) मे १० से २१ दिन पूर्व अवैध मैथुन का इतिहास, कठिन व्रण (Hard chancre) की उत्पत्ति, प्रजनन (Genitals) स्थान पर पीड़ा रहित व्रण, पीड़ा रहित तथा पूयरहित (Non-fluctuating) वङ्क्षणीय लसग्रन्थियो (Inguinal glands) की वृद्धि, व्रण की लसिका मे (Serum) मे चक्राणु (Spirochaetes) का मिलना निदान मे सहायक हैं। रोग की **द्वितीयक अवस्था** (Secondary) मे चिरकालीन गलशोथ (Pharyngitis), अज्ञात कारण जन्य रक्ताल्पता, लसग्रन्थियो की व्यापक, पीड़ारहित वृद्धि तथा विशिष्ट विस्फोट (Rash) निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण लक्षण है। रक्त तथा ब्रह्मवारि (C.S.fluid) मे वासरमन (W.R.) तथा कान कसौटियाँ (Kahn) अस्त्यात्मक (+) होती है। **तृतीयक (Tertiary) अवस्था** मे, शरीर के किसी भाग मे यदि कोई ऐसी सूजन निकलती हो जो अत्यन्त धीरे-धीरे मध्य मे मृदु होकर व्रण बनती हो और शनैः शनैः भरती हो अथवा एक स्थान पर भरती हो और आगे की ओर सर्प के समान (Serpiginous) बढती जाती हो तब रक्त मे कान (Kahn) अथवा वासरमन (W.R.) कसौटियाँ कर रोग निश्चित करना चाहिये। **चतुर्थ अवस्था** (Fourth stage, nervous stage) मे ब्रह्मवारि (C.S. fluid) पर लैंगे की स्वर्णनीरेय कसौटी (Lange's gold chloride test) करना चाहिये।

रोग की प्रथम अवस्था उपसर्ग के प्रायः तीन सप्ताह पश्चात्, द्वितीय अवस्था ३ मास पश्चात्, तृतीय अवस्था ३ वर्ष पश्चात् तथा चतुर्थ अवस्था १२ वर्ष पश्चात् उत्पन्न होती है। कूर्परोर्ध्व लसग्रथियों (Epitrochlear

glands) की वृद्धि तथा जानु प्रतिक्षेप (Knee jerk) में परिवर्तन निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण लक्षण हैं। सहज (Congenital) फिरङ्ग मे कठिन व्रण (Hard chncre) के अतिरिक्त रोग के प्राय: सब लक्षण मिलते हैं। हचिसन की त्रयी (Hutchinson's triad) का विशेष महत्व है। इसमें तीन लक्षण मिलते हैं। हचिसन के दाँत (Hutchinson's teeth), अन्तरालीय स्वच्छ मण्डलशोथ (Interistial keratitis) तथा बाधिर्य (Deafness)। इसके अतिरिक्त माता में अनेक बार गर्भपात या मृतवत्सता (Stillbirth) का इतिहास होना है तथा बालक की आकृति वृद्ध के समान होती है। माता-पिता तथा बालक की रक्त परीक्षा में 'कान' अथवा वासरमन कसौटियों का अस्त्यात्मक (+) होना महत्वपूर्ण है।

(२) **उपदंश** मे उपसर्ग के १ सप्ताह के अन्दर अवैध मैथुन का इतिहास, उपसर्ग के ३ से ८ दिन के अन्दर मूत्रोत्सर्ग मे दाह तथा मूत्रस्रोत (Urethra) से पूय का निकलना निदान की दृष्टि से पर्याप्त प्रमाण हैं। विकृत स्थान के स्राव मे गुह्य गोलाणु (Gonococcus) का मिलना रोग का निश्चित प्रमाण है। चिरकालीन अवस्था मे गुदामार्ग से अष्ठीलामर्दन (Prostatic massage) कर अष्ठीलाग्रथि के स्राव में गुह्य गोलाणु के लिये खोज करना चाहिये। दोषमयता (Septecemia) की अवस्था में **रक्त-संवर्ध** (Blood culture) द्वारा गुह्य गोलाणु का ज्ञान सम्भव है अन्यथा विकृत स्थान के स्राव को ग्राम (Gram) या मेथिलिन ब्लू (Methylene blue) द्वारा रंजित कर गुह्य गोलाणु के लिये देखना चाहिये। स्राव की **संवर्ध** (Culture) परीक्षा भी कर सकते हैं।

गुह्यगोलाणु वृक्क के आकार के होते है और दो-दो गोलाणु एक साथ (Diplococci) श्वेतकणों (W. B. C.) के अन्दर (Intracellular) रहते हैं। ग्राम द्वारा रंजित करने पर ये ग्राम त्यागी (−) होते हैं। **चिरकालीन अवस्था** मे रोगी के रक्त मे क्षम-द्रव्य (Immune bodies) उत्पन्न होते है इस कारण इस अवस्था मे सपूरक बंधन कसौटी (Compliment fixation test) अस्त्यात्मक (+) हो सकती है। पुरुषों मे मूत्र संस्थान में विकृति होने पर यदि रोगी को **दो ग्लास** मे मूत्र परित्याग करने के लिए कहा जाय तब रोग की तीव्र-अवस्था मे मूत्रस्रोत (Urethra) के अग्रिम भाग में विकृति रहने पर प्रथम ग्लास मे मूत्र गदला रहता

है और चिरकालीन अवस्था में दोनो ग्लास में तागे के समान (Threads) पदार्थ मिलते हैं। स्त्रियों मे मूत्रस्रोत तथा योनिगुहा (Vagina) के स्राव में गुह्य गोलाणु के लिये देखना चाहिये।

(३) **मृदुव्रण** मे उपसर्ग के एक सप्ताह के अन्दर प्रजनन स्थान पर अनेक छोटे-छोटे पीड़कर व्रण निकलते हैं। वंक्षणीय लसग्रन्थियाँ (Inguinal glands) पीड़ाकर होती हैं और उनमें पूयभवन होने के कारण तरंग-संचरण (Fluctuation) मिलता है।

(४) **रतिजन्य लसकणिकार्बुद** (L.G. Venerum) मे प्रजनन स्थान पर पीडारहित व्रण होते। वंक्षणीय लसग्रथियों (Inguinal glands) मे पूयभवन होता है और **फ्री-कसौटी** (Frei test) तथा सपूरक बंधन कसौटी (Compliment fixation test) अस्त्यात्मक (+) होती है। रक्त मे अल्बूमिन तथा ग्लोबुलिन का अनुपात (Albumin Globulin ratio) विपरीत हो जाता है। इसमे **वासरमन कसौटी** (W.R.) भी साधारण अस्त्यात्मक होती है, इसलिये फिरग की शका का समाधान करना आवश्यक है। रोग की अवधि एक मास होने पर भी यदि फ्री कसौटी नास्त्यात्मक (–) हो तक इस रोग की सम्भावना नही है परन्तु अस्त्यात्मक (+) कसौटी अन्य कारणो से भी सम्भव है।

(५) **वंक्षणीय कणिकार्बुद** (G. Inguinale) मे पीड़ारहित तथा वर्धनशील व्रण मिलते हैं। लसग्रन्थियो (Lymph-glands) की प्रायः वृद्धि नही होती। इसकी कोई विशिष्ट परीक्षा नही है। विकृति के स्थान को रगड़ने के वाद निकले हुए पदार्थ (Scraping) को लेकर 'राइट के रग' (Wright's stain) से रञ्जित करनेसे 'डोनोवानपिड' (Donovan bodies) मिलता है।

(अ) उपदंश (Gonorrhoea)

परिचय :—गुह्य गोलाणु (Gonococci) जन्य यह औपसर्गिक रोग मनुष्य मे व्यापक विकृति उत्पन्न करता है। मूत्र-प्रजनन संस्थान (Genito-urinary-system) तथा नेत्र के अतिरिक्त दोपमयता (Septecimia) के कारण शरीर के अन्य भागों मे भी विकृति कर सकता है जैसे अन्तर्हृच्छोथ, (Endocarditis), सन्धिशोथ (Arthritis), उदरावरण शोथ (Peritonitis) आदि। रोग का संचयकाल (I. P.)

प्रायः ३ दिन है। आधुनिक चिकित्सा से प्रायः शत प्रतिशत रोग निवृत्त होने की संभावना रहती है इसलिये यथाशीघ्र रोगविनिश्चिति आवश्यक है जिससे विशिष्ट औषधियों द्वारा पर्याप्त मात्रा में यथाशीघ्र विशिष्ट चिकित्सा प्रारम्भ की जा सके और रोगी पूर्णरूपेण रोग मुक्त हो जाये, अन्यथा उपद्रवों की संभावना रहती है और रोग चिरकालीन हो जा सकता है।

निदान :–इसका वर्णन रतिजन्य रोगों के निदान (पृ.४४६) में देखिये।

कुछ **उपद्रवों** के लक्षण :—(१) **अष्ठिला ग्रन्थिशोथ** (Prostatitis) :—इस अवस्था मे मूत्र परित्याग करने में कष्ट के साथ साथ मूलाधारपीठ प्रदेश (Perinium) में भी पीड़ा होती है। मल परित्याग करते समय मूलाधारपीठ प्रदेश की पीड़ा मे वृद्धि होती है। साथ-साथ कम्प के साथ ज्वर तथा कमर के नीचे पीड़ा हो सकती है। मूत्रनिरोध (Retention) भी संभव है।

(२) **अधिवृषणिका शोथ** (Epididymitis) :—इस विकृति की तीव्र अवस्था में वृषण ग्रन्थि (Testes) मे शोफ तथा पीड़ा होती है। ग्रंथि के ऊपर की त्वचा लाल तथा गर्म होती है। ग्रन्थि दबाने से पीड़ा की वृद्धि होती है।

(३) **तीव्र मूत्रस्रोतशोथ** (Acute urethritis) :—**पुरुषों** मे यह विकृति होने पर मूत्रपरित्याग मे पीड़ा होती है और मूत्रस्रोत से पूय निकलता है। **स्त्रियों** में यह विकृति होने पर मूत्रस्रोत द्वार (Ext: meatus) तथा योनिगुहा (Vagina) मे शोफ होता है और ये रक्तवर्ण होते हैं।

(४) **श्रोणि गुहा गतशोथ** (Pelvic inflammation) :—यह विकृति प्रायः स्त्रियों में होती है। इस अवस्था मे ज्वर आदि व्यापक लक्षणों के अतिरिक्त उदरावरण शोथ (Peritonitis) के लक्षण मिल सकते हैं। उदर के अधोभाग में दबाने से पीड़ा प्रतीत होती है और इस स्थान पर पिण्ड (Mass) मिल सकता है।

चिकित्सा (१) प्रतिषेध :–रतिजन्य रोगों से बचने के उपायों का वर्णन (पृ.४४८) पर देखिये। चिकित्सा के सम्बन्ध में निम्न विषयों का ध्यान रखना आवश्यक है। :— (क) **पेनिसिलीन** (P) इस रोग की विशिष्ट औषधि है, साथ-साथ यह औषधि फिरंग (Syphilis) की भी विशिष्ट औषधि है।

फिरंग का संचय काल (I.P.) तीन सप्ताह होने के कारण यदि इन दोनों रोगों का उपसर्ग एक ही समय होता है तब इस औषधि के साधारण मात्रा में अल्प समय तक प्रयोग करने से फिरंग के लक्षण दब जाते हैं और आगे चलकर इनके उग्र होने की सम्भावना रहती है। इसलिये यथासम्भव यह पता लगा लेना अच्छा हैं कि फिरंग की सम्भावना है या नही। यह जानने के लिये एक मास पर्यन्त ए. प्र. स. रोगी की परीक्षा करनी चाहिये तथा कठिन प्राथमिक व्रण (Hard chancre), विस्फोट (Rash) आदि के लिये ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिये।

(ख) उपदंश की चिकित्सा मे मुख या इन्जेक्शन द्वारा ही औषधि प्रयोग करना चाहिये। मूत्र-संस्थान की स्थानिक चिकित्सा, विशेषकर रोग की तीव्र अवस्था मे नहीं करना चाहिये।

(ग) भारतवर्ष मे इस रोग के रोगी प्रायः अनुपयुक्त मात्रा मे स्वय सल्फा (S) औषधियो का प्रयोग करने के पश्चात् अथवा अन्य अवैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा चिकित्सा करने के पश्चात् चिकित्सक के पास आते हैं। इस अवस्था मे केवल पेनिसिलीन द्वारा विशिष्ट चिकित्सा का प्रभाव होने में समय लगता है तथा अन्य औषधियो की सहायता लेनी पड़ती है।

(घ) विशिष्ट चिकित्सा का परिणाम यदि बार बार निराशाप्रद हो तब समझना चाहिये कि रोगी अवैध मैथुन परित्याग नहीं कर रहा है और उसमे बराबर रोग का नवीन उपसर्ग हो रहा है।

(ङ) रोग से बचने की दृष्टि से अवैध मैथुन के पूर्व अल्प मात्रा में पेनिसिलीन का इन्जेक्शन लेना वैज्ञानिक नहीं है। इससे रोग के लक्षण कुछ समय के लिये दब जा सकते हैं परन्तु बाद मे उनके उग्र होने पर पेनिसिलीन का प्रभाव उत्तम नहीं होता। फिरंग की दृष्टि से भी यह क्रिया उत्तम नही है।

(च) रोग की **तीव्र अवस्था** मे पेनिसिलीन (P), सल्फा (S) तथा क्लोरोमायसिटीन (Cln) का प्रयोग उत्तम है। **चिरकालीन** अवस्था मे इन औषधियों के अतिरिक्त दुग्ध, मसूरी (Vaccine) आदि का इन्जेक्शन लगाना चाहिये।

(२) विशिष्ट चिकित्सा :—(क) **पेनिसिलीन** :—इस औषधि के दो योग प्रयोग किये जाते हैं :—(च) **प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr. P.)** :—इस औषधि की ४ ल. अ. इ. की मात्रा ए. प्र. दि. कर ५ दिन तक पेशीमार्ग

(I.M.) से देना चाहिये। (छ) **पेनिसिलीन 'जी' (P. 'G') :**—इस औषधि की २०,००० से ५०,००० अ. इ. की मात्रा ५ दिन तक प्र. ३ घं. अवस्त्वक मार्ग (S.C.) से प्रयोग करना चाहिये।

(ख) **सल्फा (S) ओषधियाँ :**—पेनिसिलीन (P) से लाभ न होने पर या इस औषधि के प्रयोग करने पर प्रतिक्रिया (Reaction) होने की संभावना रहने पर अथवा फिरंग (Syphilis) की भी सम्भावना रहने पर, प्राय. सल्फा ओषधियो का मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है। चिकित्सा प्रारम्भ होने में विलम्ब होने पर पेनिसिलीन तथा सल्फा औषधियो का साथ-साथ प्रयोग करना अच्छा है। सल्फाथियाजोल (S-thiazole) अथवा सल्फाडियाजीन (S-diazine) की २ गोली सोडी बाइकार्ब ग्रे. २० के साथ त्रि. या. चा. प्र. दि. कर ५ दिन तक देना चाहिये। इस औषधि का घोल (यो. ४७) भी इसी प्रकार प्रयोग कर सकते हैं।

(ग) **लेखक की विधि :—प्रथम पाँच दिन** प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr. P.) ४ ल. अं. इ. प्र. दि. पेशी मार्ग (I.M.) से दें तथा सिबाजोल (Cibazole) की २ गोली सोडी बाइकार्ब १५ ग्रे. के साथ त्रि. प्र. दि. मुख से दें। **छठवें दिन :**—एक सप्ताह पर्यन्त कार्य करनेवाली पेनिसिलीन (Penidure) की १२ लक्ष. अं. इ. की मात्रा पेशीमार्ग से १ बार दें। **सातवें से ग्यारहवें दिन पर्यन्त** औरियोमाइसीन (Au) मि. ग्रा. २५० का १ कै. त्रि. प्र. दि. दें।

(घ) **उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ न होने पर** निम्न औषधियों का प्रयोग कर सकते हैं :—(च) पेनिसिलीन के साथ स्ट्रेप्टोमाइसीन (Cumbiotic, dicrysticin, spemycin, omnamycin) की ग्रा. १/२ की मात्रा पेशीमार्ग (I. M.) से ए. प्र. दि. कर ५ दिन तक इन्जेक्शन दे सकते हैं **अथवा (छ) टेरामाइसीन** (Tn) २५० मि. ग्रा. का कैपस्यूल प्रथम कै. २ तत्पश्चात् कै. १ चा. प्र. दि. करके ५ दिन तक मुख से देना चाहिये।

(३) **विजातीय प्रोभूजिन (Foreign : ptn:) चिकित्सा:**—उपदंश में ज्वर उत्पन्न करने से लाभ होता है। ज्वर उत्पन्न करने के लिये निम्न क्रियायें की जाती हैं :—(क) **टी. ए. बी. मसूरी (T. A. B. vaccine) :**—इस औषधि को सिरामार्ग (I. V.) से प्रथम २½ करोड़

जीवाणु की मात्रा मे प्रयोग करें। तत्पश्चात् प्रति २-३ दिन पर शनैः शनैः मात्रा बढानी चाहिये। १०४°फा.तक ज्वर की वृद्धि होना आवश्यक है **अथवा** (ख) बी. कोलाई मसूरी (B. coli vaccine) :—यह औषाध भा टी. ए. बी. के समान प्रयाग की जाती है। इसकी प्रथम मात्रा ५ करोड़ जीवाणु होना चाहिये (ग) **दुग्ध** (Aolan, lactolan) २–१० सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से प्रति तृतीय दिन ६–१२ बार इजेक्शन देना चाहिये।

(४) **अन्य चिकित्सा** :—रोग की तीव्र अवस्था मे **विश्राम** करना चाहिमे। जल तथा क्षार (यो. २७) के प्रयोग से मूत्र परित्याग करते समय **जलन** मे कमी होती है। **उद्वेष्टन** (Spasm) के कारण मूत्र परित्याग करते समय यदि कष्ट हो तब क्षार क योग-मे टि. बेलाडोना मि. ८ प्र. मात्रा मिला देना चाहिये। आहार मे खट्टा, मिर्च, मसाला, मास तथा मद्य प्रयोग न करना चाहिये। ये परहेज कम से कम तीन मास करना चाहिये और जबतक रोगी पूर्णरूप से रोग निवृत्त न हो जाये मैथुन निषेध है। इन परहेजों मे कमी होने पर रोग के पुनरागमन की सम्भावना रहती है। कब्ज नही होनी चाहिये। एनिमा अथवा कैसकरा मि. २० त्रि. प्र. दि. प्रयोग कर सकते हैं। अधिवृषणिका (Epidydimis) मे विकृति होने पर वृषण (Scrotum) को लंगोट से उठा कर रखना चाहिये, उसको शीतल जल से ठण्डा रखना चाहिये अथवा उस पर इक्थियोल ग्लिसरीन (यो. ७७) लगाना चाहिये। **पीड़ा** के लिये सिबाल्जिन (Cibalgin, saridon) बारबिटोन (Bn) आदि की गो. १ आ. अ. देना चाहिये। **पीड़ाकर ध्वजहर्ष** (Priapism) होने पर लिंग पर बरफ लगाना चाहिये और मुख द्वारा शामक औषधि (यो. २२) का आ. अ. प्रयोग करें। **श्रोणिगुहा में शोथ** (Pelvic inflammation) होने पर पेनिसिलीन (P.) तथा सल्फा (S.) के अतिरिक्त रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। तबतक विश्राम करना चाहिये जबतक लक्षणो का पूर्णरूप से शमन न हो। विश्राम परित्याग करने के पूर्व ज्वर श्वेतकणो (W.B.C.) की संख्या तथा रक्तावसादनगीत (E.S.R.) प्राकृत हो जानी चाहिये। आ. अ. शल्यकर्म (Op.) कर सकते हैं। स्त्रियों मे लाइकर सिडैन्स (Liq: sedans) मि. ६० त्रि. प्र. दि. देने से पीड़ा मे कमी होती है। अन्तस्तापन (Diathermy) तथा रोगी को गरम जल में कमर तक डुबाकर बैठाने (Hip bath) से भी लाभ होता है।

(२) **स्थानिक चिकित्सा :**—रोग की तीव्र अवस्था में स्थानिक चिकित्सा कदापि नहीं करनी चाहिये। अत्यन्त चिरकालीन अवस्था में, पुरुषों में स्थानिक चिकित्सा कर सकते हैं।

इस क्रिया की दो विधियाँ :—(क) **मूत्रस्रोत (Urethra) से जब अधिक मात्रा में स्राव आता हो :**—इस अवस्था में रोगी को खड़ाकर यह क्रिया करनी चाहिये। डूशकैन (Douche can) में पोटास पर मैंगनेट ($Kmno_4$) का घोल १ : १०,००० पा. २ भरकर कैन को पृथ्वी से ६ फीट ऊँचा टागना चाहिये। औषधि को मूत्रस्रोत (Urethra) में स्वय ही प्रवेश करना चाहिये। इसके लिये किसी प्रकार का बल प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस क्रिया को करते समय चिकित्सक को अपने नेत्रों को चश्मे से ढक कर रखना चाहिये अन्यथा नेत्र मे उपसर्ग होने की सभावना रहती है। यह क्रिया प्र.दि. २-३ बार कर सकते हैं। स्राव में कमी हो जाने पर यह क्रिया बन्द कर देनी चाहिये। पेनिसिलीन (P.) द्वारा चिकित्सा से प्रायः स्राव शीघ्रता से स्वय ही बन्द हो जाता है और इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

(ख) चिरकालीन अवस्था मे कभी कभी स्राव में अत्यल्प संख्या मे उपदंश के जीवाणु मिलते हैं। स्राव की मात्रा कम हो जाती है परन्तु स्राव पूर्णरूप से बन्द नहीं होता। दो गिलास मे मूत्र परित्याग करने से दोनो गिलास में मूत्र निर्मल रहता है परन्तु धागे (Threads) मिलते हैं। इस अवस्था में उपसर्ग मूत्रस्रोत (Urethra) के ऊर्ध्व भाग मे रहता है। प्रथम रोगी को १ गिलास जल पीना चाहिये। १ घंटा पश्चात गुदा मार्ग से अगुलि प्रवेश कर अष्ठिला ग्रथि (Prostatic massage) की मालिश करना चाहिये। अब रोगी को मूत्र परित्याग करवायें। तत्पश्चात सिरिंज के द्वारा ग्लिसरीन (Glycerine) मि. ६० मूत्रस्रोत (Urethra) मे प्रवेश कर धीरे-धीरे लिंग की ऊर्ध्व दिशा मे मालिश करे जिससे औषधि ऊपर की ओर प्रवेश करे।

रोगनिवृत्त होने के प्रमाण :—स्थानिक तथा व्यापक सब प्रकार के लक्षणों का पूर्ण रूप से शमन होना चाहिये। मूत्रस्रोत (Urethra), अष्ठिला-ग्रन्थि (Prostate), गर्भाशयग्रीवा (Cervix) आदि स्थानों के स्राव की साधारण (Smear) तथा सम्वर्द्ध (Culture) परीक्षाओं मे गुह्य-गोलाणु (Gono) नहीं मिलने चाहिये। ये परीक्षायें करने के पूर्व उपदंश की मसूरी (Vaccine) ३ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से इंजेक्शन

द्वारा देने से स्राव में वृद्धि होती है और परीक्षा मे सहायता मिलती है । रक्त मे उपदंश के विरुद्ध सपूरक बंधन कसौटी (Compliment fixation test) नास्त्यात्मक (–) हो जानी चाहिये । रोग से पूर्ण रूप से मुक्त होने पर ही विवाह अथवा मैथुन करना चाहिये ।

उपदंश की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

इस रोग में शोथ व व्रणनाशक तथा मूत्रल द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए। वातानुलोमक आहार का प्रयोग करे । उत्तरवस्ति का प्रयोग चिरकालीन अवस्था मे करना चाहिये ।

शिश्न मे अधिक पीडा व शोथ होने पर चमेली पत्र स्वरस या त्रिफला के कोष्ण क्वाथ मे शिश्न को रखना चाहिए । सारिवा क्वाथ मे नरसार व यवक्षार मिलाकर पिलावे अथवा बबूल का गोंद जल मे घोलकर यवक्षार मिलाकर पीने को दे ।

जल मिला दूध, श्वेतचन्दन, गुडूची, हरिद्रा, आमलकी, गोक्षुर आदि द्रव्यो का रस, चूर्ण एवं क्वाथ का प्रयोग अनुपान में प्रायः करते है ।

औषधियाँ :—व्रणमेहहर चूर्ण, देवदारु क्वाथ, जातीफलक्वाथ, चन्दनादि वटी, चन्द्रप्रभा वटी, महाभ्रवटिका, चन्दनासव, कन्दर्परस, श्वेत पर्पटी ।

प्रयोग विधि । दृष्टान्त :—

तीव्रावस्था में—

माजूफल चूर्ण	३ मा.	सबको मिलाकर कच्चे दुग्ध की लस्सी के साथ तीन दिन तक पिये ।
पपरिया कत्था	३ मा.	
चन्दन तैल	२ मा.	

चिरकालीनावस्था में :—

(१) चन्द्रप्रभा वटी २
पीपल पत्र क्वाथ ५–१० तो.
सममात्रा मे बकरी का दूध
मिलाकर ले :

(२) श्रीवेष्टक तैल १ या २ बूंद
चन्दन तैल २ या ४ बूद
बतासे मे रखकर दें ।

या
वटक्षीर १ बूद से २१ बूद तक
बताशे मे रखकर क्रमशः मात्रा
बढाते हुए दें ।

(३) चन्दनासव १॥ तो० समजल
मिलाकर भोजनोत्तर दे ।

(४) उत्तरवस्ति त्रिफला क्वाथ से दें।

(आ) फिरंग (Syphilis)

परिचय :—फिरग मे समय समय पर लक्षण अस्पष्ट हो जाते हैं। इसको रोग की की सुप्त (Latent) अवस्था कहते हैं। इस अवस्था मे रक्त तथा ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) की परीक्षा से सहायता मिलती है। **ब्रह्मवारि** मे श्वेतकण (W. B. C.) तथा प्रोटीन (Ptn) की परीक्षा मे रोग की कार्यशीलता (Activity) का ज्ञान होता है। इन दोना परीक्षाओ के अतिरिक्त ब्रह्मवारि पर वासरमन (W.R.), कान (Kahn) तथा स्वर्णनीरेय (Gold chloride) परीक्षायें भी करना चाहिये।

फिरंग की रक्तपरीक्षायें फिरंग के अतिरिक्त विषम ज्वर (M.P.), कालज्वर (K. A.), कुष्ठ (Leprosy), परगां (Yaws), रतिजन्य लसकणिकार्बुद (Lymphogranuloma venerum) तथा माता के टीके (Vaccination) के पश्चात भी अस्त्यात्मक (+) होती है। रोग की सभावना रहने पर भी यदि रक्त-परीक्षाये नास्त्यात्मक (–) हो तब एन. ए. बी. (N. A. B.) ग्रा. ०·१५–०·३० की एक मात्रा सिरामार्ग (I. V.) से दकर एक सप्ताह पश्चात पुनः रक्त-परीक्षा करनी चाहिये। इसको उत्तेजक मात्रा (Provocative dose) कहते हैं।

(क) **प्रथम अवस्था** मे कठिन व्रण (Hard chancre) प्रजनन स्थान पर प्रायः अकेला मिलता है। ये कभी २ सख्या मे अनेक अथवा शरीर के अन्य भागो मे भी मिल सकते है। वक्षणीय लसग्रंथियाँ (Inguinal lymph glands) एक या दोनों पार्श्व मे पीड़ा रहित, एक दूसरे से पृथक तथा रबर के समान कठिन होती हैं।

(ख) द्वितीयक अवस्था प्रथम अवस्था के २–३ सप्ताह पश्चात प्रारम्भ होती है। इसमे ज्वर, लसग्रथियां की व्यापक पीड़ारहित वृद्धि, कण्डुरहित विस्फोट, नेत्र, कण्ठ, नासा मे शोथ, बालो का गिरना, सधियो मे पीड़ा आदि व्यापक विकृति होती है। त्वचा तथा श्लैश्मिकला (M. M.) की विकृतियो मे चक्राणु (Spirochaetes) मिलते है। रक्तपरीक्षायें स्पष्टरूप से अस्त्यात्मक (+) होती है। रोगी की उपयुक्त किचित्सा न होने से रोग का **पुनरावर्तन** (Relapse) हो जाता है। रोग की **सुप्त** (Latent) अवस्था किसी भी समय हो सकती है। इस अवस्था मे रक्तपरीक्षा के अतिरिक्त प्रायः रोग का अन्य कोइ प्रमाण नहीं मिलता।

(ग) **तृतीय अवस्था** मे प्रायः शरीर के किसी भाग मे गोदार्बुद (Gumma) मिल सकते हैं। इस अवस्था मे विकृति एक या अनेक स्थानो पर एक साथ हो सकती है।

(घ) **चतुर्थ अवस्था** मे वातनाड़ी संस्थान (C.N. System) मे विकृति होती है। यह विकृति रोग की किसी भी अवस्था मे हो सकती है।

सुप्तावस्था (Latent) मे चिकित्सा न होने पर बाद मे लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। **स्पष्ट** अवस्था मे तीव्र या चिरकालीन **मस्तिष्कावरण शोथ** (Meningitis) हो सकता है। फिरंग की उपयुक्त चिकित्सा न होने पर यह विकृति उपसर्ग के २ वर्ष के अन्दर तीव्र तथा २० वर्ष के अन्दर चिरकालीन रूप धारण करती है। तीव्र अवस्था मे भी मस्तिष्कावरण के प्रक्षोभ (Meningeal irritation) के लक्षण साधारण ही होते है। **फिरंगी-खंजता** (Tabes dorsalis) के लक्षण उपसर्ग के २–२५ वर्ष पश्चात मिल सकते हैं। नेत्र मे अर्गाइल राबर्टसन की कनीनिका (Argyll Robertson pupil) का मिलना तथा प्रतिक्षेपों (Reflexes) का नास्त्यात्मक (–) होना आदि लक्षण मिलते हैं। रक्त परीक्षाये ५०–७५ प्र. श. रोगियो मे अस्त्यात्मक (+) होती हैं। उपसर्ग के २ – २० वर्ष पश्चात **फिरंगज सर्वाङ्गघात** (G. P. I.) हो सकता है। इसमे मानसिक विकृति तथा अंगघात (Paralysis), के अतिरिक्त नेत्र, वाणी आदि मे विकृति होती है। प्रतिक्षेप (Reflexes) अस्त्यात्मक (+) होते है। रक्त परीक्षायें अनिश्चित होती है। वातनाड़ी सस्थान की विकृतियो मे, **मस्तिष्कावरणशोथ** मे ब्रह्मवारि (C.S.Fluid) मे साधारण परिवर्तन, **फिरंगी-खंजता** मे रोग की अवस्था के अनुसार साधारण या अत्यधिक परिवर्तन तथा **फिरंगज सर्वाङ्गघात** मे अत्यधिक परिवर्तन मिलते है।

(ङ) **सहज फिरंग** (Congenital) मे जीवनारम्भ मे रक्त परीक्षायें परम अस्त्यात्मक (+) होती हैं परन्तु ये शनैः शनैः कम अस्त्यात्मक होकर कई वर्ष पश्चात नास्त्यात्मक (–) हो जाती है।

चिकित्सा (क) **प्रतिषेध** :—इससे बचने के उपायो का वर्णन मैथुन जन्य रोगों से बचने (पृ. ४४८) के उपायो मे देखिये।

(ख) **सिद्धान्त** :—इस रोग की चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोगी की अच्छी प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। इन परीक्षाओं से रोग तथा रोगी

की स्थिति का ज्ञान होता है। प्रत्येक रोगी के लिये कौन सा चिकित्साक्रम उपयुक्त होगा यह प्रारम्भ से ही निर्धारित किया जाना चाहिये, क्योंकि फिरग की सब औषधियाँ, उनकी मात्रायें तथा सम्मिश्रण प्रत्येक रोगी के लिये उपयुक्त नहीं होते। इस दृष्टि से रोगी की सास्थानिक परीक्षा के अतिरिक्त रक्त, ब्रह्मवारि (C.S. Fluid) की विशिष्ट परीक्षायें, मूत्र परीक्षा विशेषकर शुक्लि (Alb) के लिए, क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा आदि करना चाहिये। इन परीक्षाओं से रोगी को निम्न किसी विभाग मे रख सकते हैं :—

वर्गीकरण :—चिकित्सा की दृष्टि से फिरग का वर्गीकरण :—

१ :—**प्रथमावस्था** (क) रक्त परीक्षायें नास्त्यात्मक (–)। (ख) रक्त परीक्षायें अस्त्यात्मक (+)।

(२) **द्वितीयक अवस्था**।

(३) **तृतीय अवस्था** :—(क) **सुप्तावस्था** (Latent)। (ख) **रक्त-वह संस्थान** (C. V. System) तथा यकृत, वृक्क आदि आशयो (Viscera) में विकृति दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) के साथ अथवा बिना हृदयातिपात के।

(४) **चतुर्थावस्था** :—वातनाड़ी सस्थान (C.N. System) मे विकृति रहने पर। (५) **गर्भावस्था**।

नोट :—उपर्युक्त वर्गीकरण में प्रथम तथा द्वितीयक अवस्थायें रोग की **आरंभिक** (Early) अवस्था तथा तृतीय और चतुर्थ अवस्थायें **विलम्बी** (Late) अवस्था मानी जाती है।

रोग की **सुप्तावस्था** (Latent) मे चिकित्सा द्वारा अत्यल्प रोगियों मे ही रक्त परीक्षायें नास्त्यात्मक (–) की जा सकती हैं। इन रोगियों मे भविष्य मे होनेवाले रोगके परिणाम (Sequelae) चिकित्सा द्वारा रोके जा सकते है।

गर्भावस्था मे रोग का पता लगने पर तत्काल ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देना चाहिये। चिकित्सा के पश्चात् जो बालक उत्पन्न होता है उसमे ६ मास तक रक्त-परीक्षा आदि द्वारा फिरग के प्रमाण के लिये देखते रहना चाहिये। रोग का प्रमाण मिलने पर शिशु की भी चिकित्सा करनी चाहिये।

रक्त-वह संस्थान (C.V. System) मे फिरग के कारण, महाधमनी (Aorta) का विस्फार (Dilatation), धमन्यभिस्तीर्णता (Aneurysm), हृद्धमनी सकोच (Coronary stenosis), महा-

धमनी प्रत्युद्गीरण (Aortic regurgitation) आदि विकृतियाँ होती हैं। ये विकृतियाँ उपसर्ग होने के १५–३० वर्ष पश्चात मिलती हैं। इन विकृतियों में हृदय मे पीड़ा, महाधमनी द्वितीय शब्द (Aortic second sound) में परिवर्तन तथा हृदय की अभिस्तीर्णता (Dilatation) आदि लक्षण मिलते हैं। **निदान** की दृष्टि से ज्वर, हृच्छूल (Angina pectoris) तथा हृद्जन्य तमकश्वास (Cardiac asthma) का इतिहास महत्वपूर्ण लक्षण हैं। चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रक्ताधिक्यज हृदयातिपात (C.H.F.) के प्रमाण जैसे, यकृत की पीड़ाकर वृद्धि, शोफ (Oedema) आदि का पता लगाना चाहिये क्योंकि यह विकृति रहने पर चिकित्साक्रम में परिवर्तन करना पड़ता है। विद्युतहृल्लेख (Ecg.), वक्ष की क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) तथा क्ष-रश्मि दर्शन (Fluoroscopy) द्वारा हृदय का परिमाण (size), धमन्यामिस्तीर्णता (Aneurysm), हृत् धमनी (Coronary artery) की स्थिति आदि का पता लगाना चाहिये।

संखिया आदि की प्रतिक्रिया (Reaction):—**संखिया** (As) आदि द्वारा इस रोग की चिकित्सा करते समय निम्न उपद्रव हो सकते है। ये उपद्रव पेनिसिलीन (P.) द्वारा चिकित्सा करते समय अत्यल्प होते हैं:—

(क) **तात्कालिक उपद्रव** :—(१) इन्जेक्शन देते समय अथवा इन्जेक्शन देने के २४ घटे के अन्दर ही रोगी का जी मिचलाने लगता है, मुख में लहसुन के समान स्वाद प्रतीत होता है। मसूड़ो (Gums) में पीड़ा वमन आदि लक्षण होते हैं और रोगी बेहोश हो जाता है। इस अवस्था को बचाने के लिये शुद्ध **पाइरोजन** (Pyrogen) रहित प. ज. अथवा ग्लूकोस में औषधि घोलकर अत्यन्त शनैः शनैः इजेक्शन लगाना चाहिये। जल की मात्रा अधिक होनी चाहिये। जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C), सोडियम थायोसल्फ (Sodi:thio:sulph), तथा उत्तेजक (Stimulant) औषधियाँ जैसे, एड्रीनलीन (Adrenaline) $\frac{1}{2}$–१ सी. सी. अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से आ. अ. प्रयोग करना चाहिये। इसकी चिकित्सा अजन (Sb) की प्रतिक्रिया के समान है।

(२) **नाइट्रीटौयड दारुणय** (Nitritoid crisis) :—यह विकृति अनवधानता (Anaphylaxis) के कारण होती है। इसमें इजेक्शन देने के साथ-साथ रोगी को श्वास लेने मे तथा हृदय में कष्ट होता है।

ओष्ठ, जिह्वा तथा चेहरा फूल जाता है और चेहरा लाल हो जाता है। तत्काल रोगी को एड्रीनलीन (Adronaline) १:१००० सी. सी. १/२-१, एफिड्रिन (Ephedrine) ग्रे. १/२ के साथ अथवा अकेले ही अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। संखिया के इन्जेक्शन के ५ मिनट पूर्व उत्तेजक घोल (यो. ३६) देने से इस विकृति के होने की सम्भावना नहीं रहती।

(३) **जेरिक-हर्क्स हेमर प्रतिक्रिया (Jarish-Herxheimer reaction)**:—हृदय में विकृति रहने पर संखिया के प्रयोग से विकृति अकस्मात् उग्र हो जाती है। विषमयता के कारण हृत्पेशी में शोथ (Myocarditis) होता है और हृद्धमनी (Coronary) में अकस्मात् घात होता है। परिणामस्वरूप हृद्धमनी का मार्ग अवरुद्ध हो सकता है तथा हृत्पेशी में अन्तःस्फान (Infarct) हो सकता है। यह अवस्था विरल है। प्रायः हृत्पेशीशोथ ही होता है। कभी-कभी अस्थायी रूप से फिरंग के लक्षण उग्र हो जाते हैं विशेष कर त्वचा पर की विकृतियां। यह अवस्था कुछ समय पश्चात् ठीक हो जाती है। कभी-कभी इन्जेक्शन के २४ घंटे के अन्दर शरीर में पीड़ा, कम्प (Rigor) के साथ ज्वर, वमन, पतले दस्त तथा मूत्र में शुक्लि (Alb) आदि लक्षणों के साथ-साथ त्वचा पर के विस्फोट (Rash) उग्र हो जाते हैं। इस अवस्था की चिकित्सा लक्षणों के अनुसार करना चाहिये। भविष्य में इस विकृति से बचनेके लिये औषधि की मात्रा कम कर देना चाहिये तथा रोगी को ग्लूकोस, कैलसियम, जीवतिक्ति'सी'(यो.२७) आदि देना चाहिये।

(४) रक्त-वाहिनीगत-विक्षत (Apoplexy) :—इस विकृति के लक्षण कभी-कभी अत्यन्त गंभीर होते हैं। वातनाड़ी-संस्थान के प्रक्षोभ (Irritation) के कारण आक्षेप (Convulsions), सिर में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। चिकित्सा लक्षणों के अनुकूल है।

(ख) **विलम्बी** (Late) प्रतिक्रियायें :—(१) **औपशयिक विरोधाभास** (Therapeutic paradox) :—इन औषधियों द्वारा चिकित्सा करने पर कभी कभी शरीर की विकृति ठीक करने (Repair) की प्राकृत शक्ति की अपेक्षा फिरंग जन्य विकृतियाँ अधिक शीघ्रता से ठीक होने लगती है। परिणामस्वरूप व्रण में तीव्रता से कणिकाभवन (Granulation) होने लगता है।

(२) इन औषधियों के शरीर में संचय होने के कारण **चिरकालीन**

विषमयता के लक्षण होते हैं। यह अवस्था वृक्क तथा रक्त-वह संस्थान मे विकृति होने के कारण होती है।

(३) **कामला** (Jaundice) :—संखिया (As.) के प्रयोग के कारण प्रायः २–४ मास पश्चात् यह विकृति होती है। दुग्ध प्रोटीन (Milk-casein), कैलसियम थायोसल्फेट (Cal-thiosulphate), जीवतीक्ति, 'सी' (Vit :C), ग्लूकोस आदि (यो. ५७) मुख तथा सिरामार्ग (I.V.) से देना चाहिये। क्षारीय योग (यो. १) का भी प्रयोग करना चाहिये। कामला ठीक हो जाने के २–३ मास पश्चात तक संखिया प्रयोग नहीं करना चाहिये। यथासम्भव संखिया के अतिरिक्त अन्य औषधियो से फिरंग की चिकित्सा करनी चाहिये।

(४) **त्वकशोथ** (Dermatitis) :—यह विकृति वर्धनशील है। त्वचा पर से पपड़ियाँ (Exfoliative) गिरने लगती है। इसकी चिकित्सा **बी. ए. एल.** (B.A.L.) द्वारा करनी चाहिये। इस औषधि के २ सी. सी. के प्रति एम्प्यूल में अराचित तैल (Arachis oil) में औषधि ५ प्र. श. के साथ बेन्जिल बेनजोयेट (Benzyl benzoate) १० प्र. श. रहता है। यह डाइमरकेप्टाल (Dimercaptol) के नाम से भी मिलता है।

विधि :—संखिया :—(As.) के प्रयोग के कारण कामला तथा त्वकशोथ होने से निम्न औषधियाँ प्रयोग करना चाहिये :—

१—**बी. ए. एल.** (British anti lewisite BAL.) :—(अ) **प्रथम दिन** :—२ सी. सी. प्रति ४ से ६ घंटे पर पेशीमार्ग (I.M.) से इंजेक्शन दे। (आ) **द्वितीय और तृतीय दिन** :—२ सी. सी. प्रति १२ घंटे पर पेशीमार्ग से इन्जेक्शन दे। (इ) **तत्पश्चात** :—ए. प्र. दि. पेशीमार्ग से २ दिन और इन्जेक्शन दें।

२—**सोडियम थायोसल्फ** (Sodi:thiosulph) :—$\frac{1}{2}$–१ ग्रा. सिरामार्ग (I. V.) से प्रयोग करना चाहिये। संखिया का पुनः प्रयोग नहीं करना चाहिये। जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C), ग्लूकोस, कैलसियम अथवा सोडियम थायोसल्फ (Thiosulph) ग्रे.७$\frac{1}{2}$–१५ सिरामार्ग (I.V.) से दें।

(५) **विस्फोट** :—(Rash) संखिया के कारण शरीर पर विस्फोट निकलने पर रोगी को पर्याप्त मात्रा में जल देना चाहिये। मैगसल्फ ड्रा ४ द्वारा विरेचन कराना चाहिये। मुख से पोटास आयोडाइड (K.I.) ग्रे. २–५

त्रि.प्र. दि. दें तथा त्वचा पर कैलिजेसिक मलहम (Ung: caligesic S. D.), कैलामीन का घोल (Lotio : calamine), जीवाणुरहित मछली का तेल (Codliver oil), जैतून का तेल (Ol-olive) आदि लगाना चाहिये। कौन्ट्रामीन (Contramine) ग्रे. ४ पेशी मार्ग (I.M.) से द्वि. प्र. स. तथा सोडियम अथवा कैलसियम थायोसल्फेट (Sodi or cal: thiosulph) ग्रे. ७½–१५, ग्लूकोस १२½ प्र.श. १०–२० सी. सी. में घोल कर सिरामार्ग (I. V.) से द्वि. प्र. दि. ४–५ दिन देना चाहिये। तत्पश्चात इस औषधि को ए. प्र. दि. देना चाहिये।

(६) रक्तस्रावी निलोहा (Purpura haemorrhagica) :—इसकी चिकित्सा रक्तस्रावी (Haemorrhagic) रोगों के समान (पृ. १७४) है। जीवतिक्ति 'सी', 'के' (Vit : C, K.), कैलसियम आदि का प्रयोग करना चाहिये।

(७) **खुजली** :—संखिया के कारण खुजली होने पर रोगी को एक बाल्टी जल में सोडीबाइकार्ब अथवा हाइपो (Hypo) च. ४ मिलाकर नहलाना चाहिये। कैलेमीन लोशन (Lotio-calamine) या कार्बोलिक तैल (Carbolic oil) भी लगा सकते हैं। एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० का इन्जेक्शन अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से तथा एन्टीस्टीन (Antistine) गो. १ द्वि. प्र. दि. मुख से दें।

फिरंग की औषधियाँ:—फिरंग में पेनिसिलीन (P.), संखिया (As), बिस्मथ (Bis), पारद (Hg) तथा पोटासियम आयोडाइड (Ki) प्रयोग किये जाते हैं। इन औषधियों में **पेनिसिलीन** प्रभावशाली है। यह हानिकर और विषाक्त नही है। इसके पश्चात् **बिस्मथ** का स्थान है। इस औषधि की विषाक्त मात्रा चिकित्सा की मात्रा से ५० गुना अधिक है इसलिये धातु से बनी औषधियों मे यह सबसे निरापद है। **संखिया** की विषाक्त मात्रा चिकित्सा की मात्रा से २० गुना अधिक है इसलिये सावधानी पूर्वक प्रयोग करने से यह भी अच्छी है। **पारद** की विषाक्त मात्रा, चिकित्सा की मात्रा से दूनी है इसलिये यह सरलता से हानि पहुँचा सकती है। आजकल प्रायः इसका प्रयोग नहीं किया जाता है।

पोटास आयोडाइड का फिरंग पर विशेष प्रभाव नहीं है। रोग की चिरकालीन अवस्था में चक्राणु (Spirochaetes) के चारो ओर जो

तान्तविक धातु (Fibrous tissue) बन जाता है तथा चक्राणु की रक्षा करता है। उस तान्तविक धातु को नष्ट कर यह औषधि फिरंग की अन्य विशिष्ट औषधियों को चक्राणु के सम्पर्क मे लाने में मदद करती है। **बिसमथ** का रोग की प्रथम अवस्था पर अल्प, द्वितीय अवस्था पर साधारण तथा तृतीय और चतुर्थ अवस्था पर उत्तम प्रभाव है। **संखिया** का प्रभाव इसके विपरीत है। इसका प्रभाव रोग की प्रथम अवस्था पर उत्तम, द्वितीय पर साधारण तथा तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओ पर अल्प है। ये औषधियाँ केवल अकेले ही अथवा अन्य औषधियों के साथ भी प्रयोग की जाती हैं। द्वितीय पद्धति अधिक प्रचलित है।

(च) **पेनिसिलीन** (P.) :—इस औषधि का अधिक समय तक कार्य करने वाला योग प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr.P.) है। इसको पेशीमार्ग (I.M.) से प्रयोग करना चाहिये। यह औषधि अकेले ही प्रभावशाली है। इसके साथ अन्य औषधि देना आवश्यक नहीं है। इनसे पेनिसिलीन के प्रभाव की वृद्धि नहीं होती। इसकी एक सम्पूर्ण चिकित्साक्रम की मात्रा प्रायः ६० लक्ष. अं. इ. है। पेनिसिलीन के प्रयोग से शीतपित्त (Urticaria), त्वक्शोथ (Exfoliative dermatitis), स्तब्धता (Shock), आदि लक्षण होने पर या औषधि का प्रभाव आशाप्रद न प्रतीत होने पर अथवा रोग का पुनरावर्तन होने पर पेनिसिलीन के स्थान पर संखिया (As.), बिसमथ (Bis) आदि प्रयोग कर सकते हैं। पेनिसिलीन के प्रयोग की निम्न विधियाँ हैं :—

(१) **प्रोकेन पेनिसिलीन** (Pr. P.) ४ लक्ष. अ. इ. प्र. दि. कर २० दिन, अथवा ६ लक्ष.अ.इ.प्र.दि. कर १० दिन अथवा ६ लक्ष. प्रति. पाँचवें दिन कर ८–१० बार अथवा १२ ल. अं. इ. (Penidure J. W) ए. प्र. स कर ४–५ सप्ताह अथवा ६ लक्ष. द्वि. प्र. स कर ५ सप्ताह तक दे सकते हैं।

(२) **पेनिसिलीन 'जी'** (P.'G'):—यह औषधि जल में घुलती है। इसको पेशीमार्ग (I.M.) से १/२ ल. अ. इ. प्रति २–३ घण्टा, दिन-रात ८ दिन तक प्रयोग करना पड़ता है। इससे रोगी को कष्ट होता है और यह विधि प्रचलित नहीं है।

नोट :—चिकित्सा प्रारम्भ करने में अधिक विलम्ब हो जाने पर तथा

रक्त-वह संस्थान (C-V-System) अथवा अन्य अन्तःआशयों (Viscera) मे विकृति होने पर पेनिसिलीन प्रारम्भ करने के पूर्व बिसमथ (Bis) तथा पोटास आयोडाइड (K. I.) देने से परिणाम अच्छा होता है।

(छ) संखिया (As) के योग देने की निम्न विधियाँ हैं :—

(१) सामान्य विधि :—

साधारण फिरंग का न. ए. बी. (N. A. B.) द्वारा चिकित्सा क्रम।

← दिन →	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१५	२३	३१	३९	४७	५५	६३	७१
सं०	०·३	—	—	—	—	—	०·४५	—	—	—	—	—	०·४५	०·४५	०·४५	०·४५	०·४५	०·४५	०·४५	०·४५
बि०	०·२४	—	—	—	—	—	०·२४	—	—	—	—	—	०·२४	०·२४	०·२४	०·२४	०·२४	०·२४	०·२४	०·२४
पे०	—	६	६	६	६	६	—	६	६	६	६	६	—	—	—	—	—	—	—	—

सूचना :—उपर्युक्त कोष्ठ मे **संखिया** (स.) तथा **बिसमथ** (बि.) की मात्रा ग्रा. में और पेनिसिलीन (पे.) की मात्रा लक्ष अं. इ. (I. U.) मे दी गई है। संखिया का इन्जेक्शन सिरामार्ग (I. V.) से तथा अन्य दोनों औषधियों का पेशीमार्ग (I.M.) से करना चाहिये।

तदुपरान्त निम्न चिकित्सा करनी चाहिये :—(अ) प्रथम चिकित्सा-क्रम के एक मास पश्चात् यदि रक्त तथा ब्रह्मवारि (C.S. Fluid) में वासरमान कसौटी (W. R.) नास्त्यात्मक (—) हो तब चिकित्सा स्थगित कर देनी चाहिये और दो वर्ष पर्यन्त प्रति चार मास पर रक्त-परीक्षा करनी चाहिये ।

(आ) प्रथम चिकित्सा-क्रम के पश्चात् यदि रक्त-परीक्षा अस्त्यात्मक (+) हो तब ६ मास पर पुनः रक्त-परीक्षा करनी चाहिये । यदि रक्तपरीक्षा नास्त्यात्मक हो जाये तब पुनः चिकित्सा प्रारम्भ करने की आवश्यकता **नहीं है** परन्तु यदि यह परीक्षा अस्त्यात्मक (+) हो तब पुनः पूर्ववत क्रम से चिकित्सा करना आवश्यक है ।

सूचना :— उपसर्ग के चार-पाँच वर्ष पश्चात् यदि चिकित्सा आरंभ करनी हो, तब ध्यान मे रखना चाहिये कि अन्तर्आशयों (Viscera) तथा वातनाड़ी-संस्थान के फिरङ्ग मे संखिया के प्रयोग मे विशेष सावधानी की आवश्यकता है । अन्य स्थानो के फिरङ्ग मे पूर्ववत चिकित्सा करनी चाहिये परन्तु अधिक संख्या में इंजेक्शन देने की आवश्यकता पड़ती है ।

संखिया तथा विस्मथ से प्रायः ३—४ वर्ष निरन्तर चिकित्सा करनी पड़ती है । इन औपधियों मे, प्रत्येक औपधि के १०—१५ इन्जेक्शन के पश्चात २—४ सप्ताह औपधि स्थगित कर देना चाहिये । कुछ विद्वानों के मत से रोग से पूर्ण निवृत्त होने के लिये आवश्यक है कि रक्तपरीक्षाये नास्त्यात्मक (—) हो जाने के पश्चात भी ३—४ बार पुनः इसी क्रम से औपधि दी जाय । **स्त्रियों** मे औपधि की मात्रा पुरुषों की अपेक्षा कम होनी चाहिये । प्रत्येक औपधि प्रायः सप्ताह मे एक बार दी जाती है ।

(२) **माफरसाइड** (Mapharside P. D.) **तथा विस्मथ (Bis) द्वारा चिकित्सा** :—इस विधि मे **माफरसाइड** की प्रत्येक मात्रा ग्रा. ० ०४ सिरामार्ग (I.V.) से तथा **विस्मथ** ग्रा. ०˙२ पेशीमार्ग (I.M.) मे दी जाती है । इसकी विधियाँ परिशिष्ट मे देखिये ।

(३) **फिरंग की औषधियों का संयोग** :—मिश्रित चिकित्सा की निम्न विधियाँ है (परिशिष्ट देखिये) :—

(क) **सामान्य पद्धति** (पृ.४६६) :—इस विधि से संखिया, पेनिसिलीन तथा विस्मथ तीनो का प्रयोग किया जाता है ।

(ख) **अतिमात्रा (Intensive) पद्धति** :—इस विधि मे संखिया तथा बिस्मथ का प्रयोग २५ सप्ताह किया जाता है ।

(ग) **खण्डित** (Alternating) पद्धति :—इस विधि से संखिया तथा बिस्मथ का प्रयोग ८२ सप्ताह किया जाता है । इस पद्धति से किसी भी सप्ताह मे दोनों औषधियाँ साथ नहीं दी जाती ।

(घ) **संयुक्त** (Overlapping) **पद्धति** :—इस विधि मे सखिया तथा बिस्मथ का प्रयोग ६६ सप्ताह किया जाता है । किसी किसी सप्ताह मे दोनों औषधियाँ साथ दी जाती हैं ।

(ङ) **परममात्रा** (Excessive) पद्धति :—इस विधि से संखिया तथा बिस्मथ का १० सप्ताह तक अत्यधिक मात्रा मे प्रयोग किया जाता है ।

(ज) **बिस्मथ (Bis:) के योग**:—इस औषधि का तैल मे योग जल के योग से अधिक उत्तम है । रोग की **विलंबी** (Late) तथा सुप्त (Latent) अवस्थाओंमे सखिया द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ करने पर प्रतिक्रिया (Reaction) होने की सभावना रहती है। इसलिये इन अवस्थाओं मे सखिया प्रारम्भ करने के पूर्व बिसमथ का प्रयोग किया जाता है । रोगी मे यदि सखिया अथवा पेनिसिलीन (P.) सहन करने की शक्ति न हो तथा वातनाड़ी-सस्थान (C.N. System) अथवा अंतर्आशयों (Viscera) मे फिरङ्ग के कारण विकृति हो गई हो तब सखिया की अपेक्षा बिस्मथ का ही प्रयोग करना चाहिये । यह औषधि प्रायः संखिया के साथ प्रयोग की जाती है । इसके प्रयोग से सखिया के प्रभाव मे वृद्धि होती है । वृक्क अथवा मुख में विकृति रहने पर बिस्मथ का प्रयोग नहीं करना चाहिये । इसके प्रयोग के समय शुल्कि (Alb) के लिये मूत्रपरीक्षा बराबर करते रहना चाहिये । बिस्मथ की **विषाक्तता** होने पर मुख मे व्रण, वृक्क मे विकृति, मसूड़ों पर काली रेखा, आन्त्रशूल (Colic) आदि लक्षण होते हैं । बिस्मथ के दो चिकित्साक्रम के मध्य मे २–३ मास का अन्तर होना चाहिये । यह औषधि केवल पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग की जाती है । औषधि को नितम्ब के ऊपरी भाग (Upper quadrant) मे काफी गहराई मे एक मोटी सूई से प्रवेश कराना चाहिये । सूई अन्दर करने के पश्चात दण्ड (Piston) खीचकर देखना चाहिये कि रक्त तो नहीं आता है । सिरा के अन्दर सूई रहने पर रक्त आयेगा । इस अवस्था मे औषधि प्रवेश नहीं कराना चाहिये तथा सूई बाहर निकाल

कर दूसरे स्थान मे इन्जेक्शन लगाने का प्रयत्न करना चाहिये । रक्त न आने पर शनैःशनैः औषधि प्रवेश कराकर ½ सी. सी. वायु प्रवेश कराना चाहिये । इससे औषधि अधस्त्वक धातु (S. C. Tissue) के सम्पर्क मे नहीं आती । औषधि के अधस्त्वक धातु के सम्पर्क मे आने से पीड़ा होती है । इन्जेक्शन समाप्त होने पर नितम्ब पर ५ मिनट मालिश करना चाहिये। शीशीमे से औषधि निकालने के पूर्व शीशी को अच्छी प्रकार हिलाना चाहिये क्योंकि औषधि प्रायः शीशी के नीचे जम जाती है । बिस्मथ द्वारा चिकित्सा का क्रम संखिया (As.) के वर्णन मे (पृ.४६६) देखिये । बिस्मथ के कारण मुख मे व्रण होने पर औषधि बन्दकर हाइड्राजन परोक्साइड (H_2O_2) या फिटकरी से कुल्ला करना चाहिये ।

(झ) **पारद** (Hg) :—विषाक्त होने के कारण यह औषधि आजकल प्रायः प्रयोग नही की जाती । इसको मुख द्वारा प्रयोग कर सकते हैं। हाइड्रार्ज-कम क्रीटा (Hydrarg cum creta) ग्रे. १–२ (यो. ७४) या लाइकर हाइड्रार्ज परक्लोर (Liq-hydrargyri perchlor) मि. ३० (यो.४८) त्रि. प्र. दि. दे सकते है । पारद के योग सप्ताह मे ५–६ दिन देना चाहिये । प्र. स. १–२ दिन तथा प्र. ३ सप्ताह के पश्चात् १ सप्ताह औषधि बन्द कर देना चाहिये । पारद के प्रयोग के समय मुख तथा वृक्क पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके लिये बराबर मूत्रपरीक्षा करते रहना आवश्यक है। जल औ. ४ में पोटास क्लोरेट (Pot : chlorate) ग्रे. ६० मिलाकर कुल्ला करना चाहिये । दॉत तथा मसूड़ों की अवस्था स्वस्थ न रहने पर पारद प्रयोग नही करना चाहिये । इसकी **विषाक्तता** के कारण लालास्राव (Saliva) की वृद्धि होती है, मसूड़ो पर सूजन हो जाती है, पतले दस्त आते है तथा मुख से दुर्गन्ध आती है । यह विकृति होने पर औषधि बन्द कर संखिया (As) की विषमयता (पृ.१३५) के समान **चिकित्सा** करना चाहिये । फिट-करी (Alum) तथा पोटास क्लोरस (Pot : chloras) से कुल्ला करना चाहिये । मसूड़ो पर टेनिक एसिड (Tannic acid) १५–२० प्र. श. लगाना चाहिये तथा मुख द्वारा पोटास क्लोरेट ग्रे. ३ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये । कौन्ट्रामीन (Contramine) तथा कैलसियम या सोडियमथायोसल्फ (Cal or sodi : thiosulph) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये । **रक्ता-ल्पता** (Anaemia) के लिये लौह (Fe) तथा यकृत सत्व (Liver-

ext :) का प्रयोग करें। टि. बेलाडोना (Tr : belladonna) मि. ८ त्रि. प्र. दि. अथवा एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से देने से लालास्राव में कमी होती है। पौष्टिक भोजन, ओषधि तथा जीवतिक्ति ए. बी. सी. (Vit : A.B.C.) आदि देना चाहिये।

पारद की विषाक्तता की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

यदि रोगी ने विष सेवन के पूर्व आहार किया है तब प्रथम वमन कराना चाहिए और तब आमाशय प्रक्षालन। अन्यथा प्रथम स्नेहपान या अण्डे की सफेदी के साथ दुग्धपान करावे और पश्चात आमाशय प्रक्षालन करे। इसके पश्चात जौ के सत्तू अथवा आटे को जल में घोलकर पिलाना चाहिए। कुछ लोग खड़िया अथवा लकड़ी के कोयले का भी प्रयोग करते हैं। पानार्थ जौ का पानी अथवा दुग्ध देना चाहिये। स्निग्ध अन्नपान, मुद्ग, मोठ, यूष, व जौ, गेहूँ का प्रयोग हितकर है। हृदयावसाद से रक्षा करने के हेतु मृतसञ्जीवनी सुरा को कस्तूरी के साथ सेवन करें। शरीर के ताप की रक्षा करें, निम्न प्रयोग करने चाहिए :—

(१) प्रतिदिन ४ रत्ती के परिमाण में शुद्ध गन्धक का प्रयोग करे इससे शरीरस्थ विष स्वेदवह स्रोत से निकल जाता है।

(२) जवासे के पत्र स्वरस को सप्ताह पर्यन्त पिये।

(३) अपामार्गक्षार का प्रयोग हितकर है।

(४) त्रिफलादि क्वाथ, सारिवादि क्वाथ, सारिवाद्यवलेह आदि का प्रयोग। रस सिन्दूर की विषाक्तता में काली मिर्च चूर्ण गोघृत के साथ सेवन करावे और रस कर्पूर की अतिमात्रा प्रयोग में मिश्री शहद धनियाँ जल के साथ पीवे।

(ञ) आयोडीन (I) के प्रयोग :—ये औषधियाँ रोग की तृतीय अवस्था में प्रयोग की जाती है। पोटास आयोडाइड (KI) ग्रे. १०–३० त्रि. प्र. दि. मुखमार्ग से प्रयोग करना चाहिये। स्वरयन्त्र (Larynx) की विकृति में यह प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा स्वरयन्त्र में शोफ (Oedema) हो सकता है। यह औषधि दुग्ध के साथ तथा अधिक मात्रा में प्रयोग करने से प्रतिक्रिया होने की सम्भावना कम रहती है। सोडियम आयोडाइड (Na: I) १० प्र. श. का ६०–९० ग्रे. सिरामार्ग (I.V.) से प्रयोग कर सकते हैं। जिन रोगियों में फिरंग की विशिष्ट औषधियाँ कार्य नहीं करती उनमें भी यह औषधि प्रयोग की जाती है।

(त) **औरियोमाइसीन** (Au) अभी प्रायोगिक अवस्था मे है। ग्रा. १ प्रति ४ घण्टे कर १२–१५ दिन पर्यन्त देना चाहिये।

स्थानिक चिकित्सा :—कठिन व्रण (Hard chancre) तथा अन्य फिरगज व्रणों को पारद के घोल (Lotio niagra) से धोकर कैलोमेल (Calomel) लगाना चाहिये। विस्फोट (Rash) मे द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग होने पर पेनिसिलीन आदि से उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

अन्य चिकित्सा :—**रक्त-वह संस्थान** मे विकृति रहने पर चिकित्सा के प्रारम्भ मे रोगी को २–३ मास पूर्ण **विश्राम** करना चाहिये। इस अवस्था मे सखिया (As) का प्रयाग हानिकर है। पेनिसिलीन (P.) का प्रयोग भी अपवाद रहित नही है। इन औषधियो से प्रतिक्रिया हो सकती है। रक्त-वह सस्थान की विकृति के साथ दक्षिण **हृदयातिपात** (C.H.F.) के लक्षण भी रहने पर फिरंग की चिकित्सा पेनिसिलीन के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट औषधियों से नही करनी चाहिये। पारद या पोटास आयोडाइड (KI.) की अपेक्षा बिस्मारसन (Bismarsan) अधिक उपयुक्त है। हृदयातिपात के लिये विश्राम, पारद के मूत्रल योग (Hg : diuretic) जैसे, नेप्टोल, (Neptol) आदि, १/२–१ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से ए. प्र. स. अमीनोफाइलीन (Aminophylline) तथा खेलिन (Khellin) आदि का प्रयोग करना चाहिये। फिरग जन्य हृदय की विकृति मे विशेष कर हृत्पेशी-शोथ (myocarditis) मे डिजिटेलिस (Digitalis) का प्रयोग करना ठीक नही है। फिरग के कारण महाधमनी की **अभिस्तीर्णता** (Aneurysm) रहने पर रोगी को विश्राम करना चाहिये। बिस्मथ, पेनिसिलीन तथा पोटास आयोडाइड द्वारा फिरग की चिकित्सा करना चाहिये। **एन्टोडौन** (Entodon 'Ba') १/२–२ सी. सी. का इन्जेक्शन लगा सकते है। फिरंग के कारण **हृच्छूल** (Angina) होने पर रोगी को शैय्या पर पूर्ण विश्राम करना चाहिये। पीड़ा के लिये मौरफीन (M. & A.) ग्रे. १/४–१/३ अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से प्रयोग करे। **रक्तनिपीड़** (B.P.) की वृद्धि रहने पर जिह्वा के नीचे ट्रिनीट्रीनी (Trinitrini) ग्रे. १/१०० की १ गोली रखना चाहिये। **श्वासकृच्छ्र** के लिये प्राणवायु (O_2) प्रयोग कर सकते है। **घनास्रता** (Thrombosis) की सम्भावना रहने पर घनास्रता-

निरोधी औषधियाँ (Anti : coagulants, tromexan) प्रयोग कर सकते हैं तथा फिरंग की चिकित्सा विस्मथ और पोटास आयोडाइड (KI.) से करना चाहिये। अ. अ. ग्लूकोस, एफेड्रिन (Ephedrine), अमीनोफाइलीन (Aminophylline) आदि का प्रयोग किया जाता है।

वातनाड़ी-संस्थान (C. N. S.) की विकृतियों में पेनिसिलीन के पूर्व विस्मथ तथा पोटास आयोडाइड प्रयोग करने से हर्क्सहेमर प्रतिक्रिया (Herx-heimer's reaction) की संभावना नहीं रहती। कृत्रिम उपायों से **ताप की वृद्धि** (Pyrotherapy) करने से पेनिसिलीन के प्रभाव की वृद्धि होती है। ताप की वृद्धि कराने के लिये अघातक तृतियक विषमज्वर जीवाणु (P. vivex) से पीड़ित रोगी का रक्त १–२ सी. सी. लेकर सिरा-मार्ग (I. V.) से ए. अ. स. दिया जाता है। यह क्रिया फिरङ्गी खजता (Tabes dorsalis) तथा फिरङ्गज सर्वाङ्गघात (G. P. I.) में की जाती है। गन्धक या टी. ए. बी. (T. A. B.) के इन्जेक्शन से भी ताप में वृद्धि होती है। अन्तिम दोनों रोगों में ट्रिपारसमाइड (Tryparsamide) तथा सिल्वर-सल्वार्सन (Silver-salvarsan) का प्रयोग भी किया जाता है परन्तु ट्रिपार्समाइड से स्तब्धता (Shock), दृष्टि नाड़ीक्षय (Optic atrophy) तथा उन्माद (Mania) हो सकता है। **फिरङ्गी-खंजता** में मूत्रनिरोध (Retention) होने पर मुख अथवा इन्जेक्शन द्वारा कारबाकोल (Carbachol) देना चाहिये। पीड़ा के लिये एसपिरीन (यो. ६२) दे सकते हैं। फिरंग में दाँत तथा रक्ताल्पता पर भी ध्यान रखना चाहिये। व्यायाम, पौष्टिक आहार तथा औषधि द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। कब्ज नहीं होनी चाहिये। मद्य तथा मैथुन वर्जित हैं।

फिरङ्ग-जन्य विशेष परिस्थितियों की चिकित्सा :—

(क) **प्रथमावस्था** में रक्तपरीक्षायें **नास्त्यात्मक** (–) रहने पर:— (१) प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr. P.) ६ ल. अ. इ. प्र. दि. कर १० दिन दें **अथवा** (२) पेनिसिलीन न सह सकने पर संखिया (As) तथा विस्मथ (Bis) के योग १० या २५ (परिशिष्ट देखिये) सप्ताह वाली विधि से दें।

(ख) **प्रथमावस्था** में रक्त परीक्षायें **अस्त्यात्मक** (+) रहने पर या रोगारम्भ में **सुप्तावस्था** (Latent) मिलने पर अथवा रोग का **पुनरा-**

वर्तन (Relapse) होने पर :—(१) प्रोकेन पेनिसिलीन ६ ल. अ. इ. प. दि. कर १०–१५ दिन दें **अथवा** (२) पेनिसिलीन सह न सकने पर विस्मथ तथा पोटास आयोइड (KI.) दीर्घकाल पर्यन्त प्रयोग करना चाहिये।

(ग) **रोग के उत्तरार्ध मे सुप्तावस्था** मिलने पर:—**प्रथम** विस्मथ ग्रा. ०'२ ए. प्र. स. कर ६–१२ सप्ताह तक दें **तत्पश्चात्** प्रोकेन पेनिसिलीन ६ ल. अं. इ. प्र. दि. कर १०–१५ दिन दें।

(घ) **गर्भावस्था** मे :—प्रोकेन पेनिसिलीन ६ ल. अ. इ. प्र. दि. कर ८–१५ दिन दे।

(ङ) **रक्तवह-संस्थान** की विकृति के साथ दक्षिण **हृदयातिपात** (C. H. F.) **न रहने** पर, महाधमनी अभिस्तीर्णता (Aneurysm), कपाटिक (Valvular) विक्षत तथा हृद्धमनी (Coronary), यकृत, वृक्क, आदि के रोग में :—बिस्मथ ए. प्र. स. कर १२ बार इजेक्शन दें तथा मख से पोटास आयोडाइड (KI) ग्रे. १०–२० द्वि. या त्रि. प्र. दि. भो. प. दे। **तत्पश्चात्** पेनिसिलीन प्रोकेन ६ ल. अ. इ. प्र. दि. कर १०–२० दिन दें। इससे **लाभ न होने पर** सखिया (Mapharside P. D.) ग्रा. ०'०२–०'०४ ए. प्र. स. कर १० बार दे। रोगी का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

(च) **रक्तवह-संस्थान** की विकृति के साथ **दक्षिण हृदयातिपात** (C. H. F.) रहने पर केवल पेनिसिलीन ६ ल. अ. इ. प्र. दि. कर १०–१५ दिन दें।

(छ) **मस्तिष्कावरण** (Meninges) तथा **रक्त-वाहिनियों** (B. V.) मे विकृति रहने पर :—**प्रथम** बिस्मथ तथा पोटास आयोडाइड ग्रे. १०–६० त्रि. प्र. दि. भोजन या दुग्ध के साथ दें। **तत्पश्चात्** प्रोकेन पेनिसिलीन ६ ल. अ. इ. प्र. दि. कर १५–२० दिन दें।

(ज) **फिरङ्गी खंजता** (Tabes dorsalis), **व्यापक फिरङ्गज सर्वांगघात** (G. P. I.), **अङ्गघात** तथा **दृष्टि वातनाड़ी** क्षय (Optic atrophy) मे :—विस्मथ, पोटास आयोडाइड तथा पेनिसिलीन का प्रयोग (छ) के समान करें **तथा** रोगी के ताप की वृद्धि ए. प्र. स. १० सप्ताह तक करे। ज्वर १०४–१०५° फा. तक प्रतिबार ५ घंटे रहना चाहिये।

फिरङ्ग की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

इस रोग मे प्रथम विधिपूर्वक आवश्यकतानुसार पचकर्म कराना चाहिये। तत्पश्चात् लिंगेन्द्रिय पर क्षत होने पर त्रिफला-क्वाथ या भागेर के रस से प्रक्षालन कर फलत्रिक भस्म व मधु का लेप करना चाहिये अथवा पारदादि धूप का प्रयोग करे। पथ्य हल्का, अग्नि बल-वर्धक, रक्तशोधक मूत्रल व रेचक होना चाहिये। तेल, खटाई, मसाले, बैगन, मूली आदि छोड़ देना चाहिये।

अनुपान मे अनन्तमूल, चोपचीनी, करेला, निम्बु, गुडूची व मंजीठ देना चाहिये।

औषधियाँ :—भैरव रस, रसमाणिक्य, रसशेखर, रसगुग्गुलु, वातारि गुग्गुलु, अमृतागुग्गुलु, सवीरवटी (सिद्धयोग सग्रह), अनन्तादि घृत, सोमराजि घृत, सारिवाद्यावलेह, चोपचीनी चूर्ण, सारिवाद्यारिष्ट।

प्रयोग :—

(१) नवग्रही शिरोराज भूषण २ र.
शृग भस्म ४ र.
गुडूची सत्व १ मा.
मि. २ मा.
निर्गुण्डी स्वरस व मधु से दे।

(२) सवीर वटी १ या २ गोली प्रातः सायं गोदुग्ध के साथ दे।

(इ) वंक्षणीय कणिकार्बुद (Granuloma inguinale)

परिचय :—यह अज्ञात कारण जन्य रोग ससर्ग से फैलता है। जननेन्द्रिय की त्वचा तथा श्लैष्मिककला (M. M.) पर व्रण (Ulcer) हो जाते है। ये व्रण अत्यन्त चिरकालीन, पीड़ारहित, रक्तवर्ण, कणिकामय (Granulomatous) तथा वर्धनशील होते है। इनमे सरलता से रक्तस्राव (Bleeding) होता है और ये शनैः शनैः सम्पूर्ण जननेन्द्रिय पर फैल जाते हैं। इसके पश्चात् ये उदर की त्वचा तथा उरु (Thigh) की दिशा मे प्रगति करते है। व्रण की मर्यादा स्पष्ट हो सकती है। इस रोग में लसग्रन्थियो (Lymph glands) की प्रायः वृद्धि नही होती। इसका कारण **डोनोवान पिण्ड** (Donovan bodies) भी माना जाता है।

चिकित्सा :—इस रोग मे **स्ट्रेप्टोमायसीन** (Str :) सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त अजन के योग (Sb), ऑरियोमायसीन (Au), क्लोरोमायसेटीन (Cln), टेरामायसीन (Tn) आदि भी कार्य करती हैं। स्ट्रेप्टोमायसीन ग्रा. ½ पेशीमार्ग (I. M.) से द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। ऑरियोमायसीन (Au) आदि मि. ग्रा. २५० त्रि. या चा. प्र. दि. मुख से देना

चाहिये । अंजन के योग (Urea-stibamine) का प्रयोग कालज्वर (K.A.) के समान है । इसको सिरामार्ग (I. V.) से दिया जाता है । इन औषधियों को २–६ सप्ताह पर्यन्त प्रयोग करना चाहिये । व्रण ठीक हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये । **फूआडीन** (Fuadin, stibophen) भी अंजन (Sb) का योग है । इसका ६'३ प्र. श. घोल पेशीमार्ग (I.M.) से दिया जाता है । औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये । जब तक व्रण ठीक न हो जाय इसका १'५–५ सी. सी. द्वि. या त्रि. प्र. स. देना चाहिये । व्रण ठीक हो जाने के दो सप्ताह पश्चात पुनः इस औषधि को देना चाहिये । दो सप्ताह औषधि देने के पश्चाद दो सप्ताह औषधि बन्द रखना चाहिये । ६ मास तक इसी क्रम से औषधि देना चाहिये ।

स्थानिक चिकित्सा :—व्रण की **स्थानिक चिकित्सा** के लिये औरियोमायसीन (Au), टेरामायसिन (Tn) आदि की मलहम या पोडोफायलीन (Podophyllin) की २५ प्र श. मलहम व्रण मे लगाना चाहिये । आ. अ. शल्यकर्म (Op) कर सकते हैं ।

आमवात (Rheumatic fever)

परिचय :—इस रोग का विशिष्ट **कारण अज्ञात** है । इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे निम्न धारणायें (Theories) प्रचलित हैं :—(१) **उपसर्ग के कारण** :—इस धारणा के अनुसार इस रोग का एक अज्ञात जीवाणु आमवात मालागोलाणु (Strepto:rheumaticus) माना जाता है । सम्भवतः यह जीवाणु तुण्डकाओं (Tonsils), आन्त्र तथा श्वसन-सस्थान के ऊर्ध्वभाग मे रहता है । (२) किसी अज्ञात विषाणु (Virus) के कारण । (३) मालागोलाणु (Strepto-coccus) के विष अथवा किसी अन्य विष के कारण रोगी के शरीर मे अनूर्जता (Allergy) उत्पन्न होने से । (४) **यकृत** के कार्य मे विकृति होने के कारण किसी अज्ञात विष की उत्पत्ति से । शैशवावस्था तथा वृद्धावस्था मे प्रायः यह रोग नहीं मिलता । विशेष परिवार, थकावट, शीत तथा नमी, अस्वास्थ्यकर वातावरण से इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है । वृद्धावस्था मे रोग का पुनरावर्तन (Relapse) मिल सकता है । श्यामवर्ण की अपेक्षा गौरवर्ण के रोगियो मे यह रोग अधिक मिलता है ।

ज्वर, सधिशोथ (Arthritis), हृदय मे विकृति के अतिरिक्त कण्ठ

के कारण जिह्वा अत्यन्त मलावृत्त (Coated) होती है। क्षुधानाश, दुर्गन्धित श्वसन आदि लक्षण भी मिलते हैं। बाल्यावस्था मे रोग का प्रारम्भ अत्यन्त शनैः शनैः अथवा प्रारम्भ से ही अनुतीव्र (Sub-acute) हो सकता है। इनमें सधिशोथ की अपेक्षा हृदय मे विकृति तथा लासक (Chorea) होने की अधिक सभावना रहती है, इसलिये बालको मे कण्ठ मे पीड़ा (Sore-throat), उदर, वक्ष आदि शरीर के भिन्न भागो में अस्पष्ट अथवा अकारण पीड़ा, हृत्कम्प (Palpitation), विस्फोट (Rash), विश्राम के समय भी नाड़ी की गति तीव्र रहना आदि लक्षण मिलने पर रोग की संभावना पर ध्यान देना चाहिये तथा हृदय की अत्यन्त सावधानीपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। ये सब लक्षण ज्वर के साथ अथवा उसके अभाव में भी हो सकते हैं। सोडी सैलिसिलस (Sodi : salicylas) द्वारा चिकित्सा करने से प्रायः रोगी ३ सप्ताह मे स्वस्थ हो जाता है।

परीक्षायें :—रक्त तथा मूत्र मे निम्न परिवर्तन मिलते हैं। रोग की कोई विशिष्ट परीक्षा नहीं है।

(१) **रक्तपरीक्षायें** :—रक्त मे श्वेतकणों (W. B. C.) की वृद्धि (Leucocytosis) तथा रक्ताल्पता (Anaemia) का प्रमाण मिलता है। लाल रक्तकणो (R.B.C.) की अपेक्षा शोणवर्तुलि (Hb.) मे अधिक कमी होती हैं। रोग के क्रियाशील (Active) रहते समय रक्तावसादन गति (E.S R.) मे वृद्धि होती है। रक्तमे यूरिक एसिड (Uric acid) की मात्रा का ज्ञान होना भी अच्छा है। मालागोलाणु को नष्ट करने की रक्त की क्षमता (Anti: streptolysin titre) मे वृद्धि होती है।

(२) **मूत्र परीक्षायें** :— साधारण अवस्था मे मूत्र मे शुक्लि (Alb) मिलती है। गम्भीर अवस्था मे यूरोएरिथ्रिन (Uro-erythrin) के लाल स्फटिक (Crystals) मिलते है। कभी कभी यूरेट (Urates) भी मिलते हैं।

(३) **विद्युतहृल्लेख** (Ecg.):-इससे हृत्पेशी (Myocardium) की स्थिति का ज्ञान सभव है। **निदान** की दृष्टि से दो प्रकार के **लक्षण** मिलते है।

(१) **विशिष्ट लक्षण** :—आमवात का इतिहास, सन्धिशोथ (Arthritis), हृत्शोथ (Carditis),लासक (Chorea) तथा आमवातिक ग्रंथियां (Rheumatic node's)। ये लक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

इनमे से किसी भी दो लक्षण के मिलने पर रोगविनिश्चिति सम्भव है। इनमे से यदि एक ही लक्षण मिले तथा दो साधारण लक्षण मिलें तब भी रोग निश्चित समझना चाहिये।

(२) **साधारण लक्षण** :—ज्वर, हृत्प्रदेश में पीड़ा (Precordal pain), फुफ्फुस का शोथ (Pneumonitis), उदर मे पीड़ा, निलोहा (Purpura), नासास्राव (Epistaxis) तथा बहुरूपी रुधिरा विस्फोट (Erythema multiforme)।

अन्य परीक्षायें :—चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोग तथा रोगी की वास्तविक स्थिति समझने के लिए रोगी का **इतिहास** तथा सब संस्थानों की भलीभाँति **परीक्षा** करनी चाहिये। इन परीक्षाओं से रोग के निदान तथा चिकित्सा मे सहायता मिलती है और साथ-साथ चिकित्सा से कितना लाभ हो रहा है इसका भी ज्ञान होता है। सधि को चारो ओर घुमा कर देखना चाहिये कि उसकी प्राकृत गति मे कितना परिवर्तन हुआ है। सन्धि की **क्ष-किरण** (X-Ray) परीक्षा भी कर सकते है। सन्धि से स्राव (Fluid) निकाल कर **संवर्ध** (Culture) कर देखा जा सकता है कि उसमें किसी जीवाणु का उपसर्ग है या नही।

उपद्रव :—लासक (Chorea), फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy) तथा उदरावरण शोथ (Peritonitis) आदि उपद्रव हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त परमज्वर (Hyperpyrexia), विस्फोट (Rash), हृत्शोथ (Carditis) तथा पार्श्ववेदना (Pleurodynia) भी सम्भव है।

विमर्श:—रोग की तीव्र (Acute) अवस्था मे हृदय के प्रत्येक भाग मे विकृति सम्भव है। इसको हृत्शोथ (Carditis) कहते हैं। यह विकृति रोग के अन्य लक्षणों के अभाव में भी हो सकती है। रोग की चिरकालीन अवस्था मे कभी कभी अकारण दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.) के लक्षण होते हैं। ये लक्षण २५ वर्ष की आयु से कम वाले रोगी मे हृत्शोथ के कारण होते हैं और इससे अधिक आयु वाले रोगी में प्रायः कपाटिक विक्षत (Valvular disease) के कारण होते हैं। रोग की चिरकालीन अवस्था मे प्रायः अन्तर्हृदय (Endocardium) मे विकृति होती है, परिणामस्वरूप प्रायः कपाटों (Valves) मे विकृति होती।

चिकित्सा :—(क) **प्रतिषेध** :—रोग से बचने के लिये यथासम्भव

मालागोलाणु (Strepto) के उपसर्ग से बचना चाहिये। इस जीवाणु का उपसर्ग होने पर शीघ्रता से पेनिसिलीन (P) तथा सल्फा (S) द्वारा इसकी चिकित्सा करना चाहिये। यह उपसर्ग प्रायः श्वसन-संस्थान तथा कण्ठ (Sorethroat) मे होता है। इसलिये शीत तथा नम स्थान में न रह कर शुष्क तथा ऊष्ण जल-वायु वाले स्थान मे रहना चाहिये। पेनिसिलीन का प्रयोग करने से अथवा रोगी के कण्ठस्राव से बनी आत्ममसूरी (Vaccine) का इन्जेक्शन लगाने से रोग का पुनरागमन रोका जा सकता है। आमवात के रोगी मे शल्यकर्म (Op) करने के दो तीन दिन पूर्व तथा पश्चात पेनिसिलीन का इन्जेक्शन देने से अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृच्छोथ (Sub : acute bacterial endocarditis) होनेकी सम्भावना नहीं रहती। शीत ऋतु मे सल्फाडियाजीन (S-diazine) १–४ गो. प्र. दि. लेने से मालागोलाणु (Strepto) के उपसर्ग की सम्भावना कम रहती है परन्तु इस औषधि के प्रयोग के समय बराबर मूत्र तथा रक्त की परीक्षा करते रहना चाहिये। श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या मे कमी होती प्रतीत होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। प्रत्येक रोगी की तुण्डिकायें (Tonsils) निकाल देने से रोग के पुनरावर्तन (Relapse) की सम्भावना मे कमी नहीं होती। हृदय तथा संधि की विकृति की तीव्र अवस्था मे शल्यकर्म (Op) करने से गभीर अन्तर्हृत्शोथ (Endocarditis) होने की सम्भावना रहती है इसलिये जब तक रोग के कार्यशील होने का प्रमाण मिले तब तक शल्यकर्म नहीं करना चाहिये। रोग की कार्यशीलता कम होने पर हृदयाग्र (Apex) अपने स्थान पर आ जाता है और बालक का वजन बढने लगता है। ज्वर तथा नाड़ी प्राकृत हो जाते है।

(ख) **तीव्र अवस्थाः**—(१) **साधारणः**—विश्राम, दुग्ध आहार, विरेचन (Purge) तथा पर्याप्त मात्रा मे जल का प्रयोग आवश्यक है। इस रोग मे **विश्राम** का विशेष महत्व है। जब तक रोग की विषमयता का प्रमाण मिले तब तक रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये। विश्राम की अवधि प्रायः ज्वर की अवधि से दूनी होती है। विकृत सन्धि पर तीव्र अवस्था मे गुलार्ड लोशन (Goulard's lotion) या जल मे मैग सल्फ (Mag : sulph :) मिलाकर लगाने से पीडा का शमन होता है। अनुतीव्र अवस्था मे लिनिमेण्ट मेथिल सैलिसिलस (Liniment methyl salicylas) का प्रयोग

कर सकते हैं। इस रोग की चिकित्सा रोग की स्थिति के अनुसार की जाती है।

हृदय की विकृति रोकने का एक मात्र उपाय **पूर्ण विश्राम** है। इसमे कमी होने से हृदय में विकृति होना निश्चित है। विश्राम मे कमी करने के पूर्व रोगजन्य **विषमयता** के लक्षण ठीक हो जाने चाहिये। विषमयता ठीक होने पर ज्वर प्राकृत हो जाना चाहिये और विशिष्ट औषधि स्थगित करने पर भी ज्वर प्राकृत रहना चाहिये। विश्राम के समय नाड़ी की गति तीव्र नहीं होनी चाहिये। रक्तावसादन गति (E. S.R.) प्राकृत होनी चाहिये तथा विद्युतहृल्लेख (Ecg) द्वारा हृदय मे विकृति का प्रमाण नही मिलना चाहिये। ज्वर, नाड़ी, रक्तावसादन गति (E. S. R.) तथा विद्युतहृल्लेख (Ecg) परीक्षा प्राकृत हो जाने के पश्चात ही शनैः शनैः विश्राम मे कमी करना चाहिये। विश्राम मे कमी करने पर यदि इन चारो अवस्थाओं मे पुनः परिवर्तन हो तब पुनः विश्राम करना चाहिये। रोग दीर्घकालीन होने के कारण रोगी को पौष्टिक **आहार** देना चाहिये। ज्वर की तीव्र अवस्था मे तरल आहार (पृ. ४), पर्याप्त मात्रा मे जल तथा जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C) मि. ग्रा. १०० त्रि.प्र.दि. देना चाहिये। इस रोग तथा इसकी विशिष्ट औषधि दोनो की प्रकृति शरीर मे अम्लीयता (Acidity) उत्पन्न करने की होती है। इसलिये फलो के रस (पृ. ४) तथा सोडीबाइकार्ब से इस अम्लीयता को कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। दूध पचने मे कठिनाई होने पर एक पात्र दूध मे पोटास साइट्रस (Pot: citras) ग्रे. ५ मिलाकर देना चाहिये। दूध मे थोड़ा जल या वार्ली भी मिला सकते हैं। प्र. दि. प्रायः २–२½ सेर दूध देना चाहिये। रोगी को प्रायः पसीना अत्यधिक होता है इसलिये रोगी का वस्त्र पसीना सोखने वाला तथा ढीला होना चाहिये जिससे सरलता से बदला जा सके। **कब्ज** रहने पर कैसकरा का सत्व (Cascara evacuant) मि २०–३० ए. या द्वि. प्र. दि. आ. अ. दें। पीडा के कारण प्रायः निद्रा नहीं आती। इसके लिए परालडिहाइड (Paraldehyde) २ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते है। यह औषधि मुख मार्ग से ड्रा. १ से २ अथवा गुदामार्ग से इसकी दूनी मात्रा मे दे सकते हैं परन्तु इसका स्वाद अत्यधिक बुरा होने के कारण मुख मार्ग उपयुक्त नही है। मेडिनल (Medinal), पेथिडीन (Pethidine), औरटल (Ortal), डाइडायल (Didial) आदि की गो १ आ. अ. निद्रा के पूर्व दे सकते हैं। विकृत **संधि पर** रोगी की प्रकृति के

अनुकूल औषधि लगाना चाहिये। किसी रोगी को गरम तथा किसी को शीतल औषधि से सुख मिलता है। विन्टोजेन (Wintogn), गुलथेरिया का तेल (Ol. Gultheria), थरमोजीन वूल (Thermogene wool) आदि भी लगाया जाता है। पीड़ा कम होने पर आयोडेक्स (Iodex) के साथ मेथिल सेलिसिलेट (Methyl salicylate) का योग मालिश कर सकते हैं। आमवात की पीड़ा कम करने के लिये **सोडी सैलिसिलस** (Sodi: salicylate) ही सर्वोपरि है। किसी कारणवश यह औषधि न दे सकने पर अमीडोपाइरीन (Amidopyrine) देना चाहिये। कोडीन (Codeine) ग्रे. $\frac{1}{4}-\frac{1}{2}$ अथवा फेनोबार्बिटोन (Phn) ग्रे. $\frac{1}{4}-\frac{1}{2}$ प्रति ४ घटे दे सकते हैं। **फेनिलबूटाजोन** (Phenylbutazone A. D.) गो। १ त्रि.प्र.दि देने से संधि की पीड़ा कम होती है।

हृत्प्रदेश (Precordia) पर पीड़ा होने पर बरफ की थैली लगा सकते हैं। परन्तु थैली का भार वक्ष पर नहीं पड़ना चाहिये। रोग की **तीव्र** अवस्था में रोगी की चिकित्सा चिकित्सालय में करना अच्छा है।

(२) विशिष्ट चिकित्सा :—(च) सोडीसैलिसिलेट (Sodi:-salicylate) :—आमवात की यह विशिष्ट औषधि है। इसके प्रयोग से यदि तीन दिन के अन्दर रोगी को लाभ न हो तब समझना चाहिये कि निदान में भूल हुई है। यह औषधि ज्वर तथा संधिशोथ (Arthritis) दोनों में लाभदायक है। इसके प्रयोग से संधियों की पीड़ा शीघ्रता से कम होनी चाहिये। हृदय की विकृति पर यह औषधि प्रभावहीन है और हृदय पर इसका कोई कुप्रभाव भी नहीं है। इसके प्रयोग के समय रोगी को कब्ज नहीं होनी चाहिये। इसकी प्रत्येक मात्रा के साथ सोडी-बाइकार्ब रहना चाहिये। दोनों औषधियों की मात्रा बराबर अथवा सोडी बाइ-कार्ब की मात्रा विशिष्ट औषधि की आधी रहनी चाहिये। इसके प्रयोग के समय जब रोगी को सुनने में कमी प्रतीत हो अथवा कान में आवाज (Tinnitus) हो तब समझना चाहिये कि औषधि की मात्रा उपयुक्त है। ये लक्षण औषधि की साधारण विषाक्तता के सूचक हैं। यह औषधि रोग की अवधि को कम नहीं करती। इस औषधि को बन्द करने के पूर्व ज्वर प्राकृत हो जाना चाहिये, सन्धि में पीड़ा तथा सूजन नहीं रहनी चाहिये। औषधि बन्द करने पर इन लक्षणों का पुनरागमन नहीं होना चाहिये। इसलिये ज्वर

शान्त होने के २–३ सप्ताह पश्चात औषधि बन्द करना चाहिये । इस औषधि की **विषाक्तता** (Toxaemia) के कारण रोगी का जी मिचलाता है, वमन होता है, कम सुनाई देता है तथा कान मे आवाज (Tinnitus) होती है । निद्रानाश, चक्कर आना, श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), मूत्र से रक्तस्राव (Haematuria), मन्दगति नाड़ी, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण भी हो सकते हैं । कर्ण से सम्बन्धित लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि की मात्रा आधी कर देना चाहिये । निद्रानाश, चिड़चिड़ापन, मानसिक विकृति आदि होने पर औषधि को कुछ समय के लिये बन्द कर देना चाहिये । पुनः औषधि जब प्रारम्भ करें तब पहले से कम मात्रा मे औषधि दें । इसके प्रयोग से रक्त में पूर्वघनास्त्री (Prothrombin) की कमी होने की सम्भावना रहती है इसलिये जीवतिक्ति 'के' (Vit : 'K') मि. ग्रा. १० प्र. दि. दें । सोडी सैलिसिलस के दो योग आते हैं, कृत्रिम (Synthetic) तथा प्राकृत (Natural) । कृत्रिम की अपेक्षा प्राकृत अधिक प्रभावशाली है । इस औषधि को सिरामार्ग से प्रयोग नहीं करना चाहिये । तीव्र आमवात के साथ दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.) रहने पर सोडी सैलिसिलस अथवा सोडी बाइकार्ब का प्रयोग नहीं करना चाहिये । इस अवस्था में सोडियम (Na.) का प्रयोग करने से शोफ (Oedema) की वृद्धि होती है । यकृत अथवा वृक्क मे विकृति रहने सर सोडी सैलिसिलस देने से **गम्भीर विषाक्तता** हो सकती है । इस अवस्था में रोगी मधुमेहजसन्यास (Diabetic coma) के समान चेतनाहीन हो जाता है । चेतना नष्ट होने के पूर्व सिर मे पीड़ा, चक्कर, अवसाद (Depression), दिखलाई देने मे कमी आदि लक्षण होते हैं । हाथ-पैर ठण्डे तथा पसीने से भीग जाते । नाडी की गति मन्द तथा अनियमित हो जाती है। नाडी सरलता से स्पर्श नहीं होती । हृत्शब्द (Heart sound) क्षीण हो जाते हैं । श्वसन गम्भीर तथा मन्द हो जाता है । चेन-स्टोक श्वसन (C.S. Resp :) हो सकता है । मूत्र की मात्रा मे वृद्धि होती है अथवा मूत्राल्पता (Oliguria) हो सकती है । इस अवस्था की **चिकित्सा** लक्षणो के अनुसार करना चाहिये । सोडी सैलिसिलस बन्द कर प्रचुर मात्रा में जल देना चाहिये । सिरामार्ग से समबल लवणघोल (N. Saline), ग्लूकोस, इनस्यूलिन (Insulin) आदि का प्रयोग करना चाहिये। मुख से सोडी बाइकार्ब अथवा पोटास साइट्रस (यो. १) देना चाहिये।

रोग की तीव्र अवस्था मे औषधि दिन-रात देना चाहिये। प्रथम ६ दिन औषधि पूर्ण मात्रा मे देना चाहिये तत्पश्चात् मात्रा आधी कर सकते हैं। **एस-पिरीन** (Aspirin) की मात्रा तथा प्रयोग की विधि सोडी सैलिसिलस के समान है। साडी सेलिसिलस सहन न होने पर **पिरामिडॉन** (Pyramidon) प्रयोग कर सकते हैं। इस औषधि के देते समय श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या जानने के लिये प्रति ४ दिन पर रक्तपरीक्षा करना चाहिये। इस औषधि से केवल पीड़ा कम होती है। इसकी **विषमयता** के कारण श्वेत-कणों की मात्रा अत्यधिक कम हो सकती है। यह विकृति होनेपर औषधि बन्द करके पेनिसिलीन (P.) देना चाहिये तथा श्वेतकणापकर्ष (Agranulocitosis) की चिकित्सा (पृ. २३१) करना चाहिये। **कोर्टीसोन** (Cortisone acetate) अथवा **ए. सी. टी. एच.** (ACTH.) से तीव्रता से लाभ होता है परन्तु औषधि का प्रभाव अस्थायी है। इनसे रोग के लक्षण प्रायः एक सप्ताह के अन्दर ठीक हो जाते हैं।

(२) **अन्य चिकित्सा :**— हृदयावरण (Pericardium) में जल संचय होने पर यदि खाँसी, श्वास में कष्ट (Orthopnea) तथा हृदय के कार्य मे विघ्न होने के लक्षण हों तब जल को निकाल (पृ. २३) देना चाहिये। इस क्रिया के पूर्व तथा पश्चात् द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग बचाने के लिये पेनिसिलीन (P.) का प्रयोग करना चाहिये। सोडी सैलिसिलस भी जल को प्रचूषित (Absorb) करता है। यह जल जीवाणुरहित होता है इसलिये पेनिसिलीन आदि कार्य नहीं करतीं। प्राणवायु (O_2) का आ. अ. प्रयोग करना चाहिये। **रक्ताल्पता** (Anaemia) के लिये लौह (Fe.) के योग तथा यकृत सत्व (Liver ext:) का प्रयोग करना चाहिये। फेरस सल्फ (Ferrus sulph) ग्रे. ३–५ त्रि. प्र.दि. भो. प. द। आ. अ. रक्तप्रदान (Blood transfusion) कर सकते हैं। इस रोग की तीव्र अवस्था मे **सल्फा** (S) का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इससे हानि हो सकती है। आमवात के क्रम मे यदि **पेनिसिलीन** से ठीक होने वाला कोई उपसर्ग हो जाय तब इस औषधि का प्रयोग कर सकते हैं, अन्यथा आमवात पर यह औषधि प्रभावहीन है। मालागोलाणु (Strepto) द्वारा कण्ठशूल (Sorethroat) आदि होने पर प्रारम्भ मे ही पेनिसिलीन प्रयोग करने से आमवात का पुनरावर्तन रोका जा सकता है। कैलसियोड

(Calsiod) या एटोफैन (Atophan) ग्रे. १५ त्रि. प्र. दि. दी जाती है। एटोफैन विषाक्त है तथा ४ दिन प्रयोग करने के पश्चात इसको बन्द कर देना चाहिये। अरगापाइरीन (Irgapyrin) मुख तथा पेशी मार्ग से दी जाती है। इसका केवल पीड़ा पर प्रभाव है। मधुमक्खी का विष (Bee-vaccine, vaccinurin), गन्धक के योग (Contramine), दुग्ध, रक्त (Autohemotherapy) का इन्जेक्शन, फाइब्रोलाइसीन (Fibrolysin) आदि का प्रभाव अनिश्चित है।

(ग) **चिरकालीन अवस्था की चिकित्सा** :—इस अवस्था में प्रायः रोग के उपद्रव मिलते है। सन्धियों, पेशियो तथा उदर मे अस्पष्ट पीड़ा हो सकती है। कभी-कभी ज्वर, प्रान्तवर्ती रुधिरता (Erythema marginatum,) या तीव्र हृत्शोथ (Carditis) हो सकता है। इस अवस्था में मानसिक तथा शारीरिक विश्राम की आवश्यकता है। सन्तुलित तथा पौष्टिक आहार होना चाहिये। जीवतिक्तियों (Vit :) की मात्रा अधिक होना चाहिये। जल-वायु का परिवर्तन तथा आरोग्यभवन (Sanatorium) में चिकित्सा अधिक लाभप्रद है। रोगी की परिचर्या का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिये। शल्यकर्म (Op) यथासम्भव बचाना चाहिये। विकृत सन्धि की लिनिमेण्ट (Lt : A.B.C.) से मालिश करना चाहिये। आ. अ. सन्धि को गतिशील करना चाहिये। सोडी सैलिसिलस अथवा पिरामिडौन (Pyramidon) का तीव्र अवस्था के समान प्रयोग करना चाहिये। मालागालाणु (Strepto) के उपसर्ग से बचने के लिये **पेनिसिलीन** (P.) १/२ लक्ष. अं. इ. प्र. दि. मुख से दे सकते हैं। **कौरटीसोन** (Cortisone), ए. सी. टी. एच. आदि से विशेष लाभ की सम्भावना नहीं है। **रक्ताल्पता** की चिकित्सा पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

(घ) **रोगसन्निवृत्ति काल** (Convalescence) :—रोग निवृत्त हो जाने के पश्चात् दीर्घकाल पर्यन्त विश्राम करना चाहिये अन्यथा रोग के पुनरावर्तन की सम्भावना रहती है। रोग के सब लक्षण ठीक हो जाने के तीन सप्ताह पश्चात् तक रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये तथा सोडीसैलिसिलस की मात्रा शनैः शनैः कम करना चाहिये। ६–१२ मास मे प्रायः रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इस अवधिमें रोगका पुनरागमन होने पर पूर्ववत् विश्राम तथा सैलिसिलेट (Salicylate) का प्रयोग करना चाहिये। रोगी

को पौष्टिक आहार तथा ईस्टन सिरप (Easton's syr), बाइनिन अमारा (Bynianamara) आदि बलवर्धक औषधियां देना चाहिये । स्वास्थ्यकर स्थानों में जलवायु परिवर्तन के लिये जाना अच्छा है । मांसाहारी भोजन इस रोग मे उपयुक्त नहीं है ।

(ङ) आमवातजन्य दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) :— इस अवस्था में डिजिटेलिस (Digitalis) के प्रयोग के विषय में पर्याप्त मतभेद है । इस औषधि के कारण हृत्पेशी (Myocardium) [illegible] प्रक्षोभ (Irritation) हो सकता है । परिणामस्वरूप नाड़ी अनियमित हो जाती है और हृदय की कार्यशीलता में कमी होती है । इस अवस्था में डिजिटेलिस का प्रभाव भी उत्तम नहीं है । डिजिटेलिस की अपेक्षा पारद के मूत्रल योग (Hg diuretics) तथा लवणरहित आहार पर निर्भर करना चाहिये । इसके अतिरिक्त विश्राम, प्राणवायु (O_2) का प्रयोग, कोर्टीसोन (Cortisone), ए. सी. टी. एच (A. C. T. H.) आदि का प्रयोग या.अ.कर सकते हैं । रोगी को शैय्या पर शिर ऊँचा रखना चाहिये तथा सोडा-सैलिसिलस के स्थान पर एसपिरीन (Aspirin) का प्रयोग करना चाहिये ।

(च) लासक (Chorea) की चिकित्सा :—विश्राम, पौष्टिक आहार तथा शामक औषधियां (Sedatives) देना चाहिये । रोग की तीव्र अवस्था मे रोगी मे परमज्वर उत्पन्न करने के लिये (Pyrotherapy) रोगी को गरम कमरे में रखा जाता है अथवा टी. ए. बी. (T. A. B.) का सिरामार्ग (I.V.) से प्रयोग किया जाता है । रोगी का ताप २–७ दिन १०४° फा. तक रखने से लाभ हो सकता है । आक्षेपनिरोधी औषधिया (प. पृ. ११३) भी प्रयोग की जाती हैं । शामक औषधियों मे कोडीन फौस (Codeine phos) ग्रे. १/८–१/२ त्रि. प्र. दि या फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १/८ १½ त्रि. प्र. दि. अथवा क्लोरल हाइड्रस (यो. २२) त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं [illegible]

फुफ्फुसपाक (Pneumonia)

वर्गीकरण :—फुफ्फुस मे शोथ निम्न जीवाणुओं के कारण हो सकता है :—१—फुफ्फुस गोलाणु (Pneumococcous), २—माला गोलाणु (Strepto-coccus), ३—स्तनक गोलाणु (Staphylococcus), ४—फ्रीडलैण्डर का तृणाणु (B. friedlander), ५—विषाणु

(Virus, primary atypical pneumonia), ६–श्लेष्मक दण्डाणु (Haemophilus influenzae)।

(अ) फुफ्फुस गोलाणुजन्य (Pneumococcal) फुफ्फुसपाक।

परिचय :—फुफ्फुसपाक की चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोग की गम्भीरता का ज्ञान आवश्यक है। गम्भीरता के अनुसार इसके निम्न प्रकार हैं:—

(१) साधारण प्रकार :—रोगी की आयु प्राय: ४० वर्ष से कम होती है। फुफ्फुस के केवल एक खण्ड (Lobe) में विकृति रहती है। नाड़ी की गति १२० प्र. मि. से कम, रक्तनिपीड़ (B. P.) प्राकृत तथा ष्ठीवनपरीक्षा में प्रत्येक तैलावगाही क्षेत्र (Oil immersion field) में जीवाणुओं की संख्या ३० से कम होनी चाहिये। श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या १०,००० प्र. घ. मि. मी. से अधिक होनी चहिये। मूत्र में शुक्लि (Alb) साधारण अथवा नहीं रहना चाहिये। रक्त संवर्ध (Culture) करने पर जीवाणु नहीं मिलने चाहिये। उपद्रव तथा अन्य रोग नहीं रहने चाहिये। यह अवस्था प्राय: तृतीय या चतुर्थ (Type iii & iv) प्रकार के फुफ्फुस-गोलाणु के कारण होती है। इसमें मृत्युसंख्या ½ प्र. श. से कम होता है। इसमें पेनिसिलीन तथा सल्फा (S.) का प्रयोग साधारण मात्रा में पर्याप्त है।

(२) गम्भीर प्रकार :—रोगी की आयु ४० वर्ष से अधिक, फुफ्फुस के २–३ खण्डों में विकृति, नाड़ी की गति १२० प्र. मि. से अधिक, जीवाणुओं की संख्या प्रति तैलावगाही क्षेत्र (Oil immersion field) ३० से ८०, रक्तनिपीड़ (B.P.) सांकोचिक (Systolic) ९० से कम, विस्फारिक (Diastolic) ६० से कम, श्वेतकण (W. B. C.) १०,००० प्र. घ. मि. मी. से कम, मूत्र में अत्यधिक मात्रा में शुक्लि (Alb), रक्त संवर्ध (Culture) से जीवाणुओं का मिलना, साथ-साथ साधारण उपद्रव तथा किसी अन्य साधारण रोग का रहना आदि लक्षण मिलते हैं। यह अवस्था प्राय: प्रथम, द्वितीय, तृतीत तथा चतुर्थ प्रकार (i, ii, iii, iv type) के फुफ्फुस गोलाणु के कारण होती है। इसमें मृत्यु संख्या ४ प्र. श. तक मिलती है। इस अवस्था में पेनिसिलीन (P.) अथवा सल्फा (S.) का प्रयोग अधिक मात्रा में करना चाहिये। पेनिसिलीन 'जी' (P. G.) प्र. ३–४ घं. देना चाहिये।

(३) परम गम्भीर प्रकार :—रोग की यह अवस्था किसी भी आयु

में मिल सकती है। रोग के लक्षणों के साथ साथ अन्य कोई गम्भीर रोग भी रहता है। अन्तर्हृत्शोथ (Endocarditis), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) आदि गम्भीर उपद्रव रहते हैं। विकृति फुफ्फुस के ४–५ खण्डों में एक साथ मिलती है। श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या ६००० प्र. घ. मि. मी. से कम रहती है। रक्त-निपीड़ (B. P.) अत्यन्त अल्प तथा स्तब्धता (Shock) के समान रहता है। नाड़ी की गति १२० प्र. मि. से अधिक तथा ष्ठीवन (Expect) में जीवाणुओं की संख्या प्रति तैलावगाही क्षेत्र (Oil immersion field) में ७५ से अधिक रहती है। इस अवस्था में मृत्यु संख्या २०–२५ प्र. श. से अधिक होती है। इसकी चिकित्सा में यथासम्भव सब उपाय काम में लाना चाहिये।

निदान :—फुफ्फुस में विकृति की अवस्था के अनुसार वक्ष पर स्थानिक (Local) लक्षण मिलते हैं। ज्वर के **प्रथम दिन** प्रायः ८ घटे तक फुफ्फुस में रक्ताधिक्य (Congestion) की अवस्था रहती है। इस अवस्था में शीत लगने का इतिहास, कम्प (Rigor) के साथ ताप की वृद्धि, श्वसन की गति में तीव्रता, खाँसी तथा सम्भवतः वक्ष में पीड़ा, निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण लक्षण हैं। इस अवस्था में विकृत स्थान पर विशेष कर कक्षा (Axilla) अथवा वक्ष के पीछे दोनों अंसफलक (Scapula) के बीच के भाग में फुफ्फुस में वायु के प्रवेश करने में कमी होती है। अत्यन्त सूक्ष्म आर्द्र करकराहट (Hairy, fine crepitations) मिल सकते हैं। शीघ्र ही फुफ्फुस का **संघनन** (Consolidation) हो जाता है और आगन्तुक ध्वनियाँ (Adventitious sounds) प्रायः लुप्त हो जाती है। **इस अवस्था** में अंगुलिताडन ध्वनि मन्द (Dull) हो जाती है और श्वसन ध्वनि नलिकाजन्य (Tubular) होती है। श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) होता है, श्वसन तथा नाड़ियों की गतियों के अनुपात में परिवर्तन होता है, श्यावता (Cyanosis) होती है, ष्ठीवन (Sputum) रक्तमिश्रित कपिलवर्ण (Rusty) हो सकता है तथा शिशु में नासापाली (Alanasi) की गति तीव्र हो जाती है।

नैदानकीय परीक्षायें :—निदान की दृष्टि से निम्न परीक्षायें की जाती हैं :—(१) **रक्तपरीक्षा**:—श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या तथा रक्त-संवर्ध (Culture) द्वारा जीवाणु तथा उसके प्रकार (Type) का

ज्ञान। (२) **ष्ठीवन** (Sputum) **परीक्षा** :—प्रत्येक तैलावगाही क्षेत्र (Oil immersion Field) में फुफ्फुसगोलाणु (Pneumo) की संख्या का ज्ञान, ष्टीवन का संवर्ध (Culture) द्वारा जीवाणु का ज्ञान। (३) रक्त अथवा ष्ठीवन के संवर्ध द्वारा प्राप्त हुए फुफ्फुस गोलाणु के **प्रकार** (Type) का ज्ञान। (४) **मूत्रपरीक्षा** विशेष कर शुक्लि (Alb) तथा एसीटोन (Acetone) के लिये। (५) **क्ष-किरण** (X-ray) परीक्षा द्वारा फुफ्फुस विद्रधि (Lung abscess) आदि का पता लगाना चाहिये।

चिकित्सा :—(क) सिद्धान्तः रोगी की गम्भीर अवस्था में चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व संवर्ध (Culture) द्वारा जीवाणु तथा उसके प्रकार (Type) को जानने के लिये रोगी का रक्त तथा ष्ठीवन (Sputum) ले लेना अच्छा है। रोग की विशिष्ट औषधियों द्वारा चिकित्सा करने पर यदि दो दिन के अन्दर रोगी की अवस्था मे सुधार न हो तब समझना चाहिये कि कदाचित् निदान में भूल हुई है या विकृति एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर बढ़ रही है अथवा किसी अन्य रोग के साथ-साथ रहने के कारण ज्वर प्राकृत नहीं हो रहा है। ज्वर कम होने के पश्चात् यदि पुनः तीव्र हो जाता है तब प्रायः किसी उपद्रव की उत्पत्ति का सूचक है।

(**ख**) **साधारण चिकित्सा**:—इस रोग की चिकित्सा करते समय यह अवश्य ध्यान मे रखना चाहिये कि फुफ्फुस-गोलाणु (Pneumo) के विष का हृत्पेशी (Myocardium) पर विशेष प्रभाव है। इसलिये किसी भी समय **हृदयातिपात** (Ht-failure) हो सकता है। बालको मे **जलाल्पता** (Dehydration) की भी विशेष सम्भावना रहती है। इस रोग में दोनो ही प्रकार के रक्तवह-संस्थान के निपात की सम्भावना रहती है। परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Peripheral circulatory failure) प्रायः रोग के प्रारम्भ मे तथा केन्द्रिय हृदयातिपात (Central ht : failure) ज्वर प्राकृत होने के पश्चात् होता है, इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि प्रारम्भ मे ही रोगी को सावधान कर दिया जाये कि ज्वर प्राकृत होने के कई दिन पश्चात् तक उसको **विश्राम** करना चाहिये। विशिष्ट औषधियो द्वारा प्रायः ज्वर शीघ्रता से प्राकृत हो जाता है और विश्राम का समय के पूर्व यदि परित्याग किया जाता है तब कभी-कभी रोगी की अकस्मात् मृत्यु हो जाती है, इसलिये इस रोग मे

विश्राम का विशेष महत्व है। रोगी को शय्या में पूर्ण विश्राम करना चाहिये। रोगी को बार-बार एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में बदलना नहीं चाहिये। इससे रोगी को परिश्रम होता है। इसीलिये रोगी के वक्ष की बार बार परीक्षा नहीं करनी चाहिये। ज्वर प्राकृत हो जाने के कम से कम तीन दिन पश्चात् तक पूर्ण विश्राम करना चाहिये। तत्पश्चात् परिश्रम की शनैः शनैः वृद्धि होनी चाहिये। श्वास लेने में कष्ट होने पर रोगी का शिर शैय्या पर ऊँचा रखना चाहिये। ज्वर की अवस्था में तरल आहार (पृ.४) ही श्रेयस्कर है। इसके लिये दुग्ध सर्वोत्तम है। जहाँ तक सम्भव हो रोगी को अधिक मात्रा में निरन्तर साधारण जल पीना चाहिये। जल की मात्रा इतनी होनी चाहिये कि प्र. दि. कम से कम एक सेर मूत्र परित्याग हो। मूत्र द्वारा ही जीवाणु के विष का परित्याग होता है। जल में कमी होने से अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। शैशवावस्था में रोगी को लवणघोल (N. Saline) १ प्र. श. पीने को दे सकते हैं। युवावस्था में रोगी प्रायः लवणघोल पीना नहीं चाहता अतः बार्ली के जल के साथ लवण दिया जा सकता है। जलाल्पता की सम्भावना प्रतीत होने पर प्रत्येक मार्ग से जल देने का प्रयत्न करना चाहिये। ज्वर प्राकृत हो जाने के पश्चात् आहार में शनैः शनैः वृद्धि कर सकते हैं। प्रारम्भ में अर्धतरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। क्षुधा में वृद्धि होने पर रोटी, परवल, टोमैटो का सूप आदि दे सकते हैं। श्वसन-संस्थान के रोगी के लिये शुद्ध वायु अत्यावश्यक है। रोगी की शैय्या वायु के मार्ग में नहीं होनी चाहिये। परन्तु शीत ऋतु में भी कमरे की खिड़की तथा द्वार खुले रहना चाहिये। कमरे में धूम्रपान नहीं करना चाहिये तथा अग्नि भी नहीं जलाना चाहिये। इनसे कमरे की प्राणवायु (O_2) में कमी होती है और इस रोग में प्राणवायु अत्यावश्यक है। ऋतु अनुकूल रहने पर रोगी को बरामदे में रखना चाहिये। शुद्ध वायु से श्वासकृच्छ्र (Dysp noea) में कमी होती है, निद्रा आती है, हृदय का बल प्राप्त होता है, रक्त-निपीड (B.P.) की वृद्धि होती है, क्षुधा लगती है, बेचैनी कम होती है तथा रोगी को सुख प्राप्त होता है। मुख तथा त्वचा शुद्ध रखना चाहिये। इसके लिये एक गिलास गरम जल में पास्टुरीन (Pasturin) च. १ मिला कर प्र.दि. २-३ बार कुल्ला करना चाहिये तथा प्र. दि. एक बार गरम जल से रोगी का शरीर पोंछना चाहिये। ऋतु के अनुसार रोगी को वस्त्र पहनाना चाहिये। अत्यधिक वस्त्र में रोगी को लपेट कर रखनेसे कोई लाभ नहीं होता। अनावश्यक

लोगों को रोगी से मिलने नहीं देना चाहिये ।

(ग) **विशिष्ट चिकित्सा** :—पेनिसिलीन (P.) तथा सल्फा (S.) इस रोग की विशिष्ट औषधियाँ है। इनकी मात्रा रोग की अवस्था पर निर्भर करती है। औरियोमाइसीन (Au), क्लोरोमाइसेटीन (Cln) तथा टेरामाइसीन (Tn) भी प्रभावशाली औषधियाँ है परन्तु फुफ्फुसगोलाणु पर पेनिसिलीन का प्रभाव सर्वोत्तम है। विशेष परिस्थिति मे कभी कभी स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) का प्रयोग किया जाता है। पेनसिलीन के साथ साथ औरियोमाइसीन, क्लोरोमाइसिटीन, टेरामाइसीन का प्रयोग नही करना चाहिये। इससे दोनों औषधियों का प्रभाव नष्ट हो जाता है। पेनिसिलीन से लाभ न होने पर इनका प्रयोग कर सकते है। इन अन्य औषधियो को प्रारम्भ करने के पूर्व पेनिसिलीन बन्द कर देना चाहिये। इन औषधियो को पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिये अन्यथा चिकित्सा का परिणाम उत्तम नहीं होता तथा रोग के पुनरावर्तन की सम्भावना रहती है। पेनिसिलीन के प्रयोग से ज्वर अकस्मात प्राकृत होता है इसलिये साथ-साथ हृदय की उत्तेजक (प. पृ ७४) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। विशिष्ट औषधि की मात्रा पर्याप्त रहने पर विकृति के एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलने की सम्भावना नही रहती। **केवल सल्फा** (S.) के प्रयोग से ज्वर ५–७ दिन मे प्राकृत होता है और फुफ्फुस के प्राकृत होने मे विलम्ब होने की सम्भावना रहती है। यह औषधि मुख, पेशी (I. M.) अथवा सिरामार्ग (I. V.) से आ. अ. प्रयोग कर सकते हैं। सल्फा के प्रयोग के समय क्षार (यो. १) द्वारा मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) रखना चाहिये। हृदयातिपात (Ht-failure) के लक्षण रहने पर सोडियम (Na) की अपेक्षा पोटासियम (K.) के लवण प्रयोग करना चाहिये। सल्फा औषधियों को ग्लूकोस, प्लासमा (Plasma), रक्त, अमीनोएसिड (Amino-acid) आदि मे मिला कर सिरामार्ग (I. V.) से नहीं देना चाहिये। ज्वर प्राकृत होने के ३ दिन पश्चात् तक विशिष्ट औषधियाँ देना चाहिये। रोगी की अवस्था के अनुसार इन विशिष्ट औषधियो की मात्रा निम्न है :—

(१) **साधारण अवस्था** :—इस अवस्था मे **पेनिसिलीन** का प्रयोग तीन प्रकार से कर सकते है। (अ) **प्रोकेन पेनिसिलीन** (Pr. P.) ४ ल. अं. इ. पेशीमार्ग (I. M.) से द्वि. प्र. दि. दें या (आ) पेनिसिलीन 'जी' (P. 'G') ५ ल. अं. इ. अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से द्वि. प्र. दि. दें

विश्राम का विशेष महत्त्व है । रोगी को शय्या में पूर्ण विश्राम रखना चाहिये । रोगी को बार-बार एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में बदलना नहीं चाहिये । इससे रोगी को परिश्रम होता है । [illegible] रोगी के [illegible] बार बार [illegible] चाहिये । ज्वर प्राकृत हो जाने के बाद से कम से कम तीन दिन पर्यन्त पूर्ण विश्राम करना चाहिये । तत्पश्चात् परिश्रम की शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये । श्वास लेने में कष्ट होने पर रोगी को शिर शैय्या पर ऊँचा रखना चाहिये । ज्वर की अवस्था में तरल आहार (पृ.७) ही हितकर है । इसके लिये दूध सर्वोत्तम है । जहाँ तक सम्भव हो रोगी को अधिक मात्रा में निरन्तर साधारण जल पीना चाहिये । जल की मात्रा इतनी होनी चाहिये कि प्र. दि. कम से कम एक सेर मूत्र परित्याग हो । मूत्र द्वारा ही जीवाणु के विष का परित्याग होता है । जल में कमी होने से अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं । शैशवावस्था में रोगी को लवणघोल (N. Saline) १ प्र. श. पीने को दे सकते हैं । युवावस्था में रोगी प्रायः लवणघोल पीना नहीं चाहता अतः बार्ली के जल के साथ लवण दिया जा सकता है । जलाल्पता की सम्भावना प्रतीत होने पर प्रत्येक मार्ग से जल देने का प्रयत्न करना चाहिये । ज्वर प्राकृत हो जाने के पश्चात् आहार में शनैः शनैः वृद्धि कर सकते हैं । प्रारम्भ में अर्धतरल आहार (पृ. ७) देना चाहिये । क्षुधा में वृद्धि होने पर रोटी, परवल, टोमैटो का सूप आदि दे सकते हैं । श्वसन-संस्थान के रोगी के लिये शुद्ध वायु अत्यावश्यक है । रोगी की शैय्या वायु के मार्ग में नहीं होनी चाहिये । परन्तु शीत ऋतु में भी कमरे की खिड़की तथा द्वार खुले रहना चाहिये । कमरे में धूम्रपान नहीं करना चाहिये तथा अग्नि भी नहीं जलाना चाहिये । इनसे कमरे की प्राणवायु (O_2) में कमी होती है और इस रोग में प्राणवायु अत्यावश्यक है । ऋतु अनुकूल रहने पर रोगी को बरामदे में रखना चाहिये । शुद्ध वायु से श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) में कमी होती है, निद्रा आती है, हृदय को बल प्राप्त होता है, रक्त-निपीड (B.P.) की वृद्धि होती है, क्षुधा लगती है, बेचैनी कम होती है तथा रोगी को सुख प्राप्त होता है । मुख तथा त्वचा शुद्ध रखना चाहिये । इसके लिये एक गिलास गरम जल में पास्टुरीन (Pasturin) च. १ मिला कर प्र.दि. २–३ बार कुल्ला करना चाहिये तथा प्र. दि. एक बार गरम जल से रोगी का शरीर पोछना चाहिये । ऋतु के अनुसार रोगी को वस्त्र पहनाना चाहिये । अत्यधिक वस्त्र में रोगी को लपेट कर रखनेसे कोई लाभ नहीं होता । अनावश्यक

लोगों को रोगी से मिलने नहीं देना चाहिये।

(ग) विशिष्ट चिकित्सा :—पेनिसिलीन (P.) तथा सल्फा (S.) इस रोग की विशिष्ट औषधियाँ है। इनकी मात्रा रोग की अवस्था पर निर्भर करती है। ऑरियोमाइसीन (Au), क्लोरोमाइसेटीन (Cln) तथा टेरामाइसीन (Tn) भी प्रभावशाली औषधियाँ है परन्तु फुफ्फुसगोलाणु पर पेनिसिलीन का प्रभाव सर्वोत्तम है। विशेष परिस्थिति मे कभी कभी स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) का प्रयोग किया जाता है। पेनिसिलीन के साथ साथ औरियोमाइसीन, क्लोरोमाइसिटीन, टेरामाइसीन का प्रयोग नही करना चाहिये। इससे दोनों औषधियों का प्रभाव नष्ट हो जाता है। पेनिसिलीन से लाभ न होने पर इनका प्रयोग कर सकते हैं। इन अन्य औषधियों को प्रारम्भ करने के पूर्व पेनिसिलीन बन्द कर देना चाहिये। इन औषधियों को पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिये अन्यथा चिकित्सा का परिणाम उत्तम नहीं होता तथा रोग के पुनरावर्तन की सम्भावना रहती है। पेनिसिलीन के प्रयोग से ज्वर अकस्मात प्राकृत होता है इसलिये साथ-साथ हृदय की उत्तेजक (प. पृ ७४) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। विशिष्ट औषधि की मात्रा पर्याप्त रहने पर विकृति के एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलने की सम्भावना नही रहती। **केवल सल्फा** (S.) के प्रयोग से ज्वर ५–७ दिन मे प्राकृत होता है और फुफ्फुस के प्राकृत होने मे विलम्ब होने की सम्भावना रहती है। यह औषधि मुख, पेशी (I. M.) अथवा सिरामार्ग (I. V.) से आ. अ. प्रयोग कर सकते है। सल्फा के प्रयोग के समय क्षार (यो. १) द्वारा मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) रखना चाहिये। हृदयातिपात (Ht-failure) के लक्षण रहने पर सोडियम (Na) की अपेक्षा पोटासियम (K.) के लवण प्रयोग करना चाहिये। सल्फा औषधियों को ग्लूकोस, प्लास्मा (Plasma), रक्त, अमीनोएसिड (Amino-acid) आदि मे मिला कर सिरामार्ग (I. V.) से नहीं देना चाहिये। ज्वर प्राकृत होने के ३ दिन पश्चात् तक विशिष्ट औषधियाँ देना चाहिये। रोगी की अवस्था के अनुसार इन विशिष्ट औषधियों की मात्रा निम्न है :—

(१) साधारण अवस्था :—इस अवस्था मे **पेनिसिलीन** का प्रयोग तीन प्रकार से कर सकते हैं। (अ) **प्रोकेन पेनिसिलीन** (Pr. P.) ४ ल. अं. इ. पेशीमार्ग (I. M.) से द्वि. प्र. दि. दें या (आ) पेनिसिलीन 'जी' (P. 'G') ५ ल. अं. इ. अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से द्वि. प्र. दि. दें

अथवा (इ) पेनिसिलीन 'जी' २५,००० अ.इ. प्रति ४ घटे दें। प्रायः पेनिसिलीन द्वारा चिकित्सा पर्याप्त होती है। किसी कारणवश इसका प्रयोग न कर सकने पर **सल्फा** (S.) द्वारा चिकित्सा कर सकते हैं। इसके लिये सल्फाडियाजीन (S-diazine, s-triad) गो. २ (यो. ४७) प्र. ४ घ. दें। औषधि की प्रथम मात्रा साधारण मात्रा की दूनी होना चाहिये।

(२) **गम्भीर अवस्था** :—इस अवस्था की चिकित्सा साधारण अवस्था के समान है अन्तर केवल यह है कि पेनिसिलीन तथा सल्फा दोनों औषधियाँ एक साथ प्रयोग करना चाहिये। प्रोकेन पेनिसिलीन की अपेक्षा पेनिसिलीन 'जी' ५०,००० अ. इ. प्र. चा. घं. देना चाहिये। सल्फा औषधि की मात्रा भी साधारण मात्रा की दूनी होनी चाहिये।

(३) **परम गम्भीर अवस्था** :—इस अवस्था मे **सर्वदा** पेनिसिलीन तथा सल्फा औषधि का प्रयोग साथ-साथ करना चाहिये। पेनिसिलीन 'जी' अं. इ. १/२–१ लक्ष पेशीमार्ग (I. M.) से प्रति २–३ घंटे पर देना चाहिये। औषधि की प्रथम मात्रा सिरामार्ग (I. V.) से भी दे सकते है। रोगी की अवस्था **अत्यन्त चिन्ताजनक** रहने पर पेनिसिलीन 'जी' सिरामार्ग (I. V.) से ४० बूँद प्र. मि. की गति दे सकते हैं। इस क्रिया के लिये औषधि की २ ल. अं. इ. की मात्रा समबल लवणघोल (N. saline) १/२ पा. मे मिलाकर देना चाहिये। इस प्रकार औषधि की सम्पूर्ण मात्रा प्रायः २ घण्टे में शरीर मे प्रवेश करती है। पेनिसिलीन के स्थान पर **टेरामाइसीन** प्रयोग कर सकते हैं। इस औषधि की २५० मि. ग्रा. की मात्रा १०० सी. सी. समबल लवणघोल (N. saline) मे मिला कर सिरामार्ग (I. V.) से शनैः शनैः देना चाहिये। तत्पश्चात् रोगी यदि मुख से औषधि ले सकता हो तब २५० मि. ग्रा. का २ कै. ४–८ बार प्र. दि. दे सकते है। जबतक रोगी मुख से औषधि न ले सके तबतक २५० मि. ग्रा. सिरामार्ग से त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये। इसी प्रकार **औरियोमाइसीन** भी प्रयोग कर सकते हैं। इसकी सिरामार्ग से प्रयोग करने की मात्रा १००–२०० मि. ग्रा. है। **सल्फा** औषधि के प्रयोग की विधि तथा मात्रा गम्भीर अवस्था के समान है। यदि रोगी मुख से सल्फा न ले सके तब औषधि का सोडियम (Na) के साथ बना लवण ग्रा. ३–५, सोडियम लैक्टेट (Sodi : lactate M/6) २ पा. मे मिला कर ४० बूँद प्र. मि. की गति से सिरा मार्ग से तब तक देना

चाहिये जबतक रोगी मुख मार्ग से औषधि न ले सके। यथासम्भव औषधि मुखमार्ग से ही देना चाहिये। **प्रथम** सिरा अथवा पेशीमार्ग से ग्रा. ३–५ देने के पश्चात् प्रति ६ घण्टे पर १½–२ ग्रा. औषधि इस मार्ग से तबतक दें जबतक रोगी मुख से औषधि न ले सके।

(घ) लक्षणों की चिकित्सा :—श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) तथा श्यावता (Cyanosis) के लिये प्राणवायु (O_2) का प्रयोग (पृ. २५) करना चाहिये। प्रलाप (पृ.१४४), हृदयातिपात (पृ.२३३), तीव्र फौफ्फुसीय शोफ (पृ.१५१), आध्मान (पृ.१६१), फुफ्फुसावरण शोथ जन्य पीड़ा (पृ.२३०) तथा खाँसी (पृ.१६१) की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। फुफ्फुसपाक मे प्रायः कब्ज रहती है इसलिये रोगारम्भ मे जिह्वा श्वेत तथा मलावृत (Furred) रहने पर अत्यल्प मात्रा मे प्रति आध घण्टेपर कैलोमेल (यो.५२) की १ पुडिया तब तक देना चाहिये जबतक मल परित्याग न हो। कैलोमेल की सम्पूर्ण मात्रा ग्रे. २ से अधिक नही होनी चाहिये। कैलोमेल देने के पश्चात् आ. अ. मैगसल्फ (Mag. sulph) ड्रा. ४ देना चाहिये। बाल्यावस्था मे रोगी प्रायः ष्ठीवन या मुख से परित्याग नहीं कर सकता, इसलिये ष्ठीवन मल द्वारा परित्याग कराने के लिये अरण्ड का तैल (यो. ३२) आयु के अनुसार त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। रोग के उत्तरार्ध मे कब्ज होने पर साबुन के एनिमा पर ही निर्भर करना चाहिये। रोग के प्रारम्भ मे कम्प (Rigor) होने पर रोगी को एक प्याला गरम पानी मे चार चम्मच शहद तथा आधा नींबू का रस मिला कर पिलाने से कम्प मे कमी होती है। चाय, कौफी भी दे सकते हैं। रोगी को वस्त्र से ढक कर तथा गरम पानी की बोतल से गरम रखना चाहियें। ग्लूकोस २५ प्र. श. २५ सी. सी. के साथ इनस्यूलिन ३ अं. इ. देने से हृत्पेशी (Myocardium) को बल प्राप्त होता है। ग्लूकोस सिरामार्ग (I. V.) से तथा इन्सूलिन अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से देना चाहिये। इन्स्यूलिन की प्रत्येक अं. इ. २ ग्राम ग्लूकोस का संवर्त्त (Metabolize) करती है। प्रत्येक उपसर्ग मे जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C.) से लाभ होता है। इसको मुख से १०० मि. ग्रा. त्रि. प्र. दि. अथवा ५०० मि. ग्रा. सिरामार्ग से ग्लूकोस के साथ दे सकते है। श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या में कमी के कारण यदि फुफ्फुस प्राकृत होने मे विलम्ब होता हो तब पौष्टिक आहार तथा औषधियों, जीवतिक्ति ए. डी. (Vit : A, D.) आदि के द्वारा रोगी

के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये तथा पाइरीडोक्सीन (पृ. २३१) आदि द्वारा श्वेतकणों की वृद्धि करना चाहिये। अत्यल्प मात्रा में फुफ्फुस-गोलाणु की मसूरी (Pneumococcal immunogen) के इंजेक्शन से भी फुफ्फुस के आकृत होने में सहायता मिलती है। रोग के प्रथम सात दिन के अन्दर यह औषधि प्रयोग नहीं करनी चाहिये। श्वसन के निपात (Failure) की सम्भावना रहने पर स्ट्रिकनीन (Strychnine) ग्रे. १/६० अथवा लोबेलीन (Lobeline) १ सी. सी. पेशीमार्ग से दें। रोग के प्रथम ५ दिन के पश्चात् रोगी को चिकित्सालय में नहीं भेजना चाहिये। परिश्रम पड़ने से हृदयातिपात की सम्भावना रहती है। **लसिका** (Serum) का प्रयोग अव्यवहारिक है।

(ङ) **रोगसन्निवृत्तिकाल** :—फुफ्फुसपाक के रोगी को पुनः यह रोग होने की सम्भावना रहती है। इसलिये रोग निवृत्त होने पर परिश्रम में शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। आहार में प्रोटीन (Ptn) तथा वसा (Fat) की प्रधानता रहनी चाहिये। पौष्टिक औषधि विशेषकर मछली के यकृत का तेल (Codliver Oil), स्वास्थ्यवर्धक स्थान में जलवायु का परिवर्तन आदि से स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। शीत लगने से बचना चाहिये। फुफ्फुस गोलाणु की मसूरि (Vaccine) का प्रयोग कर सकते हैं।

(आ) मालागोलाणु जन्य फुफ्फुसपाक (Strepto:Pneumonia)।

परिचय :—शोणांशिक मालागोलाणु (Strepto : Hemolyticus) जन्य यह विरल रोग अन्य कारणों से फुफ्फुसपाक होने के पश्चात् द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के रूप में होता है। रोग का प्रारम्भ प्रायः शनैः शनैः होता है। गंभीर विषमयता (Toxaemia), रक्तवर्ण कण्ठ, रक्त अथवा पूय मिश्रित ष्ठीवन (Sputum) इसके प्रधान **लक्षण** है। फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural sac) में जल अथवा पूय (Epyema) का संचय होना इसके प्रधान **उपद्रव** है। फुफ्फुस मे विकृति श्वसनी-फुफ्फुसपाक (Broncho pneumonia) के समान होती है।

चिकित्सा :—पेनिसिलीन 'जी' (P. 'G') ½–१ ल. अं. इ. पेशीमार्ग से प्र. ४ घ. पर देना चाहिये। साथ-साथ सल्फाडियाजीन (S-diazine) ग्रा. १ (यो. १०) प्र. ४ घ. मुख से दें। औषधि की प्रथम मात्रा ग्रा. २ होनी चाहिये। पेनिसिलीन से लाभ न होने पर पेनिसिलीन के स्थान पर औरियोमाइसीन (Au), क्लोरोमाइसेटीन (Cln) अथवा टेरामाइसीन (Tn)

मि. ग्रा. २५०–१०० मुख द्वारा प्र. ४–६ घ. पर दे सकते हैं। ग्रा. ग्र. इन औषधियो को सिरामार्ग से प्रयोग करना चाहिये। अन्य चिकित्सा फुफ्फुस गोलाणु (Pneumo) जन्य फुफ्फुसपाक (पृ. ४८७) के समान है।

(इ) स्तवक गोलाणु जन्य फुफ्फुसपाक (Staph:Pneumonia)।

परिचय :—स्तवक गोलाणु (Staph) जन्य यह वर्धनशील रोग अन्य कारणों से फुफ्फुसपाक होने के पश्चात् द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के रूप मे होता है। फुफ्फुस मे विकृति श्वसनी फुफ्फुसपाक (Bronchopneumonia) के समान होती है। फुफ्फुस मे अनेक विद्रधियाँ (Abscess) हो सकती हैं। रोगी की अवस्था अत्यन्त चिन्ताजनक हो जाती है।

चिकित्सा :—इस रोग की चिकित्सा मालागोलाणु (Strepto) जन्य फुफ्फुसपाक (पृ ४९२) के समान है। इसमे रोग के पुनरावर्तन (Relapse) की अधिक सम्भावना रहने के कारण विशिष्ट औषधियो का प्रयोग ज्वर प्राकृत हो जाने के एक सप्ताह पश्चात् तक करना चाहिये।

(ई) विषाणुजन्य (Virus, primary Atypical) फुफ्फुसपाक।

परिचय :—विषाणु (Virus) जन्य यह रोग साधारण तथा दीर्घकालीन होता है। फुफ्फुस मे विकृति श्वसनी-फुफ्फुसपाक (Bronchopneumonia) के समान होती है। रोगारंभ शनैः शनैः होता है तथा रोगी की अवस्था चिन्ताजनक नही प्रतीत होती। ज्वर साधारण होता है और उसकी वृद्धि तथा शमन भी शनैः शनैः होता है। विशिष्ट चिकित्सा के अभाव में रोग की अवधि प्रायः १–२ सप्ताह है। क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा से अनेक स्थानों पर संघनन (Consolidation) का प्रमाण मिल सकता है। रक्त मे श्वेतकणो (W.B.C.) की संख्या प्रायः प्राकृत से कम रहती है।

चिकित्सा :—औरियोमाइसीन (Au), टेरामाइसीन (Tn) आदि मि. ग्रा. २५०–५०० चा. प्र. दि. प्रयोग कर सकते हैं। पेनिसिलीन(P.) तथा सल्फा (S) औषधियाँ प्रभावहीन हैं। रोगी की अवस्था गम्भीर रहने पर औरियामाइसीन या टेरामाइसीन मि. ग्रा. २५० की मात्रा १०० सी. सी. समबल लवणघोल (N. Saline) मे मिलाकर सिरामार्ग से शनैः शनैः दे सकते हैं। अन्य चिकित्सा फुफ्फुसगोलाणुजन्य (Pneumo) फुफ्फुसपाक (पृ. ४८७) के समान है।

(ए) श्लेष्मदण्डाणुजन्य फुफ्फुसपाक

(Haemophilus influenzae pneumonia)

परिचय :—श्लेष्म दण्डाणु (H. influenzae) जन्य यह रोग प्रायः श्लेष्मक ज्वर (Influenza) मे उपद्रव स्वरूप होता है। यह श्लेष्मक ज्वर मे मृत्यु का प्रधान कारण है। रोग का प्रारम्भ तथा वृद्धि शनःशनैः अथवा तीव्रता से होती है। यह रोग प्रायः श्लेष्मक ज्वर के मरक (Epidemic) के समय मिलता हैं। अन्य समय यह विरल है। फुफ्फुस मे विकृति श्वसनी फुफ्फुसपाक (Broncho-pneumonia) के समान होती है। प्रधान विकृति श्वसनिकाओं (Broncheoles) मे होने के कारण जो रोगी जीवित रहते है उनमे श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) होने की अधिक सम्भावना रहती है। फुफ्फुस में शोथ के साथ-साथ रक्तस्राव होने के कारण ष्ठीवन (Sputum) म पर्याप्त मात्रा में रक्त रहता है। विषमयता (Toxaemia) की प्रधानता रहती है तथा श्वेतकणो (W.B.C.) की संख्या प्राकृत से कम या अधिक रहती है। नाड़ी की गति प्रायः मन्द रहती है। स्वस्थ तथा युवा मे यह विकृति, बालको अथवा वृद्ध तथा दुर्बल मनुष्यो की अपेक्षा अधिक होती है।

चिकित्सा :—इसकी चिकित्सा स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str), एक्रोमायसीन (Acn) या ऑरियोमाइसीन (Au.) द्वारा करना चाहिये। इन औषधियों के साथ-साथ सल्फा (S) औषधियाँ भी देना चाहिये। रोग की पुनरावर्तन (Relapse) की प्राकृति होने के कारण विशिष्ट औषधियों को ज्वर प्राकृत होने के ८–१० दिन पश्चात तक देना चाहिये। स्ट्रेप्टोमाइसीन ग्रा. ½ पेशीमार्ग (I. M.) से ४–६ बार प्र. दि. देना चाहिये। सल्फा डियाजीन (S-diazine) गो. २ (ग्रा. १) प्र. ४ घं. देना चाहिये। एक्रोमायसीन, ऑरियोमाइसीन या टेरामाइसीन २५०–५०० मि. ग्रा. ४–६ बार प्र. दि. मुख से देना चाहिये। रोगी की अवस्था गम्भीर होने पर ये औषधियाँ १००–२५० मि.ग्रा. समबल लवण घोल (N. saline) १०० सी. सी. में मिलाकर ३–४ बार प्र. दि. अत्यन्त शनैः शनैः सिरामार्ग (I.V.) से दे सकते हैं। अन्य चिकित्सा फुफ्फुस गोलाणु जन्य (Pneumo) फुफ्फुसपाक (पृ. ४८७) के समान है।

(पे) फ्रीडलैंडर जीवाणुजन्य फुफ्फुसपाक।
(Friedlander's pneumonia)

परिचय :—क्लेबिसिला फुफ्फुसपाकी (Klebsiella pneumoniae) जन्य यह रोग, अन्य चिरकालीन रोगो के द्वारा स्वास्थ्य विकृत हो जाने पर उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होता है। रोग अत्यन्त मारक है। इसमे विषमयता (Toxaemia) की प्रधानता रहती है। रोग के लक्षण अनिश्चित होते हैं। फुफ्फुस मे विद्रधि (Abscess) तथा कर्दम (Gangrene) की विशेष सम्भावना रहती है। रोग का आरम्भ अकस्मात होता है। कम्प (Rigor) के साथ ज्वर की वृद्धि होती है। पूय तथा रक्तमिश्रित ष्ठीवन (Sputum) होता है। इसको प्रवाहीश्लेष्मकवत ष्ठीवन (Currant jelly sputum) कहते हैं। फुफ्फुस मे विकृति श्वसनी-फुफ्फुसपाक (Broncho pneumonia) के समान होती है। खांसी, श्यावता (Cyanosis), श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) आदि लक्षण मिलते हैं। श्वेतकणो (W.B.C.) का संख्या अनिश्चित रहती है।

चिकित्सा :—सल्फा (S) तथा पेनिसिलीन के साथ स्ट्रेपटोमाइसीन (Str) का प्रयोग परमगम्भीर फुफ्फुसपाक के समान (पृ. ४६०) करना चाहिये। स्ट्रेप्टोमाइसीन ग्रा. ½ मे पेनिसिलीन, 'जी' (P. 'G') १ ल.अ.इ. मिलाकर पेशीमार्ग (I. M.) से ४–६ बार प्र. दि. दे। साथ साथ सल्फा डियाजीन (S–diazine) की २ गो. (ग्रा. १) प्र. ४ घं. देना चाहिये। ज्वर प्राकृत होने के दो सप्ताह पश्चात विशिष्ट औषधियाँ स्थगित करना चाहिये।

तीव्र कण्ठनलिकाशोथ, श्वसनिकाशोथ, श्वसनी-फुफ्फुसपाक।
(Acute-trachitis, bronchitis, broncho-pneumonia)

परिचय :—ये विकृतियाँ प्रायः बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था मे विषाणु (Virus) तथा द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के कारण होती है। युवावस्था मे बार बार श्वसनिकाशोथ होने पर यक्ष्मा (T.B.) की संभावना ध्यान मे रखना चाहिये। वृद्धावस्था मे तान्त्विक यक्ष्मा (Fibroid phthisis) मे श्वसनिकाशोथ के समान लक्षण होते है। जब विकृति अत्यन्त सूक्ष्म श्वसनिकाओ मे होती है (Capillary bronchitis, acute suffocative catarrh) तब श्वसनी-फुफ्फुसपाक के

समान लक्षण होते हैं। यह विकृति प्रायः शैशवावस्था में होती है और गंभीर रूप धारण करती है। यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि शैशवावस्था के तीन गभीर रोगों के लक्षण प्रायः समान होते हैं :—सूक्ष्म-श्वसनिकाशोथ (Capillary bronchitis), श्वसनी-फुफ्फुसपाक (Broncho-pneumonia) तथा रोहिणी (Diphtheria)। इन तीनों रोगों में ज्वर सामान्य रहता है, खाँसी होती है, श्वास लेने में कष्ट होता है (Dyspnoea), श्यावता (Cyanosis) होती है तथा रोगी की अवस्था गम्भीर हो जाती है। जितनी सूक्ष्म श्वसनिकाओं (Bronchioles) में विकृति होती है उतनी ही अधिक श्यावता होती है तथा श्वसन की गति तीव्र होती है। कण्ठनलिका तथा श्वासनिकाओं का शोथ प्राथमिक (Primary) हो सकता है या अन्य रोगों में उपद्रवस्वरूप मिल सकता है जैसे :—कालज्वर (K. A.), आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), रोमान्तिका (Measles), श्लैष्मक ज्वर (Influenza), कुकुर खाँसी (W.C.), यक्ष्मा (T.B.) आदि रोगों में।

निदान :—निदान की दृष्टि से लक्षणों पर निर्भर करना पड़ता है। साधारण ज्वर, खाँसी, तीव्र श्वसन तथा नाड़ी की गति के अनुपात में परिवर्तन, आदि महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। दोनों फुफ्फुस पर शुष्क रव Rhonchi) मिलते हैं।

चिकित्सा :—(१) प्रतिषेध :—इन रोगों से बचने के लिये श्वसन-संस्थान के रोगों से बचने के भिन्न उपाय काम में लाने चाहिये। पेनिसिलीन (P.), स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) आदि यन्त्र (Aerosol) द्वारा श्वसन-सस्थान में प्रवेश कराना चाहिये।

(२) साधारण चिकित्सा :—रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। द्वि. प्र. दि. रोगी का शरीर गरम पानी से पोछना चाहिये। रोगी का पार्श्व बदलते रहना चाहिये जिससे विशेष कर वृद्ध रोगी में अधोसञ्चयी रक्ताधिक्य (Hypostatic congestion), शैय्याव्रण (Bedsore) आदि उपद्रव न हों। ज्वर की अवस्था में क्षुधा तथा पाचन शक्ति के अनुसार तरल **आहार** (पृ.४) देना चाहिये। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन रोगों में **विषमयता** (Toxaemia), **प्राणवायु** (O_2) की **कमी** तथा **जल की कमी** के कारण हृदयातिपात (Ht : failure) होता है। इसलिये रोगी को पर्याप्त मात्रा में जल देना चाहिये, आ. अ. प्राणवायु (O_2),

का प्रयोग करना चाहिये तथा जीवाणु की प्रकृति के अनुसार तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियाँ देना चाहिये।

(३) **विशिष्ट औषधियाँ** :—जीवाणु की प्रकृति के अनुसार विशिष्ट औषधियाँ प्रयोग करना चाहिये। **पेनिसिलीन** (P) का प्रायः प्रयोग किया जाता है। यंत्र द्वारा इस औषधि को श्वसन-मार्ग में छिड़क (Inhale) सकते हैं। प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr.P) ४ ल. अ. इ., ए. या द्वि. प्र. दि. पेशीमार्ग से दे सकते हैं। इस औषधि को अकेले या **स्ट्रेप्टोमायसीन** (Str) मा. ½–१ के साथ दे सकते हैं। **सल्फा** (S) औषधियाँ, औरियोमायसीन (Au), इलियोटायसीन (Itn) आदि का भी प्रयोग किया जाता है। सल्फाडियाजीन (S–diazine), सल्फाथियाजोल (S–thiazole) आदि आयु के अनुसार दे सकते हैं।

(४) **लक्षणों की चिकित्सा**:—इन रोगों में खाँसी (पृ.१६१), निद्रानाश (पृ. १६१), बेचैनी, श्यावता (Cyanosis पृ. २३१), प्रलाप (Delirium पृ. १४४), हृदयातिपात (Ht:failure पृ. २३३), आध्मान (Tympanites पृ.१६१), जलाल्पता (Dehydration पृ. २१६), फुफ्फुसशोफ (Oedema lungs पृ. १५६) आदि की चिकित्सा करनी पड़ती है। रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि पौष्टिक आहार तथा औषधियों द्वारा करना चाहिये। प्राणायाम, जीवतिक्ति 'ए' 'डी' (Vit : A,D), मछली के यकृत का तेल, लोहितातीत रश्मि (U.V–ray) आदि का प्रयोग करना चाहिये। छोटी छोटी श्वसनिकाओं में शोथ (Capillary bronchitis) रहने पर प्रारम्भ से ही प्राणवायु (O_2) तथा हृदय की उत्तेजक (Stimulants) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसमें हृदयातिपात (Ht : failure) की विशेष संभावना रहती है।

यक्ष्मा (Phthisis)

परिचय :—यक्ष्म दण्डाणु (T. B.) जन्य इस रोग में फुफ्फुस में स्थानिक चिन्ह मिलने के पूर्व ज्वर, खाँसी, क्षुधानाश, रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) आदि लक्षण मिलते हैं। कभी-कभी रोग की पर्याप्त वृद्धि हो जाने पर भी वक्ष की साधारण परीक्षा से रोग का निश्चित प्रमाण नहीं मिलता

इसलिये निदान तथा चिकित्सा की दृष्टि से रोग की प्रारम्भिक अवस्था में स्थानिक चिन्हों (Signs) की अपेक्षा इन व्यापक लक्षणों का अधिक महत्व है। स्त्रियों में प्रसव होने के पश्चात प्रायः इस रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं अथवा रोग का पुनरागमन (Relapse) होता है। इसलिये प्रसव होने के पश्चात यदि अकारण ज्वर प्रारम्भ हो तब इस रोग की सम्भावना ध्यान में रखना आवश्यक है। युवावस्था में स्त्रियों में मासिक धर्म प्रायः गर्भावस्था के कारण बन्द होता है परन्तु यदि गर्भावस्था की संभावना न हो तब यक्ष्मा की संभावना ध्यान मे रखना चाहिये। युवावस्था मे कास के साथ ष्टीवन (Expect:) होने पर रोगी की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। युवावस्था में सद्रव-फुफ्फुसावरण शोथ (Wet pleurisy) प्राय: यक्ष्मा के कारण होता है। रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) में रक्त की मात्रा यदि एक बार में एक चम्मच से अधिक हो तब रक्त की उत्पत्ति फुफ्फुस में ही समझना चाहिये और यदि हृदय की परीक्षा मे द्विपत्रक संकोच (Mitral steno-sis) का प्रमाण न मिले तब रक्तष्ठीवन का कारण यक्ष्मा ही समझना चाहिये। यक्ष्मा के रोगी के सम्पर्क मे आने का इतिहास अथवा परिवार में अन्य किसी व्यक्ति को यक्ष्मा होने का इतिहास विशेष महत्वपूर्ण है। बार बार प्रतिश्याय (Cold) होने का इतिहास, क्षुधानाश, श्वासमय लक्षणों की वृद्धि, साधारण ज्वर, रात्रि मे पसीना आना, भार में कमी, नाड़ी की गति तीव्र रहना, दौर्बल्य, वक्ष मे पीड़ा, दम फूलना आदि लक्षण रहने पर यक्ष्मा की संभावना रहती है। उपर्युक्त सब लक्षण प्राय: उष्णकटिबन्धज उपसि-प्रियता (Tropical eosinophilia) मे मिलते हैं और यह रोग आज-कल प्राय: मिलता है। इसके लिये रक्त-परीक्षा द्वारा श्वेत कणों (W.B.C.) की सख्या तथा उपसिप्रिय (Eo) के अनुपात का पता लगाना आवश्यक है। कभी कभी ये दोनो रोग एक साथ भी मिलते हैं।

यक्ष्मा के क्रियाशील (Active) रहते समय ज्वर का होना अनिवार्य है। ज्वर, भार में कमी, कास के साथ ष्ठीवन निकलना, रात्रि में पसीना आना, सापेक्ष गणन (D.C.) तथा सकल गणन (T. C.) मे लसकाया-णुओं (Lympho) की वृद्धि, तीव्रगामी नाडी, सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ (Wet peurisy), रक्तावसादन गति (E.S.R.) की वृद्धि आदि लक्षण रोग की क्रियाशीलता के प्रमाण हैं।

निदान की दृष्टि से रोगी की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। उसका ताप प्र. ४ घं. देखना चाहिये। रोगी का भार प्रति सप्ताह देखना चाहिये। वक्ष पर सामने की ओर तृतीय पर्शुका (Rib) के ऊपर तथा पृष्ठ की ओर तृतीय कशेरुक (Vertebra) के ऊपर स्थायीरूप से खाँसने के पश्चात स्थूल आर्द्र करकराहट (Coarse crepitations) मिलना विशेष महत्वपूर्ण है परन्तु उष्ण कटिबन्धज उषसिप्रियता (Tropical eosinophilia) में भी ये लक्षण मिलते है।

नैदानकीय परीक्षायें :-(१) रक्तपरीक्षा मे श्वेतकणो (W.B.C) के सकल (T. C.) तथा सापेक्ष (D. C.) गणन द्वारा लसकायाणुओं (Lympho) का पता लगाना चाहिये। इनकी तथा रक्तावसादनगति (E.S.R.) की यक्ष्मा मे वृद्धि होती है।

(२) **ष्ठीवन** (Sputum) परीक्षा :—इस परीक्षा द्वारा यक्ष्मदण्डाणु (T. B.) के लिये देखना चाहिये। यक्ष्मा का यह एक मात्र निश्चित प्रमाण है। इसके लिये ष्ठीवन की साधारण परीक्षा के अतिरिक्त संकेन्द्रिय विधि (Concentration method) द्वारा तथा सवर्ध (Culture) द्वारा भी देखना चाहिए। वणटमूष (Guineapig) मे ष्ठीवन का इन्जेक्शन लगाकर भी यक्ष्मा का पता लगाया जा सकता है।

(३) **क्ष-किरण** (X-ray) परीक्षा :—यक्ष्मा में इस परीक्षा का विशेष महत्व है। फुफ्फुस की प्रत्येक विकृति को तब तक यक्ष्मा जन्य ही समझना चाहिये जब तक यक्ष्मा के विरुद्ध पर्याप्त प्रमाण न मिले। यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि रोग की पर्याप्त वृद्धि हो जाने पर भी कभी कभी साधारण परीक्षा से रोग का निश्चित प्रमाण नही मिलता इसलिये क्ष-किरण परीक्षा अत्यावश्यक हो जाती है।

(४) **ट्यूबर्कुलीन कसौटी** (Tuberculin test):—इस परीक्षा के द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि बालकों मे यक्ष्मा का उपसर्ग है या नही। वयस्क मे यह परीक्षा महत्वहीन है।

यक्ष्मा का वर्गीकरण :—

(क) **प्रारम्भिक फौफ्फुसीय यक्ष्मा** (Primary pulmonary T.B.)। इसमें आयु के अनुसार निम्न उपद्रव होते हैं :—

(१) **बाल्यावस्था में :—**(च) मस्तिष्कावरणशोथ (Meningi-

tis) (छ) श्यामाकीय यक्ष्मा (Miliary T. B.) (२) युवावस्था में :—सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ (Wet pleurisy) ।

सूचना :—बाल्यावस्था में प्राथमिक विकृति के पश्चात लसग्रन्थियाँ (Hylar lymph glands) की वृद्धि होती है और ये वृद्धित ग्रन्थियाँ श्वसनिका (Bronchus) पर दबाव डालती हैं।

(ख) **द्वितीयक यक्ष्मा** :—(Secondary T. B.) :—(१) श्यामाकीय यक्ष्मा (Miliary T.B.) (२) तीव्र फुफ्फुसपाक (Acute pneumonia) (३) चिरकालीन फौफ्फुसीय यक्ष्मा (Chro: phthisis) ।

(ग) सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ (Wet pleurisy),

(घ) श्लेश्मकला का यक्ष्मा (T.B. of M.M.) :—इसके अंतरगत आन्त्र, स्वरयन्त्र (Larynx), स्वरतन्त्रिका (Vocal cord) आदि की विकृतियाँ आती हैं। ये विकृतियाँ प्रायः फुफ्फुस की विकृति में उपद्रवस्वरूप होती हैं। आन्त्र में विकृति रहने पर उदर मे प्राणवायु (O_2) प्रवेश की जाती है। इनसे विशिष्ट औषधियो का प्रभाव उत्तम होता है। स्वरयंत्र (Larynx) की विकृति मे मौन रहना चाहिये। कण्ठ मे पीड़ा के लिये औरथोफौर्म लगा सकते हैं।

(ङ) त्वचा, अस्थि, सधि (Jts), लसग्रंथि (Lymph glands) आदि का यक्ष्मा :—लसग्रंथि की विकृति मे यक्ष्मा की अन्य चिकित्सा के अतिरिक्त अल्ट्रावायलेट (U.V.) किरण लगाया जाता है। औषधियो से लाभ न होने पर शल्यकर्म (Op) करना चाहिये।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—यक्ष्म दण्डाणु (T.B.) चार प्रकार के होते हैं (१) मानवी समजाति (Human) (२) गव्य समजाति (Bovine) (३) पाक्षिक समजाति (Avian) तथा (४) मत्स्य समजाति (Piscian) । अंतिम दोनों प्रकार अत्यन्त विरल हैं। भारतवर्ष में दूध गरम करके पीने की प्रथा होने के कारण, गव्य समजाति (Bovine) प्रकार का उपसर्ग मनुष्य में प्रायः नहीं होता। साथ साथ इस देश के पशुओं मे यह रोग कम होता है। इसलिये इस देश मे यक्ष्मा का उपसर्ग तथा उसकी प्रत्येक विकृति प्रायः मानवी समजाति (Human type) के कारण होती है और रोग भी मनुष्य द्वारा ही फैलता है। अन्य देशों में जहाँ के पशुवर्ग मे

यह रोग प्रायः होता है तथा दूध गरम करके पीने की प्रथा प्रचलित नहीं है वहाँ फुफ्फुस मे विकृति प्रायः मानवी (Human) प्रकार से तथा त्वचा, लसग्रन्थि (Lymph glands), अस्थि, मस्तिष्कावरण (Meninges), मूत्र-प्रजनन संस्थान (Genito-urinry system) आदि की विकृति २५–५० प्र. श. तक गव्य (Bovine) प्रकार के यक्ष्म दण्डाणु के कारण होती है।

यह रोग प्रायः रोगी के खाँसते समय बिन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा होता है। खाँसते समय रोगी के मुख से जीवाणु तीन फिट तक सरलता से जा सकते है। मनुष्य के शरीर के बाहर निकलने के पश्चात् ये आसानी से नही मरते, इसलिये भोजन तथा सड़क पर की धूलिमिश्रित वायु से भी उपसर्ग हो सकता है। यदि मनुष्य की त्वचा पर व्रण (Ulcer) हो और वह व्रण इन औपसर्गिक पदार्थों के सम्पर्क में आये तब भी कदाचित उपसर्ग हो सकता है। अपरा (Placenta) द्वारा भी उपसर्ग होने की सम्भावना प्रतीत होता है। दुग्ध ६०° से. पर ½ घंटा, ८०° से. पर २० मिनट तथा १००° से.पर १०–१५ मिनट गरम करने से ये जीवाणु मर जाते है। सूर्यकिरण म ६ घटे मे तथा कार्बोलिक अम्ल (Carbolic acid) ५ प्र. श. के सम्पर्क मे २४ घटे मे इनकी मृत्यु होती है।

यह रोग कुलज (Hereditary) नही होता परन्तु बाल्यावस्था मे उपसर्ग होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है। रोग प्रत्येक आयु मे मिलता है। स्त्रियो मे गर्भाधान की आयु पर्यन्त (१५–३५ वर्ष) रोग की अधिक सम्भावना रहती है। देशवासियो के आर्थिक तथा शिक्षा के स्तर स इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनो समय भर पेट भोजन मिलने पर स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक बातें स्वय ही आ जाती है। पैसे के अभाव मे जनता के सामने पौष्टिक आहार के गुणों की गाथा, रोगी के सम्पर्क से सन्तान को अलग रखना, जल-वायु परिवर्तन करना, आमोद-प्रमोद के लिये समय निकालना, शुद्ध वायु मे अच्छे स्थान पर मकान बनवाना, परिवार के अनेक प्राणियों को एक साथ एक कमरे मे न सोना आदि सलाह निरर्थक प्रतीत होता है। युद्ध, रोमान्तिका (Measles), कुक्कुर खाँसी (W.C.), विषम ज्वर (M. F.) मधुमेह (Diabetes), अकुशकृमि (H.W.) आदि से जर्जर मनुष्य सरलता से इस रोग का शिकार बनता है। पत्थर काटना, कोयले की खान मे काम करना

आदि व्यवसाय, बालविवाह, अनेक बार गर्भाधान पर्दे की प्रथा आदि समाज की कुरीतियाँ, होटल आदि मे जूठे बर्तनों का प्रयोग तथा इधर-उधर थूकने से रोग के फैलने मे सहायता मिलती है। जीवाणु की भयकरता (Virulance), उसकी मात्रा, मनुष्य का स्वास्थ्य, अत्यधिक परिश्रम, यक्ष्मा के रोगी के सम्पर्क मे आने की सख्या तथा शरीर मे जीवाणु के प्रवेश करने के मार्ग पर भी रोग की उत्पत्ति निर्भर करती है।

श्वसन-सस्थान अथवा पचन-सस्थान से शरीर मे प्रवेश करने के पश्चात् यक्ष्म दण्डाणु (T. B.) लसवाहिनियो (Lymphatics) द्वारा रक्त मे प्रवेश कर शरीर के भिन्न भागो मे विकृति उत्पन्न करते हैं। फुफ्फुस मे विकृति उत्पन्न करने की इनकी विशेष प्रकृति होती है। रोगी की मृत्यु प्रायः शैशवावस्था अथवा युवावस्था मे अत्यधिक होती है। इस रोग के **रोक-थाम** के लिये निम्न कार्य करने पड़ते है :—

(१) **उपसर्ग की व्यापकता का ज्ञान** :—सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि किसी स्थान पर किन-किन लोगो मे विशेषकर किन बालकों मे यह रोग है। यह जानने के लिये यक्ष्म औषधालय (T.B. Dispensary) स्थापित करना पड़ता है। इस औषधालय से स्वास्थ्य निरीक्षको (Health visitors) को जिनमे स्त्रियो की सख्या अधिक होनी चाहिये, भिन्न भिन्न परिवारो मे जाकर रोगियो का पता लगाना चाहिये तथा परिवार वालो को रोग से बचने की विधियों से अवगत कराना चाहिये।

रोग की व्यापकता जानने के लिए **टुबरकुलीन कसौटी** की जाती है। टुबरकुलीन कसौटी (Tuberculin test) द्वारा विशेषकर बालकों मे इस रोग के उपसर्ग का तथा रोग के विरुद्ध रोगक्षमता (Immunity) का ज्ञान होता है। जिस मनुष्य के शरीर मे एक बार यक्ष्मा के जीवाणु प्रवेश कर जाते है उस मनुष्य के शरीर मे पुनः यक्ष्मा का उपसर्ग होने पर अथवा यक्ष्मा के विष का शरीर मे प्रवेश करने पर प्रतिक्रिया (Reaction) होती है। इसको **असहनशीलता** (Sensitivity) कहते। इसी सिद्धान्त पर मौन्टू (Mantoux) की टुबरकुलीन परीक्षा की जाती है। स्वस्थ बालक के अग्रबाहु पर अन्तस्त्वक मार्ग (I. D.) से अनेक स्थान पर टुबरकुलीन ०·०५–०·१ मि. ग्रा. प्रवेश की जाती है और कुछ समय पश्चात् देखा जाता है कि इंजेक्शन वाले स्थान पर लालिमा हुई है या नहीं। इंजेक्शन के चारो

ओर लाल हो जाने पर समझना चाहिये कि बालक को भूतकाल मे यक्ष्मा का उपसर्ग हो चुका है। इसको **अस्त्यात्मक** (+) परीक्षा कहते हैं। इन बालको मे बी. सी. जी. का टीका लगाने की आवश्यकता नहीं है। इंजेक्शन के चारो ओर लाली न रहने पर कसौटी **नास्त्यात्मक** (–) होती है। इन लोगों मे यक्ष्मा का उपसर्ग नहीं हुआ है इसलिये रोग-क्षमता (Immunity) उत्पन्न करने के लिये इनको बी. सी. जी. (B.C.G.) का टीका लगाया जाता है। बी. सी. जी. (Bacillus Calmette Guerin) मे यक्ष्मा के गव्य-सम जाति (Bovine) प्रकार के जीवित जीवाणु होते हैं। इन जीवाणुओं की रोग उत्पन्न करने की शक्ति समाप्त कर दी जाती है। यदि कोई मनुष्य यक्ष्मा के रोगी के सम्पर्क मे आया हो तब ६ सप्ताह पश्चात् उसकी टुबरकुलीन परीक्षा करनी चाहिये और परीक्षा नास्त्यात्मक (–) रहने पर उसे बी. सी. जी. का टीका देना चाहिये। रोग की व्यापकता जानने के लिए प्रत्येक मनुष्य के वक्ष की क्ष किरण (X-Ray) परीक्षा भी की जाती है।

(२) **रोगी की चिकित्सा का प्रबन्ध** :—रोगी का पता लगने पर स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियो को **सूचित** करना चाहिये। रोगी की चिकित्सा का प्रबन्ध रोगी के घर पर, यक्ष्मा-चिकित्सालय (T.B. hospital) अथवा आरोग्यभवन (Sanatorium) मे करना चाहिए। चिकित्सालय तथा आरोग्यभवन आदि स्थानो मे यथासम्भव रोग की प्रारम्भिक अवस्था के रोगियो की चिकित्सा करनी चाहिये। आरोग्यभवन मे रोगी चिकित्सा कराने के अतिरिक्त आशावादी बनता है और जीवन चर्या नियमित करने की विधि तथा रोग सम्बन्धि विषयों को सीखता है।

(३) **उपसर्ग को फैलने से रोकना** :—रोगी को अन्य लोगों से **पृथक** रखना चाहिये। रोगी के सम्पर्क से विशेष कर बालकों को पृथक रखना चाहिये। रोगी का थूक तथा उसके सम्पर्क मे आये रूमाल आदि जला देना चाहिये। रोगी की दाढ़ी मोछ आदि मुड़वा देना चाहिए, उसको खाँसते या छींकते समय मुख के सामने रूमाल रखना चाहिये। इधर उधर नहीं थूकना चाहिये। घूमने जाते समय किसी चौड़े मुख की शीशी मे ५–१० प्र. श. कार्बोलिक अम्ल (Carbolic acid) रखना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर इसी शीशी मे थूकना चाहिये। रोगी के रहने के कमरे की जमीन पर जल मे कार्बोलिक ५ प्र. श. मिला कर छिड़कने के पश्चात झाडू लगाना

चाहिये अन्यथा धूल उड़ने से जीवाणु वायु द्वारा फलते हैं। रोगियों की शैय्या के मध्य में ५ फिट का अन्तर होना चाहिये। रोग-ग्रसित माता को अपने शिशु को दूध नहीं पिलाना चाहिये।

(४) **रोगमुक्त व्यक्तियों की जीविका का प्रबन्ध** :—रोगनिवृत्त हुए लोगों को किसी स्थान पर रहकर जीविका उपार्जन करने की विधियाँ सीखने का प्रबन्ध होना चाहिये। इन स्थानों को **औद्योगिक उपनिवेश (Industrial settlements)** कहते हैं।

(५) **रोग सम्बन्धी तत्वों का प्रचार** :—रोग की भयंकरता तथा उसके फैलने की विधियों का नागरिकों को प्रचार द्वारा ज्ञान कराना चाहिये। उनको बतलाना चाहिये कि घर मे प्रवेश करते समय जूतों को बाहर उतारना चाहिये। नागरिको को विशेषकर बालकों को खुले वातावरण तथा हवादार घरों मे रहना चाहिये। सोने वाले कमरों की खिड़कियाँ खुली रहनी चाहिये। अनेक लोगों को एक कमरे मे नहीं रहना चाहिये। स्वास्थ्यवर्धक पौष्टिक आहार विशेषकर दूध का प्रयोग करना चाहिए।

(६) पशुओ द्वारा रोग फैलने से रोकने के लिए पशुओं पर भी ट्यूबरक्युलिन (Tuberculin) परीक्षा करनी चाहिए। जिन पशुओ मे परीक्षा अस्त्यात्मक (+) हो उनको नष्ट कर देना चाहिये।

(ख) **चिकित्सा का सिद्धान्त** :—यक्ष्मा की चिकित्सा विशिष्ट औषधियों द्वारा, शल्यकर्म (Op) द्वारा तथा साधारण विधियों द्वारा की जाती है। तीनो प्रकार की विधियों का यक्ष्मा की चिकित्सा मे महत्वपूर्ण स्थान है। इन भिन्न भिन्न विधियो का सम्मिलित प्रयोग रोगी की अवस्था तथा चिकित्सक के कौशल पर निर्भर करता है और इसी पर चिकित्सा का परिणाम भी।

(ग) विशिष्ट चिकित्सा:—(१) **स्ट्रेप्टोमाइसीन** (Dihydro-streptomycin) :—एक ग्राम औषधि को ५ सी० सी० प. ज. मे घोल कर पेशीमार्ग (I. M.) से ½ ग्रा. प्रति बारह घण्टे पर इन्जेक्शन लगाना चाहिये। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि १ से ३ मास है। यक्ष्मा की यह विशिष्ट औषधि है परन्तु यक्ष्मा के प्रत्येक प्रकार तथा अवस्था में इससे आशाप्रद लाभ नही होता। रोग की तीव्र अवस्था मे यह विशेष लाभप्रद है। केवल इसी औषधि के प्रयोग करने से कुछ समय पश्चात, जीवाणुओ पर यह औषधि

प्रभावहीन हो जाती है। इस औषधि के साथ साथ पी. ए. एस (P.A.S.) प्रयोग करने से स्ट्रेप्टोमाइसीन के प्रभावहीन होने का भय नही रहता। लेखक के अनुभव मे स्ट्रेप्टोमाइसीन के साथ केवल पी. ए. एस. की अपेक्षा पी. ए. एस के साथ आइसोनिकोटिनिक एसिड (Isonicotinic acid, Isopas) के प्रयोग का परिणाम अधिक स्थायी होता है। केवल स्ट्रेप्टोमाइसीन प्रयोग करने का प्रभाव अस्थायी होता है और चिकित्सा बन्द करने पर रोग के पुनरागमन की सम्भावना रहती है। रोग की निम्न अवस्थाओं मे स्ट्रेप्टोमाइसीन विशेष लाभदायक है :—रोग की **तीव्र अवस्था** जैसे, तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा (Acute miliary T.B.), यक्ष्माजन्य श्वसनी-फुफ्फुसपाक (T. B. Broncho-pneumonia) तथा रोग की वर्धनशील अवस्था। स्वरयन्त्र (Larynx), कण्ठनलिका (Trachea), मस्तिष्कावरण (Meninges), ग्रसनिका (Pharynx) आदि स्थानों मे यक्ष्मा होने पर भी इस औषधि से लाभ होता है। रोग की चिरकालीन अवस्था मे निर्यासशील (Exudative) प्रकार मे लाभ होना सम्भव है। इसके साथ-साथ विश्राम, पौष्टिक भोजन, बलवर्धक औषधि तथा शल्यकर्म (Op.) आदि प्रमाणिक विधियों का परित्याग नहीं करना चाहिए। चिरकालीन अवस्था में यदि इन प्रमाणिक विधियो से लाभ होता प्रतीत न हो तब स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग कर सकते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से इन प्रमाणिक विधियों का यक्ष्मा की चिकित्सा मे विशेष महत्व है और इनको प्राथमिकता देनी चाहिए। इन विधियों से यदि रोगी को लाभ हो रहा हो, तब प्रायः स्ट्रेप्टोमाइसीन की आवश्यकता नही पड़ती। फुफ्फुस की विकृति मे तान्तविक धातु (Fibrous tissue) की प्रधानता रहने पर जैसे, चिरकालीन तान्तविक या तन्तुकिलाटीय (Fibroid, fibro-caseous) प्रकार मे इस औषधि से लाभ नहीं होता। फुफ्फुस के विवर (Cavity) की चिकित्सा मे भी केवल इस औषधि पर ही निर्भर नही किया जा सकता। स्ट्रेप्टोमाइसीन के दोनों लवण (Str: hyd, sulph) का एक साथ (Dihydro-str:) प्रयोग करने से विषाक्तता के लक्षण, जैसे चक्कर आना, कम सुनाई देना आदि की कम सम्भावना रहती है। इस औषधि को पेशीमार्ग के अतिरिक्त रोग की स्थानिक चिकित्सा मे भी प्रयोग किया जाता है जैसे, श्वसन-संस्थान के ऊर्ध्व भाग (Larynx, trachea, bronchi) की विकृतियों मे। इसके लिए

ग्रा. १ को २० सी. सी. समबल लवणघोल (N.Saline) में घोल कर डिविल्विस के यन्त्र (Devilbis spray) द्वारा १–२ सी. सी. औषधि प्रति २–३ घंटे पर मुख मे छिड़क सकते हैं। इस औषधि के चिकित्साक्रम में पर्याप्त मतभेद है। लेखक की राय मे प्रायः प्रारम्भ मे आइसोनिकोटिनिक एसिड के साथ पी. ए. एस. (Iso-pas) की गो. ३ चा. प्र. दि. देना चाहिए। इन औषधियो के कम से कम दो सप्ताह प्रयोग करने पर यदि लाभ होना प्रतीत न हो तब इन औषधियो के साथ-साथ स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग करना चाहिए। एक बार स्टेप्टोमाइसीन प्रारम्भ करने पर निरन्तर प्र.दि. १–३ मास तक प्रयोग करना चाहिए। प्रथम दो सप्ताह द्वि. प्र. दि. इंजेक्शन लगाना चाहिए तत्पश्चात् चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त ए. प्र. दि. प्रयोग करना चाहिए। यह औषधि ½–१ ग्रा. प्र. दि. अथवा प्रति तीसरे दिन भी दी जाती है।

(२) पी. ए. एस. (Para-amino salicylic-acid, PAS) :— यह औषधि यक्ष्म दण्डाणु (T. B.) को कार्यहीन (Bacteriostatic) करती है तथा ज्वर कम करती है। यह औषधि आन्त्र से सरलता से प्रचूषित होती है। इसका सोडियम के साथ बना लवण (Na:pas) प्रयोग करने से वमन, पतलेदस्त आदि पचन-संस्थान जन्य लक्षण कम होते हैं। इस औषधि को स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) देने के पूर्व प्रयोग करना चाहिये। इसको स्ट्रेप्टोमाइसीन के साथ प्रयोग करने से जीवाणु पर स्ट्रेप्टोकाइसीन के प्रभाव की वृद्धि होती है। स्ट्रेप्टोमाइसीन प्रभावहीन हो जाने पर भी इसका प्रयोग किया जाता है। कभी कभी ऐसे यक्ष्म दण्डाणु (T.B.) का उपसर्ग मिलता है जिनमें पी. ए. एस का प्रभाव उत्तम नही होता। इस अवस्था में स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग करना चाहिये। यह अवस्था विरल है। चिरकालीन तंतुकिलाटीय (Chro: fibro-caseous) प्रकार के यक्ष्मा मे पी. ए. एस का विशेष महत्व है। इसके मुख द्वारा प्रयोग करने के ½–१ घंटे के अन्दर रक्तमे औषधि की मात्रा अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और चार घंटे मे रक्त मे यह अत्यल्प मात्रा मे रह जाती है, इसलिये यह औषधि प्रायः मुख द्वारा प्र. ४–६ घं. पर दी जाती है। विशेष परिस्थिति मे इसको सिरामार्ग (I.V.) से अथवा कटिवेध (L. P.) द्वारा भी प्रयोग कर सकते हैं। इसकी **विषाक्तता** के कारण मिचली, वमन, पतलेदस्त, त्वचा पर विस्फोट (Rash), मूत्र से रक्तस्राव (Hematuria) आदि लक्षण होते हैं।

कभी कभी इस औषधि के कारण ज्वर भी हो सकता है। वृक्क मे इस औषधि के स्फटिक (Crystals) संचय होने के कारण मूत्र का निर्माण स्थगित हो जा सकता है। रक्त मे पूर्वघनास्रि (Prothrombin) की कमी हो सकता है। इस औषधि को आइसोनिकोटिनिक एसिड के साथ (Iso-pas) प्रयोग करने से औषधि की अल्प मात्रा से भी लाभ होता है।

मात्रा :—मुख द्वारा यह औषधि ग्रा. २–३ चा. प्र. दि. कर १–४ मास पर्यन्त देना चाहिये। इसकी प्रत्येक गोली प्रायः ½ ग्रा. की होती है। इस औषधि का २·८ प्र. श. घोल विशेष परिस्थिति मे अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते हैं। सिरामार्ग (I.V.) से प्रयोग करने के लिये १–१० प्र. श. घोल मे २५ ग्रा. औषधि प्र. दि. ४०–६० बूंद प्र. मि. की गति से दे सकते हैं। कटिवेध (L. P.) द्वारा यह औषधि ग्रा. १२–१५ प्र. दि. प्रयोग कर सकते हैं।

(३) **आइसो निकोटिनिक एसिड हाइड्राजाइड** (Iso nicotinc acid hydrazide) :—यह औषधि मुख द्वारा विशेषकर श्यामाकीय यक्ष्मा (Miliary T.B.) तथा मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) में मि. ग्रा. १५०–२०० प्र.दि. दी जाती है। इसका यक्ष्मा पर अस्थायी परन्तु उत्तम प्रभाव है। औषधि १–४ मास पर्यन्त प्रयोग करना चाहिये। १४० पौ. वाले मनुष्य को २२५ मि. ग्रा. तक प्र. दि. देने से विषमयता नही होती। इसका पी. ए. एस के साथ एक योग आइसोपैस (Iso-pas) मिलता है। इसकी गो. ४ त्रि. या चा. प्र. दि दे सकते हैं।

(४) **टीबीयोन** (Tibione, thio-semi-carbazone) :— इस औषधि का यक्ष्मा पर प्रभाव साधारण है। औषधि विषाक्त होने के कारण इसकी मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिए। इसकी **विषाक्तता** के कारण शिर मे पीडा, थकावट, मिचली, वमन, क्षुधानाश, यकृतशोथ (Hepatitis), नेत्रकलाशोथ (Conj:), त्वचा पर विस्फोट (Rash), श्वेतकणों (W.B.C.) की सख्या मे कमी तथा मस्तिष्कावरणशोफ (Cerebral-oedema) आदि लक्षण हो सकते हैं। **मात्रा**—:—यह औषधि मुख से मि. ग्रा. ६ से ५० तक चा. प्र. दि. दे सकते हैं।

(५) **सल्फोन** (Sulphone, promin, promizole) :— इस वर्ग की औषधियाँ विषाक्त हैं तथा यक्ष्मा पर इनका विशेष अच्छा प्रभाव

भी नहीं है, इसलिये आजकल इनका प्रायः प्रयोग नहीं किया जाता। इनकी **विषाक्तता** के कारण बेचैनी, सिर में पीड़ा, रक्ताल्पता (Anaemia), श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या में कमी, श्यावता (Cyanosis) आदि लक्षण हो सकते हैं। त्वचा में यक्ष्मा के कारण विकृति होने पर इनकी तथा स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) की मलहम प्रयोग कर सकते हैं। मुख द्वारा इनको ग्रे. ३–८ त्रि. प्र. दि दे सकते हैं।

(६) **स्वर्ण के योग** :—इसका प्रयोग विशेष परिस्थिति में आरोग्य-भवन (Sanatorium) में किया जाता है। इसके निम्न योग हैं:—

(अ) **सैनोक्राइसिन** (Sanocrysin) :—यह औषधि स्वर्ण का एक योग है। इसकी प्रतिमात्रा को १० सी. सी. प. ज. में घोलकर सिरामार्ग (I. V.) से प्रति सातवें दिन इंजेक्शन देना चाहिये। इसकी मात्रा अत्यन्त शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि में प्रायः ३ ग्राम की आवश्यकता पड़ती है। सर्व-प्रथम ०·०१ ग्राम का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् ०·०२५ ग्रा., ०·०५ ग्रा., ०·१ ग्रा. और अंत में ०·२५ ग्रा. की मात्रा प्रयोग की जाती है। इसके प्रयग में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

(आ) **मायोक्राइसीन** (Myocrysin) का तेल में घुलनशील योग पेशीमार्ग (I. M.) से प्रथम ग्रा. ०·०१ तत्पश्चात् ०·०२, ०·०५ तथा ०·१ ए. प्र. स. कर १२ बार प्रयोग किया जाता है।

(इ) **सोलगेनोल बी** (Solganol 'B' Sch) का तैल में योग पेशीमार्ग (I. M) से मि. ग्रा. १–१०० द्वि. प्र. स. प्रयोग कर सकते हैं।

(ई) **सोलगेनोल** (Solganol) जल में घुलशील है, इसको सिरा-मार्ग (I. V.) से मि. ग्रा. ०·००५–०·५ द्वि. प्र. स. देना चाहिये।

यक्ष्म दण्डाणु (T.B.) पर स्वर्ण का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है। ये औषधियाँ रोगक्षमता (Immunity) तथा तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) की वृद्धि करती हैं। अन्य औषधियों से लाभ न होने पर तथा थूक से यक्ष्म दण्डाणु (T.B.) लुप्त न होने पर स्वर्ण के योग प्रयोग किये जाते हैं। रोग का बार बार पुनरावर्तन होने पर तथा किसी कारण से कृत्रिम वातोरस (A. P.) करना यदि सम्भव न हो तथा अन्य चिकित्सा से लाभ होता प्रतीत न हो तब सुवर्ण का प्रयोग कर सकते हैं। प्रारम्भ में इस औषधि को द्वि. प्र. स. देना चाहिये। तत्पश्चात् ए. प्र. स. देना पर्याप्त है। इसकी चिकित्सा की अवधि पर्यन्त त्वचा

को लोहितातीत (U. V.) किरण तथा सूर्य की किरणों से बचाना चाहिये अन्यथा त्वचा पर काले धब्बे तथा विस्फोट (Rash) होने की संभावना रहती है। वृक्क में भी विकृति होने की संभावना रहती है इसलिये बराबर मूत्र-परीक्षा करनी चाहिये।

इसकी **विषाक्तता** के कारण त्वचा पर विस्फोट (Rash), लसग्रन्थियों (Lymph glands) की वृद्धि, शिर में पीड़ा, सन्धियों में पीड़ा, ज्वर, मुख में धातु के समान (Metallic) स्वाद, वमन, पतले दस्त, मूत्र में शुक्लि (Alb), मुख में व्रण, मस्तिष्कावरण का प्रक्षोभ (Meningism) आदि लक्षण होते हैं। इस औषधि के प्रयोग की अवधि पर्यन्त तथा विषाक्तता के लक्षण होने पर जीवतिक्ति 'सी' (Vit C.) तथा कैलसियम (Cal) के योग (यो. ५७) त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। विषाक्तता के लक्षण होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। यकृत सत्व (Liver ext :) २ सं. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से तथा कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate) १० प्र. श. १० सी. सी. और जीवतिक्ति सी (Vit C.) ५०० मि. ग्रा. सिरामार्ग (I. V.) से देने से लाभ होता है। विस्फोट अपपर्णनशील (Exfoliative) होता है। इसके लिये १ बाल्टी गरम जल में सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) च. ४ मिला कर रोगी को नहलाना चाहिए तथा कैलामीन का चूर्ण (यो. ७३) या मलहम (यो.७६) लगाना चाहिए।

(७) **अन्य विशिष्ट औषधियाँ :– टेरामायसीन** (Tn) मि. ग्रा. ५०० चा. प्र. दि. अकेले या पी. ए. एस (P.A.S.) या स्ट्रेप्टोमायसीन (Str :) के साथ दे सकते हैं। यह औषधि प्रभावशाली प्रतीत होती है। **वायोमाइसीन** (Viomycin) विषाक्त है।

(घ) **साधारण चिकित्सा** :—यक्ष्मा की चिकित्सा में रोगी का सहयोग आवश्यक है। विशिष्ट औषधियों के साथ-साथ जीवनचर्या को नियमित बनाना चाहिए। साधारणतः रोगनिवृत्त होने में ६ मास लगता है। इस अवधि में नियमित जीवन व्यतीत करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात् भी रोगी को नियमित रूप से रहना चाहिए और रोग के पुनरागमन के लक्षण प्रतीत होने पर पुनः रोगी को तत्काल शैय्या पर विश्राम करना चाहिए। रोगी को रोग के पुनरागमन के कारणों तथा रोग के सक्रिय (Active) होने के लक्षणों का

ज्ञान होना चाहिए क्योंकि जीवनपर्यन्त रोगी को सावधान रहना पड़ता है। रोग की वृद्धि हो जाने पर घर पर ही चिकित्सा करनी चाहिए। चिकित्सालयों में प्रारम्भिक अवस्था के रोगियों को ही भेजना चाहिए। आर्थिक कारणों से भी रोगी की घर पर ही चिकित्सा करनी पड़ती है। प्रारम्भिक अवस्था में रोगनिवृत्त होने की अधिक सम्भावना रहती है। **आरोग्यभवन** (Sanatorium) में चिकित्सा करने से रोगी अन्य लोगों से पृथक रहता है इसलिए रोग के फैलने की सम्भावना नहीं रहती। प्रत्येक रोगी के चिकित्सालय में रहने का एक ही ध्येय होता है वह है रोगनिवृत्त होना इसलिए यक्ष्मा से पीड़ित अन्य रोगियों के साथ रहने से रोगी आशावादी होता है तथा उसको शारीरिक और मानसिक विश्राम मिलता है। रोगी की चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा होती है और शल्य चिकित्सा (Op) की भी सुविधा रहती है। स्वास्थ्यकर जलवायु के अतिरिक्त विश्राम, परिश्रम आदि पर नियन्त्रण रखा जा सकता है तथा रोगी इन विषयों को स्वयं भी सीखता है तथा स्वस्थ होने के पश्चात् इससे लाभ उठा सकता है। ये चिकित्सालय किसी भी स्वच्छ तथा खुले स्थान में शहर से थोड़ी दूर पर बन सकते हैं। इनको पर्वत पर बनाना आवश्यक नहीं है। पर्वत पर चिकित्सा की सुविधा रहने पर रोगी को वहाँ भेज सकते हैं परन्तु ज्वर की अवस्था में रोगी को भेजते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है। पर्वत पर रोगी की अवस्था में शीघ्रता से सुधार होता है परन्तु दमा (Asthma), चिरकालीन श्वसनीशोथ (Chro : bronchitis), वृक्क तथा आन्त्र में विकृति रहने पर, रोगी को पर्वत पर नहीं भेजना चाहिये। इन रोगियों को समुद्रतट पर विशेष लाभ होता है। रक्त-ष्ठीवन (Haemoptysis) होने के दो सप्ताह के अन्दर रोगी को यात्रा नहीं करनी चाहिये। सन्धि (Jt), अस्थि (Bone) तथा लसग्रन्थियों (Lymph glands) में विकृति रहने पर रोगी को **समुद्र** तट पर लाभ होता है। स्वच्छ वायु में रहने से क्षुधा की वृद्धि होती है, खाँसी में कमी होती है, श्वास लेने में कम कष्ट होता है परन्तु रोगी को शीत नहीं लगनी चाहिए।

भोजन :—पौष्टिक आहार द्वारा रोगी का भार प्राकृत से अधिक रखने का प्रयत्न करना चाहिए। दुग्ध, मक्खन आदि का विशेष महत्व है। भोजन में प्रोटीन (Ptn) ८०-९० ग्रा.प्र.दि., वसा (Fat) ग्रा. १६०-१८० प्र.दि. तथा कार्बोज (Cho) ग्रा. २४०-२७० प्र. दि. होना चाहिए। दूध, अण्डा,

फल तथा मक्खन के अतिरिक्त मांसाहारी रोगी को मांस, मछली आदि रोगी की क्षुधा तथा आंत्र की अवस्था के अनुकूल देना चाहिए। भोजन नियमित समय पर प्र. दि. ४-५ बार होना चाहिए। रात्रि में सूर्यास्त के थोड़े समय पश्चात् ही भोजन कर लेना अच्छा है। अधिक रात्रि मे भोजन करने से निद्रा आने में कष्ट होता है तथा खाँसी की वृद्धि होती है। भोजन क्षुधावर्धक, सुस्वादु तथा सरलता से पचनेवाला होना चाहिए। जीवतिक्तियो मे ए. डी. तथा सी. (Vit: A.D.C.) का विशेष महत्व है। जीवतिक्ति ए. डी. के लिए मछली के यकृत का तेल (Cod or sharkliver oil) च. १-२ दूध में देना चाहिए। ये औषधियाँ प्रायः दुर्गन्धित होती हैं इसलिए इनके स्थान पर केपलर का माल्ट (Kepler malt ext:), फेरेडौल (Ferradol P.D.), औस्टियोमाल्ट (Osteomalt) आदि च. १-२ भो. प. दे सकते हैं। हेलिबुट का तैल (Halibut oil) या वाइमीन (Wimin J.W.) आदि कै. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. दे सकते हैं। जीवतिक्ति सी. (Vit: C.) मि. ग्रा. १०० की १ गोली द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। इसके प्रयोग से रक्तस्राव की सम्भावना नहीं रहती तथा विकृति के स्वस्थ होने में सहायता मिलती है। ज्वर के कारण रोगी के भोजन में कमी नहीं करना चाहिये। दुग्ध के कारण पतले दस्त होने पर दही, मट्ठा, एलिडौन (Eledon) आदि का प्रयोग कर सकते हैं। दुग्ध को भोजन के साथ न देकर अकेले ही देने से पचने मे सुविधा होती है। दूध के साथ बार्ली, साबुदाना, मखाना, चावल आदि की खीर अथवा अण्डे के साथ पुडिंग (Pudding) बना कर दे सकते हैं। क्षुधा बढाने के लिए टि. नक्सवौमिका (यो. ४२) भोजन के पूर्व दे सकते हैं। धूम्रपान वर्जित है। यक्ष्मा के साथ विषम ज्वर (M. F.), अंकुशकृमि (H.W.) आदि रोग रहनेपर इनकी भी चिकित्सा करना चाहिए अन्यथा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि नहीं होती और रोग निवृत्त होने मे विलम्ब होता है।

विश्राम :—रोग के सक्रिय (Active) रहने के समय शैय्या पर विश्राम करना आवश्यक है। ज्वर तथा नाड़ी की गति का तीव्र रहना रोग की सक्रियता के महत्वपूर्ण प्रमाण हैं। ये दोनों लक्षण प्राकृत होने पर परिश्रम की शनैः शनैः वृद्धि कर सकते हैं। परिश्रम के कारण यदि रोगी को पुनः ज्वर प्रारम्भ हो अथवा नाडी तीव्रगामी हो जाय तब रोगी को पुनः विश्राम करना चाहिए।

(ङ) अन्य औषधियाँ (१) कैलसियम के योग:—प्राचीनकाल से यक्ष्मा की चिकित्सा में कैलसियम (Cal) का प्रयोग होता आया है। कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal: Gluconate) १० प्र. श. ५–१० सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से अथवा जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C,redoxon) ५०० मि ग्रा. के साथ सिरामार्ग से द्वि. या त्रि.प्र.स. दिया जाता है। स्त्रियों तथा बच्चों में कोलोकैलसियम, जीवतिक्ति 'डी' के साथ (Colo: calcium vit:D., Calci-ostelin) १–२ सी. सी. पेशीमार्ग से द्वि. या त्रि. प्र. स. अधिक सुविधाजनक है। कैलसियम पैराथायरौयेड के साथ (Cal: para-thyroid P. D.) अथवा केवल कैलसियम ग्लूकोनेट (Osteo calcium, Calcinol) मुख द्वारा १ गो. त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। कैलसियम तथा जीवतिक्ति 'सी' की रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) में विशेष आवश्यकता पड़ती है।

(२) **ट्यूबरक्यूलीन** (Tuberculin) :—आधुनिक काल में चिकित्सा की दृष्टि से प्रायः इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। बी. सी जी. (B.C.G.) का इंजेक्शन देने के पूर्व ट्यूबरक्यूलीन परीक्षा (Tuberculin-test) करने के लिए इस औषधि की आवश्यकता पड़ती है। इसके दो योग मिलते हैं। (क) **बेसिलरी इमलशन** (Bacillary emulsion, B. E.) चिकित्सा के लिए प्रयोग की जाती है। इसमें जीवाणु का अन्तर्विष (Endo-toxin) रहता है। (ख) **जीर्ण ट्युबर्कुलीन** (Old tuberculin) द्वारा ट्यूबरक्यूलीन कसौटी की जाती है। इसमें जीवाणु का बहिर्विष (Exo-toxin) रहता है। दोनों ही क्रियाओं में औषधि की **प्रथम मात्रा** ०·००००१ सी. सी. है। चिकित्सा के लिए औषधि अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से प्रयोग की जाती है। चिकित्सा के समय इस मात्रा को शनैःशनैः बढ़ा कर ०·०००१ सी.सी. तक करना चाहिए। यक्ष्मा द्वारा व्यापक विकृति के कारण विषमयता रहने पर इसका प्रयोग वर्जित है। मूत्र-प्रजनन संस्थान के यक्ष्मा में तथा स्थानिक विकृति (Local) में कभी कभी इसका प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग के कारण गम्भीर प्रतिक्रिया (Reaction) नहीं होने देना चाहिए। औषधि की मात्रा उतनी ही होनी चाहिए जिससे अत्यन्त साधारण प्रतिक्रिया हो। रोगी को लाभ होने के लिए साधारण प्रतिक्रिया का होना आवश्यक है। ४–६ मास चिकित्सा करने के पश्चात् तीन

मास औषधि बन्द कर देना चाहिए। भविष्य मे चिकित्साक्रम की अवधि सर्वदा पहले से कम होनी चाहिए। इस औषधि के प्रयोग से रोगी मे रोगक्षमता (Immunity) की उत्पत्ति मे कोई सहायता नहीं मिलती। इससे केवल रोगी के शरीर में उपसर्ग के कारण जो यक्ष्मा दण्डाणु (T.B.) के प्रति असहनशीलता (Sensitiveness) रहती है उसको यह औषधि नष्ट करती है। रोग की तीव्र अवस्था मे जैसे, तीव्र श्यामाकीय यक्ष्मा (Acute miliary T. B.), मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) आदि मे, नाड़ी की गति तीव्र रहने पर तथा अत्यन्त दुर्बल रोगी में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। अपस्मार (Epilepsy), वृक्कशोथ (Nephritis) आदि भी रहने पर इसका प्रयोग वर्जित है। जिस परिवार में यक्ष्मा हो चुका हो उस परिवार मे यदि किसी मनुष्य मे रोग की शंका हो तब इस औषधि के प्रयोग से उस मनुष्य मे यक्ष्मा के विष को सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है। रोग-मुक्त हो जाने पर इस औषधि के प्रयोग से रोग की चिरकालीन अवस्था स्थापित होने की सम्भावना अल्प रहती है।

(च) लक्षणों की चिकित्सा :—(१) खाँसी (पृ. १६१) तथा रक्तष्ठीवन (पृ. १८७) की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये।

(२) रात्रि-स्वेद (Night sweats) :—यह लक्षण प्रायः द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग के कारण होता है। रोगी को अधिक वस्त्र नही पहनाना चाहिये। निद्रा के पूर्व रोगी का शरीर फिटकरी के घोल (यो. ८७) से पोंछ कर कैलामिन (यो. ७३) का चूर्ण लगाना चाहिये। सोने के पूर्व टि. बेलाडोना (Tr. belladonna) मि. ८ मुख से या एट्रोपीन सल्फ (Atropine sulph) ग्रे. १/१०० मुख अथवा अधस्त्वक (S.C.) मार्ग दे सकते हैं। रोगी को खुली हवा में सोना चाहिये।

(३) पीड़ा :—फुफ्फुस पर पीड़ा फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy) के कारण होती है। इसकी उपयुक्त चिकित्सा (पृ.२३०) करनी चाहिये।

(४) अन्य लक्षण :—निद्रा न आने पर निद्रानाश का कारण पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा कारण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। निद्रा के पूर्व रोगी को हौरलिक्स (Horlicks), ओवलटीन (Ovaltine) आदि देना चाहिये। फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १/२–१ निद्रा के पूर्व आ. अ. दे सकते हैं। **पतले दस्त** आने पर दूध बन्द कर अहिफेन के

योग जैसे पल्व इपीकाक को (Pulv : ipecac Co) ग्रे. ५ अथवा टि. अहिफेन (Tr : opii) मि. १० त्रि.प्र.दि. दे सकते हैं। सल्फागोनिडीन तथा विस्मथ का योग (यो. ३०) त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। **वमन** के लिये क्लोरेटोन (Chloretone) ग्रे. १ तथा सोडी बाइकार्ब ग्रे. ५ प्र. १/२ घं. (पृ. ५०) कर ८ बार दे सकते हैं। वमन के कारण की चिकित्सा करें। **रक्ताल्पता** की लोह (Fe) तथा यकृत सत्व द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। **श्वासकृच्छ्र** (Dyspnoea) के लिये रोगी को खुले स्थान पर रखना चाहिये। आ. अ. प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करें। **हृत्पेशी** (Myocardium) **की दुर्बलता** के कारण श्वासकृच्छ्र होने पर कोरामीन (Co) आदि हृदय की उत्तेजक ओषधियाँ दे।

(**छ**) **शल्य चिकित्सा** :—यक्ष्मा की शल्य चिकित्सा में विकृत फुफ्फुस का निपात (Collapse) कराया जाता है अथवा विकृत फुफ्फुस या उसके विकृत खण्ड को शल्यकर्म (Op.) द्वारा शरीर से पृथक कर दिया जाता है। रोगी को विश्राम तथा विशिष्ट ओषधियों से यदि लाभ न हो या फुफ्फुस में विवर (Cavity) हो तब शल्य चिकित्सा (Surgery) करनी चाहिये। इसकी निम्न विधियाँ हैं :—

(क) **फुफ्फुस का निपात** (Collapse) करने की विधियाँ :—
(१) **कृत्रिम वातोरस** (A.P. पृ. ३१) (२) **वातपर्युदर** (Pneumo-peritoneum पृ. १०) (३) **पर्शुकाच्छेदन** (Thoracoplasty) पृ. ११)

(४) **विकृत पार्श्व की महाप्राचीरा वातनाड़ी** (Phrenic) **को दबाना, काटना अथवा खींच कर बाहर निकाल देना** (Evulsion) :—इस क्रिया (पृ. १२) से महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के विकृत पार्श्व के भाग का अङ्गघात (Paralysis) हो जाता है और वह ऊपर की ओर उठ जाता है। इस प्रकार विकृत फुफ्फुस के आधार (Base) का निपात हो जाता है। **यह क्रिया आजकल प्रायः नहीं की जाती।** महाप्राचीरा वातनाड़ी को खींच कर निकाल देने से महाप्राचीरा पेशी के एक भाग का स्थायी अङ्गघात हो जाता है परन्तु वातनाड़ी को केवल दबाने से प्रायः ५–७ मास में वातनाड़ी पुनः स्वस्थ हो जाती है और महाप्राचीरा पेशी का अङ्गघात ठीक हो जाता है।

(५) **फुफ्फुस वन्धोत्पाटन** (Pneumolysis) :—इस क्रिया में फुफ्फुस की विकृति के सामने के भाग में वक्षप्राचीर (Chest wall) तथा प्राचीरीय फुफ्फुसावरण (Parietal pleura) के मध्य में मोम (Wax) भर दी जाती है।

(६) **तैलोरस** (Oleo-thorax) :—इस क्रिया में फुफ्फुसावरण (Pleura) के दोनों स्तरों के मध्य में पैरेफीन (Paraffin) भरी जाती है। पैरेफीन के साथ गोमेनोल (Gomenol) ४ प्र. श. तथा युकिलिप्टस (Eucalyptus) का तेल २ प्र. श. रहता है। १० सी. सी. औषधि प्रवेश करने पर यदि रोगी को कष्ट न हो तब औषधि की पूर्ण मात्रा ४०० सी. सी. तक प्रवेश कर सकते हैं। यह क्रिया प्रायः उन रोगियों में की जाती है जो बार-बार कृत्रिम वातोरस (A. P.) नहीं करा सकते। यक्ष्मा-जन्य पूयोरस (Empyema) में अथवा कृत्रिम वातोरस (A. P.) के कारण बार-बार सद्रव-फुफ्फुसावरण शोथ (Wet pleurisy) होने पर भी यह क्रिया की जाती है।

(ख) **विकृति को शरीर से पृथक करना** :—कभी-कभी विकृत फुफ्फुस अथवा उसके विकृत खण्ड को फुफ्फुसोच्छेदन (Pneumonectomy, lobectomy,) या फुफ्फुसपाटन (Lung resection) आदि शल्यकर्म (Op.) द्वारा शरीर से पृथक किया जाता है।

(ग) **शल्यकर्म की अन्य विधियाँ** :—(१) **विवर** (Cavity) में रबर की नलिका प्रवेश कर स्राव निकाल देने से विवर का आकार छोटा हो जाता है। इसको मोन्डाली की विधि (Mondal's drainage) कहते हैं।

(२) **सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ** (Wet pleurisy) में आशयिक फुफ्फुसावरण (Visceral pleura) पर से तान्त्विक धातु (Fibrous tissue) को पृथक कर देने से जब यह उपद्रव ठीक हो जाता है तब फुफ्फुस का पुनः विस्फार (Expand) होने में सहायता मिलती है।

राजयक्ष्मा की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

सर्वप्रथम दोष बलानुसार कुछ संशोधन कराना श्रेयस्कर है पर अधिक मल निस्सरण न हो क्योंकि—

शुक्रायत्तं बलं पुन्सां मलायत्तं च जीवनम्।
तस्मात् यत्नेन संरक्षेत् यक्ष्मिणो मलरेतसि॥

इसके पश्चात् क्रमानुसार लघुद्रव्य व अग्नि प्रबल होने पर बृंहण द्रव्य देना चाहिये। बकरी के दूध का प्रयोग विशेषतः करे। दुर्बल रोगियों में यवनिर्मित पदार्थ अर्क, अम्ल, गुडूची, यवक्षार आदि में भिगोकर दे। मुद्गयूप, नीरा, वारुणी दे सकते हैं। मासान्मास (मास खानेवाले प्राणियों का मास) औषधि रूप में दे।

बला, चन्दन या लाक्षादि तैल का अभ्यंग करे। अवगाहन व क्षीरजल से स्नान कराना चाहिये। मन को प्रसन्न करने वाले वस्त्र व गन्ध दें। आवश्यकतानुसार स्वेदन व परिषेक भी कर सकते हैं।

ज्वर होने पर जीर्ण ज्वर के आधार पर चिकित्सा करें। लौह और वृष्य योग दें। अधिक ज्वर मे स्वर्ण योग न दें। अरुचि मे मुख शुद्धि, मृदुवामक औषधियाँ तथा अग्निदीपक लघु आहार दें। अतिसार मे स्तम्भक व ग्राही द्रव्य जैसे तक्र, सुरा, कांजी, अनार का रस आदि प्रयोग करें। पर्पटी का प्रयोग भी उत्तम है। लघु पंचमूल क्वाथ व शृतजल पानार्थ दे। इसके अतिरिक्त रोगोत्पत्ति के कारणों को दूर कर तदुपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग मे प्रमुखतः स्वर्ण व मुक्ता के योग ही अधिक लाभकारी होते हैं।

औषधियाँ :—सितोपलादि चूर्ण, एलादि चूर्ण, च्यवनप्राश, वासावलेह, शतावरी घृत, वासा घृत, कंटकारी घृत, द्राक्षारिष्ट, स्वर्ण भस्म, मुक्ता भस्म या पिष्टी, शृङ्गाराभ्र, मृगांक रस, राजमृगांक, महामृगांक, रत्नगर्भपोट्टली रस, हेमगर्भ पोट्टली रस, कांचनाभ्र, वसन्त मालती, यक्ष्मारि लौह, यक्ष्मांतक लौह, शिलाजत्वादि लौह और क्षयकेसरी।

प्रयोग :—(१) वसन्त मालती २ र.
चन्दनादि लौह ४ र.
शृङ्ग भस्म ४ र.
गुडूची सत्व १ मा.
सितोपलादि २ मा.
मि. ४ मात्रा मधु से दें

(२) एलादि वटी चूषणार्थ दें

(३) यष्ट्यादि चूर्ण ४ मा.
रात्रि मे दुग्ध से दें

(४) लाक्षादि तैल अभ्यंग
या
कुमुदेश्वर २ र.
ज्वराशनि ४ र.
चन्दनादि लौह ४ र.
गुडूची सत्व १ मा.
सितोपलादि ४ मा.
मि. ४ मात्रा
वासापानक व मधु से दें

शुष्ककास मे चन्द्रामृत, शृंगाराभ्र व यवक्षार का भी प्रयोग करे। मुख से रक्त आने पर योग मे रक्तपित्तकुलकण्डन रस भी मिला दे।

गण्डमाला (T. B. Glands) की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

चिकित्सा :—इस रोगमे सभी चिकित्सा क्षय के समान करना चाहिए। साथ ही कुछ गण्डमाला पर अभ्यग, लेप व काञ्चनारगुग्गुलु का सेवन और करना चाहिए। इससे काफी लाभ हो जाता है।

औषधियाँ :—बाह्यप्रयोग के लिए—गुजाद्य तेल, सिन्दूरादि तेल, छुछूंदरी तेल, सर्पगादि प्रलेप, गूगल, गन्धक, रसौत का लेप।

सेवन के लिए :—काचनार गुग्गुलु, पञ्चामृत लोह, गुग्गुलु, अमृत प्राशघृत।

मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis)

परिचय :—इस रोग के प्रत्येक प्रकार मे प्रायः एक समान लक्षण होते हैं। ये लक्षण कारण की अपेक्षा विकृति के **स्थान**, उसकी **प्रकृति** तथा प्रारम्भ होने की **गति** पर अधिक निर्भर करते हैं। इसके निम्न प्रकार हैं :—

१—मस्तिष्क गोलाणुजन्य मस्तिष्क सुषुम्नाशोथ या ज्वर (Cerebrospinal-meningitis or fever, meningo-meningitis)। **२—यक्ष्मा जन्य** मस्तिष्कावरण शोथ (T. B. meningitis) **३—अन्य गोलाणुजन्य** मस्तिष्कावरणशोथ (Pneumo, strepto, staphy, meningitis)। **४—श्लेष्मक दण्डाणु जन्य** मस्तिष्कावरणशोथ (Hemophilus influenzal meningitis)।

मरक विज्ञान (Epidemiology):—(१) **मस्तिष्क गोलाणु जन्य** रोग मरक (Epidemic) प्रकार का होता है। इसका सचयकाल (I. P.) १–७ दिन है। रोगी के खाँसते समय बिन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा अथवा वायु द्वारा जीवाणु स्वस्थ मनुष्य के नासा-ग्रसनिका (Nasopharynx) मे पहुँच कर रक्त मे तृणाणुमयता (Bacteremia) उत्पन्न कर मस्तिष्कावरण मे पहुँचते है। रक्त मे इन जीवाणुओं के रहते समय मस्तिष्कावरणशोथ के लक्षणो का होना अनिवार्य नहीं है। जन-समूह थकावट, अस्वास्थ्यकर वातावरण तथा दरिद्रता से इसके मरक का सम्बन्ध प्रतीत होता है। रोग के फैलने मे संवाहक (Carrier) का प्रमुख स्थान है। रोग प्रत्येक आयु मे होता है परन्तु २० वर्ष से अल्प आयु वाले पुरुषो में

अधिक होता है। यह विशेषकर शीत तथा वसन्त ऋतुओं में होता है। ग्राम की अपेक्षा नगरों में अधिक होता है और जेल, सैनिकों के निवासस्थान उन्मादआश्रम, छात्रावास आदि में जहां के निवासी एक नियन्त्रित स्थान में रहते हैं वहां इसके मरक की अधिक सम्भावना रहती है। इसके मरक के समय रोगियों की संख्या अधिक नहीं होती और किसी भी स्थान में इसके रोगी एक दूसरे से पर्याप्त दूरी पर मिलते हैं। मसूरिका (Smallpox) आदि के समान एक ही परिवार में इस रोग के अनेक रोगी नहीं मिलते। इससे प्रतीत होता है कि रोग अत्यन्त औपसर्गिक नहीं है। इसके मरक के समय प्रायः १०–२० प्र. श. रोगियों की मृत्यु होती है। जो रोगी चेतनाहीन नहीं होते तथा आयु में कम होते हैं और रोग के पूर्व जिनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है उनके रोग निवृत्त होने की अधिक सम्भावना रहती है। रोगी से रोग फैलने की सम्भावना कम रहती है। रोग प्रायः स्वस्थ संवाहक (Carriers) द्वारा फैलता है। लक्षणों की उत्पत्ति के पूर्व ही रोगी औपसर्गिक हो जाता है और विशिष्ट चिकित्सा द्वारा शीघ्र ही उसकी रोग फैलाने की शक्ति कम हो जाती है।

२—**यक्ष्माजन्य मस्तिष्कावरणशोथ** में उपसर्ग प्रायः फुफ्फुस से मस्तिष्क में पहुँचता है। आन्त्रनिबद्धिनी (Mesentery), श्वसनी (Bronchus), कण्ठनलिका (Trachea) आदि के समीप जो लसग्रन्थियाँ (Lymph glands) रहती हैं उनमें यक्ष्मा का उपसर्ग रहने पर उपसर्ग मस्तिष्क में पहुँच सकता है। यह रोग प्रायः शैशवावस्था में होता है।

३—**अन्य गोलाणु** (Pneumo, strepto, staphylo :) जन्य मस्तिष्कावरणशोथ में भी उपसर्ग पहले प्रायः मध्यकर्ण (Middle-ear), वायुविवर (Sinuses) अथवा फुफ्फुस में रहता है और इन्हीं स्थानों से मस्तिष्क में पहुँचता है। फुफ्फुस गोलाणुजन्य रोग (Pneumo) प्रायः फुफ्फुसपाक (Pneumonia) के पश्चात् होता है तथा अत्यन्त तीव्र होता है।

४—**श्लेष्मक ज्वर जन्य** (Influenzal) फुफ्फुसावरणशोथ प्रायः श्लेष्मक ज्वर में उपद्रव स्वरूप होता है। यह प्रायः शैशवावस्था में दो वर्ष की आयु से कम में मिलता है।

निदान :—प्रत्येक प्रकार के मस्तिष्कावरणशोथ में प्रायः एक ही समान लक्षण होते हैं। **रोगारम्भ में** ज्वर, सिर में पीड़ा, वमन, **तत्पश्चात्** अनियमित मन्दगामी नाड़ी, अनियमित श्वसन, कनीनिकाओं का विस्फार (Dila-

ted pupils), आक्षेप (Convulsions), ग्रीवा की अनम्यता (Rigidity), बाह्यायाम (Opisthotonus) तथा अङ्गघात (Paralysis), होता है और कर्निग (Kernig's) तथा ब्रुडनिस्की (Brudzinski's) के चिह्न (Sign) अस्त्यात्मक (+) होते हैं। उदर प्रत्याकर्षित (Retracted) होता है तथा वमन शक्तिशाली (Projectile) होता है। कंप (Rigor), प्रलाप (Delirium), तन्द्रा (Drowsiness) रोगी का शैय्या पर एक पार्श्व मे जानु सन्धि (Knee) तथा उरु (Thigh) आकुञ्चित कर लेना तथा सन्यास (Coma) हो सकता है। इन लक्षणों के **अतिरिक्त** :—

(१) **मस्तिष्क गोलाणुजन्य** (Meningo) विकृति में :—इसमे कमर, उदर तथा हाथ पैर मे पीड़ा होती है। रोग के प्रारम्भ मे कण्ठमे पीडा, प्रसेक (Cold), विषमयता (Toxaemia), प्रतिश्याय (Coryza), ग्रसनिकाशोथ (Pharyngitis), तुण्डिकाशोथ (Tonsillitis), आदि श्वसन मार्ग के ऊर्ध्व भाग मे उपसर्ग होने के लक्षण मिल सकते हैं। ज्वर के प्रथम सप्ताह मे रोग की गम्भीर अवस्था मे स्कंध (Shoulder), मध्यशरीर, शाखाओ, श्रोण्यस्थि (Pelvis) तथा अन्य भागो की त्वचा पर रक्तस्रावी विस्फोट (Petechial rash) निकलते हैं। त्वचा के अन्दर रक्तस्राव हो सकता है। रक्तनिपीड़ (B.P.) प्राकृत से कम रहता है। रोग की **अन्तिम अवस्था** मे कनीनिकाओ का विस्फार (Dilated pupils), चीत्कार (Cry) तथा त्रितीय, षष्ठ, और अष्टम (III, VI, VIII Cranial nerves) शीर्षण्य वातनाडियो मे विकृति मिल सकती है। रोग का प्रारम्भ प्रायः अकस्मात होता है।

(२) **यक्ष्मा जन्य विकृति में** :—यह अत्यन्त सामान्य रोग है। इसमे रोग का प्रारम्भ शनैः शनैः होता है। रोग का पूर्वकाल (Prodromal-period) अत्यन्त दीर्घ होता हैं। ज्वर के कई दिन पश्चात मस्तिष्कावरण जन्य लक्षण उत्पन्न होते है। बालक आलसी तथा चिड़चिड़ा हो जाता है। भोजन की इच्छा नही रहती, ग्रीवा का प्रत्याकर्षण (Retraction) अस्पष्ट तथा अत्यन्त अल्प समय रहता है। युवावस्था मे प्रायः वार्तालाप की शक्ति लुप्त (Aphasia) हो जाती है। बालक रात्रि मे चिल्लाता है।

(३) **श्लेष्मक ज्वर** (Influenza) जन्य रोग का प्रारम्भ अक-

स्नात अथवा शनैः शनैः हो सकता है। इसके तथा **अन्य गोलाणु जन्य** रोग के लक्षण मस्तिष्कावरण शोथ के साधारण लक्षणों के समान हैं। शिरके समीप मध्यकर्ण (Middle-ear) अथवा वायुविवर (Sinus) पर शल्य-कर्म (Op.) के पश्चात मालागोलाणु (Strepto) जन्य विकृति होती हैं।

नैदानकीय परीक्षायें :—मस्तिष्कावरण शोथ के कारण का निश्चित निदान करने के लिये आवश्यक है कि रोग के जीवाणु के लिये खोज की जाय। इसके लिये निम्न परीक्षायें की जाती है :—(१) **मस्तिष्क गोलाणु जन्य** विकृति में प्रारम्भ मे उपसर्ग कण्ठ मे सीमित रहता है इसलिये प्रारम्भिक अवस्था में **कण्ठ** से स्राव लेकर उसका संवर्ध (Culture) कर जीवाणु का पता लगाना चाहिये। कुछ समय पश्चात जीवाणु रक्त में प्रवेश कर जाते है तथा उपसर्ग व्यापक हो जाता है। इस अवस्था मे **रक्त-संवर्ध** (Blood culture) द्वारा जीवाणु का ज्ञान हो सकता है। रक्त मे प्रारम्भ मे श्वेत-कणों (W.B C.) की सख्या प्रायः २० से ५० हजार प्र. घ. मि. मी. तक पहुँच जाती है और इनमे बहुकारी (Poly :) प्रायः ९० प्र. श. रहते है। रक्त की यह अवस्था प्रायः ३ ज्वरों मे ही मिलती है, खण्डीय फुफ्फुस-पाक (Lobar pneumonia), मस्तिष्कसुषुम्ना ज्वर (Cerebro-spinal fever) तथा दोषमयता (Septicemia)। **ब्रह्मवारि** (C. S. fluid) की प्रकृति का वर्णन तालिका मे किया गया है। निदान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण परीक्षा है। ब्रह्मवारि लेकर, काच की पट्टी पर रखकर तथा रंजित कर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने से अत्यन्त अल्प समय में जीवाणु का ज्ञान हो सकता है। ब्रह्मवारि को संवर्ध (Culture) कर भी जीवाणु के लिये खोज सकते हैं परन्तु इसमे समय लगता है। रोग के प्रारम्भ तथा अन्त में ब्रह्मवारिमें लसकायाणु (Lympho) की वृद्धि होती हैं। मध्य की अवस्था मे बहुकारी (Poly) ७०-८० प्र. श. हो जाते हैं। रोग की चिरकालीन अवस्था मे अथवा शिशुओं मे पश्चिम मूल प्रकार (Post basic type) मे रोग की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त लसकायाणुओं की ही वृद्धि मिलती है।

(२) **यक्ष्मा जन्य विकृति में ब्रह्मवारि** (C.S. fluid) मे पीत-वर्णता (Xanthochromia) मिलती है। ब्रह्मवारि को कुछ समय रख देने से उसमें एक जाली सी बन जाती है। इस पदार्थ को कांच की पट्टी

पर रखकर तथा रंजित (Stain) कर सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से देखने से जीवाणु मिल सकते हैं। ब्रह्मवारि को सवर्ध (Culture) कर अथवा वराट-मूष (Guineapig) के शरीर में प्रवेश कर भी जीवाणु के लिये देख सकते हैं। रक्त मे श्वेतकणों की संख्या मे वृद्धि होती है।

(३) **अन्य कारण से** मस्तिष्कावरण शोथ होने से ब्रह्मवारि (C.S. fluid) के सवर्ध (Culture) कर परीक्षा करने से जीवाणु का ज्ञान सभव है।

सापेक्ष निदान (D.D.) :—कभी कभी आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), फुफ्फुसावरण शोथ (Pneumonia), श्लेष्मक ज्वर (Influenza), विस्फोटक ज्वर (E. F.) आदि में विषमयता के कारण मस्तिष्कावरण शोथ के समान लक्षण होते हैं। इस अवस्था को **मस्तिष्कावरण का प्रक्षोभ** (Meningism) कहते है। ग्रीवा की अनम्यता (Rigidity) तथा अस्त्यात्मक (+) किनंग का चिह्न (Kering's sign), मस्तिष्कावरण के प्रक्षोभ मे भी मिलते हैं। **मस्तिष्कावरण शोथ** मे रोगारम्भ तथा उसके पश्चात भी वमन होता है, नाड़ी मन्दगामी तथा अनियमित (Irregular) होती है, शिर मे पीड़ा तथा प्रलाप (Delirium) एक साथ होते हैं और नेत्र को विकृति (Papilloedema) रोग प्रारम्भ होने के अनेक दिन पश्चात होती है। ब्रह्मवारि (C. S. fluid) की परीक्षा निश्चयात्मक है। **आमवात** (Rheumatic fever) मे ग्रीवा की अनम्यता परीक्षा करने पर कम होती प्रतीत होती है तथा सेलिसिलेट (Salicylate) के प्रयोग से ज्वर तथा सन्धियो की पीड़ा कम होने लगती है। मस्तिष्कावरण शोथ मे परीक्षा के समय ग्रीवा की अनम्यता और बढ़ जाती है। **शैशवीय अंगघात** (Poliomyelitis) मे ज्वर की अवधि अत्यन्त लघु होती है और ज्वर के तत्काल पश्चात अंगघात (Paralysis) होता है। ब्रह्मवारि (C. S. fluid) की परीक्षा से सहायता मिलती है। **निद्रालसी मस्तिष्क शोथ** (Encephalitis lethargica) मे अनम्यता (Rigidity) नहीं होती और आलस्य की प्रधानता रहती है।

उपद्रव :—मस्तिष्कावरणशोथ मे सन्धिशोथ (Arthritis), जलशीर्ष (Hydro-cephalus), हृत्पेशीशोथ (Myocarditis), वृक्क का निपात (Renal failure), उन्माद, अंगघात (Paralysis) आदि उपद्रव होते हैं। शीर्षण्यवातनाड़ियो (Cranial nerves) की

विकृति प्रायः स्थायी होती है। श्रवणवातनाड़ी (viii N) की विकृति प्रायः होती है। इसके कारण श्रवणशक्ति नष्ट हो जाती है। कभी-कभी मनुष्य अंधा भी हो जाता है। श्वसनी फुफ्फुसपाक (Broncho-pneumonia) तथा आन्त्रशोथ (Enteritis) भी होता है।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—मस्तिष्कगोलाणु (Meningo) जन्य विकृति से बचने के लिये रोगी को पृथक् रखना चाहिये। रोगी के संपर्क मे आये हुए मनुष्यो को भी १५ दिन पृथक रखकर उनमे लक्षणो की उत्पत्ति के लिये देखना चाहिये तथा लक्षण उत्पन्न होने पर इनकी यथाशीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये। यथासम्भव सबको शुद्धवायु तथा सूर्य रश्मि मे समय व्यतीत करना चाहिये। अनेक लोगों को एक साथ नही रहना चाहिये तथा जन-समूह से बचना चाहये। छात्रावास, चिकित्सालय आदि मे जहां अनेक मनुष्य एक साथ रहते हैं उनकी दो शैय्या के मध्य का अन्तर ३–५ फीट होना चाहिये। रोगी के स्राव को तथा उसके संपर्क मे आये प्रत्येक पदार्थ को उसके मूल्य तथा प्रकृति के अनुसार जलाकर नष्ट कर देना चाहिये अथवा अन्य विधियों से जीवाणुरहित कर देना चाहिये। सब को मुख पर रूमाल रखकर खाँसना चाहिये। इससे विन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा उपसर्ग नहीं फैलता। स्वयं उपसर्ग से बचना चाहिये। सवाहको (Carriers) पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। जितने मनुष्य रोगी के संपर्क मे आये हो उन सब के कण्ठ से स्राव लेकर जीवाणु के लिये देखना चाहिये। इनको पास्टुरीन (Pasturin) दो चम्मच एक गिलास जल मे मिलाकर त्रि. प्र. दि. कुल्ला कराना चाहिये। सल्फाडियाजीन (S–diazine) गो. २ द्वि. प्र. दि. देने से श्वसन-संस्थान में उपसर्ग की कम संभावना रहती है। मसूरी (Vaccine) का परिणाम निराशाप्रद है। मसूरी का इन्जेक्शन त्रि. प्र. स. लगाया जाता है। औषधि की प्रतिमात्रा मे प्रतिबार ½–१ करोड़ मृत जीवाणु होने चाहिये।

(ख) साधारण चिकित्सा :—मस्तिष्कावरण शोथ के रोगी को प्रकाश से कष्ट होता है इसलिये रोगी को अंधेरे परन्तु वायुदार कमरे मे अन्य लोगों से पृथक रखना चाहिये। विश्राम, कटिवेध (L.P.), दुग्ध आहार, पर्याप्त जल तथा कब्ज के निवारण का प्रबन्ध करना चाहिये। बेहोशी की अवस्था में रोगी के शैय्या से गिर जाने की समावना रहती है इसलिये शैय्या के चारो ओर लोहे के छड लगे रहना चाहिये। जलाल्पता (Dehydrat-

ion) की विशेष संभावना रहती है इसलिये रोगी को आ. अ. प्रत्येक मार्ग से जल (पृ. २१६) देना चाहिये। **शैशवावस्था में** प्रथम दिन उदर (Intra peritoneal) में समबल लवण घोल (N. Saline) औ. १०–२० प्रवेश कराना चाहिये। ज्वर की अवस्था मे रोगी को तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। यदि रोगी मुख से कुछ न ले सके तब भोजन तथा औषधि रबर की नलिका (St:tube) द्वारा आमाशय मे प्रवेश कराना चाहिये। रोगी को प्र. दि. २ सेर मूत्र होना आवश्यक है इसके लिये प्रायः ४ सेर जल प्र. दि. देना पड़ता है। वमन द्वारा यदि जल शरीर से परित्याग होता हो तब उसी के अनुसार जल की मात्रा बढा देना चाहिये। मुख, नेत्र, त्वचा आदि पर आन्त्रिक ज्वर के समान ध्यान रखना चाहिये। ज्वर तीव्र होने पर सिर पर बरफ की थैली रखना चाहिये। रोगी का बल बनाये रखना आवश्यक है इसलिये उसके पोपण का विशेप ध्यान रखना चाहिये। लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिए।

(ग) लक्षणों की चिकित्सा :—इस रोग मे **कटिवेध** (L.P.) करना आवश्यक होता है। ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) की परीक्षा से विशेष कर शर्करा की मात्रा का ज्ञान होने से चिकित्सा से लाभ हो रहा है या नहीं इसका पता लगता है। शीर्षान्तरीय निपीड (Intracranial tension) की वृद्धि के कारण शिर में पीड़ा आदि लक्षण होने पर पुनः कटिवेध करना चाहिये। प्रथम बार कटिवेध द्वारा जितना ब्रह्मवारि (C.S. Fluid) निकल सके, निकाल देना चाहिये। **बेचैनी तथा निद्रा** लाने के लिये परालडिहाइड (Paraldehyde) सर्वोत्तम हैं। यह औषधि मुख द्वारा ड्रा. ½–२, गुदा से ड्रा. ४–८ तथा पेशीमार्ग (I. M.) से सी.सी. २–४ दी जा सकती है। इससे लाभ न होने पर मोरफीन (M & A) ग्रे. ¼ अधस्त्वक (S C.) मार्ग से दे सकते हैं। सोडियम ऐमिटल (Sodium amytal) सिरामार्ग (I.V) से १० प्र.श. ग्रे. ५–१५ तक आ.अ. दे सकते है।

मस्तिष्क गोलाणु जन्य (Meningo) **रोग का तीव्र प्रकार** अत्यन्त गभीर होता है। इसमे उपवृक्क (Adrenals) मे रक्त-स्राव होता है तथा निपात, संज्ञानाश, श्यावता (Cyanosis), त्वचा मे रक्तस्राव, रक्तनिपीड़ (B. P.) की कमी तथा परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Peripheral vascular failure) होता है। प्रारम्भ ही से बेहोशी

रहती है। इसलिये यदि त्वचा में रक्तस्राव मिले तब रक्तनिपीड़ (B. P.) पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। संकोचिक रक्त निपीड़ (Systolic B.P.) ८० मि. मी. पा. से कम रहने पर स्तब्धता (Shock) तथा निपात (Collapse) की उपयुक्त चिकित्सा (पृ.२३८) करना चाहिये। स्तब्धता (Shock) के लक्षण गभीर रहने पर सिरामार्ग (I. V.) से लसिका (Serum), रक्तरस (Plasma), इन्ट्राडेक्स (Intradex) अथवा समबल लवण घोल (N. saline) में ग्लूकोस ५ प्र. श. पा. १ या उससे अधिक देना चाहिये। एड्रीनल कौरटेक्स सत्व (Adrenal cortex ext: Cortin B. P.) ४–१० सी. सी. सिरामार्ग (I. V.) से प्रति ४ घंटे दे सकते हैं। डोका (DOCA) का मि. ग्रा. ५ कौरटीन के १० सी. सी. के बराबर है। यह पेशीमार्ग (I.M.) से दी जाती है। कटिवेध (L.P.) यदि समव न हो तब प्रपावेधन (Cisternal puncture) करना चाहिये। कटिवेध द्वारा पेनिसिलीन (P.) का प्रयाग करने से हानि हो सकती है। इस मार्ग से पेनिसिलीन की मात्रा १००० ग्र. इ. प्रति. सी. सी. से अधिक रहने पर अगाघात (Paralysis) होने की संभावना रहती है। कटिवेध द्वारा ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) निकाल देने से शीर्षान्तरीय निपीड़ (Intra-cranial tension) में कमी होती है। इसमार्ग से औषधि प्रवेश करते समय आवश्यक है कि जितना ब्रह्मवारि निकाला जाय उससे कम मात्रा में जल प्रवेश कराया जाय अन्यथा शीर्षान्तरीय निपीड़ की वृद्धि होगी। अत्यधिक ब्रह्मवारि निकाल देने से भी शिर में पीड़ा होती है। कटिवेध करते समय यदि ब्रह्मवारि न निकले (Dry puncture) और इस क्रिया में कोई भूल न हो तब समझना चाहिये कि रोगी को जल की आवश्यकता है। इस स्थिति में अर्धबल लवण घोल (प.पृ. ३६) पा. १ सिरामार्ग (I.V.) से देने से जल सौषुम्न गुहा (Spinal canal) में प्रवेश करता है। इसके पश्चात कटिवेध करने से ब्रह्मवारि निकलना चाहिये। बार-बार कटिवेध करने से ब्रह्मवारि में औषधि की मात्रा कम हो जाती है। ब्रह्मवारि जीवाणुरहित हो जाने पर तथा उसका निपीड़ (Pressure) प्राकृत हो जाने पर कटिवेध अनावश्यक है।

(घ) विशिष्ट औषधियाँ :—(अ) मस्तिष्कगोलाणु जन्य (Meningo) रोग की औषधियाँ :—

(१) **सल्फा** (S.) **औषधि** :—इस रोग मे सल्फा औषधि ही
सर्वोत्तम है । सल्फाडियाजीन, (S-Diazine), सल्फाथियाजोल (S-Thi-
azole), सल्फामेराजीन (S-merazine) अथवा सल्फाट्रायेड (S-tr-
iad) प्रयोग कर सकते हैं । रोग की **साधारण अवस्था** मे ये औषधियाँ
मुख द्वारा गो. २ प्र. ४–६ घं. (यो. ६६) देना चाहिये । औषधि की प्रथम
मात्रा साधारण मात्रा की दूनी अथवा तिगुनी होनी चाहिये । सल्फा औषधि
के २ या तीन योग एक साथ दे सकते है । ऐसी अवस्था मे प्रत्येक औषधि की
मात्रा बराबर बराबर होनी चाहिये । रोग की **गंभीर अवस्था** में इन औष-
धियों का सोडियम (Na) के साथ बना लवण सिरामार्ग (I. V.) अथवा
पेशीमार्ग (I. M.) से ग्रा. ३ की मात्रा मे द्वि. या त्रि. प्र.दि. देना चाहिये ।
औषधि की प्रथम मात्रा ग्रा. ५ होना चाहिये । सिरामार्ग (I. V.) से प्रयोग
करने के लिये रिंगर के घोल (यो. १०५) मे औषधि मिलाकर देना चाहिये ।
दो वर्ष के बालक को ये औषधियाँ सिरा (I. V.) या पेशीद्वारा ग्रा ½
तथा मुख द्वारा ग्रा. ½–¾, ४–६ बार प्र. दि. दें ।

नोट :—सल्फा औषधि के साथ साथ पेनिसिलीन (P) का भी प्रयोग
करना चाहिये । इन दोनो औषधियो को एक सप्ताह प्रयोग करना पर्याप्त है ।

(२) **पेनिसिलीन** (P) :—यह औषधि पेशीमार्ग (I. M.) से
अच्छा कार्य करती है । कटिवेध (L. P.) द्वारा इसका प्रयोग आवश्यक
नहीं है । रोग की **साधारण अवस्था** मे प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr. P.)
४ ल. अं. इ. ए. या. द्वि. प्र. दि. पेशीमार्ग (I. M.) से दे । **गम्भीर
अवस्था** मे पेनिसिलीन जी (P. 'G') १/२–१ ल. अं. इ. प्र. ३–४ घं.
पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग करना चाहिये । इस औषधि को कटिवेध
(L. P.) द्वारा प्रयोग करने के लिये पेनिसिलीन 'जी' (P. 'G') की
१ लक्ष. अं.इ. की मात्रा प.ज. १०० सी.सी. मे घोल कर प्रति बार १० सी.सी.
से अधिक नहीं प्रयोग करना चाहिये । रोगी में सुधार होने पर तत्काल इस
मार्ग से औषधि बन्द कर केवल पेशीमार्ग (I.M.) से ही प्रयोग करे ।

(३) **लसिका** (Serum) का प्रयोग अव्यवहारिक है । उपर्युक्त
औषधियों से लाभ न होनेपर तथा अत्यन्त विषमयता रहने पर सिरामार्ग (I.V.)
से ५०–१०० सी. सी. अथवा कटिवेध द्वारा ब्रह्मवारि के निकालने की मात्रा
के अनुसार इस औषधि को दे सकते हैं ।

(आ) यक्ष्मा (T.B.) जन्य विकृति :—(१) स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) :—इस औषधि को पेशीमार्ग (I. M.) तथा कटिवेध (L.P.) द्वारा साथ साथ प्रयोग करना चाहिये। पेशीमार्ग से प्रयोग करने के लिये डाइहाइड्रो-स्ट्रेप्टोमाइसीन (Dihydro-str :) रोगी के भार के अनुसार मि. ग्रा. २० प्र. से. भा. त्रि. प्र. दि. कर ३ मास प्रयोग करना चाहिये। प्रथम १ दिन कटिवेध (L. P.) द्वारा स्ट्रेप्टोमायसीन रोगी के भार के अनुसार मि. ग्रा. २ प्र. से. भा. ए. प्र. दि. प्रयोग करे। तत्पश्चात १५ दिन तक इसी मात्रा मे त्रि. प्र. स. और तदुपरान्त आ. अ. द्वि. प्र. स. प्रयोग करना चाहिये। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि प्रायः ३ मास होनी चाहिये।

(इ) अन्य गोलाणु (Strepto :, staphylo :, pneumo:) जन्य विकृति :—इस अवस्था की चिकित्सा मस्तिष्कगोलाणु जन्य (Meningo) विकृति के समान करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त पेनिसिलीन 'जी' (P. G.) का प्रयोग कटिवेध (L.P.) द्वारा भी तब तक करना चाहिये जब तक ब्रह्मवारि (C. S. fluid) मे शर्करा (Glucose) का मात्रा प्राकृत न हो जाय। इस औषधि को पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग करने के लिये अत्यधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ती है इसलिये पेनिसिलीन 'जी', ५–१० ल. अं. इ. पेशीमार्ग (I. M.) से. प्र. २ घ. पर देना चाहिये। इस मात्रा मे पेशीमार्ग से औषधि प्रयोग करने से कटि-वेध (L.P.) द्वारा औषधि प्रयोग करने की आवश्यकता नही पडती। ओरियोमाइसीन (Au), ऐक्रोमाइसीन (Acn), टेरामाइसीन (Tn) आदि का प्रयोग आयोगिक अवस्था मे है।

(ई) श्लेष्मक ज्वर (Influenza) जन्य विकृति की औषधियाँ :—

(१) स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) :—मि. ग्रा. २०–२५ समबल लवण घोल (N. saline) १० सी. सी. मे मिलाकर कटि-वेध (L. P.) द्वारा ए. प्र. दि. प्रयोग करना चाहिये। ब्रह्मवारि (C. S. fluid) मे शर्करा की मात्रा प्राकृत हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये।

(२) डाइ-हाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसीन (Dyhydro-str) :—कटिवेध (L. P.) द्वारा स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str) देने के साथ साथ इस औषधि को आयु के अनुसार १/४–१ ग्रा. पेशीमार्ग (I. M.) से ३–४ चार प्र. दि. प्रायः ६–७ दिन देना पड़ता है।

(२) **सल्फा औषधि (S) :**—उपर्युक्त औषधियो के साथ साथ सल्फा डियाजीन (S : diazine), सल्फा मेराजीन (S : merazine), सल्फा ट्रायेड (S. triad), सल्फा थियाजोल (S : thiazole) आदि (यो. ६६) त्रि. प्र. दि. द । बाल्यावस्था मे इन औषधियों की मात्रा रोगी के भार के अनुसार ग्रे. २/३ प्र. से. भा. त्रि. प्र. दि. होनी चाहिये ।

(३) **अन्य औषधियाँ :—ऑरियोमाइसीन** (Au), एक्रोमाइ-सीन (Acn), टेरामाइसीन (Tn), क्लोरोमाईसेटीन (Cln) आदि औषधियो भी दे सकते हैं । ये औषधियाँ २५०–५०० मि. ग्रा. ३–४ बार प्र. दि. मुखसे दी जाती है । उपर्युक्त औषधियो से लाभ न होने पर **लसिका** (Anti : toxic-serum) प्र. दि. सिरामार्ग (I.V.) से प्रयोग कर सकते हैं । इसमे प्रतियोगी (Antibody) प्र. दि. २५–१०० मि. ग्रा. होना चाहिये ।

(ङ) **रोगसन्निवृत्तिकाल की चिकित्सा :—मस्तिष्कावरण शोथ** की चिकित्सा समाप्त होने के पश्चात पुनः ज्वर होने पर कटिवेध (L.P.) द्वारा ब्रह्मवारि (C. S. fluid) निकाल कर उसकी परीक्षा करनी चाहिये । रोगनिवृत्त हो जाने के ३ सप्ताह पश्चात पुनः कटिवेध करना चाहिये । ब्रह्म-वारि यदि निर्मल (Clear) हो तथा उसमे कोशाओ(Cells) तथा शर्करा की मात्रा प्राकृत हो तब रोगी शैय्या का परित्याग कर सकता है । रोगनिवृत्त हो जाने पर पौष्टिक आहार तथा औषधिद्वारा रोगी को सबल बनाना चाहिये ।

धनुर्वात (Tetanus)

परिचय :—धनुकी दण्डाणु (Clostridium tetani) का विष जब वातनाड़ी-संस्थान से मिल जाता है तब यह रोग होता है । इस रोग मे प्रायः ज्वर नही होता । रोग की अन्तिम अवस्था मे ज्वर हो सकता है । इसमें ऐच्छिक (Striated) पेशियो का सकोच (Contraction) होता है । हनु (Jaw) की पेशियों मे पीड़ारहित अनम्यता होती है । रोग का संचयकाल (I. P.) प्रायः ६ दिन है परन्तु यह पॉच दिन से ५–६ सप्ताह तक हो सकता है । सचयकाल जितना कम होता है उतना ही रोग गम्भीर होता है । उद्वेष्ठन (Spasm) प्रारम्भ मे स्थानिक (Local) होते हैं परन्तु शीघ्र ही व्यापक हो जाते है । रोग की अन्तिम अवस्था तक रोगी की मानसिक

शक्ति तथा ब्रह्मवारि (C. S. fluid) प्रायः प्रकृत रहते हैं। यह रोग समस्त संसार में मिलता है। प्रत्येक रोगी में आघात का इतिहास नहीं मिलता। रोग अत्यन्त मारक है। आक्षेपों (Convulsions) की उत्पत्ति में जितना विलम्ब होता है तथा रोग का सचयकाल (I. P.) जितना दीर्घ होता है उतना ही रोगी के बचने की सम्भावना अधिक होती है। प्रसव के पश्चात प्रसूति ज्वर (Puerperal sepsis) के साथ साथ धनुर्वात होने पर ज्वर रहता है। इस जीवाणु के छुल्लक (Spore) दीर्घकालपर्यन्त जीवित रहते हैं। ये छुल्लक पशुओं के मल से निकल कर सड़क की धूल में मिल जाते हैं तथा वायु द्वारा दूर दूर जा सकते हैं और व्रण (Ulcer) में मिलकर रोग उत्पन्न करते हैं। कैटगट (Catgut) में इनके रहने की प्रायः सम्भावना रहती है इसलिये कैटगट को अच्छी प्रकार जीवाणुरहित करना आवश्यक है अन्यथा शल्यकर्म (Op) के समय इसका प्रयोग करने से धनुर्वात की सम्भावना रहती है। कभी कभी यह रोग चिरकालीन अथवा स्थानिक (Local) स्वरूप का होता है। रोगी की मृत्यु प्रायः श्वासावरोध (Asphyxia) के कारण होती है। फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि उपद्रवों से भी मृत्यु हो सकती है।

निदान :—रोग की कोई विशिष्ट नैदानकीय परीक्षा न होने के कारण निदान की दृष्टि से लक्षणों पर ही निर्भर करना पड़ता है। रक्त में श्वेतकणों (WBC) की साधारण वृद्धि तथा मूत्र में शुक्लि (Alb) मिल सकती है परन्तु इनका निदान की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। प्रारम्भ में जिस स्थान पर जीवाणु मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है उस स्थान पर पीड़ा तथा झुनझुनी हो सकती है। विकटहास्ययुक्त आकृति (Risus sardonicus), हनुस्तम्भ (Lock jaw), ग्रीवा, शाखाओं, उदर आदि की पेशियों में अनम्यता (Rigidity,), प्रतिक्षेपों (Reflexes) का परम अस्त्यात्मक (+) होना, बाह्यायाम (Opisthotonos), औदरिक पेशियों में उद्वेष्टन (Spasm) तथा निरन्तरित आक्षेप (Tonic convulsons) आदि रोग के प्रधान लक्षण हैं। कर्निंग का चिह्न (Kernig's sign) सर्वदा प्रारम्भ से ही अस्त्यात्मक (+) रहता है। शरीर से अत्यधिक पसीना निकलता है। कुपीलु सत्व (Strychnine) की विषमयता में उद्वेष्टनों (Spasms, convulsions) के मध्य की

अवधि मे पेशियाँ शिथिल (Relax) हो जाती हैं। यह अवस्था धनुर्वात में नहीं होती। धनुर्वात मे हनुस्तम्भ (Trismus, lockjaw) तथा ग्रीवा की अनम्यता (Rigidity) अलग अलग मिल सकते हैं परन्तु कुपीलु-सत्व की विषमयता मे ये दोनों लक्षण सर्वदा साथ मिलते हैं।

उपद्रव :—वृक्कशोथ (Nephritis), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) पेशियो मे रक्तस्राव (Bleeding) आदि उपद्रव हो सकते हैं। उद्वेष्ठन के समय शरीर के भिन्न भागों मे तथा पेशियों में आघात हो सकता है।

चिकित्सा (क) प्रतिषेध :—धनुकी दण्डाणु के क्षुल्लक (Spore) प्रायः सड़कों पर की धूल में पाये जाते हैं। जिन स्थानों मे मवेशी प्रायः चरते तथा मल परित्याग करते हैं उन स्थानों में भी क्षुल्लक पाये जाते हैं। इसलिये इन स्थानों पर शरीर मे आघात होने से अथवा इन स्थानों की धूलका व्रण से सम्पर्क होने से रोग की अधिक संभावना रहती है। शरीर जल जाने से, विस्फोटक पदार्थों (Explosives) या जूते की काटी से व्रण होने से, माता को प्रसव के पश्चात्, नवजात शिशु को नाभिनाल (Cord) काटते समय, संयुक्त अस्थिभग्न (Compound-fracture) मे तथा औदकवृषण (Hydrocele) के शल्यकर्म (Op) के पश्चात धनुर्वात होने की अधिक संभावना रहती है। इसलिये प्रत्येक व्रण को धूल से बचाना चाहिये, धूल लगने पर स्वच्छ जल तथा साबुन से धोना चाहिये और जब इस रोग के होने की संभावना हो (विशेषकर उपर्युक्त वर्णित अवस्थाओं में) तब **धनुर्वात निरोधी लसिका** (Anti-toxic serum) का इजेक्शन ३०००–६००० अ. इ. पेशीमार्ग (I. M.) से लगा कर रोग से बचाना चाहिये। इस औषधि का प्रभाव केवल एक सप्ताह रहता है इसलिये ६–७ दिन के अन्दर एक वार पुनः इस औषधि का प्रयोग करना अच्छा है क्योंकि कभी-कभी इस रोग का संचयकाल (I.P.) एक सप्ताह से अधिक हो सकता है। इस औषधि की १ विष निरोधी इकाई (Antitoxin unit) २ अं.इ. के बराबर होती है। इसलिये लसिका (Serum) की ३००० अं. इ. १५०० विष निरोधी इकाई के बराबर होती है।

उपर्युक्त विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त प्रत्येक बालक को धनुर्वात, रोहिणी (Diphtheria) तथा कुकुरखाँसी (W. C.) से बचाने मे लिये **टौक्सौयेड** (Toxoid) का प्रयोग किया जाता है। इन तीनों

रोगों का मिश्रित टाक्सायड भी मिलता है। **धनुर्वात टाक्सायड** (Tetanus toxoid) की प्रथम मात्रा १/३ सी. सी. पेशीमार्ग से लगा कर एक-एक मास के अन्तर में २ बार पुनः इसी मात्रा में इंजेक्शन लगाना चाहिये। तत्पश्चात् एक वर्ष बाद चतुर्थ बार १ सी. सी. का इंजेक्शन लगाना चाहिये। **तदुपरान्त** यदि किसी आकस्मिक घटना के कारण शरीर पर आघात हो तब १ सी. सी. औषधि का पुनः प्रयोग करना चाहिये। धनुर्वात टाक्सायड के साथ टी. ए. बी. (T. A. B.) मसूरि (Vaccine) का योग भी मिलता है। इससे धनुर्वात के साथ साथ आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) तथा उप-आन्त्रिक ज्वर (Para-typhoid. A,B.) से भी बचाया जा सकता है। इस औषधि की दो मात्रायें ४–६ सप्ताह के अन्तर में देना चाहिये, तत्पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर एक मात्रा और दे सकते हैं। धनुर्वात टाक्सायड की १ सी. सी. दो बार ६ मास के अन्तर पर देने से २ वर्ष तक रोग की संभावना नहीं रहती। यह विधि प्राय सैनिकों में की जाती है।

(ख) **साधारण चिकित्सा** :—रोगी को अन्धकारमय तथा कोलाहल रहित कमरे में शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। अनावश्यक लोगों को रोगी से मिलने की आवश्यकता नहीं है। व्रण को साबुन तथा हाइड्रोजन परौक्साइड (H_2O_2) से स्वच्छ करना चाहिये। व्रण में किसी प्रकार की गन्दगी रहने पर उसको निकाल देना चाहिये। व्रण पर पेनिसिलीन (P.) की मलहम अथवा धनुर्वात निरोधी लसिका (Tetanus anti-toxin) भी लगा सकते हैं। व्रण के चारों ओर धनुर्वात निरोधी लसिका १०,००० अ० इ. का इंजेक्शन लगाना चाहिये। इस रोग में रोगी को मुख से **आहार** देना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिये नासा अथवा गुदा मार्ग से समबल लवणघोल (N. Saline) में ग्लूकोस ५ प्र. श. मिला कर देना चाहिये। जलाल्पता (Dehydration) बचाने के लिये पर्याप्त मात्रा में जल का प्रयोग करना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था में तरल आहार (पृ० ४) देना चाहिये। धनुर्वात की चिकित्सा में सर्वदा याद रखना चाहिये कि अत्यन्त छुद्र कारणों से भी उद्वेष्टन (Spasm) प्रारम्भ हो जाते हैं इसलिये यथासम्भव रोगी को भोजन, औषधि आदि के लिये बार-बार छेड़ना नहीं चाहिये। इससे लाभ की अपेक्षा अधिक हानि होती है। मूत्राशय में मूत्र-संचय होने पर रबरकी नलिका (Catheter) द्वारा मूत्र निकाल देना चाहिये। आवश्यता

प्रतीत होने पर सिरामार्ग (I.V.) से जल दे सकते है। श्वास लेने में कष्ट प्रतीत होने पर प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिये। ज्वर तीव्र होने पर रोगी का शरीर शीतल जल से पोंछ सकते हैं। रोगी का बल बनाये रखने के लिये ग्लूकोस (Glucose) तथा इनस्यूलीन (Insulin) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। धनुर्वात की चिकित्सा में धनुर्वातनिरोधी लसिका (Anti-toxic serum) के साथ-साथ उद्वेष्टन (Spasm) का रोकना भी अत्यन्त आवश्यक है, इसलिये रोगी को इन्जेक्शन आदि उसी अवस्था में लगाना चाहिये जब रोगी उद्वेष्ठननिरोधी औषधियों (Anti-spasmodics) के प्रभाव में आ जाये अन्यथा इन क्रियाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार लसिका (Serum) देते समय भी रोगी को क्लोरोफौर्म (Chloroform) द्वारा प्रथम सज्ञाहीन कर लिया जाता है।

(ग) विशिष्ट औषधि :—(१) धनुर्वातनिरोधी लसिका (Tetanus anti-toxic-serum) इस रोग की विशिष्ट औषधि है। धनुर्वात के विष (Toxin) की वह मात्रा जो वातनाड़ी-संस्थान (C.N.S.) की कोषाओं (Cells) से मिलकर स्थायी (Fix) हो जाती है उस पर यह औषधि प्रभावहीन है परन्तु विष की वह मात्रा जो इस प्रकार स्थायी होने के पूर्व रक्त या ब्रह्मवारि (C. S. fluid) में स्वतन्त्र रूप से रहती है उसको यह औषधि प्रभावहीन कर देती है। इसलिये विष की इस स्वतन्त्र मात्रा को तत्काल प्रभावहीन करने के लिये तथा रोगी को बार-बार कष्ट न देने के लिये यह आवश्यक है कि औषधि की सम्पूर्ण मात्रा एक बार में ही प्रयोग की जाय। रोग की अवस्था के अनुसार औषधि की १/२ से २½ ल. अं. इ. सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये। यह औषधि सिरामार्ग से उतनी ही प्रभावशाली है जितना की कटिवेध (L. P.) द्वारा। इस मात्रा के प्रयोग करने के पश्चात् सात दिन तक औषधि देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस अवधि के पश्चात् यदि रोगी पूर्ण से रोगनिवृत्त न हो जाये तब सातवें दिन पुनः इस औषधि की १/२ ल. अ. इ. सिरामार्ग से दे सकते हैं रोग की गम्भीर अवस्था में अथवा चिकित्सा प्रारम्भ करने मे विलम्ब होने पर औषधि की प्रथम मात्रा के पश्चात् भी प्र. दि. १/२–१ ल. अं. इ. देने की तब तक आवश्यकता पड़ती हैं जब तक उद्वेष्ठन (Spasm) तथा अनम्यता (Rigidity) पूर्ण-

रूप से शान्त न हो जायें। सिरामार्ग से यदि औषधि देना सम्भव न हो तब पेशीमर्ग (I. M.) से भी औषधि दे सकते है। औषधि देने के पूर्व रोगी की अग्रबाहु (Forearm) की त्वचा मे १ बूँद औषधि अन्तस्त्वक मार्ग (I. D.) से देकर रोगी की औषधि के लिये सहनशीलता (पृ. ६) जान लेना आवश्यक है। औषधि देने के १५ मिनट पूर्व एड्रीनलीन (Adrenaline) १:१००० सी. सी. १/२ अधस्त्वकमार्ग (S. C.) से देने से प्रतिक्रिया (Reaction) होने की सम्भावना नही रहती। प्रतिक्रिया होने पर तत्काल एड्रीनलीन १/२ सी. सी. का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate) १० प्र. श. ५–१० सी. सी. सिरामार्ग (I. V.) से अथवा कोलो कैलसियम (Colo-cal) २ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से लगाने से भी लाभ होता है। धनुर्वात निरोधी लसिका के प्रयोग के समय रोगी को क्लोरोफौर्म (Chloroform) अथवा नाइट्रस औक्साइड (Nitrous oxide) सुँघाकर बेहोश कर लेना अच्छा है।

(२) **पेनिसिलीन 'जी'** (P.G.) की १ ल.अ.इ.प्र. ४ घ. पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते है। औषधि देने का परिणाम अनिश्चित है।

(घ) **लक्षणों की चिकित्सा** :—विशिष्ट चिकित्सा के अतिरिक्त **आक्षेप** (Convulsions) की चिकित्सा (पृ.१४६) अति आवश्यक है। इसके लिये आक्षेपनिरोधी (Anticonvulsants), उद्वेष्टननिरोधी (Antispasmodics) तथा उग्रशामक औषधियों (Sedatives) का प्रयोग किया जाता है। धनुर्वात के आक्षेप साधारण औषधियो से शात नहीं होते। **हृदयातिपात** (Ht : failure), **स्तब्धता** (Shock), **निपात** (Collapse) आदि के लिये कोरामीन (Ce) १·७ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से अथवा अन्य उत्तेजक औषधियाँ (Stimulants) आ. अ. प्रयोग करना चाहिये। रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात् पौष्टिक आहार तथा औषधियो द्वारा रोगी का स्वास्थ्य सुधारना चाहिये। परिश्रम मे शनैःशनैः वृद्धि करे।

मस्तिष्कशोथ (Encephalitis)

परिचय :—मस्तिष्क मे शोथ कई कारणों से होता है। शिर पर आघात या शोथ होने से यह उपद्रव हो सकता है। भारत मे यह रोग विरल हैं। पाषाणगर्दभ (Mumps), रोमान्तिका (Measles) तथा माता का

टीका लगाने (Vaccination) के पश्चात् मस्तिष्कशोथ हो सकता है। इसका एक प्रकार चतुष्पादो (Arthropod) द्वारा फैलता है। निद्रालसी मस्तिष्कशोथ (Encephalitis lethargica) एक विषाणु (Virus) का उपसर्ग माना जाता है। इसके अतिरिक्त यह अकारण (Idiopathic) भी होता है।

मानसिक क्रियाओं तथा वातनाडियो की विकृति, निद्रा के समय में परिवर्तन, पेशियों की दुर्बलता, ज्वर, मस्तिष्कावरण का प्रक्षोभ, (Meningeal irritation), आक्षेप (Convulsions) तथा पार्किनसन आकृति (Parkinsonism) आदि लक्षण होते है। रोग शीतऋतु मे प्रायः युवावस्था में होता है। रोग के प्रारम्भ मे श्लेष्मक ज्वर (Influenza) के समान लक्षण हो सकते हैं। पेशियो मे अनम्यता, (Rigidity) तथा प्रकम्प (Tremors) होते हैं। दोनों ओर की पलकें झुकी हुई (Ptosis) रहती है। रोग की तीव्र अवस्था मे प्रायः ४० प्र.श. रोगियो की मृत्यु हो जाती है। **ब्रह्मवारि** (C. S. fluid) निर्मल रहता है तथा उसमे लसकायाणुओं (Lympho:) की वृद्धि मिलती है। प्रोटीन (Ptn) तथा निपीड़ (Pressure) की अल्पवृद्धि मिल सकती है। लेंगे की कसौटी (Lange's colloidal gold test) मे फिरंगिक (Leutic) प्रकार की वक्रता (Curve) मिलती है। शर्करा तथा क्लोराइड (Cl) की मात्रा प्राकृत रहती है। इस रोग का जो प्रकार पाषाणगर्दभ (Mumps) के पश्चात होता है तथा जो चतुष्पादो (Arthropod) द्वारा फैलता है उनमे **रक्त** में प्रतियोगी (Antibody) का प्रमाण मिलता है तथा संपूरक बंधन कसौटी (Compliment fixation test) अस्त्यात्मक (+) हो सकता है।

चिकित्सा (१) साधारण .—इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है। लक्षणों की चिकित्सा की जाती है। रोगी को उपद्रवों से बचाना चाहिये। रोगी की परिचर्या अच्छी होनी चाहिये। मूत्र-संस्थान मे उपसर्ग, मूत्र निरोध (Retention) अधोसंचयी रक्ताधिक्य (Hypostatic congestion) आदि उपद्रव हो सकते हैं। शीर्षान्तरीय निपीड (Intracranial tension) की वृद्धि रहने पर अनेक वार कटिवेध (L. P.) करने से लाभ हो सकता है। कब्ज, बेचैनी, निद्रा न आना, ज्वर, पीड़ा आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर मे कोनीन (Q)

ग्रे. ३ या क्रायोजेनीन (Cryogenin) ग्रे. २ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। आक्षेप (Convulsions) होने पर आक्षेपनिरोधी औषधियाँ (Anti-convulsants) देना चाहिये।

(२) **अन्य चिकित्सा** :—इस रोग मे समय समय पर अनेक **औषधियाँ** प्रयोग की गई हैं जैसे :—सोडी सैलिसिलस (Sodi:salicylate) २½ प्र. श. २०–४० सी. सी. या १० प्र.श. २–८ सी. सी. सिरामार्ग (I.V) से प्र. दि. कर ६ बार या हेक्सामीन (Hexamine) ४० प्र. श. १–५ सी. सी. सिरामार्ग से द्वि. प्र. दि. या ग्रे. १० मुख से त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। इलेक्ट्रागोल (Electrargol) का इन्जेक्शन या टी. सी. सी. ओ. (T.C.-C. O.) का मि. ५–१० अधस्त्वकमार्ग (S. C.) से इंजेक्शन लगा कर विद्रधि की उत्पत्ति की जाती है।

षष्ठम अध्याय

अन्तःस्रावो ग्रन्थियों (Endocrines) के रोग

अग्न्याशय (Pancreas) के रोग।

(अ) तीव्र अग्न्याशय शोथ (Acute pancreatitis)।

परिचय :—इस रोग मे अकस्मात आमाशयोर्ध्व प्रान्त (Epigastrium) में तीव्र **पोड़ा** तथा **निपात** (Collapse) होता है। निपात की प्रधानता के कारण ज्वर अनियमित होता है। पीड़ा हर समय एक समान रहती है या न्यूनाधिक होती रहती है। इसका **संवहन** स्कंध (Shoulder), पृष्ठवश (Spine) या कटिप्रदेश की दिशा में होता है। आमाशयोर्ध्व प्रान्त मे दबाने से पीड़ा होतो है तथा अनम्यता (Rigidity) मिलती है। वमन, आध्मान (Tympanites), कब्ज, आन्त्रघात (Paralytic ileus) आदि लक्षण मिल सकते हैं।

निदान :—रोग के लक्षणों के अतिरिक्त **रक्त** में श्वेतकणो (WBC) की प्रायः वृद्धि मिलती है। **लसिका** (Serum) मे अमाइलेस तथा लाइपेस (Amylase, lypase) की मात्रा बढ़ जाती है। **मूत्र** में शर्करा मिल सकती है। पित्ताशयशोथ (Cholecystitis), प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) या अजीर्ण (Dyspepsia) का इतिहास मिल सकता है।

चिकित्सा :—इस रोग मे वाहिनी-वातनाड़ी का निपात (Vasomotor collapse) होने के कारण स्तब्धता (Shock) के लक्षण होते हैं, इसलिये रोग की चिकित्सा रोगी की अवस्था के अनुसार करनी चाहिये। आधुनिक काल मे तीव्र अग्न्याशय शोथ तथा तीव्र उदरावरण शोथ (Peritonitis) ऐसे मारक रोगों की चिकित्सा औषधियों द्वारा ही करने का प्रयत्न करना चाहिये। औषधियों से लाभ न होने पर आ. अ. शल्यकर्म (Op.) करना चाहिये।

(क) **साधारण** :—रोगी को मुख से आहार या जल नहीं देना चाहिये। रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। उसके नासामार्ग से राइल की नलिका (Ryle's tube) प्रवेश कर पिचकारी के द्वारा निरन्तर आमाशय (St:) मे जो पदार्थ संचय होता हो, उसको निकाल देना चाहिये। प्रति आध

घटे रोगी की नाड़ी, श्वसन की गति तथा रक्तनिपीड़ (B. P.) देखते रहना चाहिये। रक्त मे श्वेतकणो (WBC) की संख्या; शर्करा, आमाइलेस तथा लाइपेस (Amylase, lipase) की मात्रा का पता लगाना चाहिये। श्वेतकणो की सख्या का पता लगाने से शोथ की स्थिति का ज्ञान होता है।

(ख) **लक्षणों की चिकित्सा** :—**स्तब्धता** (Shock) के लिये सिरामार्ग (I. V.) से तत्काल समबल लवण घोल (N. saline) पा. १–२, ग्लूकोस (Glucose) ५ प्र. श. पा. १–२ तथा रक्तरस (Plasma) पा. १/२–१ देना चाहिये। रोगी की अवस्था के अनुसार इन औषधियो की मात्रा निर्धारित करनी चाहिये। इनमें रक्तरस सर्वोत्तम है। आ. अ. इन औषधियो को अनेक बार दे सकते हैं। **पीड़ा** के लिये डेमेरौल (Demerol) मि. ग्रा. १००, मौरफीन ग्रे. १/४ तथा एट्रोपीन ग्रे. १/१०० (यो.१११) आदि अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से त्रि. या. चा. प्र. दि. दे सकते हैं। ग्रहणी (Duodenum) तथा अग्न्याशय वाहिनी (Pancreatic duct) के **उद्वेष्टन** (Spasm) को रोकने के लिये अमिलनाइट्रस (Amylnitras) का कै. १ रूमाल मे तोड़कर सूँघाना चाहिये या नाइट्रोग्लिसरीन (Tab : trinitrini) ग्रे. १/१०० की गो. १ जिह्वा के नीचे रखने के लिये देना चाहिये। टेट्राएथिल अमोनियम (Tetra-ethyl ammonium) के इन्जेक्शन से भी पीड़ा कम होती है। उद्वेष्ठन मे कमी होने से पीड़ा कम होती है। **उपसर्ग** के लिये पेनिसिलीन (P), स्ट्रेप्टोमायसीन (Str), औरियोमायसीन (Au) आदि का प्रयोग करना चाहिये।

(ग) **स्तब्धता के पश्चात की चिकित्सा** :—रक्तपरीक्षा आदि से यदि शोथ मे कमी प्रतीत हो तब औषधियो द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिये अन्यथा शल्यकर्म (Op.) करना चाहिये। रोगी को दो दिन तक मुख से कोई पदार्थ नहीं देना चाहिये तथा राइल की नलिका (Ryle s tube) द्वारा उसका आमाशय निरन्तर खाली रखना चाहिये। तत्पश्चात आमाशय खाली करने की क्रिया शनैः शनैः बन्द कर रोगी को तरल आहार (पृ ४) देना चाहिये। रोगी की अवस्था में सुधार होने पर आहार की वृद्धि करना चाहिए। आहार मे वसा (Fat) की मात्रा कम होनी चाहिये। मद्य का प्रयोग नहीं करना चाहिये। रक्तपरीक्षा द्वारा शोथ की स्थिति देखते रहना चाहिये। शोथ मे कमी न होने पर शल्यकर्म (Op) आवश्यक है। सिरा-

मार्ग (I. V.) से ग्लूकोस, समबल लवण घोल बराबर देते रहना चाहिये। अग्न्याशय के स्राव को कम करने के लिए एट्रोपीन (Atropine sulph) अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से ग्रे. १/१०० द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिए। **रोगनिवृत्त** हो जाने पर रोग के कारण का पता लगाना चाहिए तथा उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए। पित्ताशय (Gall bladder) या पित्त वाहिनियो (Biliary passages) मे शोथ, पित्ताश्मरी (Stone), अथवा प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) आदि रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए, अन्यथा रोग के पुनरागमन की सम्भावना रहती है। प्रपाचीय व्रण की चिकित्सा के समान अम्लनिरोधी (Antacids) औषधियाँ तथा बेलाडोना आदि बराबर देना चाहिए। टि. बेलाडोना (Tr. belladonna) मि. ८ या बेलाडोना सत्व (Ext : belladonna) ग्रे. १/४ त्रि. प्र. दि. देना चाहिए। निदान के विषय मे शका रहने पर रोगविनिश्चिति के लिए शल्यकर्म (Op) द्वारा कभी कभी उदर को खोलने की आवश्यकता पड़ती है।

(आ) चिरकालीन अग्न्याशयशोथ (Chro : pancreatitis)। अग्न्याशय से दो स्राव निकलते हैं। प्रथम स्राव जिसको **बाह्यस्राव** (Ext: secretion, pancreatic juice) कहते है, ग्रहणी (Duodenum) में जाकर भोजन पचाने मे मदद करता है। द्वितीय स्राव अग्न्याशय का अन्तःस्राव होता है। इसको इन्स्यूलीन (Insulin) कहते हैं। यह कार्बोज (Cho) के समवर्त (Mbm.) मे मदद करता है। अग्न्याशय के चिरकालीनशोथ मे अग्न्याशय मे तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) होता है और परिणामस्वरूप यदि अग्न्याशय के अन्तःस्राव मे कमी होती है तब मधुमेह (Diabetes) होता है और जब बाह्यस्राव मे कमी होती है तब पचनक्रियाएँ विकृत हो जाती हैं। अग्न्याशय मे विकृति, शोथ, उपसर्ग, अश्मरी (Stone), घातक अर्बुद (Malignant disease), धमनीजरठता (Arteriosclerosis), प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer), यकृतशोथ (Hepatitis), पित्ताशयशोथ (Cholecystitis), पित्तवाहिनीशोथ (Cholangitis), आदि के कारण होती है। आमाशयोर्ध्व प्रात (Epigastrium) मे बार-बार पीड़ा होना, उदर दबाने से पीड़ा, मल मे वसा (fat) की वृद्धि, कार्बोज (Cho) के समवर्त (Mbm.) मे विकृति मूत्र मे शर्करा, आध्मान (Tympanites), कभी-कभी कामला (Jaundice), अजीर्ण आदि लक्षण

होते हैं। मल अनियमित हो जाता है। मल मात्रा में अधिक, दुर्गन्धित, वसा-युक्त तथा सफेद होता है। मल में अपचित आहार के अवशेष मिलते हैं।

चिकित्सा :—रोग के कारण का निवारण तथा लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन में वसा (Fat) और प्रोटीन (Ptn) की मात्रा कम, कार्बोज (Cho) तथा कैलसियम (Cal:) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। मद्यपान वर्जित है। मधुमेह (Diabetes) रहने पर, उसके अनुकूल आहार मे परिवर्तन करना चाहिये तथा मधुमेह की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) रहने पर फेरसफल्फ (Ferrus: sulph:) ग्रे. ३ त्रि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये तथा यकृत सत्व (Liver ext :) सी. सी. २ पेशीमार्ग से द्वि. या त्रि प्र. स. देना चाहिये। अग्न्याशय के बाह्यस्राव मे कमी रहने पर अग्न्याशयसत्व (Pancreatin) ग्रे. ५–१५ त्रि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये तथा प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Protein Hydrolysate), कोलीन (Choline) आदि देना चाहिये। जीवतिक्ति 'ए', 'बी' तथा 'डी' (Vit : A,B,D.), खमीर तथा जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multi vit) देना चाहिये। आन्त्र को स्वच्छ रखने के लिये उदनीरिकाम्ल (Hcl : dil :) मि. १२–६० त्रि. प्र. दि. भो. प. तथा सौरबिटान मोनोओलियेट (Sorbitan-mono-oleate) देना चाहिये। इस रोग मे वसा (Fat) तथा कैलसियम (Cal :) के प्रचूषण मे कमी होती है परन्तु कभी-कभी, अग्न्याशय मे कैलसियम (Cal :) सञ्चय होता है। इसका प्रमाण अग्न्याशय की क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) करने से मिल सकता है। रक्त मे कैलसियम की मात्रा कम रहने पर कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate) १० प्र. श. ५–१० सी. सी. सिरामार्ग से द्वि. प्र. स. या ग्रे. १० त्रि. प्र. दि. मुख से देना चाहिये।

(इ) मधुमेह (Diabetes)।

परिचय :—इस रोग मे किसी अज्ञात कारण से कार्बोज (Cho) के समवर्त (Mbm.) मे विकृति होती है। यह विकृति इन्स्यूलिन (Insulin) के प्रयोग से ठीक होती है। परन्तु इसके कारणो मे इन्स्यूलिन की कमी के अतिरिक्त और भी कोई कारण प्रतीत होता है। चिन्ता, उपसर्ग (Ifn .), कार्बोज प्रधान आहार, विश्रामप्रियता आदि से भी इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत होता है। मधुमेह किसी भी आयु मे हो सकता है।

विकृति विज्ञान :—प्राकृत अवस्था मे मनुष्य जो **कार्बोज** (Cho) खाता है वह आंत्र मे परिवर्तित होकर **ग्लूकोस** (Glucose) के रूप मे आत्र से प्रचूषित (Absorb) होता है। यह ग्लूकोस **ग्लाइकोजेन** (Glycogen) बनता है तथा यकृत और पेशियों में संचित होता है। पेशियाे जब कार्य करती हैं तब इनस्यूलिन के प्रभाव से ग्लाइकोजेन प्राणवायु (O_2) से मिलकर कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) तथा जल में परिवर्तित होता है। कार्बन डायोक्साइड का फुफ्फुस से तथा जल का वृक्क से परित्याग होता है। इस क्रिया मे ताप तथा शक्ति की उत्पत्ति होती है।

हेक्सोकायनेस सिद्धान्त (Hexo-kinase theory) :—इस सिद्धान्त से शरीर मे हेक्साकाइनेस अन्तःकिण्व (Hexo-kinase-enzyme) ग्लूकोस के समवर्त (Mbm.) मे सहायता देता है। इस अन्तःकिण्व के कार्य पर पूर्वपियूषग्रन्थि सत्व (Ant: pituitary ext:) तथा इन्सुलिन का प्रभाव पड़ता है। इन दोनो का प्रभाव एक दूसरे के विपरीत है। पीयूष ग्रन्थि सत्व कार्बोज (Cho) को नष्ट होने से बचाता है तथा इन्स्यूलिन पीयूषग्रन्थि सत्व के प्रभाव को नष्ट करता है जिससे हेक्साकइनेस कार्बोज का समवर्त कर सके। परिणामस्वरूप जब पीयूष ग्रन्थि सत्व की अत्यधिक वृद्धि होती है जैसे शाखावृहति (Acromegly), कशिंग का संरूप (Cushing syndrome) आदि मे तब इन्स्यूलीन कार्बोज का नाश नहीं कर सकता और मूत्र में शर्करा जाती है। इसलिये इक्षुमेह (Glycosuria) जब पीयूषग्रंथि के स्राव की अधिकता के कारण होता है तब इन्स्यूलिन देने से लाभ नहो होता।

प्राकृत अवस्था मे रक्त-शर्करा उपवास के समय (Fasting-blood-sugar) मि. ग्रा. ९०–१२० प्रति १०० सी. सी. रक्त मे रहती है। यह मात्रा जब १८० मि. ग्रा. हो जाती है तब मूत्र मे शर्करा आने लगती है। इस मात्रा को वृक्कदेहली (Renal threshold) कहते है। प्राकृत अवस्था मे भोजन करने पर भी रक्त मे शर्करा की मात्रा वृक्कदेहली से कम रहती है इसलिये मूत्र मे शर्करा नहीं आती। अत्यधिक शर्करा का प्रयोग करने से सम्भव है कि रक्तशर्करा वृक्कदेहली से अधिक हो जाय तथा मूत्र मे शर्करा आने लगे। इसको **पचन इक्षुमेह** (Alimentary gycosuria) कहते है। यह भी सम्भव है कि किसी मनुष्य मे वृक्कदेहली प्राकृत से कम हो, इस अवस्था

मे रक्त-शर्करा प्राकृत रहने पर भी मूत्र मे शर्करा आ सकती है। इस अवस्था-को **वृक्कैक्षुमेह** (Renal glycosuria) कहते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि निम्न अवस्थाओ मे **मूत्र में शर्करा** आ सकती है :—

(१) अत्यधिक कार्बोज (Cho) के प्रयोग से। इसको **पचन कृच्छ्र मेह** कहते है। (२) वृक्कदेहली (Renal threshold) कम हो जाने से। इमको **वृक्कैक्षुमेह** (Renalglycosuria) कहते हैं। (३) इन्स्यूलिन (Insulin) की कमी के कारण। इसको **मधुमेह** (Diabetes mellitus) कहते हैं। (४) **पूर्व पीयूषग्रन्थि सत्व** (Ant : pituitary ext :) के मधुमेहजनक (Diabetogenic) स्राव की वृद्धि के कारण। यह अवस्था शाखावृहति (Acromegaly) तथा कशिग के सरूप (Cushing's syndrome) में मिलती है। (५) **यकृत** के रोगो मे यकृत मे मधुजन (Glycogen) सचय न हो सकने के कारण। (६) **मस्तिष्क** के चतुर्थ निलय (Ventricle) के आधार (Base) मे आघात, रक्तस्राव (Bleeding),अर्बुद तथा शोथ (Meningitis) होने से (७) **उपवृक्क**(Adrenal) के स्राव की वृद्धि होने से अथवा एड्रीनलीन (Adrenaline) के इन्जेक्शन से। (८) **अवटुकाग्रंथि** (Thyroid) के स्राव की वृद्धि होने से जैसा उदच्चि गलगण्ड (Exophthalmic goitre) मे होता है अथवा अवटुकाग्रथिसत्व (Thyroid-ext:) के प्रयोग करने से। (९) **प्राणवायु** (O_2) की कमी के कारण जैसे गलपाशन (Strangulation), कार्बन मोनोक्साइड (CO) अथवा अफीम (Opium) की विषाक्तता, सर्वाङ्ग सज्ञाहर औषधि (Generel anaesthetic) के प्रयोग से अथवा अत्यधिक कार्बन डायोक्साइड (CO_2) युक्तवायु मे श्वास लेने से। इस अवस्था मे प्राणवायु की कमी के कारण शरीर मधुजन (Glycogen) को शर्करा मे परिवर्तित करता है जिससे शरीर के धातु (Tissues) शर्करा से प्राणवायु पा सके।

नोट :—उदकमेह (Diabetes insipidus) मे पीयूषग्रन्थि (Pituitary) के पश्चिम खड (Post : lobe) के मूत्रलविरोधी स्राव (Anti diuretic hormone) मे कमी हो जाती है। इसलिये मूत्र मे अत्याधिक मात्रा मे जल का परित्याग होता है। इसमे मूत्र मे **शर्करा नहीं मिलती**। यह विकृति पीयूषग्रथि के अर्बुद (Tumour) मे मिलती है।

प्राकृत अवस्था में कार्वोज (Cho), प्रोटीन (Ptn) तथा वसा (Fat) के समवर्तों (Mbm) का आपस में घनिष्ट संबन्ध है। मधुमेह में शर्करा का समवर्त ठीक से न होने के कारण प्रोटीन तथा वसा का समवर्त भी विकृत हो जाता है। प्राकृत अवस्था में मनुष्य प्रधानतः शर्करा से शक्ति (ताप) प्राप्त करता है। कार्वोज (Cho) से शर्करा १०० प्र. श., प्रोटीन (Ptn) से ६० प्र. श. तथा वसा से १० प्र. श. मिलती है। मधुमेह में कार्वोज का समवर्त न होने के कारण शरीर प्रोटीन तथा वसा से शर्करा प्राप्त करता है। इस प्रकार रोगी के शरीर में वसा तथा प्रोटीन की कमी होने लगती है और रोगी दुर्बल हो जाता है।

मधुमेह में अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की उत्पत्ति :—

वसा (Fat)

शर्करा के समवर्त (Mbm) में विकृति होने के कारण वसा को प्राणवायु (O_2) नहीं मिलती। →

↓

कीटोन (Ketone) की उत्पत्ति + रक्त के बाईकार्बोनेट (Bicarbonate) से संयोग

↓ ← कार्बन डायोक्साइड (CO_2) का परित्याग

रक्त में सेन्द्रिय अम्ल (Organic acids) के स्थायी लवण (Fixed salts) की उत्पत्ति

↓

शरीर के क्षार (Alkalis) की मात्रा में कमी होने के कारण अम्लोत्कर्ष की उत्पत्ति।

निष्कर्ष :—इस प्रकार हम देखते है कि कार्वोज (Cho) के समवर्त (Mbm) मे विकृति होने के कारण मूत्र द्वारा शर्करा का परित्याग होता है।

भोजन द्वारा जो शर्करा रोगी लेता है, इनस्यूलिन (Insulin) की कमी के कारण वह शर्करा ताप (शक्ति) नहीं उत्पन्न कर सकती, परिणामस्वरूप शरीर यकृत से ग्लाइकोजेन (Glycogen) लेता है और शरीर में कार्बोज की कमी होती है। इन्सूलिन की कमी के कारण शरीर इस ग्लाइकोजेन से भी ताप नहीं ले पाता परिणामस्वरूप वह शरीर के (Ptn) तथा वसा (Fat) को शीघ्रता से नष्ट कर ग्लूकोस उत्पन्न करता है और उससे ताप उत्पन्न करनेका प्रयत्न करता है। परिणामस्वरूप रोगी दुर्बल होने लगता है। इस प्रकार ताप की उत्पत्ति के लिये शरीर को वसा का शीघ्रता से नाश करना पड़ता है। **प्राकृत अवस्था** में जब वसा का समवर्त (Mbm.) होता है तब कीटोन (Ketone bodies) की उत्पत्ति होती है। ये कीटोन अम्ल (Acid) प्रकृति के होते हैं और इनका धातु (Tissues) में नाश होकर कार्बन डायोक्साइड (CO_2) तथा जल की उत्पत्ति होती है। प्रथम पदार्थ का फुफ्फुस से तथा जल का मूत्र से परित्याग होता है। **कार्बोज का समवर्त** विकृत हो जाने पर कीटोन की जिस शीघ्रता से उत्पत्ति होती है शरीर के धातु (Tissues) उतनी शीघ्रता से कीटोन का नाश नहीं कर पाते और कीटोन रक्त में संचय होता है। रक्त मे कीटोन शरीर के बाइकार्बोनेट (Bicarbonate) से मिल कर स्थायी लवण (Fixed salts) की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार शरीर में क्षार (Alkali) की कमी हो जाती है और **अम्लोत्कर्ष** (Acidosis, ketosis) के लक्षण उत्पन्न होते है। रक्त मे कीटोन जो अधिक मात्रा में रहता है और क्षार से नहीं मिल सकता उसका मूत्र द्वारा परित्याग होता है और मूत्र में कीटोन मिलने लगता है। कीटोन तीन प्रकार का होता है एसीटोन (Acetone), एसीटोऐसेटिक एसिड (Aceto-acetic acid), बीटा हाइड्रोक्सी ब्यूटरिक एसिड (B–hydroxybutyric acid)।

शरीर में वैकृतिक (Patho) परिवर्तन :—अग्न्याशय (Pancreas) नेत्र द्वारा अथवा सूक्ष्मदर्शक यंत्र (Microscope) द्वारा देखने से प्रायः प्राकृत ही लगता है। चिरकालीन अवस्था मे लैंगरहान के द्वीप (Islets of Langerhans) में अपजनन (Degeneration), तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) अपुष्टि (Atrophy) आदि परिवर्तन मिल सकते हैं। हथेली पर तथा पैरों के तलवे पर पीतवर्ण का रागक (pig) संचय होता है।

धमनियों (Arteries) की भित्ती में व्यापक परिवर्तन होते हैं। वह कड़ी हो जाती है। उनमें धमनीजरठता (Arteriosclerosis), भित्तिव्रण (Atheroma) आदि परिवर्तन होते हैं। भित्ती में कैलसियम (Cal:) संचय होता है। परिणामस्वरूप घनास्रता (Thrombosis), उच्च रक्त-निपीड़ (B.P.), अन्तःशल्यता (Embolism) आदि उपद्रव होते हैं और कर्दम (Gangrene) की उत्पत्ति होती है। हृत्धमनी (Coronary) का मार्ग अवरुद्ध (Obst) हो जाने के कारण हृत्पेशी (Myocardium) का अपजनन (Degeneration) होता है। परिसरीय रक्तवाहिनियों (Peripheral B.V.) में अवरोध होने के कारण त्वचा का पोषण ठीक से नहीं हो पाता और पोषणाभाव तथा उपसर्ग (Ifn) के कारण पैर पर व्रण [Perforating ulcer) होते हैं। उच्च रक्त निपीड़ तथा हृत्पेशी (Myocardium) के अपजनन (Degeneration) के कारण दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.) तथा हृत्धमनी (Coronary) की विकृति के कारण वामहृदयातिपात (Lt: Ht: failure), हृच्छूल (Angina) आदि उपद्रव होते हैं।

कारण :—रोग का वास्तविक कारण अज्ञात है। चिन्ता, उपसर्ग (Ifn) विश्रामप्रियता, भोजन में कार्बोज (Cho) तथा वसा (Fat.) की प्रधानता, स्थूल प्रकृति, स्तब्धता (Shock), कुल का प्रभाव (Heredity), वातरक्त (Gout), फिरङ्ग (Syphilis), अग्न्याशय (Pancreas) के रोग, जीवतिक्ति 'बी' (Vit: B.) की कमी आदि से मधुमेह का सम्बन्ध प्रतीत होता है।

निदान :—अत्यधिक क्षुधा (Polyphagia), अत्यधिक मात्रा में मूत्र परित्याग (Polyuria), अत्यधिक प्यास (Polydipsia) तथा भार में कमी निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण लक्षण हैं।

परीक्षायें :—रोगविनिश्चिति के लिये आवश्यक है कि **मूत्र** तथा **रक्त** में शर्करा की मात्रा के लिये देखा जाय। शंका रहने पर **शर्करा के सहनशीलता** (Glucose tolerance test) **की कसौटी** भी की जाती है। साधारणतः मूत्र में शर्करा का मिलना निदान की दृष्टि से पर्याप्त प्रमाण है। शर्करा सहनशीलता की कसौटी करने के लिये १२ घंटे उपवास के पश्चात प्रातःकाल खाली पेट रक्त लेकर उसमें शर्करा

(Fasting blood sugar) के लिये देखा जाता है। रक्त लेने के तत्काल पश्चात रोगी को ग्लूकोज ग्रा. १०० खाने को दिया जाता है, तत्पश्चात प्रति १/२ घण्टे पर ४–५ बार रक्त लिया जाता है तथा उसमें शर्करा की मात्रा का पता लगाया जाता है। **प्राकृत अवस्था** में उपवास के पश्चात १०० सी. सी. रक्त में शर्करा मि. ग्रा. ८०–१२० रहती है। ग्लूकोज लेने के पश्चात यह मात्रा बढ़ती है परन्तु १८० मि. ग्रा. से कम रहती है और ग्लूकोज लेने के दो घण्टे के अन्दर यह मात्रा पुनः प्राकृत होकर पूर्ववत हो जाती है। **मधुमेह** में उपवास के समय १०० सी. सी. रक्त में शर्करा १२० मि. ग्रा. से २०० मि. ग्रा. तक रह सकती है और दो घण्टे के पश्चात भी वह पूर्व मात्रा पर नहीं आती तथा प्रायः १४० से अधिक रहती है। यह परीक्षा साधारणतः निश्च्यात्मक है परन्तु यह कसौटी करने के **दो दिन पूर्व** रोगी को कार्बोज (Cho) प्रधान आहार लेना चाहिये। वसा (Fat) प्रधान आहार लेने से स्वस्थ मनुष्य में भी कार्बोज पचाने की शक्ति कम हो जाती है और उपर्युक्त परीक्षा में मधुमेह के समान ही रक्त शर्करा की मात्रायें मिल सकती हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मधुमेह में केवल उपवास के समय की रक्त शर्करा पर निर्भर करना ठीक नहीं है क्योंकि कभी कभी मधुमेह में भी यह मात्रा प्राकृत हो सकती है। वृद्धावस्था तथा वृक्क के रोगों में वृक्कदेहली (Renal threshold) जानने के लिये रक्तशर्करा के साथ साथ मूत्रशर्करा की परीक्षा करनी चाहिये। वृक्कदेहली यदि १८० मि. ग्रा. से अधिक हो तब चिकित्सा की दृष्टि से मूत्रशर्करा की अपेक्षा रक्तशर्करा पर निर्भर करना अच्छा है। मूत्र में शर्करा रहने पर एसिटोन (Acetone) के लिये अवश्य देखना चाहिये। शर्करा के लिये भोजन के २ घण्टे पश्चात जो मूत्र परित्याग हो उसकी परीक्षा करनी चाहिये।

चिकित्सा :—चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोगी के सब संस्थानों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। रोगी के इतिहास पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

(क) **प्रतिषेध** :—रोग के कारणों से यथासम्भव बचने का प्रयत्न करना चाहिये। उपसर्ग (Ifn), कब्ज आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। शरीर का भार विशेष कर ४० वर्ष की आयु के पश्चात प्राकृत भार से अधिक होने से रोकना चाहिये। इसके लिये आहार में कार्बोज (Cho)

की मात्रा साधारण, प्रोटीन (Ptn) की अधिक तथा वसा (Fat) की मात्रा अत्यल्प होनी चाहिये। एक बार मे अधिक मात्रा मे भोजन नही करना चाहिये। जीवतीक्ति 'सी' तथा निकोटिनिक एसिड (Vit : C.,vit : B_7) का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिये। साधारण व्यायाम, सप्ताह मे एक बार उपवास तथा भोजन के पश्चात विश्राम, करना चाहिये।

(ख) **आहार :—**मधुमेह की चिकित्सा मे आहार का विशेष महत्व है। चिकित्सक को प्रयत्न करना चाहिये कि रोगी जितने भोजन का समवर्त (Mbm) कर सके उतना ही भोजन उसको दिया जाय। रोगी यदि शरीर की आ. अ. कोर्बोज (Cho) का समवर्त नही कर सकता है तब **इन्स्यूलिन** (Insulin) से सहायता लेनी चाहिये। **यदि रोगी का भार प्राकृत है** और बिना इनस्यूलिन के प्रयोग के केवल आहार मे परिवर्तन अथवा कमी करने से मूत्र तथा रक्त शर्करा प्राकृत हो जाती है तब इन्स्यूलिन के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है परन्तु यदि आहार मे कमी करने से रोगी के भार मे भी कमी होने लगती है तब रोगी को उतना आहार तथा इन्स्यूलिन देना आवश्यक है जिससे उसके भार मे कमी न हो। **यदि रोगी का भार प्राकृत से अधिक है** और भोजन कम करने से शर्करा प्राकृत हो जाती है परन्तु भार मे कमी होने लगती है तब जब तक भार कम होकर प्राकृत नहीं होता इन्स्यूलिन की अवश्यकता नहीं है। भार प्राकृत होने के पश्चात् यदि उसको प्राकृत रखने के लिये इन्स्यूलिन देना आवश्यक हो तब इन्यूलिन देना चाहिये। यदि चिकित्सा के पूर्व **रोगी का भार प्राकृत से कम** है तथा उसके शरीर मे आवश्यक आहार का सवमर्त करने की शक्ति नही है तब उसको भोजन तथा इस्यूलिन उतना ही देना चाहिये जिससे उसका भार प्राकृत हो जाय तथा प्राकृत रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मधुमेह की चिकित्सा मे **रोगी का भार, भोजन** तथा **इन्स्यूलिन** का घनिष्ट सम्बन्ध है और इनकी मात्रायें निश्चय करना पड़ता है। रोगी का भार, आयु देश, प्रान्त, वंश (Race) आदि पर निर्भर करता है। परन्तु फिर भी भारतबर्ष मे मध्यावस्था के पश्चात् की आयु वाले मनुष्य की ऊँचाई यदि ५ फिट हो तब उसका भार ११०–११५ पौ. होना चाहिये। इसके ऊपर प्रति इञ्च उँचाई अधिक होने पर भार मे ५ पौं. प्र. इंच की वृद्धि होनी चाहिये। इन्स्यूलिन (Insulin) की मात्रा निर्धारित करते समय यह याद रखना चाहिये कि इन्स्यूलिय की १ अं. इ. कार्बोज (Cho) ग्रा. २ का समवर्त करती है।

इस प्रकार दिन भर मे जितना कार्बोज दिया जाय उसको दो से भाग देने से इन्स्यूलिन की प्र. दि. की मात्रा का पता चलता है।

चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व **रोग की स्थिति** का पता लगाना चाहिये। इसके लिये भोजन मे शर्करा, चावल तथा आलू एक दम बन्द कर देखना चाहिये कि इसका मूत्र की शर्करा पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि केवल इतने ही सयम से मूत्र से शर्करा गायब हो जाय तथा इसका भार पर कोई कुप्रभाव न पडे तब कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं है। इस रोगी मे इन्स्यूलिन की आवश्यकता नहीं है। केवल संयम से काम चल सकता है। उपर्युक्त सयम पर भी यदि ½–२ प्र. श. शर्करा मूत्र में आये तब भी सम्भव है कि संयम के साथ-साथ साधारण **व्यायाम** करने से पर्याप्त लाभ हो तथा इनस्यूलिन की आवश्यकता न पड़े। परन्तु यदि इस परहेज पर भी मूत्र मे १ प्र. श. से अधिक शर्करा आये तब रोगी का भार प्राकृत रखने तथा कार्बोज के समवर्त (Mbm.) मे सहायता करने के लिये इंस्यूलिन का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि इनस्यूलिन मधुमेह की विशिष्ट अथवा रोग की प्रत्येक अवस्था के लिये अनिवार्य औपधि नही है। जीवनपर्यन्त इन्स्यूलिन का दास बनना ठीक नहीं है। रोग के उपद्रवो मे यह अनिवार्य अवश्य है और जब अन्य उपायो से आवश्यक मात्रा में कार्बोज (Cho) का समवर्त सम्भव नहीं होता तब इन्स्यूलिन की सहायता लेनी पड़ती है। साधारणतः अनेक रोगियों मे यह सम्भव होता है कि **संयम** तथा **व्यायाम** से रोग के लक्षणो का शमन हो जाय और इन्स्यूलिन की आवश्यकता न हो, इसलिये चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व यह निर्धारित कर लेना चाहिए कि रोगी को इन्स्यूलिन की आवश्यकता है या नही।

भोजन द्वारा मधुमेह की चिकित्सा :—इस चिकित्सा का सिद्धात है कि भोजन मे कार्बोज (Cho) कम कर देने से अग्न्याशय (Pancreas) को विश्राम मिलता है। यह सम्भव है कि कुछ समय विश्राम करने के पश्चात् अग्न्याशय पुनः कार्य करने लगे और बिना इन्स्यूलिन के प्रयोग के आहार मे वृद्धि की जा सके। साथ साथ यदि चिकित्सा की अवधि मे शारीरिक परिश्रम मे भी कमी की जाये तब रोगी का कार्यक्रम साधारण कैलोरी (C) वाले आहार से भी चल सकता है। यह सिद्धान्त निरअपवाद नहीं है। कार्बोज मे अत्यधिक कमी करने से मूत्र मे एसिटोन (Acetone) आने

लगता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि कार्बोज (Cho) के साथ-साथ वसा (Fat) मे भी कमी करने से एसिटोन बनने की सम्भावना कम हो जाती है और साधारण मात्रा मे यदि एसिटोन बनता भी है और यदि वह कोई अनिष्टकारी लक्षण उत्पन्न नहीं करता तब कोई विशेष चिन्ता का विषय नहीं है। कुछ समय पश्चात् जब अग्न्याशय पुनः इन्स्यूलिन का निर्माण प्रारंभ कर देगा तब स्वयं ही एसिटोन का बनना समाप्त हो जायगा। इस चिकित्सा को करते समय रोगी का बराबर निरीक्षण करना आवश्यक है।

भोजन मे कार्बोज (Cho) मे कमी निम्नक्रम से की जाती है :—

(१) **प्रथमक्रम (क) प्रातः ७ बजे तथा सायंकाल ३ बजे :—** दूध तथा विना चिनी के १ प्याला चाय, शर्करारहित फल (पृ.६) तथा लवण के साथ शाक क्षुधाकी तृप्ति के अनुसार दे। (ख) **मध्याह्न** तथा रात्रि मे :—सब्जी का सूप नमक तथा कागजी नीबू के साथ, दाल १ छ., शर्करारहित तथा उबाली हुई तरकारियाँ (पृ.६) ४ छ., छेना १ छ. दे। मासाहारी रोगी को छेने के स्थान पर अडा १ या मछली १ छ. या मास १ छ. दे सकते है। इस भोजन से रोगी को प्र. दि. केवल १००० कैलोरी (C) मिलती है इसलिये रोगी को अत्यल्प परिश्रम करना चाहिये। जल की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिये।

(२) **द्वितीय क्रम :—**यदि उपर्युक्त क्रम से दो सप्ताह भोजन देने के पश्चात् भी मूत्र मे शर्करा का आना बन्द न हो तब रोगी को केवल दुग्ध, शर्करा-रहित उबली तरकारी, एक सेव तथा टोमेटो प्र. दि. देना चाहिये।

(३) **तृतीय क्रम :—**यदि तृतीय क्रम से भी मूत्र शर्करारहित न हो तब केवल दूध २ छ. प्र. ४ घं. देना चाहिये।

(४) **चतुर्थ क्रम :—**यदि द्वितीय क्रम से भी मूत्र शर्करारहित न हो तब शर्करारहित उबली तरकारी २ छ. तथा नमक के साथ तक्र १/२ सेर प्र.दि.दे।

यदि उपर्युक्त क्रम से रोगी की रक्तशर्करा प्राकृत हो जाय तथा मूत्र मे शर्करा का आना बन्द हो जाय तब विपरीत क्रम से एक एक पदार्थ शनैः शनैः बढ़ायें। उदाहरणस्वरूप यदि चतुर्थ क्रम का आहार देने से शर्करा की मात्रा प्राकृत होती है तब कुछ समय तृतीय क्रम के पदार्थ रोगी को दे। तत्पश्चात् क्रमानुसार द्वितीय तथा अत मे प्रथम क्रम का आहार दें। इस प्रकार रोगी जब प्रथम क्रम का भोजन ठीक से पचा सके और उसके मूत्र मे शर्करा न मिले तब जौ-चने की रोटी १/२ छ. कर प्रारम्भ करें और इसकी मात्रा शनैः शनैः

बढायें। दो दिन प्रतिमास उपवास करें। उपर्युक्त चिकित्साक्रम मे यदि अम्लोत्कर्ष (Acidosis) के लक्षण हों तब शर्करा तथा इन्स्यूलिन का प्रयोग करना चाहिये।

भोजन तथा इन्स्यूलिन (Insulin) द्वारा चिकित्सा :—इस चिकित्सा के सिद्धान्त के अनुसार मधुमेह के रोगी को प्रायः उतने ही कैलोरी (C) युक्त आहार की आवश्यकता रहती है जितना कि स्वस्थ मनुष्य को। एक बार मे अधिक मात्रा में भोजन देने की अपेक्षा थोड़ा-थोड़ा कर ६–७ बार प्र. दि. भोजन देने से २४ घटे में रक्त मे शर्करा की मात्रा प्रायः हर समय समान रहती है और उसमे विशेष परिवर्तन नही होता। भोजन केवल उतना ही देना चाहिये जिससे रोगी का भार प्राकृत या उससे थोड़ा कम रहे। मधुमेह के रोगी का मोटा होना अच्छा नहीं है। आधुनिक धारणा के अनुसार मधुमेह के रोगी के भोजन मे कार्बोज (Cho) की मात्रा प्रायः स्वस्थ मनुष्य की मात्रा के समान होनी चाहिये। इस मात्रा को देने से यदि रक्त में शर्करा की मात्रा प्राकृत से अधिक हो या मूत्र में शर्करा आने लगे तब इनस्यूलिन का प्रोयग करना चहिये। कार्बोज की मात्रा २ छ प्र. दि. से कभी कम नहीं होनी चाहिये। इस मात्रा को शनैः शनैः बढ़ा कर ६ छ. प्र. दि. तक देना चाहिये। चीनी चावल तथा आलू का प्रयोग नही करना चाहिये। ऐसे फल तथा तरकारियों (पृ. ६) का प्रयोग करना चाहिये जिसमे कार्बोज १० प्र. श. से कम हो। ये पदार्थ देर से पचते है इस कारण रक्तशर्करा मे शनैः शनैः वृद्धि होती है और उसमे अकस्मात परिवर्तन नहीं होता। शर्करा के लिये साधारण कार्बोजप्रधान आहार की अपेक्षा **प्रोटीन** (Ptn) प्रधान आहार अधिक उपयुक्त है। प्रोटीन से भी प्रायः ६० प्र. श. शर्करा मिल सकती है और इस शर्करा का निर्माण भी शनैः शनैः होता है इसलिये रक्त-शर्करा में अकस्मात परिवर्तन नहीं होता। प्रोटीन तथा कार्बोज की मात्रा निर्धारित कर लेने के पश्चात जितनी कैलोरी (C) रोगी को और देना हो वह **वसा** (Fat) के रूप मे देना चाहिये। वसा मे घी, तेल, वनस्पती न देकर मक्खन, क्रीम (Cream) आदि देना चाहिये। इन पदार्थों के अतिरिक्त रोगी को जीवतिक्तियो का मिश्रण (Multivit) भी देना आवश्यक है। जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण 'सी' तथा निकोटिनिक एसिड (Vit:B.C.B_7) का विशेष महत्व है। मधुमेह के रोगी मे जीवतिक्तियो की कमी होने की विशेष संभा-

चना रहती है। साधारण व्यायाम करने से तथा स्वच्छ वायुमण्डल मे टहलने से रोगी को लाभ होता है, कार्बोज के समवर्त (Mbm) मे सहायता मिलती है तथा इन्स्यूलिन की आवश्यकता मे कमी होती है। कार्बोज पर्याप्त न रहने पर अत्यधिक परिश्रम करने से वसा का समवर्त विकृत होता है, एसिटोन (Acetone) की उत्पत्ति होती है तथा अम्लोत्कर्ष (Acidosis) होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार इन्स्यूलिन प्रयोग करते समय अत्यधिक परिश्रम करने से रक्तशर्करा मे कमी (Hypoglycemia) होने का भय रहता है। व्यायाम के साथ-साथ विश्राम भी आवश्यक है विशेष कर ½–१ घंटा भो. प. अवश्य शैय्या पर विश्राम करना चाहिये।

भोजन के भिन्न भिन्न तत्वों की मात्रा निर्धारित करने की विधि:—

अवस्था	तत्व	मात्रा प्र. दि.
(क) पुरुष (६० सेर भार)	कैलोरी(C)	१८०० कैलोरी (३० कै. प्र. से. भा.)
	कार्बोज (Cho)	२½–६ छ. या ग्रा. १२०–२४० (ग्रा. २–४ प्र. से. भा.)
	प्रोटीन (Ptn)	१½–२½ छ. या ग्रा. ६०–१२० (ग्रा. १–२ प्र. से. भा.)
	वसा (Fat)	२–४½ छ. या ग्रा. १००–२५० (ग्रा. १·६–४·१ प्र. से. भा.)
(ख) बालक	कैलोरी.	१८०० कैलोरी
(ग) स्त्री	”	१६०० (२६ कै. प्र. से. भा.)

(ग) **इन्स्यूलिन** (Insulin):–यह औषधि प्रायः **अधस्त्वक** (S.C.) मार्ग से प्रयोग की जाती है। अम्लोत्कर्ष (Acidosis) मे घुलनशील (Sol:) इन्स्यूलिन सिरामार्ग (I.V.) से भी दे सकते हैं। एन. पी. एच (N.P.H.५०) इन्स्यूलिन शरीर मे भंडार (Depot) के ऐसा कार्य करती है और जब रक्तशर्करा की वृद्धि होती है तब इन्जेक्शन के स्थान से यह इन्स्यूलिन कार्यशील होती है। जब रक्तशर्करा कम हो जाती है तब यह इन्स्यूलिन भी कार्य बन्द कर देती है।

(च) **इनस्यूलिन की मात्रा निर्धारित करने की विधि :—**

(१) मूत्र मे शर्करा परित्याग होने

$$\frac{\text{की प्र. दि. की मात्रा (ग्रा. मे)}}{२} = \text{इनस्यूलिन की प्र. दि. की मात्रा (अं. इ. मे)}$$

विधि :–इनस्यूलिन की उपर्युक्त मात्रा की आधी मात्रा द्वि.प्र.दि भोजन के आध घटे पूर्व दें।

(२) इन्स्यूलिन की अ. इ. १ ग्लूकोस आ. २ का समवर्त (Mbm) करती है।

(छ) इनस्यूलिन (Insulin) के योग

औषधि	इंजेक्शन के पश्चात् औषधि का प्रभाव घण्टे में		
	प्रभाव का प्रारम्भ	सर्वोच्च (Maximum) प्रभाव	प्रभावशील रहने की अवधि
घुलनशील (Soluble)	१	२–३	५
प्रोटामिन जिंक (Protamine zinc. P. Z. I.)	४	८–१०	२४
ग्लोबिन जिंक (Globin-zinc G. Z. I.)	२	५–८	१८
एन. पी. एच. (N. P. H. 50)	आ. अ.	आ. अ.	२४

(ज) **कार्य :—इनस्यूलिन** कार्बोज (Cho) का समवर्त (Mbm) करती है, रक्तशर्करा को कम करती है तथा मूत्र से शर्करा का परित्याग रोकती है। आवश्यकता पड़ने पर कार्बोज का वसा (Fat) मे परिवर्तन करती है। प्रोटीन (Ptn) को नष्ट होने से बचाती है तथा उससे शर्करा नही बनने देती। यकृत तथा पेशियो द्वारा ग्लाइकोजेन (Glylogen) बनाने मे सहायता करती है।

(झ) **प्रयोग :—मधुमेह के रोगी** मे आवश्यक भोजन का जब ठीक से समवर्त नहीं होता, रोगी पर शल्यकर्म (Op) करने के पूर्व तथा रोग के उपद्रवो मे इसका प्रयोग किया जाता है। [**औपसर्गिक** (Ifn) रोगो मे

हृत्पेशी (Myocardium) को बल देने के लिये जब अधिक मात्रा में सिरामार्ग से ग्लूकोस (Glucose) देने की आवश्यकता पड़ती है तब इस ग्लूकोस के समवर्त (Mbm) के लिये इनस्यूलिन का प्रयोग करना अच्छा है अन्यथा शर्करा के मूत्र से परित्याग हो जाने की सभावना रहती है। अत्यन्त दुर्बल रोगी मे या यक्ष्मा (T.B.) आदि मे जब रोगी के भार को बढ़ाना आवश्यक हो जाता है तब शर्करा के साथ इनस्यूलिन का प्रयोग करना चाहिए इससे रोगी मोटा हो जाता है। उपसर्ग (Ifn), विषमयता (Toxaemia) आदि के समय अधिक इन्स्युलिन की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा अम्लोत्कर्ष (Acidosis) होने का भय रहता है।

(ञ) **प्रकार** :—इन्स्यूलिन के अनेक प्रकार उपलब्ध हैं। साधारण घुलनशील (Sol) इनस्यूलिन का प्रभाव एक घटे मे प्रारम्भ हो जाता है परन्तु यह प्रभाव अत्यन्त अस्थायी होता है तथा ५ घ. मे समाप्त हो जाता है। इसलिए इस प्रकार की इनस्यूलिन भोजन के तत्काल पश्चात जो रक्तशर्करा में वृद्धि होती है उसको कम करने के लिये अथवा अम्लोत्कर्ष आदि उपद्रवो मे जहाँ तत्काल इन्स्यूलिन के प्रभाव की आवश्यकता पड़ती है, इसका विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त इन्स्यूलिन के कुछ ऐसे योग हैं जिनका प्रभाव देर मे प्रारभ होता है तथा देर तक रहता है। साधारण रोगो में प्र. दि. प्रयोग करने के लिये ये योग उत्तम हैं। इससे दो बार के भोजन के मध्य की अवधि मे जो रक्तशर्करा मे वृद्धि होती है उसको रोका जा सकता है। इस प्रकार के योग है, प्रोटामीन जिंक इन्स्यूलिन (P.Z.I.),ग्लोबिनजिक इन्स्यूलिन (G.Z.I) आदि। इसके अतिरिक्त एन. पी. एच (N. P. H. ५०) एक योग है जिसका इन्जेक्शन लगाने पर इसका प्रभाव २४ घटे तक रहता है और जब रक्तशर्करा मे वृद्धि होती है तब यह कार्य करती है अन्यथा कार्यहीन रहती है। यह योग प्रायोगिक अवस्था मे हैं।

(त) **विधि** :—चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोगी का २४ घण्टे का मूत्र संचय कर पता लगाना चाहिये कि रोगी प्र. दि. कितनी शर्करा (ग्राम मे) मूत्र द्वारा परित्याग करता है। इस मात्रा को २ से विभाजित करने से प्र. दि. की इन्स्यूलिन की मात्रा का ज्ञान होता है। इस मात्रा को दो भागोमे विभाजित कर भोजन के ½ घण्टे पूर्व एक भाग द्वि. प्र. दि. अधस्त्वक मार्ग से देना चाहिये। इस मात्रा को (च) केवल घुलनशील (Sol) इन्स्यूलिन के रूप मे

अथवा (छ) देर तक कार्य करने वाली इन्स्यूलिन के साथ दे सकते हैं। द्वितीय विधि में दोनों प्रकार की इन्स्यूलिन का अनुपात २:१ या ३:१ होना चाहिये। वृद्ध रोगियों में वृक्कदेहली (Renal threshold) अधिक होने के कारण मूत्र की शर्करा की अपेक्षा रक्तशर्करा (Blood sugar) पर निर्भर करना पड़ता है। उपर्युक्त मात्रा प्रयोग करने के पश्चात् वेनेडिक्ट की विधि से मूत्र में शर्करा की मात्रा का पता लगाना चाहिये।

(थ) वेनेडिक्ट (Benedict) की विधि से शर्करा की मात्रा का पता लगाने की विधि :—एक प्रयोग नली (Testtube) में वेनेडिक्ट का घोल (Benedict sol:) ५ सी. सी. तथा मूत्र ८ बूँद मिला कर उबालना चाहिये। मूत्र में शर्करा रहने पर वेनेडिक्ट के घोल के रंग में निम्न परिवर्तन हो सकते हैं और इस परिवर्तित रंग के द्वारा शर्करा की प्र. श. मात्रा का ज्ञान हो सकता है तथा यह भी पता चल सकता है कि इन्स्यूलिन की मात्रा में कितनी वृद्धि करना आवश्यक है

वेनेडिक्ट (Benedict) परीक्षा का परिणाम

वेनेडिक्ट के घोल के रंग में परिवर्तन	मूत्रशर्करा प्र. श.	प्र.दि. जितना इन्स्यूलिन बढ़ाना है।
हरा (Green) रंग	०·१	० अ. इ.
पीला (Yellow)"	०·२	१० "
नारंगी (Orange) "	०·५	१०–२० "
लाल (Brick red) "	१ प्र. श. से अधिक	२०–३० "

नोट :—उपर्युक्त विधि से २४ घण्टे के मूत्र में शर्करा की मात्रा का पता लगा कर इन्स्यूलिन की जितनी अधिक मात्रा देने की आवश्यकता है उसको दो भागों में विभाजित कर इन्सूलिन की जो मात्रा दी जा रही है उसमें एक भाग को जोड़ देना चाहिये। **उदाहरणस्वरूप** यदि इन्स्यूलिन १० अ. इ. द्वि. प्र. दि. देने पर भी वेनेडिक्ट के घोल का रंग वेनेडिक्ट परीक्षा द्वारा पीला हो जाता है तब १५ अं. इ. द्वि. प्र. दि. देकर देखें। यदि इससे भी घोल का रंग पुनः परीक्षा करने पर हरा नहीं होता तब शनैः शनैः करके २० अं. इ.

द्वि. प्र. दि. तक बढ़ा सकते हैं। यदि दोनों प्रकार की इन्स्यूलिन का साथ प्रयोग किया जाता है तब चारो बार के भोजन के पश्चात मूत्र परीक्षा करनी चाहिये। यदि मध्याह्न के पूर्व के मूत्र से घोल का रग हरा के अतिरिक्त अन्य रंग मे परिवर्तित होता है तब साधारण घुलनशील (Sol) इनस्यूलिन की मात्रा बढाना आवश्यक है। यदि मध्याह्न के पश्चात के मूत्र से घोल का रंग बदलता है तब देर मे कार्य करने वाली इन्स्यूलिन (P.Z.I. G.Z.I.) की मात्रा बढ़ानी चाहिये। यदि चारो बार के मूत्र से घोल का रंग परिवर्तित होता है तब दोनों प्रकार की इनस्यूलिन की मात्रा बढ़ाना आवश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिये कि रोगी के स्वास्थ्य मे सुधार होने पर तथा लक्षणों के शमन होने पर रोगी अधिक कार्बोज (Cho) का समवर्त (Mbm) कर सकता है तथा कम मात्रा मे इन्स्यूलिन की आवश्यकता पडती है। इसलिये मूत्र मे शर्करा एकदम गायब करने की अपेक्षा थोड़ा शर्करा आते रहना ही अच्छा है। इससे कोई हानि नहीं होती तथा रक्तशर्करा के एकदम कम होने की (Hypoglycemia) की सम्भावना नहीं रहती। इसलिये वेनेडिक्ट (Benedict) की परीक्षा में मूत्र के द्वारा घोल का रग हरा रहना अच्छा है तथा यह रग होने पर इन्सूलिन की मात्रा बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि घोल के रंग मे परिवर्तन न हो तब इन्यूलिन की मात्रा कम करना आवश्यक है। बीच बीच मे रोगी का भार तथा उपवास के पश्चात की रक्त-शर्करा (Fasting blood sugar) का पता लगाते रहना चाहिये। इससे चिकित्सा द्वारा लाभ हानि का ज्ञान होता रहता है।

(घ) **कार्बोज** (Cho) के **समवर्त** (Mbm.) **में सहायता देने वाली अन्य औषधियाँ** :—ये औषधियाँ मुख द्वारा दी जाती है। **विजयसाल** की लकड़ी २ छ. एक पाव जल मे १२ घण्टे भिगाकर जल पीने से निश्चय लाभ होता है। **जामुन,** जामुन का सिरका, जामुन की गुठली का चूर्ण भी प्रयोग किया जाता है। ये पदार्थ विपाक्त नही है **पेंक्रियापटीन** (Pancreapet-ine A.F.D.) गो. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. दे सकते हैं। **सिन्थलिन** 'बी' (Synthelin 'B') विपाक्त है। फौस्फोटंगस्टेट के साथ इन्स्यूलिन के योग (Phosphotungstate of insulin) पर निर्भर नही किया जा सकता। ग्लाइकोसिनीन (Glycocinin) जामुन का योग है। इसकी

अपेक्षा जामुन खाना अच्छा है। ट्रिप्सोजेन (Trypsogen) आदि का प्रभाव अनिश्चित है।

(ङ) उपद्रव :—(१) उपमधुमयता (Hypo-Glycaemia) :—

मधुमेह मे अत्यधिक परिश्रम या उपवास करने से अथवा इनस्यूलिन (Insulin) का अधिक मात्रा मे प्रयोग करने से रक्त मे शर्करा की मात्रा अकस्मात ०'०७ प्र. श. से कम हो जाती है। तत्काल चिकित्सा न करने पर यह अवस्था घातक हो सकती है। अत्यधिक क्षुधा, बेहोशी, आक्षेप (Convulsions), सन्यास (Coma) आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा :—रोग की गम्भीर अवस्था मे उपवृक्किक (Adrenaline) १/२ सी. सी. या पियूषग्रन्थि सत्व (Pituitrin) $\frac{1}{2}$ सी. सी. अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से तथा ग्लूकोस (Glucose) मुख या सिरामार्ग से तत्काल प्रवेश करने से रक्त-शर्करा (Blood sugar) की वृद्धि होती है और लक्षणो का शमन होता है। ग्लूकोस २५–५० प्र. श. २५–५० सी. सी. सिरामार्ग से देने से तत्काल लक्षणो का शमन होता है। रोगी यदि बेहोश न हो तब उसको इन लक्षणों के प्रतीत होने पर तत्काल २–४ औ. ग्लूकोस पानी मे मिला कर पीना चाहिये। मधुमेह के रोगी को सर्वदा अपने पास थोड़ा ग्लूकोस रखना चाहिये। एड्रनलीन (Adrenaline) के इंजेक्शन से भी रोगी चैतन्य हो सकता है। यदि रोगी कार्बोज (Cho) के साथ-साथ प्रोटीन (Ptn) भी पर्याप्त मात्रा मे लेता रहता है तब उपमधुमयता होने की संभावना कम रहती है इसलिये रोगी को दूध देते रहना अच्छा है।

(२) **मधुमेह जन्य संन्यास** (Diabetic coma) :—इस अवस्था मे सिर मे दर्द, मिचली, वमन, कब्ज, उदर मे पीड़ा, श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), तन्द्रा (Drowsiness), सन्यास (Coma), मधुगधी (मीठा) श्वसन, आदि लक्षण होते हैं। उपसर्ग (Ifn) के कारण ज्वर हो सकता है। मूत्र मे एसिटोन (Acetone) आने लगता है। रक्त-शर्करा मे वृद्धि होने के कारण मूत्र का परित्याग अधिक होता है और शरीर मे जल की कमी हो जाती है। रक्त की प्रतिक्रिया (Reaction) मे परिवर्तन होता है।

उपमधुमयता (Hypoglycemia) तथा मधुमेह जन्य सन्यास (Diabetic coma) में अन्तर।

लक्षण	उपमधुमयता	मधुमेह सन्यास जन्य
प्रारम्भ	अकस्मात	शनैः शनैः
श्वसन	अपरिवर्तित	मधुगन्धी (मीठा)
नेत्र गोलककी आतति (Tension)	प्राकृत अथवा अधिक	कम
रक्त निपीड़ (B.P.)	प्राकृत	कम
जिह्वा	गीली	सूखी
त्वचा	श्वेत, पसीने से गीली	सूखी, लाल या नीली
श्वसन	उत्तान(Shallow)	गम्भीर
नाड़ी	प्राकृत या कूदती हुई	तीव्र तथा क्षीण
रक्तशर्करा	प्राकृत से कम	अधिक
मूत्र	प्राकृत	शर्करा तथा एसिटोन
रक्त मे क्षार (Alkali)	?	प्राकृत से कम
मूत्रमे अमोनिया (NH_4)		
वायुकोषाओ में कार्बन डायोक्साइड की उत्पत्ति	?	प्राकृत (५%) से अधिक
(Alveolar co_2 tension) **प्राकृत** ४–६ प्र. श.= ३९–४० मि. मी.	?	कमी (१–२ प्र. श. या २० मि. मी.)

रक्त की कार्बन डायोक्साइड (CO_2) से मिलने की शक्ति (Combining power) कम हो जाती है।

परीक्षायें :—रक्तपरीक्षा द्वारा रक्त मे शर्करा, सोडियम (Na), पोटासियम (K.) तथा क्लोराइड (Cl) की मात्रा का पता लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि सभव हो तब रक्त की कार्बन डायोक्साइड से मिलने की शक्ति (CO_2 Combining power) का भी पता लगाना चाहिये। **मूत्र मे** शर्करा तथा एसिटोन (Acetone) के लिये देखना चाहिये। यदि आवश्यकता हो तब इस परीक्षा के लिये रबर की नलिका (Catheter) द्वारा मूत्र निकाल सकते हैं।

चिकित्सा :—इसकी चिकित्सा का **सिद्धान्त** समझने के लिये निम्न

विषयों को ध्यान मे रखना चाहिये। मधुमेहजन्य सन्यास मे शरीर में निम्न परिवर्तन होते हैं :—

१—**कार्बोज** (Cho) के समवर्त (Mbm) मे विकृति होने के कारण वसा (Fat) के समवर्त में विकृति होती है। परिणामस्वरूप कीटोन (Ketone) की उत्पत्ति होती हैं। अत्यधिक मात्रा में **इनस्यूलिन** (Insulin) देने से वसा के समवर्त की विकृति रोकी जा सकती है। अधिक मात्रा में **ग्लूकोस** (Glucose) देने से भी कीटोन के निर्माण में कमी की जा सकती है। इन कारणों से अधिक मात्रा मे ग्लूकोस तथा इनस्यूलिन का देना आवश्यक है। इसकी चिकित्सा में साधारण घुलनशील (Sol. insulin) इनस्यूलिन देना चाहिये।

२—अत्यधिक मात्रा मे मूत्र का परित्याग होने से तथा वमन होने से शरीर में **जल** तथा **सोडियम** (Na) की कमी हो जाती है इसलिये अधिक मात्रा मे **समबल लवण घोल में ग्लूकोस** (Glucose in N. Saline) **५ प्र. श.** मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये।

३—अत्यधिक मात्रा मे सोडियम (Na) देने से शरीर से **पोटासियम** (K.) का परित्याग होता है। पोटासियम की कमी के लक्षण १–२ दिन पश्चात उत्पन्न होते है। दौर्बल्य, श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), हृदपातिपात (Ht failure) आदि लक्षण होते है। इसके लिये **पोटासियम** (K.) भी देना चाहिये।

४—रोग की गभीर अवस्था मे क्षार (Alkali) की अत्यधिक कमी हो जाती है। इसकी साधारण कमी होने पर समबल लवणघोल (N.saline) का प्रयोग पर्याप्त है। परन्तु क्षार की अत्यधिक कमी होने पर **सोडीबाइकार्ब** (Sodi bicarb) सिरामार्ग (I.V.) से देना पड़ता है। सोडीबाइकार्ब के घोल को गरम नही करना चाहिये।

उपर्युक्त सिद्धात के अनुसार रोगी को तत्काल **साधारण घुलनशील इन्स्यूलिन** (Sol:insulin) ५–१०० अ० इ० सिरा अथवा अधस्त्वक (S. C.) मार्गसे प्रति २–४ घण्टा तब तक देना चाहिये तब तक मूत्र से एसिटोन (Acetone) आना बन्द न हो। प्रथम इन्जेक्शन के पश्चात् रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर इनस्यूलिन की मात्रा आधी कर सकते हैं। रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), जलाल्पता

(Dehydration), हृदयातिपात (Ht-failure) आदि के लक्षणों मे कमी होती है। श्वासकृच्छ्र का विशेष महत्व है। इनस्यूलिन के साथ-साथ सिरा मार्ग से तत्काल शीघ्रता से समबल लवणघोल (N.saline) पा. ३–४ देकर, समबल लवण घोल के साथ ग्लूकोस (Glucose saline) ५ प्र० श० शनैः शनैः देना चाहिये। ग्लूकोस का घोल ४०–६० बूँद प्र० मि० की गति से तब तक देना चाहिये जब तक रोगी चैतन्य न हो जाय। चैतन्य हो जाने पर ग्लूकोस मुख द्वारा देना चाहिये। जल तथा लवणघोल प्रत्येक मार्ग से देना चाहिये। मुख द्वारा देने के लिये अर्धबल (यो० ४६) लवणघोल का प्रयोग करना चाहिये।

तब तक नेत्रगोलक (Eyeball) की आतति (Tension) प्राकृत न हो जाय तथा साकोचिक रक्तनिपीड़ (Systolic B. P.) १०० से अधिक न हो जाय तब तक लवणघोल का सिरामार्ग से प्रयोग करना चाहिये। रोग की **गम्भीर** अवस्था में **क्षारीय लवणघोल** (यो० ६२) या सोडी बाईकार्ब ७½ प्र० श० सिरामार्ग से देना चाहिये। रक्त की कार्बन डायोक्साइड से मिलने की शक्ति (CO_2 combining power) जब १० प्र० श० (१० vol: %) से कम हो जाती है तब सोडीबाइकार्ब देने का विशेष महत्व है। साधारणतः २००ग्रे० सोडी बाइकार्ब देना पर्याप्त होता है। **पोटासियम क्लोराइड** (Pot: chloride) का आ० अ० प्रयोग करना चाहिये। पोटासियम (K.) की कमी के कारण जब श्वासकृच्छ्र होता है तब उसमें यह लाभदायक है।

अन्य चिकित्सा :—स्तब्धता (Shock) के लक्षण रहने पर इसका उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को गरम रखने का प्रयत्न करना चाहिये तथा रक्तरस (Plasma), इन्ट्राडेक्स (Intradex), सोडियम लैक्टेट का घोल (M/6 sodi: lact : sol) आदि सिरा मार्ग से दे सकते है। कोष्ठबद्धता (Const:) के लिये बस्ति (Enema) का प्रयोग करना चाहिये। उपसर्ग (Ifn) रहने पर पेनिसिलीन (P) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये, हृदयातिपात के लिए कोरामिन (Ce) का प्रयोग उत्तम है। हृदय मे किसी प्रकार की विकृति रहने पर सिरामार्ग से अत्यधिक जल प्रयोग करने के समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है। रोगी को किसी प्रकार की शामक (Sedative) औषधि नहीं देना चाहिये। समबल लवण घोल

(N. saline) से आमाशय धो (St-wash) सकते हैं।

चैतन्य हो जाने पर:—कार्बोज (Cho) प्रधान तरल आहार (पृ.४) तथा दूध प्रति ३ घण्टे अहर्निशि देना चाहिये। साथ-साथ इनस्यूलिन २०–३० अं० इ० प्र० ४ घंटे देना चाहिये। भोजनमें ग्लूकोस, सन्तरा, मधु, नीबूका शर्बत, तालमिश्री, बार्ली का जल आदि देना चाहिये। दूध में प्रोटीन (Ptn) रहने के कारण इसका विशेष महत्व है। दो दिन तक केवल ये ही पदार्थ खाने को देना चाहिये। दो दिन के पश्चात् साधारण भोजन दे सकते हैं। रोगी को जल अधिक मात्रा मे देना आवश्यक है। चैतन्य हो जाने पर सिरा-मार्ग से ग्लूकोस अथवा जल देना आवश्यक नहीं है। मूत्र की बराबर परीक्षा करते रहना चाहिये। जीवतिक्ति 'ए.' 'बी.' 'सी.'(Vit:'A.''B.' 'C.') का भी प्रयोग करना चाहिये।

(च) **इनस्यूलिन (Insulin) के प्रयोग से हानि** :—इनस्यूलिन के प्रयोग से निम्न विकृतियाँ हो सकती हैं :—

(१) **अनूर्जता** (Allergy) :—यह अवस्था अत्यन्त विरल है। अनूर्जता के कारण इन्जेक्शन के तत्काल पश्चात् स्तब्धता (Shock) के लक्षण अथवा कुछ समय पश्चात् शीतपित्त (Urticaria) आदि उपद्रव हो सकते है। स्तब्धता की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। अनूर्जता निरोधी (Anti-allergic) औषधियाँ जैसे बेनाड्रिल (Benadryl), एन्टिस्टीन (Antistin) आदि प्रयोग कर सकते हैं। विशेष प्रकार की शुद्ध इन्स्यूलिन प्रयोग करने से अनूर्जता की कम सम्भावना रहती है। इससे लाभ न होने पर अत्यन्त अल्प मात्रा मे इन्स्यूलिन प्रारम्भ कर शनैःशनैः उसकी मात्रा बढ़ा कर रोगी को इनस्यूलिन के लिये सहनशील (Desensitize) करना चाहिये।

(२) **वसा का नाश** (Lipo-atrophy) :—कभी-कभी इंजेक्शन दिये जाने वाले स्थान पर वसा (Fat) का नाश होने लगता है। यह अवस्था विरल है। प्रत्येक वार इन्जेक्शन का स्थान बदलते रहना चाहिये। इन्जेक्शन के स्थान पर इंजेक्शन के पश्चात् थोड़ी देर मालिश करना चाहिये।

(छ) **विशेष परिस्थिति में मधुमेह की चिकित्सा :–बाल्यावस्था** में मधुमेह होने पर चिकित्सा का परिणाम निराशाजनक होता है। **यक्ष्मा** (T. B.) के साथ मधुमेह रहने पर इन्स्यूलिन (Insulin) की अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। **नवजात शिशु** (Newborn) की माता

को यदि मधुमेह रहता है तब शिशु में पैदा होने के ३–४ दिन के अन्दर उपमधुमयता (Hypo glycaemia) की सम्भावना रहती है । **गर्भावस्था** में मधुमेह होने पर जैसे-जैसे प्रसव का समय समीप आता है कार्बोज (Cho) के समवर्त (Mbm) करने की शक्ति कम होती जाती है । इसलिये इन्स्यूलिन की मात्रा बढ़ानी पड़ती है । प्रसव होने के तत्काल पश्चात् कार्बोज पचाने की शक्ति बढ़ जाती है इसलिये उपमधुमयता होने की सम्भावना रहती है । मूत्र में **एसिटोन** (Acetone) रहने पर मधुमेह जन्य सन्यास (Diabetic coma) के समान चिकित्सा करना चाहिये । यदि तत्काल **शल्यकर्म** (Op) करना आवश्यक हो तब शल्यकर्म की अवधि पर्यन्त रोगी को सिरामार्ग (I. V.) से ४०–६० अ. मि. की गति से समबल लवणघोल में ग्लूकोस ५ प्र. श. (Glucose saline) देना चाहिये । घोल के प्रति पा. में इन्स्यूलिन १२½ अ. इ. भी देना चाहिये। इस अवस्था में केवल साधारण घुलनशील (Sol :) इन्स्यूलिन का ही प्रयोग करना चाहिये । शल्यकर्म के पश्चात् जबतक मूत्र में एसिटोन (Acetone) रहे मधुमेह जन्य सन्यास (Coma) के समान चिकित्सा करना चाहिये। मधुमेह के रोगी को **आघात** (Injury) होने पर कार्बोज (Cho) पचाने की शक्ति बढ़ जाती है और उपमधुमयता (Hypoglycemia) होने की सम्भावना रहती है इसलिये आघात होने पर तत्काल रोगी को चीनी का शर्बत, शन्तरे का रस आदि देना चाहिये । बेहोश रहने पर सिरामार्ग (I. V.) से ग्लूकोस दें । साथ-साथ इन्स्यूलिन भी देना चाहिये । **हृत्धमनी घनास्रता** (Coronary thrombosis) में इन्स्यूलिन के प्रयोग के समय विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है ।

(ज) मधुमेह की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

बलवान रोगी में वमन, विरेचन फिर सन्तर्पण करे । दुर्बल रोगी में बृंहण ततः सशमन क्रिया करें । साधारण संशोधन कर लेना अच्छा रहता है । पथ्य में शर्करा वाले पदार्थ कम दें । अन्य मेहों के योग इसमें दे सकते हैं पर निम्न योग अधिक लाभप्रद हैं :—

जामुन की गुठली का चूर्ण,गुडमार चूर्ण,लीची की पत्ती का रस, तिल १ या २ तोला गुड़ मिलाकर, शिवा गुटिका, बसन्त कुसुमाकर रस,हेमनाथ रस ।

(ई) इन्स्यूलिन (Insulin) की अधिकता :—

परिचय :—अग्न्याशय (Pancreas) में अर्बुद (Tumour) होने के कारण अत्यधिक इन्स्यूलिन की उत्पत्ति होती है। परिणामस्वरूप रक्त में शर्करा की मात्रा में अत्यधिक कमी हो जाती है। शर्करा की सहनशीलता की कसौटी (Glucose tolerance test) करते समय रक्त में शर्करा की अत्यल्प वृद्धि होती है। वक्रता (Curve) अत्यन्त निम्न प्रकार की होती है। निदान की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। अत्यधिक क्षुधा, दौर्बल्य, आमाशय (St) खाली रहने पर मूर्छा, आक्षेप (Convulsions), चिड़चिड़ापन, कम्प (Tremor) आदि लक्षण होते हैं। शर्करा देने से लक्षणों का शमन होता है।

चिकित्सा :—अग्न्याशय में अर्बुद रहने पर शल्यकर्म (Op) करना चाहिये। आवेग के समय ग्लूकोस मुख या सिरामार्ग से देना चाहिये। रोगी को सर्वदा अपने पास ग्लूकोस रखना चाहिये और लक्षण प्रतीत होने पर तत्काल ग्लूकोस जल में मिला कर पीना चाहिये। भोजन में कार्बोज (Cho) की मात्रा अधिक रहने से अग्न्याशय (Pancreas) को उत्तेजना मिलती है और इन्स्यूलिन का अधिक निर्माण होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार रोगी को चावल, आलू, चीनी, गेहूँ आदि अधिक न देकर ऐसे फल तथा तरकारियाँ आदि देना चाहिये जिनमें कार्बोज की मात्रा १० प्र. श. से कम हो (पृ. ६)। भोजन में प्रोटीन (Ptn), वसा (Fat) तथा कैलोरी (C) की मात्रा अधिक **और कार्बोज** (Cho) की कम होनी चाहिये। भोजन दिन में अनेक बार करना चाहिये। व्यायाम कम करना चाहिये। एसीटीएच (ACTH) रक्त-शर्करा की वृद्धि कराता है। मानसिक शान्ति के लिये फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि चिन्ता, घबराहट, यकृत के रोग आदि के कारण भी रक्त-शर्करा कम होती है।

अवटुका ग्रन्थि (Thyroid) के रोग

परिचय :—आयोडीन (I) दो प्रकार की होती है, सेन्द्रिय (Organic) तथा असेन्द्रिय (Inorganic)। भोजन द्वारा असेन्द्रिय आयोडीन शरीर में प्रवेश करती है। अवटुका ग्रंथि इसका परिवर्तन कर **डाइ आइडो-थायरोसीन** (Di-iodo-thyrosine) तथा अन्त में **थायरौक्सीन** (Thyroxin) बनाती है। थायरौक्सीन, आयोडीन तथा अमीनोएसिड

(Aminoacid) का योग है। यह अवटुका ग्रन्थि का विशिष्ट सत्व है। थायरोक्सीन का पुनः परिवर्तन होकर **थायरो ग्लोब्यूलीन** (Thyroglobulin) बनता है। इस प्रकार हम देखते है कि आयोडीन अवटुका ग्रथि मे दो प्रकार से रहती है :—(१) थायरौक्सीन, **थायरोग्लोब्यूलीन** के रूप मे रहती है तथा (२) **डायआयडोथायरोसीन**। स्वस्थ अवस्था में रक्त में सेन्द्रीय (Organic) आयोडीन अत्यल्प मात्रा मे रहती है। इसकी मात्रा १०० सी. सी. रक्त मे सर्वदा ४–८ मा. ग्रा. रहती है। रक्त मे दो प्रकार की आयोडीन रहती है, सेन्द्रिय तथा असेन्द्रिय (Inorganic)। असेन्द्रिय आयोडीन की मात्रा मे परिवर्तन होता रहता है। रक्त में जब इसकी मात्रा अधिक हो जाती है तब अवटुका ग्रंथि इसको सेन्द्रिय आयोडीन मे परिवर्तित कर इसका सचय करती है। स्वस्थ अवस्था में मनुष्य को आयोडीन की प्र. दि. अत्यल्प मात्रा (मा. ग्रा. २०–२००) की आवश्यकता पड़ती है। यौवनारम्भ, गर्भावस्था तथा धात्रिकाल मे पाँच गुना अधिक आयोडीन की आवश्यकता पड़ती है। जब शरीर को अधिक आयोडीन की आवश्यकता पड़ती है तब यह मात्रा अवटुकाग्रंथि से मिलती है। अवटुकाग्रन्थि के इस कार्य पर पीयूषग्रथि (Pituitary) का नियन्त्रण रहता है। मनुष्य के भोजन तथा जल मे जब आयोडीन नही रहता तब उसमे इसकी कमी के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

कार्य :—कोषाओ (Cells) के समवर्त (Mbm) को थायोरौक्सीन (Thyroxine) उत्तेजित करती है और कोषायें प्राणवायु (O_2) का अधिक मात्रा मे प्रयोग करती हैं। परिणामस्वरूप आधारिक समवर्त (BMR) की वृद्धि होती है।

प्रयोग :—अवटुकाग्रन्थि से दो औषधियाँ उपलब्ध है, अवटुकाग्रथि-सत्व (Thyroid ext :) तथा थायरोक्सीन (Thyroxin)। द्वितीय औषधि अत्यधिक विषाक्त है। इन औषधियो को सर्वदा **मुख** द्वारा देना चाहिये। इनको केवल अवटुकाग्रथि सत्व की कमी मे प्रयोग करना चाहिये। **अवटुकाग्रन्थि** सत्व ग्रे. १/२–१ द्वि. प्र. दि. तथा **थायरौक्सीन** ग्रे. १/४००–१/२०० द्वि.प्र.दि. दे सकते हैं। औषधि देने के २ दिन के पश्चात् औषधि का प्रभाव प्रतीत होने लगता है और यह प्रभाव प्रायः एक सप्ताह मे अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है। औषधि बन्द कर देने के प्रायः १½ मास पश्चात औषधि का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

(अ) अवटुकाग्रंथि के स्राव की कमी (Hypothyroidism) ।

(क) **भोजन में आयोडीन** (I) की कमी रहने पर **साधारण गलगण्ड** (Simple goitre) की उत्पत्ति होती है । यह रोग विशेष स्थानों में होता है । आयोडीन की कमी के कारण ग्रंथि को अधिक पुष्ट होने तथा अधिक कार्य करने की उत्तेजना मिलती है । परिणामस्वरूप ग्रंथि की वृद्धि होती है । प्रारम्भमे रोगी को आयोडीन देने से ग्रथि का आकार पुनः प्राकृत हो जाता है परन्तु चिकित्सा मे विलम्ब होने पर ग्रथि मे अपजनन (Colloid degeneration) होने के कारण स्थायी परिवर्तन हो जाते हैं और औषधि द्वारा चिकित्सा करने से ग्रन्थि का आकार कम नहीं होता। वृद्धित ग्रंथि देखने मे कुरूप होती है तथा रक्तवाहिनी (B. V.), वातनाड़ी आदि को दबाती है। इस दबाव के कारण दबाव जन्य लक्षणों की उत्पत्ति होती है ।

परीक्षायें :—इस अवस्था मे रक्त मे सेन्द्रिय (Organic) आयोडीन की मात्रा, आधारिक समवर्त (B.M.R.) तथा अवटुकाग्रथि की तेजोद्गर आयोडीन (Radio-active I^{131}) लेने की शक्ति प्राकृत रहती है ।

चिकित्सा :—रोगी को जल के साथ लूगल की आयोडीन (Lugol's iodine यो० ९७) मि० २–८ द्वि० प्र० दि० या पोटासियम आयोडाइड (S.S.:of K I.) का सन्त्रिप्त घोल मि० २ द्वि० प्र० दि० दे सकते है । अवटुकाग्रंथि सत्व (Thyroid ext) ग्रे० ½–१ द्वि० प्र० दि० देने से भी लाभ होता है । कलोसल आयोडीन (Colo iodine 'Co') सी० १–५ पेशी मार्ग (I. M.) से अथवा लूगोल की आयोडीन का जल मे योग सिरा द्वारा ¼–१ सी० सी० द्वि० प्र० स० देने से भी लाभ होता है । आयोडीन की मात्रा सर्वदा शनैः शनैः बढाना चाहिये । सिरामार्ग से औषधि देने के पूर्व औषधि की प्रत्येक मात्रा को प० ज० सी० सी० ५–१० मे मिला कर शनैः शनैः इन्जेक्शन देना चाहिये । अवटुकाग्रंथि पर पारद की मलहम (Ung. hg. biniodide) लगाने से भी लाभ होता है । परन्तु इसके लगाने से फफोले बनने की सम्भावना रहती है । ग्रंथि पर आयोडेक्स (Iodex) की मालिश कर सकते हैं । भोजन मे सोडियम आयोडाइड (Na:I) मिश्रित लवण (Iodised-salt) प्रयोग करना चाहिये । आयोडीन का जीवन-पर्यन्त प्रयोग करना चाहिये । स्थान परिवर्तन करने से लाभ होता है । उपर्युक्त विधियों से लाभ न होने पर शल्यकर्म (Op.) करना चाहिये । विकृत

ग्रन्थि मे ग्रन्थिका (Nodules) मिलने पर या दबाव के लक्षण उत्पन्न होने पर अथवा कुरूपता कम करने के लिये शल्य कर्म करना पड़ता है। ग्रथि के अन्दर ग्रन्थिका (Nodule) का मिलना घातक (Malignant) रोग का द्योतक है।

(ख) अवटुकाग्रंथि के कार्य में कमी :—भोजन मे आयोडीन (I) की अत्यधिक कमी होने पर या अवटुकाग्रथि मे शोथ (Thyroiditis) होने पर अवटुकाग्रथि थाइरौक्सीन (Thyroxin) का निर्माण नहीं कर सकती, परिणामस्वरूप अवटुकाग्रन्थि के स्राव की कमी के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शल्यकर्म (Op) द्वारा अवटुकाग्रंथि के अधिक भाग को निकाल देने से भी ये लक्षण होते हैं।

परीक्षायें :—इस अवस्था में रक्त मे सेन्द्रिय (Organic) आयोडोन की मात्रा, आधारिक चयवर्त (B. M. R.) तथा अवटुका ग्रंथि के तेजोद्गार आयोडीन (I^{131}) लेने की शक्ति, तीनों में कमी होती है। रक्त में कोलेस्टेरौल (Cholesterol) की मात्रा बढ़ जाती है। प्राकृत अवस्था में प्र० १०० सी० सी० रक्त में कोलेस्टेरौल मि० ग्रा० १००–२०० रहता है। रक्ताल्पता (Anaemia) के प्रमाण भी मिलते हैं।

अवटुकाग्रन्थि के स्राव की कमी जब बाल्यावस्था मे होती है तब उसको **बौनापन** (Cretinism) तथा जब युवावस्था मे होतीहै तब **श्लेष्मशोफ** (Myxedema) कहते हैं।

(१) **बौनापन** अधिक कष्टसाध्य रोग है। इसमें अवटुकाग्रन्थि सत्व जीवनपर्यन्त देना पड़ता है। १२ वर्ष की आयु के पश्चात चिकित्सा प्रारम्भ करने का परिणाम निराशाप्रद है। इसके दो प्रकार है। **प्रथम प्रकार** मे केवल अवटुकाग्रंथि के स्राव मे कमी होती है। यह प्रकार चिकित्सासाध्य है। **द्वितीय** प्रकार मे प्राथमिक विकृति मस्तिष्क मे होती है और मानसिक विकास न होने के साथ-साथ अवटुकाग्रन्थि के स्राव में भी कमी होती है। इस प्रकार मे अवटुकाग्रथि सत्व देने से लाभ नही होता।

(२) **श्लेष्मशोफ** का भी दो प्रकार माना गया है। **प्रथम प्रकार** बालक के पैदा होने के कई वर्ष पश्चात बाल्यावस्था (Juvenile-type) मे ही प्रारम्भ होता है। इसमें चिकित्सा से लाभ होता है। रोगी को लक्षण-रहित रखने के लिये प्रायः औषधि जीवनपर्यन्त देना पड़ता है। **द्वितीय**

प्रकार युवावस्था (Adult type) में प्रारम्भ होता है । इसमें चिकित्सा का परिणाम सर्वोत्तम है । अल्प मात्रा में औषधि तब तक देना चाहिये जब तक लक्षणों का शमन न हो जाय ।

अवटुकाग्रंथि के स्राव में कमी होने पर आलस्य, थकावट, कमजोरी, शुष्कत्वचा, रूक्ष रोम, रोम की कमी, भार में वृद्धि, कब्ज, हृदय की गतिमन्द,ताप प्राकृत से कम,आधारिक समवर्त (B.M.R.) में कमी, पसीने में कमी, शीत लगने की प्रकृति, मानसिक शिथिलता (Dullness), स्मरण-शक्ति में कमी, मोटी जिह्वा, नेत्र के चारों ओर शोफ, मासिक धर्म प्रारम्भ होने में विलम्ब, वाणी तथा गति की शिथिलता आदि लक्षण होते हैं । चिकित्सा प्रारम्भ होने में विलम्ब होने पर रक्तनिपीड (B.P.) कम हो जाता है तथा हृदय की अभिस्तीर्णता (Dilatation) होती है । हृत्धमनी (Coronary) में विकृति, हृच्छूल (Angina), हृत्पेशी का अपजनन (Degeneration), रक्ताल्पता (Anaemia) तथा अवटुकाग्रंथि की वृद्धि (Goiter) आदि लक्षण हो सकते हैं ।

क्षीणावटुका ग्रंथिता (Hypothyroidism) की चिकित्सा:—
अवटुकाग्रंथि सत्व (Thyroid ext:) इस अवस्था की विशिष्ट औषधि है । इसमें थाइरौक्सीन (Thyroxine) के रूप में आयोडीन ०·१ प्र.श. होनी चाहिये । इसकी प्रारम्भिक मात्रायें सर्वदा अत्यल्प होनी चाहिये । औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढाना चाहिये । औषधि का प्रभाव स्थापित हो जाने के पश्चात औषधि की स्थायी (Maintenance dose) मात्रा देनी चाहिये । औषधि की उच्चतम मात्रा के विषय में मतभेद है । कुछ लोगों के मत के अनुसार इस औषधि को ग्रे. १५ तक प्र. दि. दे सकते हैं । अन्य विद्वानों के मत के अनुसार ग्रे. ३ प्र. दि. से अधिक नहीं देना चाहिये और यदि रोगी इस मात्रा से अधिक औषधि सहन कर सकता है तब उस रोगी में अवटुकाग्रन्थि के स्राव में कमी नहीं है और रोगी के लक्षण किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुए हैं। इस औषधि के प्रभाव के स्थापित होने में प्रायः ६ सप्ताह लगता है, इसलिये इस अवधि के पूर्व औषधि की मात्रा बढाना निरर्थक है । क्षीणावटुकाग्रथिता के अतिरिक्त अन्य किसी विकृति में इसका प्रयोग वैज्ञानिक नहीं है । इसके प्रयोग की निम्न विधियाँ हैं :—

(१) **अत्यधिक मात्रा** के सिद्धान्त के अनुसार इस औषधि को ग्रे.

½–२ ग्रे. या त्रि. प्र. दि भो. प. दे सकते हैं। आ. अ. औषधि की मात्रा ग्रे. १½ प्र. दि. तक बढा सकते हैं।

(२) **अल्प मात्रा के** सिद्धान्त के अनुसार औषधि को अल्प मात्रा में प्र. दि. नियमपूर्वक देने से अधिक लाभ होता है। (च) रोग की **प्रारम्भिक** अवस्था मे ग्रे. ½ प्र. दि. देना चाहिये। प्रत्येक सप्ताह के पश्चात् ग्रे. ½ प्र.दि. बढ़ाना चाहिये। औषधि ग्रे. ३ प्र. दि. से अधिक नही देना चाहिये। विपाक्तता के लक्षण होने पर औषधि की मात्रा कम कर देनी चाहिये। (छ) चिकित्सा प्रारम्भ करने मे **विलम्ब** होने पर, रोग के गम्भीर होने पर, वृद्धावस्था मे तथा हृदय मे विकृति हो जाने पर औषधि ग्रे. ¼ प्र. दि. देना चाहिये। तत्पश्चात प्रत्येक सप्ताह के अन्त मे ग्रे. ¼ प्र. दि. औषधि बढ़ा देना चाहिये। इस प्रकार ग्रे. ३ प्र. दि. तक औषधि दे सकते है। विपाक्तता के लक्षण होने पर अथवा रोग के लक्षणो का शमन हो जाने पर औषधि की स्थायी मात्रा देनी चाहिये। (ज) **स्थायी मात्रा** (Maintenance dose) :—औषधि की उपर्युक्त वर्णित प्रभावशाली मात्रा देने के पश्चात् रोगी को ग्रे. १–२ प्र. दि. जीवनपर्यन्त देना चाहिये। (झ) **शैशवावस्था** मे ग्रे. ⅛ प्र. दि. तथा **बाल्यावस्था** मे ग्रे. ¼–१ प्र. दि. दे सकते है।

विपाक्तता:—अवटुकाग्रन्थि सत्व की विपाक्तता के कारण पतले दस्त, हृदय की गति मे तीव्रता, ज्वर, चिड़चिडाहट, पसीने की वृद्धि, भार मे कमी, पेशियों मे कम्प (Twitching) आदि लक्षण होते है। कभी-कभी इसके प्रयोग से हृच्छूल (Angina) की उत्पत्ति होती है, इसलिये यदि रोगी को पहले से ही हृच्छूल का इतिहास हो तब इस औषधि को ग्रे. ½ प्र. दि. से अधिक नहीं देना चाहिये।

प्रतिषेध :—जिन स्थानों मे गलगण्ड (Goitre) प्रायः होता है उन स्थानो मे अवटुकाग्रन्थि के स्राव की कमी हो सकती है। इन स्थानों को छोड देना अच्छा है। यदि यह सम्भव न हो तब लवण (Nacl) मे सोडियम आयोडाइड (Na : iodide) मिला कर लेना चाहिये। इस लवण में आयोडीन की मात्रा ०·००५–०·०१ प्र. श. होनी चाहिये। यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि इस प्रकार का लवण लेने से अवटुकाग्रन्थि के स्राव की वृद्धि (Hyper-thyroidism) के लक्षण हो सकते है। यौवनारम्भ, गर्भावस्था तथा धात्रिकाल (Lactation) मे आयोडीन मा. ग्रा. २००–३००

प्र. दि. की आवश्यकता पडती है। इसके लिये सोडियम आयोडाइड मिश्रित लवण (Iodized salt) ग्रे. ५–१५ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये।

(आ) **परमावटुका ग्रन्थिता** (Hyperthyroidism, thyrotoxicosis, Basedow's disease) :—

इस अवस्था मे अवटुकाग्रन्थि के स्राव की वृद्धि होती है। इसके तीन प्रकार हैं :—

(१) **प्रथम** :—इस अवस्था मे जब नेत्रगोलक भी बाहर निकले रहते हैं (Exophthalmos) तब उसको ग्रेव का रोग (Grave's disease, exophtalmic goiter) कहते है। यह समस्त शरीर का एक व्यापक रोग है और अवटुका ग्रन्थि की विकृति इस व्यापक विकृति का केवल एक भाग है। इस अवस्था मे गलगण्ड (Goiter) के अन्दर व्यापक (Diffuse) विकृति होती है। (२) **द्वितीय प्रकार** :—कभी-कभी विषाक्तता के लक्षणों के साथ-साथ गलगण्ड मे ग्रन्थिका (Nodules) रहती है परन्तु नेत्र बाहर की ओर नही निकलता। (३) **तृतीय प्रकार** :—इस प्रकार में केवल विषाक्तता होती है। नेत्रगोलक (Eye-ball) में विकृति तथा गलगण्ड नहीं होता। इसको **वैषिक गलगण्ड** (Toxic goitre) कहते हैं। इसमे अवटुकाग्रन्थि की स्थानिक विकृति के कारण समस्त शरीर पर प्रभाव पडता है।

परमावटुका ग्रन्थिता की उत्पत्ति के दो **कारण** प्रतीत होते है:–**पूर्व पीयूष ग्रंथि** (Ant:pituitary) के स्रावकी वृद्धि होने के कारण अवटुकाग्रंथि को उत्तेजना मिलती है और अवटुकाग्रन्थि के स्राव की वृद्धि होती है। इस क्रिया पर **उपवृक्क** के शल्कीय भाग (Adrenal cortex) का भी कुछ प्रभाव प्रतीत होता है।

विकृति विज्ञान :—अवटुकाग्रन्थि के स्राव की वृद्धि के कारण शरीर की समवर्त (Mbm) सम्बन्धी क्रियाओ की वृद्धि होती है, कोषाओ को अधिक प्राणवायु (O_2) की आवश्यकता पड़ती है, आधारिक समवर्त (B.M.R.) बढ जाता है, **रक्त** मे सेन्द्रिय (Organic) आयोडीन (I) की वृद्धि तथा कोलेस्ट्रोल (Cholesterol) मे कमी होती है। शरीर से मूत्र द्वारा क्रीयेटिनीन (Creatinine) का अधिक मात्रा मे परित्याग होता है। अवटुका ग्रन्थि अधिक मात्रा मे तेजोद्गार आयोडीन (I^{131})

ले सकती है। ये रोगी प्रायः क्वीनीन (Q) की अत्यधिक मात्रा सहन कर सकते हैं।

गोश (Goetsch's test) की कसौटी :—यह कसौटी अवटुका-ग्रंथि के स्राव की वृद्धि जानने के लिये की जाती है। रोगी को शैय्या पर लिटाकर उसका साकोचिक रक्तनिपीड़ (Systolic B. P.) तथा नाड़ी की गति देखी जाती है। अब रोगी को एड्रीनलीन (Adrenalin) १ : १००० सी. सी. १/२ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दी जाती है। कसौटी अस्त्यात्मक (+) रहने पर साकोचिक रक्तनिपीड़ की १० मि. मी. पा. से अधिक वृद्धि होगी तथा नाड़ी की गति मे २० बार प्र. मि. से अधिक वृद्धि होगी। अस्त्यात्मक कसौटी प्ररमावटुका ग्रथिता की द्योतक है।

लक्षण :—अवटुकाग्रंथि के स्राव की वृद्धि होने पर नाड़ी की गति तीव्र, अगुलियो तथा जिह्वा का कापना, आधारिक समवर्त (B.M.R.) की वृद्धि, घबराहट, चिड़चिड़ापन, अत्यधिक क्षुधा, भार मे कमी, थकावट, आदि लक्षण होते हैं। नेत्रगोलक का बाहर निकलना (Exophthalmos) तथा गलगण्ड (Goitre) विकृति के प्रकार के अनुसार कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते। अवटुकाग्रथि पर ग्रथिका (Nodule), स्पन्दन (Pulsation), मर्मर (Murmur) ध्वनि, आदि मिल सकते है। त्वचा गीली तथा गरम होती है। रोगी प्रत्येक कार्य में शीघ्रता करता है। अलिदीय तन्तुप्रकम्प (A. fib :), दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.), अत्यधिक पसीना, मासिकधर्म के समय अत्यधिक रक्तस्राव, हृदय पर प्रथम शब्द का तीव्र होना, आदि लक्षण होते हैं कभी कभी तीव्र उपसर्ग जैसे श्वसनी-फुफ्फुसपाक (Broncho-pneumonia) के पश्चात रोगी के लक्षण अकस्मात उग्र हो जाते हैं। इसको **अवटुकाग्रन्थि दारुण** (Thyroid crisis) कहते हैं। इस अवस्था मे मिचली, वमन, केन्द्रीय वातनाड़ी-सस्थान (CNS) का प्रक्षोभ (Irritation), पतले दस्त, बेचैनी, अत्यधिक पसीना, अत्यन्त तीव्र ज्वर, प्रलाप (Delirium), तीव्र नाड़ी आदि लक्षण होत है। यह विरल अवस्था अवटुकाग्रंथि पर शल्यकर्म (Op) करने के पश्चात, प्रचुर मात्रा मे आयोडीन न देने से होती है। इसकी **चिकित्सा** लक्षणों के अनुसार करे। रोगी को शान्त तथा अन्धेरे कमर मे रखना चाहिये। शामक औषधियाँ, प्राणवायु (O_2), जलचिकित्सा तथा आयाडीन का प्रयोग करना चाहिये।

परमावटुका ग्रन्थिता की चिकित्सा :—शारीरिक तथा मानसिक **विश्राम** का विशेष महत्व है। रोगी को अन्धेरे तथा शीतल कमरे में २ मास विश्राम करना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था में अथवा शल्यकर्म (Op) के पूर्व विश्राम अत्यावश्यक है। विश्राम, शामक औषधि (Sedatives), मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy) तथा ल्यूगोल की आयोडीन (यो. ६७) की मि. ३ ए. प्र. दि. अनेक मास पर्यन्त भोजनोत्तर देने से लाभ होता है। **थाइरोसिल** (Thouracil) या मेथिल थाइरोसिल का १०० मि. ग्रा. की एक गोली, त्रि. प्र. दि. तीन सप्ताह पर्यन्त देना चाहिये। तत्पश्चात् एक गोली प्र. दि. देना चाहिये। यह औषधि विषाक्त है और छः मास से अधिक इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। औषधि द्वारा चिकित्सा करने पर लाभ न होने से शल्यकर्म (Op:) करना चाहिये। **रेडियो एक्टिव आयोडीन** (Radio active iodine) की केवल एक मात्रा मुख द्वारा दी जाती है। औषधि देने के प्रायः छः सप्ताह पश्चात रोगी को लाभ होता है। आ. अ. तीन मास पश्चात द्वितीय मात्रा दे सकते हैं। यह औषधि अवटुकाग्रन्थि के कर्कटार्बुद (Cancer) में भी प्रयोग कर सकते हैं।

(१) **साधारण** :—मानसिक विश्राम के लिये फेनोबारबिटोन (Phn), ग्रे० ½–१ द्वि० या त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। **भोजन** निरामिश होना चाहिये। दूध, फल, जीवतिक्ति 'बी' (Vit:B) तथा सब्जी की प्रधानता रहनी चाहिए। प्रोटीन (Ptn) की मात्रा कम होनी चाहिये। कार्बोज (Cho) तथा वसा (Fat) इच्छानुसार दे सकते है। ३००० कैलोरी प्र.दि. तक दे सकते है। उपसर्ग (Ifn:) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी का भार प्र० स० देखना चाहिये। रोगी के भार में वृद्धि होने का विशेष महत्व है। यह लक्षण रोगी की अवस्था मे सुधार होने का प्रमाण है। दुर्बल रोगी को भोजन के पूर्व इनस्यूलिन (Insulin) ५–१० अं० इ० अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से द्वि० प्र० दि० देने से क्षुधा तथा भार मे वृद्धि होती है।

(२) **लक्षणो की चिकित्सा** :—अलिंदीय तन्तुप्रकम्प (A:fib:), दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.), हृत्स्तंभ (Ht:block) आदि विकृतियाँ रहने पर अवटुकाग्रथि का कुछ भाग काट कर निकाल देने (Sub-:total thyroidectomy) से शीघ्रता से लाभ होता है। यदि यह सम्भव न हो तब थायरोसील (Thiouracil) देना चाहिये। इस रोग मे

अलिंदीय तन्तुप्रकम्प अधिक सामान्य है। **दक्षिण हृदयातिपात** में डिजिटेलिस (Digitalis) तथा **अलिंदीय तन्तुप्रकम्प** मे क्वीनीडीन (Quinidine) देना चाहिये। पतले **दस्त** होने पर विसमथकार्ब (यो० ५६) द्वि० प्र० दि० भो० प० देना चाहिये। **नाड़ी** की गति अत्यन्त **तीव्र** रहने पर क्वीनीन बाइहाइड्रोब्रोम (Q.bi : hydrobrom:) ग्रे० ३ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। हृत्प्रदेश (Precordium) पर बरफ की थैली रख सकते हैं। पूर्व पीयूषग्रथि के स्राव (Ant: pituitary) की वृद्धि के कारण **नेत्रगोलक बाहर** की ओर निकले (Exophthalmos) रहते हैं। अवटुकाग्रथि सत्व (Thyroid ext:), पूर्व पीयूषग्रथि के स्राव को कार्यहीन करता है, इसलिये नेत्रगालक बाहर निकले रहने पर अवटुकाग्रथि सत्व (Thyroid ext:) ग्रे० ½–१ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये परन्तु इस औषधि का देने के पूर्व प्रोपिल थायरोसील (Propyl-thiouracil) या शल्यकर्म (Op.) द्वारा आधारिक समवर्त (B M. R.) को प्राकृत कर लेना चाहिये। यदि नेत्रगोलक शीघ्रता से बाहर की ओर निकल रहा हो तब प्रारम्भ से ही अवटुकाग्रथि सत्व दे सकते हैं। यदि औषधियों से लाभ न हो, दृष्टि मे कमी होने लगे या स्वच्छमण्डल (Cornea) पर शोफ हो तब नेत्रगोलक पर शल्यकर्म (Decompression) करना चाहिये।

(३) **औषधियाँ** :— (क) **प्रोपिल-थायरोसिल** (Propyl-thiouracil, thouracil, methyl thiouracil) :—यह औषधि अवटुकाग्रंथि के स्राव (Hormone) की उत्पत्ति मे कमी करती है। प्रचुर मात्रा मे थायरोसिल के योग देने से अवटुकाग्रंथि असेन्द्रिय (Inorganic) आयोडीन का परिवर्तन कर सेन्द्रिय (Organic) आयोडीन नही बना पाती, परिणामस्वरूप अवटुकाग्रथि का अन्तःश्राव (Hormone) नही बन पाता। औषधि का यह प्रभाव तब तक रहता है जब तक औषधि प्रयोग की जाती है। आधारिक समवर्त (BMR) के प्राकृत होने मे प्रायः १ मास समय लगता है। प्राकृत आधारिक समवर्त + २० प्र. श. होता है। इसके प्रयोग से अवटुकाग्रथिजन्य मधुमेह (Diabetes) तथा हृच्छूल (Angina) मे भी लाभ होता है। यह औषधि थायोयूरिया (Thio-urea) से बनती है। इसके प्रयोग से अवटुकाग्रथि पर शल्यकर्म (Op) करने की आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु कभी कभी विषाक्तता के लक्षण होते है। अवटुकाग्रथि के

स्राव में अत्यधिक कमी (Hypothyroidism) हो सकती है। इसकी **विषाक्तता** के कारण नेत्रकलाशोथ (Conj:), ज्वर, त्वक्शोथ (Dermatitis), कण्ठ, पेशियों तथा सन्धियों (Jts) में पीड़ा, देह पर शोथ, लसग्रथियों (Lymph glands) की वृद्धि, श्वेतकणों की अत्यधिक कमी (Agranulocytosis) आदि लक्षण होते है। इन लक्षणों के होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये और लक्षणों का उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। इन औषधियों में प्रोपिल तथा मेथिल (Propyl, methyl thiouracil) थायरोसिल कम विषाक्त है। श्वेतकणों की संख्या में कमी न होने पाय इसके लिये **जीवतिक्ति** बी, (Pyridoxine) मि० ग्रा० १५० प्र० दि० मुख से देना चाहिये। यह उपद्रव होने पर (पृ० २३१) जीवतिक्ति 'बी', सिरामार्ग से मि० ग्रा० २०० प्र० दि० देना चाहिये।

थायरोसील के योग प्रायः ६–१२ मास पर्यन्त प्रयोग करना पड़ता है। इसके प्रयोग करने की अवधि पर्यन्त प्रति तीसरे दिन श्वेतकणों (WBC) की संख्या के लिये **रक्त-परीक्षा** करनी चाहिये। आधारिक समवर्त (BMR) के लिये भी देखते रहना चाहिये जिसमे क्षीणावटुका ग्रथिता (Hypothyroidism) न हो। श्वेतकणों की संख्या ४००० प्र० घ० मि० मी० से कम होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। इस औषधि के साथ सल्फा (S) औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। गर्भावस्था मे औषधि की मात्रा कम होनी चाहिये।

विधि :—इस औषधि की ग्रे० १½ (मि० ग्रा० १००) की गोली मिलती है। इसके प्रयोग करने की निम्न विधियाँ है :—१–गो. १ त्रि. प्र. दि. २ सप्ताह तक, तत्पश्चात् गो. १ प्र. दि. दें। २–गो. १–२ त्रि. प्र. दि दें। आधारिक समवर्त प्राकृत हो जाने पर गो. ½ ए. प्र. दि. दें। ३—**प्रथम तीन दिन** गो. ३ त्रि. प्र. दि, **तत्पश्चात्** दो सप्ताह तक गो. २ त्रि. प्र. दि. दें। तदुपरान्त गो. १ त्रि. प्र. दि. दे। आधारिक समवर्त (B M. R.) प्राकृत हो जाने पर गो. ½–१ द्वि प्र. दि. दे। ४—गो. ½–२ त्रि. प्र. दि. दे। अवटुकाग्रन्थि के स्राव मे कमी हो जाने पर अवटुकाग्रन्थि सत्व (Thyroid ext:) की सहायता से आधारिक समवर्त (B M. R.) प्राकृत रखने का प्रयत्न करें।

परिणाम :—इस औषधि के प्रयोग करने के २–३ मास पश्चात औषधि

का सर्वोच्च प्रभाव होता है। एक सप्ताह प्रयोग करने के पश्चात पसीने मे कमी होती है, चेहरा आदि का रक्तवर्ण होना (Flushing) कम होने लगता है तथा भार मे वृद्धि होने लगती है।

(ख) आयोडीन (I) :—आयोडीन का प्रयोग ग्रेव के रोग (Grave's disease) तथा अवटुकाग्रन्थि पर शल्यकर्म (Op.) करने के पूर्व करना चाहिये। वैषिक गलगण्ड (Toxic goitre) में इसका प्रयोग हानिकर है। आयोडीन के प्रयोग से लक्षणो के उग्र (Hyperthyroidism) हो जाने की संभावना रहती है। कुछ रोगियों मे आयोडीन से लाभ नहीं होता तथा इसके द्वारा आधारिक समवर्त का प्राकृत होना अनिश्चित है।

अवटुकाग्रंथि पर शल्यकर्म करने के पूर्व की चिकित्सा :—औषधियो से लाभ न होने पर अवटुकाग्रन्थि के स्राव में कमी करने के लिये अवटुका ग्रंन्थि के थोड़े भाग को काटकर निकाल दिया जाता है। शल्यचिकित्सा करने के पूर्व रोगी को केवल आयोडीन या आयोडीन के साथ प्रोपिल थायरोसील देना चाहिये। **केवल आयोडीन** के प्रयोग का परिणाम अनिश्चित है। दो सप्ताह में रोगी के लक्षणो मे पर्याप्त सुधार होता है। दो सप्ताह से अधिक समय तक औषधि देने से नाड़ी की गति तथा आधारिक समवर्त (B.M.R.) से वृद्धि होने लगती है। **केवल थायरोसील** के योग देने से अवटुकाग्रथि के आकार मे कमी नही होती और उसमे अत्यधिक मात्रा मे रक्त रहता है। परिणामस्वरूप शल्यकर्म (Op.) करने मे कठिनाई होती है। **आयोडीन तथा थायरोसील साथ** प्रयोग करने से अवटुकाग्रन्थि के आकार तथा स्राव दोनो में कमी होती है।

आयोडीन के योग :— लूगॉल की आयोडीन (Lugol's iodine यो. ६७) में आयोडीन १० प्र.श होती है। इसकी मि. १० में आयोडीन ग्रे. १ रहती है। इसकी मि. २–५ द्वि. प्र. दि. भो. प. दे सकते हैं। पोटास आयोडाइड (KI) में आयोडीन की मात्रा ७५ प्र. श. होती है। आयोडीन के स्थान पर इसका ग्रे. १ द्वि. प्र. दि. दूध के साथ दे सकते हैं। इन औषधियों को तब तक देना चाहिये जब तक आधारिक समवर्त (BMR) प्राकृत न हो जाय।

आयोडीन तथा थायरोसील साथ देने की विधियाँ :—

(१) प्रारम्भ में थायरोसिल की गो. १–२ द्वि. या चा. प्र. दि. दें।

शल्यकर्म करने के दो सप्ताह पूर्व लूगल की आयोडीन मि. ५-८ द्वि. प्र. दि. भो. प. देना भी प्रारम्भ कर दें। शल्यकर्म के एक सप्ताह पश्चात तक दोनों औपधियों को इसी विधि से साथ साथ दें। या (२) प्रारम्भ से ही दोनों औपधियों को उपर्युक्त मात्रा में साथ-साथ दें।

शल्यकर्म के पूर्व की अन्य चिकित्सा :—शल्यकर्म (Op) करने के कुछ दिन पूर्व से ही रोगी को विश्राम, कार्बोज (Cho) प्रधान शाकहारी भोजन, फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ½–१ द्वि. प्र. दि. तथा इनस्युलिन ५–१० अ. इ. द्वि.प्र. दि भो.पू. अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। आयोडीन के प्रयोग से शल्यकर्म का परिणाम आशाप्रद हो गया है। **शल्यकर्म के लिये** ले जाते समय रोगी को पूर्णरूप से तन्द्रा (Drowsy) की अवस्था में रहना चाहिये। इसके लिये रोगी को परालडिहाइड (Paraldehyde) ड्रा. ८ गुदा से, फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १ मुख से, मौरफीन (यो. १११) ग्रे. ¼ तथा हायोसीन (Hyoscine hydrobrom) ग्रे. १/१०० अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से या स्कोपोलामीन (Scopolamine) आदि प्रयोग कर सकते हैं।

शल्यकर्म (Op) के पश्चात :— बेचैनी कम करने के लिये शामक (Sedative) औपधियाँ देना चाहिये। मौरफीन (यो. १११) ग्रे. ⅙, पापावरीन (Papaverine) ग्रे. ⅓ आदि अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से दे सकते है। सिरामार्ग (I.V.) से समबल लवण घोल (N.saline) में ग्लूकोस (Glucose) ५ प्र. श. पा. १–२, बूँद ४० प्र. मि. की गति से देना चाहिये। मुखद्वारा औपधि न ले सकने पर लूगोस की आयोडीन (यो.६७) सी. सी. ½–२ सिरामार्ग (I.V.) से देना चाहिये। सिरामार्ग से प्रयोग किये जाने वाले जल मे पोटास आयोडाइड (KI.) ग्रे. १० तक मिला सकते हैं। रोगी को प्रत्येक मार्ग से जल देना चाहिये। रोगी जब मुख से औपधि ले सके तब मुख से जल, ग्लूकोस, आयोडीन, थायरोसील (Thiouracil) आदि देना चाहिये। शल्यकर्म के पश्चात् प्रथम दो दिन रोगी की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। इस अवधि में रोगी का ताप, नाड़ी तथा श्वसन की गति प्र. घ देखना चाहिये। शल्यकर्म के पश्चात, रक्तस्राव, अपतानिका (Tetany), श्लेष्मशोफ (Myxedema), अवटुकाग्रंथि दारुण्य (Thyroid crisis) आदि उपद्रव हो सकते है। इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

(३) **तेजोद्गर आयोडीन** :-(Radio-active iodine I^{131}) यह औषधि अवटुकाग्रथि में पहुँचकर जो कोषाये (Cells) इसका सचय करती है उन कोषाओ को यह नष्ट करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार इसका प्रयोग अवटुका ग्रन्थि के **कर्कटार्बुद** (Cancer) मे विशेष महत्व का है। जितनी औषधि अवटुका ग्रन्थि मे सचय नही हो पाती उसका मूत्र द्वारा परित्याग हो जाता है। इस प्रकार यह औषधि शरीर मे किसी प्रकार की विकृति नहीं करती। औषधि प्रायोगिक अवस्था मे है। इस औषधि को गर्भावस्था में प्रयोग नहीं करना चाहिये। अवटुकाग्रन्थि के कर्कटार्बुद के अतिरिक्त इसको परमावटुकाग्रन्थिता (Hyperthyroidism) का पता लगाने के लिये भी प्रयोग किया जाता है।

परमावटुकाग्रन्थिता को तजोद्गर आयोडीन (I^{131}) द्वारा परीक्षा :—यह परीक्षा शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था मे भी की जा सकती है। गर्भावस्था मे इस परीक्षा को नहीं करना चाहिये। वक्ष के अन्दर यदि अवटुकाग्रन्थि की वृद्धि (Intra-thoracic goitre) होती है तब उसका भी इस परीक्षा से पता लगता है। यह परीक्षा परमावटुकाग्रथिता (Hyperthyroidism) में अत्यन्त विश्वासनीय है। आधारिक समवर्त परीक्षा (B. M. R.) अत्यल्प विश्वासनीय तथा रक्त मे आयोडीन (I) की मात्रा का ज्ञान साधारण रूप से विश्वासनीय है। परमावटुकग्रन्थिता में अवटुकाग्रन्थि ३५ प्र. श. से अधिक तजोद्गर आयोडीन (I^{131}) ग्रहण करती है। अवटुकाग्रथिशोथ (Thyroiditis) मे यह ग्रन्थि आयोडीन (I^{131}) अत्यल्प मात्रा में ग्रहण करती है।

मात्रा :—रडियो एक्टिव आयोडीन (I^{131}) मुख द्वारा माइक्रोक्यूरी (Microcurie) १०० प्रति बार देना चाहिये।

(४) **अन्य औषधियाँ** :—विशेष रोगियों मे **क्ष-किरण** (X-ray) चिकित्सा कर सकते हैं। इसका प्रभाव प्रायः ६ मास में स्पष्टरूप से विदित होता है। **जीवंतिक्ति 'ए'** (Vit : A) अत्यधिक मात्रा में देना चाहिये। **टाइरोनोरमन** (Tyronorman) गो. १ द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। इसके प्रयोग के समय आयोडीनमिश्रित लवण, मासाहारी भोजन, मद्य, तमाखू, चाय, कौफी आदि प्रयोग नही करना चाहिए। इन रोगियो में प्रायः नाइट्रोजन (N) का सन्तुलन विकृत हो जाता है, इसको ठीक करने

के लिए **टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट** (Testo-steron propionate) मि. ग्रा. २५–५० पेशीमार्ग (I. M.) मे द्वि. प्र. स. देना चाहिए। मेथिल टेस्टोस्टेरौन (Methyl-testosterone) का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके प्रयोग से परमावटुकग्रथिता के लक्षणों की वृद्धि होती है। **शामक** (Sedative) औषधियाँ विशेष लाभप्रद हैं। फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ½ त्रि.प्र.दि. या किनीन हाइड्रोब्रोम (Q: hydrobrom) ग्रे. ३–५ द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। गर्भवती स्त्री के **मूत्र का सत्व, उपवृक्क के शल्क का सत्व** (Adrenal cortical ext:) आदि भी प्रयोग किये जाते हैं। औषधियों से लाभ न होने पर शल्यकर्म (Op) करना चाहिये। शल्यकर्म का परिणाम उत्तम है।

उपावटुका ग्रन्थि (Parathyroid)

परिचय :—उपावटुका ग्रन्थि का अन्तःस्राव (Hormone) प्रोटीन (Ptn) के समान एक पदार्थ है। इस पदार्थ का कैलसियम (Cal) तथा फौसफोरस (Ph) के समवर्त (Mbm.) से घनिष्ट सम्बन्ध है। रक्त से यह फौसफोरस का मूत्र द्वारा परित्याग कराता है, परिणामस्वरूप अस्थियों से कैलसियम तथा फौसफोरस निकल कर रक्त मे जाते हैं और अस्थियों में कैलसियम की कमी होने लगती है। अस्थियों की कोषाओं को नाश करने वाली कोषाओं (Osteoclasts) को यह पदार्थ उत्तेजित करता है और इस प्रकार उपावटुकाग्रन्थि के स्राव का अस्थि के समवर्त (Mbm) पर प्रभाव पड़ता है। यह पदार्थ प्रयोग करने के कुछ समय पश्चात् कार्यहीन हो जाता है।

कैलसियम तथा फौसफोरस (Ph) का समवर्त :—

(क) **प्राकृत अवस्था में कैलसियम** (Cal) का प्रचूषण क्षुद्रान्त्र (Int) से तथा उसका परित्याग मल तथा मूत्र द्वारा होता है। जीवतिक्ति 'डी' (Vit: D) देने से तथा आन्त्र की प्रतिक्रिया अम्ल (Acid) रहने पर कैलसियम के प्रचूषण में सहायता मिलती है। चिरकालीन पतले दस्त होने पर, अग्न्याशय (Pancreas) के स्राव की कमी रहने पर, आन्त्र में पुरस्सरण (Peristalsis) अधिक होने पर, आन्त्र में मैगनीसियम (Mag :) पोटासियम (K.) तथा वसाम्ल (Fatty acids) अधिक रहने पर कैल-

सियक के प्रचूषण में कमी होती है। साधारणतः युवावस्था मे कैलसियम मि.ग्रा. ५००–८०० प्र.दि. की आवश्यकता पड़ती है। गर्भावस्था तथा धात्रि-काल में ये मात्रायें मि. ग्रा. १५००–२००० प्र. दि. होनी चाहिए। कैलसियम का प्रचूषण हो जाने पर वह रक्त में दो स्वरूप में रहता है। इसका सक्रिय (Active) स्वरूप रक्त मे स्वतन्त्र रूप से रहता है तथा निष्क्रिय (Inactive) स्वरूप ग्लोब्यूलिन (Globulin) से मिला रहता है। रक्त में कैलसियम के ये दोनों स्वरूप प्रायः बराबर बराबर मात्रा में रहते हैं। कैलसियम का प्रधान कार्य अस्थियों में होता है। अस्थियों में सर्वदा नवीन कोषायें बनती रहती हैं तथा पुरानी कोषायें नष्ट होती रहती हैं। इस क्रिया में कैलसियम की आवश्यक पड़ती हैं। लसिका में कैलसियम का पता लगाने के साथ साथ प्रोटीन (Ptn) की मात्रा का भी पता लगाना चाहिये। रक्त में **कैलसियम की कमी** होने पर **अपतानिका** (Tetany) के लक्षण होते हैं। प्राकृत अवस्था में रक्त में कैलसियम की मात्रा मि. ग्रा. १० प्र. श. रहती है। अस्थियों में कैलसियम की कमी के कारण अस्थिमृदुता (Osteo-malacia) आदि रोग होते हैं।

(ख) **फौसफोरस** (Ph) का आन्त्र से साधारण फौसफोरस के रूप मे प्रचूषण होता है। भोजन के अनेक पदार्थों में यह पर्याप्त मात्रा मे रहता है। केवल उपवास मे इसकी कमी होने की सम्भावना रहती है। शरीर की अनेक क्रियाओं मे यह कैलसियम के साथ कार्य करता है। ये दोनों पदार्थ आपस मे मिलकर एक लवण (Cal : phosphate) बनाते हैं। यह लवण अस्थियों में जाकर संचय होता है। इसके अतिरिक्त साधारण फौस-फोरस (PO_4), कार्बोज (Cho), वसा (Fat) तथा न्यूक्लिक एसिड (Nucleic acid) के समवर्त (Mbm) मे मदद करता है। कार्बोज के साथ कार्य करने के कारण यह ताप तथा शक्ति उत्पन्न करता है। रक्त में युवावस्था मे इसकी मात्रा मि. ग्रा. २–४ प्र. श. रहती है। परन्तु रक्त में इसका कैलसियम की मात्रा से विपरीत सम्बन्ध है। जब एक की वृद्धि होती है तब दूसरे की कमी हो जाती है। बाल्यावस्था मे इसकी मात्रा रक्त मे मि.ग्रा. ७ प्र.श. तक रहती है। अस्थिमृदुता (Osteomalacia) मे इसकी मात्रा **कम** तथा वृक्क की कार्यशीलता मे कमी होने पर अथवा शाखावृद्धि (Acromegaly) मे इसकी रक्त मे मात्रा अधिक हो जाती है।

उपावटुकाग्रंथि के अन्तःस्राव की वृद्धि का परिणाम :— इस ग्रंथि के अन्तःस्राव की वृद्धि के कारण (क) अस्थियों को नष्ट करने वाली कोषाओं (Osteo-clasts) को उत्तेजना मिलती है। परिणामस्वरूप अस्थियाँ मृदु तथा कमजोर हो जाती है। रक्त में क्षारीय फौसफेट (PO_4) की वृद्धि होती है। यह अवस्था अस्थिमृदुता (Osteomalacia) में मिलती है। (ख) वृक्क की नलिकाओं (Tubules) द्वारा फौसफोरस का पुनः प्रचूषण (Reabsorption) कम हो जाता और अत्यधिक मात्रा में फौसफोरस का मूत्र से परित्याग होता है। अस्थियो से कैलसियम फौसफेट (Cal : phos :) रक्त की दिशा मे जाने लगता है। रक्त में कैलसियम की वृद्धि होती है और वह मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपावटुकाग्रन्थि के स्राव की वृद्धि होने पर लसिका (Serum) मे कैलसियम की वृद्धि तथा फौसफोरस की कमी होती है और इन दोनो पदार्थों का मूत्र द्वारा अधिक मात्रा मे परित्याग होता है।

लसिका (Serum) में कैलसियम की मात्रा में विपर्यय :— जीवतिक्ति 'डी' (Vit: D.) का अधिक प्रयोग करने से, उपावटुकाग्रन्थि (Parathyroid) के स्राव की वृद्धि होने से तथा लसिका मे प्रोटीन (Ptn) की वृद्धि होने से लसिका (Serum) मे कैलसियम की वृद्धि होती है। उपावटुकाग्रन्थि के स्राव मे कमी होने से, वृक्कशोथ (Nephritis) मे रक्त मे फौसफोरस संचय होने के कारण तथा अस्थिमृदुता (Osteomalacia) मे लसिका में कैलसियम की कमी होने से अपतानिका (Tetany) के लक्षण उत्पन्न होते है।

उपावटुकाग्रंथि सत्व के योग :—इस ग्रन्थि के सत्व के योग अत्यन्त शीघ्रता से कार्यहीन हो जाते है, इसलिये जिन अवस्थाओ मे इसका प्रयोग आवश्यक हो उन अवस्थाओं में जीवतिक्ति 'डी' (Vit : D.) या ए. टी. १० (A. T१०) का प्रयोग कर सकते हैं। ये दोनो पदार्थ भी उपावटुकाग्रंथि स्राव के समान कार्य करते है। इनको मुख द्वारा दे सकते है। **उपावटुकाग्रंथि सत्व** (Parathyroid ext) पेशीमार्ग से सी. सी. ½–१ त्रि. या चा. प्र. दि. आ. अ. दे सकते हैं। इसके प्रत्येक सी. सी. में औषधि १०० अं.इ. रहती है। **जीवतिक्ति डी** (Vit: D_2, Calciferol) मि. ग्रा. १–५ प्र.दि. दे सकते हैं। इसके प्र.मि.ग्रा.में औषधि ४०,००० अं.इ. रहती है।

ए.टी. १० (A.T१०, dihydro-tachysterol) :—यह पदार्थ अरगोस्टेरोल (Ergostesrol) से बनाता है। इसकी प्रकृति जीवतिक्ती 'डी' के समान है। प्रारम्भ में मि. १५ त्रि.प्र.दि. देना चाहिये। तदुपरान्त मि. १५ प्र. दि. या प्र. दूसरे दि. देना चाहिये। यह जीवतिक्ती 'डी' (Vit:D) से अधिक प्रभावशाली है। **प्रयोग** :—ये औषधियाँ प्रायः अपतानिका (Tetany) के लक्षण रोकने तथा कम करने के लिये प्रयोग की जाती है। अवटुकाग्रंथि (Thyroid) पर शल्यकर्म (Op.) करते समय भूल से उपावटुकाग्रथि भी निकाली जा सकती है और अपतानिका के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। इस अवस्था में इन औषधियों का विशेष महत्व है।

उपावटुकाग्रंथि (Parathyroid) के स्राव की विकृतियाँ:—

(अ) उपावटुकाग्रंथि के स्राव की कमी (Hypoparathyroidism, tetany) :—इस विकृती का कारण अज्ञात है। कभी कभी यह विकृति अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) पर शल्यकर्म (Op) करने के पश्चात होती है। इस अवस्था मे पेशियो मे कमजोरी, चिड़चिड़ापन, प्रक्षोभ (Irritabality), हस्त-पाद उद्वेष्ठन (Carpopedal spasm), आक्षेप (Convulsions), कण्ठोद्वेष्ठन (Laryngismus) आदि अपतानिका के लक्षण होते है। शल्यकर्म (Op) के पश्चात ये लक्षण अकस्मात प्रारम्भ होते हैं। उपावटुकाग्रन्थि के स्राव मे शनैः शनैः कमी होने पर युवावस्था मे तिमिर (Cataract) हो सकता है।

विकृति विज्ञान :—रक्त मे कैलसियम (Cal) की मात्रा कम हो जाती है। फौसफोरस (Ph) की मात्रा प्राकृत या उससे अधिक रहती है। फौसफेटेस (Phosphatase) की मात्रा प्राकृत रहती है। क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा से अस्थियाँ प्राकृत प्रतीत होती हैं।

चिकित्सा :—(क) **आवेग के समय** :—(१) **कैलसियम** (Cal: gluconate, chloride, livulenate) के योग :—तीव्र अवस्था मे कैलसियम ग्लूकोनेट १० प्र. श. १०–३० सी. सी. या २० प्र. श. १०–२० सी. सी. सिरा (I. V.) या पेशी (I. M.) मार्ग से देना चाहिये। कैलसियम क्लोराइड १० प्र. श. ५–१० सी. सी. सिरामार्ग से शनैः शनैः दे सकते हैं। सर्वप्रथम कैलसियम सिरामार्ग से देना चाहिये; कुछ समय पश्चात इसको पेशीमार्ग से (Colocalcium) तथा अन्त मे मुख द्वारा ग्रे. ३०–

६० चा. प्र. दि. देना चाहिये। कैलसियम का तब तक प्रयोग करना चाहिये जब तक अपतानिका के लक्षण ठीक न हो जायें। **कैलसीब्रोनेट** कैलसियम के साथ ब्रोमाइड (Bromide) का योग है। इसके प्रयोग से आक्षेप में लाभ होता है। इसकी सी. सी. ५ सिरा या पेशीमार्ग से आ. अ. दे सकते हैं। इसकी गो. १ त्रि. प्र. दि. मुख द्वारा भी दी जाती है। लसिका (Serum) में कैलसियम की मात्रा मि. ग्रा. १३ प्र. श. से अधिक होने पर तन्द्रा (Drowsiness), सन्यास (Coma) आदि लक्षण होते हैं। इस अवस्था में कैलसियम, जीवतिक्ति डी (Vit : D), उपावटुका-ग्रंथि सत्व (Parathyroid ext :) आदि बन्द कर रोगी को सिरामार्ग (I. V.) से समबल लवण घोल (N. saline) पा. २ देना चाहिये। तथा सिरावेध (V. S.) कर रक्त पा. १/२–१ निकाल देना चाहिये।

मूत्र में कैलसियम की परीक्षा :—प. ज. सी. सी. १०० में अमोनियम ओक्जेलेट (Ammon oxalate) ग्रे. २५, ओक्जेलिक एसिड (Oxalic acid) ग्रे. २५ तथा एसिटिक एसिड (Acetic acid glacial) सी. सी. ३·३ मिलाकर परीक्षक घोल (Reagent) बनाना चाहिये। अब मूत्र तथा परीक्षक घोल दोनों की सी. सी. ५ मिलाना चाहिये। **परिणाम :**—(अ) यदि दुग्ध के समान **श्वेत तलछट** (Ppt) बने तब समझना चाहिये कि मूत्र तथा रक्त में भी कैलसियम की मात्रा अत्यधिक है (आ) **साधारण श्वेत रंग** होने पर मूत्र तथा रक्त मे कैलसियम की मात्रा पर्याप्त है। (इ) **तलछट न बनने** पर समझना चाहिये कि मूत्र में कैलसियम नहीं है और रक्त में इसकी मात्रा प्राकृत से कम है। यदि लसिका (Serum) के कैलसियम का पता लगाना सम्भव न हो तब इस विधि से लसिका में कैलसियम की मात्रा का स्थूल ज्ञान हो सकता है और औषधि मे कैलसियम की मात्रा पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

(२) **उपावटुकाग्रन्थि सत्व** (Parathyroid ext :) :—यह औषधि विषाक्त है। इसको आवश्यकता से अधिक समय तक प्रयोग नहीं करना चाहिये। एक सप्ताह से अधिक प्रयोग करने से हानि होती है। इसके प्रयोग के समय लसिका (Serum) मे कैलसियम का पता लगाना आवश्यक है। लसिका में कैलसियम (Cal :) की मात्रा मि. ग्रा. १३ प्र. श. से अधिक नहीं होनी चाहिये। उपावटुका ग्रन्थिसत्व २०–१०० अं. इ. पेशी

(I. M.) या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं। इसकी प्रत्येक सी. सी. में ओषधि १०० अ. इ. रहती है।

(३) जीवतिक्ति डी (Vit:D) :—कैलसीफेरोल (Calciferol) मि० ग्रा० २–५ (मि० ग्रा० १=जीवतिक्ति डी, ४०,००० अ. इ.) प्र. दि. दे सकते हैं। ए० टी० १० (AT १०, Dihydro-tachysterol) अधिक प्रभावशाली तथा विपाक्त है। यह औषधि तेल में बनी है। इसकी प्रत्येक सी.सी. में औषधि मि० ग्रा० ५ रहती है। जब मुख द्वारा कैलसियम प्रारम्भ किया जाय तब इसको भी देना चाहिए। प्रथम चार दिन मि० १५–५० त्रि० प्र० दि०, तत्पश्चात् ३ सप्ताह तक मि० ५–१० त्रि० प्र० दि०, तदुपरान्त मि० २–५ प्र० दि० या प्र० दूसरे दिन देना चाहिये। प्रयत्न करना चाहिये कि इसके प्रयोग से लसिका में कैलसियम की मात्रा प्राकृत रहे। रक्तमें कैलसियम की मात्रा मि. ग्रा. ६ प्र. श. होने पर औषधि की मात्रा कम करनी चाहिये। इस रोग में जीवतिक्ति 'डी' (Vit:D) के योग उपावटुकाग्रन्थि के सत्व से अधिक प्रभावशाली है।

(ख) आवेग के पश्चात् की चिकित्सा :—भोजन में फोसफोरस (Ph) की मात्रा कम तथा कैलसियम (Cal:) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। इस दृष्टि से दुग्ध सर्वोत्तम है। जीवतिक्ति 'डी' (Vit:D) विशेष लाभप्रद है। कैलसियम लैक्टेट या ग्लूकोनेट (Cal: lactate, gluconate) ग्रे. ६० त्रि. प्र. दि. भो. पू. लेना चाहिये। जीवतिक्ति 'डी' के स्थान पर कैलसिफेरौल (Calciferol) मि. ग्रा. ½–२½ त्रि. प्र. दि. या ए. टी. १० (A. T. १०) मि. २–५ त्रि. प्र. दि. दे सकते है। रक्त में कैलसियम (Cal) के लिये अनेक बार देखना चाहिये तथा इन औषधियों के द्वारा उसकी रक्त में मात्रा प्राकृत रखने का प्रयत्न करना चाहिये। अमोनियम क्लोराइड (Ammon chloride) ग्रे. २०–३० त्रि. या चा. प्र. दि. या उदनीरिकाम्ल (Hcl dil:) मि. २० त्रि. प्र. दि. भो. प. दे सकते है। इनके प्रयोग में विशेष सावधानी आवश्यक है अन्यथा अम्लोत्कर्ष (Acidosis) हो सकता है।

(आ) उपावटुका ग्रंथि के अन्तःस्राव की वृद्धि (Hyper-para-thyroidism) :—इस अवस्था मे उपावटुकाग्रथि के अन्तःस्राव की वृद्धि होती है और उपावटुका ग्रथि की परमपुष्टि (Hyperplasia),

ग्रन्थि मे ग्रथ्यर्बुद (Adenoma), अस्थियों मे कोष्ठ (Osteitis-fibrosa-cystica) आदि अनेक विकृतियां मिलती हैं।

निदान :—इसकी दृष्टि से शाखाओं में पीड़ा,वृक्क में अश्मरी (Stone) तथा शूल (Colic), मिचली, क्षुधा मे कमी, मूत्र की वृद्धि (Polyuria) नेत्र मे तिमिर (Cataract), अस्थियो का सरलता मे टूटना आदि लक्षण महत्वपूर्ण हैं। शरीर से कैलसियम (Cal:) तथा फासफोरस (Ph) का परित्याग होता है। क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) से लम्बी अस्थियों मे अनेक कोष्ठ (Cysts) मिल सकते हैं तथा अस्थियों में कैलसियम की कमी का प्रमाण मिलता है। शरीर के मृदु तन्तुओ मे कैलसियम सचय हो सकता है। लसिका (Serum) मे कैलसियम की मात्रा अधिक तथा फौसफोरस की मात्रा कम होती है। फौसफेटेस (Phosphatase) की मात्रा प्राकृत या उससे अधिक हो सकती है। उपावटुका ग्रथि में अर्बुद के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

चिकित्सा :—चिकित्सा की दृष्टि से ध्यान रखना चाहिये कि अस्थि में स्थानिक विकृति के कारण भी कोष्ठ (Cysts) बन सकते हैं। इस अवस्था मे रक्त मे कैलसियम तथा फौस्फोरस (Ph) की मात्राये प्राकृत होती हैं। इसका उपावटुकाग्रथि से कोई सम्बन्ध नहीं है। उपावटुकाग्रथि मे ग्रथ्यर्बुद (Adenoma) रहने पर शल्यकर्म (Op) द्वारा अर्बुद को निकाल देना चाहिये। शल्यकर्म (Op) के पश्चात् रक्त मे कैलसियम की अत्यधिक कमी होने के कारण अपतानिका (Tetany) के लक्षण हो सकते हैं। इसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। अधिक मात्रा मे जल पीने से वृक्क में अश्मरी (Stone) होनेकी सम्भावना कम रहती है। उपावटुका ग्रन्थि के स्राव मे वृद्धि रहने पर कैलसियम प्रधान आहार (पृ०४) प्रयोग नहीं करना चाहिये।

प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्रावीग्रन्थियों की कार्यहीनता (Hypogonadism)

यौवनारम्भ तक पुरुष तथा स्त्री दोनो मे दोनो प्रकार के प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्रावो (Sex hormones) की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् पुरुष मे वृषणग्रन्थि (Testes) के अन्तःस्राव की तथा स्त्री मे बीजग्रथि (Ovary) के स्राव की प्रधानता रहती है। वृद्धावस्था मे इन दोनो स्रावो की उत्तरोत्तर कमी होती जाती है। इस अवस्था को **रजोनिवृत्ति** (Meno-

pause) कहते हैं । आजकल यह शब्द पुरुष तथा स्त्री दोनों के लिये प्रयोग किया जाता है ।

पुरुष में यह अवस्था पहुँचने पर एकाग्रता तथा स्मरणशक्ति मे कमी, घबराहट, अष्ठीलाग्रन्थि (Prostate) की वृद्धि, शरीर में प्रोटीन (Ptn) की कमी तथा वृद्धावस्था के अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं । वृषणग्रथि के अन्तःस्राव मे अनेक कारणो से कमी हो सकती है जैसे :—अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) या पीयूषग्रन्थि (Pituitary) की कार्यशीलता मे कमी होने से, वृषणग्रन्थि में चोट लगने से, पाषाणगर्दभ (Mumps), उपदश (Gono :) आदि के उपसर्ग के कारण वृषणग्रन्थि मे अपजनन (Degeneration) होने से या सहज कारणों से वृषणग्रथि का विकास न होने से (Eunuchoidism) आदि । वृषणग्रथि पर शल्यकर्म (Op) करने से या उस पर क्ष-किरण (X-ray) के प्रभाव से भी वृषणग्रन्थि के अन्तः-स्राव मे कमी हो सकती है ।

स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के समय अनेक स्त्रियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता । किसी-किसी स्त्री में लक्षणों की उत्पत्ति होती है । ये लक्षण दो कारणों से होते है। प्रजननकाल की समाप्ति का ज्ञान स्त्रियो के **मानसिक** सन्तुलन को विकृत कर देता है तथा वाहिनी-नियन्त्रक (Vasomotor) संस्थान मे विकृति होती है । इसके कारण कभी-कभी चेहरे का लाल (Flushing) होना, मानसिक अस्थिरता, भावना (Emotion), चिड़चिड़ापन, घबराहट, नाड़ी की गति तीव्र, आलस्य, अत्यधिक गर्मी या सर्दी लगना आदि लक्षण होते हैं । बीज ग्रथि के अन्त.स्राव की समाप्ति के कारण **मासिकधर्म बन्द** हो जाता है । कभी-कभी मासिकधर्म पूर्णरूप से बन्द होने के पूर्व गर्भाशय से अत्यधिक रक्त-स्राव होता है । **निदान** को दृष्टि से यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रजोनिवृत्ति के पूर्व गर्भाशत से रक्त-स्राव घातक अर्बुद (Malignant tumor) के कारण भी होता है । आलस्य, नाड़ी की गति की तीव्रता आदि लक्षण, रक्ताल्पता (Anaemia), यक्ष्मा (T. B.), अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) के स्राव की वृद्धि के कारण भी हो सकते है । **स्त्रियों में** स्वाभाविक रजोनिवृत्ति (Menopause) के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी बीजग्रन्थि के स्राव मे कमी हो सकती है जैसे :—बीजग्रथि पर आघात, शल्यकर्म (Op), उपसर्ग, क्ष-किरण का प्रभाव, बीजग्रथि को निकाल

देना, अवटुका या पीयूषग्रथि के कार्य में कमी होना आदि। कभी कभी यह विकृती अकारणज भी होती है।

चिकित्सा :—चिकित्सा की दृष्टि से इस रोग को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक है। (क) **यावनारम्भ** के पूर्व यह विकृत **पुरुषों** में होने पर षढाभता (Eunuchoidism) होती है। इसमें शाखायें लम्बी होती हैं, पौरुष में कमी, पेशियों के विकास में कमी, वाणी उच्चतार (High pitched) होती है, अवटुकातरुणास्थि (Thyroid cartilage) की वृद्धि नहीं होती, भगास्थि (Pubis), कक्षा (Axilla) तथा चेहरे पर रोम की कमी, शिश्न (Penis) का छोटा होना, वृषणग्रंथि का छोटा रह जाना या उसका वृषण (Scrotum) में न पहुँचना (Undescended testes) आदि लक्षण होते हैं। **स्त्री में** यह विकृति होने पर मासिकधर्म प्रारम्भ होने मे विलम्ब होता है। स्तन का विकास नहीं होता। चिकित्सा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस अवस्था का निश्चित निदान यौवनारम्भ की आयु के पूर्व न किया जाय। यह सम्भव है कि यौवनारम्भ की आयु आने पर प्रजनन सम्बन्धी ग्रथियों का अन्तःस्राव प्राकृत हो जाय। यौवनारम्भ की आयु हो जाने पर भी यदि इन ग्रन्थियों के स्राव में कमी प्रतीत हो तब चिकित्सा करने से **पुरुषों** में शुक्रजीवाणु (Spermatozoa) की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। चिकित्सा से अन्य लक्षणों में लाभ हो सकता है परन्तु औषधि जीवन-पर्यन्त देना चाहिये। **स्त्रियों** मे चिकित्सा से अधिक लाभ होने की सम्भावना रहती है। उनमे मासिकधर्म प्रारम्भ हो सकता है तथा स्तन का विकास आदि स्त्रीत्व के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

(च) **पुरुषों** मे यौवनारम्भ के पूर्व वृषणग्रंथि (Testes) के स्राव मे कमी रहने पर **टेस्टोस्टेरॉन** (Testosterone) देना चाहिये। इसके ३ योग मिलते हैं (१) **मेथिल टेस्टोस्टेरॉन** (Methyl testosterone) मि ग्रा. ५–७५ द्वि. प्र. दि. मुख से अथवा जिह्वा के नीचे रखने के लिये दे सकते है। परिणाम अनिश्चित है। (२) **टेस्टोस्टेरॉन पेलेट** (Testosterone pellets) मि. ग्रा. ३०० से ६६० तक त्वचा के नीचे प्र. चा. मास यन्त्र द्वारा रख सकते है। परिणाम उत्तम है। इसके लिये त्वचा को चाकू से थोड़ा काटना पड़ता है। (३) टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट (Pro-

pionate) मि. ग्रा. २०–२५ प्र. दि. पेशीमार्ग से दें। लाभ होने पर ए. प्र. स. देना चाहिये।

(छ) **स्त्रियों** मे स्टिलवेस्टेरौल (Stilboestrol, ostrogen) अकेले या प्रोजेस्टेरौन (Progesterone) के साथ प्र. मास ३ सप्ताह पर्यन्त देना चाहिये। चतुर्थ सप्ताह औषधि बन्द रखना चाहिये। इनको तब तक देना चाहिये जब तक मासिकधर्म प्रारम्भ न हो जाय। स्टिलवेस्टेरौल मि. ग्रा. १/४–१ द्वि. प्र. दि. तथा प्रोजेस्टेरौन मि. ग्रा. ५ द्वि. प्र. दि. देना चाहिये।

(ख) **यौवनारम्भ के पश्चात** प्रजनन सम्बन्धी ग्रन्थियो के स्राव मे कमी होने पर **पुरुषों मे** शरीर के भिन्न भागों मे अत्यधिक मात्रा मे वसा (Fat) का सचय होता है, विशेषकर स्तन, नितम्ब तथा भगास्थि (Pubic) पर। प्रजनन की शक्ति कम या नष्ट हो जाती है। वृषण (Scrotum), वृषणग्रथि (Testes), शिश्न (Penis) आदि का आकार छोटा हो जाता है। त्वचा शुष्क तथा मृदु होती है। रोम मृदु तथा संख्या मे कम होते हैं। आकृति मिट्टी के समान घूसरवर्ण (Sallow) होती है। आकृति कभी-कभी रक्तवर्ण (Flushing) हो जाती है। इसके लिये **मेथिल-टेस्टोस्टेरॉन** मि. ग्रा. ५–१० द्वि. प्र. दि. मुख से देना चाहिए। यह औषधि वृद्धावस्था का दौर्बल्य रोकती है, प्रोटीन (Ptn) को नष्ट होने से बचाती है, लक्षणों का शमन करती है तथा वृद्धावस्था प्रारम्भ होने मे विलम्ब करती है। **स्त्रियों में** इसका प्रयोग करने से पेशीदौर्बल्य कम होता है, रक्तवाहिनियां (B.V.) की विकृति तथा गर्भाशय विकृति (Metropathia) मे लाभ होता है परन्तु पुरुषत्व के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। इसको अनेक काल पर्यन्त दे सकते हैं। **स्त्रियों में** यौवनारम्भ के पश्चात बीजग्रथि के स्राव में प्राकृत कमी होते समय (Menopause) यदि मासिकधर्म **नियमित** हो तब चिकित्सा अनावश्यक है। इसके अत्यन्त **अनियमित** रहने पर मासिक धर्म प्रारम्भ होने के एक सप्ताह पश्चात एस्ट्रोजेन (Estrogen) के योग मुख द्वारा ३ सप्ताह पर्यन्त देना चाहिये। मासिकधर्म के समय एक सप्ताह औषधि बन्द रखना चाहिये। स्टिलवेस्टेरौल (Stilboestrol) मि.ग्रा.१/४ द्वि.प्र.दि. या एथिनिल एस्ट्रेडियौल (Ethinyl estradiol) मि. ग्रा. ०·०२५ द्वि. प्र.दि. दे सकते हैं। यदि **मासिकधर्म बन्द** हो गया हो और रजोनिवृत्ति (Menopause) के लक्षण हों तब रोगिणी को ये औषधियों देने की दो

विधियाँ हैं (१) औषधि को अत्यल्प मात्रा में देना चाहिये। इनका अधिक मात्रा में प्रयोग करने से मासिकधर्म पुनः प्रारम्भ हो सकता है। (२) प्रारम्भ में औषधि अधिक मात्रा में देना चाहिये। लाभ होने पर मात्रा कम कर देना चाहिये। ओयेस्ट्रोजेन के योग जैसे स्टिलबेस्टेरोल डाइप्रोपियानेट (Stilboesterol dipropionate) या हेक्सोएस्ट्रोल (Hexo-estrol) प्रारम्भ में मि. ग्रा. ५ तक द्वि. या. त्रि. प्र. दि. मुख द्वारा दे सकते हैं। लक्षणों में लाभ होने पर औषधि की मात्रा शनैः शनैः कम कर मि. ग्रा. १ प्र. दि. देना चाहिये। इससे लाभ न होने पर इसका प्राकृत योग (Oestradiol benzoate) मि. ग्रा. ५ प्र. दि. पेशीमार्ग से दें। लाभ होने पर औषधि की मात्रा शनैः शनैः कम कर दें। मानसिक शान्ति के लिये मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy) करना चाहिये तथा फेनोबारबीटोन (Phn) ग्रे. १/४ त्रि. प्र. दि. आ. अ. दे सकते हैं। क्ष किरण (X-ray) आदि के कारण यदि मासिकधर्म बन्द हो गया हो तब एस्ट्रोजेन (Estrogen) द्वारा मासिकधर्म प्रारम्भ करने का प्रयत्न करना चाहिये।

रजोनिवृत्ति (Menopause) **के पश्चात्** स्त्रियों में कुछ विकृतियाँ हो सकती हैं :—योनि (Vulva) में खुजली, योनिगुहाशोथ (Vaginitis), अस्थिसौषिर्य (Osteoporpsis) आदि।

चिकित्सा :—इस अवस्था में इस्ट्रोजेन (Oesterogen) के योग दो सप्ताह देने से लाभ होता है। मुख से स्टिलबेस्ट्रोल (Stilbestrol) मि.ग्रा. ०·०१–० २५ द्वि.प्र.दि. या स्टिलबेस्ट्रोल डाइप्रोपियानेट (Dipropionate) मि. ग्रा. २·५ द्वि. या त्रि. प्र. दि. या ओयेस्टेरिडाल बेनजोयेट (Oesteridol benzoate) मि. ग्रा. ५ पेशीमार्ग से प्र. दि देना चाहिये। स्टिलबेस्ट्रोल की वर्त्ती (Suppository) मि. ग्रा. १ प्र. दि. योनिगुहा (Vagina) में रखना चाहिये।

स्थूलता (Obesity)

परिचय :—इस अवस्था में मनुष्य का भार प्राकृत भार से १० प्र.श. अधिक हो जाता है। शरीर में वसा (Fat) अथवा जल के सञ्चय होने से मनुष्य मोटा हो जाता है। इसके अनेक कारणों में अत्यधिक भोजन तथा व्यायाम में कमी सर्वोपरि कारण हैं। इसके अतिरिक्त अंतःस्रावी ग्रन्थियों (Endocr-

ines) के स्राव मे विपर्यय होने से भी स्थूलता हो सकती है। इसमे अवटुका-ग्रन्थि (Thyroid) तथा पीयूषग्रन्थि (Pituitary) के स्राव प्रमुख है। अवटुकाग्रन्थि के स्राव मे कमी होने से सर्वदा स्थूलता नहीं होती। पीयूषग्रन्थि के स्राव में कमी होने से **फ्रोलिक** (Frolich's syndrome) **का संरूप** होता है। उपवृक्क के शल्कीय भाग (Adrenal cortex) के स्राव की वृद्धि के कारण **कशिंग का संरूप** (Cushing s syndrome) होता है। उपाज्ञापिण्ड (Hypo-thalamus) की विकृति के कारण भी स्थूलता होती है। ये अवस्थायें विरल है।

चिकित्सा :—स्थूलता की चिकित्सा प्रधानतया आहार तथा व्यायाम के द्वारा करनी चाहिये। स्त्रियो मे भार कम करने मे व्यायाम का विशेष महत्व है, परन्तु व्यायाम से क्षुधा बढ़ती है और आहार कम करने मे कठिनाई होती है तथा अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। औषधियो का प्रयोग विशेष परि-स्थिति मे ही करना चाहिये।

(१) **भोजन :**—भोजन मे जल, लवण (Nacl) तथा वसा (Fat) की मात्रा अत्यल्प होनी चाहिये। कैलोरी (C) की मात्रा १००० प्र. दि. से अधिक नहीं होनी चाहिये। कैलोरी की प्र.दि. की मात्रा,प्राकृत मात्रा से जितनी कम होती है उतनी शीघ्रता से भार मे कमी होती है। १००० कैलोरी के आहार मे प्रोटीन (Ptn) ग्रा. १२५, कार्बोज (Cho) ग्रा. ७० तथा वसा ग्रा. २५ होना चाहिये। सर्वप्रथम प्रोटीन की मात्रा निर्धारित करनी चाहिये। रोगी का भार जितना सेर हो उतना ग्राम प्रोटीन देना चाहिये। इसकी प्रायः आधी मात्रा कार्बोज की होनी चाहिये। वसा की मात्रा अत्यल्प होनी चाहिये। क्षुधा शात करने तथा पेट भरने के लिये फल तथा तरकारी अधिक मात्रा मे देना चाहिये। प्रोटीन की मात्रा पूरी करने के लिये दुग्ध की प्रोटीन (Casein) तथा प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Ptn:hydrolysate) दे सकते है। इसका ध्यान रखना चाहिये कि जीवतिक्तिया मे किसी प्रकार की कमी न हो। जीव-तिक्ति 'ए' तथा 'डी' (Vit:A,D) के जल मे घुलनशील योग (Abdec drops) देना चाहिये। लवण बन्द करने से रोगी का भार शीघ्रता से कम होता है परन्तु यह कमी अस्थायी होती है। लवण देने से पुनः रोगी का भार बढने लगता है। शरीर मे यदि जल सचय होने की संभावना हो तब जल तथा लवण की मात्रा कम करनी चाहिये और पारद के मूत्रल योग

(Neptol) आदि का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। और कम हो जाने [illegible] रोगीको सर्वदा आहार पर नियंत्रण रखना चाहिये अन्यथा फिर बढ़ जायेगा। प्रातःकाल खाली पेट पर एक गिलास जल में नमक मिलो; इस रोग का विशेष महत्व बताया जाता है। कब्ज रहने पर त्रिफला, इसबगोल या भूसी [illegible] लेना चाहिये। भोजन में आलू, चावल, गेहूं, मिठाई आदि न लेना अच्छा है।

(२) औषधियाँ :—इनका प्रयोग रोगी की क्षुधा कम करने, समवर्त (Mbm) की वृद्धि करने तथा अन्तःस्रावी ग्रंथियों (Endocrines) की विकृति ठीक करने के लिये किया जाता है।

(क) **क्षुधा कम करने की औषधियाँ** :—एमफेटामीन सल्फ (Amphetamine sulph:) के योग प्रायः दिये जाते हैं। इन औषधियों के प्रयोग से क्षुधा में कमी के साथ-साथ नवियत प्रसन्न होती है परन्तु निद्रा में कमी होती है, इसलिये मध्याह्न के पश्चात इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ये औषधियाँ वातनाड़ी-संस्थान (CNS) को उत्तेजित करती हैं। उच्चरक्त निपीड़ (B. P.) तथा रक्त वह संस्थान (C V-System) के रोगों में इन औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन औषधियों को प्रातःकाल तथा मध्याह्न के भोजन के आध घंटा पूर्व द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। इनकी मात्रा है, **डेक्सेड्रिन** (Dexedrine) मि. ग्रा. २½–५, **बेनजेड्रीन** (Benzedrine) मि. ग्रा. ५–१०, **एमफेटामीन** (Amphetamine) गो. १–२, ऐडेलेट (Adetate S.D) चम्मच १ (मि. ग्रा. ४), डेसग्रॉक्सीन हाइड्रोक्लोर (Desoxyn hyd : Abt) आदि। इन औषधियों को रात्रि के भोजन के पूर्व नहीं देना चाहिये।

(ख) **समवर्त (Mbm) की वृद्धि करानेवाली औषधियाँ** :—इनका प्रभाव अनिश्चित है और इनका प्रयोग न करना ही अच्छा है। **डिनिट्रोफेनौल** (Dinitrophenol) अत्यन्त विषाक्त है। **अवटुकाग्रन्थि सत्व** (Thyroid ext:) के विषय में मतभेद है। कुछ लोग इसको साधारण स्थूलता में प्रभावहीन समझते हैं। अन्य लोग इसकी ग्रे. ½–१ द्वि. प्र. दि. कर प्र. दु. दि. देते हैं। अवटुकाग्रन्थि के स्राव में कमी रहने पर इससे लाभ हो सकता है, अन्यथा इसका प्रयोग निरर्थक प्रतीत होता है।

(ग) **अतःस्रावी ग्रंथियों (Endocrines) के स्राव की विकृति ठीक करानेवाली औषधियाँ** :—

१—पीयूषग्रंथि के स्राव की विकृति (Frolich's syndro-

me, pituitary type of obesity, dystrophia adiposo-genitalis) :—यह अवस्था यौवनारम्भ के पूर्व अथवा पश्चात् हो सकती है। यौवनारम्भ के पूर्व चिकित्सा प्रारम्भ करने से अधिक लाभ होने की सम्भावना रहती है। उदर, नितम्ब, भगास्थि (Pubic) के ऊपर, स्तन, आदि पर वसा (Fat) सन्चय होता है। एकाग्रता मे कमी, आलस्य, तन्द्रा (Drowsiness) आदि लक्षण होते है। **पुरुषों** मे प्रजनन सम्बन्धी अवयवों का विकास नहीं होता। रोम की कमी होती है। श्रोणास्थि (Pelvis) का आकार स्त्रियो के समान होता है। चलते समय दोनो जानु (Knee) आपस मे टकराते हैं। **स्त्रियों** मे मासिकधर्म प्रारम्भ होने मे विलम्ब होता है और जब वह प्रारम्भ होता है तब अल्प मात्रा मे रक्तस्राव होता है। करोटि (Skull) की क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा करने से पीयूषग्रन्थि के समीप की अस्थियो (Clinoid process, sella turcica) में विकृति मिल सकती है।

चिकित्सा :—इस अवस्था मे **पूर्व-पियूष ग्रंथि के सत्व** (Antuitrin's') सी० सी० १ पेशी द्वारा (S. C.) द्वि. या त्रि. प्र. स. देना चाहिये।

२–अवटुकाग्रंथि के स्राव की कमी (Hypo thyroidism):—इसमे अवटुका ग्रथिसत्व (Thyroid ext.) ग्रे. ½–१ द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये।

पीयूषग्रंथि (Pituitary) के रोग

(१) पूर्व पीयूषग्रन्थि सत्व की कमी (Simmond's disease, hypopituitary cachexia, pan-hypo-pituitarism, lack of ant: pituitaty function) :—इस रोग में रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। भार तथा क्षुधा मे कमी, समय के पूर्व वृद्धावस्था का आगमन, प्रजनन सम्बन्धी अवयवो की अपुष्टि (Atrophy) तथा उनके कार्य मे कमी, भगास्थि (Pubic), कक्षा (Axilla) तथा चेहरे पर रोम की कमी, मासिकधर्म न होना, त्वचा की अपुष्टि (Atrophy), आदि लक्षण होते हैं। आधारिक समवर्त (BMR) मे कमी होती है। मूत्र मे गोनाडोट्रोपीन (Gonadotropin) तथा १७–शौक्तसान्द्राभ (१७—

Ketosteroid) की मात्रा कम हो जाती है। ये रोगी इन्सुलिन (Insulin) तथा अवटुकाग्रन्थि सत्व (Thyroid ext :) सहन नहीं कर सकते। इसलिये इन औषधियो का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

चिकित्सा :—चिकित्सा का परिणाम निराशाप्रद है। पीयूषग्रंथि के सत्व की कमी पूरा करने के लिये कोई प्रभावशाली औषधि नहीं है। पीयूषग्रंथि सत्व की कमी के कारण उपवृक्क (Adrenal) तथा प्रजनन सम्बन्धी ग्रन्थियो के अन्तःस्राव (Sex-hormone) मे कमी होती है इसलिये इन ग्रन्थियो के स्राव जीवनपर्यन्त देना पडता है।

(क) **प्रजनन सम्बन्धी ग्रन्थियो के अन्तःस्राव** का प्रयोग :—इनमे **वृषणग्रंथिसत्व** (Testo-sterone) सर्वोत्तम है। इससे पुरुष तथा स्त्री दोनो मे लाभ होता है। स्त्री को पुरुष की मात्रा की आधी मात्रा देना चाहिये अन्यथा पुरुषत्व (Virility) के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। स्त्रियो मे पुरुषत्व के लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। यह औषधि प्रोटीन (Ptn) का निर्माण (Anabolic) करती है। मेथिल टेस्टोस्टेरौन (Methyl testosterone) मि. ग्रा. १२½ द्वि. प्र. दि. मुख से अथवा टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट (Propionate) मि. ग्रा. २५ पेशीमार्ग (I. M.) से प्र. दि. देना चाहिये। **बीजग्रन्थि सत्व, एथिनिल एस्ट्रेडिऔल** (Ethinyl-estradiol) मि. ग्रा. ०·०१–०·०२५ द्वि. प्र. दि. या स्टिलबेस्ट्रोल (Stilboestrol, diethyl-stilbestrol) मि. ग्रा. ०·१–०·२ त्रि. प्र. दि. दे सकते है।

(ख) उपवृक्क (Adrenal) के स्राव मे कमी रहने पर उपवृक्क के शल्कीय भाग के सत्व (Adreno cortical hormones) का प्रयोग करना चाहिये।

(२) **पीयूष ग्रंथि के स्राव की वृद्धि** :—इसके कारण दैत्यकास्थि (Gigantism), शाखावृहति (Acromegaly) आदि रोग होते है। प्रथम रोग यौवनारम्भ के पूर्व होने के कारण लम्बी अस्थियो का वृद्धि होती है और मनुष्य अत्यधिक ऊँचा हो जाता है। द्वितीय अवस्था यौवनारम्भ के पश्चात् होने के कारण मनुष्य लम्बा नही हो सकता परन्तु अस्थियाँ मोटी हो जाती है और शरीर के मृदु तन्तुओ (Soft-tissue) की वृद्धि होती है। रक्त मे

असेन्द्रिय फास्फोरस (Inorganic Ph) की मात्रा बढ जाती है। मूत्र में शर्करा मिल सकती है।

चिकित्सा :—पीयूषग्रन्थि के शरीर के विकास से सम्बन्धि अन्तःस्राव (Growth hormone) को कार्यहीन करने का प्रयत्न करना चाहिये। क्ष-किरण (X-ray) चिकित्सा का परिणाम अनिश्चित है। आ. अ. शल्यकर्म (Op) कर सकते है। इस रोग मे मेथिल टेस्टोस्टेरौन (Methyl testosterone) प्रयोग नहीं करना चाहिये। मूत्र की शर्करा कम करने के लिये इन्स्यूलिन (Insulin) का प्रयोग निरर्थक है। इस अवस्था मे इन्स्यूलिन कार्य नहीं करती। एथिनिल एस्टेरिडौल (Ethinyl-estradiol) मि. ग्रा. ०·०५–०·२५ द्वि. प्र. दि. मुख से तथा टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट (Testosterone propionate) मि. ग्रा. २५–५० पेशीमार्ग (I. M.) से प्र. दि. पुरुष तथा स्त्री दोनों मे प्रयोग कर सकते हैं। पुरुष में टेस्टोस्टेरौन की तथा स्त्री मे एस्ट्रेडियौल की मात्रा अधिक होनी चाहिये। ये औषधियाँ प्रायः यौवनारम्भ के पूर्व देने से अधिक लाभप्रद होती हैं।

(३) **उदकमेह** (Diabetes insipidus) :—इस रोग का वास्तविक कारण अज्ञात है। प्रायः अर्बुद के कारण पीयूषग्रन्थि का पश्चिम भाग (Post : pituitary) नष्ट हो जाता है। इस रोग में मूत्र के मात्रा की अत्यधिक वृद्धि होती है तथा रोगी को अत्यधिक प्यास लगती है। मूत्र का वि. गु. १००६ से कम रहता है। मूत्र मे शर्करा नहीं आती।

चिकित्सा :—यदि शल्यकर्म (Op) से लाभ होने की सम्भावना हो तब शल्यकर्म करना चाहिये। लवण (Nacl) कम करने से लक्षणों मे कमी होती है। इसकी चिकित्सा मे **पीयूषग्रंथि के पश्चिम भाग** के स्राव से विशेष लाभ होता है। यह-पदार्थ रक्त-वाहिनियो का संकोच (Vasopressor) तथा रक्त-निपीड (B. P.) की वृद्धि कराता है। इसके प्रयोग से लक्षणों का शमन होता है और निदान मे भी सहायता मिलती है। इसके निम्न योग है :—(**क**) **पिट्रेसिनटैनेट** (Pitressin tannate P. D.) :—यह औषधि तेल मे बनी है। इसको पेशीमार्ग (I. M.) से देने से इसका प्रभाव २–३ दिन तक रहता है। इसकी सी. सी. १ द्वि. प्र. स. या १/४ सी. सी. प्र. दि. कर दो सप्ताह पर्यन्त, तत्पश्चात् सी. सी. १/२ त्रि. प्र. स. देना चाहिये। (**ख**) **पश्चिम पियूषग्रंथि सत्व की सुँघनी** (Post:

pituitary snuff) त्रि. प्र. दि. सूँघना चाहिये। इसकी प्र. मात्रा में औषधि ग्रे. ½–१ रहती है। औषधि नाक में प्रक्षोभ करती है तथा इस मार्ग से औषधि का प्रचूषण सन्देहास्पद है।

बहुमूत्रता (उदकमेह) की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

सर्व मेहो की भाँति सशोधन, पथ्य व अनुपान होना चाहिये परन्तु जहाँ तक सम्भव हो तरल पदार्थ कम दें। खजूर, पक्का केला, व काले तिल के बड़े खिलावें। त्रिफला, शतावरी, विदारीकन्द, दूध आदि का प्रयोग उत्तम है। अनुपानार्थ बिम्बीपत्र, गूलर, पुनर्नवा, करंजफूल प्रयोग मे लावें।

औषधियाँ :—निम्बादि क्वाथ, मूत्रसंग्रहण क्वाथ, जातिफलादि चूर्ण, सर्वतोभद्र वटी, चन्द्रप्रभा वटी।

रसौषधियाँ :—कनक सुन्दर रस, तारकेश्वर रस, सोमनाथ रस, हेमनाथ रस, वसन्त कुसुमाकर रस, बहुमूत्रातक रस।

उपवृक्क के शल्क (Adrenal cortex) के रोग।

(१) अडीसन का रोग (Addison's disease) :—

परिचय :—इस रोग मे उपवृक्क के शल्क के अन्तःस्राव (Hormone) मे कमी हो जाती है। रोग का कारण अज्ञात है। कभी-कभी उपवृक्क मे यक्ष्मा (T. B.) मिलता है। क्षुधा मे कमी, जी मिचलाना, वमन, पतले दस्त, दौर्बल्य, त्वचा तथा श्लैश्मिक कला (M. M.) पर भूरे रंग के धब्बे, रक्त निपीड़ (B. P.) की कमी, कार्बोज (Cho) के समवर्त (Mbm) मे विकृति आदि लक्षण होते हैं। त्वचा किसी भी प्रकार का प्रक्षोभ सहन नहीं कर सकती। रक्त मे लवण (Nacl) तथा शर्करा में कमी होती है। जल तथा सोडियम (Na) का अत्यधिक मात्रा में परित्याग होता है। रक्त मे अ. प्रो. भू. (N. P. N.) तथा पोटासियम (K) की वृद्धि होती है। रक्त की मात्रा कम हो जानी है तथा रक्त के सम्पूर्ण शरीर मे भ्रमण करने के समय मे कमी होती है। जल परीक्षा (Water test) अस्त्यात्मक (+) होती हैं। स्त्रियों मे मूत्र मे १७–कीटोस्टेरौयड (17–Ketosteroid) की मात्रा कम हो जाती है। ये रोगी मौरफीन (Morphine) तथा व्यापक संज्ञाहर (General anaesthetics) सहन नहीं कर सकते।

चिकित्सा। (अ) **चिरकालीन अवस्था :**–डोका (DOCA) तथा

कौरटीसोन (Cortisone) का जब से पता चला है, चिकित्सा मे पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। चिकित्सा का परिणाम आशाप्रद है। **डोका** (DOCA) इस रोग की विशिष्ट औषधि है। इससे लाभ न होने पर **कौरटीसोन** का प्रयोग करना चाहिये। **भोजन** मे प्रोटीन (Ptn) तथा कार्बोज (Cho) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। भोजन मे पोटासियम (K) की मात्रा कम नहीं होनी चाहिये अन्यथा 'डोका' के प्रयोग से इसकी कमी के लक्षण हो सकते हैं। 'डोका' के प्रयोग के कारण लवण (Nacl) का प्रयोग भी अनावश्यक हो गया है। डोका शरीर के रसायनिक पदार्थों का सन्तुलन (Electrolyte balance) तथा कार्बोज का समवर्त (Mbm) ठीक रखता है। डोका के साथ अधिक मात्रा में लवण देने से शोफ हो सकता है। चिकित्सा से लाभ होने पर रोगी की क्षुधा तथा बल मे वृद्धि होती है। रक्तनिपीड़ (B.P.) तथा रक्त के रसायनिक पदार्थों की मात्राये प्राकृत हो जाती हैं। रोगीके भार में वृद्धि होती है। हृदय का आकार प्राकृत हो जाता है। 'डोका' की **विषाक्तता** के कारण शरीर के नीचेवाले भागों पर शोफ (Oedema) होता है। पोटासियम (K) की कमी के कारण पेशियों में दौर्बल्य तथा अगघात होता है। रोगी के भार, रक्त निपीड़ (BP) तथा हृदय के आकार की वृद्धि होनी है। इस रोग में स्त्रियो मे ए. सी. टी. एच (ACTH) कार्य नहीं करता। इससे निदान में सहायता मिल सकती है।

(क) डोका (Doca) :—पेशी मार्ग से मि. ग्रा. ५–८ प्र. दि. देना चाहिये। लाभ होने पर मि.ग्रा.२–४ द्वि.प्र.दि. जिह्वा के नीचे रखना चाहिये।

(ख) कौरटीसोन (Cortisone) :—इसका प्रभाव भी उत्तम है। इसको 'डोका' के साथ अथवा अकेले ही दे सकते है। इसको मि. ग्रा. १०–२० त्रि. प्र. दि. मुख या पेशी मार्ग से दे सकते है। इसकी मि. ग्रा. ५०० की मात्रा शल्यकर्म (Op) द्वारा त्वचा के नीचे रख देने से दीर्घकाल पर्यन्त औषधि का प्रभाव रहता है।

(आ) दारुणय (Crisis) **की चिकित्सा** :—इस अवस्था मे रोग के लक्षण अकस्मात् उग्र हो जाते है। इस अवस्था की चिकित्सा तत्परता से करना चाहिये तथा विशिष्ट औषधियो को अत्यधिक मात्रा मे प्रयोग करना चाहिये। एड्रीनलीन (Adrenalin) का प्रभाव क्षणिक होता है। विशिष्ट औषधि के साथ सिरामार्ग से ग्लूकोस,लवण (Nacl) तथा जल पा.२ तत्काल

४०–७० बूँद प्र. मि. की गति से देना चाहिये। ग्लूकोस की मात्रा ५–१० प्र. श. होनी चाहिये। रोगी की अवस्था अधिक गम्भीर न रहने पर लवण की मात्रा ०.६ प्र. श. तथा अत्यधिक गम्भीर रहने पर लवण की मात्रा १½ प्र. श. होनी चाहिये। इस घोल मे **जल में बना सम्पूर्ण उपवृक्क के शल्क का सत्व** (Whole adrenal cortical ext:, Cortin) सी. सी. २५–५० मिला देना चाहिये। अत्यधिक गम्भीर अवस्था के प्रारम्भ में इस औषधि को इसी मात्रा में अकेले सिरामार्ग से देना चाहिये, तत्पश्चात् इसी मात्रा को ग्लूकोस तथा लवण के घोल मे मिला कर देना चाहिये, तदुपरान्त इसी मात्रा को पेशीमार्ग से प्रति २ से ६ घण्टे देना चाहिये। इस औषधि के साथ-साथ इसका तेल मे बना योग (Lipoadrenal cortex) सी. सी. ५–१० पेशीमार्ग से भी दे सकते हैं। शरीर में जब तक जल तथा लवण की कमी प्रतीत हो तब तक ग्लूकोस तथा लवण का घोल (Glucose saline) सिरामार्ग से देना चाहिये। रक्तरस (Plasma) पा. १ सिरामार्ग से देने से शीघ्रता से लाभ होता है। तीन दिन मे पर्याप्त सुधार हो जाता है। रोगी की अवस्था मे सुधार हो जाने पर औषधि की मात्रा शनैः शनैः कम करना चाहिये तथा इसके स्थान पर '**डोका**' (DOCA) दे सकते हैं। **कोरटीसोन** (Cortisone) प्रायोगिक अवस्था में है। इसकी मि.ग्रा. १००–३०० तक की मात्रा पेशीमार्ग से द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये।

(इ) **अन्य चिकित्सा :–अडिसन के रोग** के रोगी को शीत से बचना चाहिये तथा रोग की तीव्रता के समय शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। इसके लिए पौष्टिक औषधियाँ तथा आहार देना चाहिए। उपसर्ग (Ifn) से यथासंभव बचना चाहिये। उपसर्ग होने पर तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियो द्वारा उसकी तत्परता से चिकित्सा करनी चाहिये। वृषणग्रथि (Testes) सत्व के प्रयोग से रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करता है तथा प्रोटीन का सचय (Anabolism) होता है। मेथिलटेस्टोस्टेरोन (methyl testosterone) मुख द्वारा मि. ग्रा. ५–१० द्वि. प्र. दि. या टेस्टोस्टेरोन प्रोपियोनेट (Testosterone propionate) मि. ग्रा. २५ पेशीमार्ग (I. M.) से प्र. दि. दे सकते हैं।

(२) **कशिंग का रूप** (Cushings syndrome) :—इस रोग मे

प्राथमिक विकृति पीयूषग्रंथि में होती हैं। पूर्व पियूषग्रथि (Ant:pituitary) के अंतःस्राव की वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप उपवृक्क के शल्क (Adrenal cortex) के अतःस्राव की वृद्धि होती है। कभी-कभी उपवृक्क मे अर्बुद (Tumour) मिलता है। रोग कष्टसाध्य तथा मारक है।

लक्षण :—भार, रक्तनिपीड़ (B.P.) तथा वसा (Fat) की वृद्धि होती है। कटि के ऊपरी भाग जैसे चेहरा, ग्रीवा, मध्यशरीर (Trunk) आदि पर वसा संचय होता है। दौर्बल्य, अस्थिसौषिर्य (Osteoporosis), उदर पर रेखायें (Striae), त्वचा पर सरलता से चोट (Bruise) लगने की प्रवृत्ति, मूत्र में शर्करा तथा प्रजनन सम्बन्धी अवयवों का विपर्यय आदि लक्षण होते है। मूत्र की शर्करा पर इनस्यूलिन (Insulin) का प्रभाव नहीं होता। पुरुषो में वृषणग्रथि (Testes) नष्ट हो जाती है। स्त्रियों में साधारण पुरुषत्व के लक्षण होते हैं तथा मासिकधर्म बन्द हो जाता है। **रक्त** में उषसिप्रिय (Eo) की सख्या कम हो जाती है। स्त्रियो के मूत्र मे ११-ऑक्सी-स्टेरौयेड (11-Oxysteroids) की मात्रा अधिक हा जाती है।

चिकित्सा :—इस रोग की कोई विशिष्ट औषधि नहीं है। उपवृक्क मे अर्बुद रहने पर शल्यकर्म (Op) कर सकते हैं परन्तु मृत्यु की सभावना अधिक रहती है। विशेष परिस्थिति मे पीयूषग्रंथि (Pituitary) की क्ष-किरण (X-Ray) द्वारा चिकित्सा कर सकते हैं। कभी कभी रोगी के लक्षण स्वयं ही अनेक समय तक के लिये शान्त हो जाते हैं। **भोजन** मे प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। **वृषणग्रंथि सत्व** (Testosterone) देने से पीयूषग्रथि से जो **ए.सी.टी.एच.** (ACTH) के समान पदार्थ निकलता है उसको कार्यहीन किया जा सकता है तथा शरीर मे नाइट्रोजन का सतुलन (Nitrogen balance) ठीक किया जा सकता है। परिणामस्वरूप लक्षणों का शमन होता है। टेस्टोस्टेरौन प्रोपियोनेट (Testosterone : propionate) मि. ग्रा. २५–५० पेशीमार्ग (I. M.) से प्र. दि. देना चाहिये।

सप्तम अध्याय

पचन-संस्थान

पूयदन्त (Pyorrhoea alveolaris)

परिचय :—इस चिरकालीन रोग में मसूड़ों की विकृति के कारण दाँत ढीले हो जाते हैं और मसूड़ा दबाने से पूय निकलता है। भोजन के पश्चात् मुख ठीक से साफ नहीं करने से यह रोग होता है। जार्वातिक्ति 'ए', 'डी', सी' (Vit · A.D.C.) की कमी, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrines) की विकृति, कैलसियम (Cal :) के समवर्त (Mbm) में विकृति, उपसर्ग (Ifn) आदि से इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। रोग प्रायः नीचे के कर्तनकों (Incisors) में प्रारम्भ होता है। मुख में सर्वदा उपसर्ग रहने के कारण शरीर के भिन्न भागों में व्यापक विकृति होती है। मसूड़ों में प्रायः स्ट्रेप्टो (Strepto :) तथा स्टेफिलो (Staphy:) का उपसर्ग रहता है। यह उपसर्ग पित्ताशय (Gallbladder), उण्डुकपुच्छ (Appendix), कण्ठ, तुण्डिकाओं (Tonsils), आमाशय (St :), सन्धि (Jts) वातनाड़ी आदि में शोथ उत्पन्न कर सकता है।

चिकित्सा :—विकृत दाँत को निकलवा देना चाहिये। दाँत पर दन्त-शर्करा (Tartar) यदि सचय हो तो उसको दन्तकार (Dentist) की मदद से निकलवा देना चाहिये। भो. प. तथा सोने के पूर्व पास्टुरीन (Pasturin), लिस्टरीन (Listerin), सोडी बाइकार्ब (Sodi : bi : carb :) आदि च. १ गरम पानी एक गिलास में मिलाकर कुल्ला करना चाहिये। सरसों के तेल में नमक मिलाकर मसूड़ों की द्वि. प्र. दि. मालिश करना चाहिये। ग्लिसरीन में टैनिक एसिड (Tannic acid) ५ प्र. श. मिलाकर भी मसूड़ों की मालिश कर सकते है। रात में मुख में पान रखकर नहीं सोना चाहिये। तमाखु के प्रयोग से हानि होती है। टूथब्रश (Toothbrush) से दतुअन अधिक उपयुक्त है। टूथब्रश यदि प्रयोग किया जाय तब उसको पोटास परमैंगनेट ($Kmno_4$) के हलके गुलाबी रंग के घोल में डुबाकर प्र. दि. साफ कर लेना चाहिये। टूथब्रश दाँतों पर ऊपर-नीचे की दिशाओं में ही रगड़ना चाहिये। उसको एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में रगड़ने से दाँतों

की जड़ मे दरार पड़ने का भय रहता है। मसूड़ो से पूय निकाल कर उसकी आत्ममसूरी (Auto vaccine) बनाकर इन्जेक्शन दे सकते है। दाँत साफ रखने के लिये भोजन को चबाकर खाना चाहिये। अधिक गरम, ठंढा या खट्टा पदार्थ नहीं खाना चाहिये। कब्ज की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। पौष्टिक आहार तथा औषधियो मे स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। व्यायाम, जीवतीक्ति ए. सी. डी. (Vit : A.C.D.) आदि का सेवन करना चाहिये। दाँत मे पीडा रहने पर क्रेओजेट (यो. ८४) लगाना चाहिए। उपसर्ग के कारण दाँत के जड से रक्तस्राव होने पर पेनिसिलीन (P) का इन्जेक्शन लगाना चाहिये तथा रूई मे टि. फेरी परक्लोर (Tr. ferri : per : cholor), गेंदे की पत्ती का रस (Tr : calendula), एड्रिनलीन (Adrenaline) १:१००० लगाकर दाँत के समीप गढ्ढे मे रखकर दबाना चाहिये। मुख से दुर्गन्ध आने पर क्लोरोफिल (Chlorophyll) का प्रयोग करना चाहिये तथा प्याज, लहसुन आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। मसूड़ों से अत्यधिक रक्तस्राव होने पर रक्तस्राव (Bleeding) की साधारण चिकित्सा (पृ.१७४) करनी चाहिए। रक्तस्राव के कारण का जानना आवश्यक है। कालज्वर (K. A.) मे एन्टीमनी (Sb.) के इन्जेक्शन से रक्तस्राव बन्द होता है। रक्त के रोगो मे रक्तप्रदान (Blood trns :) से लाभ होता है। उपसर्ग रहने पर तृणाणुनाशक औषधियाँ (Antibiotics) प्रयोग करना चाहिए। मसूड़ो मे **रक्तस्राव निरोधी औषधियाँ** (सर्पविष) आदि लगा सकते हैं।

पूयदन्त की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—बीच-बीच में विरेचक औषधियो द्वारा कोष्ठ शुद्ध करावें। मुख शुद्धि कारक कवल धारण करे। भोजनोपरात दाँतो को भलीभाति साफ करे। प्रातः नीम की दातून और सोते समय मंजन का प्रयोग करे। शेष चिकित्सा मुखपाकवत ही है।

औपसर्गिक एक न्यष्टिकता (Infectious mononucleosis)

परिचय :—इस अज्ञात कारण-जन्य औपसर्गिक रोग मे **कण्ठ में पीड़ा**, रक्त मे **लसकायाणुओं** (Lympho :) की वृद्धि, दौर्बल्य, ज्वर, प्लीहा तथा लसग्रन्थियो (Lymph glands) की वृद्धि, विस्फोट (Rash) आदि लक्षण होते है। रोग का **विषाणु** (Virus) जन्य होना सम्भव प्रतीत होता है। अन्तर्हृत्शोथ (Endocarditis), यकृतशोथ

(Hepatitis), प्लीहा का विदीर्ण (Rupture) होना, मस्तिष्कशोथ (Encephalitis) आदि उपद्रव होते हैं।

चिकित्सा :—इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है। लक्षणों तथा उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर की अवधि पर्यन्त शैय्या पर विश्राम करना चाहिये तथा आहार तरल (पृ. ३) देना चाहिये। एक गिलास गरम पानी में लवण, ग्लूकोस (Glucose) या पास्टूरिन (Pasturin) मिला कर त्रि. प्र. दि. कुल्ला करना चाहिये। पीड़ा के लिये ए. पी. सी. (यो. ६२) आदि पीड़ाहर औषधि आ. अ. दे सकते हैं। पौष्टिक आहार तथा औषधियों के द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये।

मुखशोथ (Stomatitis)।

परिचय :—इस अवस्था में उपसर्ग, जीवतिक्ति 'बी' या 'सी' (Vit: 'B', 'C') की कमी, आघात, अनूर्जता (Allergy), रक्त के रोग, पोषणाभाव, दौर्बल्य, कृमिदन्त (Caries), पारद (Hg), फिरंग, आदि के कारण मुख में शोथ होता है।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—कब्ज की चिकित्सा करनी चाहिये। जीवतिक्ति 'बी' तथा 'सी' (Vit: B. & C.) और यकृतसत्व (Liver ext:) का प्रयोग उत्तम है। पोटास क्लोरस २½ प्र. श. से भो. प. कुल्ला करना चाहिये। पेनिसिलिन (P) का प्रयोग कर सकते हैं। रोग के कारण का पता लगाना चाहिये और उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। दांत में विकृति रहने पर दंतकार की मदद से उसको ठीक कराना चाहिये। एक गिलास गरम पानी में लवण या हाइड्रोजन परौक्साइड (H_2O_2) या पास्टूरिन (Pasturin) च. १ मिला कर त्रि. या चा. प्र. दि. भो. प. कुल्ला करना चाहिये। पोटास परमैंगनेट ($Kmno_4$) के हलके गुलाबी रंग के घोल या सोडियम परबोरेट (Na:perborate) का जल में घोल, से भी कुल्ला कर सकते है। व्रण के ऊपर मरक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) १प्र.श., बोरोग्लिसरीन (Boro-glycerine), कोलारगोल (Collargol) २ प्र.श., क्रोमिक एसिड (Chromic acid) ३ प्र. श, टि. बेनजोइन (Tr. Benzoin co), सिलवर नाइट्रेट ($Agno_3$) ५ प्र.श, आदि द्वि. प्र. दि. लगाने से लाभ होता है। पेनिसिलीन (P) की ५००० अ. इ. प्र. गो. (Lozenges) या औरियोमायसीन (Au) मि. ग्रा. १२ प्र. गो., ८

गोली नक प्र. दि. चूसने को देना चाहिये। जीवतिक्ति 'बी' संपूर्ण (Vit: B. Complex) की गो. २–४ त्रि. प्र. दि मुख से या सी.सी. १–२ पेशीमार्ग (I.M.) से त्रि. प्र. स, देना चाहिए।

(२) **विशिष्ट :**—मुख से **स्राव लेकर परीक्षा करने** पर यदि (क) **चक्राणु** (Spirochaetes) मिले तब एन. ए. बी. (N.A.B. M.B) ग्रा. ६ प. ज. सी. सी. ४ में मिलाकर व्रण पर लगाना चाहिए। ग्लिसरीन में पोटासक्लोरेट (Pot:chlorate) ३ प्र. श. या तूतिया (Copper sulph) १ प्र. श., भी लगाया जाता है। तमाखु तथा मद्य का प्रयोग नहीं करना चाहिये। बिना मिर्च मसाला आदि का साधारण भोजन करना चाहिये। (ख) **चक्राणु के साथ साथ यवाकार दण्डाणु** (Fusiform bacillus) मिलने पर उसको **विसेंट का गलरोग** (Vincent's angina) कहते हैं। इसके कारण के विषय में शंका है। परिसर्प का **विषाणु** (Herpes virus) भी इसका कारण माना जाता है। इस रोग में सखिया (As) तथा पेनिसिलीन (P) के प्रयोग से लाभ होता है। प्राकेन पेनिसिलीन (Pr. P.) ४ ल. अ. इ. पेशीमार्ग (I. M.) से ए.प्र.दि. देना चाहिये। पेनिसिलीन की मुखटिकिया (Lozenges) ५००० अं. इ. प्र. टिकिया ८–१० टिकिया प्र. दि. चूसने को देना चाहिये। एन. ए. बी. (N. A. B.) ग्रा. ०·१५–३ सिरामार्ग (I. V.) से प्रति ५ पचम दिन दे सकते है। औरियोमायसीन (Au), टेरामायसीन (Tn), क्लोरामायसिटीन (Cln), एक्रोमायसीन (Acn) आदि से भी लाभ होता है। (ग) **मोनिला छत्राणु** (Odium albicans) मिलने पर उसको बालमुखपाक (Thrush) कहते हैं। यह रोग प्रायः दुर्बल शिशुओं में होता है। मुख की स्थानिक चिकित्सा के अतिरिक्त शिशु को प्रोटीन (Ptn) प्रधान आहार देना चाहिये। जीवतिक्ति 'ए' तथा 'डी' (Vit : A. D.) प्रधान आहार (पृ. ५,६) भी देना चाहिए। शिशु यदि बोतल से दूध पीता हो तब बोतल का प्रयोग करने के पूर्व तथा पश्चात् गरम पानी से धोना चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। इसकी कोई विशिष्ट औषधि नहीं है।

(३) मुखपाक की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

सर्वप्रथम एरण्ड तैल या अन्य रेचक औषधि से कोष्ठ शुद्धि करे। तत्प-

श्रात् मन्दाग्निनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। एतदर्थ अग्नितुण्डी वटी और विविपाचक चूर्ण प्रयोग करे। दांतों का व मुख का शुद्ध रखना आवश्यक है।

कवलधारण करना हितकारी है, बब्बूलत्वक् क्वाथ या त्रिफला क्वाथ से कुल्ला करना चाहिये। इरिमेदादि तैल मुख में लगावें तथा चूसनार्थ खदिरादि वटी प्रयोग करें। घाई पत्थर (संगजरात) और गेरू का चूर्ण लगाने से भी मुखपाक अच्छा होता है।

तुण्डिका शोथ (Tonsillitis)

परिचय :—इस अवस्था में तुण्डिकाओं मे शोथ होता है।

(क) **तीव्रावस्था में** अकस्मात कण्ठ में पीड़ा, कप के साथ ज्वर, शिर तथा पेशियों में पीड़ा, दुर्गन्धित श्वसन, मलावृत जिह्वा तथा दोनों पार्श्व की ग्रैविक लसग्रन्थियों (Cervical lymph glands) की वृद्धि होती है। कभी-कभी तुण्डिकाओं पर पूय के कारण रोहिणी के समान सफेद धब्बे मिलते हैं। रोहिणी (Diphtheria) में इन धब्बों को हटाने का प्रयत्न करने से रक्तस्राव होता है। तुण्डिकाशोथ में ये धब्बे रुई से विना रक्तस्राव के हटाये जा सकते हैं। तुण्डिकाशोथ प्रायः दुर्बल रोगियों में होता है। यह रोग, रोगक्षमता (Immunity) में कमी करता है और कण्ठ मे उपसर्ग को बनाये रखता है। यह उपसर्ग अवसर मिलने पर शरीर में उपद्रव करते हैं। इस रोग का आमवात (Rheumatism), फिरंग (Syphilis), लासक (Chorea), श्वेतकणों की अत्यधिक कमी (Agranulocitosis), आदि से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। उपद्रवस्वरूप सन्धिशोथ (Arthritis), मध्यकर्णशोथ (Otitis media), लसग्रन्थिशोथ (Adenitis), अन्तर्हृच्छोथ (Endocarditis), पेशीशोथ (Myositis), वृक्कशोथ (Nephritis), परितुण्डिका विद्रधि (peritonsillar abscess) आदि विकृतियां होती हैं। कण्ठ से स्राव लेकर परीक्षा करने से मालागोलाणु (Strepto:), स्तवकगोलाणु (Staphylo) आदि जीवाणु मिलते हैं।

चिकित्सा :—पेनिसिलीन (P) का इन्जेक्शन, पेनिसिलीन की ५००० अ. इ. म. गो. (Lozenges) का प्रचूषण, सल्फा (S) औषधि का मुख द्वारा प्रयोग तथा उष्णजल में लवण मिलाकर गरारा (Gargle) करना

चाहिये। आ. अ. शल्यकर्म (Op:) कर सकते हैं। आमवात (Rheumatism) का इतिहास रहने पर शल्यकर्म (Op :) नहीं करना चाहिये। चिरकालीन अवस्था मे रोगी को स्वास्थ्यवर्धक औषधियाँ, पौष्टिक भोजन तथा तुण्डिकाओं पर आयरन ग्लिसरीन (Iron glycerin) लगाना चाहिये। यदि शल्यकर्म करने लायक रोगी की स्थिति न हो तब अन्तस्तापन (Diathermy) या गम्भीर च-किरण (X ray) द्वारा तुण्डिकाओं को नष्ट कर सकते हैं। सल्फा (S) तथा पेनिसिलीन (P) इस रोग की विशिष्ट औषधियाँ हैं। सल्फा डियाजीन (S-diazine) गो. २ (यो. ४७,६६) मुख द्वारा त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr. P.) ४ ल. अं. इ. पेशीमार्ग (I. M.) से ए. या. द्वि. प्र. दि. दे सकते हैं। पीड़ा के लिये ए.पी.सी. (यो. ६२), सिबाल्जिन (Cibalgin) गो. १, सोडी सैलसिलस (यो. २८) आदि पीड़ाहर औषधियाँ आ. अ. दे सकते हैं। ज्वर की अवस्था में रोगी को तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। बनफशा का फूल घी मे गरम कर या एन्टीफ्लेमिन (Antiflamine) गरम कर कण्ठ पर बाँधने से पीडा कम होती है। जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) का अधिक मात्रा मे प्रयोग करना चाहिये। लिस्टरीन, (Listerin), पास्टुरीन (Pasturin), ग्लाइकोथायमोलीन (Glycothymoline) आदि च. १–२ एक ग्लास गरम पानी मे मिला कर ३–४ वार प्र. दि. गरारा करना चाहिये। कण्ठ में औषधि लगाने से लाभ की अपेक्षा अधिक हानि होती है। डिविलबिस के यन्त्र (Devilbis spray) द्वारा मिस्टौल (Mistol), एन्ड्रीन (Endrine), प्रोथ्रीसीन (Prothricine), टायरोथ्रिसीन (Tyrothricin), पैट्यूलीन (Patulin) आदि कण्ठ मे छिड़क सकते हैं। एक लोटा पानी में टि. बेनजोइन च. २–४ डालकर, उबाल कर भाप सूँघने से लाभ होता है। पेनिसिलीन की मुखटिकिया (Lozenges) ८–१० प्र. दि. चूसने को दे सकते हैं। उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। तीव्र अवस्था का शमन हो जाने पर पौष्टिक आहार तथा औषधियों द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि कराना चाहिये।

(ख) चिरकालीन अवस्था में गलतोरणिका के अग्रस्तम्भ (Ant: pillars of fauces) रक्तवर्ण तथा ग्रीवा की लसग्रन्थियाँ (Lymph glands) वृद्धित रहती हैं। तुण्डिका दबाने से पूय निकलता है। साथ-

साथ कण्ठशालूक (Adenoids) की वृद्धि भी मिल सकती है। इस अवस्था मे विशेष प्रकार की आकृति हो जाती है। रोगी मुख से श्वास लेता है। बार-बार शीत लगने की प्रकृति हो जाती है। शुष्क खाँसी, निद्रा मे कमी आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—इसकी स्थानिक चिकित्सा तीव्र अवस्था के समान है। कण्ठ से स्राव लेकर आत्ममसूरी (Autovaccine) बनवा कर प्रति पाँचवे दिन इन्जेक्शन लगा सकते हैं। शल्य चिकित्सा (Op) मे शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। मसूरि की प्रथम मात्रा म ५ करोड़ मृत जीवाणु होने चाहिए। जीवाणुओ की सख्या प्रति बार ५ करोड़ बढ़ाना चाहिये। पौष्टिक आहार, पौष्टिक औषधि, शुद्ध वायु तथा प्राणायाम से रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करनी चाहिये। भोजन मे दूध, अण्डा मक्खन आदि का अधिक मात्रा मे प्रयोग करना चाहिये।

(२) शल्यकर्म (Op):—तुण्डिकाओ के अन्दर पूय रहने पर, साधारण चिकित्सा से तुण्डिका दबाने से पूय का निकलना बन्द न होने पर, ज्वर रहने पर, श्वासावरोध के कारण बालक के शरीर का विकास न होने पर, बार-बार श्वसन-मार्ग मे उपसर्ग होने पर तथा ग्रीवा की लसग्रंथियो की वृद्धि (Adenitis) चिरकालीन हो जानेपर शल्यकर्म द्वारा तुण्डिकायें निकाल देना चाहिये। शल्यकर्म के पश्चात् अन्तर्हृच्छोथ (Endocarditis), पलित-सुषुम्नाशोथ (Poliomyelitis) आदि उपद्रव हो सकते हैं। बाल्यावस्था मे १०–१२ वर्ष की आयु म प्रायः शल्यकर्म करना सर्वोत्तम है। तुण्डिकाओ के समीप पूय रहने पर (Peritonsillar abscess) स्थानिक सज्ञाहर औषधि (Local anaesthetic) की सहायता से पूय को निकाल देना चाहिये।

उदनीरिकाम्ल की वृद्धि (Hyper-chlorhydria)।

परिचय :—प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer), पित्ताशयशोथ (Cholecystitis), उण्डुकपुच्छशोथ (Appendicitis) आदि रोगों मे आमाशय मे उदनीरिकाम्ल (Hcl) की वृद्धि होती है। कार्बोज (Cho) प्रधान आहार, चाय, कौफी, मद्य, तमाखू आदि के कारण भी यह विकृति होती है। भोजन के समय जल्दी करना, अत्यधिक आहार, भोजन चबाने मे कमी, चिन्ता, कब्ज, मिर्च, मसाला, कच्चे फल, सिरका, सरसो, अखनी आदि के प्रयोग से भी इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। भोजन के पश्चात

खट्टे डकार आना, उरःफलक (Sternum) के पीछे जलन (Heart-burn) होना आदि लक्षण होते है। रोगविनिश्चिति (D. D.) के लिये आमाशय मे उदनीरिकाम्ल (Hcl) की मात्रा का पता लगाना चाहिये। इसके लिये आमाशय की आंशिक भोजन कसौटी (Fractional test meal) की जाती है। प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) का पता लगाने के लिये रोगी को बेरियम पिला कर (Barium meal) आमाशय (St) तथा ग्रहणी (Duodenum) की क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) करनी चाहिये।

चिकित्सा :—(१) **साधारण :**—रोग के कारण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। प्रपाचीय व्रण की चिकित्सा के समान आहार तथा औषधियों के द्वारा उदनीरिकाम्ल (Hcl) की उत्पत्ति रोकना चाहिये। आमाशय में विकृति रहने पर वमन हो जाने से, जल पीने से तथा क्षार (Alkali) के प्रयोग से लक्षणो का शमन होता है। इसी प्रकार ग्रहणी (Duodenum) मे विकृति रहने पर भोजन करने से, लाभ होता है। क्षारीय औषधियों द्वारा उदनीरिकाम्ल को निष्क्रिय करने की अपेक्षा उपयुक्त भोजन द्वारा उदनीरि-काम्ल का निर्माण रोकना अधिक वैज्ञानिक है।

(२) **आहार :**—उपर्युक्त वर्णित जिन पदार्थों से जठराम्ल की वृद्धि होती है। उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। भोजन मे कार्बोज (Cho) की मात्रा कम तथा वसा (Fat) और प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। दूध, मक्खन, क्रीम (Cream), घी, पूरी, आदि के प्रयोग से उदनीरिकाम्ल के निर्माण मे कमी होती है।

(३) **औषधि :**—जैतून का तेल (Ol. olive) औ० १, बेलेडोना के योग (Tr. belladonna) मि. ८, एट्रोपीन (Atropine) ग्रे.१/१०० या एन्ट्रेनिल (Antrenyl 'Ca') गो० १ भो० पू० देने से उदनीरिकाम्ल के निर्माण मे कमी होती है। सोडीबाइकार्ब आदि क्षारीय औषधियो के प्रयोग से तत्काल लाभ होता है, परन्तु कुछ समय पश्चात उदनीरिकाम्ल की मात्रा मे वृद्धि होती है। मानसिक शान्ति के लिये फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे० $\frac{1}{2}$ आ० अ० दे सकते है।

(४) **अन्य चिकित्सा :**—भोजन के पश्चात विश्राम करना चाहिये। कब्ज (पृ०१९८) के लिये इसफगोल, त्रिफला आदि देना चाहिये तथा उदर की मालिश और औदरिक व्यायाम करना चाहिये।

(५) अम्लपित्त की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

इसमें ऊर्ध्वग लक्षण अधिक होने पर पहले वमन कराना चाहिए तथा वातपित्त वमननाशक तथा सारक औषधियाँ देना चाहिए। अधोग लक्षण अधिक होने पर प्रथम विरेचन तत्पश्चात् ईषत् धारक पाचक व आमनाशक औषधियों का प्रयोग करे। आवश्यकतानुसार वस्ति भी दे।

औषधियाँ :—द्राक्षादि चूर्ण, अविपत्तिकर चूर्ण, सितामण्डूर, शुण्ठी खण्ड, सौभाग्य शुण्ठी, शतावरी घृत, अम्लपित्तान्तकरस, सूतशेखररस, चन्द्रशेखररस, लीलाविलासरस, पचानन गुडिका।

प्रयोग :–(१) लीलाविलास ४ र.
वराट भस्म ४ र.
गुल्मकालानल ४ र.
मि. २ मा. कच्चूरघृष्ट व मधु से।

(२) अविपत्तिकर चूर्ण ३ मा.
भास्कर लवण ३ मा.
सुदर्शन ३ मा.
मि. २ मा. भोजनोत्तर उष्णोदक से।

(३) आरोग्यवर्धिनी २ वटी रात्रि में उष्ण जल से।

उदनीरिकाम्ल की कमी (Hypo-chlorhydria)।

परिचय :—आमाशय में उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी रहने से भोजन पचने में कठिनाई होती है तथा उदर में पीडा हो सकती है। यह विकृति रक्ताल्पता (Anaemia), आमाशय का कर्कटार्बुद (Cancer), यक्ष्मा (T. B.) अंकुश कृमि (H. W), दौर्बल्य आदि रोगों में होती है। मधुमेह, (Diabetes), यकृत के रोग, वृद्धावस्था, चिरकालीन आमाशयशोथ (Gastritis), प्रवाहिका (Dys), अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) की विकृति, अनूर्जता (Allergy) जन्यरोग, पूयमयता (Sepsis), पित्ताशयशोथ (Cholecystitis) तथा मनोवैज्ञानिक (Psy) कारणों से भी उदनीरिकाम्ल में कमी होती है। स्त्रियों में यह विकृति प्रायः होती है।

चिकित्सा :—रोग के कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। रक्ताल्पता रहने पर मुख से लौह के योग (यो. ३७) तथा पेशीमार्ग (I. M.) से यकृतसत्व (Liver-ext) सी.सी २ का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। उदनीरिकाम्ल (यो ४५) त्रि. प्र. दि. भो .पू. देना चाहिये।

आमाशयशोथ (Gastritis)

परिचय :— इस रोग में आमाशयोर्ध्व प्रदेश (Epigastrium) में

दबाने से पीड़ा होती है। उदर तथा सिर मे पीड़ा, क्षुधानाश, वमन, अत्यधिक प्यास, मलावृत जिह्वा आदि लक्षण होते हैं। रोग की तीव्र अवस्था मे ज्वर हो सकता है। यह विकृति विषपान, उपसर्ग (Ifn), आहार विपर्यय, जीवतिक्ति 'बी' (Vit:'B') की कमी, आदि के कारण होती है। **चिरकालीन** अवस्था मे रोगके वास्तविक कारण का पता लगाने के लिये रोगी को बेरियम पिलाकर (Barium meal) क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा करनी चाहिये। आंशिक भोजन कसौटी (Fractional testmeal), आमाशय वीक्षण परीक्षा (Gastroscopy) तथा मल परीक्षा में रक्त के लिये भी देखना चाहिये। **तीव्र अवस्था** मे निदान के लिये लक्षणो पर निर्भर करना पडता है।

चिकित्सा :—(क) तीव्र अवस्था मे वमन, विरेचन (Purge) तथा सोडी-बाइकार्ब (Sodi bi-carb) ड्रा. १ जल पा १ मे मिलाकर आमाशय प्रक्षालन (St-wash) करने से क्षोभक (Irritant) पदार्थ निकाल दिया जा सकता है। प्रारम्भ में रोगी को उपवास करना चाहिए तत्पश्चात् ग्लूकोस (Glucose) तथा फलो का रस दे सकते हैं। अफीम के योग (यो.२) प्र.४वं.प्रयोग करने से पीड़ा मे लाभ होता है। यूकेडौल (Eukodal), पेथिडीन (Pethidin), यूपाको (Eupaco) आदि की गो. १ आ. अ. दे सकते है। क्लोरोडाइन (Chlorodyne), कैम्फ्रोडाइन (Camphrodyne) आदि मि. १० त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। इन औषधियों से पीड़ा कम न होने पर मौरफीन (M & A) गे १/४ अधस्त्वक (S.C) मार्ग से देना चाहिये। कब्ज, पेट मे ऐंटन या आहार विषमयता (Food poisoning) रहने पर रोगी को एनीमा (Enema) लगाना चाहिये या रेंडी का तेल (Ol:rec-ini) औ. १ प्रातःकाल दे सकते है। एक गिलास गरम पानी मे लवण (Nacl) या सोडी बाइकार्ब ड्रा. १ मिलाकर पिलाने से वमन होता है और आमाशय साफ हो जाता है। रोगी को शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। शीत से बचना चाहिये। उदर पर वस्त्र लपेट कर रखना चाहिये। ज्वर की अवस्था मे तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। रोगी की अवस्था मे सुधार होने तथा क्षुधा मे वृद्धि होने पर आहार मे शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। प्रारभ मे अर्धतरल आहार तत्पश्चात ठोस पदार्थ खाने को देना चाहिये।

(ख) चिरकालीन अवस्था में :—रोग के कारण की उपयुक्त चिकित्सा

करनी चाहिये। जलवायु परिवर्तन, व्यायाम, भोजन के पूर्व तथा पश्चात् विश्राम आदि से लाभ होता है। कब्ज की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। यकृत के कार्य में शिथिलता रहने पर या यकृत में रक्ताधिक्य (Congestion) रहने पर रात्रि में रोगी को कैलोमेल (यो. ५३) ग्रे. २ एक मात्रा तथा दूसरे दिन प्रातःकाल मैगसल्फ (Mag:sulph) ड्रा ४, या सिडलिज पाउडर (Seidlitz powder) एकमात्रा देना चाहिये। कैलोमेल अल्प मात्रा में (यो. ५२) ग्रे. १/६ प्र. घ. कर ८ बार दे सकते हैं। चाय, काफी, मद्य, तमाखू, मिर्च मसाला आदि प्रयोग नहीं करना चाहिये। उदर पर वस्त्र बाँध कर रखना चाहिये। भूख न लगने पर टि. नक्सवोमिका (यो. ४२, ५३) मि. ८ भो. पू. लेना चाहिये। दांत, मुख, कण्ठ आदि में उपसर्ग रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। चिरकालीन अवस्था में आमाशय में श्लेष्मा (Mucous) सचय होने के कारण वमन होता है। अन्य विधियों से वमन बन्द न होने पर सोडी-बाइकार्ब से आमाशय धोना चाहिए।

अजीर्ण (Dyspepsia)।

परिचय :—इस अवस्था में पाचन क्रिया में विकृति होती है। अनियन्त्रित आहार, मद्यपान, मिर्च, मसाला, अत्यधिक कार्बोज (Cho) आदि का प्रयोग, उपसर्ग, कृमिरोग (Worms), कब्ज, मनोवैज्ञानिक स्थिति, चिन्ता, विषमयता, रक्ताल्पता, व्यायाम में कमी, आदि कारणों से यह विकृति होती है। रोग की **तीव्र** अवस्था में मिचली, वमन, आमाशय में पीड़ा, क्षुधानाश, शिर में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। **मनोवैज्ञानिक** (Psy :) कारणों से यह रोग होने पर उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त आध्मान (Flatulance), नाड़ी की गति तीव्र, पतले दस्त, हाथ-पैर पर पसीना, अत्यधिक डकार आदि लक्षण होते हैं। पित्ताशयशोथ (Cholecystitis), उण्डुकपुच्छ शोथ (Appendicitis) आदि में **प्रतिक्रियात्मक** (Reflex) अजीर्ण होता है।

निदान:—इसकी दृष्टि से यह पता लगाना आवश्यक है कि शरीर में किसी प्रकार की रचनात्मक (Organic) विकृति है या यह लक्षण केवल क्रियात्मक (Functional) कारणों से उत्पन्न हुआ है। इसके लिये मल-परीक्षा, रक्तपरीक्षा, क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा, आमाशय की आंशिक आहार कसौटी (Fractional test meal), आमाशयवीक्षण परीक्षा

(Gastroscopy) आदि परीक्षायें करनी चाहिये। प्रोटीन (Ptn) न पचने पर मल अत्यन्त दुर्गन्धित होता है तथा उसकी प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) होती है। कार्बोज (Cho) न पचने पर मल की प्रतिक्रिया अम्ल होती है और उदर के वाम पार्श्व मे प्लैहिक आन्त्रावर्त (Splenic flexure) के समीप आन्त्र में वायु संचय होती है। वायु का हृदय पर दबाव पड़ने से धड़कन, अतिरिक्त सकोच (Ex : systole) आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—रोग के कारण का पता लगाना चाहिये तथा उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। मानसिक विकृति रहने पर मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा करनी चाहिये। कब्ज रहने पर इसफगोल, त्रिफला आदि देना चाहिये। मानसिक विकृति रहने पर रोगी को शारीरिक तथा मानसिक विश्राम करना चाहिये। भोजन तथा जीवनचर्या नियमित करने का प्रयत्न करना चाहिये। रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि कराना चाहिये। इसके लिये उपयुक्त आहार तथा औषधियाँ देनी चाहिये। स्थान परिवर्तन कर स्वास्थ्यकर स्थान मे रहने से लाभ होता है। उदर पर वस्त्र बाँधकर रखना चाहिये। चिंता, भोजन करने में शीघ्रता तथा अधिक मिर्च-मसालायुक्त आहार नही करना चाहिये। प्रायः यह रोग आवश्यकता से अधिक आहार करने से होता है। इस स्थिति मे भोजन कम तथा व्यायाम अधिक करना चाहिये। दिन मे भो. प. विश्राम करना चाहिये। उपसर्ग (Ifn) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रात्रि मे भोजन निद्रा के समय के दो घण्टे पूर्व करना चाहिये।

(२) आहार :—रोग की **तीव्र अवस्था** मे यदि कार्बोज (Cho) न पचता हो तब कार्बोजप्रधान आहार बन्द कर ऐसे फल तथा तरकारियाँ (पृ ६) देना चाहिये जिनमें कार्बोज की मात्रा अत्यल्प रहती है। ठोस पदार्थ (पृ.४) कुछ दिन के लिये बन्द कर देना चाहिए। तरल (पृ. ४) तथा अर्धतरल आहार पच जाने पर ठोस पदार्थ देना चाहिए। शुद्ध निरामिष या मांसाहारी भोजन की अपेक्षा मिला जुला भोजन अधिक उपयुक्त है। रोगी यदि दूध पचा सके तब दूध तथा दूध के योग देना चाहिये। **चिरकालीन अवस्था में दूध** के योग (पृ. ४) प्रधान रूप से देना चाहिये। बार्ली के साथ दूध देने से वायु नहीं उत्पन्न होती। प्रति छटाँक दूध मे सोडी साइट्रस (Sodi : citras) ग्रे. ४ मिलाने से दूध पचने में आसानी होती है। **कब्ज** रहने

पर बिना चोकर निकाली हाथ से बनी रोटी या पावरोटी तथा फल (पृ. ४) लेना चाहिये। पतले दस्त होने पर चावल तथा दही के योग (पृ. ४) लेना चाहिये। सिंघाड़ा तथा केले का कार्बोज (Cho) सरलता से पचता है। कार्बोज (Cho) के स्थान पर प्रोटीन (Ptn) का प्रयोग करना चाहिये।

(३) **औषधि :—कब्ज** रहने पर चिकित्सा के प्रारम्भ में रेंडी का तेल (Ol. recini) औं. १, त्रिफला, इसफगोल, मैगनीसिया (Milk of magnesia) आदि देना चाहिए। **प्रोटीन** (Ptn) **न पचा सकने** पर पेप्सीन (यो. ८५) भो. प. देना चाहिए। **कार्बोज** (Cho) **न पचने** पर टाकाडायेस्टेस (यो. ५८) भो. प. देना चाहिये। उदर के रोगों में जीवतिक्ति 'बी' (Vit : B) तथा खमीर (Yeast) का विशेष महत्त्व है। जिह्वा मलावृत (Coated) रहने पर कैलोमेल (यो. ५२) ग्रे. ¹/८ त्रि. प्र. दि. तब तक देना चाहिये जब तक रोगी को मल परित्याग न हो तथा जिह्वा स्वच्छ न हो जाय। कैलोमेल की सम्पूर्ण मात्रा ग्रे. २ से अधिक नहीं होनी चाहिये। कॉम्बीजाइम (Combizyme), एलजाइम (Alzyme), टाकाजाइम (Takazyme) आदि भो. प. देने से भी भोजन पचता है। **क्षुधा** में कमी रहने पर उपयुक्त (यो. ४२, ४३) चिकित्सा करनी चाहिये। कार्बोज (Cho) तथा वसा (Fat) की अपेक्षा दूध तथा मॉस की प्रोटीन (Ptn) अधिक सरलता से पचती है। आध्मान (Tympanites) रहने पर कोयला (Ultracarbon Mk) गो. १ भो. प. त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। जिह्वा स्वच्छ रहने पर यदि पतले दस्त हों तब अफीम के योग (यो. २६) भो. प. दे सकते हैं।

(४) आंत्रशूल की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

शूल में बलानुसार लंघन व पाचन कराना हितकारी है। दोषानुसार स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन एवं वस्ति कराना चाहिये। आमज शूल में दीपक, पाचक व परिणामशूल में तिक्त व मधुर रस वाली औषधियाँ उपयुक्त हैं। फलवर्ति, क्षार, चूर्ण व गुटिका देना प्रशस्त है। अनुपान के लिए त्रिफला, सौंफ, अजवाइन, पटोलपत्र, शतावरी, आमलकी, अनार व नारिकेल देना चाहिये।

औषधियाँ :—हिंग्वादि चूर्ण, यमान्यादि चूर्ण, सामुद्राद्य चूर्ण, नारि-

केल लवण, चतुःसम चूर्ण, कुलत्थयूष, शतावर्यादि क्वाथ, त्रिफलादि क्वाथ, दशमूलादि क्वाथ, सूक्ष्मैलाद्यरिष्ट ३०–६० बूँद।

हिंग्वादि गुटिका	१ वटी	धात्री लौह	३–६ र.
शूलवर्जिनी वटी	४ र.	सप्तामृत लौह	२ र.
शम्बूकादि गुटिका	८ र.	शूलान्तक रस	४ र.
पूग खण्ड	½–१ तो.	चतुःसम लौह	१–२ मा.
नारिकेल खण्ड	½–१ तो.		

शूलनिवारणार्थ निम्न क्रम उपयुक्त है :—

(१) क्षारराज	३ मा.	निम्बु स्वरस से।	
हिंग्वादि वटी	४ व.	(२) अर्क लवण	३ मा. २ मात्रा
मि.	२ मात्रा	भोजनोत्तर उष्णोदक से।	

वृक्कज शूल होने पर प्रथम विरेचन एवं वस्ति कराना चाहिये तत्पश्चात् स्वेदन, परिषेक व लेप लगाना चाहिए। लेपार्थ यवक्षार, पाषाणभेद, हींग आदि का प्रयोग कर सकते हैं। उत्तरवस्ति का प्रयोग भी करना चाहिये। अनुपान में गोखरू, कोकिलाक्ष, तृण-पञ्चमूल, आमलकी, नारिकेलजल, हरिद्रा, शतावरी व पाषाणभेद उपयोगी है। इसमे त्रिकटकादि, पाषाणभेदादि वरुणादि क्वाथों का प्रयोग उत्तम है। रसो में मूत्र कृच्छ्रान्तक, वरुणादि लौह, चन्द्रकला रस का प्रयोग करें। पथ्य में तृण-पचकादि एवं गोक्षुर साधित क्षीर दे।

नोट :—यह चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र (Dysuria) मे भी कर सकते हैं।

(५) अजीर्ण की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति ॥

प्रायः साधारण अजीर्ण उपवास करने से ठीक हो जाते है। इसमे अभयाव शुण्ठी का चूर्ण देना हितकारी है। दोषो के अनुसार तीन भेद हैं :— (१) आमाजीर्ण-श्लेष्मज (Atonic) :—इसमे वमन कराना चाहिये तथा दीपक व पाचक अनुपान का प्रयोग करे यथा—चित्रक, मुस्तक, आर्द्रक, सोठ, पीपल। (२) विदग्धाजीर्ण-पित्तज (Acid) :—लंघन व शीतल जल देना चाहिये। भुना जीरा, अजवाइन, लौग, हर्र व आँवला अनुपानार्थ दे।

(३) विष्टब्धाजीर्ण-वातज (Nervous) :—स्वेदन व स्नेहन कराकर लवणोदक, तण्डुलोदक एवं क्षारोदक का प्रयोग करें। बहेड़ा, सौंफ, धनियाँ व हर्र का भी व्यवहार कर सकते हैं।

कभी कभी विशिष्ट द्रव्यों के द्वारा अजीर्ण होने पर विशिष्ट द्रव्यो की ही आवश्यकता होती है यथा—आम (पके) पर दुग्ध, केला पर घृतपान, स्निग्ध-फल (बादाम) पर लवंग, मास पर काञ्जी, मछली पर आम्रफल, शूक व रूक्ष धान्य पर दही का पानी, खीर-खोया पर मूँग का पानी, परवल, करेला पर क्षार, सूरण पर गुड़, आलू पर तण्डुलोदक, श्रीखण्ड पर त्रिकुट, खाण्ड गुड़ादि मे शुण्ठी, ईक्षुरस पर आर्द्रक, चने पर मूली, मक्का पर अजवाइन।

अजीर्णकण्टक रस	२ र.	लवणादि वटी	½ माशा
अग्निकुमार रस	१ र.	अग्नितुण्डी वटी	½ र.
रामबाण रस	½ र.	सैन्धवादि चूर्ण	२ माशा
शखवटी	२ र.	मुस्तकारिष्ट	१–२ तो.

साधारणतः इस प्रकार रोगियो को औषधि दे सकते हैं :—

अजीर्ण कण्टक रस	४ र.	मि.	४ मा.
दन्ती भस्म	४ र.	भृष्टैला चूर्ण व मधु से।	
सञ्जीवनी वटी	४ गो.		

आवश्यकतानुसार शोधन और लघु पथ्य देना चाहिये।

अपाचीय व्रण (Peptic ulcer)

परिचय :—यह व्रण प्रायः ग्रहणी (Duodenum) के ऊर्ध्व भाग में आमाशय से एक इंच के अन्दर होता है। कभी-कभी अन्य स्थानो मे भी मिलता है जैसे :—आमाशय की ह्रस्व वक्रता (Lesser curvature) पर, मुद्रिका द्वार (Pylorus) के समीप अन्नप्रणाली (Oesophagus) के अधोभाग मे तथा मीकिल का उपाशय (Meckel's diverticulum) मे। जब आमाशय तथा आन्त्र मे शल्यकर्म (Op) द्वारा सीधा सम्बन्ध (Gastro-enterostomy) स्थापित किया जाता है तब जिस स्थान पर आमाशय तथा आन्त्र काट कर जोड़े जाते हैं वहाँ इस व्रण की उत्पत्ति हो सकती है। यह रोग प्रायः युवावस्था मे २५–४० वर्ष की आयु मे विशेषकर पुरुषों में होता है। **चिन्ता**, आहार विपर्यय, अनियमित दिनचर्या,

चाय का अत्यधिक प्रयोग, प्रत्येक कार्य में जल्दी करना विशेषकर भोजन करते समय, कब्ज़, जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) की कमी, आघात, विषमयता, पूयदन्त (Pyorrhea), दरिद्रता, उपवृक्क (Suprarenal) के स्राव की कमी, व्यापक दग्ध व्रण (Burn), खाली पेट धूम्रपान आदि से रोग की उत्पत्ति का सम्बन्ध प्रतीत होता है। रोग के पुनरावर्तन (Relapse) का, उपसर्ग, अनियमित आहार, शीतऋतु आदि से सम्बन्ध प्रतीत होता है।

निदान :—रोग का निश्चित निदान करने के लिये आवश्यक है कि क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा द्वारा अथवा आमाशय वीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा (Gastroscopy) करने पर व्रण का प्रमाण मिले। **लक्षणों** मे पीड़ा, रक्तवमन (Hematemesis), मल मे रक्त का मिलना (Melena), वमन, मिचली, आध्मान, (Flatulance) तथा आमाशयोर्ध्व प्रान्त (Epigastrium) पर दबाने से पीड़ा होना आदि का विशेष महत्व है। पेट खाली रहने पर आमाशयोर्ध्व प्रान्त मे कष्ट, जलन आदि प्रतीत होती है। ये लक्षण क्षार (Alkali) या भोजन देने से शान्त होते हैं अथवा भोजन के १–२ घण्टा पश्चात् आमाशय में पीड़ा होती है। इन लक्षणों के अतिरिक्त रोगी की आमाशयिक विश्लेषण परीक्षा (Gastric analysis), क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा, मल परीक्षा तथा आमाशय की आमाशय वीक्षण यन्त्र (Gastroscope) द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। आमाशयिक **विश्लेषण परीक्षा** मे प्रायः उदनीरिकाम्ल (Hcl) की वृद्धि मिलती है परन्तु यह लक्षण अनिवार्य नहीं है तथा हिस्टामीन (Histamine) के इन्जेक्शन का उदनीरिकाम्ल (Hcl) की मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। **क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा** में व्रण का प्रमाण मिलता है। व्रण के स्थान पर आमाशय अथवा ग्रहणी (Deodenum) के प्राचीर के अन्दर का भाग, श्लैष्मिक कला (M. M.) की ओर अनियमित हो जाता है अथवा उसमे गढ़ा (Niche) पड़ जाता है। इस गढे मे बेरियम (Barium) संचय होता है और क्ष-किरण परक्षा मे इसकी छाया मिलती है। इसके अतिरिक्त आमाशय मे भोजन अधिक समय तक ठहरने का प्रमाण, पुरस्सरण (Peristalsis) मे परिवर्तन, आमाशय के मुद्रिकाद्वार का उद्वेष्टन (Pyloric spasm) आदि विकृतियाँ मिलती हैं। **मल परीक्षा** में स्पष्ट या अदृश्य (Occult) रक्त का प्रमाण मिलता है। आमाशय वीक्षण यन्त्र

(Gastroscope) द्वारा परीक्षा करने से व्रण देखा जा सकता है।

उपद्रव :—प्रपाचीय व्रण का निच्छिद्रण (Perforation), व्रण से रक्तस्राव (Bleeding), भोजन के मार्ग मे रुकावट, व्रण के चारो ओर तान्त्विक धातु की वृद्धि (Fibrosis), आमाशय अथवा ग्रहणी (Duodenum) का अन्य समीप वर्ती अवयवों से चिपकना (Adhesions), उदरावरणशोथ (Peritonitis), आमाशय का दो भागो मे विभाजित होना (Hourglass St:), मुद्रिकाद्वार का संकोच (Pyloric stenosis), घातक अर्बुद (Malignancy) की उत्पत्ति, महाप्राचीरा पेशी के नीचे विद्रधि (Subdiaphragmatic abscess) की उत्पत्ति तथा अग्न्याशय (Pancreas) मे विकृति आदि उपद्रव हो सकते हैं।

चिकित्सा (क) साधारण :—चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त मानसिक तथा शारीरिक विश्राम आवश्यक है। प्रायः ३–६ सप्ताह रोगी को शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। मानसिक विश्राम के लिये रोगी को आश्वासन देना चाहिये तथा **मनोवैज्ञानिक** चिकित्सा करनी चाहिये। रोग के कारणो मे भावना (Emotion) का विशेष महत्व है तथा इसे कम करने के लिये आ० अ० **शामक** (Sedative) औषधियाँ देना चाहिये। रोगी की चिन्ता कम करनी चाहिये तथा उसको बताना चाहिये कि रोग साध्य हैं परन्तु आहार आदि मे अनियमितता होने पर रोग के पुनरागमन की सम्भावना रहती है। **उपसर्ग** की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। विशेष कर दाँत पर ध्यान देना आवश्यक है। धूम्रपान, मद्यपान तथा आम्लिक (Acidic) पदार्थों का जीवनपर्यन्त प्रयोग नही करना चाहिये अन्यथा रोग के पुनरागमन की सम्भावना रहती है। रोग की विधिवत चिकित्सा करने पर भी यदि **३–४** दिन में पीड़ा की कमी न हो तब समझना चाहिये कि निदान मे भूल हुई है। विश्राम, उपयुक्त भोजन तथा अम्लनिरोधी (Antacids) औषधियो का प्रयोग रोग की प्रायः विशिष्ट चिकित्सा है। शीत से बचना चाहिये। इस रोग में पीड़ा केवल उदनीरिकाम्ल (Hcl) की वृद्धि के कारण नही होती। उदनीरिकाम्ल की वृद्धि रहने पर भी व्रण ठीक हो सकता है। चिकित्सा की दृष्टि से उदनीरिकाम्ल को क्षार (Alkali) द्वारा स्थायीरूप से नष्ट करना संभव नहीं है। औषधि द्वारा उदनीरिकाम्ल को कम करने के जितने उपाय है सब अभी तक अस्थायी तथा प्रभावहीन हैं। यह कार्य औषधि की अपेक्षा आहार से

अधिक सरलता से किया जा सकता है। आमाशय की प्राचीर का उद्वेष्ठन होने के (Spasm) अलावा अधिक मात्रा में अनुपयुक्त आहार के कारण अन्दर से आमाशय की प्राचीर पर तनाव (Tension) पड़ने से पीड़ा की उत्पत्ति होती है। अल्प मात्रा में उपयुक्त **अहार** देने से तथा **अम्ल निरोधी** औषधियों (Antacids) के प्रयोग से आमाशय की भित्ति के तनाव तथा उद्वेष्ठन में कमी होती है और पीड़ा का शमन होता है। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त जीवतिक्ति **'सी'** (Vit:C) का प्रयोग करना चाहिये।

(**ख**) **आहार** :—भोजन के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। रोगी को भोजन के सिद्धान्तों से अवगत कराना अच्छा है। भोजन पौष्टिक, सरलता से पचने वाला, वसा (Fat) प्रधान तथा उपयुक्त कैलोरी (C) वाला होना चाहिये। भोजन अनेक वार अल्पमात्रा मे देना चाहिये। खट्टी वस्तुएँ, अचार मसाला, मिर्च आदि से उदनीरिकाम्ल (Hcl) की वृद्धि होती है। इसलिये इन पदार्थों का प्रयोग वर्जित है। कच्चे फल, कची अथवा भूनी हुई तरकारियाँ, चाय, कौफी, मद्य, मास, चोकर, चना, वेसन आदि कड़े पदार्थ, खट्टी दही, मट्ठा आदि जीवनपर्यन्त प्रयोग नहीं करना चाहिये। भोजन गरम नहीं होना चाहिये। सोडावाटर, कोकाकोला, लेमोनेड आदि पेय जिनमे कारबन-डायोकसाइड (CO_2) तथा अन्य गैस (Gas) रहते है प्रयोग नही करना चाहिये। भोजन नियमित समय पर अल्प मात्रा में लेना चाहिये। भोजन के समय मानसिक शाति आवश्यक है। दूध, क्रीम, (Cream), मक्खन, कच्चा अंडा, शतरे का रस आदि से चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। दो सप्ताह पश्चात् पीड़ा का पूर्ण रूप से शमन हो जाने पर मक्खन, मलाई, रबड़ी, खीर, पक्का केला, खिचड़ी, चावल तथा अन्त मे रोटी दे सकते हैं। इस प्रकार शनैः शनैः रोगी निरामिष आहार ले सकता है। रोग की पुनरावृत्ति होने पर पुनः केवल दुग्ध आहार देना चाहिये। चिकित्सा की अवधि प्रायः ३—६ मास है। भोजन मे **प्रोटीनहाइड्रोलाइसेट** (Ptn:hydrolysate,Pronutrin'HP') का विशेष महत्व है। यह पदार्थ व्रण के भरने मे सहायता करता है, रक्तस्राव (Bleeding) मे लाभप्रद है, प्रोटीन (Ptn) की कमी नहीं होने देता तथा उदनीरिकाम्ल (Hcl) के निर्माण मे कमी करता है। संभव है इसके प्रयोग से अम्लनिरोधी औषधियों (Antacids) का प्रयोग अनावष्यक हो जाय। जीवतिक्ति 'सी' के साथ साथ 'ए' तथा 'बी' (Vit: A,B,C) का

भी प्रयोग करना चाहिये। रात्रि मे रोगी की शय्या के पास दूध रखना चाहिये जिससे वह जागने पर पी सके। भोजन के सिद्धान्तो के पालन मे कड़ाई से काम लेना चाहिये। समय समय पर विचारधारा मे परिवर्तन होने पर आहार के मूल सिद्धान्तो का शीघ्रता से परित्याग नही करना चाहिये। इस रोग मे औषधि तथा आहार देने की निम्न **विधियाँ** प्रचलित है :—

(१) प्रथम विधि :—

प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) का प्रारम्भिक चिकित्साक्रम

औषधि व आहार	टिं. बेलाडोना (Tr.belladonna)	जैतूनका तेल (Ol. olive)	मैगनीसियम ट्राइ-सिलीकेट (Mag:-trisilicate)	दुग्ध
मात्रा	मि० ८ प्रतिबार	ड्रा० ४ प्रतिबार	ग्रे. ३० प्रतिबार	औं. ४ प्रतिबार
प्रातःकाल	६	७	६'१५, १०'१५	६, ८, १०
मध्याह्न	२	१	।	१२, २
संध्या	—	७	०	४, ६
रात्रि	१०'१५	—	८'१५	८, १०

सूचना :—उपर्युक्त तालिका में संख्यायें घड़ी के समय के अनुसार है।

(२) द्वितीय विधि :—सिपी (Sippy method) इस विधि में भोजन के मात्रा की वृद्धि का क्रम चार भाग मे विभाजित किया जाता है। एक क्रम से लाभ हो जाने के पश्चात् शनैः शनैः दूसरे क्रम को प्रारम्भ कर आहार में वृद्धि की जाती है।

सिपी (Sippy) की पद्धति से आहार की वृद्धि का क्रम

आहार का क्रम	प्रथमक्रम	द्वितीय-क्रम	त्रितीय-क्रम	चतुर्थ-क्रम
(१) दूध—औं० १½ क्रीम (Cream)	+	+	+	+
(२) तला चावल, कच्चा अंडा १.	–	+	+	+
(३) मुलायम, उबली तरकारी का सूप, दाल का पानी	–	–	+	+
(४) उबला आलू, रोटी, मक्खन उबली मुलायम तरकारी,	–	–	–	+

विधि :—चिकित्सा के प्रारम्भ मे **प्रथम क्रम** के पदार्थ प्र. घ. प्रातः ७ वजे से संध्या ७ वजे तक दे। पीड़ा शात हो जाने पर प्रथम क्रम के पदार्थ प्र. घं. तथा **द्वितीय क्रम** के पदार्थ द्वि. प्र. दि. दें। इसके पच जाने पर तथा पीड़ा का पुनरागमन न होने पर द्वितीय क्रम के अनुसार आहार दे तथा **तृतीय क्रम** के पदार्थ द्वि. प्र. दि. दे। कुछ समय इस क्रम के चलाने के पश्चात इसी कम मे **चतुर्थ क्रम** के पदार्थ मध्यान्ह तथा रात्रि के भाजन के समय दे। दूध के प्रत्येक ओंस की मात्रा मे सोडीसाइट्रस (Sodi : cit:) ग्रे. ३ मिलना चाहिये।

(३) तृतीय विधि :—भारतीयो की प्रकृति के अनुकूल हर्स्ट (Hurst) की विधि :—इस विधि के दो क्रम हैं, (क) **प्रथम क्रम** द्वारा एक मास चिकित्सा करनी चाहिये तत्पश्चात (ख) द्वितीय क्रम द्वारा दो सप्ताह चिकित्सा करनी चाहिये। दुग्ध की प्रत्येक मात्रा मे सोडी साइट्रट (Sodi : cit :) ग्रे. १० मिलाना चाहिये। औषधियो मे (च) **एट्रोपीन** (Atropine sulph) ग्रे. १/१५० तथा (छ) **मैगनोसियम ट्राइसिलिकेट** (Mag : tri : silicate) च. १/२ प्र. बा. दी जाती है। रात्रि के लिये रोगी की शैय्या के समीप दूध १/२ पाव रखा जाता है जिसे रोगी नींद खुलने पर आ. अ. ले सकता है। सोने के पूर्व रात्रि मे एट्रोपीन की अन्तिम मात्रा ग्रे. १/७५ तक दी जा सकती है।

हर्स्ट (Hurst) की विधि

(एट्रो.=एट्रोपीन ग्रे. १/१५०, मै=मैगनीसियम ट्राइसिलिकेट च. १/२)

(च) प्रथम मास का चिकित्सा क्रम

समय	भोजन	औषधि
प्रातः ७½ बजे	—	एट्रो.
प्रातः ८ बजे	दूध ½ पाव	मै.
" ९ "	शन्तरे का रस, जैतून का तेल (Ol. olive) ड्रा ४, साबूदाने की खीर ½ पाव,	
" १० "	दूध ½ पाव	"
" ११ "	आलू का भरता, उबली गोभी, पावरोटी, मक्खन, क्रीम औ. १	
" १२ "	दूध ½ पाव	"
मध्याह्न १ "	शन्तरे का रस, क्रीम औ. १, साबूदाने की खीर ½ पाव	
" २ "	दूध ½ पाव जैतून का तेल ड्रा. ४	"
" ३ "	शन्तरे का रस, साबूदाने की खीर ½ पाव	एट्रो.भो.पू.
" ४ "	दूध ½ पाव	मै.
" ५ "	शन्तरे का रस, क्रीम औ. १, साबूदाने की खीर ½ पाव	
सन्ध्या ६ "	दूध ½ पाव	"
" ७ "	आलू का भरता, उबली गोभी, पावरोटी मक्खन, जैतून का तेल ड्रा. ४	
" ८ "	दूध ½ पाव	"
" ९ "	साबूदाने की खीर ½ पाव	
" १० "	—	एट्रो. तथा मै.

(छ) प्रथम क्रम समाप्त होने पर दो सप्ताह का क्रम

समय	भोजन	औषधि		
		मै. च. $\frac{1}{2}$ भो. प.	ऐट्रो ग्रे. $\frac{1}{60}$ भो. पू.	जैतून का तेल च. ४ भो. पृ.
प्रातः ८ बजे	दूध $\frac{1}{2}$ पाव, क्रीम,			
" ९ "	दूध, कच्चा अण्डा १, पावरोटी मक्खन,	+	+	+
" १० "	दूध, क्रीम,			
" १२ "	दूध, क्रीम,			
मध्याह्न १ "	आलू का भरता, उबली तरकारी या मछली	+	+	+
" ३ "	दूध, क्रीम			
" ४ "	दूध, कच्चा अण्डा १, पावरोटी मक्खन	+	+	+
" ५$\frac{1}{2}$ "	दूध, क्रीम,			
संध्या ७ "	आलु का भरता, उबली तरकारी या मछली	+	+	+
" ८$\frac{1}{2}$ "	दूध, क्रीम,			
" ९ "		+		
रात्रि १० बजे	दूध, क्रीम,		+	

(४) चतुर्थ विधि :—

मांसाहारी रोगी के आहार का क्रम :—

समय	शतरा या टोमैटो का रस या जीवतिक्ति सी. (Vit:C) मि.ग्रा.१००	दूध	अंडा १ या मछली या उबली मुर्गी	पावरोटी मक्खन	हल्की चाय	शहद	बिस्कुट	आलू का भरता	उबली तरकारी	पुडिंग
प्रातः ६	+	+								
प्रातः ८		+	+	+	+	+				
” ११		+					+			
मध्याह्न १		+	+					+	+	+
” ३		+					+			
सन्ध्या ५				+	+	+	+			
” ७		+	+					+	+	+
” ९		+					+			
रात्रि के लिये		+								

(ग) **औषधियाँ :—**इस रोग में प्रायः अम्लनिरोधी (Antacids), शामक (Sedative) तथा उद्वेष्ठननिरोधी (Antispasmodic) औषधियाँ प्रयोग की जाती है। उपयुक्त आहार देने पर इन औषधियों की कम आवश्यकता पड़ती है।

(१) **अम्लनिरोधी** (Antacids) :—इन औषधियो मे सोडी-बाइकार्ब (यो. ५६ ख), मैगनीसियम औक्साइड (यो. ६०) तथा हिस्टामीन (Histamine) के प्रयोग से उदनीरिकाम्ल (Hcl) की अत्यधिक वृद्धि होती है। **एल्यूमीनम** (Aluminum) के योग प्रायः दिये जाते है। ये योग व्रण पर जम जाते है और आहार द्वारा व्रण पर आघात होने से बचाते हैं तथा अपने शरीर पर वायु लपेट कर उसको आन्त्र से वाहर करते हैं। इसको अधिचूषण क्रिया (Adsorption) कहते है। ये शरीर मे क्षार की वृद्धि (Alkalosis) नही करते परन्तु कभी-कभी प्रभावहीन हो जाते है। ये कब्ज करते हैं तथा जीवतिक्तियों (Vit :) और फौसफेट (Ph) के प्रचूषण में बाधा उत्पन्न करते है। ये औषधियाँ प्रारम्भ मे प्र. दू. घं. देना चाहिये। शनैः शनैः इस अवधि को वढ़ा कर भोजन के २ घटे पश्चात् देना चाहिये। अम्ल-निरोधी औषधियों के प्रयोग करते समय क्षारोत्कर्ष (Alkalosis), कब्ज, पतले दस्त आदि के लिये ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिये तथा इन उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। मैगनीसियम (Mag :) के योग दस्त कराते हैं तथा कैलसियम (Cal) और बिस्मथ (Bis :) के योग से कब्ज हाती है। **मैगनीसियम ट्राईसिलिकेट** (Mag : trisilicate) से क्षारोत्कर्ष नही हाता। मैगनीसियम फोस (Mag : phos :) कैलसियम कार्ब (यो. ६०), सोडियम तथा पोटासियम साइट्रेट (Na, K.cit :) आदि से भी उदनीरिकाम्ल (Hcl :) की वृद्धि नहीं होती।

क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) :—शरीर में क्षार की वृद्धि होने पर श्वसन मन्द, नाडी तीव्र, ज्वर, वमन, क्षुधानाश, सिर मे दर्द, चक्कर, थकावट, अपतानिका (Tetany), तन्द्रा (Drowsiness), सन्यास (Coma) आदि लक्षण होते है। इस अवस्था मे क्षार (Alkali) का प्रयोग बन्द कर देना चाहिये। ग्लूकोस, लवणघोल (Saline) तथा कैलसियम (Cal :) सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये। मुख द्वारा अमोनियम क्लोराइड (Ammon : chlor) ग्रे. १५ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये।

अम्लनिरोधी (Antacids) औषधियाँ
(यो. ५६ क, ख, ६०, ६१)

औषधि	प्रत्येक मात्रा
ऐल्यूमिनम (Aluminum hydroxide, allugel, alludrox, pepticol)	१–तरल :—च. १–२ आ. अ. २–गोली :—गो. २ चबाकर आ. अ.
मैगनीसियम ट्राइसिलिकेट (Mag : trisilicate)	च. १/२–१ आ. अ.
मैगनीसियम ऑक्साइड (Mag: oxide, mag:carb)	च. १/४–१ आ. अ.
कैलसियम कार्ब (Cal : carb, (Cal: lact, creta: prep)	च. १/२–१ (ग्रे. १०–२०) आ. अ.
बिस्मथ सब कार्ब (Bis : sub : carb, oxycarb)	ग्रे. १० आ. अ.
कैलसियम क्लोराइड (Cal : chloride)	ग्रे. ५ आ. अ.

(२) **शामक (Sedative) औषधियाँ** :—ये औषधियाँ रोगी को निद्रा, मानसिक शान्ति तथा मानसिक विश्राम के लिये दी जाती है। इनका प्रयोग रोगी की मानसिक अवस्था पर निर्भर करता है। इन औषधियों मे फेनोबारबिटोन (Phn) सर्वोत्तम है। इसको ग्रे. १/४–१/२ त्रि. प्र. दि. आ. अ. दे सकते है। अफीम (Opium) तथा उसके योग प्रयोग नही करना चाहिये। इस औषधि के अभ्यास पड़ जाने की सम्भावना रहती है।

(३) **उद्वेष्टन निरोधी (Antispasmodic) औषधियाँ** :—ये औषधियाँ अकेले या शामक औषधियो (Sadatives) के साथ प्रयोग की

जा सकती है। ट्रासेन्टीन (Trasentine) की गो० १ (मि. ग्रा. ५०) त्रि० प्र० दि० भो० पू० तथा रात्रि में निद्रा के पूर्व देना चाहिये। इसी प्रकार टि० वेलाडोन (Tr belladonna) मि० ८, वेलाडोना सत्व (Ext: belladonna) ग्रे० १/६–१/४, एट्रोपीन सल्फ (Atropine sulph) ग्रे० १/२००–१/१००, स्पैस्मोसिवाल्जिन (Spasmocebalgin) गो० १ आदि प्रयोग कर सकते हैं। ओक्टिनम (Octinum:liq:) मि० १० भी दे सकते है।

(४) **अन्य औषधियाँ :— एन्ट्रेनिल** (Antrenyl'Ba') की गो १ भोजन के आध घण्टा पूर्व देने से उदनीरिकाम्ल (Hcl) का बनना कम होता है। **वैनथीन** (Banthine) की मि० ग्रा० ५० की १–२ गो० ३–४ बार प्र० दि० तीव्र अवस्थामे देने से पीडा, अम्लोत्कर्ष (Hyperacidity) तथा आमाशय की गति (Hypermotility) में कमी होती है और व्रण के भरने मे मदद मिलती है। **मेथोनियम** (Methonium, hexamethonium, tetraethyl-ammonium bromide) प्रायोगिक अवस्था में है। ये औषधियाँ स्वतत्र वातनाड़ी संस्थान (Autonomous nervous system) को कार्यहीन करती है। रोगनिवृत हो जाने के पश्चात् इसका प्रयोग करने से रोग के पुनरागमन की सभावना नही रहती। औषधि विषाक्त है तथा इसकी विषाक्तता के लक्षण एट्रोपीन (Atropine) की विपाक्तता के समान हैं। **जैतून का तेल** (Ol.olive) औ० १/२–१ खाली पेट पर देने से आमाशय का स्राव कम होता है तथा कब्ज नही होती। साथ-साथ औषधि आहार का कार्य भी करती है। इसको प्रातःकाल खाली पेट तथा रात्रि में सोने के पूर्व देना चाहिये। **प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट** (Ptn hydrolysate, aminoacids, Ledinac) ड्रा २ प्रति दो घंटा देना चाहिये। इसके साथ अन्य अम्लनिरोधी औषधि (Antacids) देना आवश्यक नहीं है। **हिस्टीडीन** (Histidine, larostidin) ४ प्र. श. ५ सी.सी. का पेशीमार्ग (I.M.) से १५–२० इन्जेक्शन दिया जाता है। परिणाम अनिश्चित है। **म्यूसीन** (Mucin, A co) च. ४ प्र. ३ घं. दी जाती है। यह उदनीरिकाम्ल (Hcl) को नष्ट करती है। **पारद के मूत्रल योग** (Hg : diuretics, Neptol) सी. सी. १–२ पेशीमार्ग से देने से शरीर से जल के साथ-साथ लवण (Nacl) का परित्याग होता है।

इस चिकित्साविधि मे भोजन मे लवण (Nacl) नहीं दिया जाता। इससे शरीर मे क्लोरीन (Cl) तथा अम्लोत्कर्ष (Hyper-acidity) मे कमी होती है। साथ-साथ रबर की नलिका द्वारा समय-समय पर आमाशय का स्राव (Gastric juice), निकाल देना चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) के लिये लौह (Fe) के योग देना चाहिए। उपसर्ग (Ifn:) की उपयुक्त चिकित्सा आवश्यक है। **बारडेस** (Bardase 'P.D.') गो. १ या मि० ६० त्रि० प्र० दि० देने से आमाशय तथा आन्त्र की गति कम होती है।

(घ) **शल्य चिकित्सा :—** औषधि या आहार द्वारा लाभ न होने पर तथा उपद्रवों की चिकित्सा के लिए शल्यकर्म (Op) किया जाता है। शल्य चिकित्सा मे दोनो प्राणदा (Vagus) वातनाड़ी को काटना, आमाशय के विकृत भाग को काटना (Gastrectomy), आमाशय तथा आन्त्र को काटकर आपस मे मिलाना (Gastro-enterostomy) आदि क्रियायें की जाती है। आमाशय अथवा ग्रहणी का निच्छिद्रण (Perforation), गम्भीर तथा स्थायी रक्तस्राव (Bleeding), मुद्रिका द्वार का अवरोध (Pyloric obst) रोग का अनेक बार पुनरागमन, आमाशय का दो भागो मे विभाजित होना (Hourglass stomach), अर्बुद (Tumour), विद्रधि (Abscess) आदि विकृतियो मे शल्यकर्म (Op.) करना पड़ता है। वमन, रक्तवमन (Hematemesis), रक्तस्राव आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। १-२ मास मे व्रण ठीक न होने पर घातक अर्बुद (Malignacy) की संभावना ध्यान मे रखना चाहिये।

(ङ) **प्रपाचीय व्रण के ठीक हो जाने के पश्चात् की चिकित्सा :-** मद्य, धूम्रपान, कौफी, चाय तथा खट्टे पदार्थ जीवनपर्यन्त प्रयोग नहीं करना चाहिये। मासाहारी भोजन, कच्चे फल, कच्ची तरकारी, कड़े पदार्थ, अचार, मसाला, भूने पदार्थ, सूखा मेवा, फलो का छिलका, सोडावाटर, लेमोनेड आदि पेय जिनमे कार्बनडायोकसाइड (CO_2) भरी जाती है आदि का प्रयोग वर्जित है। भोजन ठीक समय पर धीरे-धीरे ठीक से चबाकर खाना चाहिये। भोजनोपरात विश्राम करना चाहिये। चिन्ता, भावना (Emotion) उपसर्ग (Inf:), भोजन मे अनियमितता आदि से रोग के पुनरागमनकी सभावना रहती है। भोजन मे मक्खन, क्रीम आदि वसा (Fat) युक्त पदार्थों की

प्रधानता रहनी चाहिये। भोजन के पूर्व जैतून का तेल (Ol.olive) च.४ देना चाहिये । भोजन के सिद्धान्त तथा रोग के पुनरागमन के कारणों को रोगी को समझाना चाहिये । रोग का पुनरागमन होने पर तत्काल चिकित्सा करनी चाहिये । शारीरिक तथा मानसिक विश्राम के लिये समय समय पर अन्य कार्य से छुट्टी लेकर मनोरंजन करना चाहिये । विशेष रोगियो में मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy) की आवश्यकता पड़ती है ।

यकृत के रोग

परिचय :—एमीनोएसिड (Aminoacids), प्रोटीन (Ptn), कार्बोज (Cho), क्षार (Alkali), जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) तथा कैलसियम (Cal :) के प्रयोग से यकृत विकृत होने से बचाया जा सकता है । यकृत के रोग प्रारम्भ में प्रायः चिकित्सासाध्य होते है । जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit : B. complex) देने से वसानाशक (Lipotropic) औषधियों के प्रभाव मे वृद्धि होती है । भोजन मे कार्बोज अधिक, प्रोटीन पर्याप्त तथा वसा (Fat) अत्यल्प मात्रा मे होना चाहिए । भोजन मे इन तीनों पदार्थों का अनुपात २५ : ७० : ५ के लगभग होना चाहिये और प्र. दि. आहार से २½–३ हजार कैलोरी (C) मिलनी चाहिये । जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) यकृत को विष के प्रभाव से बचाती है । यकृत के रोगो म जीवतिक्ति 'ए' (Vit : A) की कमी होती है । पित्त मे तीन पदार्थ रहते हैं, पित्तलवण (Bile salt), पित्तरागक (Bile pigment) तथा पैत्तव (Cholesterol) । **पित्तलवण** यकृत मे बनता है तथा वसा (Fat) के पचने में सहायक है । **पित्तरागक** का यकृत से परित्याग होता है । यह पदार्थ अनावश्यक प्रतीत होता है तथा कामला (Jaundice) मे त्वचा को पीला कर देता है । **पैत्तव** का कार्य अज्ञात है । इससे पित्ताशय मे अश्मरी (Gallstone) का निर्माण होता है ।

यकृत के कार्यशीलता की परीक्षायें (Liver function tests):—यकृत के निम्न कार्य हैं और ये परीक्षायें (तालिका देखिये) इन्हीं कार्यों पर आधारित हैं :—(१) **पित्त (Bile) का निर्माण** । (२) पूर्वघनास्वि (Pro thrombin), मधुजन (Glycogen) तथा तन्त्विजन (Fibrinogen) की उत्पत्ति । (३) भोजन के तीनों प्रधान तत्व वसा (Fat) कार्बोज (Cho) तथा प्रोटीन (Ptn) के समवर्त (Mbm) मे मदद

देना । (४) विष का नाश करना तथा (५) रक्ताल्पता निरोधी तत्व (Anti-anaemic factor) का संचय करना ।

यकृत के तीव्र रोगों की चिकित्सा (Catarrhal jaundice etc)

चिकित्सा :—रोग के कारण की चिकित्सा करनी चाहिये । इस रोग में किसी अज्ञात कारण से यकृत तथा पित्त मार्ग (Bile passages) में शोथ होता है । विश्राम, शर्बत, मौसमी का रस तथा ग्लूकोस (Glucose) आहार के लिये देना चाहिये । जल की मात्रा अधिक होनी चाहिये । बार्ली का जल उपयुक्त है । यकृत के रोगियों के आहार मे कार्बोज (Cho और प्रोभूजिन (Ptn) की प्रधानता तथा वसा (Fat) की न्यूनता रहनी चाहिये । यकृत तथा पित्ताशय (Gallbladder) की पीड़ा का जीवतिक्ति बी.के.सी. ग्लूकोस (यो० १००) के इन्जेक्शन तथा यकृत पर पुलटिस से सेंकने से शमन होता है । कैलोमेल (यो० ५२) अत्यल्प मात्रा मे चा० प्र० दि० देने से लाभ होता है । सोडी बेनजोअस, सैलिलिस (यो० ११) आदि भी प्रयोग कर सकते हैं । उपसर्ग की प्रकृति के अनुसार पेनिसिलीन (P), स्ट्रेप्टोमाइसीन (Str), औरियोमाइसीन (Au) आदि का प्रयोग करना चाहिये । इनके अनावश्यक प्रयोग से यकृत मे विकृति हो सकती है ।

चिकित्सा के प्रारम्भ मे विरेचन (Purge) से लाभ होता है । इसके लिये रात्रि मे कैलोमेल (यो० ५३) ग्रे० २ तथा दूसरे दिन प्रातःकाल मैग-सल्फ (Mag:sulph) ड्रा० ४ देना चाहिये । कामला मे प्रायः आमाशय मे उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी रहती है । इस लिये भोजन के साथ **उदनीरिकाम्ल** (Hcl. dil) मि० २०–६० द्वि० प्र० दि० देना चाहिये । पित्तमार्ग पर अन्य जीवाणुनाशक औषधियो (Biliary antiseptics) का प्रभाव अनिश्चित है । इसके लिये हेक्सामीन (Hexamine) ४० प्र.श. सी० सी० १–५ अथवा उसके योग (Cylotropin) सिरामार्ग से प्र० दि० अथवा त्रि०प्र०स० कर १०–१२ बार इन्जेक्शन लगा सकते है । हेक्सामीन के प्रयोग के समय मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) रहना आवश्यक है अन्यथा मूत्र परित्याग करते समय जलन होती है । इसलिये क्षारीय घोल (यो० १) प्रति चार घण्टे देना चाहिये ।

अन्य औषधियाँ :—अमोनियम क्लोराइड (Ammon chloride) ग्रे० १० त्रि० प्र० दि, सोडी-सैलिसिलस (Sodi sal) ग्रे० ८

त्रि.प्र.दि., जीवतिक्ति ए. बी. सी. के (Vit:A.B.C.K.), कैलसियम तथा पैराथायरौयेड और जीवतिक्ति 'डी' के योग (Cal:parathyroid P. D., calciferol) गो. १ त्रि. प्र. दि, दुग्ध की प्रोटीन (Milk casein), आमाइनोएसिड (Aminoacids, Ledinac 'Le',meonin'UJ') आदि का भी प्रयोग किया जाता है। प्रातःकाल मैगसल्फ १–२ ड्रा० खाली पेट पीकर दाहिने पार्श्व मे लेटने से पित्त का परित्याग होता है तथा पित्तमार्ग में संचित पित्त बाहर निकलता है। राइल की नलिका (Ryle's tube) नासा मार्ग से प्रवेश कर ग्रहणी (Duodenum) तक पहुँचा कर नलिका से मैगसल्फ (Mag:sulph:) ३३ प्र० श० जल में घोलकर नलिका द्वारा देकर रोगी को दाहिने करवट लेटाने से भी पित्त का परित्याग होता है। रक्तस्राव, (Bleeding पृ०१७४), वमन (पृ० २१४), कब्ज (पृ० १६८), खुजली (पृ० २१७), पित्तमयता (Cholaemia पृ० २१६) आदि की उपर्युक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

कामला की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

इसमे प्रमुखतः पित्त विकृति होने से रेचन कराना अत्यन्त लाभकारी है जैसा कि कहा भी है :—संशोध्योमृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः।

चरक चि. अ. २० श्लो. ३८।

कुटकी, त्रिफला या अमलतास की गूदी से विरेचन कराना अच्छा है। शीतोपचार नहीं करना चाहिए। पूर्ण विश्राम करावे। पीने के लिए श्रृतशीत जल दे। पथ्य पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। लघु,दीपन,पाचन आहार होना चाहिए। केवल दुग्ध या फलरस यथा मौसम्मी, पपीता, अगूर पर रक्खे, फिर मूंग का यूष, पेया, विलेपी भी दे सकते हैं। आटा उबाल कर रोटी दे सकते है। लौकी, पपीता, केला, करेला, पटोल, मूली व आर्द्रक का प्रयोग हितकारी है। हरीतकी, आमलकी का सेवन भी बहुत अच्छा है। मुख्यतः तिक्त-कषायरसवाली चीजे दे क्योंकि वे शोथघ्न, अग्निवर्धक व पित्तशामक है।

आँख मे संचित पित्त को हटाने के लिए द्रोणपुष्पी या निम्बपत्र स्वरस का अजन देते है। बलकारक तैल जैसे लाक्षादि, चन्दनादि का अभ्यगार्थ प्रयोग करे पतले दस्त होने पर तक्रारिष्ट शुण्ठी चूर्ण का प्रयोग करे।

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रास्यात्कुम्भकामला।

कुम्भकामला हो जाने पर कण्डू का उपद्रव होता है जिसमें [illegible] लाभप्रद है। कभी २ गन्धक रसायन व रसमाणिक्य भी देते हैं।

कामला में फलत्रिकादि क्वाथ विशेष लाभकारी है—

फलत्रिकामृतावासातिक्ता भूनिम्ब निम्बजः ।
क्वाथः क्षौद्रयुतोहन्यात् पाण्डुरोगं सकामलम् ॥

—भैषज्य रत्नावली

औषधियाँ :—फलत्रिकादि क्वाथ, नवायस चूर्ण, मण्डूर वटक, हरिद्रा घृत, पंचगव्य घृत, महातिक्त घृत, कल्याण घृत, धात्र्यवलेह, पञ्चामृत लोह, पुनर्नवादि मण्डूर, पञ्चानन वटी, कामलाहर रस (सिद्धयोग संग्रह), धात्र्यरिष्ट।

प्रयोग विधि :—

(१) पुनर्नवादि मण्डूर ४ र०
नवायस लोह ४ र०
शंख भस्म ४ र०
गुडूची सत्व १ मा०
मि० ४ मात्रा

भृंगैला चूर्ण व मधु से।

(२) धात्र्यरिष्ट १½ तो० समजल मिलाकर भोजनोत्तर।

(३) आरोग्यवर्धिनी २ वटी रात्रि में उष्ण जल से।

तीव्र औपसर्गिक यकृत् शोथ (Acute infective hepatitis) :—

परिचय :—यकृत का यह तीव्र उपसर्ग प्रायः विषाणु (Virus) के कारण होता है। रोगी को रक्त, रक्तरस (Plasma), लसिका (Serum) आदि देते समय विषाणु का उपसर्ग होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त रोगी के सम्पर्क में आने वाले स्वस्थ मनुष्यो में भी इसका उपसर्ग होने की सम्भावना प्रतीत होती है।

लक्षण :—इस रोग के मरक (Epidemic) के समय रोग का संचय काल (I. P.) प्रायः २०–४० दिन होता है। जब इस रोग की उत्पत्ति रक्तप्रदान (Blood trans :) अथवा रक्त सम्बन्धित अन्य पदार्थों के प्रयोग के कारण होती है तब रोग का सचय काल प्रायः दीर्घ होता है। इस अवस्था मे इन पदार्थों के प्रयोग के २–४ मास पश्चात लक्षणो की उत्पत्ति होती है। रोग के प्रारम्भ मे साधारण ज्वर, क्षुधानाश, जी मिचलाना, वमन, थकावट, शिर तथा उदर मे पीड़ा होती है। इन लक्षणों के उत्पन्न होने के एक दिन से एक सप्ताह पश्चात कामला (Jaundice) की उत्पत्ति होती

है। यह ध्यान रखने योग्य है कि कामला की उत्पत्ति जब उपसर्ग (Ifn) के कारण होती है तब कामला के पूर्व कुछ दिन तक ज्वर आदि लक्षण होते हैं और जब कामला की उत्पत्ति अवरोध (Obst) के कारण होती है तब प्रथम कामला होता है और कुछ समय पश्चात ज्वर हो सकता है। औपसर्गिक कामला (Infective jaundice) मे कामला का अंश (Degree) अनिश्चित होता है। कामला साधारण अथवा गम्भीर हो सकती है। मूत्र मे अनेक काल पर्यन्त पित्तरक्ती (Bilirubin) मिल सकती है। रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात अनेक मास तक रोगी दुर्बल रहता है तथा यकृत मे विकृति होने की सम्भावना रहती है इसलिये रोगनिवृत्त होने के पश्चात भी रोगी को परिश्रम, अनुपयुक्त आहार, मद्यपान, अनियमित दिनचर्या, शल्यकर्म (Op) आदि से बचना चाहिये। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त तथा उसके पश्चात भी उन औषधियों का प्रयोग नही करना चाहिये जिनसे यकृत मे विकृति होने की सम्भावना रहती है जैसे :—अफीम (Opium) के योग, सल्फा (S) औषधियाँ, सखिया (As) के योग तथा बारबिटोन (Bn) के योग आदि।

चिकित्सा (क) **प्रतिषेध :—रोग से बचने** के लिये रोगी को **पृथक** (Isolate) रखना चाहिए, उसके प्रत्येक स्राव (Discharge) को फौरमलीन (Formaline) ४० प्र. श. आदि जीवाणुनाशक औषधियो के द्वारा जीवाणुरहित करना चाहिये तथा रक्त, रक्तरस, लसिका आदि औषधियों का प्रयोग केवल अत्यावश्यक स्थिति मे ही करना चाहिये। रोगी के सम्पर्क मे आये हुए मनुष्यो को **ग्लोब्यूलीन** (Human globulin) सी. सी. १० पेशीमार्ग (I. M.) से देकर रोग से बचाया जा सकता है। कभी कभी इस रोग से रोगी की मृत्यु हो सकती है। कभी कभी रोग का मरक (Epidemic) भी होता है।

(**ख**) **साधारण चिकित्सा :**—रोग की विशिष्ट चिकित्सा के अभाव मे **भोजन** तथा औषधियो द्वारा यकृत को विकृत होने से बचाना चाहिये। रोगी को शैय्या पर पूर्ण **विश्राम** करना चाहिये तथा मुख द्वारा पर्याप्त मात्रा मे जल, कार्बोज (Cho), प्रोटीन (Ptn), अमीनोएसिड (Amino-acids), जीवतिक्ति ए, बी, सी (Vit : A. B. C.) आदि लेना चाहिये। रोग की तीव्रता के समय **तरल आहार** (पृ०४) प्र. २ घं० पर देना चाहिये। रोगी के शरीर मे इतनी जल की मात्रा जानी चाहिये जिससे कम से

कम २ सेर मूत्र का प्र. दि. निर्माण हो, इसलिये मूत्र तथा जल की प्र. दि. की मात्रा का ज्ञान आवश्यक है, परन्तु रोग के प्रारम्भ में प्रायः रोगी को **वमन** होता है इस लिये मुख द्वारा आहार देने मे कठिनाई होती है। इस परिस्थिति मे रोगी के नासामार्ग मे राइल की नलिका (Ryle's tube) प्रवेश कर, ये सब पदार्थ नलिका द्वारा देना चाहिये। साथ-साथ सिरामार्ग (I. V.) से ग्लूकोस ५–२५ प्र. श., विषाणुरहित रक्तरस (Virusfree plasma) पा. ½–१ तथा प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट (Ptn. hydrolysate) ५ प्र. श. पा. १ आदि दे सकते हैं। इन औपधियों को आ. अ. ए. या द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। वमन (पृ.११४) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। वमन के कारण शरीर से जल तथा लवण (Nacl) का विशेष रूप से परित्याग होता है इसलिये वमन होने पर वमननिरोधी औषधियो के अतिरिक्त सिरा (I.V.), गुदा तथा अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से समबल लवणघोल (N. saline) पा. १ आ. अ. देना चाहिये। वमन शान्त हो जाने पर उपर्युक्त वर्णित पदार्थ मुख द्वारा देना चाहिये। दुग्ध का प्रयोग कर सकते हैं परन्तु दुग्ध से मक्खन निकाल देना चाहिये। रोगी की अवस्था मे सुधार होने पर, ज्वर आदि लक्षण शान्त हो जाने पर यकृत के रोगी के अनुकूल आहार होना चाहिये। भोजन मे कार्बोज (Cho) की मात्रा अधिक, प्रोटीन (Ptn) की साधारण तथा वसा (Fat) अत्यल्प होना चाहिये। अमीनोएसिड (Aminoacids), जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit : B. complex) तथा जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) आदि का रहना आवश्यक है।

(ग) **विशिष्ट चिकित्सा** :—रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है परन्तु विषाणु (Virus) जन्य होने की सम्भावना के कारण औरियोमाइसीन (Au), क्लोरोमायसिटीन (Cln), टेरामायसीन (Tn) आदि औषधियां मि. ग्रा. २५०–५०० त्रि. प्र. दि. सावधानी पूर्वक मुख द्वारा दे सकते हैं। इनको अत्यधिक मात्रा में देने से हानि भी हो सकती है। मुख द्वारा औषधि देना यदि सम्भव न हो तब इनको सिरा (I. V.) अथवा पेशी (I. M) द्वारा दे सकते हैं। कब्ज आदि लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

यकृत के चिरकालीन रोगों की चिकित्सा :—(Cirrhosisliver, infantile, hypertrophic, Atrophic, Laenec's Etc)।

परिचय :—यकृत के चिरकालीन रोगों में यकृत मे प्रायः प्रारम्भ में

वसा का अन्तराभरण और अपजनन (Fatty infiltration, fatty degeneration) होता है तत्पश्चात तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) हो जाता है। प्रथम अवस्था चिकित्सासाध्य तथा द्वितीय असाध्य होती है। इसलिये यथा-सम्भव यकृत के रोगो की चिकित्सा पर प्रारम्भ से ध्यान देना चाहिये तथा यकृत विकृत होने से बचाना चाहिये। यकृत-विकृति के विशिष्ट **कारण** का अभी तक ज्ञान नहीं है परन्तु कुछ पदार्थों से इसका घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है जैसे :—मद्यपान, विषाणु (Virus) का उपसर्ग, किसी जीवतिक्ति (Vit:) की कमी, भोजन मे वसा (Fat) की प्रधानता तथा प्रोटीन (Ptn) का कमी, दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.), सखिया (As), मसाला, अफीम (Opium) के योग, सल्फा (S), बारबिटोन (Bn) आदि की चिर-कालान विषमयता, पित्तमार्ग (Biliary tract), अग्न्याशय (Pancreas) तथा पित्ताशय (Gallbladder) के चिरकालीन रोग, अवटुका-ग्रन्थि के स्राव का वृद्धि (Thyrotoxicosis), कब्ज, पोषणाभाव (Malnutrition) आदि। जीवतिक्ति में 'बी' सम्पूर्ण (Vit 'B' : complex) की कमी, उपसर्ग मे विषाणु, अ. का. धा. ना. (E. H.), फिरग (Syphilis), विषमज्वर (M. P), यक्ष्मा (T.B), काल-ज्वर (K.A.) तथा प्रोटीन मे अमीनोएसिड (Aminoacids) की कमी का प्रमुख स्थान है। चिकित्सा की दृष्टि से जब तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) के कारण यकृत छोटा हो जाता है तथा साथ-साथ जलोदर (Ascites) भी रहता है तब चिकित्सा का परिणाम निराशाजनक है, परन्तु जलोदर के साथ जब यकृत मे वसा सचय (Fatty changes) होने के कारण यकृत वृद्धित रहता है तब आहार तथा औषधि द्वारा रोगी के रोगनिवृत्त होने की सम्भावना रहती है। यकृत मे वसा संचय होने से (Fatty changes) अथवा तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) होने से दोनो ही अवस्थाओ मे यकृत की वृद्धि हो सकती है परन्तु द्वितीय अवस्था मे यकृत अत्यन्त कड़ा होता है तथा प्रथम अवस्था मे साधारण रूप से कडा (Firm) हो सकता है।

निदान :—उपर्युक्त वर्णित कारणो का इतिहास, यकृत के परिमाण मे परिवर्तन, यकृत मे पीड़ा, मल-मूत्र के रग मे परिवर्तन, जलोदर (Ascites), रक्तवमन (Hematemesis), पचन-सस्थान की विकृति, दौर्बल्य, थकावट, अजीर्ण, कामला (Jaundice), उदर के दक्षिण भाग मे असु-

विधा, उदर का उन्नत होना, खुजली, मानसिक अवसाद (Depression), भार मे कमी, पाण्डुवर्ण आकृति, अर्श (Piles), शोफ (Oedema), श्याममल (Melena), हथेली पर रक्तिमा (Erythema), नाक पर की केशिकाओ की वक्रता (Spider angiomata), उदर प्राचीर की सिराओं का दिखलाई देना (Caput medusae), प्रातःकाल वमन, आमाशयशोथ (Gastritis) के लक्षणो का बार बार होना, शिर में पीड़ा, तन्द्रा (Drowsiness), प्रक्षोभ (Irritability) आदि यकृतविकृति के प्रमाण है। यकृत के परिमाण का छोटा होना, प्रतिहारिणी सिरावरोध (Portal obstruction) के चिन्ह, जलोदर, कामला आदि लक्षण प्रायः रोग के काफी बढ़ जाने पर होते हैं। पैत्तिक यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Biliary cirrhosis) मे प्रायः ज्वर होता है।

रक्त-परीक्षा मे रक्ताल्पता (Anaemia) तथा कामला (Jaundice) का प्रमाण मिलता है। वॅनडेनबर्ग (Van den Bergh test) परीक्षा, रंगदेशना (Icteric index) आदि परीक्षाओं द्वारा यकृत की कार्यशीलता (Liver function) मे कमी प्रतीत होती हैं। अन्नप्रणाली वीक्षण यन्त्र (Oesophagoscope) द्वारा अन्नप्रणाली (Oesophagus) के समीप की सिराये वक्र (Varicose) तथा रक्त से भरी प्रतीत होता हैं। यकृत विकृति का यथार्थ ज्ञान होने के लिये सूचिकाद्वारा यकृत का भाग निकाल कर (Biopsy) परीक्षा करनी चाहिये, परन्तु यह परीक्षा हानिकर हो सकती है।

चिकित्सा (क) प्रारम्भिक अवस्था (१) साधारण :—रोगी को शैय्या पर १–२ मास पर्यन्त विश्राम करना चाहिये। मद्य का जीवनपर्यन्त के के लिये परित्याग कर देना चाहिये। उपर्युक्त कारणो को दृष्टि मे रखकर रोगी की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये तथा इन कारणो मे से किसी की सभावना रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। कामला की सपूर्ण अवधि पर्यन्त विश्राम करना आवश्यक है।

(२) आहार :—यकृत के रोगो मे उपयुक्त आहार सर्वोत्तम औषधि है। भोजन पौष्टिक तथा पर्याप्त कैलोरी (C) वाला होना चाहिये। भोजन मे कार्बोज (Cho) तथा प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक और वसा (Fat) की मात्रा कम होनी चाहिये। २००० कैलोरी प्र. दि. देने के लिये कार्बोज

५छ., प्रोटीन २ छ. तथा वसा २½ छ. होना चाहिये। इनका अनुपात २:१:१ होना चाहिये। जीवतिक्ति ए, बी, सी तथा 'के' (Vit: A,B,C,K,) का होना आवश्यक है। **कार्बोज** मे ग्लूकोस,बार्ली का पानी, नीबू का शर्बत, चावल आदि देना चाहिए। प्रोटीन की कमी (Hypo proteinemia) की उपयुक्त (पृ.२१८) चिकित्सा करे। प्रोटीन की कमी के साथ साथ रक्ताल्पता (Anaemia) भी रहने पर आ. अ. सिरामार्ग (I. V.) से रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये। जलोदर के जल (Ascitic fluid) में प्रोटीन की मात्रा प्रायः अधिक होती है। इस जल को निकाल कर सिरामार्ग (I. V.) से पुनः दे सकते हैं। शुक्लि (Alb) मे प्रायः लवण रहता है इसलिये शोथ के रोगी को **लवणरहित शुक्लि** (Saltfree alb) २–३ औं. प्र. दि. दे सकते हैं। घी, तेल, वनस्पतिघृत आदि वसायुक्त पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। मक्खन ड्रा. २ तथा क्रीम औं. १ तक प्र. दि. दे सकते हैं। **जीवतिक्ति 'बी' संपूर्ण** (Vit : B. complex) के लिये खमीर (Yeast) की ४–६ गो. त्रि. प्र. दि. अथवा औं. १ प्र. दि. तक या मारमाइट (Marmite) अं. १/२–१ प्र. दि., जीवतीक्ति 'बी१' (Vit : B_1) मि. ग्रा. १०–१५ त्रि. प्र. यकृत सत्व सम्पूर्ण (Crude liver ext :) १–२ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से २–३ बार प्र. स. अथवा जीवतिक्ति 'बी' के अन्य योग दे सकते हैं। जीवतिक्ति ए. सी. के. (Vit : A.C.K.) आदि का भी विशेष महत्व है। शैशवावस्था मे यकृत विकृत रहने पर जीवतिक्ति 'ए' का जल मे घुलनशील योग (Abdec drops P. D.) मि. ५–१० द्वि. प्र दि. दूध अथवा फल के रस के साथ देना चाहिये। शिशु मे जीवतिक्ति 'ए' का तैल मे घुलनशील योग प्रयोग करने से यकृत मे विकृति हो सकती है। साथ-साथ **जल** भी पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिये।

(३) **औषधियाँ** :—क्षार (यो. १) का प्रयोग लाभदायक है। आन्त्र के जीवाणुओं को नाश करने वाली औषधियाँ (Intestinal antiseptics) का प्रभाव अनिश्चित है। अन्य चिकित्सा (पृ.६२२) प्रसेकी कामला (Catarrhal jaundice) के समान है। विषाणु (Virus) के उपसर्ग की सम्भावना रहने पर औरियोमायसीन (Au) तथा फिरंग (Syphilis) रहने पर पेनिसिलीन (P.), बिस्मथ (Bismuth) आदि का

प्रयोग करना चाहिये। कालमेघ सत्व (Ext : kalmegh liq :), पारद (Hg) के योग, अमोनियम क्लोराइड (Ammon chloride) आदि समय समय पर प्रयोग किये जाते हैं। रोगी की अवस्था में सुधार होने पर शनैः शनैः परिश्रम में वृद्धि करना चाहिये। अन्य उपायों से वमन (पृ.२१४) शान्त न होने पर जल पा. १ में सोडी बाइकार्ब च. २ मिला कर आमाशय (St) धोना चाहिये।

(ख) **जीर्ण अवस्था** (Later stage) :—इस अवस्था मे जलोदर (Ascites), सर्वाङ्गशोथ (Anasarca), रक्तवमन (Hematemesis), कामला (Jaundice) आदि उपद्रव होते हैं। इस अवस्था की चिकित्सा प्रारम्भिक अवस्था की चिकित्सा के समान है। जहाँ तक सम्भव हो रोगी को निरन्तर शैय्या पर विश्राम करने से बचाना चाहिये। निरन्तर विश्राम करने से अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं। रक्ताल्पता (Anaemia) मे लौह (Fe) के योग तथा यकृत्व सत्व (Liver ext :) का इन्जेक्शन देना चाहिए। रक्तवमन (पृ. १८२) मे जीवतिक्ति 'के' (Vit : K) से लाभ होता है। वमन, (पृ.२१४), खुजली, (पृ.२१६) क्षुधानाश, कब्ज, (पृ. १९८), हिचकी (पृ. १९५) आदि लक्षणो की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए। परिसरीय वातनाड़ी शोथ (Peripheral neuritis) के लिये जीवतिक्ति बी$_{12}$ (पृ. ४४) देना चाहिये। रक्तवमन (Hematemesis) होने के पश्चात रोगी को परिश्रम नहीं करना चाहिये तथा किसी प्रकार का बोझ नही उठाना चाहिये और २–३ मास तक प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) के समान (पृ.६११) भोजन तथा अम्लनिरोधी (Aetacids) ओपधियाँ लेना चाहिए। **यकृतजन्य सन्यास** (Hepatic coma) अत्यन्त गम्भीर उपद्रव है। इस अवस्था मे शामक (Sedative) औपधियो का प्रयोग नही करना चाहिए। रक्तप्रदान (Blood trans :) से लाभ हो सकता है। ग्लूकोस ५–१० प्र. श. के प्रति पाइट मे जीवतिक्ति 'बी$_1$' (Vit : B_1) १० मि. ग्रा. तथा निकोटिनामाइड (Nicotinamide) मि० ग्रा० ५० मिलाकर सिरामार्ग (I.V.) से पा. ४–६ प्र० दि० देना चाहिये।

जलोदर (पृ.२२३) रहने पर पोटासियम (K.) के साथ केशन एक्सचेन्ज रेजिन (Cation exchange resin) ग्रा० १०–१५ त्रि० प्र० दि०

मुख से देने से सोडियम (Na) का आन्त्र से प्रचूषण नहीं होता। इस औषधि के साथ लवण (Nacl) रहित आहार देने की आवश्यकता नही है। लवण-रहित मानवी लसिका शुक्लि (Saltfree human serum alb) ग्रा. २५–५० सिरामार्ग (I. V.) से प्र० दि० देने से रक्त मे शुक्लि (Alb) की वृद्धि होती है और जलोदर मे कमी होती है।

परमपौष्टिकपैत्तिक यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Hypertrophic biliary cirrhosis) में विष की उत्पत्ति प्लीहा से प्रतीत होती है इसलिये इस रोग मे प्लैहिक धमनी (Splenic art:) को बाँध दिया जाता है।

पैत्तिक यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Biliary cirrhosis)

परिचय :—यह रोग दो प्रकार का होता है। एक मे विकृति प्रारम्भ से ही किसी अज्ञात कारण से यकृत मे होती है तथा दूसरे मे प्रारम्भिक विकृति यकृत के बाहर होती है, जिसका यकृत पर प्रभाव पड़ता है और यकृत मे विकृति होती है।

प्रकार (१) प्रारम्भिक विकृति यकृत में होती है :—यह रोग प्रायः स्त्रियों मे होता है। कारण अज्ञात है। रोगी का स्वास्थ्य, प्रायः अच्छा रहता है। यकृत की अत्यधिक वृद्धि होती है। पैत्तिक शूल, ज्वर, दौर्बल्य, पोषणाभाव आदि लक्षण नहीं होते। कामला (Jaundice) अनिश्चित है। खुजली होती है।

चिकित्सा :—यकृत के चिरकालीन रोगों की चिकित्सा के समान इसकी भी चिकित्सा करनी चाहिये। शैय्या पर विश्राम करना आवश्यक नही है। घी, तेल के अतिरिक्त वसा (Fat) के अन्य प्रकार जैसे मक्खन, क्रीम आदि रोगी बर्दाश्त कर सकता है। जीवतिक्तिओ का मिश्रण (Multivit) देना चाहिये विशेषकर 'डी' (Vit.D) अन्यथा सन्धिभग्न (Fracture) तथा अस्थिमृदुता (Osteomalacia) होने की सम्भावना रहती है।

(२) प्रारम्भिक विकृति यकृत के बाहर होती है :—यकृत के बाहर पित्तमार्ग मे रुकावट होने के कारण पित्त का प्रवाह ठीक से नही होता और यकृत मे विकृति होती है। साथ साथ पित्तमार्ग मे शोथ (Cholangitis) भी हो सकता है। पित्तमार्ग (Biliary passages) मे रुकावट, अर्बुद (Tumor), अश्मरी (Stone) आदि के कारण हो सकती है। इस अवस्था मे समय-समय पर पैत्तिकशूल (Biliary colic) तथा ज्वर

का आवेग होता है। ज्वर के प्रारम्भ में शीत (Chill) होता है और कामला प्रायः स्पष्ट होता है।

चिकित्सा :—रोगी वसा (Fat) बर्दाश्त नहीं कर पाता। शल्यकर्म (Op) द्वारा अवरोध को दूर करना चाहिये। इस रोग में यकृत के चिरकालीन रोगों के समान आहार देना चाहिये। पित्तमार्ग में शोथ (Cholangitis) रहने पर ओरियोमायसीन (Au) अथवा टेरामायसीन (Tn) आदि २५०–५०० मि० ग्रा० ३–४ वार प्र० दि० देना चाहिये। गम्भीर अवस्था मे अथवा वमन आदि रहने पर ये औषधियाँ पेशी या सिरा (I. M. I.V.) मार्ग से दे सकते हैं। आ. अ. सल्फा (S) गो० १ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। रक्ताल्पता (Anaemia), खुजली (पृ० २१७), आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

शैशवीय यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Infantile cirrhosis)।

परिचय :—यकृद्दाल्यूत्कर्ष मे दो प्रकार के रोग सम्मिलित हैं (क) **प्रथम** जिनमे यकृत विकृति का कारण पता लग सकता है जैसे :–विषम ज्वर (M.F) कालज्वर (K. A.), सहज फिरंग (Syphilis), दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.), बैन्टी (Banti) का रोग, पित्तवाहिनियो मे अवरोध (Biliary obst:) आदि (ख) **द्वितीय** जिसका कारण अज्ञात (Idiopathic) है, जैसे शैशवीय यकृद्दाल्यूत्कर्ष। आहारमे सिस्टीन (Cystine) की कमी रहने पर यकृत की कोषायें तीव्रता से नष्ट (Acute necrosis) होती है। परिणामस्वरूप यकृतमे ततूत्कर्ष (Fibrosis) होता है। सिस्टीन एक प्रकार का अमीनोएसिड (Aminoacid) है। इसमे गन्धक (Sulphur) की मात्रा अधिक रहती है। यह दुग्ध की प्रोटीन (Milk casein) मे अधिक मात्रा मे रहता है। **जीवतिक्ति** 'ई' (Vit:E) की कमी से यकृत की कोषाओ के नष्ट होने मे मदद मिलती है। यह पदार्थ दुग्ध मे नही रहता है। कोलीन, मेथियोनीन (Chaoline, methionine) आदि यकृत मे वसा (Fat) को संचय होने से रोकते हैं। इसलिये आहार मे इनकी कमी रहने पर यकृत मे वसा का सचय होता है और परिणामस्वरूप यकृत मे ततूत्कर्ष होता है। इस प्रकार हम देखते है कि शैशवीय यकृद्दाल्यूत्कर्ष की उत्पत्ति मे सम्भवतः सिस्टीन, मेथियोनीन तथा जीवतिक्ति 'ई' की कमी का प्रमुख स्थान है। **अनूर्जता** (Allergy) का भी इससे सम्बन्ध प्रतीत होता है।

चिकित्सा :—भोजन मे वसा (Fat) की कमी, प्रोभूजिन (Ptn) की प्रधानता तथा जीवतिक्तियो (Vit:) की पर्याप्त मात्रा रहनी चाहिये। जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit: B complex) तथा 'सी' (Vit: C) का विशेष महत्व है। **औषधि** मे अमीनोएसिडस (Amino-acids), कोलीन (Choline), यकृत सत्व (Liver: ext:), कालमेघ (Ext: kalmegh liq.), जिंक-ऑक्साइड (Zinc oxide), वेन्ट्रीक्यूलीन (Ventriculin) तथा पारद (Hg) आदि का प्रयोग किया जाता है। दुग्ध का प्रयोग वर्जित है। पपीता, सन्तरा, मोसमी, बार्ली का जल, चावल आदि देना चाहिए।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार रोग के कारण का पता लगाना चाहिये। इसके लिये **रक्तपरीक्षा** मे श्वेतकणो (WBC) की संख्या (T. C.) तथा उनका अनुपात (D. C.) देखना चाहिये। रक्ताल्पता का पता लगाने के लिये रक्तकणो (RBC) की सख्या तथा शोणवर्तुलि (Hb) की मात्रा का ज्ञान आवश्यक है। फिरग (Syphilis) के लिये कान कसौटी (Kahn test), कालज्वर (K.A.) के लिये अन्जन (Sb) तथा एल-डीहाइड (Aldehyde) परीक्षायें करना चाहिये। विषम ज्वर के लिये, रोग के जीवाणुओं (M. P.) के लिये देखना चाहिये। आन्त्रकृमी का पता लगाने के लिये **मल परीक्षा** आवश्यक है। रोग के कारण का पता लगने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

दुग्ध से मक्खन निकाल कर (Skimmed milk) दे सकते है। दुग्ध मे प्रोटीन (Ptn) की मात्रा बढाने के लिये दुग्ध मे केसीन (Cal: caseinate powder 'Go' caseinon) मिला सकते है। अमीनोएसिड (Neomethidin, meonin, delphicol) शर्बत या गोली के रूप में दे सकते हैं। जीवतिक्ति सम्पूर्ण (Multi vit) के योग (Abdec drops P. D.) देना चाहिये। उपसर्ग की सभावना रहने पर सावधानी पूर्वक तृणाणुनाशक औषधियाँ (Acr, P, Itn) आदि दे सकते हैं। पेनिड्योर (Penidure) पेनिसिलीन का योग है। इसको मुख दे देना चाहिये। तृणाणुनाशक औषधियो को एक सप्ताह से अधिक देना ठीक नहीं है। इनका अधिक प्रयोग करने से यकृत मे विकृति हो सकती है। सल्फा (S) का प्रयोग वर्जित है। रक्ताल्पता के लिये लौह (Fe) तथा यकृत सत्व

(Liver ext) देना चाहिये। रोगी जब तक ५ वर्ष की आयु का नहीं हो जाता उसका ध्यान रखना आवश्यक है। जामी का लिवरक्योर (Jammi's liver cure) लाभप्रद है।

यकृद्दाल्यूत्कर्ष एवं यकृतशोथ की आयुर्वेदिक चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा का क्रम प्रायः पाण्डु व कामला के समान ही होता है। प्रथम औषधि सिद्ध घृतो से स्नेहन कराकर वमन व विरेचन दे, तत्पश्चात् औषधियों का प्रयोग करे। पथ्य कामला के समान ही है। इसमे यवक्षार ३ माशा जल एव मट्ठा के साथ खाना लाभदायक है। पाण्डु रोग मे वर्णित वर्धमानपीपल भी उपयोगी है। प्लीहा के भी बढ़े होने पर प्लीहार्णव, प्लीहारि, प्लीहशार्दूल, रोहितकारिष्ट, शरपुंखाक्षार का भी प्रयोग करें। उदर पर देवदार्वादि लेप लगावे। कालमेघ पत्र स्वरस १५–२० बूँद मे मधु मिला कर दिन मे दो-तीन बार दें।

औषधियाँ :—पुनर्नवादि क्वाथ, पथ्यादि क्वाथ, दशमूल कषाय, अर्क लवण, अभयालवण, आरोग्यवर्धिनी वटी, कुमार्यासव, रोहितकारिष्ट, शंख-द्राव, १–२ बूँद, यकृतप्लीहारि लौह, वृ. लोकनाथ, प्रवाल पञ्चामृत, शंख-भस्म, यकृदारि लौह, पुनर्नवादिमण्डूर, देवदार्वादि लेप, दोषघ्नलेप, दशांग लेप।

प्रयोग—(१) यकृदारि लौह ३ र.
मण्डूर ३ र.
शखभस्म ३ र.
मि. ३ मात्रा
पुनर्नवारस व मधु से।
(२) आरोग्य वर्धिनी २ व.
(३) देवदार्वादि लेप उदर पर
रात्रि मे उष्णोदक से।

पित्ताशयशोथ तथा पित्ताशय अश्मरी
(Cholecystitis, cholelithiasis)

परिचय :—इस अवस्था मे पित्ताशय मे शोथ हो जाता है। यह शोथ प्रायः मध्यावस्था की स्त्रियो मे अनेक गर्भाधान के पश्चात् पाया जाता है। यह रोग भारतवर्ष के पहाड़ी इलाकों मे, नेपाल तथा पञ्जाब मे, मैदान के इलाकों की अपेक्षा अधिक होता है। रोग तीव्र अथवा चिरकालीन हो सकता है। चिरकालीन अवस्था मे भी अनेक बार तीव्र हो सकता है। इस रोग के साथ-साथ प्रायः पित्ताशय मे अश्मरी (Gallstones) भी रहती है। पित्ताशय तथा यकृत का घनिष्ट सम्बन्ध है। एक की विकृति का प्रायः दूसरे पर प्रभाव

पड़ता है और इन दोनों की विकृतियो का आमाशय (St.) पर प्रभाव पड़ता है और अग्निमान्द्य (Dyspepsia) के लक्षण होते हैं। व्यायाम की कमी, गर्भावस्था, स्थूल शरीर आदि के कारण पित्त (Bile) का प्रवाह ठीक प्रकार नही होता और पित्त, पित्ताशय तथा पित्तमार्ग मे सचन होता है। इस सचित पित्त मे उपसर्ग (Ifn) होने की सम्भावना रहती है। यह उपसर्ग आन्त्र दण्डाणु (B. coli), आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु (B. typhosus), माला गोलाणु (B. strepto) आदि के द्वारा होता है और यही उपसर्ग पित्ताशय मे शोथ अथवा अश्मरी बनने का कारण होता है। उपसर्ग के समय शरीर मे कैलसियम (Cal :) तथा गर्भावस्था मे कोलेस्टेरौल (Cholesterol) की वृद्धि होती है इसलिये, पित्ताश्मरी (Gallstone) इन्ही पदार्थों तथा पित्तरागक (Bile pigments) द्वारा बनता है। पित्ताशय या पित्ताशय वाहिनी (Cystic-duct) मे अश्मरी रहने से कामला (Jaundice) के लक्षण नहीं होते परन्तु जब अश्मरी संयुक्त पित्तवाहिनी (Common bileduct) मे पहुँच कर अवरोध उत्पन्न करती है तब अवरोधी कामला (Obstructive jaundice) की उत्पत्ति होती है और साथ-साथ यकृत मे भी विकृति होती है। परिणामस्वरूप परमपौष्टिक पैत्तिक यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Hypertrophic biliary cirrhosis) की उत्पत्ति होती है। उपसर्ग जीर्ण हो जाने पर पित्ताशय का द्वार बन्द हो जाता है। इस अवस्था मे पित्ताशय का प्राचीर (Wall) मोटा हा जाता है, पित्ताशय के अन्दर श्लेष्मा (Mucus) के समान वर्णरहित पदार्थ संचय होता है। इस अवस्था मे पित्ताशय का बाहर से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। पित्ताशय की अवस्था एक कोष्ठ (Cyst) के समान हो जाती है। इस अवस्था मे औषधियों का पित्ताशय मे पर्याप्त मात्रा मे पहुँचना सम्भव नहीं रहता। इसकी चिकित्सा केवल शल्यकर्म (Op) द्वारा ही की जा सकती है। यह भी संभव है कि विकृति के इस अवस्था पर पहुँचने पर पैत्तिक शूल (Biliary colic) आदि उग्र लक्षणो का शमन हो जाय। इस प्रकार के पित्ताशय का आकार काफी बडा हो सकता है और वह दक्षिण जघनकपालिक खात (Iliac fosa) तथा कटिप्रदेश (Lumbar region) मे भी मिल सकता है। कभी-कभी पित्ताशय मे पूयभवन (Suppuration) हो जाता है। इस अवस्था को पित्ताशय का पूयोरस (Empyema) कहते है। यह अवस्था

काफी चिन्ताजनक होती है और यदि औषधियों से तत्काल लाभ न हो तब शल्यकर्म (Op) की आवश्यकता होती है अन्यथा पित्ताशय के फट जाने का भय रहता है। पित्ताशयशोथ की चिकित्सा प्रारम्भ में औषधियों द्वारा ही करनी चाहिये। इससे लाभ न होने पर शल्यकर्म की आवश्यकता पड़ती है। शल्यकर्म यथा संभव उस समय करना चाहिये जब रोगी का स्वास्थ्य अच्छा हो तथा किसी प्रकार के उग्र लक्षण न हों। इस अवस्था में शल्यकर्म का परिणाम आशाजनक होता है। पित्ताशय के अकस्मात् फटने पर तत्काल शल्यकर्म करना पड़ता है।

तीव्र पित्ताशय शोथ (Acute cholecystitis)

परिचय :—इस अवस्था की चिकित्सा इस बात पर निर्भर करती है कि पित्ताशय फट गया है अथवा शीघ्र ही फटने वाला है या उसके निकट भविष्य में फटने की सम्भावना है या नहीं। इन विकृतियों का ज्ञान, रोगी की अवस्था, नाड़ी की गति, पीड़ा की स्थिति, उदर की अनम्यता (Rigidity) रोगी का ताप, श्वसन की गति, रक्त परीक्षा में श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या आदि से की जा सकती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उदर की गम्भीर अवस्थाओं में स्तब्धता (Shock) के कारण वास्तविक स्थिति का ज्ञान ताप (Temp :) की अपेक्षा नाड़ी की गति से करना चाहिये। उदरावरणशोथ (Peritonitis), किसी अन्तराशय का फटना (Perforation), आन्तरिक रक्तस्राव (Internal hemorrhage) आदि गम्भीर अवस्थाओं में भी ताप प्राकृत अथवा प्राकृत से थोड़ा अधिक रह सकता है। नाड़ी की गति १२० प्र. मि. से कम रहने पर उदर में प्रायः किसी गम्भीर विकृति की सम्भावना नहीं रहती। पित्ताशय यदि फट गया हो अथवा उसके फटने की सम्भावना हो तब तत्काल शल्यकर्म (Op) करना आवश्यक है परन्तु यदि रोगी की अवस्था से इन उपद्रवों की सभावना प्रतीत न होती हो तब **३६ घण्टे तक** औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। यदि औषधियों द्वारा इस अवधि में रोगी की अवस्था में सुधार हो जाय तब शल्यकर्म (Op) में जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु यदि इस अवधि में ज्वर, नाड़ी की गति, श्वेतकणों की संख्या आदि में कमी न हो तथा शोथ में वृद्धि होती प्रतीत हो तब शल्यकर्म (Op) करना ही अच्छा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीव्र पित्ताशयशोथ में यह निर्धारित करना आवश्यक है

कि शल्यकर्म तत्काल किया जाय अथवा औषधियों द्वारा चिकित्सा करने के पश्चात । तीव्र पित्ताशयशोथ, पित्ताशय मे उपसर्ग (Ifn) तथा अवरोध होने के कारण होता है । अवरोध अश्मरी (Stone) के कारण या बिना अश्मरी के भी हो सकता है ।

निदान :—निदान की दृष्टि से अजीर्ण (Dyspepsia), पित्ताश्मरी (Gall stone) तथा पैत्तिकशूल (Colic) का इतिहास महत्वपूर्ण प्रमाण है । पित्ताशय के स्थान पर पीड़ा, अनम्यता (Rigidity), दबाने से कष्ट, ज्वर तथा श्वेतकणों (W. B. C.) की वृद्धि, नाड़ी की तीव्र गति आदि महत्वपूर्ण लक्षण है । तीव्र अवस्था मे मिचली तथा वमन होता है । कामला (Jaundice) अनिश्चित है । दक्षिण ओर की अष्टम तथा नवम पर्शुक तरुणास्थि (Costal cartilage) पर दबाने से पीड़ा होती है । इसको **लेविनीस** का चिह्न (Levenes sign) कहते है । अग्रपत्र (Xiphoid sign) चिह्न तथा मर्फी का चिह्न (Murphy s sign) अस्त्यात्मक (+) होता है ।

परीक्षायें :—**रक्त परीक्षा में** श्वेतकणो की वृद्धि होती है । यह वृद्धि प्रधानतया वह्वाकारियो (Poly:leucocitosis) मे होती है । श्वेतकणो (W. B. C.) की वृद्धि तथा कमी से शोथ की अवस्था का ज्ञान होता है । यह परीक्षा प्रति १२ घटे पर करना चाहिये । संयुक्त पित्तवाहिनी (Common bileduct) मे अवरोध होने पर **रंग देशाना** (I. I.) मे वृद्धि होती है । लसिका (Serum) मे पित्तरक्ती (Bilirubin), अ. प्रो. भू. (N. P. N.), शर्करा, अमाइलेस (Amylase), लाइपेस (Lipase) नीरेय (Cl) आदि के लिये देखना चाहिये । **क्ष-किरण** (X ray) द्वारा बिना रंग (Dye) आदि के दिये, उदर की परीक्षा अश्मरी (Stone) के लिये करनी चाहिये । यदि हृदय के पूर्ण रूप से स्वस्थ होने मे शका हो तब विद्युतहृल्लेख (Ecg) द्वारा हृदय की परीक्षा कर सकते है । रोग की अत्यन्त तीव्र अवस्था मे यदि पित्ताशय के फटने की संभावना हो तथा शल्यकर्म (Op) तत्काल करना आवश्यक हो तब इन परीक्षाओ मे समय नष्ट करना ठीक नही है । इस अवस्था मे केवल श्वेतकणो (W. B. C.) की संख्या के लिये रक्त की परीक्षा करनी चाहिये । अन्य परीक्षायें उसी स्थिति मे करना चाहिये जब तत्काल शल्यकर्म करना आवश्यक न हो ।

चिकित्सा (क) औषधि द्वारा चिकित्सा :—जब शल्यकर्म (Op) तत्काल आवश्यक न हो तब रोगी की औषधि द्वारा चिकित्सा की जाती है। औषधि द्वारा चिकित्सा करते समय रोगी की अवस्था पर निरन्तर ध्यान रखना चाहिए जिससे आवश्यकता प्रतीत होने पर तत्काल शल्यकर्म किया जा सके। औषधियो द्वारा उपसर्ग (Ifn) की चिकित्सा की जाती है, जलाल्पता (Dehydration) होने से बचाया जाता है, रोगी का बल क्षीण नही होने दिया जाता तथा लक्षणो की उपयुक्त चिकित्सा की जाती है।

(१) रोगी की अवस्था का निरीक्षण :—रोगी को तत्काल फाउलर के आसन (Fowlar's position) मे शैय्या पर रखकर पूर्ण **विश्राम** देना चाहिए। जब तक मिचली अथवा वमन बन्द न हो मुख से किसी प्रकार की औषधि, आहार अथवा जल नहीं देना चाहिये। रोगी के उदर की परीक्षा प्र. २ घ. पर करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि उदर की अनम्यता (Rigidity) मे क्या परिवर्तन होता है। शोथ में कमी होने पर अनम्यता मे भी कमी होती है। शोथ मे वृद्धि होने पर अनम्यता मे भी वृद्धि होती है। रोगी का ताप, नाड़ी तथा श्वसन की गति प्र. २ घं. देखना चाहिये। इनकी वृद्धि शोथ की वृद्धि की द्योतक है। इनमे कमी होना रोगी की अवस्था मे सुधार होने का प्रतीक है। मूत्र की प्र. दि. की मात्रा लिखकर रखना चाहिये।

(२) उपसर्ग (Ifn) की चिकित्सा :—औरियोमायसीन (Au) या टेरामायसीन (Tn) यदि वमन न हो तब मुख से ५०० मि. ग्रा. चा. प्र. दि. अन्यथा सिरामार्ग (I. V.) से ५००–१००० मि ग्रा. द्वि. प्र. दि. दें। पेनिसिलीन (P) तथा स्ट्रेप्टोमायसीन (Cumbiotin) द्वि. या त्रि. प्र.दि. पेशीमार्ग (I.M.) से दे सकते हैं। एक्रोमायसीन (Acn), इलियोटायसीन (Itn) आदि का भी प्रयोग कर सकते है।

(३) जलाल्पता बचाने के लिये तथा रोगी का बल क्षीण न होने के लिये :—इसके लिये समबल लवण घोल (N.Saline) अकेले अथवा ग्लूकोस ५ प्र. श. के साथ सिरा (I.V.) तथा गुदा मार्ग से ४०–६० बूद प्र. मि. की गति से देना चाहिये। समबल लवण घोल पेशीमार्ग (I. M.) से भी दे सकते हैं। प्रोटीनहाइड्रोलायसेट (Ptn:hydrolysate) ५-१० प्र.श., ग्लूकोस ५–१० प्र.श. या रिंगर का लेक्केट घोल (Ringer's lact-

ate sol) के साथ सिरामार्ग से दे सकते हैं। इन औषधियो के प्रयोग के समय हृदय की अवस्था का ध्यान रखना आवश्यक है। इन औषधियो के द्वारा प्र. दि. कम से कम २ सेर मूत्र का निर्माण होना चाहिये। इसी के अनुसार जल की मात्रा निर्धारित की जाती है।

(४) **लक्षणों की चिकित्सा** :—यकृत या पित्ताशय मे **पीड़ा** होने पर उदर के ऊर्ध्वभाग पर एन्टीफ्लेमिन (Antiflamin) या तीसी की पुल्टिस अथवा बरफ की थैली लगाना चाहिये। जीवतिक्ति सी. बी. के. तथा ग्लूकोस का मिश्रित घोल (यो. १००) सिरामार्ग (I. V.) से ए. या द्वि. प्र. दि. देने से भी पीड़ा कम होती है। समबल लवणघोल (N. saline) में सोडियम सल्फाडियाजीन (Na S-diazine) २० प्र. श. ५-१० सी. सी. द्वि. प्र. दि. मिला सकते हैं। एमिल नाइट्राइट (Amyl nitrite) का एक एम्पूल रुमाल मे रखकर, एम्पूल को तोड़कर सूँघने स अथवा ट्रिनीट्रिनी (Tab : trinitrni) ग्रे. १/१००-१/२०० की १ गो. जिह्वा के नीचे रखने से भी लाभ होता है। शामक (Sedative) तथा पीड़ाहर (Analgesic) औषधियाँ प्रयोग कर सकते हैं। अफीम (Opium) का प्रयोग तभी करना चाहिये जब रोग के निदान में किसी प्रकार की शका न हो तथा शल्यकर्म (Op) के विषय मे निश्चय कर लिया गया हो। मोरफीन (M&A) ग्रे. १/४, पापावरीन (Papaverine) ग्रे. २, डेमेरौल (Demerol) आदि एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० के साथ अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से प्र. ४ घ. आ. अ. दे सकते है। सोडियम फेनोबारबिटोन (Na : phn) ग्रे. १-३ पेशी या गुदामार्ग से बत्ती (Suppository) के रूप में दे सकते है। पापावरीन (Papaverine) ग्रे. १, कोडीन फौस (Codeine phos) ग्रे. १/२ आदि मुख से प्र. ४ घ. दे सकते हैं। **वमन तथा आध्मान** (Tympanites) के लिये नासामार्ग से राइल की नलिका (Ryle's Tube) प्रवेश कर पिचकारी के द्वारा प्र. घं. या प्र. २ घं. पर आमाशय (St) के अन्दर का पदार्थ निकाल देना चाहिये।

इस चिकित्सा से यदि लाभ होता प्रतीत हो और ३६ घण्टे के अन्दर ताप, नाड़ी की गति, श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या तथा उदर की अनम्यता (Rigidity) मे यदि कमी होती प्रतीत हो तब समझना चाहिये कि शोथ

मे कमी हो रही है। इस अवस्था में रोगी को तब तक विश्राम करना चाहिये जब तक ताप, नाड़ी की गति तथा श्वेतकणो (W.B.C.) की संख्या प्राकृत नही हो जाती। इनके प्राकृत होने के दो दिन पश्चात तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियाँ बन्द कर देनी चाहिये। अब रोगी को शनैः शनैः **तरल आहार** (पृ. ४ क. २, ३, ४) देना चाहिये। ये पदार्थ पच जाने पर, यकृत विकृति मे दिये जाने वाले आहार के अनुकूल, पर्याप्त मात्रा मे कार्बोज (Cho), साधारण मात्रा मे प्रोटीन (Ptn) तथा अत्यल्प मात्रा मे वसा (Fat) युक्त आहार देना चाहिये। साथ साथ जीवतिक्ति सम्पूर्ण के योग (Multivit) की गो. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. दें। रोग की तीव्र अवस्था शान्त हो जाने के पश्चात यकृत तथा अग्न्याशय (Pancreas) की कार्यशीलता की परीक्षायें (Function tests) करनी चाहिये। जब रोगी साधारण आहार लेने लगे तथा स्वस्थ प्रतीत हो तब क्ष-किरण द्वारा पित्ताश्मरी (Gall stones) के लिए विधिवत परीक्षा (Cholecystography) करना चाहिये। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पित्ताश्मरी तथा पित्ताशयशोथ की चिकित्सा, अन्तवोगत्वा शल्यकर्म द्वारा पित्ताशय को निकाल देना (Cholecystectomy) ही है और उपर्युक्त औषधियों द्वारा चिकित्सा केवल इसलिए की जाती है कि शल्यकर्म करने के पूर्व रोगी के स्वास्थ्य मे पर्याप्त सुधार हो सके तथा रोग और शल्यकर्म सम्बन्धित आवश्यक परीक्षायें की जा सके।

(ख) शल्य चिकित्सा :—पित्ताशय (Gallbladder) फट जाने पर या निकट भविष्य मे उसके फटने (Peforation) की संभावना होने पर, पित्ताशय मे पूय संचय (Empyema) होने पर, कर्दम (Gangrene), उदरावरणशोथ (Peritonitis) आदि उपद्रव होने पर अथवा औषधियों द्वारा २४–३६ घण्टे तक चिकित्सा करने के पश्चात् भी यदि रोगी की अवस्था में सुधार न हो तथा शोथ (Inflammation) मे कमी होती न प्रतीत हो तब **तत्काल शल्यकर्म** (Op) करना चाहिये, अन्यथा तीव्र अवस्था शान्त हो जाने पर ही शल्य-चिकित्सा करना ठीक है। **तत्काल शल्यकर्म** (Op) आवश्यक होने पर रक्तप्रदान (Blood trans:) की व्यवस्था होनी चाहिये। शल्यकर्म की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त ४० बूँद प्र० मि० की गति से सिरामार्ग से प्रायः ५०० सी. सी. रक्त देने की आवश्यकता पड़ती

है। शल्य चिकित्सा के साथ-साथ भी उपसर्ग (Ifn) के लिये पेशीमार्ग से पेनिसिलीन १ ल० अं० इ० के साथ स्ट्रेप्टोमायसीन ग्रा० १ (Dicristicin) का इन्जेक्शन तत्काल लगाना चाहिये अथवा ऑरियोमायसीन (Au) मि. ग्रा. १०० या टेरामायसीन (Tn) मि. ग्रा. २५० सिरामार्ग से देना चाहिये। जलाल्पता (Dehydration) बचाना आवश्यक है। इसके लिये समबल लवण घोल (N. saline), ग्लूकोस (Glucose) ५–१० प्र. श. प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Ptn: hydrolysate) ५–१० प्र. श., रक्तरस (Plasma) आदि आ. अ. सिरामार्ग से ४० बूँद प्र. मि. की गति से शल्यकर्म (Op के पूर्व तथा पश्चात् पा. १–२ द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। यदि **तत्काल शल्यकर्म आवश्यक न हो** तब आवश्यक नैदानकीय (Patho) परीक्षाओं द्वारा रोगीकी अवस्था की वास्तविक स्थिति का पता लगाना चाहिये तथा औषधि व आहार द्वारा रोगी की अवस्था सुधारनी चाहिये जिससे शल्यकर्म का परिणाम उत्तम हो। भोजन में कार्बोज (Cho) अधिक, प्रोटीन (Ptn) साधारण तथा वसा (Fat) अत्यल्प मात्रा मे होना चाहिये। जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multivit:) गो. १ द्वि. प्र. दि, तथा जीवतिक्ति 'बी', सी. के. (यो. १००), ग्लूकोस १२½ प्र. श. ५०–१०० सी. सी. में सिरामार्ग से त्रि. प्र. स. लगाना चाहिये। **कामला** (Jaundice) रहने पर अथवा रक्त मे पूर्वघनास्वि (Pro thrombin) कम रहने पर जीवतिक्ति 'के' (Vit.K.) की विशेष आवश्यकता पड़ती है। **रक्ताल्पता** (Anaemia) रहने पर आ० अ० लौह (Fe), यकृत सत्व (Liver ext:) तथा रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये। पित्ताशय मे अश्मरी (Stone) रहने पर, बार-बार पित्ताशयशोथ का आक्रमण होने पर, यकृत, अग्न्याशय (Pancreas) आदि मे पित्ताशयशोथ के कारण विकृति होने पर शल्यकर्म करना आवश्यक होता है। पैत्तिकशूल (Colic) के ३ दिन के अन्दर अश्मरी के लिये विधिवत क्ष-किरण परीक्षा नही करना चाहिये। लक्षणों की तीव्रता मे कमी होने पर तथा कामला न रहने पर रंग (Dye) देने के पश्चात् अश्मरी (Stone) के लिये क्ष-किरण परीक्षा करनी चाहिये। लसिका (Serum) में प्रोटीन (Ptn), पूर्वघनास्वि (Pro thrombin), नीरेय (Cl) आदि की मात्रा तथा यकृत की कार्यशीलता सम्बन्धित अन्य परीक्षायें शल्यकर्म के पूर्व करनी चाहिये। रंग-

देशना (I. I.) अधिक रहने पर शल्यकर्म का परिणाम उत्तम होने की कम सम्भावना रहती है। पित्ताशय निकालते (Cholecystectomy) समय संयुक्त पित्तवाहिनी (Common bile duct) की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। कभी कभी इस नलिका में अश्मरी रहती है जिसका निकालना आवश्यक है। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त कम से कम द्वि. प्र. दि. रक्त निपीड़ (B. P.) देखना चाहिये इससे रोगी के हृदय की स्थिति, जल की आवश्यकता, सिरामार्ग से लवणघोल (Saline) आदि देने का परिणाम आदि के विषय में ज्ञान होता है।

चिरकालीन पित्ताशयशोथ (Chronic cholecystitis):—

परिचय :—इस अवस्था में प्रधानतः अजीर्ण (Dyspepsia) तथा पैत्तिकशूल (Biliary colic) के लक्षण होते हैं। मध्यावस्था की स्त्रियों में विशेषकर जिसका शरीर स्थूल हो तथा जिसके अनेक सन्तान हों उसमें प्रातः काल वमन, अजीर्ण, अग्निमांद्य, सन्ध्या के समय अस्वस्थ तथा साधारण ज्वर के ऐसा प्रतीत हो, आमाशयोर्ध्व प्रान्त में पीड़ा हो तथा कभी कब्ज, कभी पतले दस्त हो जाते हों, उस रोगी में पित्ताशयशोथ की सम्भावना ध्यान में रखना चाहिये। चिरकालीन पित्ताशयशोथ, तीव्र पित्ताशयशोथ के पश्चात्, अश्मरी (Stone), उपसर्ग (Ifn) अथवा कब्ज आदि अन्य किसी कारण से पित्त के प्रवाह में रुकावट होने से होता है।

निदान :—वसा (Fat) प्रधान भोजन के पश्चात् कष्ट होना, मिचली, वमन, भोजन के पश्चात् पेट का फूलना, खट्टे डकार आना, बार-बार उदर के ऊर्ध्व भाग में विशेषकर दक्षिण ओर कष्ट होना, दक्षिण स्कन्ध (Shoulder) में पीड़ा, कभी-कभी शूल (Colic) होना, शीत अथवा कम्प (Rigor) का अनुभव होना आदि लक्षणों का इतिहास निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रमाण है। मर्फी का चिन्ह (Murpy's sign) तथा अग्रपत्र चिन्ह (Xiphoid sign) अस्त्यात्मक (+) होते हैं।

परीक्षायें :—अश्मरी (Stone) के लिये रंग (Dye) देकर क्ष-किरण (X-ray) द्वारा विधिपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। टेट्रा-आयोडो-फेनोलफथलीन (Tetra-iodo phenol-phthalein) का क्ष-किरण परीक्षा के पूर्व मुख या सिरा (I.V.) से प्रयोग करना चाहिये। **रक्तपरीक्षा** में श्वेतकणों (WBC) की संख्या, रक्ताल्पता (Anaemia) तथा पैत्तव

(Cholesterol) के लिये देखना चाहिये। क्ष-किरण परीक्षा से अश्मरी (Stone) के अतिरिक्त, पित्ताशय ठीक से भरता अथवा खाली होता है या नहीं, इसका भी ज्ञान हो सकता है। राइल की नलिका द्वारा (Ryle's tube) ग्रहणी (Duodenum) से पित्त (Bile) निकाल कर देखने से पित्त अत्यन्त गहरे काले रङ्ग का प्रतीत होता है तथा उसमे जीवाणु, पूय (Pus) आदि मिल सकते हैं।

चिकित्सा :—चिरकालीन पित्ताशयशोथ की चिकित्सा मे प्रायः अन्त में शल्यकर्म (Op.) करना ही पड़ता है विशेषकर पित्ताशय में अश्मरी (Stone) रहने पर अथवा पित्ताशय की प्राचीर मोटी हो जाने पर तथा पित्ताशय ठीक से कार्य न करने पर। वृद्धावस्था, दौर्बल्य अथवा अन्य किसी कारण से जब शल्यकर्म सम्भव न हो तब औषधि द्वारा चिकित्सा करनी पड़ती है। रोगी यदि शल्यकर्म के लिये तैयार न हो या निदान मे शका हो, रोग के लक्षण यदि अत्यन्त साधारण हो अथवा अश्मरी रहने पर भी औषधि द्वारा लाभ होता प्रतीत हो तब औषधि द्वारा चिकित्सा करनी पड़ती है। रोगी को शैय्या पर पूर्णरूप से **विश्राम** करना आवश्यक नहीं है। दिनचर्या नियमित होनी चाहिए। रोगी को आगे की ओर झुकना, बोझ उठाना अथवा अन्य किसी प्रकार उदर पर जोर नहीं पड़ने देना चाहिये। **भोजन** मे बादी चीजें जिनसे वायु बनने की सम्भावना हो प्रयोग नहीं करना चाहिए। भोजन मे कार्बोज (Cho) अधिक, प्रोटीन (Ptn) साधारण तथा वसा (Fat) अत्यल्प मात्रा में होना चाहिए। अत्यधिक मात्रा मे भोजन नही करना चाहिए। सूर्यास्त के पूर्व भोजन कर लेना अच्छा है। निद्रा के पूर्व दो घण्टे के अन्दर कोई पदार्थ नहीं खाना चाहिए। घी, वनस्पति आदि मे भूनी चीजें नहीं खानी चाहिए। चिकित्सा के प्रारम्भ मे प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) की चिकित्सा के समान क्रीम (Cream) मिला दूध अनेक बार लेना चाहिए। तत्पश्चात् शनैः शनैः फलो का रस, कच्चा अण्डा, मक्खन, उबाली तरकारी, फल तथा अन्त मे रोटी, चावल, दे सकते है। भोजन पौष्टिक, सरलता से पचने वाला तथा नियमित समय पर लेना चाहिए। साथ-साथ जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multivit) गो. १ द्वि. प्र. दि. लें। जीवतिक्ति सी (Vit : C) बेल, पपीता आदि फलो का यकृत तथा पित्ताशय के रोगो मे विशेष महत्व है। **कब्ज** के लिये कैलोमेल (यो. ५२) ग्रे. १/१२ प्रति १/२ घंटा

तबतक दें जब तक मल परित्याग न हो, तत्पश्चात इसको त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। साथ-साथ **वमन** होने पर इसमें क्लोरेटोन (पो. ५०) ग्रे. १ प्र. मात्रा मिला सकते हैं। सम्पूर्ण जम में केलोमेल ग्रे. २ से अधिक नहीं होना चाहिये। प्रातःकाल खाली पेट सोडीफोस (Sodi phos) ड्रा. १–२ अथवा मैगसल्फ (Mag:sulph) ड्रा. १–२ पीकर दाहिने करवट थोड़ी देर लेटने से पित्ताशय संकोच करता है तथा संचित पित्त का परित्याग होता है। टि. बेलाडोना (Tr. belladonna) मि. ५–१० अथवा बेलाडोना सत्व (Ext·belladonna) ग्रे. १/४- या एट्रोपिन सल्फ (Atropine sulph:) ग्रे. १/२००–१/१०० त्रि. प्र. दि. भो. पू. तथा रात्रि में निद्रा के पूर्व देना चाहिये। एट्रोपीन मुख अथवा अध स्त्वक (S.C.) मार्ग से दे सकते हैं। ये औषधियाँ उद्वेष्टननिरोधी (Anti-spasmodics) हैं तथा पीड़ा कम करती हैं। जब तक कनीनिकाओं का विस्फार (Dilatation of pupils) अथवा विषाक्तता के लक्षण प्रारम्भ न हो तब तक इन औषधियों की मात्रा शनैः२ बढ़ाते जाना चाहिए। उद्वेष्ठन (Spasm) में कमी होने पर अश्मरी (Stone) के निकलने में सहायता मिलती है। एन्टीफ्लोजेस्टीन (Antiphlogestine) तथा तीसी आदि की पुल्टिस से उदर सेंकना चाहिये। स्थूल प्रकृति रोगी को पट्टी (Abd:belt) से उदर बांधकर रखना चाहिये। **अग्नीमान्द्य** (Dyspepsia) के लिये **अम्लनिरोधी** औषधियाँ (Antacids), क्षार (Alkali) तथा **पित्त** (Bile) का प्रयोग किया जाता है। पित्तमार्ग में पूर्ण अवरोध (Obst) रहने पर पित्त नहीं देना चाहिये अन्यथा पित्त (Ox bile, Bilron 'Ly') ग्रे. ५ का कै. १ त्रि. प्र. दि. भो. प. दे सकते हैं। बिलिडोन (Bilidon 'Clg') गो. २ त्रि. प्र. दि. दी जाती है। बिलरोन में पित के साथ लोह (Fe) भी रहता है। इससे **रक्ताल्पता** में भी कमी होती है। **अम्ल-निरोधी** (पृ०६१८) औषधियों में एन्ट्रेनिल (Antrenyl 'Ca') गो. १. त्रि. प्र. दि. भोजन के ½ घण्टा पूर्व देने से उदनीरिकाम्ल (Hcl) के निर्माण में कमी होती है। जैतून का तेल (Ol. olive) औ. ½–१ द्वि. प्र. दि. प्रातःकाल तथा रात्रि में भोजन के पूर्व देने से अम्ल तथा आध्मान (Tympanites) में कमी होती है। **पित्त के प्रवाह में वृद्धि करने के लिये** सोडियम टौरोकोलेट, ग्लाइकोकौलेट (Sodi: taurocholate, glyco-

cholate) आदि का प्रयोग किया जाता है। पित को जीवाणुरहित करने के लिये **पित्तशोधक** (Biliary antiseptics) औषधियाँ दी जाती हैं। डेकोलीन (Decholin) ग्रे. ३-४ त्रि. प्र. दि. भो. प. मुख से अथवा इन्जेक्शन द्वारा सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते हैं। हेक्सामिन (Hexamin) मुख या सिरा द्वारा (I. V.) दे सकते हैं। इसके प्रयोग के समय मूत्र क्षारीय (Alkaline) रहना चाहिये। सोडीसैलिसिलस (Sodi: salicylate), सल्फा (S) आदि का समय-समय पर प्रयोग किया गया है। फेलामीन (Felamine) में हेक्सामीन के साथ कोलिक अम्ल (Hexamine and cholic acid) रहता है। साइलोट्रोपान (Cylotropin) मुख या सिरा से दे सकते हैं। निद्रा तथा मानसिक विश्राम के लिये उद्वेष्ठननिरोधी (Antispasmodic) औषधियों के साथ अथवा अकेले फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ½ आदि **शामक** (Sedative) औषधियाँ दे सकते हैं। सोडियम बारबिटल, ल्यूमिनल (Na:barbital, luminal) आदि ग्रे. ½-१ रात्रि में निद्रा के समय के पूर्व दे सकते हैं। निद्रा लाने के लिये अफीम के योग कदापि नहीं देना चाहिये। इनसे यकृत में विकृति हो सकती है तथा अफीम का अभ्यास हो जाने का भय रहता है।

पित्त शोधक (Biliary-antiseptics) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
हेक्सामीन (Hexamine)	मुख सिरा	ग्रे. १०-२० त्रि. प्र. दि. ४० प्र. श. घोल. १-५ सी. सी. प्रतिबार
बिलामाइड (Bilamide)	मुख	१ गो. त्रि. प्र. दि.
बिलरौन (Bilron)	"	" " "
डेकोलीन (Decholin)	"	ग्रे. ४-८ त्रि. प्र. दि.
फेलामीन (Felamine)	"	ग्रे. ५ प्र. गो. त्रि. प्र. दि.
पित्त (Fel Bovinum)	"	ग्रे. ५-१५ त्रि. प्र. दि.
सल्फा (Sulpha)	"	गो. १-२ त्रि. प्र. दि.

पैत्तिकशूल (Colic) होने पर उदर का ऊर्ध्व तथा दक्षिण भाग सेंकना चाहिये। पेथिडिन (Pethidin 'Re', eukodal 'Mk',physepton BW and Co), यूकेडौल, फाइसेप्टौन आदि की गो.१ (मि.ग्रा. २५–१००) मुख द्वारा अथवा अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते हैं। कामला (Jaundice) आदि यकृत विकृति के लक्षण न रहने पर तथा पीड़ा अत्यन्त उग्र होने पर यदा-कदा एट्रोपीन ग्रे. १/१०० के साथ मौरफीन (M. & A.) ग्रे. १/४ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते हैं। एमिलनाइट्रस (Amyl nitras) सूँघने से, ट्रीनीट्रीनी (Tab:trinitrini) ग्रे. १/१०० की गोली जिह्वा के नीचे रखने से, एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देने से या नोवाल्जिन (Novalgin) सी. सी. २–५ सिरामार्ग (I. V.) से देने से पीड़ा मे लाभ होता है। औक्टनम (Octinum liq) मि. १०–१५ मुख से आ. अ. दे सकते हैं। वेरेमौन (Veremon) गो. १ सिबाल्जिन (Cibalgin, spasmo cibalgin'Ca'), ट्रासेन्ट्रीन (Trasentin Ca) गो. १ आ. अ. दे सकते है। वेलाडोना सत्व (Ext:belledonna siccum) ग्रे. ¼ प्र. ४ घं. दे सकते है।

पित्ताशय मे **घातक** अर्बुद (Maignant disease) की सम्भावना रहने पर यथाशीघ्र शल्यकर्म (Op) का प्रबन्ध करना चाहिए। दाँत, तुण्डिका (Tonsil), कण्ठ, आन्त्र, उण्डुकपुच्छ (Appendix) आदि मे **उपसर्ग** (Inf:) रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए। यकृत तथा पित्ताशय के रोगों मे अं. का. धा. ना. (E. H.) के उपसर्ग की सम्भावना सर्वदा ध्यान मे रखना आवश्यक है। इसकी सम्भावना रहने पर निवाक्वीन (Nivaquin M.B.) मुख द्वारा अथवा इमेटीन (Ematine) पेशीमार्ग (I.M.) से प्रयोग करना चाहिए। लक्षणों मे कमी होने पर स्वास्थ्यकर स्थान मे जाकर झरनो का पानी पीने से लाभ होता है। जीवनचर्या, भोजन, विश्राम, परिश्रम आदि नियमित होना चाहिए। खाली पेट गरम पानी मे नीबू डालकर पीने से लाभ होता है। स्थूल रोगी का वजन कम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पित्ताश्मरी (Cholelithiasis) **की चिकित्सा** शल्यकर्म (Op) द्वारा करनी चाहिए। अभी तक किसी ऐसी औषधि का निर्माण नहीं हुआ

है जो अश्मरी को गला सके। कुल्थी की दाल का पानी पीने को दिया जाता है। परिणाम अनिश्चित हैं। इसकी भोजन तथा औषधि द्वारा चिकित्सा पित्ताशयशोथ के समान है।

पित्ताशयशोथ की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

इसकी चिकित्सा यकृत सम्बन्धी अन्य रोगो की ही भाँति है। आवश्यकतानुसार शोधन करने के उपरान्त कटु, तिक्त तथा कषाय रस वाली औषधियो का प्रयोग उत्तम है। हरीतकी, आमलकी, करेला, परवल आदि लाभकर हैं। मूली का प्रयोग स्वरस एवं क्षार के रूप मे बहुत अच्छा है। मण्डूर के योग गोमूत्र व क्षार के योग उत्तम हैं।

औषधियाँ :—फलत्रिकादि क्वाथ, त्रिफलादि क्वाथ, एलादि क्वाथ, देवदार्वादि लेप।

अर्श (Piles)

परिचय :—इस रोग मे गुदा मे पीड़ा, खुजली या रक्तस्राव (Bleeding) होता है। इसकी चिकित्सा शल्यकर्म (Op) द्वारा करनी चाहिए परन्तु यदि किसी कारण से शल्यकर्म संभव न हो तब औषधियो द्वारा लक्षणो की चिकित्सा करनी चाहिए। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अर्श के अतिरिक्त अन्य कारणो से भी मल के साथ रक्त मिल सकता है। कभी कभी यह लक्षण बाल्यावस्था मे अं. का. धा. ना. (E.H.) जन्य प्रवाहिका मे भी मिलता है। इसलिए निश्चित **निदान** के लिए मल परीक्षा तथा गुदपरीक्षा करनी चाहिए।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—अर्श के रोगी को कब्ज नहीं होनी चाहिये। कब्ज रहनेसे रक्तस्राव आदि उपद्रव होते है। इसके लिये इसफगोल, लि. पैरेफिन (Liq:paraffin), पेट्रोलएगर (Petrol agar), द्राक्षारिष्ट आदि औ. $\frac{1}{2}$ ए. या. द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। मिर्च मसाला का प्रयोग नही करना चाहिये। अधिक देर बैठना ठीक नहीं है। प्र. दि. थोड़ा टहलना चाहिये। एक लोटा पानीमे फिटकरी ड्रा. १ मिलाकर आब-दस्त लेना चाहिये अर्श मे पीड़ा या रक्तस्राव होने पर शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि अर्श मे रक्तस्राव होने के कारण रोगी को रक्ताल्पता (Anaemia) होती है और हृत्पेशी (Myocardium) कमजोर हो जाती है। परिणामस्वरूप रोगी को यदि किसी प्रकार का परिश्रम करना पड़ता है तब हृदयातिपात (Ht: failure) की सम्भावना रहती है। इसलिये

रोगी की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये तथा रोगी की अवस्था के अनुसार विश्राम तथा परिश्रम की अवधि निर्धारित करना चाहिये। रात्रि में सोने के पूर्व रबर की नलिका (Catheter) द्वारा गुदामार्ग से जैतून का तेल (Ol. olive) औ० ½–४ प्रवेश करा कर गुदा में औषधि रोककर रखने से लाभ होता है। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ानी चाहिये। भोजन में पपीता आदि ऐसे फल तथा तरकारियों (पृ० ४) का प्रयोग करना चाहिये जिनसे मलपरित्याग करने में आसानी होती है। सूरन का विशेष महत्व है।

(२) **लक्षणों की चिकित्सा :—**अर्श के अकस्मात बाहर निकल आने (Prolapse) से तीव्र **पीड़ा** होती है। शोथ के कारण भी पीड़ा होती है। इस अवस्था मे अर्श को पुनः गुदा के अन्दर प्रवेश कराने का प्रयत्न करना चाहिये। पीड़ा के लिये सिबाल्जिन (Cibalgin), सैरीडोन (Saridon) आदि की गो० १ अथवा ए० पी० सी० (यो० ६२) की मात्रा १ आ० अ० लेना चाहिये। एक टब में गरम जल भर कर त्रि. या० चा. प्र० दि० ½ घं० तक कमर तक डुबा कर बैठने (Sitz bath) से पीड़ा तथा शोथ में कमी होती है। गरम पानी की बोतल से पीड़ाकर स्थान को सेंक सकते हैं। **उपसर्ग** (Ifn) की सम्भावना रहने पर प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr : P.) ल० ४ अ० ई० या औमनामाइसीन (Omnamycin, dicristicin) आदि स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) के योग ग्रा० १/२ ए० या० द्वि० प्र० दि० पेशामार्ग (I. M.) से देना चाहिये। **पीड़ा** कम करने के लिये मल परित्याग करने के पश्चात् गुदामार्ग से स्थानिक सज्ञाहर (Local anaesthetic) जैसे न्यूपरकेन, एथोकेन, बेनजोकेन, नोवोकेन आदि की मलहम (Ung : nupercaine 'Ca') त्रि. या चा. प्र. दि. प्रवेश कराना चाहिये। गुदामार्ग से जैतून का तेल (Ol : olive) प्रवेश कराने या मुख द्वारा औ. १ ए. या द्वि. प्र. दि. लेने से भी लाभ होता है। गुदामार्ग से **रक्तस्राव** (Bleeding) होने पर रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। मैगसल्फ (यो. ३३) त्रि. प्र. दि. देने से मल परित्याग करने मे आसानी होती है और रक्तस्राव की सम्भावना नही रहती। गुदामार्ग से स्थानिक रक्तस्रावनिरोधी (Hemostatics) औषधियाँ जैसे हेममिलोस के योग (यो. ११६) मल परित्याग करने के पश्चात् प्रवेश कराना चाहिये। बिसमथ सब गैलेट (Bis : sub : gallate) या टैनिक एसिड (Tannic

acid) की ग्रे. ५ की बत्ती (Suppository) गुदामार्ग से द्वि. या त्रि. प्र. दि. प्रवेश करा सकते हैं। कैलसियम (Cal :), जीवतिक्ति 'सी', 'के' (Vit : K.) आदि रक्तस्राव निरोधी औषधियाँ मुख या इन्जेक्शन द्वारा दे सकते हैं। रक्ताल्पता की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। अर्श मे **खुजली** तथा **जलन** आदि रहने पर गुदामार्ग से हेडेन्सा (Hedensa), न्यूपरकेन (Nupercaine ung :) आदि की मलहम प्रवेश कराना चाहिये। जल मे फिटकरी (Alum) मिला कर आब-दस्त करने से भी खुजली में लाभ होता है।

(३) **शल्यकर्म** (Op) औषधियों से लाभ न होने पर शल्यकर्म द्वारा अर्श को काट कर निकाल देना चाहिये या अर्श मे यूरीथेन (Urethane), क्वीनीन (Q), कार्बोलिक एसिड (Carbolic acid) आदि का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। औषधियों द्वारा रक्तस्राव बन्द न होने पर शल्यकर्म करने मे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

(४) अर्श की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

यह रोग अग्निमांद्य से उत्पन्न होने के कारण वातानुलोमक और अग्निवर्धक औषधि तथा आहार वाली चिकित्सा करनी चाहिए। कोष्ठशुद्धि पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है अतः स्रंसक औषधियाँ बीच बीच मे देते रहना चाहिए। शुष्कार्श मे तीक्ष्णलेपादि बाह्य प्रयोग हितकर हैं किन्तु स्रावी में रक्तपित्तवत चिकित्सा करे। शोथ शूलयुक्त अर्श मे तैल, लेप, स्निग्धोष्ण सेवन, अवगाहन, धूपन, लेप व स्वेदन करे। इससे ठीक न होने पर जलौका से रक्त निकलवाये, फिर दीपन-पाचन द्रव्य जैसे तक्र प्रयोग करे। तर्पणार्थ लाजसत्तू दे, क्रमशः सैन्धवतक्र युक्त पेया फिर यूष, मांसरस आदि दे। अत्यधिक शुष्क मल में अनुवासन देना चाहिये। गेंदे या भाग की पत्ती के क्वाथ से सिंचन अथवा इन्हीं के कल्क से ईषदुष्ण लेप करें।

रक्तार्श मे प्रथम शोधन, लंघन व रक्तस्राव की उपेक्षा करे। दूषित रक्त निकल जाने पर रक्तावरोधक व अग्निदीपक चिकित्सा करे। रक्तस्थापनार्थ आभ्यन्तर औषधियों के साथ स्थानीय प्रयोग भी करना चाहिए। ईक्षुरस, मुलैठी, वेत क्वाथ, अज गोक्षीर, घृत अथवा ठण्डा पानी धारा से डाले। दूर्वाद्य घृत या सहस्रधौत घृत का लेप करे। मण्ड व घृत का अनुवासन दे।

पथ्य मे दूध, भात, मक्खन, मट्ठा, बथुआ, परवल उत्तम है। मसाले व विबन्ध कारक पदार्थ न खावे। कुछ व्यायाम लाभप्रद है।

औषधियाँ :—अर्शनाशन लेप, अर्कक्षीरादि लेप, हरिद्राचूर्णाद्य लेप, वृहत् कासीसाद्य तैल या मलहम, अर्कमूलादि धूप, समशर्कर चूर्ण, बाहुशाल्य गुड, सूरण मोदक, अभयारिष्ट, दन्त्यारिष्ट, दुरालभारिष्ट, अर्शकुठार रस।

नोट :—शल्यकर्म व क्षारसूत्र का प्रयोग भी होता है।

तीव्र उदरावरण शोथ (Acute peritonitis)

परिचय :—इस अवस्था मे उदरावरण मे शोथ होने कारण ज्वर, अकस्मात उदर मे तीव्र पीड़ा, अनम्यता (Rigidity), वमन आदि लक्षण होते है। यह रोग प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) या उण्डुकपुच्छ विद्रधि (Appendicular abscess) आदि के निच्छिद्रण (Perforation) के कारण होता है।

चिकित्सा :—यदि विकृति **व्यापक** है तब शल्यकर्म (Op:) आवश्यक है। परन्तु यदि विकृति **सीमित** है तथा रोगी के नाडी की गति १०० प्र. मि. से कम है अथवा किसी कारण से शल्य चिकित्सा मे विलम्ब हो तब रोगी को फाउलर (Fowler) के आसन में लिटाना चाहिये। यदि आमाशय का निच्छिद्रण हो तब मुख से केवल बरफ चूसने के लिए देना चाहिये अन्यथा दुग्ध आहार दे सकते हैं। मुख के अतिरिक्त, शरीर के प्रत्येक मार्ग से जल प्रवेश कराना आवश्यक है।

ग्लूकोस तथा जीवतिक्ति 'सी' (यो. ६६) सिरा (I. V.) मार्ग से देना चाहिये। टेरामाइसीन (Tn) की २५० मि. ग्रा. की एक गोली प्रति ८ घण्टे पर मुख द्वारा दें। यदि किसी कारण से रोगी मुख द्वारा औषधि न ले सके तब इस मात्रा को १०० सी. सी. प. ज. मे घोल कर शनैः शनैः सिरा मार्ग (I. V.) से इन्जेक्शन दें। विरेचक औषधि (Purgative) का प्रयोग निषिद्ध है। पेनिसिलीन तथा स्ट्रेप्टोमायसीन (यो. ११०) पेशी मार्ग (I. M.) से देना चाहिये। वात-कर्दम निरोधी लसिका (Anti-gas gangrene serum) पेशी मार्ग (I. M.) से देना चाहिये। अन्य चिकित्सा लक्षणों के अनुसार है।

व्रणज वृहदांत्रशोथ (Ulcerative colitis)

परिचय :—इस रोग मे किसी अज्ञात कारण से वृहदान्त्र (Colon) मे शोथ होता है। यह रोग प्राय युवावस्था मे होता है। सम्भव है कि यह रोग **प्रवाहिका** (Dys :) के परिणामस्वरूप हो परन्तु जिस समय इस

रोग के लक्षण मिलते हैं प्रवाहिका या अन्य किसी उपसर्ग का प्रमाण नहीं मिलता। बृहदात्र का शोथ तीव्र या चिरकालीन हो सकता है और उसके व्रण प्रायः पूर्ण रूप से ठीक नहीं होते। चिकित्सा का परिणाम निराशाप्रद है। रोग का अनेक बार पुनरागमन होता है तथा रोग के चिरकालीन होने की प्रवृत्ति रहती है। कुछ विद्वानों के मत से **अनूर्जता** (Allergy) का भी इस रोग से सम्बन्ध प्रतीत होता है। **निदान** की दृष्टि से रक्त तथा श्लेष्मा (Mucus) मिश्रित पतले दस्त होना, साधारण ज्वर, रक्ताल्पता (Anaemia), दौर्बल्य, क्षुधा तथा भार मे कमी, उदर मे असुविधा, पीडा या ऐंठन आदि महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। कब्ज होना अत्यन्त विरल है। **मल की** साधारण तथा संवर्ध (Culture) परीक्षा कर आन्त्रकृमि के अण्डे, अं. का. धा. ना. (E. H.) तथा प्रवाहिका के दण्डाणु (B. Dys) आदि के लिये देखना चाहिये। इस रोग मे ये परीक्षायें नास्त्यात्मक (—) होती हैं। रोगी को बेरियम का एनिमा (Barium enema) देकर क्ष-किरण परीक्षा करनी चाहिये। **क्ष-किरण** (X-ray) परीक्षा मे बृहदात्रगत पदार्थ शीघ्रता से आगे बढ़ते हुए दिखलाई देते हैं। बृहदांत्र का छिद्र संकीर्ण हो जाता है। बृहदात्र का प्राचीर अस्पष्ट प्रतीत होता है। **अवग्रहांत्रवीक्षण यंत्र** (Sigmoidoscope) से देखने से बृहदात्र की श्लैष्मिकला (M.M.) पर अनेक छोटे छोटे व्रण दिखलाई पड़ते है। इन व्रणो से रक्तस्राव होता रहता है। प्रसमूहन कसौटी (Aggutination test) नास्त्यात्मक (–) होती है।

चिकित्सा :–(१) साधारण :—रोग की **तीव्र अवस्था** मे रोगी को शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। उदर पर वस्त्र बाँधने से शीत लगने का भय नहीं रहता। इस रोग की कोई विशिष्ट औषधि न होने के कारण यह आवश्यक है कि पौष्टिक आहार तथा औषधि द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि की जाय और व्रण (Ulcer) के ठीक होने मे मदद की जाय। अविशिष्ट प्रोटीन चिकित्सा (पृ. ३६) द्वारा रोग-क्षमता (Immunity) की वृद्धि करना चाहिये। उपयुक्त भोजन तथा चिकित्सा की अवधि दीर्घ होनी चाहिये अन्यथा रोग के पुनरागमन की सम्भावना रहती है चिन्ता कम करने के लिये मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा करनी चाहिये।

(२) आहार :—प्रधान विकृति पचन-सस्थान मे तथा अत्यन्त जीर्ण होने के कारण चिकित्सा मे आहार का विशेष महत्व है। रोगी का आहार

उसकी पचन शक्ति, मल की अवस्था तथा अनूर्जता (Allergy) के अनुकूल होना चाहिये। अनूर्जता की सम्भावना रहने पर जिन पदार्थों से अनूर्जता होने की (पृ. ४) सम्भावना रहती है उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। जीवतिक्तियों का मिश्रित घोल (Multi : vit) की गो. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये।

साधारणतः भोजन मे प्रोटीन (Ptn), जीवतिक्तियाँ तथा कैलोरी (C) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। भोजन, पौष्टिक, रुचिकर तथा सरलता से पचने वाला होना चाहिये। रोग की **तीव्र अवस्था** मे तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। पतले दस्त होने पर दूध की अपेक्षा दही के योग अधिक उपयुक्त हैं। मिर्च, मसाला, मद्य, चाय, कौफी, आदि नही देना चाहिये। भोजन के समय शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। तरल आहार पच जाने पर अर्ध तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। आहार की मात्रा तथा प्रकार मे शनैः शनैः वृद्धि करनी चाहिये।

(३) **औषधियाँ :—तृणाणुनाशक** (Antibiotics) औषधियों का प्रभाव अनिश्चित है। इनके प्रयोग से संभव है कि रोग के लक्षणों मे कमी हो। इस दृष्टि से ओरियोमायसीन (Au), टेरामायसीन, (Tn) क्लोरोमायसिटीन (Cln) आदि का मि. ग्रा. २५० का २–४ कै. त्रि. या चा. प्र. दि. कर १–१½ मास पर्यन्त देना चाहिये। इसके स्थान पर सल्फा (S) के योग जैसे सल्फा गोनेडीन (S-guanidine, s-succidine, thiazole) आदि गो. २ त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं। ये औपधियाँ अनेक मास पर्यन्त देना पड़ता है। अं. का. धा. ना. (E.H.) के उपसर्ग की संभावना रहने पर आयोडीन (I) या संखिया (As.) के योग देना चाहिये।

ए.सी.टी.एच. तथा कौरटीसोन (ACTH, cortisone) का प्रभाव उत्तम प्रतीत होता है, परन्तु इन औषधियो को बन्द करने पर पुनः लक्षण उग्र हो जाते हैं। इन दोनो औषधियो को पेशीमार्ग (I. M.) से देना चाहिये। प्रारम्भ मे **ए.सी.टी.एच.** मि.ग्रा. ३० त्रि.प्र.दि. या **कौरटीसोन** मि. ग्रा. १०० द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। लाभ प्रतीत होने पर कुछ समय पश्चात इन औपधियो की मात्रा शनैः शनैः कम कर मि. ग्रा. २५ ए. प्र. दि. देना चाहिये।

(४) **लक्षणों की चिकित्सा :—**मिचली, वमन, (पृ. २१४) पतले

दस्त, (पृ. २०६) उदर में पीड़ा, रक्तस्राव, (पृ. १७४) रक्ताल्पता (पृ. ६५५) आदि उपद्रव हो सकते हैं। इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। जीवतिक्ति सी (Vit : C) मि. ग्रा. १०० द्वि. प्र. दि. देने से व्रण के भरने मे सहायता मिलती है। **घबराहट** कम करने के लिये मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा के अतिरिक्त, ब्रोमोवेलेरिनेट (Elixir bromovelarinate), न्यूरोफौसफेटस (Neurophosphate), ग्लीसरोफौसफेटस (Elixir glycerophosphates), फौसफोलिसिथीन (Phospholicithin) च. १ त्रि. प्र. दि. भो. प. तथा जीवतिक्ति 'बी' के योग, बीकोटीन (Becotin 'Ly') कै. १, खमीर (Yeast) गां. ४ या मारमाइट (Marmite) च. १–२ द्वि. प्र. दि. भोजन के साथ दे सकते हैं। **रक्ताल्पता** (Anaemia) के लिये फेरस सल्फ (Ferrus sulph) ग्रे. ४ द्वि. प्र. दि. भो. प. तथा यकृत सत्व (Liver ext) सी. सी. २ द्वि. प्र. स. पेशीमार्ग (I. M.) से इन्जेक्शन लगाना चाहिये। **रक्तस्राव** (Bleeding) मे जीवतिक्ति 'के' तथा 'सी' (Vit : K C.) विशेष लाभप्रद है। शरीर में **प्रोटीन की कमी** (पृ. २१८) रहने पर भोजन मे प्रोटीन की प्रधानता रहनी चाहिये। केसीन (Caseïn), अमीनोएसिड (Amino-acids), अण्डा, प्रोटीन हाइड्रोलायसेट (Protein hydrolysate) आदि मुख से तथा रक्तरस (Plasma) आदि सिरामार्ग (I.V.) से दे सकते हैं। रक्तप्रदान (Blood trans) आ. अ. करना चाहिये। **बृहदांत्र की गति** (Hypermobility) कम करने के लिये **बारडेस** (Bardase 'PD') दे सकते हैं। इसकी प्रत्येक गोली तथा ड्राम मे फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १/४, टाकाडायेस्टेस (Takadiastase) ग्रे. २½, एट्रोपीन (Atropine sulph :) मि. ग्रा. ०·०२, हायोसीन (Hyoscine hydrobrom) मि. ग्रा. ०·००७ तथा हायोसायमीन (Hyoscyamine) मि. ग्रा. ०·१ रहता है। इसकी गो. १–२ या तरल योग की ड्रा. १–२ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। अनन्तवात (Glaucoma) मे इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। पुरःसरण (Peristalsis) तथा उद्वेष्ठन (Spasm) में कमी होने पर उदर की पीड़ा तथा **पतले दस्त** में भी लाभ होता है। दस्त कम करने के लिये नशीली औषधियाँ (Narcotics) प्रयोग नहीं करना चाहिये। बिसमथ (Bismuth carb, salicylate)

के योग ग्रे. १० त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। व्रण (Ulcer) ठीक करने के लिये सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) २ प्र. श. पा. १ से मलाशय (Rectum) धोकर गुदामार्ग से प्रोटारगल (Protargol) प्र. श. १, आरजिरौल (Argyrol) प्र. श. १, सिलवर नाइट्रेट ($Agno_3$) ०.१ प्र. श., एक्रीफ्लेविन (Acriflavin) ०·००५ प्र. श. या टैनिक एसिड (Tannic acid) प्र. श. १ आदि का जल में घोल औ. १-८ तक गुदा मार्ग से प्रवेश कराना चाहिये। यह क्रिया चिरकालीन अवस्था में रात्रि में सोने के पूर्व प्र. दि. करनी चाहिये। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये तथा औषधि को अन्दर रोक कर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। **जिह्वा लाल** रहने पर या उस पर **व्रण** रहने पर जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit : B. complex) सी. सी. १ पेशीमार्ग (I. M.) से त्रि.प्र.स. देना चाहिये। आन्त्र के व्रण ठीक करने के लिये, कब्ज के लिये तथा मल की मात्रा बढ़ाने के लिये इसफगोल की भूसी च. २ द्वि. प्र. दि. मिश्री, दूध या दही के साथ देना चाहिये।

(२) **शल्यकर्म** (Op) :–औषधियों से लाभ न होने पर, गुदा के समीप विद्रधि (Abscess) रहने पर या अत्यधिक रक्तस्राव होने पर शल्यकर्म करना चाहिये।

अष्टम अध्याय

रक्त के रोग

(अ) रक्ताल्पता (Anaemia)

परिचय :—रक्तकण (R.B.C.) का निर्माण अस्थिमज्जा (Bone marrow) मे प्रारम्भिक मज्जाकोशाओ (Primitive marrow cells) से होता है। रक्ताल्पता निरोधी तत्व (Anti : anaemic factor), थाइरोक्सिन (Thyroxin) तथा जीवतिक्ति सी (Vit : C) के प्रभाव से अस्थिमज्जा की इन कोषाओं की संख्या मे वृद्धि होती है और ये परिवर्तित होकर न्यष्ठीलीय रक्तकण (Erythroblasts) बनती है। न्यष्ठीलीय रक्तकण मे शोणवर्तुलि (Hb.) बनाने के लिये लौह (Fe) की आवश्यकता होती है। वृहद् न्यष्ठीलीय रक्तकण परिवर्तित होकर ऋजु न्यष्ठीलीय रक्तकण (Normoblasts) बनते है। अन्त मे ऋजु न्यष्ठीलीय रक्तकण परिवर्तित होकर रक्त के लालकण (Erythro-cytes, R. B. C.) की उत्पत्ति होती है।

चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रक्ताल्पता के **कारण** का जान लेना आवश्यक है। इसके जानने के लिए **रक्तपरीक्षा** के **साथ साथ अस्थिमज्जा** (Bone marrow) की परीक्षा भी करनी चाहिए। इसके लिये उरःफलकवेध (Sternal puncture) करना पड़ता है। रोगी की अवस्था मे सुधार हो रहा है या नही यह जानने के लिये समय समय पर रोगी की परीक्षा तथा रक्त की परीक्षा करते रहना चाहिये। उदनीरिकाम्ल (Hcl) की स्थिति जानने के लिये **आमाशय के स्राव** की **परीक्षा** (Gastric analysis) कर सकते हैं।

वर्गीकरण :—(अ) **रक्त के निर्माण में विपर्यय** :—(च) **लौह** (Fe) **की कमी** (Hypochromie) **उपवर्णिक** :—(क) **सूक्ष्मकायाणिवक** (Microcytic) :—१. चिरकालीन **अपोषणज** (Nutritional), शैशवावस्था, बाल्यावस्था की पोषणाभाव जन्य रक्ताल्पता तथा हलीमक (Chlorosis) आदि। २. अल्पाम्लता (Achlorhydria idiopathic)। ३. गर्भावस्था जन्य। ४. पचन-संस्थान की

रक्ताल्पता की उत्पत्ति	प्राकृत रक्त कणों (R.B.C.) का निर्माण	रक्त निर्माण के लिये आवश्यक पदार्थ

मज्जा कोषायें

(Bonemarrw cell, haemo-cytoblasts)

दक्षिण ओर दिये पदार्थों में कमी होने पर बृहदन्यष्ठीलीय रक्तकण(Megaloblasts) की उत्पत्ति। → ↓ ← थाइरौक्सीन (Thyroxin), जीवतिक्ति 'सी' (Vit: C), रक्ताल्पता निरोधीतत्व (Anti: anaemic factor)

न्यष्ठीलीय रक्तकण (Erythroblasts) ← लौह (Fe)

लौह की कमी के कारण (१) सूक्ष्म कायाणिवक उपवर्णिक (Microcytic hypochromic)रक्ताल्पताकी उत्पत्ति → ←

ऋजु न्यष्ठीलीय रक्तकण (Normoblasts)

बृहद रक्तकण (Megalocites)

↓

(२) स्थूल कायाणिवक परम-वर्णिक रक्ताल्पता (Macrocytic hyperchromic anaemia) की उत्पत्ति

↓

लाल रक्तकण (Erythro-cytes R.B.C.)

विकृति । ९. अन्य :—प्लैहिक, प्लमरविनसन का संरूप (Plummer Vinson syndrome), न्यष्ठीलीय रक्तकणीय (erythroblastic) (ख) ऋजु कायाणिवक (Normocytic) :—(१) रक्तस्राव जन्य (Post hemorrhagic) (२) रक्तस्रावी (Hemolytic) :—

(त) **कुलज** (Hereditary) :—लाल रक्तकरण (RBC) मे विकृति होती है। पारिवारिक, गोलककायाणु, सहज शोणाशिक कामला (Spherocytic, familial, congenital hemolytic icterus)। (थ) **जन्मोत्तर** (Acquired hemolytic jaundice) :—लालकरण (RBC) प्राकृत रहते हैं। (द) **मेडिटरेनियन रक्ताल्पता** (Erythroblastic, mediterranian, thalassemia) (ध) **वक्रचंद्राकृत रक्ताल्पता** (Sicklecell anaemia of Negros) (न) **गार्भिक-रुधिरोत्स्फातकर्ष** (Erythroblastosis fetalis) (प) **प्रावेगिक शोणवर्तुलमेह** (Paroxysmal hemoglobinurea)।

(छ) **अन्य पदार्थ की कमी** (Hyperchromic macrocytic) **परमवर्णिक** :—(क) **बृहदन्यष्ठीलीय** (Megaloblastic) :—(१) **वैनाशिक रक्तक्षय** (Pernicious anaemia) (२) **गर्भावस्था जन्य** (३) **संग्रहणी** (Sprue) **जन्य** (**प्रायः**) (४) **पोषणाभाव जन्य** (Tropical nutritional) (५) **शैशवावस्था की** रक्ताल्पता (६) **अविनेय** (Refractory) रक्ताल्पता (७) **स्फीत कृमि** (Tapeworm) (८) **पचन-संस्थान जन्य रक्ताल्पता** (९) प्रशीताद (Scurvy) जन्य (ख) **ऋजु न्यष्ठीलीय** (Normoblastic) :—(१) **प्रशीताद** (Scurvy) प्रायः (२) यकृत, वृक्क तथा अवटुकाग्रन्थि की विकृति (Hypo-thyroidism) (३) श्वेतमयता (Leukaemia), होजकिन (Hodgkin) का रोग, घातक (Malignant) अर्बुद (४) **विष** :—सीस (Lead) (५) अपित्त-मेहिक कुलजकामला (Acholuric familial jaundice)

(आ) **अपचयिक रक्ताल्पता** (Aplastic) **ऋजुवर्णिक** (Normochromic), ऋजुकायाण्विक (Normocytic)

रक्ताल्पता में प्रयोग की जानेवाली औषधियाँ :—(१) **लौह** (Iron.) के योग :—यह औषधि प्रायः **उपवर्णिक** (Hypo-chromic) रक्ताल्पता मे प्रयोग की जाती है। इसको मुख अथवा सिरामार्ग (I.V.) से प्रयोग कर सकते हैं। लौह के फेरिक (Ferric) की अपेक्षा फेरस (Ferrous) योग अधिक उपयुक्त हैं। लौह के योग भो. प. देना चाहिये।

प्राकृत अवस्था मे मनुष्य को लौह मि.ग्रा. १०—१५ प्र. दि. की आवश्यकता

पड़ती है। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति (Menopause) तक पुरुषों की अपेक्षा चौगुनी लौह की आवश्यकता पड़ती है। मुख मार्ग से प्र. दि. लौह ग्रे. १'५ से अधिक आन्त्र से प्रचूषित नहीं होता। ये मात्रायें लौहधातु (Metal) की है। लौह से शोणवर्तुलि (Hb) बनने मे संखिया (As), ताम्र (Copper), कोबल्ट (Cobalt), मोलिब्डिनम (Molybdenum), थाइरोक्सीन (Thyroxin), जीवतिक्ति 'सी' (Vit. C) आदि से सहायता मिलती है। प्रथम चार पदार्थ प्रायः लौह के प्रत्येक योग में अशुद्धि के रूप में मिलते हैं इसलिये साधारणतः रक्ताल्पता की चिकित्सा में इनके देने की आवश्यकता नही पड़ती। विशेष परिस्थिति मे इनका प्रयोग कर सकते हैं। गर्भावस्था तथा आर्तव (Mens) के समय अधिक लौह की आवश्यकता पड़ती है। उपसर्ग (Ifn) के कारण अथवा भोजन मे प्रोटीन (Ptn) या जीवतिक्तियों (Vit:) की कमी होने पर या आमाशय (St) में उदनीराकाम्ल (Hcl) की कमी रहने पर लौह के प्रचूषण (Absorption) मे कमी होती है। शरीर में लौह की कमी रहने पर आन्त्र से लौह के प्रचूषण में वृद्धि हो जाती है। लौह की कमी होने पर रोगी की चिकित्सा के लिये लौह प्रधान आहार (पृ० ९) की अपेक्षा लौह के योग पर निर्भर करना अच्छा है। लौह के योग सस्ते तथा अधिक लाभदायक होते हैं। आधुनिक प्रणाली से लौह के प्रयोग से कब्ज की अपेक्षा पतले दस्त होने की अधिक सम्भावना रहती है। शोणवर्तुलि (Hb), अस्थिमज्जा (Bone marrow) आदि से बने लौह के सेन्द्रिय (Organic) योग चिकित्सा की दृष्टि से महत्वहीन हैं। सिरामार्ग (I. V.) से लौह का प्रयोग हानिकर हो सकता है। गर्भावस्था तथा आर्तव (Mens:) के समय स्त्रियो को रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात् भी एक सप्ताह प्रति मास लौह का प्रयोग करना चाहिये। इसको औषधि की स्थायी (Maintenance) मात्रा कहते हैं। रक्ताल्पता के अन्य कारणों के अभाव मे मुख द्वारा लौह के योग देने से प्र० दि० शोणवर्तुलि (Hb) मे १ प्र. श. की वृद्धि होनी चाहिये। सिरामार्ग (I. V.) से लौह देने से यह वृद्धि ६ प्र. श. प्र. बार होती है। प्रारम्भ मे २–३ दिन लौह की साधारण मात्रा का ¼ भाग देना चाहिये। इस मात्रा से यदि रोगी को वमन उदर मे पीड़ा आदि लक्षण न हो तब साधारण मात्रा २–४ मास देना चाहिये। लौह देने के पश्चात् एक गिलास जल पिलाने से आमाशय में प्रक्षोभ (Irritation) नहीं होता। लौह के

साथ सर्वदा जीवतिक्ति 'सी' (Vit C) देना चाहिये। **गर्भावस्था** के समय लौह देने से नवजातशिशु में इसकी कमी होने की कम सम्भावना रहती है। नवजात शिशु का भार कम रहने पर अथवा उपसर्ग (Inf) होने पर बालकों में लौह की कमी हो जाती है इसलिये प्रत्येक बालक को यदि जीवनारम्भ के समय उसका भार कम हो तब दो मास के पश्चात् उसको लौह देना प्रारम्भ कर देना चाहिये। प्रत्येक बालक जो देखने मे पाण्डुवर्ण हो, सरलता से थक जाता हो, उसमें किसी प्रकार का उपसर्ग हो अथवा उसके शरीर का विकास न होता हो उस बालक को लौह देना आवश्यक है। नवजात शिशु के जीवन के प्रथम दो मास शोणवर्तुलि (Hb) मे शीघ्रता से कमी होती है। इस कमी को किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता। प्रायः १½–२ वर्ष पश्चात् स्वयं ही शोण-वर्तुलि प्राकृत हो जाती है। किसी भी प्रकार का रक्ताल्पता मे लौह की मात्रा कम होने पर इसका प्रयोग करना चाहिये। लौह की मात्रा कम होने पर रग-देशना (C. I.) एक से कम हो जाता है तथा प्रत्येक रक्तकण मे शोणवर्तुलि की मात्रा (M. C. H.) ३२ प्र० श० से कम हो जाती है।

(२) **रक्तप्रदान** (Blood trans) :—शोणवर्तुलि (Hb) प्रति १०० सी. सी. रक्त में ग्रा. ८ (५० प्र. श.) से कम हो जाने पर रक्त-प्रदान की आवश्यकता पड़ती है। एक सप्ताह से अधिक का सञ्चय किया हुआ रक्त प्रयोग नही करना चाहिये। रक्तप्रदान अथवा लाल-रक्तकणप्रदान (RBC trans) के पूर्व कौरटीसोन (Cortisone) मि. ग्रा. १०० मुख से अथवा मौरफीन (यो. १११) ग्रे. १/४ पेशीमार्ग (S.C.) से देने से ज्वर होने की सभावना कम रहती हैं।

(३) **फोलिनिक एसिड** (Folinic acid, leucovorin factor) :—यह पदार्थ फोलिक अम्ल (Folic acid) से बनता है। इसका प्रभाव फोलिक अम्ल के समान है। इसके अतिरिक्त यह एमिनौप्टरीन (Aminopterin) की विषमयता को नष्ट करता है।

(४) **फोलिक अम्ल** (Folic acid):—यह एक प्रकार का विशिष्ट रक्ताल्पता निरोधी तत्व (Anti: anaemic: factor) है। इसकी कमी के कारण अस्थिमज्जा (Bonemarrow) मे बृहत्न्यष्ठीलीय रक्तकण (Megaloblasts) का विकास स्थगित हो जाता है और स्थूलकायाण्विक रक्ताल्पता की उत्पत्ति होती है। इसका मुख से सरलता से प्रचूषण होता है।

(५) रक्तरसरहित लाल-रक्त-कण प्रदान (Plasmafree RBC trans) .—शोणवर्तुलि (Hb) की मात्रा प्रति १०० सी. सी. रक्त में ग्रा ८ (५० प्र. श.) से कम हो जाने पर यह क्रिया की जा सकती है। रक्त-कण ताजा धोआहुआ तथा रक्तरसरहित होने के कारण इसके प्रयोग करने से रक्त मे रक्तरस की वृद्धि नहीं होती तथा प्रतिक्रिया (Serum reaction) होने की संभावना नही रहती। रक्तप्रदान (Blood trans) की अपेक्षा इसमे जल की मात्रा भी कम होती है।

(६) **यकृतसत्व** :—इस औषधि का प्रयोग मुख की अपेक्षा पेशीमार्ग (I. M.) से इन्जेक्शन द्वारा अधिक प्रभावशाली है। इन्जेक्शन के लिये २ योग मिलते हैं :—

(क) **यकृत सत्व संपूर्ण** (Crude liver ext:) :—यह प्रायः १–२ यू. एस. पी. (U. S. P.) प्रति सी.सी. होता है।

(ख) **शुद्ध यकृत सत्व** (Refined concentrated liver-ext:) :—इसमे जीवतिक्की बी$_{१२}$ (Vit:B$_{१२}$)की पर्याप्त मात्रा रहती है। साथ साथ अल्प मात्रा मे फोलिक अम्ल (Folic acid) भी रहता है। यकृत सत्व १५ यू. एस. पी. प्रति सी. सी. होना चाहिये। मुख द्वारा प्रयोग करने के लिये ½–१ पौं. प्र. दि. यकृत की आवश्यकता पड़ती है। यकृत कच्चा अथवा थोड़ी देर उबाला हुआ होना चाहिये। अधिक भूनने से यह प्रभावहीन हो जाता है। यकृत सत्व का इन्जेक्शन आवश्यकता से थोड़ा अधिक ही देना अच्छा है।

(७) जीवतिक्ति बी$_{१२}$ (Vit:B$_{१२}$, Citrovorum factor. C. F.) :—यह पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा मे यकृत मे मिलता है। आज कल इसक निर्माण स्ट्रेप्टोमाइसेस ग्रेसियस (Streptomyces griseus) से होता है। यह पदार्थ अस्थिमज्जा (Bonemarrow) मे बृहद्न्यष्ठी-लीय कायाणु (Megaloblasts) का विकास कर ऋजुन्यष्ठीलीय कायाणु (Normoblasts) की उत्पत्ति करता है। इसकी कमी से वैनाषिक रक्त-क्षय (P. A) की उत्पत्ति होती है।

रक्ताल्पता की साधारण चिकित्सा :—शोणवर्तुलि (Hb) की मात्रा ४० प्र. श. से कम रहने पर रोगी को **शैय्या पर विश्राम** करना चाहिये। रक्ताल्पता का **कारण** जैसे :—उपसर्ग, रक्तस्राव, आन्त्रकृमि, वमन,

पतलेदस्त, अर्बुद (Tumour) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **भोजन** में कैलोरी (C), जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multi-vit), तथा प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। यकृत, अंडा, मास विशेष लाभप्रद हैं। रक्ताल्पता के साथ प्रायः जीवतिक्तियों की कमी रहती है विशेष कर बी$_1$ निकोटिनिक एसिड, सी, तथा 'के' (B_{1}, B_{6} C & K.)। इस कारण रक्त में पूर्वघनास्त्री (Prothrombin) की कमी होती है और रक्तस्राव होता है। मानसिक तथा शारीरिक विश्राम, स्वच्छ वायु, सूर्यरश्मि, शुष्क स्वास्थ्य वर्धक जलवायु आदि का विशेष महत्व है। रोगी को शीत से बचना चाहिये। आमाशय में उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी रहने पर उदनीरिकाम्ल (Hcl dil) मि. ३०–६० त्रि. प्र. दि भो. प. देने से लोह के प्रचूपण में सहायता मिलती है। पचन संस्थान की अवस्था के अनुसार **आहार** देना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था में सरलता से पचने वाला भोजन प्र. ३ घं. पर देना चाहिये। दूध सर्वोत्तम है। रोगी की अवस्था में सुधार होने पर लौह प्रधान आहार (पृ. ५) देना चाहिये। अनेक बार थोड़ा थोड़ा भोजन दे। शुद्ध निरामिष आहार से स्थूल कायाणिवक परम वर्णिका (Macrocytic hyperchromic) रक्ताल्पता होने की संभावना रहती हैं। कोलीन (Choline) तथा (Methionine) देने से यकृत के कार्य की वृद्धि होती है। यह प्रयत्न करना चाहिये कि भोजन द्वारा रोगी को प्र. दि. १०–१५ मि. ग्रा. लौह मिल सके। भोजन में प्रोटीन तथा जीवतिक्तियों (Vit:) की प्रधानता रहनी चाहिये विशेष कर जीवतिक्ति 'बी' (Vit: B.)। भोजन में खमीर (Yeast) का विशेष महत्व है। मनुष्यों में मध्यावस्था के पश्चात अर्श (Piles) आदि के कारण रक्तस्राव की अधिक संभावना रहती है।

लक्षणों की चिकित्सा (१) **जिह्वाशोथ** (Glossitis) :— जिह्वा में अनेक विकृतियाँ होती है। (क) **अपुष्टिकर जिह्वाशोथ** (Atrophic glossitis) में जिह्वा पोड़ारहित तथा चिकनी हो जाती है। उस पर के अंकुर (Papillae) सपाट हो जाते हैं। इस विकृति में लोह (Fe) के प्रयोग से लाभ होता है। (ख) निकोटिनिक एसिड (Vit : B_7) की कमी से जिह्वा पीड़ाकर, रूक्ष, शोफयुक्त तथा रक्तवर्ण हो जाती **है। अंकुर की परमपोष्टि** (Hypertrophy) होती है। इसके लिये

(५) रक्तरसरहित लाल-रक्त-कण प्रदान (Plasmafree RBC trans) :—शोणवर्तुलि (Hb) की मात्रा प्रति १०० सी. सी. रक्त में ग्रा ८ (५० प्र. श.) से कम हो जाने पर यह क्रिया की जा सकती है। रक्त-कण ताजा धोआहुआ तथा रक्तरसरहित होने के कारण इसके प्रयोग करने से रक्त मे रक्तरस की वृद्धि नहीं होती तथा प्रतिक्रिया (Serum reaction) होने की संभावना नही रहती। रक्तप्रदान (Blood trans) की अपेक्षा इसमे जल की मात्रा भी कम होती है।

(६) **यकृतसत्व** :—इस औषधि का प्रयोग मुख की अपेक्षा पेशीमार्ग (I. M.) से इन्जेक्शन द्वारा अधिक प्रभावशाली है। इन्जेक्शन के लिये २ योग मिलते हैं :—

(क) **यकृत सत्व संपूर्ण** (Crude liver ext:) :—यह प्रायः १–२ यू. एस. पी. (U. S. P.) प्रति सी.सी. होता है।

(ख) **शुद्ध यकृत सत्व** (Refined concentrated liver-ext:) :—इसमे जीवतिक्की बी$_{१२}$ (Vit:B$_{१२}$) की पर्याप्त मात्रा रहती है। साथ साथ अल्प मात्रा मे फोलिक अम्ल (Folic acid) भी रहता है। यकृत सत्व १५ यू. एस. पी. प्रति सी. सी. होना चाहिये। मुख द्वारा प्रयोग करने के लिये $\frac{१}{२}$–१ पौ. प्र. दि. यकृत की आवश्यकता पडती है। यकृत कच्चा अथवा थोड़ी देर उबाला हुआ होना चाहिये। अधिक भूनने से यह प्रभावहीन हो जाता है। यकृत सत्व का इन्जेक्शन आवश्यकता से थोडा अधिक ही देना अच्छा है।

(७) जीवतिक्ति बी$_{१२}$ (Vit:B$_{१२}$, Citrovorum factor. C. F.) :—यह पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा मे यकृत मे मिलता है। आज कल इसका निर्माण स्ट्रेप्टोमाइसेस ग्रेसियस (Streptomyces griseus) से होता है। यह पदार्थ अस्थिमज्जा (Bonemarrow) मे बृहद्न्यष्ठीलीय कायाणु (Megaloblasts) का विकास कर ऋजुन्यष्ठीलीय कायाणु (Normoblasts) की उत्पत्ति करता है। इसकी कमी से वैनाषिक रक्तक्षय (P. A) की उत्पत्ति होती है।

रक्ताल्पता की साधारण चिकित्सा :—शोणवर्तुलि (Hb) की मात्रा ४० प्र. श. से कम रहने पर रोगी को **शैय्या पर विश्राम** करना चाहिये। रक्ताल्पता का **कारण** जैसे :—उपसर्ग, रक्तस्राव, आन्त्रकृमि, वमन,

पतलेदस्त, अर्बुद (Tumour) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **भोजन** में कैलोरी (C), जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multi-vit), तथा प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। यकृत, अंडा, मास विशेष लाभप्रद है। रक्ताल्पता के साथ प्रायः जीवतिक्तियों की कमी रहती है विशेष कर बी१ निकोटिनिक एसिड, सी, तथा 'के' (B_1, B_7 C & K.)। इस कारण रक्त में पूर्वघनास्री (Prothrombin) को कमी होती है और रक्तस्राव होता है। मानसिक तथा शारीरिक विश्राम, स्वच्छ वायु, सूर्यरश्मि, शुष्क स्वास्थ्य वर्धक जलवायु आदि का विशेष महत्व है। रोगी को शीत से बचना चाहिये। आमाशय में उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी रहने पर उदनीरिकाम्ल (Hcl dil) मि. ३०–६० त्रि. प्र. दि भो. प. देने से लौह के प्रचूषण में सहायता मिलती है। पचन संस्थान की अवस्था के अनुसार **आहार** देना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था में सरलता से पचने वाला भोजन प्र. ३ घं. पर देना चाहिये। दूध सर्वोत्तम है। रोगी की अवस्था में सुधार होने पर लौह प्रधान आहार (पृ. ५) देना चाहिये। अनेक बार थोड़ा थोड़ा भोजन दें। शुद्ध निरामिष आहार से स्थूल कायाण्विक परम वर्णिका (Macrocytic hyperchromic) रक्ताल्पता होने की संभावना रहती है। कोलीन (Choline) तथा (Methionine) देने से यकृत के कार्य की वृद्धि होती है। यह प्रयत्न करना चाहिये कि भोजन द्वारा रोगी को प्र. दि. १०–१५ मि. ग्रा. लौह मिल सके। भोजन में प्रोटीन तथा जीवतिक्तियों (Vit:) की प्रधानता रहनी चाहिये विशेष कर जीवतिक्ति 'बी' (Vit: B.)। भोजन में खमीर (Yeast) का विशेष महत्व है। मनुष्यों में मध्यावस्था के पश्चात अर्श (Piles) आदि के कारण रक्तस्राव की अधिक संभावना रहती है।

लक्षणों की चिकित्सा (१) **जिह्वाशोथ** (Glossitis):— जिह्वा में अनेक विकृतियाँ होती हैं। (क) **अपुष्टिकर जिह्वाशोथ** (Atrophic glossitis) में जिह्वा पीड़ारहित तथा चिकनी हो जाती है। उस पर के अंकुर (Papillae) सपाट हो जाते हैं। इस विकृति में लौह (Fe) के प्रयोग से लाभ होता है। (ख) निकोटिनिक एसिड (Vit: B_7) की कमी से जिह्वा पीड़ाकर, रुक्ष, शोफयुक्त तथा रक्तवर्ण हो जाती है। **अंकुर की परमपोष्टि** (Hypertrophy) होती है। इसके लिये

निकोटिनिक एमाइड (Nicotinic amide) मुख से १००–२०० मि.ग्रा. त्रि. प्र. दि. अथवा अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से १००–५०० मि. ग्रा. तक प्र. दू. दि. देना चाहिये। खमीर (Yeast) ५–१० गो. त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। (ग) जिह्वा पर पीड़ाकर **विदार** (Fissures) हो जाने पर क्रोमिक एसिड (Chromic acid) २–३ प्र.श. लगाना चाहिए।

(२) **कब्ज** :—बृहदान्त्र (Large int :) के बल (Tone) में कमी होने पर विशेष कर स्त्रियों में, सेना (Senna), खमीर, जीवतिक्ति 'बी' (Vit : B.) आदि देने से लाभ होता है। कब्ज होने पर पेट्रोल-एगर (Petrolagar) रात्रि में च. ४, कैसकरा (Cascara evacuant) मि. २० द्वि. प्र. दि., लिक्वीड पैरेफिन (Liq : paraffin) औं. १/२–१ रात्रि में, फेनोफथलीन (Phenolphthalin) तथा इसफगोल, पर्याप्त मात्रा में जल, हरे शाक, त्रिफला, चोकर सहित आटे की रोटी मुनक्का आदि (पृ. ४) दे सकते हैं।

(३) **अजीर्ण** के साथ **आध्मान** (Tympanites) रहने पर (पृ.१६१) क्षार (यो. १) अथवा पाचक चूर्ण (यो. ५८) भो. प. दे सकते हैं।

(४) **उदनीरिकाम्ल** (Hcl) की कमी के साथ साथ पतले **दस्त** होने पर भोजन के साथ उदनीरिकाम्ल (Hcl) मि. २०-३० देना चाहिये।

(५) **निद्रा न आने पर** (पृ. १४१) सोने के पूर्व फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १/२–१, ल्यूमिनल या डायल (Dial) ग्रे. १/२–१½ अथवा ब्रोमाइड (यो. २२) की एक मात्रा देना चाहिये। (६) **परिसरीय वातनाड़ी शोथ** (Peripheral neuritis) में खमीर, जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit : B), लौह, (Fe), मारमाइट (Marmite), आदि से लाभ होता है। (७) **अवटुकाग्रन्थि** के सत्व की कमी रहने पर अवटुका ग्रन्थि सत्व (Thyroid ext) ग्रे. १/२–१ द्वि. प्र. दि. देना चाहिये।

रक्ताल्पता की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—इस रोग में दुर्बलता विशेष आ जाती है अतः प्रारम्भ में स्नेहन कराकर बलानुसार हल्का रेचन देना चाहिये। आवश्यकता हो तो सावधानी से तिक्तद्रव्यों से सिद्ध औषधियों व घृत दें। दुर्बल में तीक्ष्ण औषधि न दें। हेतु व व्याधि विपरीत चिकित्सा करें, अतः यदि मिट्टी खाना कारण है तो उसे बन्द करवा देना चाहिये और फिर पाण्डुनाशक औषधियों का प्रयोग करें। प्रतिदिन गुड़ के साथ हरीतकी

का सेवन लाभकारक है यथा :—'पाण्डुरोगे सदासेव्या सगुडा च हरीतकी।'

रोगी को दीपन व पाचन आहार देना चाहिये। यदि अग्निमाद्य भी है तो शंखवटी, अग्निकुमार या क्रव्याद रस दे। यकृत बढने पर यकृदरि लौह भी औषधि के साथ मिलाकर दे। रोगी की शीतल पदार्थों से रक्षा करनी चाहिये और पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। पित्तकारक पदार्थों का सेवन न करावे।

औषधियाँ :—फलत्रिकादि क्वाथ, मूर्वाद्य घृत, धात्र्यरिष्ट, लोहासव, लौह भस्म, मण्डूर भस्म, पाण्डुसूदन रस, पञ्चामृत लोह मण्डूर, पुनर्नवा मण्डूर, नवायस लौह।

प्रयोग :—

(१) नवायस लौह ४ र.
शंख भस्म ४ र.
मि. ४ मात्रा आर्द्रकरस व मधु से दे।

(२) लोहासव १½ तो. सम जल मिलाकर भोजनोत्तर दे।

(३) आरोग्यवर्धिनी २ वटी रात्रि मे उष्णोदक से दें।

रक्ताल्पता के प्रकार तथा चिकित्सा :—

(च) उपवर्णिक रक्ताल्पता (Hypochromic anaemia) :—

परिचय :—ये रोग रक्तस्राव, उपसर्ग (Ifn), विष तथा पोषणाभाव (Nutritional deficiency) आदि के कारण उत्पन्न होते है।

चिकित्सा :—रक्ताल्पता की साधारण चिकित्सा (पृ. ६६०) के अतिरिक्त रोगी को **लौह** (Fe) के योग देना आवश्यक है। तीव्र उपसर्ग, रक्तस्राव (Bleeding), शल्यकर्म (Op) आदि के कारण यदि शोणवर्तुलि (Hb) की मात्रा ५० प्र. श. से कम हो और साधारण चिकित्सा से लाभ न हो तब रोगी को रक्त-प्रदान (Blood trans :) अथवा रक्तरसरहित लालरक्तकण (Plasmafree RBC) प्रदान करना चाहिये।

(क) सूक्ष्मकायाणिवक (Microcytic) रक्ताल्पता:—

(१) शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था की पोषणाभाव (Nutritional) जन्य रक्ताल्पता, हलीमक (Chlorosis) तथा चिरकालीन अपोषणज (Chro: nutritional) रक्ताल्पता :—

परिचय :—ये रोग प्रायः निर्धन परिवार की स्त्रियो मे गर्भाधान की आयु में या बालकों में भोजन मे लौह की कमी के कारण उत्पन्न होते है। यह रोग जब स्त्रियों मे यौवनारम्भ मे होता है तब उसको हलीमक (Chlorosis) कहते हैं।

चिकित्सा :—रक्ताल्पता की साधारण चिकित्सा (पृ. ६६०) के अतिरिक्त रोगी को **लौह** के योग देना चाहिये।

(२) **अल्पाम्लता** (Achlorhydria) :—यह विकृति स्त्रियों में आर्तव (Mens:) के समय अत्यधिक रक्त स्राव होने से या लौह का प्रचूषण ठीक से न होने के कारण होती है। इसकी **चिकित्सा** लौह के योग से करनी चाहिये। उदनीरिकाम्ल (Hcl dil:) मि० १०-२० भो० प० द्वि० प्र० दि० देना आवश्यक है।

(ख) ऋजुकायाणिवक (Normocytic) रक्ताल्पता :—

(१) **शरीर से रक्तस्राव** (Bleeding) होने के कारण रक्ताल्पता हो सकती है। रक्तस्राव तीव्र अथवा चिरकालीन हो सकता है। **चिरकालीन रक्तस्राव** अंकुश कृमि (H. W.), अर्श (Piles), आमाशय में प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer) तथा घातक अर्बुद (Malignant-disease) आदि के कारण होता है। रक्ताल्पता की साधारण **चिकित्सा** (पृ०६६०) के अतिरिक्त रक्तस्राव के **कारण** की चिकित्सा करनी चाहिये तथा रोगी को लौह के योग देने चाहिये। रक्तस्राव (पृ १७४) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

(२) रक्तस्रावी (Hemolytic) रक्ताल्पता :—

ये रक्ताल्पता दो प्रकार की होती हैं :—

वर्गीकरण :—(**त**) **कुजल** (Hereditary) :—इनमे प्रायः लाल रक्तकणों (RBC) मे विकृति रहता है जैसे, पारिवारिक गोलकायाणु, सहज-शौणांशिक कामला (Sperocytic, familial, congenital hemolytic icterus)।

(**थ**) **जन्मोत्तर शोणांषिक कामला** (Acquired hemolytic jaundice) :—इसमे लाल रक्तकण (R. B. C.) प्राकृत रहते हैं। इस विकृति के अनेक **कारण** प्रतीत होते हैं जैसे :—शीश (Pb), क्वीनीन (Q), सल्फा (S), एनिलीन (Aniline) की विषमयता, विषमज्वर (M. F.), कालज्वर (K. A.), मालागोलाणु (Strepto), स्तवक गोलाणु (Staphylo), वेलची गदाणु (Cl. welchi) आदि का उपसर्ग, बीजग्रन्थि कोष्ठार्बुद (Ovarian cyst), परमप्लैहिकता (Hyper-splenism), अग्नि यथा क्ष-किरण (X-ray), रेडियम (Ra-

dium) आदि से जल जाने से तथा शरीर में अप्राकृतिक वर्तुलिक (Globulins) के बन जाने से रक्तकणों का नाश होता है।

लक्षण :—ये रोग प्रायः विशेष परिवार अथवा वंश (Race) में मिलते हैं। उपसर्ग, विष अथवा प्रसमूहि (Agglutinins) आदि के प्रयोग का इतिहास मिल सकता है। **रक्ताल्पता** तथा **रक्तकण के नष्ट होने** (Hemolysis) के कारण लक्षणों की उत्पत्ति होती है। ज्वर, पाण्डुवर्ण त्वचा, शीघ्रहृदयता (Tachycardia) तथा कामला (Jaundice) आदि लक्षण इस रोग के प्रत्येक प्रकार में मिलते हैं। जन्मोत्तर (Acquired) तथा कुलज (Familial) प्रकार में यकृत तथा प्लीहा की वृद्धि भी होती है।

उपद्रव :—इस रोग में शोणांषिक दारुणयमोक्ष (Severe hemolytic crisis), पित्ताशयशोथ (Cholecystitis), पित्ताश्मरी (Cholelithiasis) आदि उपद्रव होते हैं। रोग की अन्तिम अवस्था में अस्थिमज्जा (Bonemarrow) कार्यशील न रहने के कारण रक्त का निर्माण स्थगित हो जा सकता है। **शोणांषिक दारुणयमोक्ष** (Hemolytic crisis) में अकस्मात लालकणों (RBC) की संख्या कम हो जाती है। रक्तकणों का तीव्रता से नाश होते समय, रक्ताल्पता, कामला, स्तब्धता, निपात (Collapse), परमज्वर, आमाशयोर्ध्व प्रदेश (Epigastrium) में पीड़ा, प्लीहा की वृद्धि, कंप (Rigor) वमन, पेशियों में पीड़ाकर ऐंठन आदि लक्षण होते हैं। इसकी **चिकित्सा** के लिये तत्काल रक्तप्रदान (Blood: trans:) करना चाहिये।

नैदानकीय परीक्षायें :—रक्त, मूत्र तथा आमाशय में उदनीरिकाम्ल (Hcl) की मात्रा के विषय में तालिका देखिये। रक्तकण के अत्यधिक संख्या में नष्ट होने के कारण रक्त में पितरक्तिमयता (Rilirubinaemia) होती है तथा मूत्र में मूत्रपित्ती (Urobilinuria) मिलती है। रक्त में जालककायाणु (Reticulocites) भी मिलते हैं।

चिकित्सा :—इसकी चिकित्सा रोग की अवस्था के अनुसार की जाती है:—

(१) **तीव्र अवस्था** में रोगी को चिकित्सालय में रखकर तत्काल चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। रोग के कारण का निवारण आवश्यक है। तीव्र रक्ताल्पता के साथ-साथ स्तब्धता (Shock) के लक्षण रहते हैं इसलिये

सम्पूर्ण **रक्तप्रदान** (Blood trans :), **लाल रक्तकण प्रदान** (R. B. C. trans :), रक्तरस (Plasma) आदि आ. अ. पा. १ प्र. बा. ३–४ बार देना चाहिये । रोगी की अवस्था तथा स्वास्थ्य मे सुधार होने पर **प्लीहोच्छेदन** (Splenectomy) कर सकते हैं । कुलज पारिवारिक (Hereditary familial) प्रकार मे इस क्रिया से लाभ होने की अधिक सम्भावना रहती है । वक्र चन्द्राकार, जन्मोत्तर, पारिवारिक ऋजुन्यष्ठीलीय (Sicklecell, acquired, familial erythroblastic) आदि मे इस क्रिया से लाभ नहीं होता ।

(२) **चिरकालीन** अवस्था में रोग के कारण का निवारण करना चाहिये । विपाक्त औषधि, विष आदि बन्द कर देना चाहिये । उपसर्ग, अत्यधिक परिश्रम, अति शीत, अति ऊष्णता आदि से बचना चाहिये । साधारण चिकित्सा (पृ. ६६०) से लाभ न हाने पर प्लीहोच्छेदन (Splenectomy) करना चाहिये । बीजग्रन्थि कोष्ठार्बुद (Ovarian cyst) रहने पर उसको निकाल देना चाहिये । **ए. सी. टी. एच.** (A. C. T. H.) तथा **कारटीसोन** (Cortisone) से अस्थायी लाभ होता है । इनके प्रयोग के समय लवण (Nacl) प्र. दि. ३० ग्रे. से अधिक नहीं देना चाहिये तथा पोटासियम क्लोराइड (Pot : chloride) ग्रे. २० त्रि. प्र. दि. देना चाहिये । **कोरटीसोन** मि. ग्रा. २५–१०० मुख से द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये अथवा **ए. सी. टी. एच.** पेशीमार्ग (I. M.) से मि. ग्रा. २०–४० चा प्र. दि. दें । इस औषधि को सिरामार्ग (I. V.) से देने के लिये ग्लूकोस के ५ प्र. श. घोल मे ए. सी. टी. एच. २५ मि.ग्रा. मिला कर ४०–६० बूँद प्र. मि. की गति से निरन्तर १२ घंटा प्र. दि. दे सकते हैं ।

(द) **मेडिटरेनियन रक्ताल्पता** (Erythroblastic, Mediterranian, thalassemia):—इस रोग के तीन **प्रकार** हैं (१) **सुप्त,** या **क्षुद्र** (Latent, minima) :—इस अवस्था मे रोग अदृश्य रहता है इसलिये चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती (२) **साधारण** (Minor) इस अवस्था का प्रधान लक्षण हैं शोणांशिक कामला (Hemolytic jaundice) । इसकी **चिकित्सा** का सिद्धात है, यकृत मे विकृति होने से बचाना तथा रक्त की कमी को पूरा करना । इस उद्देश्य से रोगी को जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C), कोलीन (Choline), मेथियोनीन (Methionine)

तथा भोजन में अधिक मात्रा में प्रोटीन (Ptn) देना चाहिये। रक्तप्रदान (Blood trans :), रक्त-कण प्रदान (R.B.C. trans :) आदि क्रियायें आ. अ. करना चाहिये। (३) **गम्भीर** (Major, Cooley's-disease, familial erythroblastic, target cell):—यह अवस्था कुलज (Hereditary) है, इसलिये रोगी की मृत्यु प्रायः युवावस्था के पूर्व हो जाती है। इसकी कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है। केवल **रक्त प्रदान** से लाभ होता है। यह रक्ताल्पता उपवर्णिक (Hypochromic) है परंतु उसमें रक्तकण की ऋजु कायाण्विक (Normocytic) तथा सूक्ष्म कायाण्विक (Microcytic) दोनों अवस्थायें मिल सकती हैं। प्लीहोच्छेदन (Splenectomy) से अस्थायी लाभ होता है। भोजन में यकृत, कैलसियम (Cal), प्रोटीन (Ptn), जीवतिक्ति 'डी' (Vit : D) आदि देना चाहिये। लौह (Fe) प्रभावहीन है। फोलिक एसिड निरोधी (Anti-folic acid) औषधियाँ तथा नाट्रोजनमस्टर्ड (N H_2) हानिकारक हैं। (Cobalt), औरियोमाइसेर्टन (Au), क्लोरोमाइसीन (Cln) टेरामाइसीन (Tn) आदि प्रायोगिक अवस्था में हैं।

(ध) **वक्रचन्द्र कृत** (Sicklecell) **रक्ताल्पता** :—यह रोग कुलज (Hereditary) है। यह प्रायः नीग्रो (Negro) में मिलता है। रक्तकण (RBC) का आकार वक्र चन्द्राकार (Sickle) होता है। इसमें केवल **रक्तप्रदान** से लाभ होता है। अन्य चिकित्सा लक्षणों के अनुसार करनी चाहिये। इसमें गर्भधारण से हानि होती है इसलिये रोगिणी को वन्ध्या (Sterile) कर देना चाहिये। रक्तकण में विकृति रहने के कारण रोगी को अधिक प्राणवायु (O_2) की आवश्यकता पड़ती है इसलिये रोगी को प्राणवायु देना चाहिये। ऊँचे स्थान पर जहाँ वायुमंडल में प्राणवायु की कमी रहती है जैसे पर्वत, वायु मार्ग से यात्रा आदि बचाना चाहिये। पीड़ाकर ध्वजहर्ष (Priapism), अर्धाङ्गघात (Hemiplegia), मस्तिष्कगत घनास्रता (Thrombosis) आदि की चिकित्सा लक्षणों के अनुसार करनी चाहिये। रक्त का घनत्व (Viscocity) कम करने के लिये सोडियम टेट्राथायोनेट (Sodi: tetra: thionate) ग्रे.१० सिरामार्ग (I.V.) से द्वि. या त्रि. प्र. दि देना चाहिये।

(न) **गार्भिक रुधिरोत्स्फोटोत्कर्ष** (Erythroblastosis fet-

alis) :—इस रोग मे माता के रक्त में प्रतियोगी पदार्थ (Antibody) रहते हैं जो नवजात शिशु के रक्तकण (R.B.C.) को नष्ट करते हैं। इसकी चिकित्सा के लिये शिशु के शरीर का संपूर्ण रक्त निकाल कर नवीन रक्त द्वारा रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये। यह क्रिया नाभिनाल (Umbelical cord) के द्वारा की जाती है। इस क्रिया की सपूर्ण अवधि पर्यन्त शिशु को प्राणवायु (O_2) देते रहना चाहिये। इसको विनिमय रक्त-संक्रम (Exchange trans:) कहते है। इसमे शिशु के शरीर मे थोड़ा रक्त प्रवेश कर थोडा रक्त निकाल लिया जाता है। इसी प्रकार शनैः शनैः पा. १ रक्त प्रवेश क्रिया जाता है।

(प) प्रावेगिक शोणवर्तुलीमेह (Paroxysmal hemoglobinuria) :—

परिचय :—मूत्र मे शोणवर्तुलि (Hb.) प्रायः किसी भी प्रकार की रक्ताल्पता मे रक्तकणो के नष्ट होने से (Hemolysis) आ सकता है। इसके अनेक कारण हैं:—कभी-कभी पुरुषों मे युवावस्था में परिश्रम के पश्चात वह विकृति होती है। यह अवस्था अत्यन्त साधारण है और विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी कभी अकस्मात रात्रि (Nocturnal) मे यह लक्षण होता है। इसका कारण अज्ञात है तथा चिकित्सा भी आशाप्रद नहीं है। फिरग (Syphilis) तथा शीतल स्थान से गरम वायु मंडल मे जाने से भी यह लक्षण होता है।

चिकित्सा :—रोग का कारण ज्ञात होने पर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। फिरग की संभावना को ध्यान में रहना चाहिए। शीत से बचना चाहिये। लौह (Fe), जल, क्षार (Alkali) आदि रोगी को देना चाहिये। रक्त प्रदान (Blood trans:) आ. अ. कर सकते हैं। रोगी को वस्त्र आदि से ढककर गरम रखना चाहिये।

(छ) **परमवर्णिक स्थूलकायाणिवक** (Hyperchromic, macrocytic) **रक्ताल्पता** :—ये रोग दो प्रकार के होते है :—
(क) स्थूलकायाणिवक **बृहदन्यष्ठोलीय** (Macrocytic, megalocytic or megalobastic) रक्ताल्पता :—इसमे पाडु निरोधी पदार्थ (Anti-anaemic factor) की कमी रहती है। इस पदार्थ का निर्माण आमाशय मे होता है तथा संग्रह यकृत मे होता है और समय समय पर यह पदार्थ अस्थि

मज्जा को उत्तेजित कर रक्त निर्माण के लिये प्रेरित करता है। इन रोगो में अस्थिमज्जा बृहत्न्यष्ठिलीय (Megaloblastic) स्थिति मे रहती है।

इन रोगो मे अस्थिमज्जा (Bonemarrow) मे बृहत्न्यष्ठीलीय कायाणुओ (Megaloblasts) के निर्माण के पश्चात उनका विकास (Maturation) स्थगित हो जाता है। पाण्डुनिरोधी पदार्थ (Anti: anaemic factor) का वास्तविक स्वरूप अभी ज्ञात नही है परन्तु इन रोगो मे प्राय: जीवतिक्ति बी$_{12}$ (Vit: B$_{12}$), फोलिक अम्ल (Folic acid), शुद्ध यकृतसत्व (Refined liver ext:), फोलिनिक अम्ल (Folinic-acid) आदि देने से तत्काल लाभ होता है। इसके निम्न प्रकार हैं :—

(१) **आमाशय** मे पाण्डुनिरोधी तत्व का **निर्माण** न होने के कारण इस पदार्थ का स्थायी अथवा अस्थायी रूप से निर्माण होना बन्द हो जाता है। जैसे:—

(च) पाण्डु निरोधी पदार्थ का **स्थायी** रूप से निर्माण न होने पर एडिसन का वैनाशिक रक्तक्षय (Addison's P. A.) होता है।

(छ) गर्भावस्था की बृहत् न्यष्ठिलीय (Megaloblastic) रक्ताल्पता मे **अस्थायी** रूप से पाण्डुनिरोधी पदार्थ का निर्माण स्थगित हो जाता है।

(ज) भोजन मे **बाह्य तत्व** (Extrinsic factor) की कमी के कारण भारतवर्ष मे संग्रहणी (Sprue) तथा स्त्रियो मे उष्णकटिबन्धज स्थूल-कायाण्विक (Tropical macrocytic) रक्ताल्पता होती है।

(झ) घातक अर्बुद (malignant tumour) अथवा शल्यकर्म (Op.) के कारण आमाशय के अधिक भाग का नाश हो जाने के कारण रक्ताल्पता होती है।

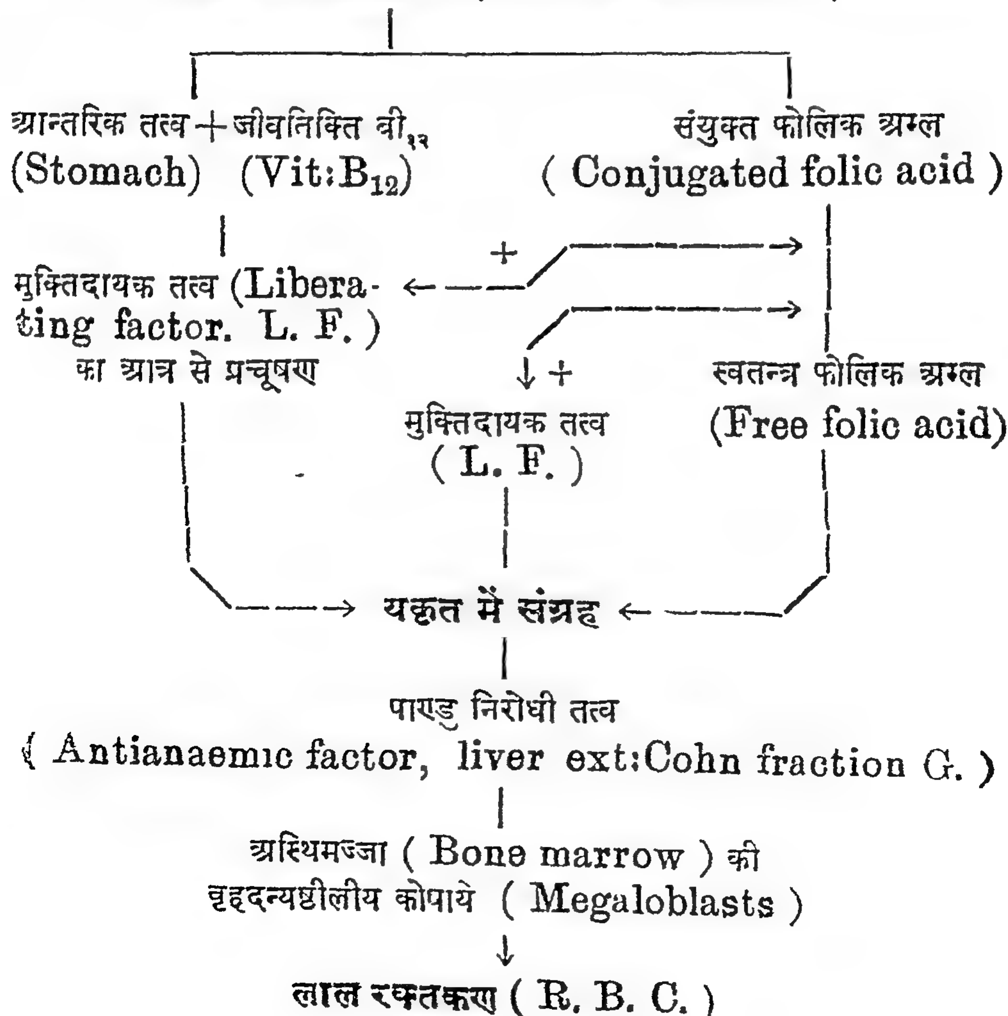
(२) पाण्डु-निरोधी पदार्थ के **प्रचूषण** मे विपर्यय होने से त्वग्ग्राह (Pellagra) आदि मे रक्ताल्पता होती है।

(३) यकृत के रोगों के कारण पाण्डुनिरोधी पदार्थ या सग्रह ठीक से न होने के कारण यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Cirrhosis) आदि मे रक्ताल्पता होती है।

(ख) परमवर्णिक, स्थूलकायाण्विक, **ऋजुन्यष्ठीलीय** (Hyper-chromic, macrocytic, normoblastic) रक्ताल्पता :—इन रोगो मे पाण्डुनिरोधी पदार्थ की अपेक्षा रोग का कोई अन्य कारण प्रतीत होता है। इनकी चिकित्सा मे भी जीवतिक्ति बी$_{12}$ (Vit : B$_{12}$), यकृत सत्व आदि की अपेक्षा क्ष-किरण (X-ray), प्लीहोच्छेदन (Splenecto-

my) आदि से लाभ होता है। जैसे :—हौजकिन का रोग (Hodge-kin's, disease), शीश (Pb) की विषमयता, श्वेतमयता (Leukaemia), घातक अर्बुद (Malignant disease), अशीताद (Scurvy), संग्रहणी (Sprue) की प्रारम्भिक अवस्था, यकृद्दाल्यूत्कर्ष (Cirrhosis), चिरकालीन वृक्कशोथ (Chro : nephritis), अवटुका ग्रन्थि के स्राव की कमी (Hypothyroidism)

वैनाशिक रक्तक्षय (P.A.) तथा संग्रहणी (Sprue) की उत्पत्ति



आदि रोगों की रक्ताल्पता में। इनमें संग्रहणी में फोलिक अम्ल (Folic acid) तथा प्रशीताद (Scurvy) में जीवतिक्ति 'सी' (Vit. C :) से लाभ होता है। यकृत, वृक्क तथा अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) के रोगों की परम-वर्णिक स्थूल कायाणिवक (Hyperchromic, macrocytic) रक्ताल्पता में प्रायः रक्ताल्पता में प्रयोग की जाने वाली सब ओषधियाँ प्रभावहीन होती हैं। इनमें मूल रोग की चिकित्सा करनी चाहिये।

नोट :—जीवतिक्ति बी$_{१२}$ (B_{12}) की कमी के कारण **वैनाशिक रक्तक्षय** (P.A.) की तथा संयुक्त फोलिक अम्ल (Conjugated folic acid) की कमी के कारण **संग्रहणी** (Sprue) की उत्पत्ति होती है। ये दोनों पदार्थ भोजन में मिलते हैं।

(१) वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious anaemia) :—

परिचय :—यह रोग प्रायः पुरुषों में मध्यावस्था के पश्चात् विशेष परिवारों में रक्ताल्पतानिरोधी तत्व (Anti : anaemic : factor) की कमी के कारण शनैः शनैः प्रारम्भ होता है। जीवतिक्ति बी$_{१२}$ (Vit : B_{12}) के प्रयोग से २–३ दिन में तथा यकृत सत्व (Liver ext :) के प्रयोग से १ सप्ताह में लाभ होने लगता है। समय-समय पर लक्षणों का शमन होता है तथा समय समय पर लक्षण उग्र हो जाते हैं। रक्त की अवस्था में अकस्मात परिवर्तन हो सकता है। इसको रक्तदारुण्य मोक्ष (Blood crisis) कहते हैं। रोग प्रायः गौरवर्ण तथा सुवर्ण केशवाले लोगों में अधिक होता है। श्याम वर्ण की त्वचा वाले वंश में यह रोग कम होता है।

निदान :—निदान की दृष्टि से रक्ताल्पता, निम्बुकवर्णीय (Lemon-yellow) त्वचा तथा नेत्रकला, प्लीहावृद्धि, रक्तस्राव, व्रणयुक्त, चिकनी रक्तवर्ण जिह्वा, क्षुधानाश, श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), हृत्कम्प (Palpitation), अजीर्ण, पतले दस्त, शाखाओं में संज्ञानाश (Numbness) तथा सूई चुभने के समान प्रतीत होना, असमन्वयता (Ataxia), अनियन्त्रित मल-मूत्र का परित्याग, यकृतवृद्धि, शीघ्रगामी नाड़ी आदि लक्षण होते हैं। रक्त, अस्थिमज्जा (Bonemarrow) तथा तदनीरिकाम्ल (Hcl) की स्थिति का वर्णन तालिका में देखिये। अस्थिमज्जा मुलायम हो जाती है। रक्तवर्णीय मज्जा (Red marrow) की वृद्धि होती है। रक्तस्रवण काल (Bleeding time) बढ़ जाता है। रक्त में उषसिप्रिय (Eo) की कमी

तथा लसकायाणु (Lympho) की वृद्धि होती है। गम्भीर अवस्था में रक्त मे ऋजु तथा बृहद् न्यष्टीलीय (Normo & megaloblast) रक्त-कण मिलते हैं।

चिकित्सा (क) सिद्धान्त :—इस रोग की चिकित्सा का **सिद्धान्त है** कि शीघ्रता से रक्त की अवस्था प्राकृत की जाये। रक्त के प्राकृत होने के पश्चात्, रक्त को जीवन पर्यन्त प्राकृत रखा जाये और जिन पदार्थों की कमी के कारण इस रोग की उत्पत्ति होती है तथा रक्तनिर्माण के लिए जो पदार्थ आवश्यक हैं उनका पर्याप्त मात्रा मे शरीर में संग्रह किया जाय तथा इन पदार्थों मे कमी प्रतीत होने पर समय-समय पर इस कमी को पूरा किया जाय। इस रोग मे इन पदार्थों के निर्माण की शक्ति नष्ट हो जाती है इसलिये इन पदार्थों को जीवन पर्यन्त देना पड़ता है। आ. अ. रक्तप्रदान (Blood trans) करना चाहिये।

(ख) साधारण चिकित्सा :— रोग जितना ही चिरकालीन होता है उतना ही कम उसके अच्छे होने की सम्भावना रहती है। रक्ताल्पता की साधारण चिकित्सा (पृ. ६६०) के अतिरिक्त भोजन मे प्रोटीन (Ptn) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। पतले दस्त आदि पचन-संस्थान की विकृति होने पर भोजन के साथ उदनीरिकाम्ल (Hcl) १० प्रतिशत मि. १५–२० त्रि.प्र.दि. दे सकते है, अन्यथा यह अनावश्यक है। उदनीरिकाम्ल(Hcl) को एक गिलास जल मे मिलाकर नलिका (Straw) से पीना चाहिये अन्यथा दाँत खट्टे हो जाते हैं। इसको पीनेके पश्चात् सोडी-बाइकार्ब से कुल्ला करना चाहिये अन्यथा दाँत नष्ट होने का भय रहता है। रोगी मे यदि शल्यकर्म की आवश्यकता पड़े तब शल्यकर्म के पूर्व ६ घण्टे के अन्तर मे यकृत सत्व ४ सी. सी. द्विवार देना चाहिये तथा रक्तप्रदान (Blood-trans) की व्यवस्था होनी चाहिये।

ग—विशिष्ट चिकित्सा :—१–**शुद्ध यकृतसत्व** (Refined liver ext :)। आगे तालिका देखिए।

२–जीवतिक्ति बी$_{१२}$ (Vit : $B_{१२}$) :—शुद्ध (Refined) यकृत सत्व के समान यह भी प्रभावशाली है। दोनों औषधियो मे से किसी एक का प्रयोग कर सकते हैं। यह औषधि १०–२० माइक्रोग्राम (Microgram) पेशीमार्ग से प्रथम दो दिन ए. प्र. दि. तत्पश्चात १० मा. ग्रा. प्रति ३–४ दिन जब तक रक्त की स्थिति प्राकृत नहीं हो जाय, देना चाहिये। तदुपरांत

मा. म्रा. १५ द्वि. प्र. मास जीवनपर्यन्त देना चाहिये। सुषुम्ना (Cord) में विकृति रहने पर यह औषधि २ वर्ष तक मा. ग्रा. १५–३० की मात्रा मे देना चाहिये। प्रथम १ मास द्वि. प्र. स. तत्पश्चात् ए. प्र. स. औषधि देना चाहिये। तदुपरात जीवनपर्यन्त १५ मा. ग्रा. द्वि. प्र. मास दें। वैनाशिक रक्तक्षय में इस औषधि का मुख से प्रचूषण नहीं होता।

रोगी की अवस्था के अनुसार शुद्ध यकृत सत्व की मात्रा

अवस्था	मात्रा	विधि
साधारण	१ सी. सी.	प्रथम ३–७ दिन ए. प्र. दि। तत्पश्चात् २–३ बार प्र. स. जब तक रक्तकण की सख्या प्राकृत नहीं होती, तदुपरान्त प्रति तृतीय सप्ताह जीवनपर्यन्त दें।
वातनाड़ी-सस्थान (Nervous system) मे अथवा हृत्-धमनी (Coronary) में विकृति रहने पर अथवा उपसर्ग (Ifn) रहने पर।	३–४ सी. सी.	प्रथम सप्ताह ए. प्र. दि., द्वितीय सप्ताह २–३ बार प्र. स., त्रितीय तथा चतुर्थ सप्ताह ए.प्र.स., तत्पश्चात् १–२ सी. सी. प्र. द्वितीय सप्ताह जीवनपर्यन्त दें।

३—**आमाशय सत्व** (Ventriculin, pepsac, ectomok, hog St:ext) :—यह औषधि मुख से ग्रा. १०–१५ द्वि. प्र. दि. अथवा यकृत तथा आमाशय के सम्मिलित योग (Extralin) की ग्रे. ७½ की ४ गो. त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। इन औषधियों का परिणाम निराशाप्रद है।

४—**फोलिक अम्ल** (Folic acid) :—केवल इस औषधि के प्रयोग से वैनाशिक रक्तक्षय में लाभ नहीं होता। चिकित्सा के प्रारम्भ में संभव है कि रोगी के लक्षणों का शीघ्रता से शमन होता प्रतीत हो परन्तु यह लाभ अस्थायी होता है। वातनाड़ी-संस्थान (Nervous system) की विकृति पर यह प्रभावहीन है।

(२) **गर्भावस्था की रक्ताल्पता** (Tropical, macrocytic, megalocytic, hyperchromic anaemia of pregnancy):–

परिचय :—यह रोग गर्भावस्था मे ४ से ६ मास के अन्दर अथवा प्रसव होने के तत्काल पश्चात् होता है। इस रोग में हिस्टामीन (Histamine) देने के पश्चात् आमाशय (St) में उदनीरिकाम्ल (Hcl) रहता है। कामला (Jaundice) नहीं होती तथा सुषुम्ना (Cord) मे विकृति आदि लक्षण नहीं होते। रोग अस्थायी है तथा रोगनिवृत्त होने पर रोग के पुनरागमन (Relapse) की सम्भावना नहीं रहती।

चिकित्सा :—**फोलिक अम्ल** (Folic acid) मि. ग्रा.५त्रि. प. दि. मुख से देने से तत्काल लाभ होता है। इस औषधि के स्थान पर यकृत सत्व सम्पूर्ण (Crude liver ext :) ४ सी. सी. पेशीमार्ग (I. M.) से प्र. दि. दे सकते हैं। जीवतिक्ति बी१२ (Vit : B_{12}) केवल देने से लाभ नहीं होता परन्तु इस औषधि का मा. ग्रा. १५ पेशीमार्ग से देने के साथ साथ जीवतिक्ति सी (Vit : C) मि. ग्रा. २५० त्रि. या चार बार प्र. दि. मुख से देने से कुछ लाभ सम्भव है। गर्भावस्था की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त मांसाहारी भोजन जन्य प्रोटीन (Ptn) देना चाहिये। गर्भावस्था में परमवर्णिक (Hyperchromic) तथा उपवर्णिक (Hypochromic) दोनों प्रकार की रक्ताल्पतायें होती हैं इसलिये लौह का कमी प्रतीत होने पर रोगी को लौह (Fe) के योग तथा जीवतिक्ति सी (Vit : C) देना चाहिये।

(३) **संग्रहणी जन्य रक्ताल्पता** (Sprue, hyperchromic, macrocytic, megalocytic) :—इस रोग की **चिकित्सा** में विशिष्ट औषधि का प्रयोग जीवनपर्यन्त करना चाहिये। इसमे **फोलिक अम्ल** (Folic acid) सर्वोत्तम है। यह औषधि मुख से मि. ग्रा. ३–५ त्रि.प्र.दि. देना चाहिए। इसके अतिरिक्त जीवतिक्ति **बी१२** (Vit : B_{12}) मी. ग्रा.

१०–२० अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से प्र. दि. देने से भी लाभ होता है। वसा (Fat) को सूक्ष्म कणों में परिणत (Emulsify) करने के लिये सोरलेट (Sorlate) कै. ४ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। प्रत्येक कैपस्यूल ग्रे. ७½ का होता है। इससे वसा के प्रचूषण में सहायता मिलती है। लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। पतले दस्त कम न होने पर उदनीरिकाम्ल (Hcl dil) ड्रा. १½–२ द्वि.प्र.दि. दे सकते हैं। अपतानिका (Tetany) में कैलसियम फौसफेट (Cal : phos :) तथा वायोस्टेरोल (Viosterol) से लाभ होता है। अन्य चिकित्सा अन्यत्र देखिए।

(४) **पोषणाभावजन्य** ऊष्ण कटि-बन्धज पोषणज, परमवर्णिक, स्थूल कायाण्विक बृहदन्यष्ठीलीय (Tropical nutritional, hyperchromic, macrocytic, megaloblastic) **रक्ताल्पता :—**

परिचय : - पोषणाभाव के कारण दोनो प्रकार की रक्ताल्पता हो सकती है, उपवर्णिक या परमवर्णिक (Hypo or hyperchromic)। परमवर्णिक (Hyperchromic) रक्ताल्पता अनेक काल पर्यन्त भोजन में पौष्टिक तत्वों की कमी रहने पर उत्पन्न होती है। इसमें मुखशोथ (Glossitis) होता है परन्तु वसायुक्त (Fatty) पतले दस्त, कामला (Jaundice) आदि लक्षण नही होते। आमाशय में उदनीरिकाम्ल (Hcl) प्राकृत रहता है। यह अवस्था अस्थायी है, इसलिये विशिष्ट औषधियों द्वारा रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात् पौष्टिक आहार लेना पर्याप्त है। विशिष्ट औषधियाँ जीवनपर्यन्त देना आवश्यक नहीं है। विशिष्ट औषधियो से एक मास मे रोगी स्वस्थ हो जाता है।

चिकित्सा :—जीवतिक्ति बी$_{१२}$ (Vit : B_{12}) मा. ग्रा. ३–५ त्रि. प्र. दि. मुख से अथवा मा. ग्रा. १०–१५ अधस्त्वक् (S. C.) मार्ग से प्र. दि. देने से लाभ होता है। फोलिक अम्ल (Folic acid) मि. ग्रा. १५ पेशीमार्ग (I. M.) से अथवा शुद्ध यकृत सत्व (Refined liver ext:) १२ यू. एस. पी. पेशीमार्ग (I. M.) से देने से भी लाभ होता है।

(५) **शैशवावस्था की** परमवर्णिक, बृहदन्यष्ठीलीय, स्थूल कायाण्विक (Hyperchromic,macrocytic,megaloblastic) रक्ताल्पता:—

परिचय :—शैशवावस्था मे भी दानों प्रकार की रक्ताल्पतायें परम वर्णिक (Hyperchromic) तथा उपवर्णिक (Hypochromic)

रक्ताल्पतायें मिलती हैं। **उपवर्णिक** (Hypochromic) में लौह का प्रयोग करना चाहिए। **परमवर्णिक** (Hyperchromic) रक्ताल्पता में जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C :) के साथ फोलिक अम्ल (Folic acid) मि. ग्रा. १-२ मुख से त्रि. प्र. दि. देने से लाभ होता है। **शुद्ध यकृत सत्व** (Refined liver ext :) तथा जीवतिक्ति बी$_{12}$ (Vit : B_{12}) के साथ जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C) देने से लाभ हो सकता है इन औषधियों को पृथक पृथक देने से लाभ नहीं होता। शिशु को केवल दुग्ध देने से जीवतिक्ति 'सी' तथा फोलिक एसिड की कमी होती है।

(६) **अविनेय रक्ताल्पता,** परमवर्णिक बृहदन्यष्ठीलीय (Refractory hyperchromic, macrocytic, megaloblastic) स्थूल कायाणिवक रक्ताल्पता :—

यह रोग विरल है। इसमें **फोलिक अम्ल** (Folic acid) मि. ग्रा. ३-५ त्रि प्र. दि. मुख से देना चाहिये। जीवतिक्ति बी$_{12}$ (Vit : B_{12}) तथा शुद्ध (Refined) यकृत सत्व प्रभावहीन है। इन औषधियों के साथ अत्यधिक मात्रा में जीवतिक्ति 'सी' देने से लाभ हो सकता है।

(७) **स्फीत कृमि** (Tape-worm) :—इसमें परमवर्णिक, बृहदन्यष्ठीलीय, स्थूलकायाणिवक (Hyperchromic, macrocytic, megaloblastic) प्रकार की रक्ताल्पता होती है।

इसकी **चिकित्सा** में सर्वप्रथम कृमि को शरीर से निकालना चाहिये। रक्ताल्पता पर जीवतिक्ति बी$_{12}$ (Vit : B_{12}) तथा फोलिक अम्ल (Folic acid) दोनों का प्रभाव उत्तम है। फोलिक अम्ल मि. ग्रा. ३-५ त्रि. प्र. दि. मुख से अथवा जीवतिक्ति बी$_{12}$ मा. ग्रा. १० अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से प्र. दि. देना चाहिये।

(८) **पचन-संस्थान जन्य रक्ताल्पता :—**

इसमें परमवर्णिक, स्थूलकायाणिवक, बृहदन्यष्ठीलीय (Hyper chromic, macrocytic, megaloblastic) रक्ताल्पता होती है। इसके निम्न कारण हैं :—

(च) **आन्त्र में नाड़ीव्रण** (Fistula) आदि रहने पर शल्यकर्म (Op) करना चाहिये तथा औरियोमाइसीन (Au) मि. ग्रा. २५०-५०० त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। **फोलिक अम्ल** (Folic acid) मि. ग्रा. ३-५ त्रि. प्र. दि. देने से लाभ होता है।

(छ) **आमाशय** (St) का अधिक भाग यदि काट कर निकाल दिया गया हो तब जीवतिक्ति बी$_{12}$ (Vit : B$_{12}$) अत्यधिक मात्रा में देना चाहिये ।

(ख) ऋजुन्यष्ठीलीय (Normoblastic) रक्ताल्पतायें :—

(१) प्रशीताद (Scurvy) :—

इस रोग में रक्ताल्पता **प्रायः** परमवर्णिक **ऋजुन्यष्ठीलीय** स्थूल कायाणिवक (Hyperchromic, macrocytic, normoblastic) प्रकार की होती है परन्तु कभी कभी यह परमवर्णिक, बृहदन्यष्ठीलीय स्थूलकायाणिवक (Hyperchromic, macrocytic, megalobastic) प्रकार की भी हो सकती है । दोनों ही अवस्था में अत्यधिक मात्रा में **जीवतिक्ति 'सी'** (Vit: C) देने से लाभ होता है । जीवतिक्ति 'सी' मि. ग्रा. २०० त्रि. प्र. दि. मुख से अथवा मि. ग्रा. ५०० पेशीमार्ग (I.M.) से देना चाहिये ।

(आ) अपचयिक (Aplastic) रक्ताल्पता :—

परिचय :—इस रोग में ज्ञात अथवा अज्ञात विष के प्रभाव से अस्थिमज्जा (Bonemarrow) में विकृति होती है और रक्त के निर्माण का कार्य स्थगित हो जाता है । परिणामस्वरूप रक्ताल्पता होती है । यह रोग विरल है तथा प्रायः तीव्र होता है । कभी-कभी चिरकालीन भी हो सकता है । रक्ताल्पता अत्यन्त वर्धनशील होती है तथा रक्ताल्पता की औषधियाँ प्रायः प्रभावहीन होती है । विष का इतिहास मिल सकता है । अस्थिमज्जा का अपजनन (Degeneration) होता है । **रक्त के परिवर्तन** तालिका में देखिये । यह रक्ताल्पता प्रायः ऋजुवर्णिक (Normochromic) तथा ऋजुकायाणिवक (Normocytic) होती है ।

चिकित्सा :—विष का पता चलने पर उसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिये । स्वर्ण अथवा संखिया (As) की विषमयता रहनेपर उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये । रक्ताल्पता की साधारण चिकित्सा करनी चाहिये । रक्ताल्पता की औषधियाँ प्रभावहीन है । अनेक काल पर्यन्त चिकित्सा करनी पड़ती है । रक्तप्रदान (Blood trans:) अथवा लाल रक्तकण प्रदान (RBC-trans:) से लाभ हो सकता है । इनका आ० अ० प्रयोग करें ।

श्वेतमयता (Leukaemia)

परिचय :—इस अज्ञात कारण जन्य रोग में श्वेतकणों (W.B.C.)

की संख्या मे वृद्धि (Leucocytosis), रक्ताल्पता (Anaemia) तथा प्रायः प्लीहा की वृद्धि होती है। रक्त में अपरिपक्व (Immature) श्वेतकण मिलते हैं। कभी-कभी श्वेतकणों की संख्या प्राकृत रहती है। रोगी की मृत्यु निश्चित है। चिकित्सा द्वारा लक्षणों मे कमी करने का प्रयत्न किया जाता है। रोग तीव्र अथवा चिरकालीन होता है। तीव्र अवस्था मे प्रायः दो मास के अन्दर तथा चिरकालीन मे ३ वर्ष के अन्दर रोगी की मृत्यु हो जाती है। रक्ताल्पता प्रायः ऋजुन्यष्ठीलीय (Normocytic) प्रकार की होती है।

निदान :—(१) तीव्र अवस्था मे श्वेतकणों की संख्या १५,०००—३०,००० प्र० घ० मि० मी० तक मिलती है। रक्त मे श्वेतकणों की प्राथमिक कोषायें (Blast cells) मिलती हैं। इन कोषाओं को देखकर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि श्वेतमयता किस प्रकार की है, इस लिये तीव्र श्वेतमयता का वर्गीकरण भिन्न भिन्न प्रकार मे नहीं किया जा सकता। प्रत्येक प्रकार के श्वेतकण का पूर्वरूप (Mast cell) एक ही प्रकार का होता है। **अस्थिमज्जा** (Bonemarrow) मे श्वेतमयी प्राथमिक कोषायें (Leukaemic blast cells) मिलती हैं। यकृत, प्लीहा, तथा लसग्रन्थियों (Lymph-glands) की वृद्धि अनिश्चित है। रक्त चक्रिकाओं (Platelets) की संख्या मे कमी होती है।

(२) **चिरकालीन मज्जाभ** (Myeloid) **श्वेतमयता** मे श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या २५००० से ५ ल० प्र० घ० मि० मी० तक हो सकती है। **रक्त** मे तथा **अस्थिमज्जा** मे मज्जाकायाणु (Myelo cytes) तथा न्यष्ठीलीय मज्जाकायाणुओं (Myeloblasts) की प्रधानता रहती है। यकृत की सामान्य तथा प्लीहा की अत्यधिक वृद्धि होती है। लसग्रंथियों (Lymph glands) की वृद्धि अनिश्चित है। रक्तचक्रिकाओं (Platelets) की वृद्धि होती है। ध्वजहर्ष (Priapism) होता है।

(३) **चिरकालीन लसात्मक** (Lymphatic) श्वेतमयता मे श्वेतकणों (W B. C.) की संख्या २५,००० से १ ल० प्र० घ० मि० मी० तक हो जाती है। रक्त तथा अस्थिमज्जा (Bonemarrow) मे न्यष्ठीलीय लसकायाणु (Lymphoblasts) की प्रधानता रहती है। प्लीहा तथा लसग्रथियों की सामान्य वृद्धि होती है। यकृत स्पर्शलभ्य होता है। रक्त-चक्रिकाओं (Platelets) की संख्या मे कमी होती है।

(४) चिरकालीन एकन्यष्ठिलीय (Monocytic) श्वेतमयता मे श्वेतकणों की संख्या २०,००० से १ ल० प्र० घ० मि० मी तक होती है। **रक्त तथा मज्जा** मे एक न्यष्ठिलीय प्राथमिक कोषाओं (Monocytic-blast cells) की प्रधानता रहती है। यकृत, प्लीहा तथा लसग्रंथियो की वृद्धि अनिश्चित है। रक्त चक्रिकाओं (Platelets) की संख्या मे कमी होती है।

(५) अश्वेतमय (Aleukaemic) **श्वेतमयता :**—इसमे श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या प्राकृत अथवा उससे कम रहती है। रक्त मे अपरिपक्व श्वेतकण (Immatur WBC) नहीं मिलते। ये कोषायें मज्जा मे मिलती है।

नोट :—श्वेतमयता के निदान मे श्वेतकणों की संख्या की अपेक्षा अपरिपक्व (Immature) श्वेतकणों की प्रधानता का अधिक महत्व है।

चिकित्सा :—श्वेतमयता मे लक्षणों का शमन करने का प्रयत्न करना चाहिये। केवल श्वेतकणों (W. B. C.) की सख्या कम करना पर्याप्त नही है। रक्तस्राव (पृ०१७४) तथा रक्ताल्पता (पृ०६४५) की उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। आ० अ० रक्तप्रदान (Blood trans:) कर सकते है। चिकित्सा के कारण श्वेतकणों की सख्या मे अत्यधिक कमी हो सकती है। इसकी उपयुक्त (पृ०२३१) चिकित्सा करनी चाहिये। तीव्र तथा चिरकालीन श्वेतमयता की चिकित्सा पृथक-पृथक है।

(१) तीव्र श्वेतमयता (Acute leukaemia) **:**—इस अवस्था मे फोलिक अम्लविरोधी (Folic acid antagonists) औषधियों, कौरटीसोन (Cortisone) तथा नाइट्रोजन मस्टर्ड (Nitrogen mustard) प्रयोग किये जाते हैं। फौसफोरस (Ph_{32}) तथा क्ष-किरण (X ray) से हानी होने की सम्भावना रहती है।

(क) **अमीनोप्टरीन** (Aminopterin) **:**—फोलिक एसिड विरोधी औषधिया मे प्रायः इसी का प्रयोग किया जाता है। यह औषधि भी विषाक्त है तथा विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होने पर इसका प्रयोग स्थगित कर देना चाहिये। वयस्क की अपेक्षा बालकों मे अधिक लाभ होने की सम्भावना रहती है। इसका प्रभाव भी क्षणिक होता है। केवल १५ प्र. श. रोगियों मे ही इस क्षणिक लाभ की सम्भावना रहती है।

इसकी **विषाक्तता** के कारण जी मिचलाना, क्षुधानाश, वमन, रक्तस्राव (Bleeding), निलोहा (Purpura) मुखशोथ (Stomatitis)

पतले दस्त तथा सिर के बाल गिरना (Alopecia) आदि लक्षण होते हैं। इस औषधि द्वारा चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या के लिये बार बार परीक्षा करते रहना चाहिये जिससे इनकी सख्या, औपधि के कारण प्राकृत संख्या से कम न हो सके। विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये तथा औपधि का प्रभाव नष्ट करने के लिये फोलिक अम्ल (Folic acid) मुख अथवा पेशी मार्ग (I. M.) से प्रयोग करना चाहिये। श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्ता बढ़ाने के लिये तथा उपसर्ग रोकने के लिये पेनिसिलीन (P.) देना चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) के लिये रक्तप्रदान (Blood trans) आ. अ. करना चाहिये।

फोलिक एसिड विरोधी (Folic acid antagonists)

औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
अमीनो एनफोल (Amino-an-fol)	मुख या पेशी	मि. ग्रा. २५–७५ प्र. दि.
ए–मेथोप्टेरिन (A-methopterin)	पेशी या मुख	बाल्यावस्था :–मि. ग्रा. ५ प्र. दि. युवा मि. ग्रा. १०–१५ प्र. दि.
अमीनोप्टेरिन (Aminopterin)	,,	बाल्यावस्था मि. ग्रा. ¼–१ प्र. दि युवा–मि. ग्रा. ½–४ प्र. दि. जीवन पर्यन्त — मि. ग्रा. ¼–१ प्र. दि.
ए-नीनोप्टेरिन (A-ninopterin)	मुख ,,	युवा–मि. ग्रा. ५–२५ प्र. दि. जीवन पर्यन्त— मि. ग्रा. ५–१० प्र. दि.

विधि :—प्रारम्भ में एमिनौप्टरीन मि. ग्रा. ½–४ प्र. दि. मुख अथवा पेशी (I. M.) द्वारा देना चाहिये। प्रारम्भ मे अल्प मात्रा मे औषधि देना चाहिये तत्पश्चात औषधि की मात्रा शनैःशनैः तब तक बढ़ाना चाहिये जब तक

रोगी को लाभ न हो अथवा विषाक्तताके लक्षण उत्पन्न न हों। **बाल्यावस्था** में मि. ग्रा. ½–१ मुख अथवा पेशी द्वारा प्र. दि. देना चाहिये। औषधि से लाभ प्रतीत होने पर इसकी **स्थायी मात्रा** जीवनपर्यन्त देना चाहिये। इसके लिये ½–१ मि.ग्रा. मुख या पेशी द्वारा प्र. दि. अथवा प्र.दू.दि. देना चाहिये।

(ख) कौरटीसोन तथा एसीटीएच (Cortisone, ACTH):—इन औषधियों से प्रायः ४०–५० प्र. श. रोगियों मे अस्थायी लाभ होता है। कौरटीसोन प्रथम दिन मि.ग्रा. १०० त्रि.प्र. दि, द्वितीय दिन ६०–७० मि.ग्रा. त्रि.प्र.दि.तत्पश्चात एक सप्ताह पर्यन्त २५–३० मि.ग्रा.त्रि.प्र.दि. देना चाहिये।

(ग) नाइट्रोजेन मस्टर्ड (NH_2) :–इस औषधि से भी अस्थायी लाभ होता है। इसके प्रयोग की विधि चिरकालीन श्वेतमयता की चिकित्सा में देखिये।

(२) चिरकालीन श्वेतमयता (Chro: leukaemia) :—इस अवस्था मे केवल चिरमज्जाभ (Myeloid) श्वेतमयता मे अस्थायी लाभ हो सकता है। अन्य प्रकार की चिरकालीन श्वेतमयता मे लाभ होने की सभावना अत्यल्प रहती है। चिरकालीन अवस्था मे श्वेतमयता के कारण प्लीहा, लस-ग्रंथि (Lymph glands) आदि की वृद्धि के परिणामस्वरूप अन्य अवयवों पर दबाव पड़ता है। इस दबाव को कम करने के लिए क्ष-किरण (X ray) फौसफोरस (Ph^{32}), सखिया (As) के योग, यूरीथेन (Urethane), नाइट्रोजन मस्टर्ड (NH_2) आदि का प्रयोग किया जाता है। रक्तस्राव (Bleeding) की प्रवृत्ति कम करने के लिए रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये। टोलीडीनब्लू (Toluidine blue) का प्रयोग प्रायोगिक अवस्था में है। रक्ताल्पता (Anaemia) के लिये लौह (Fe)के योग, रक्तप्रदान (Blood trans:) आदि किया जाता है। परिणाम निराशाजनक है। रक्तकण के **शाघ्रता से नष्ट** (Hemolytic crisis) होने पर रक्तप्रदान, रक्तरस (Plasma) आदि सिरामार्ग (I.V.) से देना चाहिये। **स्तब्धता** (Shock) की उपयुक्त (पृ. २३८) चिकित्सा करनी चाहिये। स्तब्धता ठीक होने के पश्चात प्लीहा को निकाल देना (Splenectomy) चाहिये। मुख शोथ, (Stomatitis), अस्थियों मे पीडा, पतले दस्त, खुजली आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि चिरकालीन अवस्था की चिकित्सा प्रधानतः लक्षणों के लिये की जाती है। रोग की चिकित्सा निराशाप्रद है। शल्य चिकित्सा (Surg-

ery) द्वारा वृद्धित लसग्रंथियो (Lymph glands) को निकालने का प्रयत्न करना हानिकर होता है ।

(क) **चिरकालीन मज्जाभ** (Myeloid or myelogenous) श्वेतमयता की चिकित्सा :—(१) क्ष किरण (X ray) :—चिकित्सा की भिन्न भिन्न विधियो मे यह सर्वोत्तम है । यह दो प्रकार से प्रयोग की जाती है । यह किरण सर्वाङ्ग शरीर पर अथवा केवल वृद्धित प्लीहा पर लगाई जा सकती हैं। दोनों विधियों की उपयोगिता मे मतभेद है । प्रायः प्रथम विधि अधिक लाभप्रद मानी जाती है । चिकित्सा की सपूर्ण अवधि पर्यन्त अनेक बार रक्त परीक्षा करनी चाहिये । श्वेतकणों की सख्या (W. B. C.) २०–२५००० प्र.घ. मि. मी. होने पर चिकित्सा स्थगित कर देनी चाहिये । **द्वितीय विधि** से केवल प्लीहा पर प्र.दि.एक सप्ताह पर्यन्त क्ष-किरण लगाना चाहिये । कभी-कभी मिचली पतले दस्त, वमन, भूख न लगना आदि लक्षण होते हैं । इस अवस्था मे क्ष किरण चिकित्सा स्थगित कर सिरामार्ग (I. V.) से पाइरीडोक्सीन ($Vit:B_6$) मी० ग्रा० १००–२०० प्र० दि० देने से लाभ होता है । ये लक्षण ठीक होने पर पुनः चिकित्सा प्रारम्भ कर सकते हैं ।

(२) **रेडियो एक्टिव फोस्फोरस** (Radioactive phosphorus Ph_{32} sodium phosphate) :—यह औषधि शरीर मे प्रवेश कर वही कार्य (Radiation) करती है जो क्ष-किरण (X-ray) शरीर के बाहर से करती है । इसका सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव पड़ता है और मिचली, वमन आदि रश्मि-रोग (Radiation sickness) के लक्षण नहीं होते, परन्तु कभी-कभी यह प्रभावहीन हो जाती है, तब इसके प्रयोग से लाभ नहीं होता । इस औषधि को सिरामार्ग (I. V.) से १–२ मि० क्यू० (Millicuries) की मात्रा मे ए० या द्वि० प्र० स० देना चाहिये । श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या २५–३०,००० प्र० घ० मि० मी० हो जाने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये ।

(३) **यूरीथेन** (Urethane ethyl carbonate) :—यह औषधि क्ष-किरण (X-ray) चिकित्सा से कम प्रभावशाली है । इसका प्रयोग क्ष किरण चिकित्सा के साथ करना चाहिये । रक्त परीक्षा बरावर करते रहना चाहिये । इससे प्रायः ५० प्र० श० रोगियो को २–६ सप्ताह मे लाभ होता है । औषधि विषाक्त है । मिचली, वमन आदि लक्षण होने पर औषधि बन्द कर

देना चाहिये। इन लक्षणों के शान्त होने पर कुछ समय पश्चात् अल्प मात्रा में पुनः औषधि प्रारम्भ करना चाहिये। इसको मुख द्वारा ग्रे० ७–३० त्रि० प्र० दि० देते हैं। श्वेतकणो (W. B. C.) की संख्या १०,०००–१५,००० प्र० घ० मि० मी० हो जानेपर औषधि की मात्रा कम कर ग्रे० २–७ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये।

(४) **नाइट्रोजन मस्टर्ड** (Nitrogen mustard NH_2) :—यह औषधि सिरामार्ग (I. V.) से प्रयोग की जाती है। इसका प्रयोग प्रायः हौजकिन (Hodgkin's) के रोग में किया जाता है। इसकी मात्रा तथा विधि हौजकिन के रोग मे देखिये।

(५) **संखिया के योग** (Pot:arsenite, Fowler s solution, liq:arsenicalis):—उपर्युक्त औषधियाँ उपलब्ध न होने पर अथवा प्रयोग न की जा सकने पर संखिया के योग प्रयोग करना चाहिये। औषधि विषाक्त है तथा हानि हो सकती है। इसके प्रयोग करने की दो विधियाँ है :—

१—**प्रथम विधि** :—ला० आरसेनिकैलिस (Liq. arsenicalis), मि० २ त्रि० प्र० दि० भो० प० प्रारम्भ कर मि० ८ तक त्रि० प्र० दि० भो०प० देना चाहिये। पूर्ण मात्रा पर पहुँच कर एक सप्ताह औषधि बन्द रखना चाहिये। तत्पश्चात् अल्प मात्रा मे औषधि पुनः प्रारम्भ करना चाहिये।

२—**द्वितीय विधि** :—इस विधि से प्रथम दो दिन औषधि मि० ५ त्रि० प्र० दि० दी जाती है। **तत्पश्चात्** मि० १ प्र० दू० दि० औषधि की मात्रा बढ़ा कर मि० १० त्रि०प्र० दि० तक देना चाहिये। **तदुपरान्त** मि० १ प्र० दि० औषधि की मात्रा बढ़ाना चाहिये। श्वेत कणो (W. B. C.) की संख्या १०,००० प्र० घ० मि० मी० होने पर अथवा विषाक्तता के लक्षण होने पर औषधि ४–५ दिन बन्द कर पुनः उसी मात्रा से प्रारम्भ करना चाहिये जो मात्रा औषधि स्थगित करते समय दी जाती थी। अब प्र० दि० मि० १ कम कर औषधि का क्रम चलाना चाहिये। औषधि की मात्रा मि. ६ त्रि.प्र.दि. आने पर यही मात्रा **जीवनपर्यन्त** देना चाहिये। विषाक्तता के लक्षण तथा श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या ध्यान मे रखना आवश्यक है।

(ख) **चिरकालीन लसात्मक (Lymphatic) श्वेतमयता** :—इसके लिये **क्ष-किरण** (X-ray) चिकित्सा ही सर्वोत्तम है। नाइट्रोजन मस्टर्ड (NH_2), रेडियो एक्टिव फौसफोरस (PH_{32}) आदि सब क्ष-किरण

से कम लाभदायक है। किसी कारण से क्ष-किरण द्वारा चिकित्सा यदि सम्भव न हो तब इन औषधियों का प्रयोग कर सकते हैं। क्ष-किरण का प्रयोग प्र० दि० सर्वाङ्ग शरीर पर अथवा विकृत स्थान तथा प्लीहा आदि पर करना चाहिये। श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या ३०–३५००० प्र. घ. मि. मी. हो जाने पर चिकित्सा स्थगित कर देना चाहिये। ट्राइएथिलीन मेलामीन (Tri ethylene-melamine TEM) प्रायोगिक अवस्था में है। यह औषधि ग्रे. ७½ प्र.दू.द. देना चाहिये। ३–४ इन्जेक्शन देने के पश्चात् ए.प्र.स. दें। आर्गाडीन (यो० ६७) मि. ५–१० त्रि.फ.दि.दे सकते हैं। परिणाम अनिश्चित है।

(ग) **चिरकालीन** एककायाणविक (Monocytic) **श्वेतमयता** की चिकित्सा निराशाजनक है। क्ष-किरण (X-ray) तथा नाइट्रो जनमस्टर्ड (NH_2) इस रोग में प्रायोगिक अवस्था मे हैं।

श्वेतमयता की अन्य औषधियाँ :—बेनजोल (Benzol) अत्यंत विपाक्त है। इसके प्रयोग से अपचयिक रक्ताल्पता (Aplastic anaemia) हो सकती। इस औषधि का मि. ५ जैतून के तेल (Ol. olive) मि. ५ के साथ कैपस्यूल में रखकर कै.१–४ त्रि.प्र.दि.दे सकते हैं। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढाना चाहिये। रक्ताल्पता (Anaemia) अधिक होने पर अथवा श्वेतकणो (W.B.C.) की संख्या २०–२५,००० प्र. घ. मि. मी. होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। तेजोद्गर स्वर्ण (Radioactive gold), कौरटीसोन (Cortisone), एसीटीएच (ACTH) आदि प्रायोगिक अवस्था मे हैं।

चिरकालीन घातक (Malignant) रोगों की औषधियां

निम्न औषधियां कर्कटार्बुद (Cancer), मांसार्बुद (Sarcoma), चिरकालीन श्वेतमयता (Leukaemia), हाजकीन के रोग (Hodgkin's disease) तथा बहुलाल-कायाणुमयता (Polycythemia) मे प्रयोग की जाती है। ये औषधियाँ प्रायोगिक (तालिका देखिये) अवस्था मे है।

*होजकिन (Hodgkin's disease) का रोग।

परिचय :—यह अज्ञात कारण जन्य वर्धनशील मारक रोग प्रायः लसधातु (Lymphatic tissue) मे विकृति करता है। इसको जालकान्तस्तरीय-संस्थान (Reticulo endothilial system) का रोग माना जाता है। लस ग्रन्थियो के अतिरिक्त यह शरीर के किसी भी धातु (Tissue) में विकृति कर सकता है। तीन वर्ष के अन्दर प्रायः रोगी की मृत्यु हो जाती है।

निदान:—प्लीहा, लसग्रन्थि (Lymph glands) आदि की वृद्धि के साथ साथ ज्वर, रक्ताल्पता (Anaemia), दौर्बल्य, भार मे कमी आदि लक्षण होते हैं । कशेरुक (Vertebra) मे विकृति होने पर यक्ष्मा (Pott's disease) का भ्रम हो सकता है । रक्तपरीक्षा मे श्वेतकणो की संख्या प्राय: २५,००० प्र.घ. मि. मी. से कम होती है । लस कायाणुओ (Lympho) की प्रधानता रहती है । कभी कभी उग्रसिप्रिय (Eo) की वृद्धि होती है ।

चिरकालीन घातक रोगों की औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
यूराथेन (Urithane)	मुख	ग्रे. २–३० त्रि.प्र.दि. जीवनपर्यन्त । एकमास पश्चात औषधि की मात्रा कम कर देना चाहिये ।
नाइट्रोजन मस्टर्ड (NH_2 mustine.methylbis, H. N. Z)	सिरा	५ मि. ग्रा. औषधि २० सी. सी. समबल लवण जल (N. Saline) मे मिलाकर ए.प्र. दि. चार दिन तक प्रयोग करें ।
फेनिल हाइड्रेजीन हाइड्रो-क्लोर (Phenyl hydrazine hydro :)	मुख	मि. ग्रा. ५० त्रि.प्र.दि. । यह औषधि विशेषकर बहुलाल कायाणुमयता में प्रयोग की जाती है ।
ट्राइएथीलिन मेलामीन (Triethylene melamine TEM)	,,	प्रथम सप्ताह मि. ग्रा. १·५ प्र. दि. तत्पश्चात् चार सप्ताह तक मि. ग्रा. ०·७ प्र. दि. तदुपरान्त जीवनपर्यन्त ०·१६–१ मि. ग्रा. प्र. दि.
	सिरा	प्रथम सप्ताह मि. ग्रा. ३ प्र. बा. कर तीन बार तत्पश्चात् १ बार प्र. स.
रेडियोएक्टिव फास्फोरस (Radioactive phosphorus PH_{32})	,,	१–२ मिलीक्यूरी (Millicuries) ए. या द्वि. प्र. स.

चिकित्सा (क) साधारण :—नियमित रूप से विश्राम, व्यायाम तथा

पौष्टिक आहार देना चाहिये। चिकित्सा से केवल लक्षणों की उग्रता में कमी की जा सकती है। मृत्यु निश्चित है। रक्ताल्पता (Anaemia) के लिये लौह (Fe), रक्तप्रदान (Blood trans :) आदि प्रयोग करना चाहिये।

(ख) **शल्यकर्म** (Op) :—रोग के प्रारम्भ में केवल एक ही स्थान की लसग्रन्थियों (Lymph glands) में विकृति रहने पर शल्यकर्म द्वारा विकृत ग्रंथि निकाली जा सकता है, परन्तु इस विषय में मतभेद है। विकृति अधिक व्यापक हो जाने पर शल्य चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

(ग) **क्ष-किरण** (X ray) :—इस चिकित्सा से रोगी का कष्ट कम किया जा सकता है परन्तु मृत्यु टाली नहीं जा सकती। इससे वृद्धित लस-ग्रंथि (Gland) का आकार छोटा हो जाता हैं। इससे प्रारम्भिक अवस्था में अधिक लाभ होने की सम्भावना रहती है। अनेक स्थानों में विकृति हो जाने पर औषधि द्वारा चिकित्सा क्ष किरण की अपेक्षा अधिक लाभप्रद है। क्ष-किरण केवल विकृत स्थान पर अथवा सर्वाङ्ग शरीर पर लगाई जा सकती है। कुछ समय इसके प्रयोग करने के पश्चात यह प्रभावहीन हो जाती है।

(घ) **नाइट्रोजन मस्टर्ड** (Nh_2) :—इससे लाभ होता है परन्तु रोग निवृत्ति नहीं होती। औषधि का प्रभाव ६ मास तक रह सकता है तत्पश्चात् औषधि को पुनः प्रयोग करना पड़ता है। औषधि विषाक्त होने के कारण यकृत में विकृति रहने पर प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसकी **विषाक्तता** के कारण इन्जेक्शनके दो घण्टे के अन्दर मिचली, वमन आदि लक्षण होते हैं। तीन सप्ताह पश्चात् रक्त में पूर्वघनास्रि (Prothrombin) की कमी, निलोहा (Purpura) आदि उपद्रव हो सकते हैं। श्वेतकणो (W.B.C.) की सख्या अत्यन्त कम हो जा सकती है। इसके प्रयोग से ज्वर, पीड़ा, खुजली आदि में कमी हो जाती है। कुछ समय प्रयोग करने के पश्चात् औषधि प्रभाव-हीन हो सकती है। इस औषधि के साथ क्ष-किरण चिकित्सा भी चलनी चाहिये।

मात्रा :—औषधि सिरामार्ग (I. V.) से दी जाती है। मि. ग्रा. ५ प्र. दि. कर चार दिन देना चाहिये। तीन सप्ताह पश्चात् श्वेतकणो (WBC) की सख्या यदि ३–४००० प्र. घ. मि. मी. हो जाय तब औषधि स्थगित कर देना चाहिये अन्यथा मि. ग्रा. १० एक बार पुनः सिरामार्ग (I. V.) से दें। ६ मास पश्चात् पुनः रक्तपरीक्षा करनी चाहिये। यदि श्वेतकणों (W.B.C.) की संख्या में वृद्धि हुई हो तब पूर्व क्रमके अनुसार पुनः औषधि देना चाहिये। औषधि प्रायोगिक अवस्था मे है।

(ङ) **ट्राइएथिलीन मेलामाइन** (TEM):—यह **मुख** द्वारा प्रयोग की जाती है इसलिये इसके पचने में गड़बड़ी हो सकती है। इसका प्रयोग अनेक काल पर्यन्त कर सकते हैं। मिचली, वमन आदि लक्षण नहीं होते। औषधि प्रातःकाल खाली पेट देना चाहिये तथा औषधि देने के १–२ घण्टा पश्चात् भोजन दे सकते हैं।

मात्रा :—प्रथम दो दिन प्रातःकाल एक बार प्र. दि. मि. ग्रा. ५ देकर एक सप्ताह पश्चात् रक्त परीक्षा करनी चाहिये। जब तक श्वेतकणों की संख्या ३–४००० प्र० घ० मि० मी० न हो जाय औषधि मि० ग्रा० १० ए० प्र० स० देना चाहिये।

(च) **कौरटीसोन** (Cortisone) ५० मि० ग्रा० २–६ बार प्र० दि० मुख से अथवा ए० **सी० टी० एच** (ACTH) पेशीमार्ग (I. M.) से २५ मि० ग्रा० ३–४ बार प्र० दि० दे सकते हैं। औषधि प्रायोगिक अवस्था में है तथा अन्य औषधि प्रयोग करना यदि सम्भव न हो तब इसको दे सकते हैं विशेष कर जब विकृती व्यापक हो जाती है।

(छ) **संखिया** (As) का प्रयोग चिरकालीन श्वेतमयता (Chro: leukaemia) के समान है।

नवम अध्याय

रक्त वह संस्थान के रोग

हृद्रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त

हृदय की परीक्षा करने पर मर्मर ध्वनि (Murmur) का मिलना सर्वदा रोग की गम्भीरता का द्योतक नहीं है। गम्भीर अवस्था में अत्यन्त अस्पष्ट तथा साधारण अवस्था में अत्यन्त स्पष्ट मर्मर मिल सकती है। इसलिये रोगी की परीक्षा करने पर यदि मर्मर मिले तब रोगी को बताने से कोई लाभ नहीं है। इससे रोगी को चिन्ता होती है और हृद्रोग में रोगी को सान्त्वना देना, उसका धैर्य बढ़ाना तथा उसको उत्साहित करना नितान्त आवश्यक है। हृद्रोग की चिकित्सा में रोगी का सहयोग नितान्त आवश्यक है। यह अनिवार्य नहीं है कि हृदय में विकृति रहने पर अवश्य ही रोगी अल्पायु हो। हृदय एक ऐसा अवयव है जिसमें शक्ति संचय करने की क्षमता होती है और जब उसको अधिक परिश्रम करना पड़ता है तब हृदय की पेशियों की परमपुष्टि (Hypertrophy) होती है। अन्त में जब इससे भी कार्य नहीं चलता और हृदय को अपनी शक्ति से अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है तब हृदयातिपात (Ht-failure) के लक्षण होते हैं। इसलिये रोगी को यदि अपने हृदय की शक्ति का ज्ञान हो और वह अपनी दिनचर्या इस प्रकार निर्धारित करें तथा नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करे जिससे हृदय को अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना न पड़े तब रोगी का दीर्घायु होना असम्भव नहीं है। इसलिये रोगी का भविष्य चिकित्सा की अपेक्षा रोगी के सहयोग पर अधिक निर्भर करता है।

हृदय की शक्ति का ज्ञान लक्षणों की उत्पत्ति से किया जाता है। **श्वास-कृच्छ्र** (Dyspnoea), हृदय में **पीड़ा** तथा शरीर के भिन्न भागों में विशेषकर फुफ्फुस तथा यकृत में रक्ताधिक्य (Congestion) होने का विशेष महत्त्व है। इन्हीं लक्षणों से हृदय की शक्ति का ज्ञान होता है। रोगी को यह पता लग जाने पर कि कितना परिश्रम करने पर ये लक्षण उत्पन्न होते हैं उसको सर्वदा उतना ही परिश्रम करना चाहिये जिससे ये लक्षण उत्पन्न न हों। इससे अधिक परिश्रम करना हानिप्रद है। इस सिद्धान्त के अनुसार हृद्रोग के प्रत्येक रोगी को जीवन पर्यन्त शैय्या पर विश्राम

करना आवश्यक नही है। रोगी को यह समझना चाहिये कि उसका हृदय प्राकृत नहीं है तथा उसकी कार्य करने की शक्ति सीमित हो गई है, इसलिये रोगी को उतना ही परिश्रम करना चाहिये जितना कि हृदय सहन कर सके। हृद्रोग के रोगी को स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा अधिक विश्राम तथा कम परिश्रम करना चाहिये। प्र. दि. भो. प. विश्राम करना चाहिये। सप्ताह मे एक दिन शैय्या पर पूर्ण विश्राम करें। नियमित समय पर दिन मे अनेक बार अल्पमात्रा में भोजन करे। मद्यपान, तमाखू आदि का प्रयोग नही करना चाहिये। निर्धारित समय पर प्र. दि. रात्रि मे शैय्या पर लेट जाना चाहिये। रात मे जागना ठीक नहीं है। रात्रि मे ८ घण्टा सोना आवश्यक है। विश्राम के अतिरिक्त निद्रा का विशेष महत्व है। निद्रा के समय हृदय को कम कार्य करना पड़ता है, शक्ति का संचय होता है तथा हृदय को विश्राम मिलता है। हृद्रोग मे रोग की अपेक्षा लक्षणों की चिकित्सा की जाती है। यदि किसी रोगी को अपने हृदय की गति की अनियमितता का ज्ञान न हो अथवा उसे यह नहीं मालूम हो कि उसके हृदय मे मर्मर ध्वनि है और वह पूर्णरूप से लक्षणरहित है तब इन चिन्हो की चिकित्सा करना आवश्यक नही है।

हृद्रोग के कारण का पता लगाना आवश्यक है और इन कारणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये जैसे :—शरीर का स्थूल होना, रक्ताल्पता, आमवात (Rheumatism), फिरंग (Syphilis) आदि का उपसर्ग, जीवतिक्ति 'बी,' (Vit : B_1) की कमी, पोषण सम्बन्धि तत्वों का अभाव, अवटुकाग्रन्थि के स्राव की वृद्धि (Hyperthyroidism) आदि। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि आमाशय (St) का हृदय से घनिष्ठ सम्पर्क है। आमाशय मे वायुसंचय होने पर हृदय पर दबाव पड़ता है और हृदय मे विकृति होने का भ्रम होता है। इसलिये रोग का निश्चित निदान जानना आवश्यक है। हृद्रोग मे डिजिटेलिस (Digitalis) आदि जो औषधयाँ प्रयोग की जाती हैं उनका क्या कार्य है तथा वे किस प्रकार के रोग मे लाभ कर सकती हैं यह भी जानना चाहिये।

हृदय की स्थिति जानने के लिये निम्न **परीक्षायें** की जाती है :—

(१) सर्वप्रथम रोगी की **नाड़ी की गति** देखना चाहिये, तत्पश्चात रोगी को १० बार उठने बैठने को कहे। तदुपरान्त रोगी को २ मिनट विश्राम करने के पश्चात पुनः उसकी नाड़ी की गति देखें। स्वस्थावस्था मे २ मिनट

विश्राम करने के पश्चात नाड़ी की गति प्राकृत हो जानी चाहिये। हृदय की विकृति में ३ मिनट विश्राम करने के पश्चात भी नाड़ी की गति परिश्रम करने के पूर्व की गति से तीव्र होती है।

(२) **हृदयदेशना** (Cardiac index) :—प्रथम रोगी का रक्त-निपीड़ (B. P) देखना चाहिये। साकोचिक (Systolic) तथा विस्फारिक (Diastolic) रक्तनिपीड़ के अन्तर को नाड़ीनिपीड़ कहते हैं। **प्राकृत अवस्था में** नाड़ीनिपीड़ को विस्फारिक निपीड़ से विभाजित करने से $\frac{1}{2}$ की संख्या मिलती है। जब यह संख्या $\frac{3}{4}$ से अधिक अथवा $\frac{1}{4}$ से कम होती है तब हृदय की अवस्था **अत्यन्त गम्भीर** समझना चाहिये। $\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ तक तथा $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ तक की मात्रा हृदय की **साधारण गम्भीरता** की द्योतक हैं। हृदय की साधारण गम्भीर अवस्था रहने पर यदि शल्यकर्म (Op :) किया जाय तब चिकित्सा का परिणाम अनिश्चित है। अत्यन्त गम्भीर अवस्था में किसी प्रकार की शल्य चिकित्सा वर्जित है।

उदाहरण :—यदि साकोचिक रक्तनिपीड़ (Systolic B.P.) १२० मि. मि. पा. है तथा विस्फारिक (Diastolic) ८० मि. मि. पा. है तब नाड़ीनिपीड़ (Pulse pressure =४० होता है।

$$\frac{\text{नाड़ीनिपीड़ (Pulse pressure)}}{\text{विस्फारिक (Diastolic B.P.) निपीड}} = \frac{४०}{८०} = \frac{१}{२}$$

(३) **प्रोद्दीपक कसौटी** (Provocative tests) —ये परीक्षायें हृच्छूल (Angina pectoris) के रोगी मे हृत्धमनी (Coronary) की अवस्था जानने के लिये की जाती हैं। इन परीक्षाओं को यदि सावधानी-पूर्वक न किया जाय तब रोगी को हानि हो सकती है। इसलिये परीक्षा करते समय रोगी के हृदय मे **पीड़ा** प्रारम्भ होने पर **तत्काल परीक्षा बन्द** कर देना चाहिये अन्यथा हृत्पेशी का रक्तप्रवाह कम हो जायेगा और हृत्पेशी को पर्याप्त प्राणवायु (O_2) नही मिलेगी। परिणामस्वरूप हृत्पेशी के एक भाग की मृत्यु (Infarct) हो जायगी। इस परीक्षा का **आधार** है कि हृत्पेशी में प्राणवायु (O_2) की कमी की जाती है। यह कमी दो प्रकार से की जा सकती है। (१) रोगी ऐसे वायु मे श्वास ले जिसमे प्राणवायु की कमी हो या (२) रोगी से परिश्रम कराया जाय। परिश्रम के समय हृत्पेशी को अधिक प्राणवायु की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये यदि हृत्धमनी में विकृति होगी

तब हृत्पेशी में पर्याप्त रक्त नहीं पहुँच सकेगा और प्राणवायु में कमी होगी। परिणामस्वरूप हृदय मे पीड़ा होगी। ये परीक्षायें निम्न हैं :—

(क) प्राणवायु (O_2) कम करने की परीक्षा :—रोगी को २० मिनट तक ऐसे वायु मे श्वास लेने को कहा जाता है जिसमे प्राणवायु (O_2) १० प्र. श. तथा नाइट्रोजन (N) ९० प्र. श. रहता है। पीड़ा प्रारम्भ होने पर तत्काल परीक्षा बन्द कर दी जाती है। परीक्षा समाप्त होने पर रोगी की विद्युनहृल्लेख (Ecg :) द्वारा परीक्षा की जाती है।

(ख) परिश्रम सह सकने की शक्ति का ज्ञान :—रोगी को सिढ़ी पर चढ़ने के लिये कहा जाता है। सिढ़ी ६० भागो (Steps) मे विभाजित होनी चाहिये और प्रतिभाग ९ इं० ऊँचा होना चाहिये। संपूर्ण सिढ़ी ३० सेकण्ड में चढना चाहिए। पीड़ा प्रारम्भ होने पर अथवा संपूर्ण सिढ़ी चढ़ जाने पर परीक्षा स्थगित कर रोगी की विद्युनहृल्लेख (Ecg) द्वारा परीक्षा करनी चाहिये।

हृद्रोग के रोगी को शैय्या पर चित्त सोने की अपेक्षा शिर ऊँचा कर सोने मे आराम मिलता है। यदि कोई मनुष्य सिर के नीचे जो प्रायः एक तकिया बराबर लगाता था, उस मनुष्य को यदि सिर के नीचे दो तकिया लगा कर सिर ऊँचा कर सोने मे आराम मिले तब हृदय विकृत होने की संभावना ध्यान मे रखना चाहिये।

हृद्रोग की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

हृदय के रोगी के लिए विशेष कर स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करना चाहिए। शरीर में उत्पन्न अन्य रोगों को दूर करना चाहिये। अहृद्य व ओज-नाशक पदार्थों का सेवन न करे। आघात व परिश्रम का परिहार करे। मानसिक विकार दूर रखने के उपाय, शान्ति, आश्वासन व ज्ञानोपदेश हितकारी हैं।

दोष बलानुसार प्रथम स्नेहन, वमन, विरेचन, एव लंघन करावे। अन्य रोगों का उपसर्ग होने पर तदनुरूप व्यवस्था करनी चाहिये। हृद्रोग आमवात जन्य होने पर गुग्गुल, फिरंगजन्य होने पर मल्लयुक्त औषधियों का प्रयोग करे।

एरण्डमूल क्काथ, यवक्षार युक्त उत्तम प्रयोग हैं। अर्कमूलत्वक्, अर्कक्षीर पुष्कर मूल, अर्जुनत्वक्, बलामूल क्काथ सब हृद्रोगों मे प्रयोग आने वाले मुख्य द्रव्य हैं।

औषधियाँ :—त्रिवृतादि क्काथ, श्रीपर्ण्यादि क्काथ, दशमूल क्वाथ, पुष्कर मूलादि क्वाथ, अर्जुनक्षीर, मुक्तादि चूर्ण, सुरदार्व्यादि चूर्ण, हरीतक्यादि चूर्ण

या कल्क, पुष्करमूलादि चूर्ण या कल्क, अर्जुनत्वक् चूर्ण, पाठादि चूर्ण, बलादि घृत, अर्जुन घृत, गोक्षुरादि घृत, कशेरुकाद्य घृत, अर्जुनारिष्ट, बलारिष्ट, अग्नितुण्डि रस, विश्वेश्वर रस, चिन्तामणि रस, हृदयार्णव रस, कल्याण सुन्दर रस, नागार्जुनाभ्र, प्रभाकर वटी, जवाहर मोहरा, याकूती ।

प्रयोग विधि दृष्टान्त—

(१) हृत्पत्री चूर्ण ३ र.
हृदयार्णव १½ र.
नवायस लौह ३ र.
शृङ्गभस्म ३ र.
मि. ३ मात्रा
अर्कमूलत्वक् व अर्जुनत्वक् चूर्ण व मधु से ।

(२) पुनर्नवामण्डूर १ मा./२ मात्रा
प्रातःसायं पुनर्नवास्वरस व मधु से

(३) राई की पुल्टिस हृदय प्रदेश पर

अथवा

(१) रसायनयोगराजगुग्गुल २व./२मा.
प्रायःसायं उष्णोदक से ।

(२) शृङ्गाराभ्र २ र.
हृदयार्णव ३ र.
यकृदारि लौह ३ र.
यवक्षार ६ र,
मि. ३ मात्रा
अर्कमूलत्वक् व मधु से ।

(३) आरोग्यवर्धिनी २ वटी रात्रि में उष्णोदक से ।

हृदयातिपात (Ht: failure) तथा अन्य हृद्रोग की आयुर्वेदिक औषधियाँ

औषधि	मात्रा	अनुपान
जयमंगल रस	१ गोली	मलाई व दूध से
वसन्त कुसुमाकर	,,	अर्जुनत्वक् क्वाथ से
महालक्ष्मी विलास	,,	,, ,,
योगेन्द्र रस	,,	,, ,,
रसराज रस	,,	ब्राह्मी क्वाथ से
रस सिन्दूर	,,	अर्जुन की छाल का रस व मधु से
संशमनी वटी	,,	प्रातः सायं दूध से
समीरपन्नग रस	½ र.–२र.	पान के रस व मधु से
ताम्र सिन्दूर	१ र.	मधु के साथ
हृदयार्णव	१ र.	अर्जुनचूर्ण व मधु से

हेमगर्भ पोट्टली रस	१ र.	अर्जुन चूर्ण व मधु से
शृंगाराभ्र	१ र.	,,
पन्ना भस्म	½–१ र.	मलाई के साथ
प्रवाल भस्म	१–३ र.	मक्खन व मिश्री मलाई के साथ
वैक्रान्त भस्म	१–४चावल	मलाई के साथ
माणिक्य भस्म	½–१ र.	,,
मुक्ता भस्म	½–२ र.	अर्जुनत्वक् क्वाथ या सेवके मुरब्बे से
स्वर्ण भस्म	½–२ र.	शंखपुष्पी चूर्ण व घी से
अग्नितुण्डि रस	१–२ गोली	गर्म जल या दूध से
बृहत्कस्तूरी भैरव	१ गोली	आर्द्रक रस व मधु से
बृहच्चन्द्रोदय	१ गोली	मधु के साथ चाटकर दूध पीना
चतुर्मुख रस	१ गोली	त्रिफला चूर्ण व मधु से।

हृच्छूल (Angina pectoris)

परिचय :—इस अवस्था मे अकस्मात् उरःफलक (Sternum) के ऊर्ध्व भाग के पीछे (Post :) पीडा होती है। यह पीड़ा हृदयाग्र (Apex) तथा वाम बाहु की अन्तर्मर्यादा से होती हुई सबसे छोटी अंगुलि के अग्र तक जाती है। रोगी को हृदय फटता हुआ या मुट्ठी मे पकड़ कर जोर से दबाया हुआ प्रतीत होता है। परिश्रम, थकावट, रक्ताल्पता (Anaemia), प्रावेगिक-शीघ्रहृदयता (Paroxysmal tachycardia), धमनीजरठता (Arteriosclerosis) आदि से इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। पीड़ा का तात्कालिक कारण हृद्धमनी का उद्वेष्ठन (Coronary spasm) या घनास्रता (Thrombosis) होता है। पीड़ा **परिश्रम** के कारण होने पर परिश्रम बन्द करने के १-३ मिनट के अन्दर पीड़ा बन्द हो जाती है। **घनास्रता** मे पीड़ा १५–३० मिनट तक प्रतीत होती है। **उद्वेष्ठन** (Spasm) की पीड़ा अत्यन्त क्षणिक होती है। पीड़ा का **संवहन** वाम बाहु के अतिरिक्त ऊर्ध्व दिशा मे हनु (Jaw) मे भी हो सकता है। उदर, मणिबन्ध (Wrist), हनु (Jaw), बाहु तथा पीठ की त्वचा पर दुस्संवेदना (Paresthesia) मिल सकती है। **पीड़ा** के साथ-साथ **स्तब्धता**

(Shock), निपात (Collapse) तथा हृदयातिपात (Heart failure) के लक्षण होते हैं। मधुमेह (Diabetes), उच्च-रक्तनिपीड (B.P.) तथा धमनीजरठता (Arteriosclerosis) के रोगों में इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है। पीड़ा के उद्वेग के समय मधुमेह न रहने पर भी मूत्र में शर्करा मिल सकती है।

निदान :—हृच्छूल के निदान के लिये लक्षणों पर निर्भर करना पड़ता है। हृत्परीक्षा तथा विद्युतहृल्लेख (Ecg) परीक्षा से विशेष सहायता नहीं मिलती। साधारण हृत्परीक्षा में प्रायः हृदय प्राकृत रहता है। पीड़ा शान्त होने पर विद्युतहृल्लेख (Ecg) परीक्षा करने से हृत्धमनी (Coronary) के विकृत होने का प्रमाण मिल सकता है।

चिकित्सा :—श्रमजन्य हृच्छूल (Angina of effort) प्रायः १०–१५ मिनट विश्राम करने से शान्त हो जाता है। यह प्रायः थोड़ी देर ही रहता है और जिस समय मनुष्य कार्य करता रहता है, उस समय होता है। यदि ३० मिनट विश्राम करने पर भी पीड़ा शान्त न हो तब समझना चाहिये कि पीड़ा **हृत्धमनी की घनास्रता** (Coronary thrombosis) के कारण है और उसी के अनुकूल चिकित्सा करना चाहिये।

(क) उद्वेग के समय की चिकित्सा :—(१) पीड़ा का उद्वेग होने पर रोगी को तत्काल शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। एक बार हृदय में पीड़ा का उद्वेग होने पर रोगी को कम से कम ६ सप्ताह विश्राम करना चाहिये। इस अवधि में रोगी का सब कार्य परिचारिका द्वारा होना चाहिये। विश्राम की अवधि समाप्त होने पर परिश्रम में शनैः शनैः वृद्धि करनी चाहिये। शीघ्रता करने से पीड़ा का पुनरागमन हो सकता है। रोगी को यदि चित्त सोने की अपेक्षा सिर ऊँचा कर सोने में सुख मिले तब तकिया आदि द्वारा उसका सिर ऊँचा रखना चाहिये।

(२) पीड़ा तथा निद्रा लाने के लिये हृद्रोग में मोरफीन सर्वोत्तम है। **अत्यन्त तीव्र** पीड़ा होने पर मोरफीन ग्रे. १/४–१/८ एट्रोपीन ग्रे. १/१०० (M & A) के साथ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से तत्काल देना चाहिये। इस औषधि को आ. अ. १ घण्टा पश्चात् पुनः दे सकते हैं। अत्यन्त तीव्र पीड़ा में मोरफीन ग्रे. १/१२–१/४ को १० सी. सी. समबल लवणघोल (N. saline) में मिला कर अत्यन्त शनैः शनैः सिरामार्ग से देना चाहिये। इन्जेक्शन देते समय पीड़ा में कमी होने पर तत्काल इन्जेक्शन

बन्द कर देना चाहिये । पीड़ा कम न होने पर इस औषधिको पुनः ४–६ घटे पश्चात् दे सकते हैं । पीड़ा ठीक हो जाने पर इसको बन्द कर देना चाहिये । **डायलोडिड** के प्रयोग से मिचली या वमन आदि नहीं होता । यह भी मोरफीन का योग है । **मेथाडोन** (Methadon) मि. ग्रा. ५–१० अधस्त्वक मार्ग (S. C.) से दे सकते हैं । इससे पीड़ा कम होती है परन्तु निद्रा नही आती । अफीम के योगो से पीड़ा कम न होने पर **अमीनोफायलीन** (Aminophylline) का प्रयोग कर सकते हैं । चेन-स्टोक श्वसन (C. S. resp) के कारण श्वास लेने मे अधिक परिश्रम करना पड़ता है । इसके कारण वक्ष मे पीड़ा होने पर अमीनोफायलीन विशेष लाभदायक है । पीड़ा की तीव्रता मे कमी हो जाने पर तथा उच्च-रक्तनिपीड रहने पर **नाइट्रोग्लिसरीन** (Tab.trinitrini) ग्रे.१/१०० से लाभ हो सकता है । **प्राणवायु** (O_2) के प्रयोग से वक्ष की पीड़ा, श्यावता (Cyanosis), श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), स्तब्धता (Shock), फुफ्फुसशोफ (Oedema lungs) आदि मे लाभ होता है । मौरफीन के स्थान पर यूकेडौल (Eukodal 'Mk'), पेथिडिन (Pethidin 'Re') मि. ग्रा. ५०–१००, फाइसेप्टौन (Physepton B. W and Co), डायलौडिड (Diladid) ग्रे. १/१६ पेशी या सिरा द्वारा या कोडीन फौस (Codeine phos) अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते हैं । पीड़ा कम होने पर ये औषधियाँ मुख द्वारा भी दे सकते हैं । इसके अतिरिक्त डेमेरोल (Demerol) मि. ग्रा. ५०–१०० अधस्त्वक (S. C.) या मुख से, पापावरीन (Papaverine) मि. ग्रा. ५०–१०० पीड़ा की तीव्रता के अनुसार मुख, पेशी (I. M.) या सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते हैं ।

(३) **नाइट्राइट** (Nitrite):—ये औषधियाँ **रक्तवाहिनी विस्फारक** (Vaso-dilators) हैं । इनके प्रयोग के विषय मे मतभेद है । कुछ विद्वानों का मत है कि **श्रमजन्य** शूल में इनका प्रयोग कर सकते है परन्तु **घनास्रता** (Thrombosis) जन्यशूल मे **रक्तनिपीड** (B. P.) प्रायः कम रहता है तथा स्तब्धता (Shock) की अवस्था रहती है । ऐसी स्थिति मे इन औषधियो के प्रयोग करने से हानि हो सकती है । इसलिये इन औषधियो के प्रयोग के पूर्व रक्तनिपीड (B. P.) देख लेना अच्छा है तथा औषधि की जितनी अल्प मात्रा से रोगी को लाभ हो उतनी मात्रा ही प्रयोग

करना चाहिये । **अमिल** नाइट्राइट (Amylnitrite) सूँघने के लिए दी जाती है । **नाइट्रोग्लिसरीन** (Tab : trinitrini) ग्रे० १/२००–१०० की गो० १ जिह्वा के नीचे रखना चाहिये । इस गोली को निगलना, नहीं चाहिये । रक्तनिपीड़ (B. P.) ऊँचा रहने पर यह औषधि दिन भर में २५–३० गोली तक दे सकते हैं । जो लोग इस औषधि पर अधिक विश्वास करते हैं उनका मत है कि मौरफीन के प्रयोग से अभ्यास होने का भय रहता है । इसलिये मौरफीन की अपेक्षा नाइट्रोग्लिसरीन का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करना अधिक उत्तम है । **अमिल नाइट्राइट** (Amyl nitrite) अधिक सूँघने से चक्कर, शिर मे पीड़ा, चेहरे का लाल होना, नाडी धमकती हुई प्रतीत होना आदि लक्षण होते हैं । तत्काल प्रयोग करने के लिये घरेलू औषधियो मे **मद्य** (Whisky) १–२ औं० दे सकते हैं ।

(४)**अन्य रक्तवाहिनी विस्फारक औषधियाँ**(Vasodilators, coronary dilators) :—**अमीनोफाइलीन** (Aminophylline, cardio-phylline) ग्रे० ३$\frac{3}{4}$–७$\frac{1}{2}$ सिरामार्ग (I. V.) मार्ग से शनैः शनैः या बत्ती (Suppository) के रूप मे गुदामार्ग से दे सकते हैं । सिरामार्ग से देने के पूर्व औषधि १० सी० सी० प० ज० मे मिला कर देना चाहिये । औषधि की सम्पूर्ण मात्रा देने मे ५ मिनट का समय लगना चाहिये । **खेलीन** (Khellin) मि० ग्रा० ५० पेशीमार्ग से दे सकते हैं । **यूफाइलीन** (Euphyllin) ग्रे० १$\frac{1}{2}$–६ पेशी (I. M.) या मुख द्वारा दे सकते हैं । मेटाफायलीन (Metaphyllin), थेयोफायलीन (Theophylline), थेयोब्रोमीन, (Theobromine), थेयोसीन (Theocin) आदि का प्रभाव अत्यन्त साधारण है ।

(५) **अन्य चिकित्सा** :—स्तब्धता (Shock) तथा श्यावता (Cyanosis) रहने पर प्राणवायु (O_2) का विशेष महत्व है । यह औषधि प्रा० ४–१२ प्र० मि० की गति से देना चाहिये । **स्तब्धता** के लिये रोगी को वस्त्र से ढककर, गरम पेय देकर तथा गरम जल की बोतल आदि से गरम रखना चाहिये । सिरामार्ग (I. V.) से जल तथा ग्लूकोस अत्यन्त सावधानी पूर्वक देना चाहिये । **ग्लूकोस** २५–५० प्र० श० ५०–१०० सी० सी० ए० या द्वि० प्र० दि० देने से श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), स्तब्धता (Shock) तथा पीड़ा मे लाभ हो सकता है, **एड्रीनलीन** (Adrenalin), **पिट्-**

यूटरीन (Pituitrin), **एफेड्रिन** (Ephedrine) **आदि का हृदय पर प्रत्यक्ष प्रभाव है, इसलिये इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।** नेयोसायनेफ्रिन (Neosynephrine) आदि रक्तवाहिनियों को संकोच (Vaso-constrictor) कराती हैं। इसलिये ये हृच्छूल में हानिकर हैं। अत्यन्त गम्भीर अवस्था मे जब मृत्यु की सम्भावना प्रतीत हो तब कोरामीन (Coramine), कार्डियोजोल (Cardiazol), लेप्टाजोल (Leptazol) आदि मुख से अथवा इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग कर सकते हैं। **श्वसन संस्थान** का निपात (Failure) होने पर प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिये तथा स्ट्रिकनीन (Strychnine) ग्रे० १/६० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दे सकते है। गम्भीर स्तब्धता मे साकोचिक (Systolic) रक्तनिपीड (B. P.) ८० मि० मि० से कम रहने पर प्लास्मा (Plasma) पा० १ या रक्त पा० ½ सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये। **दक्षिण हृदयातिपात** (C.H.F.) रहने पर **डिजिटेलिस का** प्रयोग कर सकते है परन्तु उद्वेग के प्रथम सप्ताह मे इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसके प्रयोग से अलिंदीय तन्तुप्रकम्प (A. fib) हो सकता है। इसकी अधिक मात्रा देने से हृदय के फट जाने की सम्भावना रहती है। हृत्धमनी (Coronary) के रोगों मे **अलिंदीय तन्तुप्रकम्प** होने की विशेष संभावना रहती है। यह उपद्रव होने पर अल्प मात्रा मे **क्वीनीडीन** (Quinidine) ग्रे० ½–२ कैपस्यूल मे रख कर त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। रक्तसकन्दन निरोधी **औषधियों** (Anticoagulants) का आ० अ० प्रयोग करें। **विरेचक** (Purgative) औषधियों का प्रयोग नही करना चाहिये। आ० अ० जैतून के तेल (Ol.olive) का एनिमा लगा सकते हैं। **निद्रा** लाने के लिये ल्यूमिनल (Luminal), गार्डिनल (Gardinal), थेयोमिनल (Theominal) आदि की गो० १ रात्रि मे दे सकते हैं। लेकार्नौल (Lacarnol) पेशी का सत्व है। यह औषधि मुख द्वारा मि. ३०–४५ तथा पेशीमार्ग (I. M.) से सी. सी. १ दी जाती है। यह हृत्धमनी का विस्फार (Coronary dilator) कराती है। पेशी सत्व तथा अग्न्याशय सत्व (Pancreatic ext :) आदि का प्रभाव अनिश्चित है। **श्वासकृच्छ्र** (Dyspnoea) के कारण यदि निद्रा न आती हो तब **अमीनोफायलीन** (Aminophyllin) ग्रे. १½ मुख द्वारा त्रि. प्र. दि.

देने से तथा प्राणवायु (O_2) के प्रयोग से लाभ हो सकता है। **केफिन-सोडी बेनजोअस** (Caffeine sodi : benzoas) हृत्धमनी का विस्फार (Coronary-dilator) कराती है तथा स्तब्धता (Shock) मे भी प्रयोग की जाती है। इसका ग्रे. ४–७½ पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते हैं। **मूत्रल औषधियाँ** (Diuretics), सिरावेध (V. S.) आदि आ. अ. कर सकते हैं। एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१५०–१/१०० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से चा. प्र. दि. देने से हृत्धमनी (Coronary) मे रक्तप्रवाह की वृद्धि हो सकती है।

(ख) **हृच्छूल का पुनरागमन (Relapse) रोकने की विधि :—**

(१) **साधारण चिकित्सा :**—मानसिक उद्वेग, व्यायाम तथा तमाखु-सेवन निशेष है। अल्प मात्रा मे अनेक बार भोजन करना चाहिये। एक बार मे अधिक नहीं खाना चाहिये। भो. प. विश्राम आवश्यक है। रोगी को यह जानना चाहिये कि उसकी हृत्धमनी (Coronary) हृत्पेशी को जितना रक्त पहुँचा सकती है वह मात्रा प्राकृत से कम है इसलिये उसको अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिये कि हृत्पेशी (Myocardium) को अधिक रक्त की आवश्यकता न हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जीवनचर्या नियमित होनी चाहिये। किसी भी प्रकार की अनियमितता नही करनी चाहिये। अधिक मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम, मैथुन, थकावट, शीत आदि से बचना चाहिये। मद्यपान के विषय मे मतभेद है। साधारण मात्रा मे मद्य का प्रयोग लाभप्रद हो सकता है। यह औषधि रक्तवाहिनी विस्फारक (Vaso-dilator) है। मद्य औ. १–२ त्रि. या. चा. प्र. दि. भो. पू. लेने से लाभ हो सकता है। अधिक मात्रा में मद्यपान हानिकर है। मोटे रोगियो को उदर पर पट्टा बाँध कर रखना चाहिये। इससे सिराओ के रक्त को हृदय की ओर जाने मे सहायता मिलती है। रक्ताल्पता (Anaemia), फिरग (Syphilis) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **रक्ताल्पता** की चिकित्सा अत्यावश्यक है। **फिरंग** की चिकित्सा मे पेनिसिलीन (P.), बिस्मथ (Bis :) तथा पोटास आयोडाइड (KI) पर निर्भर करना चाहिये। संखिया (As :) के योग देना हानिप्रद हो सकता है। **मधुमेह** (diabetes) रहने पर नियन्त्रित आहार पर निर्भर करना चाहिये। इनस्यूलिन (Insulin) नहीं देना चाहिये। इससे हृदय के कार्य की **वृद्धि होती** है।

उच्चरक्त निपीड़ (B. P.) के लिये लवण (Nacl) बन्द कर देना चाहिये तथा शाकाहारी भोजन देना चाहिये। विशेषकर चावल का प्रयोग करना चाहिये। औषधियों द्वारा रक्तनिपीड़ में अकस्मात कमी होने से हानि होती है। **मानसिक शान्ति** के लिये फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १/८-१/२ त्रि. प्र. दि. दें। मिर्च, मसाला, बरफ आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि रोगी को सान्त्वना दे। जीवन के संघर्ष में धैर्य छोड़ना ठीक नहीं है। जीवन सम्बन्धी कार्यों में दिलचस्पी रखना चाहिये, केवल इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कोई ऐसा कार्य न करे जिससे हृदय को अधिक परिश्रम करना पड़े। **स्थूलता** कम करने के लिये नियन्त्रित आहार पर निर्भर करना चाहिये। औषधियों के प्रयोग से हानि हो सकती है। अवटुकाग्रन्थि सत्व (Thyroid ext:) विशेष हानिकर है। वजन कम करने अथवा श्लेष्मशोफ (Myxoedema) रहने पर भी घनास्त्रता (Thrombosis) में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। **रक्तस्राव** होने पर रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये। परमावटुका ग्रन्थिता (Hyper: thyroidism) रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करना चाहिये। हृत्धमनी में **जरठता** (Arteriosclerosis) रहने पर भोजन में वसा (Fat) तथा पैत्तव (Cholesterol) की मात्रा में कमी करना चाहिये। एमिनोएसिडस (Aminoacids) विशेष कर कोलीन (Choline), मेथियोनीन (Methionine), आइनोसिटौल (Inositol) तथा जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit: B. complex) से लाभ हो सकता है। उपसर्ग (Ifn) की उपयुक्त चिकित्सा करें।

(२) **भोजन**:—रोग की तीव्र अवस्था में दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F) के समान भोजन देना चाहिये। भोजन मधुमेह (Diabetes), उच्चरक्त निपीड़ (B.P.) तथा स्थूलता के अनुकूल होना चाहिये। लवण बन्द करने पर जल की मात्रा कम करना आवश्यक नहीं है। भोजन मात्रा तथा कैलोरी (C) में प्राकृत से कम होना चाहिये। भोजन अल्प मात्रा में अनेक बार देना चाहिये। साधारणतः कार्बोज (Cho) की मात्रा अधिक, प्रोटीन (Ptn) की साधारण तथा वसा की अत्यल्प होनी चाहिये। विशेष परिस्थिति में इस अनुपात में परिवर्तन कर सकते हैं।

(३) **औषधियाँ** :—रक्तवाहिनीविस्फारक (Vaso-dilator)

तथा हृत्धमनीविस्फारक (Coronary dilators) औषधियों का सेवन करना चाहिये । जैसे :—नाइट्राइट (Nitrite), खेलीन (Khellin), टोलाजोलीन (Tolazoline) जीवतिक्ति 'बी,' (Nicotinic acid), जैनथिन के योग (Xanthines), पापावरीन (Papaverine) ग्रे. १½ मुख या पेशी (I. M) द्वारा चा. प्र. दि. दे सकते हैं । पीड़ा के साथ अतिरिक्त सकोच (Ex:systole) रहने पर क्विनीडीन (Quinidine-sulph) ग्रे. ३–६ चा. प्र. दि. देना चाहिये ।

(४) **शल्य चिकित्सा** (Op) :—शल्य चिकित्सा का परिणाम अनिश्चित है । इस चिकित्सा का सिद्धान्त है कि :—

(क) हृदय की पीड़ा सम्बन्धी वातनाड़ियों (N.) को काट दिया जाता है । इसके लिये स्वतंत्र वातनाड़ियों को काट दिया (Sympathectomy) जाता है । इन वातनाड़ियों में मद्य (Alcohol) का इन्जेक्शन भी लगाया जाता है परन्तु इस क्रिया से वातनाड़ीशोथ (Neuritis) होने की सभावना रहती है । (ख) हृदय की पेशियों में अधिक मात्रा में रक्त पहुँचाया जाये । इसके लिये उरच्छदा पेशी (Pectoralis muscle) को हृदयावरण (Pericardium) से सी दिया जाता है अथवा हृदयावरण में अस्थि की भस्म प्रवेश कर दी जाती है । इससे हृदयावरण के स्तर आपस में चिपक जाते हैं । (ग) अवटुका ग्रंथि के कार्य में कमी करना । इसके लिये अवटुकाग्रंथि काट कर (Thyroidectomy) निकाल दी जाती है । यह कार्य औषधियों द्वारा भी किया जा सकता है । रोगी को **थायरोसील** (Thiouracil) देने से अवटुकाग्रंथि के स्राव में कमी होती है, परिणामस्वरूप हृदय के कार्य में कमी हो जाती है तथा हृत्पेशी (Myocardium) को कम रक्तकी आवश्यकता होती है ।

शल्य चिकित्सा केवल युवावस्था में की जा सकती है । हृच्छूल के रोगियों में प्रायः २ प्र. श. रोगी रोग के प्रथम उद्वेग में ही मर जाते हैं । प्रथम २४ घंटे में यदि मृत्यु न हो तब रोगी के बचने की सभावना रहती है । उच्चरक्तनिपीड (B.P.) के रोगी में हृच्छूल होने पर प्रायः १–२ दिन के अन्दर मृत्यु हो जाती है ।

कभी कभी थोड़े थोड़े अन्तर में अनेक बार पीड़ा का उद्वेग होता रहता है । इस अवस्था को **शूलात्मिका स्थिति** (Status angiosus) कहते हैं ।

इसकी चिकित्सा साधारण हृच्छूल के समान है। इस अवस्था में जीवतिक्ति 'बी,' (Nicotinic acid) सिरा (I. V.) मार्ग से, खेलीन (Khellin) पेशी (I. M.) मार्ग से तथा इटामोन (Etamon chloride) सिरामार्ग से देना चाहिये। खेलिन का इंजेक्शन चा.प्र.दि., जीवतिक्ति 'बी,' का द्वि. या त्रि. प्र. दि. तथा इटामोन का प्र. तीसरे या चौथे दिन देना चाहिये। रक्त-निपीड़ पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विश्राम, प्राणवायु (O_2) का प्रयोग तथा अन्य रक्त-वाहिनी विस्फारक औषधियों (Vaso dilators) का भी प्रयोग करना चाहिये।

हृच्छूल की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

रोगी के मन को शान्त रखना चाहिये, खुली वायु में लेटें। जातीफलादि व कृमिकुठार रस का प्रयोग बार-बार करना चाहिये। यदि बदहजमी हो तो मुख द्वारा औषधि एवं निरूह वस्ति देना चाहिये। छाती के ऊपर गर्म पानी का सेंक और राई की पुल्टिस लगानी चाहिये।

आवेगों के बीच में ककुभादि चूर्ण व आनन्दभैरव रस का सेवन करना चाहिये। जीवन नियमित, लघु पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्यवर्धक आहार विहार रहना चाहिए। हृदय के दर्द में नृपतिवल्लभ रस १ गोली प्रातः सायं मकोय रस व मधु के साथ देना चाहिए। हृदय में धड़कन होने पर नागार्जुनाभ्र १ रत्ती प्रातः साय मधु के साथ चाटना चाहिये तथा अर्जुनारिष्ट भोजनोत्तर लें।

तीव्र हृत्पेशीय अन्तस्फान (Acute myocardial infarct)।

परिचय :—हृत्पेशी के किसी भाग में रक्त न पहुँचने पर हृत्पेशी के उस भाग की मृत्यु हो जाती है। हृद्धमनी (Coronary) में अवरोध (Obst :) अकस्मात अथवा शनैः शनैः हो सकता है। इस रोग के दो प्रकार के रोगी मिलते है।

(क) **कुछ रोगियों में** हृदय में साधारण पीड़ा के अतिरिक्त और कोई **लक्षण या उपद्रव नहीं मिलते।** इन रोगियों के हृदय की विद्युतहृल्लेख (Ecg) द्वारा परीक्षा करने पर हृदय की विकृति का प्रमाण मिलता है। इन रोगियों में केवल **साधारण** चिकित्सा से ही लाभ हो जाता है। रोगी को शैय्या पर दो, तीन सप्ताह विश्राम करना चाहिये। विश्राम की अवधि समाप्त होने पर परिश्रम में शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। जीवनचर्या नियमित बनाना आवश्यक है। विश्राम के समय भी रोगी को भोजन अपने हाथ से खाना

चाहिये। शैय्या पर पड़े-पड़े भी हाथ पैर हिलाना चाहिये, इससे रक्तप्रवाह की वृद्धि होती है और फुफ्फुस में घनास्त्रता (Thrombosis) नहीं हो पाती। शारीरिक विश्राम के साथ-साथ मानसिक विश्राम भी आवश्यक है। इसके लिये रोगी को सान्त्वना देना चाहिये, उसका साहस बढ़ाना चाहिये तथा शामक (Sedative) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये जैसे फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ½-१ त्रि. प्र. दि या शामक (यो. २२) ड्रॉ. ½-१ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। तमाखु, कौफी, मद्य आदि का प्रयोग वर्जित है।

(ख) **जिन रोगियों में लक्षण तथा उपद्रव आदि की प्रधानता रहती है :**—इन रोगियों मे प्रायः हृदय में तीव्र **पीड़ा** होता है। **स्तब्धता** (Shock), **रक्तनिपीड़** (B.P.) की कमी, क्षीण **नाड़ी**, श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), मूर्छा, मिचली, वमन, ज्वर आदि लक्षण होते हैं। हृदय में तीव्र पीड़ा होने का इतिहास मिलता है। यह पीड़ा प्रायः आध घंटे से अधिक समय तक रहती है। **उद्वेग** के समय पीड़ा के अतिरिक्त मूर्छा तथा स्तब्धता के लक्षण होते हैं। स्तब्धता उद्वेग के समय या उसके कुछ समय पश्चात भी हो सकती है। ज्वर प्रायः साधारण होता है और उद्वेग के २४ घण्टे पश्चात होता है। हृत्पेशी के किसी भाग की मृत्यु हो जाने के कारण ज्वर की उत्पत्ति होती है। श्वास लेने मे कष्ट साधारण अथवा गम्भीर हो सकता है। हृदय की साधारण परीक्षा करने पर सम्भव है किसी प्रकार की विकृति न मिले। कभी-कभी हृदय की गति अनियमित (Irregular) हो जाती है तथा हृत्शब्द क्षीण हो जाने के कारण ठीक से सुनाई नहीं देते। हृदयातिपात के कारण फौफ्फुसीय शोफ (Pulmonary oedema) हो सकता है।

निदान :—निदान के लिये लक्षणो पर निर्भर करना पड़ता है। विद्युत-हृल्लेख (Ecg) परीक्षा का विशेष महत्व है। इससे रोग के प्रारम्भ में ही निदान में सहायता मिल सकती है। **रक्त परीक्षा** मे रोगारम्भ के १–३ दिन पश्चात् रक्तावसादन गति (E. S. R.) की वृद्धि होती है। यह वृद्धि तब तक मिलती है जब तक हृत्पेशी की विकृति ठीक नही हो जाती। रोगारम्भ के पश्चात् प्रथम सप्ताह पर्यन्त **श्वेतकणा** की वृद्धि मिलती है।

चिकित्सा :—(अ) **उद्वेग के समय** हृच्छूल के समान चिकित्सा करनी चाहिये। रोग की **साधारण** चिकित्सा का वर्णन इस रोग की लक्षण रहित अवस्था (क) मे किया गया है। उद्वेग के पश्चात् कम से कम २ मास

विश्राम करना चाहिये। **भोजन** रोगी की अवस्था के अनुकूल होना चाहिये। भोजन मात्रा तथा कैलोरी (C) मे कम तथा मुलायम होना चाहिये। अल्प मात्रा में ५–६ बार प्र. दि. भोजन देना चाहिये। लवण (Nacl) की मात्रा ग्रे. ३० प्र. दि. से कम होनी चाहिये। जीवतिक्तियाँ (Vit :) देनी चाहिये। इच्छानुसार रोगी जल पी सकता है। **गम्भीर** अवस्था मे प्रथम ५ दिन केवल तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। जल मे ग्लूकोस (Glucose) मिला कर पिलाना चाहिये। ग्लूकोस का ५ प्र. श. घोल पा. ३ पेशी (I. M.) मार्ग से या ५० प्र. श. ५० सी. सी. सिरा (I. V.) मार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। रोग के प्रारम्भ मे हृदयातिपात (Ht: failure) या स्तब्धता (Shock) के लक्षण रहने पर शैय्या पर पूर्ण विश्राम करना आवश्यक है। तत्पश्चात् शनैः शनैः रोगी भोजन, मल-मूत्र परित्याग आदि क्रियाये स्वयं ही कर सकता है। **लक्षणों** की चिकित्सा हृच्छूल (Angina) के समान है। **पीड़ा** के लिये मोरफीन (M & A), डायलौडिड (Dilaudid), पेथिडीन (Pethidin), कोडान फौस (Codeine phos :) आदि आ. अ. मुख या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से दें। प्राणवायु (O_2) सुँघाना चाहिये। अमीनोफायलीन (Aminophylline) ग्रे. ३¾–७½ सिरा (I. V.) मार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः दें। मेथाडान (Methadon) का प्रयोग कर सकते है। उच्च रक्त-निपीड़ (B.P.) रहने पर नाइट्रो ग्लिसरीन (Tab:trinitrini) ग्रे. १/१०० जिह्वा के नीचे आ. अ रख सकते हैं। **स्तब्धता** (Shock) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

(आ) उद्वेग के पश्चात् की चिकित्सा :—विद्युतहृल्लेख (Ecg) परीक्षा द्वारा रोगी की अवस्था का ज्ञान करते रहना चाहिये। इस परीक्षा से यह भी पता लग सकता है कि अन्तस्फान (Infarct) की वृद्धि हो रही है या नही। उद्वेग के तीन दिन के अन्दर मलपरित्याग कराने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इस अवधि में यदि स्वयं मलपरित्याग न हो तब चतुर्थ दिन रात्रि में लिक्वीड पैरेफिन औं० ½–१ दे सकते हैं। यह औषधि आवश्यकता पड़ने पर औं० १ त्रि. प्र. दि. तक दी जा सकती है। तत्पश्चात् लवण का एनिमा (Saline enema), मिल्क औफमैगनीसिया (Milk of magnesia) आदि दे सकते हैं। रोगी यदि चिंतित प्रतीत हो तब फेनोबारबिटोन (Phn)

ग्रे० ½ त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये । हृत्धमनी विस्फारक (Coronary dilators) ओषधियों का प्रभाव संदेहास्पद है ।

हृदय की पीड़ा कम हो जाने पर जब अफीम के योग की आवश्यकता नहीं रहती तब इनको बन्द कर रोगी को **मानसिक विश्राम** देने के लिये **बारबिटोन** के योग द्वि. या त्रि. प. दि. देना चाहिये जैसे फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ¼–½ या नेम्बूटाल (Nembutal) ग्रे. ½–१½, या सेकोनल (Seonal) ग्रे. ½–१½ आदि । क्लोरल हाइड्रस (Chloral hydras) ग्रे. ५ भी द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं । उद्वेग के १½ मास पश्चात् तक **विश्राम** कर लेने पर यदि रक्तावसादन गति (ESR) तथा विद्युतहृल्लेख (Ecg) परीक्षायें प्राकृत हो जायें तब रोगी को शैय्या परित्याग कर चलने-फिरने देना चाहिये । रोगनिवृत हो जाने के पश्चात् भी रोगी को रात्रि में १० घण्टा तथा मध्याह्न में भो० प० एक घण्टा विश्राम करना चाहिये । जीवनयापन के लिये ऐसा व्यवसाय करना चाहिये जिसमें अधिक शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम न करना पड़े । एक स्थान पर बैठे-बैठे सब कार्य हो सके तो अच्छा है । प्रत्येक कार्य धीरे-धीरे करना चाहिये । शीघ्रता करना ठीक नहीं है । रोगी का वजन यदि अधिक हो तब भोजन में उपयुक्त परिवर्तन कर उसे कम करना चाहिये । भोजन अल्प मात्रा में ६ बार प्र० दि० खाना चाहिये । शीत से बचना आवश्यक है विशेष कर भो० प० । शीत ऋतु में बाहर नहीं निकलना चाहिये । तमाखू का प्रयोग वर्जित है । यदि मद्यपान का अभ्यास हो तब अल्प मात्रा में मद्य ले सकते हैं । रोगी की हिम्मत बढाना आवश्यक है । हृत्धमनी (Coronary) के रक्तप्रवाह की वृद्धि कराने के लिये जैनथिन (Xanthine) के योग तथा पापावरीन (Papavarine) आदि प्रयोग कर सकते है । हृच्छूल (Angina) होने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये ।

(इ) **उपद्रवों की चिकित्सा :—अन्तःशल्यता** (Embolism) तथा **घनास्रता** (Thrombosis) बचाने के लिये अथवा इनकी चिकित्सा के लिये हेपरीन (Heparin), डेक्यूमेरौल (Dicumarol), ट्रोमेक्सान (Tromexan) आदि का प्रयोग किया जाता हैं । यह विकृति प्रायः ३२ प्र० श० रोगियों में उद्वेग होनेके ६ सप्ताह के अन्दर होती है । **फौफ्फुसीय** (Pulmonary oedema) तथा **दक्षिण हृदयातिपात** (C.H.F.)

की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। प्राणवायु (O_2) का प्रयोग तत्काल प्रारम्भ कर देना चाहिये। डिजिटेलिस (Digitalis) का प्रयोग अन्तःस्फान (Infarct) होने के एक सप्ताह पश्चात् प्रारम्भ करना अच्छा है। इस अवधि मे हृत्पेशी की विकृति मे पर्याप्त सुधार होने की आशा रहती है। इस अवधि के पश्चात् भी डिजिटेलिस कम मात्रा मे प्रयोग करना अच्छा है जिससे इस औषधि का पूर्ण प्रभाव होने मे समय लगे तथा हृदय की विकृति को ठीक होने का समय मिले। इसी प्रकार हृदय की **अनियमितताओं** (Irregularitis) के लिये यदि डिजिटेलिस का प्रयोग करना हो तब उसे अल्प मात्रा मे देना चाहिये। फुफ्फुस, मस्तिष्क, शाखाओ आदि मे **अन्तःशल्यता** (Embolism) होने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। शरीर मे किसी प्रकार का **उपसर्ग** (Ifn) रहने पर तृणाणुनाशक औषधियों (Antibiotics) का प्रयोग करना चाहिये।

वाम हृदयातिपात (Left heart failure)

परिचय :—इस अवस्था का प्रधान लक्षण **श्वासकृच्छ्र** (Dyspnoea) है। जिस प्रकार दक्षिण हृदयातिपात (Rt : Ht:failure) मे शोथ (Oedema) की प्रधानता रहती है उसी प्रकार वाम हृदयातिपात (Lt : Ht : failure) मे श्वासकृच्छ्र की प्रधानता रहती है। श्वासकृच्छ्र अत्यन्त तीव्र, कष्टप्रद तथा आवेगिक (Paroxysmal) होता है। यह अवस्था जब अत्यन्त तीव्र होती है तब उसको **हृज्जन्य तमकश्वास** (Cardiac asthma) कहते हैं। विकृति प्रधानतया हृत्धमनी (Coronary) तथा महाधमनी (Aorta) में होने के कारण रोग की तीव्र अवस्था मे वाम निलय (Lt : vent :) पर ही विकृति का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिये इसको वाम हृदयातिपात कहते हैं। उच्च रक्तनिपीड़ (B. P.), फिरंग (Syphilis), धमनीजरठता (Arterio sclerosis) आदि से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। **हृज्जन्य तमकश्वास** का आवेग प्रायः रात्रि मे होता है। रोगी निद्रा के पूर्व प्रायः स्वस्थ रहता है। अकस्मात रात्रि मे उसकी नीद खुल जाती है और श्वास लेने मे कष्ट होता है। उद्वेग प्रायः सोने के एक घण्टे के अन्दर प्रारम्भ होता है। **साधारण अवस्था** मे श्वसन तीव्र हो जाता है। रोगी को बैठने से आराम मिलता है। चेनस्टोक श्वसन (C. S. resp) हो जाता है। **गम्भीर अवस्था**

में रोगी को श्वास न ले सकने के कारण अत्यन्त कष्ट होता है। मृत्यु सन्निकट प्रतीत होती है। चेहरा नीला (Cyanosis) हो जाता है। पसीने के कारण शरीर गीला तथा ठण्डा हो जाता है। कभी कभी चेहरा सफेद प्रतीत होता है। रोगी अत्यन्त चिन्तित प्रतीत होता है। नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। कुछ समय पश्चात इन लक्षणों का प्रायः शमन हो जाता है और रोगी पुनः स्वस्थ हो जाता है परन्तु गम्भीर अवस्था मे इसके पश्चात अकस्मात फुफ्फुस में द्रव संचय होने लगता है। इसको फौफ्फुसीय शोफ (Oedema lungs) कहते हैं। इस उपद्रव मे श्वास न ले सकने के कारण रोगी की मृत्यु हो सकती है। फौफ्फुसीय रक्तप्रवाह (Pulmonary circulation) मे रक्तनिपीड़ की वृद्धि होने के कारण **फौफ्फुसीय शोफ** की उत्पत्ति होती है। इसलिये प्रायः फौफ्फुसीय शोफ वाम हृदयातिपात का प्रतीक होता है। वाम हृदयातिपात की **साधारण** अवस्था में फुफ्फुस की प्राणशक्ति (Vital capacity) कम हो जाती है, रक्तसंचार का समय (Circulation time) बढ़ जाता है। परन्तु सिराओं मे रक्त का निपीड़ (Venous pressure) प्राकृत रहता है। खाँसी होती है, रात्रि मे प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र होता है, परिश्रम करने से श्वासकृच्छ्र की वृद्धि होती है तथा रोगी बेचैन रहता है। रोग की **गम्भीर अवस्था** में प्रायः साथ साथ दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) भी रहता है। फुफ्फुस की प्राणशक्ति अत्यन्त कम हो जाती है, रक्तप्रवाह के समय मे वृद्धि होती है तथा सिराओं के रक्तनिपीड़ (Venous pressure) मे भी वृद्धि होती है। फुफ्फुस के आधार (Base) पर आर्द्र करकराहट (Crepitations) मिलते हैं। श्वासकृच्छ्र मे अत्यधिक वृद्धि होने के कारण विश्राम के समय भी रोगी को श्वासकृच्छ्र होता है तथा रोगी शैय्या पर आगे की ओर झुककर बैठ जाता (Urthopnoea) है। **वाम तथा दक्षिण हृदयातिपात** (Combined ht:failure) जब साथ साथ होते हैं तब वाम हृदयातिपात के लक्षणों के साथ साथ शोफ (Oedema) की भी उत्पत्ति होती है। वाम हृदयातिपात की **अन्तिम** अवस्था मे प्रायः दक्षिण हृदयातिपात भी होता है। इसकी **साधारण** अवस्था मे शोफ प्रायः शरीर के निचले भाग में सन्ध्या समय होता है और विश्राम करने से ठीक हो जाता है परन्तु **गम्भीर** अवस्था मे यह शोफ अधिक स्थायी होता है तथा रात्रि में प्रावेगिक

श्वासकृच्छ्र होने के अतिरिक्त परिश्रम करने से भी श्वासकृच्छ्र होता है।

चिकित्सा। (क) **उद्वेग के समयः**–विश्राम, नाइट्राइट (Nitrite), मौरफीन (या. १११), रक्तवाहिनी विस्फारक औषधियाँ (Vasodilators), डिजिटेलिस (Digitalis), प्राणवायु (O_2) तथा सिरा से रक्त निकाल (V.S.) कर इसकी चिकित्सा की जाती है। **उच्चरक्त निपीड़** (B.P.) रहने पर रोगी को **नाइट्रोग्लीसरीन** (Tab.trinitrini) ग्रे. १/२००–१/१०० जिह्वा के नीचे तत्काल रख देना चाहिये। रोगी को गोली चूसना चाहिये। निगलना नहीं चाहिये। इसको आ. अ. स्वतन्त्रापूर्वक पुनः प्रयोग कर सकते हैं। रक्तनिपीड़ पर ध्यान रखना चाहिये। यथाशीघ्र रोगी को **मौरफीन** ग्रे. ¼ तथा **एट्रोपीन** ग्रे. १/१०० (M.&A.) का अधस्त्वकमार्ग (S. C.) से इन्जेक्शन लगाना चाहिये। हृदय की पीड़ा कम करने में यह सर्वोत्तम औषधि है तथा इसका स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करना चाहिए। **फौफ्फुसीय शोफ** (Pulmonary oedema) की चिकित्सा में भी मौरफीन एट्रोपीन का प्रयोग किया जाता है। मौरफीन के स्थान पर पेथिडिन (Pethidin), फाइसेप्टोन (Physepton), यूकोडाल (Eukodal), डायलौडिड (Dilaudid) आदि की गो. १ या कोडीन (Codeine phos:) ग्रे. ½–१ अधस्त्वक (S.C.) अथवा मुखमार्ग से दे सकते हैं। रक्तवाहिनी विस्फारक (Vasodilator) तथा हृद्धमनी विस्फारक (Coronary dilators) में **अमीनोफायलीन** (Aminophyllin) ग्रे. ३¾–७½ जल १० सी. सी में मिलाकर सिरामार्ग से अत्यन्त शनैः शनैः देना चाहिये। संपूर्ण मात्रा ५ मिनट में सिरा (I. V.) में प्रवेश कराना चाहिये। इसके अतिरिक्त थेयोफाइलीन (Theophyllin), यूफायलीन (Euphyllin) आदि भी ग्लूकोस में मिला कर सिरामार्ग से दी जाती हैं। **दक्षिण हृदयातिपात** (C.H.F.) के लक्षण रहने पर **डिजिटेलिस** का प्रयोग करना चाहिये। रोग की गभीर अवस्था में तत्काल सिरामार्ग से यह औषधि देना चाहिये अन्यथा फौफ्फुसीय शोफ (Pulmonary oedema) होने की संभावना रहती है। डायजौक्सीन (Digoxin) मि. ग्रा. १ सिरा से दे सकते हैं। **फौफ्फुसीय शोफ** होने पर **सिरा से रक्त** औं. ८–१५ निकाल देना (V. S.) चाहिये। इससे हृदय के दक्षिण भाग का बोझ कम होता है। फौफ्फुसीय शोफ में कास के साथ साथ रक्त तथा वायु मिश्रित

ष्ठीवन होता है तथा दोनो फुफ्फुस पर स्थूल आर्द्र कर्कराहट (Crude crepitations) मिलते हैं। दक्षिण हृदयातिपात के साथ **नाड़ी की गति तीव्र** रहने पर **स्ट्रोफैनथिन** (Strophanthin) ग्रे. १/२५०–१/१०० ग्लूकोस २५ प्र. श. २५ सी. सी. में मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से देना चाहिये। श्वासकृच्छ्र, फौफ्फुसीयशोफ आदि के लिये नाक मे रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर **प्राणवायु** (O_2) देना चाहिये। उद्वेग के पश्चात कम से कम तीन मास विश्राम करना चाहिये।

(ख) उद्वेग के पश्चात :—इस अवधि मे रोग के **कारण** की चिकित्सा करनी चाहिये। उच्चरक्तनिपीड़ (B. P.), फिरंग (Syphilis) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करें। स्थूल रोगी के भार मे कमी करना चाहिये। मध्याह्न के पश्चात टि. अफीम (Tr. opi:) मि. १०–१५ प्र. ४ घं. देने से या अमीनोफायलीन (Aminophylline) सिरामार्ग (I. V.) से देने से अथवा पारद के मूत्रल योग (Hg: diuretic) सी. १–२ पेशी मार्ग (I.M.) से देने से रात्रि मे श्वासकृच्छ्र का उद्वेग होने की कम सभावना रहती है। दक्षिण हृदयातिपात के कारण यदि डिजिटेलिस (Digitalis) प्रारम्भ की गई हो तब इस औषधि को जीवनपर्यन्त स्थाई मात्रा में (Maintenace dose) देना चाहिये। यह मात्रा प्रत्येक रोगी मे पृथक पृथक होती है।

नोट :—दोनो प्रकार के हृदयातिपात (Ht:failure) मे एड्रीनलीन (Adrenaline) का प्रयोग वर्जित है।

उच्चरक्तनिपीड़ (B. P.) तथा उससे सम्बन्धित हृदय की विकृतियाँ।

परिचय :—(१) साकोचिक (Systolic) रक्तनिपीड़ स्थायीरूप से १४० मि. मी. पा. से अधिक तथा विस्फारिक (Diastolic) रक्तनिपीड़ ६० मि. मी. पा. से अधिक रहने पर उच्चरक्तनिपीड़ माना जाता है। इन दोनो प्रकार के रक्तनिपीड के अन्तर को **नाड़ीनिपीड़** कहते हैं। साकोचिक रक्तनिपीड़ प्रायः आयु+६० मि.मी.पा. होता है। स्त्रियो मे ये संख्यायें उपर्युक्त मात्राओं से १० मि.मी.पा. कम होनी चाहिये। प्राकृत अवस्था मे ये मात्रायें आयु के अनुसार प्रायः निम्न होती हैं :—

पुरुषों में आयु के अनुसार रक्तनिपीड़ (B.P.) की मात्रायें।

आयु वर्ष में	सांकोचिक (Systolic)	विस्फारिक (Diastolic)	नाड़ी निपीड़ (Pulse pressure)
०-१	७५	६०	१५
१-६	८५	६५	२०
६-१२	१००	७०	३०
१२-२०	११५	७५	४०
२०-३०	१२०	८०	४०
३०-४०	१२२	८०	४२
४०-५०	१२७	८२	४५
५०-६०	१३२	८५	४७
६०-६५	१४०	९०	५०

साकोचिक की अपेक्षा विस्फारिक रक्तनिपीड़ का स्थायी रूप से ९० मि. मी. पा. से अधिक रहना उच्चरक्तनिपीड की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण तथा अनिष्टकारी है। उच्चरक्तनिपीड के रोगी मे प्रायः **धमनीजठरता** (Arteriosclerosis) तथा वामनिलय (Vent :) की परमपुष्टि (Hypertrophy) मिलती है। वृक्क की विकृति के कारण जब उच्च रक्त-निपीड होता है और परिणाम-स्वरूप हृदय मे भी विकृति हो जाती है तब उसको हृदय-वृक्क सरूप (Cardio-renal syndrome) कहते है।

(२) धमनीजरठता (Arterio-sclerosis) मे धमनी की भित्ती, मोटी तथा वक्र हो जाती है और उसका छिद्र छोटा हो जाता है। यह रोग प्रायः वृद्धावस्था मे होता है। अत्यधिक भोजन, परिश्रम, वृक्क के

रोग, अन्तःस्रावीग्रथियों (Endocrines) की विकृति, कोलेस्ट्रोल के समवर्त (Gholesterol Mbm) का विकृति, उपसर्ग के कारण धमनी में शोथ (Inflammation) आदि कारणों से यह रोग होता है।

(३) रक्तनिपीड़ का वर्गीकरण। (क) कारणज (Seconda-ry B. P.) :—इस अवस्था में अन्य किसी रोग के कारण उच्च रक्त-निपीड़ की उत्पत्ति होती है। ये रोग निम्न हैं :—१—वृक्क की कोषायें नष्ट हो जाने से या वृक्क के रक्त-प्रवाह में कमी होने से। यह अवस्था चिरकालीन वृक्कशोथ (Nephritis) में मिलती है।

२—उपवृक्क ग्रंथि (Suprarenal), पीयूषग्रंथि (Pituitary) या अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) के स्राव (Secretion) की वृद्धि होने से। यह विकृति इन ग्रन्थियों के अर्बुद (Tumor) में मिलती है।

३—मस्तिष्क में प्राणवायु (O_2) की कमी होने से, शोथ होने से या शीर्षान्तरीय निपीड (Intracranial tension) की वृद्धि होने से। ये विकृतियाँ मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), मस्तिष्कशोथ (Ence-phalitis) आदि में मिलती हैं। ४—रक्त के ठोस पदार्थों की वृद्धि होने से, जैसे बहुल कायाणुमयता (Polycythemia) में। ५—प्रत्येक हृत्स्पन्द (Ht : beat) में हृदय से अधिक मात्रा में रक्त निकलने से, जैसे :—महाधमनी प्रत्युद्गीरण (Aortic regurgitation) में। उच्च रक्त-निपीड़ के रोगियों में कारण जन्य रक्त निपीड़ के रोगियों की संख्या केवल **५ प्र॰ श.** होती है। इनकी चिकित्सा में प्रथम मूल कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। आ. अ. रक्त-निपीड़ की लाक्षणिक (Symptomatic) चिकित्सा कर सकते हैं।

(ख) अकारणज (Essetial hypertension) :—इनमें रोग का कारण नहीं मिलता। उच्च रक्त-निपीड़ के रोगियों में इनकी संख्या प्रायः **९५ प्र.श.** होती है। इनमें ९० प्र.श. को अघातक (Benign) तथा ५प्र.श. को घातक (Malignant) रक्तनिपीड़ होता। यह रोग दो प्रकार का होता है:—

(अ) अघातक (Hyperpiesis, benign hypertension):—इस प्रकार के उच्च रक्त-निपीड़ के रोगियों में प्रायः ५० प्र. श. को इस विकृति का ज्ञान नहीं रहता। ऐसे रोगियों की परीक्षा करते समय यदि उच्च रक्त-निपीड़ मिले तब रोगी को इसके विषय में बताना नहीं चाहिये। इनमें किसी प्रकार

की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। जिन रोगियों को इस लक्षण का ज्ञान रहता है उनमे चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। अघातक रक्त-निपीड़ प्रायः ४५ वर्ष की आयु के पश्चात होता है। रोग की वृद्धि शनैः शनैः होती है तथा इस लक्षण का ज्ञान होने के पश्चात रोगी सरलता से दस-पाँच वर्ष या इससे अधिक जीता है। धमनीजरठता (Arterio-sclerosis) तथा हृदय की परमपुष्टि (Hypertrophy) मिल सकती है। इस अवस्था मे विस्फारिक (Diastolic) रक्त निपीड़ प्रायः १३० मि. मी. पा. से कम होता है। हृदय, मस्तिष्क तथा वृक्क की कार्यशीलता प्राकृत रहती है। मूत्र मे अत्यल्प मात्रा में शुक्लि (Alb :) या निर्मोक (Cast) मिल सकते हैं।

(आ) **घातक** (Malignant) :—इस अवस्था में विस्फारिक रक्त-निपीड़ प्रायः १३० मि. मी. पा. से अधिक होता है। यह रोग प्रायः **४५ वर्ष से कम की** आयु में होता है। रोग की तीव्रता से वृद्धि होती है और रोगी की प्रायः २ वर्ष के अन्दर मृत्यु हो जाती है। इस रोग मे **दृष्टि बिम्ब-शोफ** (Papilloedema), शिर मे तीव्र पीड़ा, अर्धाङ्गघात (Hemiplegia), दृष्टिपटल (Retina) मे रक्तस्राव, अन्धता, मूर्च्छा, आक्षेप (Convulsions), मानसिक विकृति, मूत्रविषमयता (Uraemia) आदि लक्षण होते हैं। **निदान** की दृष्टि से विस्फारिक (Diastolic) रक्त-निपीड़ का १३० मि. मी. पा. से अधिक होना, दृष्टि बिम्बशोफ (Papilloedema) के कारण दृष्टि मे कमी तथा अंगघात (Paralysis) आदि लक्षण विशेष महत्वपूर्ण हैं। इस अवस्था की तत्परता से चिकित्सा करनी चाहिये।

(४) **लक्षण** :—उच्च रक्त निपीड़ की **प्रारम्भिक** अवस्था मे शरीर के भिन्न-भिन्न भागों की रक्त-वाहिनियों (B. V.) के अत्यधिक विस्फार (Dilatation) होने के कारण चक्कर, शिर मे पीड़ा, निद्रा में कमी, कानो मे आवाज सुनाई देना (Tinnitus), वक्ष, ग्रीवा के पीछे तथा शिर के पीछे (Occiput) पीड़ा, कभी-कभी चेहरे का लाल हो जाना, श्वास लेने मे कष्ट, दिल में धड़कन (Palpitation) आदि लक्षण होते हैं। **मानसिक** क्रियाओ में कमी हो जाने के कारण, स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती है। एकाग्रता मे कमी, थकावट, **कमजोरी,** आलस्य आदि लक्षण होते हैं। धमनियो में विकृति के कारण उनमे रक्त-प्रवाह की कमी होती है और चलते समय पैरों मे पीड़ा (Intermittent claudication),

कर्दम (Gangrene), हृच्छूल (Angina) आदि लक्षण होते हैं।

रोग की अन्तिम अवस्था में अत्यधिक निपीड़ के विरुद्ध कार्य करने के कारण हृदयातिपात (Ht failure) हो सकता है या धमनी के फट जाने के कारण मस्तिष्क में या दृष्टिपटल (Retina) में रक्तस्राव (Bleeding) होता है और अङ्गघात (Paralysis), अन्धता आदि लक्षण होते हैं। निपीड़ का प्रभाव वृक्क पर भी पड़ता है और वृक्क की कार्यशीलता में कमी होने के कारण मूत्रविषमयता (Uraemia) की उत्पत्ति होती है।

(५) **रोगी की परीक्षा** करने पर धमनीजरठता(Arterio-sclerosis) के कारण परिसरीय धमनियाँ मोटी तथा वक्र हो जाती हैं। हृत्परीक्षा करने पर वाम निलय (Vent :) की वृद्धि मिलती है। हृदयाग्र (Apex) पर प्रथम शब्द गम्भीर (Booming) तथा महाधमनी स्थान पर (Aortic second sound) द्वितीय शब्द तीव्र हो जाता है। विद्युतहृल्लेख (Ecg) द्वारा हृदय की परीक्षा करने पर हृत्पेशी (Myocardium) में विकृति का प्रमाण मिलता है। क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा में महाधमनी (Aorta) का विस्फार मिलता है।

चिकित्सा (क) सिद्धान्त :—उच्चरक्त निपीड़ की चिकित्सा, रोग के **कारण, लक्षणों** की उग्रता तथा रोग की अवस्था के अनुसार की जाती है। यथासभव रोग के कारण का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि रोग का कारण पता न लगे तब उच्चरक्त निपीड़ की लाक्षणिक (Symptomatic) चिकित्सा पर निर्भर करना पड़ता है। उच्चरक्त निपीड़ का निदान करने के पूर्व रोगी का रक्तनिपीड़ अनेक बार देखना चाहिये। जिस रोगी को उच्च रक्तनिपीड़ का ज्ञान न हो तथा रक्तनिपीड़ के कारण कोई लक्षण न हो उस रोगी की चिकित्सा अनावश्यक है। रोग अत्यन्त जीर्ण होने के कारण तथा औषधि द्वारा रक्तनिपीड़ को अधिक कम करना सम्भव न होने के कारण रोगी को सान्त्वना देना तथा उसकी हिम्मत बनाये रखना चाहिये औषधियों द्वारा रक्तनिपीड़ कम करने की अपेक्षा यह प्रयत्न करना चाहिये कि जितना रक्तनिपीड़ है उससे और बढ़ने न पाये।

(ख) भोजन :—शाकाहारी भोजन सर्वोत्तम है। भोजन में **चावल** की प्रधानता रहनी चाहिये। **लवण** (Nacl) अत्यन्त अल्प मात्रा में देना चाहिये। **मोटे रोगी** के भोजन में कमी कर वजन कम करने का प्रयत्न करना

चाहिये । **जल** की मात्रा एक सेर प्र० दि० से कम होनी चाहिये । चावल, फल, शर्करा, सब्जी आदि दे सकते है । भोजन मे जल, लवण, मास तथा वसा (Fat) की मात्रा कम रहनी चाहिये तथा भोजन कम कैलोरी (C) वाला होना चाहिये । कार्बोज (Cho), जावतिक्ति 'बी', 'सी' (Vit:B,C) की मात्रा अधिक होनी चाहिये। एक बार मे अधिक भोजन नही करना चाहिये। चाय, कौफी, मद्य तथा तमाखू का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

(ग) साधारण चिकित्सा :—रोगी का आहार, विश्राम, व्यायाम तथा निद्रा आदि नियमपूर्वक होनी चाहिये । दिन मे भोजनोत्तर विश्राम तथा रात्रि मे ८ घण्टे निद्रा आवश्यक है । मानसिक उद्वेग, चिन्ता आदि से रोगी को बचना चाहिये । सप्ताह मे एक या दो बार **विरेचक औषधि** (Purgatives) जैसे घृतकुमारी (Aloes), कैसकरा (Cascara) आदि का प्रयोग तथा **उपवास** करना चाहिये । जलवायु तथा वातावरण के परिवर्तन से भी लाभ होता है । रोगी के रक्तनिपीड़ की बार बार परीक्षा नहीं करना चाहिये तथा रक्तनिपीड अत्यधिक रहने पर उसे बताना भी नही चाहिये । रोगी की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने से उसमे विश्वास उत्पन्न होता है । रोगी को निरन्तर शैय्या पर लिटा कर नहीं रखना चाहिये । इससे मानसिक अवसाद (Depression) होता है । यह ध्यान रखना चाहिये कि इस रोग की उत्पत्ति मे मनोवैज्ञानिक (Psy) कारणो का विशेष महत्व है, इसलिये कोई ऐसा कार्य नही करना चाहिये जिससे रोगी को चिन्ता अथवा मानसिक कष्ट हो। **चिन्ता** कम करने के लिये फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे ¼–½ त्रि० प्र० दि० अथवा अन्य **शामक** (Sedative) औषधि देना चाहिय । शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम से बचना चाहिये । रोग के अनुकूल दिनचर्या मे परिवर्तन करना चाहिये । आ० अ० विश्राम करना चाहिये । शीतकी अपेक्षा शुष्क तथा ऊष्ण जल वायु अधिक उपयुक्त है । जाडे मे समुद्रतट पर रहना विशेष कर श्वसन संस्थान के रोगियो के लिये लाभप्रद है । गर्मी मे पहाड़ पर जा सकते हैं परन्तु पहाड़ की ऊँचाई ३००० फिट से अधिक न होनी चाहिये तथा पहाड़ पर अधिक वर्षा नहीं होनी चाहिये । स्थान शीतल तथा शुष्क होना चाहिये । नौकरी करने वालो को प्रतिवर्ष २–३ मास छुट्टी लेकर वातावरण मे परिवर्तन करना चाहिये । अधिक व्यायाम अच्छा नही है । साधारण व्यायाम लाभप्रद है जैसे, शुद्ध वायु मे टहलना, तैरना आदि। थकावट मालूम होने पर विश्राम

करना चाहिये। इसका ध्यान रखना चाहिये कि रोगी की स्वतन्त्रता में अधिक कमी करने से रोगी को मानसिक कष्ट होता है और रक्तनिपीड की वृद्धि होती है। दिन भर का कार्य समाप्त करने के पश्चात् अपने कार्य अथवा व्यवसाय के विषय में सन्ध्या समय भूल जाना चाहिये। समय-समय पर छुट्टी लेकर मनोरञ्जन करना चाहिये। शामक औषधियों द्वारा मन को शान्ति देने की अपेक्षा जीवन का आनन्द लेते हुये, जीवन सम्बन्धी विषयों को दार्शनिक की दृष्टि से देखने से चिन्ता में कमी होती है, मन को शान्ति मिलती है तथा रात्रि में निद्रा आती है।

(घ) **रक्त निपीड़ कम करने की औषधियाँ :**—(१) **पोटासियम थायोसायनेट** (Pot: thiocyanate) :—इस औषधि का परिणाम निराशाप्रद है। **विषाक्त** (Toxic) होने के कारण वृक्क की विकृति में अथवा रक्तवाहिनियों की प्राचीर से रक्तस्राव होने पर (Increased fragility) इसको प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसको निरन्तर प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। इसको सप्ताह में दो दिन से अधिक नहीं देना चाहिये और एक सप्ताह देने के पश्चात् एक सप्ताह के लिये औषधि बन्द कर देना चाहिये। इसके प्रयोग के समय इस औषधि की मात्रा प्र० १०० सी० सी० रक्त में मि.ग्रा.१० से अधिक नहीं होनी चाहिये। इसलिये इसकी चिकित्साक्रम में रक्त-परीक्षा बार-बार करना आवश्यक है। २–४ सप्ताह प्रयोग करने के पश्चात् लाभ न प्रतीत होने पर अथवा विषाक्तता के लक्षण होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। इसकी **विषाक्तता** के कारण चक्कर, विस्फोट (Rash), मानसिक विकृति, त्वचा में रक्तस्राव, शीतपित्त (Urticaria), नीलोहा (Purpura), दौर्बल्य आदि लक्षण होते है। उच्च रक्तनिपीड जन्य सिर की पीड़ा में यह विशेष लाभदायक है। **मात्रा :**—ग्रा० ०·१–०·२ त्रि० प्र० दि० भो० प० देना चाहिये।

(२) **वेराट्रम विराइड** (Veratrum viride) :—यह औषधि हानिकर नहीं है परन्तु कभी कभी साधारण **विषाक्तता** के लक्षण होते हैं जैसे :—हृदय की गति का मन्द होना, हिचकी, मिचली, वमन आदि। यह औषधि रक्तवाहिनियों का विस्फार (Vasodilator) कराती है। **मात्रा :**—गो. १–२ आ. अ.।

(३) **हेक्सामेथोनियम** (Hexa-methonium) :—यह

औषधि अपर स्वतन्त्र वातनाड़ी-सस्थान (Parasympathetic) तथा स्वतंत्र वातनाडी-सस्थान (Syampathetic) दोनों का अवरोध करती है। औषधि **विपाक्त** है। वृद्धावस्था में अष्ठीलाग्रन्थि (Prostate) की वृद्धि रहने पर इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसकी **विपाक्तता** के कारण दिखलाई देने में कमी, कब्ज, आध्मान (tympanites), मूत्राशय (Bladder) की शिथिलता, लालास्राव (Saliva) मे कमी, षण्ढता (Impotency), पसीने में कमी, घनास्रता (Thrombosis), आन्त्र-घात (Paralytic ileus) तथा रक्तनिपीड़ की अत्यधिक कमी आदि लक्षण होते हैं। **मात्रा** :—मि. ग्रा. १००–२००० प्र. दि. मुख से दें।

(४) **एप्रेसोलीन** (Apresoline, hydrazinophthalazine 'Ca') :—वृक्क से एक पदार्थ की उत्पत्ति होती है जो रक्तनिपीड़ की वृद्धि करता है। इस पदार्थ को यह औषधि नष्ट करती है। मात्रा २५—२०० मि. ग्रा. चा प्र. दि.। **विपाक्तता** :—ज्वर, शरीर मे पीड़ा, शोफ (Oedema), शिर में पीड़ा, लालास्राव (Saliva) की वृद्धि आदि लक्षण होते हैं।

(५) **हेक्सामेथोनियम** (Hexamethonium chloride) तथा **एप्रेसोलीन** (Apresoline) का एक साथ प्रयोग कर सकते हैं। साकोचिक (Systolic) रक्तनिपीड़ के अनुसार मुख द्वारा **प्रथम औषधि** मि. ग्रा. १००–२००० तक प्र. दि. तथा **द्वितीय औषधि** मि. ग्रा. ७५–६०० तक प्र. दि. दे सकते हैं। ये मात्रायें ६ भागों मे विभाजित कर प्र. ४ घ. देना चाहिये। **प्रथम सप्ताह** केवल प्रथम औषधि देकर देखना चाहिये। **तत्पश्चात** द्वितीय औषधि भी साथ साथ प्रारम्भ करना चाहिये। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधिपर्यन्त **प्रत्येक मात्रा के पूर्व रक्तनिपीड़ (B. P.) देखना आवश्यक** है। साकोचिक (Systolic) रक्तनिपीड़ १२० मि. मा. पा. से कम होने पर प्रथम औषधि प्रयोग नही करना चाहिये। आन्त्र अथवा मूत्राशय (Bladder) के कार्य न करने के कारण आध्मान (Tympanites), कब्ज, मूत्रनिरोध (Retention) आदि लक्षण हो सकते हैं। इस अवस्था मे प्रोस्टिगमीन (Prostigmin) गो. १ या यूरीकोलीन (Urecholine) मि. ग्रा. ५–१० आ. अ. दे सकते है। **कब्ज** रहने पर इन औषधियों से हानि हो सकती हैं। इसलिये कब्ज की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रक्तनिपीड़

को अत्यन्त शनैः शनैः कम करना चाहिये। वृक्क के कार्य न करने पर इनका अत्यल्प मात्रा में प्रयोग करना चाहिये अन्यथा ये रक्त में संचित होकर **विषाक्तता** कर सकती हैं।

रक्तनिपीड़ अत्यधिक हो जाने पर मस्तिष्कशोफ (Oedema brain), मस्तिष्कगत रक्तस्राव (Cerebral haemorrhage), वाम हृदयातिपात (Lt : ht : failure) आदि लक्षण हो सकते हैं। इस अवस्था मे **प्रथम** औषधि मि. ग्रा. ५—१० प्र. घंटे देना चाहिये। ये दोनो औषधियाँ सिरामार्ग (I. V.) से मि. ग्रा. ०·५ की मात्रा में दे सकते हैं परन्तु दोनो औषधियाँ एक साथ सिरामार्ग से नहीं देना चाहिये अन्यथा रक्तनिपीड़ अत्यन्त कम होने के कारण रोगी की मृत्यु हो सकती है।

इन दोनों औषधियो के **कम मात्रा** मे प्रयोग करने से रक्तनिपीड़ मे अकस्मात वृद्धि होने की सम्भावना रहती है। परिणामस्वरूप मस्तिष्क मे रक्तस्राव होने के कारण अंगघात (Paralysis) तथा मस्तिष्कशोफ (Cerebral oedema) के कारण मूत्रविषमयता (Uraemia) के लक्षण होते हैं। फुफ्फुस में भी शोफ (Oedema) हो सकता है। **अधिक मात्रा** मे औषधि देने से रक्तनिपीड़ मे अकस्मात कमी हो सकती है। परिणामस्वरूप वृक्क की रक्तवाहिनियों (B. V.) मे निपीड़ की कमी के कारण मूत्र का निर्माण नहीं होता और मूत्रविषमयता के लक्षण होते हैं। मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों मे घनास्रता (Thrombosis) के कारण अंगघात तथा हृत्धमनी (Coronary) की घनास्त्रता के कारण हृत्पेशी (Myocardium) के एक भाग की मृत्यु (Infarct) हो सकती है। इन औषधियो को प्रारम्भ करने पर अत्यन्त शनैः शनैः मात्रा की वृद्धि करनी चाहिये। औषधि को कम से कम ३—६ मास प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात मात्रा में शनैः शनैः कमी करनी चाहिये।

(६) **रक्तवाहिनी विस्फारक औषधियाँ** (Vasodilators) :— इन औषधियो मे भिन्न प्रकार के नाइट्राइट (Nitrite) के योग प्रायः प्रयोग किये जाते हैं। इनसे उच्च रक्तनिपीड़ जन्य शिर की पीड़ा में कमी होती है। इसके अतिरिक्त और कोई विशेष लाभ नहीं होता। धमनीजरठता (Arteriosclerosis) मे विशेष सावधानी आवश्यक है अन्यथा रक्तनिपीड़ मे अत्यधिक कमी होने पर मस्तिष्क मे घनास्रता (Thrombosis) होने की

सम्भावना रहती है। **मात्रा :**—सोडियम नाइट्राइट (Na:Nitrite) ग्रे. ½–२ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं।

(ङ) शल्यचिकित्सा (१) स्वतंत्रवातनाड़ी उच्छेदन (Sympathectomy) :—यह कर्म ४५ वर्ष से कम की आयुवाले रोगो मे करना चाहिये। **अकारणज** उच्चरक्तनिपीड़ (Essential hypertension) मे शल्यचिकित्सा से लाभ हो सकता है। शल्यचिकित्सा करने के पूर्व हृदय, वृक्क आदि अवयवो तथा रक्त मे नाइट्रोजन (N. P. N.) का प्राकृत होना आवश्यक है। यह क्रिया विशेषकर शिर मे अत्यधिक पीड़ा रहने पर या अंगघात (Paralysis) होने पर अथवा नेत्र मे रक्तस्राव होने की संभावना रहने पर की जाती है।

(२) सिरा से रक्त निकालना (Venisection) :—रक्तनिपीड़ शीघ्रता से कम करने के लिये १०–२०औं. रक्त सिरा से निकाल (पृ.६) सकते हैं। परिणाम अस्थायी है।

(३) पृष्ठवंश (Spine) के समीप अपर स्वतंत्र वातनाड़ी ग्रंथि (Parasympathetic ganglion) मे मद्य का इंजेक्शन दे सकते है।

(च) विशेष परिस्थिति की चिकित्सा :—

(१) उच्चरक्त निपीड़ के रोगी को यदि अपने रक्तनिपीड़ का ज्ञान न हो तथा उसमें कोई लक्षण न मिले तब उसको रक्तनिपीड़ के विषय मे बताना नहीं चाहिये। इसमे किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है।

(२) अकारणज (Essential) **उच्चरक्त निपीड़ :-(अ) अघातक** (Benign) :—**निदान** की दृष्टि से वृक्क के रोग का इतिहास, आकस्मिक घटना, उपसर्ग, शल्यकर्म (Op), गर्भावस्था आदि का इतिहास महत्वपूर्ण है। ये अवस्थायें मानसिक स्थिति में परिवर्तन कर उच्च रक्तनिपीड़ की उत्पत्ति कर सकती है।

(क) साधारण अवस्था की चिकित्सा :—मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, शामक (Sedative) औषधियों का प्रयोग, उपयुक्त आहार, शारीरिक तथा मानसिक विश्राम, मोटे रोगी के वजन मे कमी करना तथा रोग की साधारण चिकित्सा आवश्यक है। इनसे लाभ न होने पर रक्तनिपीड़ कम करने की औषधियाँ जैसे सरपीना (Serpina), सरपासिल (Serpacil) आदि प्रयोग कर सकते हैं। हृदय तथा वृक्क की अवस्था प्राकृत रहने पर स्वतंत्र वात–

नाड़ी का उच्छेदन (Sympathectomy) कर सकते हैं।

(ख) गम्भीर अवस्था :—४–१२ वर्ष के अन्दर प्रायः रोगी की मृत्यु हो जाती है। नेत्र में रक्तस्राव (Bleeding) होता है। वृक्क तथा हृदय की कार्यशीलता में प्रायः कमी हो जाता। हृदयातिपात (Ht:failure) के लक्षण मिलते हैं। रक्त में नाइट्रोजन (N.P.N.) की वृद्धि होती है।

भिन्न प्रकार के उच्च रक्तनिपीड़ (B. P.) की चिकित्सा

उच्च रक्तनिपीड़ के प्रकार	साधारण चिकित्सा तथा भोजन	पोटाशियम थायोसायनेट (Pot:thiocyanate)	सर्पगन्धा (R. Serpentina)	रक्तवाहिनीविस्फारिक (Vasodilator)	स्वतन्त्र वातनाड़ी (Sympathetic) अवरोधक	वृक्कजन्य विष (Pressure) नाशक	स्वतन्त्र वातनाड़ी उच्छेदन (Sympathectomy)
लक्षणरहित रोगी को उच्च रक्तनिपीड़ का ज्ञान न रहने पर	—	—	—	—	—	—	—
अकारणज अघातक (Benign essential) की साधारण अवस्था	+		+				+
अकारणज, अघातक की गम्भीर अवस्था	+		+		+	+	—
अकारणज घातक (Malignant)	+	+	+	+	+	±	±

चिकित्सा :—रोग की साधारण अवस्था के समान चिकित्सा करनी चाहिये। इससे लाभ न होने पर रक्तनिपीड़ कम करने की औषधियाँ प्रयोग कर सकते हैं। जैसे स्वतन्त्रवातनाड़ी (Sympathetic) का अवरोध

करने वाली औषधियाँ (Hexa methonium), वृक्कजन्य विष (Pressure substance) को नाश करने वाली औषधियाँ (Apresoline 'Ca') आदि ।

(आ) घातक (Malignant) :—इस अवस्था मे रक्त-निपीड़ अत्यन्त शनैः शनैः तथा औषधि की अत्यल्प मात्रा द्वारा कम करने का प्रयत्न करना चाहिये । चिकित्सा अघातक (Benign) की गम्भीर अवस्था के समान है । रोगी की आयु ५५ वर्ष से कम होने पर तथा रक्त मे नाइट्रोजन (N.P.N.) की मात्रा प्राकृत रहने पर तथा हृदयातिपात (Ht : failure) के लक्षण न रहने पर स्वतन्त्र वातनाड़ी उच्छेदन करने से (Sympathectomy) रोग की प्रगति कुछ समय के लिये रोकी जा सकती है । रक्तवाहिनी विस्फारक (Vasodilators, veratrium, nitrite, pot : sulphocyanate, thiocynates) औषधियों के प्रयोग न करने का यदि कोई विशेष कारण न हो तब ये औषधियाँ दे सकते हैं ।

(छ) उच्च रक्त-निपीड़ की अन्य औषधियाँ :—लूगोल की आयोडीन (Lugol s iodine यो. ६७) या फ्रेन्च कोडेक्स आयोडीन (French codex iodine) मि. ५ पुरानी औषधियों में प्रधान हैं । **सर्पगन्धा के योग** (Serpina 'H. D,' serpacil 'Ca') को गो.१ द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं । रजोनिवृत्ति (Menopause) के समय ओयेस्टरीन (Oestrin), ल्यूटोसाइक्लिन (Lutocyclin 'Ca'), ओवोसाइक्लिन (Ovocyclin 'Ca') आदि मुख द्वारा अथवा इन्जेक्शन द्वारा दे सकते हैं । इस आयु मे प्रायः स्त्रियाँ स्थूल हो जाती हैं । इनको अवटुकाग्रंथि सत्व (Thyroid ext :) ग्रे. १/२–१ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं । अवटुकाग्रंथि सत्व की अधिकता (Thyrotoxicosis) के कारण रक्त निपीड़ अधिक होने पर थायरोमील (Thiouracil) का प्रयोग करना चाहिये ।

(ज) उपद्रवों की चिकित्सा :—शिर की पीड़ा प्रायः मानसिक कारणों से होती है । सान्त्वना देने से लाभ होता है । साथ-साथ **दृष्टि बिंब-शोफ** (Papilloedema) रहने पर तथा दिखलाई देने मे कमी होने पर कटिवेध (L. P.) करना चाहिये । विश्राम करने से तथा सिर ऊँचा कर सोने से भी सिर की पीड़ा कम होती है । मध्याह्न के पश्चात् जल की मात्रा कम कर देना चाहिये । दिन मे नाइट्राइट (Tab : trinitrini)

ग्रे. १/४००–१/२०० तथा सोने के पूर्व अरगोटामिनटार्ट (Ergotamine-tart) की गोली १ देकर देख सकते हैं। **शीर्षान्तरीय निपीड़ (Intra-cranial tension) की वृद्धि होने** पर तथा तीव्र **मस्तिष्कशोफ** (Cerebral oedema) में सावधानी पूर्वक कटिवेध (L. P.), सिरावेध (V. S.), मूत्रल औषधियाँ, मैगसल्फ आदि आक्षेपनिरोधी (Anti-convulsant) औषधियाँ प्रयोग करना चाहिये।

आरोही गवीनीमुखशोथ (Pyelonephritis) आदि उपसर्ग में तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियाँ देना चाहिये। **मस्तिष्कगत घनास्रता** (Thrombosis), रक्तस्राव, हृच्छूल (Angina), हृदयातिपात (Ht : failure), वृक्कशोथ (Nephritis) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। हृच्छूल (Angina) तथा अंगवात (Paralysis) का इतिहास रहने पर रक्तनिर्पीड़ कम करने वाली औषधियों से हानि हो सकती है। कब्ज, निद्रानाश, शिर में पीड़ा, मूत्रविषमयता (Uraemia), उपसर्ग (Ifn), मस्तिष्कशोफ (Cerebral oedema) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

(फ) **उच्चरक्त-निपीड़ की आयुर्वेदिक चिकित्सा** :—इस रोग की चिकित्सा वात रोगियों के समान होनी चाहिये। प्रथम स्नेहन कराकर मृदु औषधियो से विशोधन करे जैसे, एरण्ड तेल दुग्ध में डाल कर दें। दुर्बल व्यक्तियों को निरूह का प्रबन्ध करे जिससे वायु का अनुलोमन हो फिर पाचन-दीपन भोजन से उपचार करे। स्वादु अम्ल लवण रस वाले स्निग्ध अन्नपान दे।

इसके अतिरिक्त रक्त में वात स्थित होने पर शीतल प्रदेह, विरेचन व रक्तमोक्षण (Venesection) भी हितकारी होते है जैसा कि प्रगट है :—
शीताः प्रदेहारक्तस्थे विरेकोरक्तमोक्षणम्। च. चि. अ. २८ श्लो. ८६।

रक्त मोक्षणार्थ शृंग, जोंक, सुई, अलाबू, प्रच्छानमें से किसी का प्रयोग उपयुक्त विधि से करें। शीतल जल से स्नान, कोष्ठशुद्धि, सात्विक आहार-विहार लाभप्रद हैं। भावावेश वाली बातो व चिन्ता से दूर रहना चाहिए।

औषधियाँ :—निर्गुण्डी तैल, अमृतादि तैल, रास्नादि तैल, चतुःस्नेह घृत, बला घृत, रास्नादि घृत, वात-रक्तान्तक रस, विश्वेश्वर रस, पुनर्नवा गुग्गुलु, सर्पगन्धा वटी।

हृदय की अनियमिततायें (Irregularities) :—

हृदय की अनियमितताओं की चिकित्सा की तब आवश्यकता पड़ती है जब अनियमितता के कारण हृदय के कार्य मे विकृति होती है। इन अवस्थाओं की चिकित्सा का ध्येय है कि निलय की कार्यशीलता मे किसी प्रकार की कमी न हो।

(१) निलयीय अतिरिक्त संकोच (Vent:ex:systole):— किसी अज्ञात कारण से हृदय मे प्रेरणायें (Impulse) निलय के किसी भाग मे उत्पन्न होती हैं और निर्धारित समय के पूर्व निलय का सकोच होता है। नाड़ी की गति मन्द हो सकती है।

चिकित्सा :—यह रोग गुणकर्मीय (Functional) होने के कारण इसकी चिकित्सा अनावश्यक है। साथ-साथ हृदय की रचनात्मक (Organic) विकृति भी रहने पर अतिरिक्त संकोच की चिकित्सा कर सकते हैं। तमाखू सेवन, उपसर्ग (lfn), अत्यधिक भोजन, आध्मान (Tympanites), डिजिटेलिस की विषाक्तता आदि कारणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। डिजिटेलिस (Digitalis) की विषाक्तता के कारण यह विकृति होने पर यह औषधि बन्द कर देना चाहिये। रोगी को सान्त्वना देना चाहिये। चिन्ता के लिये **फेनोबारबिटोन** (Phn) ग्रे० ¼–½ चा० प्र० दि० या पापावेरीन (Papavarine) ग्रे० १–३ द्वि० या त्रि० प्र० दि० अथवा पोटास ब्रोमाइड (Pot:bromide) ग्रे० १० त्रि० प्र० दि० दें।

क्विनीडीन (Quinidine) का प्रायः प्रयोग किया जाता है। यह औषधि डिजिटेलिस से कम हानिकर है। विशेषकर यदि हृत्पेशी (Myocardium) मे अन्तःस्फान (Infarct) की सम्भावना हो तब क्विनीडीन का ही प्रयोग करना चाहिये। इसका ग्रे० ३ प्र० ३ घं० दें। इस औषधि के कार्य न करने पर **प्रोनेस्टिल** (Pronestyl, Procaine amide hyd:) दी जाती है। इसका ग्रे० ४–७½ त्रि० या चा० प्र० दि० दें। **पोटास एसिटस** (Pot:acetas) ड्रा० ½–१ चार से छ बार प्र.दि. दे सकते हैं।

(२) निलयीय प्रावेगिक शीघ्रहृदयता (Vent : paroxysmal tachycardia) :—इसमें उत्तेजना (Impulse) की उत्पत्ति निलय में नियमित रूप से १५०–२०० प्र० मि० की गति से होती है। यह विकृति प्रायः हृत्पेशी (Myocardium) में गम्भीर विकृति होने से होती है जैसे :—हृत्धमनी (Coronary) के रोग के कारण हृत्पेशी मे अन्तः स्फान

(Infarct) होने के पश्चात या डिजिटेलिस की विषाक्तता के कारण आदि।

चिकित्सा:-(क) आवेग के समय:-डिजिटेलिस (Digitalis) वर्जित है। **क्वीनीडीन (Quinidine) प्रथम दिन** ग्रे० ५ प्र० २ घं० दें। अनियमितता का अकस्मात ठीक होना अच्छा नहीं है। प्रत्येक मात्रा देने के पूर्व हृदय की गति गिनना चाहिये। लाभ न होने पर **दूसरे दिन** ग्रे. १० प्र. २ घं. दें। मुख से प्रयोग न कर सकने पर पेशीमार्ग (I.M.) से सी.सी. १ (ग्रे. ३) प्र. ३ घण्टे दे सकते हैं। आ. अ. औषधि की मात्रा सी. सी. ३ तक कर सकते हैं। क्विनीडीन कार्य न करने पर **प्रोनेस्टिल** (Pronestyl) मुख से अथवा **मैगसल्फ** (Mag:sulph) २० प्र. श. सी. सी. १० शनैः शनैः सिरा (I. V.) से दे सकते हैं। **अत्यन्त गम्भीर** अवस्था में क्विनीडीन या प्रोनेस्टिल सिरा या पेशि मार्ग से दे सकते हैं। सिरा से औषधि प्रयोग करते समय बराबर हृत्शब्द सुनते रहना चाहिये तथा क्वीनीडीन के सपूर्ण इञ्जेक्शन में २० मिनट समय लगना चाहिये। सी. सी. २० (सी. सी. १ = मि. ग्रा. ४०) तक प्र. दि. दे सकते हैं।

क्विनीडीन बूँद बूँद कर मि. ३० प्र. मि. की गति से सिरा (Drip-method) से दे सकते हैं। इसके लिये क्वीनडीन ग्रे. ५० ग्लूकोस ५ प्र. श. पा. १ मे मिला कर दे सकते हैं। अनियमितता ठीक हो जाने पर औषधि तत्काल बन्दकर देना चाहिये। **सिरामार्ग** से ये दोनों औषधियाँ प्रयोग करते समय यदि हृत्शब्द मे परिवर्तन हो या हृदय की गति कम हो अथवा अनियमितता बन्द हो जाय या रक्तनिपीड़ कम हो जाय तब औषधि बन्द कर देना चाहिये। **रक्तनिपीड़** (B.P.) देखना आवश्यक है। प्रोनेस्टिल की मात्रा अधिक होने पर अलिंदीय तन्तु प्रकम्प (A.F.) होने की सम्भावना रहती है।

प्रोनेस्टिल के प्रयोग से श्वेतकणों (W. B C.) की सख्या मे अत्यधिक कमी हो सकती है। इस औषधि को मुख से ग्रे. ७½-१५ प्र. ४-६ घं. दे सकते हैं। इसको **पेशी** मार्ग से ग्रे. ७½-१५ या सिरामार्ग (I. V.) से इसका १० प्र. श. घोल ½-१० सी. सी. १० मिनट में देना चाहिये।

मैगसल्फ के प्रयोग के समय प्रतिक्रिया होने पर तत्काल कैलसियम (Cal:gluconate) १० प्र. श. १० सी. सी. सिरामार्ग से देना चाहिये। क्वीनीडीन की अपेक्षा प्रोनेस्टील अधिक विषाक्त है। हृदयातिपात अथवा वृक्क की कार्यहीनता के लक्षण रहने पर इन औषधियों को कम मात्रा में देना चाहिये।

रक्तनिपीड़ के कम हो जाने पर **नेयोसाइनेफ्रीन** (Neo:synephrine) मि. ग्रा. ५ तत्काल पेशीमार्ग से दें। आवेग के समय **पोटास** एसिटस (Pot:acetas) ड्रा १–२ मुख से या **मोरफीन** (Morphine) ग्रे. ½ सिरा से अथवा **पोटास क्लोराइड** ग्रे. ४५ ग्लूकोस ५ प्र. श. पा. २ में मिलाकर सिरामार्ग (I.V.) से देने से भी अनियमितता बन्द हो सकती है।

(ख) आवेग के पश्चात् तथा आवेग से बचने के लिये :— **क्विनीडीन** (Quinidine) ग्रे. ३–६ त्रि. प्र. दि. **अथवा** प्रानेस्टिल (Pronestyl) ग्रे. ३¾–७½ प्र. ४ घ. देना चाहिये। लाभ न होने पर इन औषधियों की मात्रा ग्रा. अ. मे. ३ प्र. दि. बढ़ाना चाहिये।

(२) अलिंदीय प्रावेगिक शीघ्रहृद्‌यता (Auricular paroxysmal tachycardia) :—इस रोग में उत्तेजनाओं (Impulse) की उत्पत्ति अलिंद (A) में होती है। हृदय की गति १५०–२०० प्र. मि. हो जाती है। तमाखु, परिश्रम, थकावट, उत्तेजक पदार्थ (Stimulants) आदि के प्रयोग से इसका उद्वेग प्रारम्भ हो सकता है। नाड़ी की गति तीव्र परन्तु नाल नियमित होती है। स्वस्थ मनुष्य में भी युवावस्था में कभी कभी यह रोग मिलता है। अवटुकाग्रन्थि के सत्व की वृद्धि (Hyper-thyroidism) में, आमवात (Rheumatism), हृत्पेशी के अन्तःस्फान (Infarct) आदि रोगों में यह उपद्रव मिलता है।

चिकित्सा :—इसका उद्वेग प्रायः स्वयं ही शान्त हो जाता है। परन्तु रोगी को यदि अधिक समय तक उद्वेग रह जाने के कारण विशेष कष्ट हो या हृदय के मूल रोग में वृद्धि हो अथवा हृच्छूल (Angina), हृदयातिपात (Ht: failure), मूर्छा आदि उपद्रव हों तब चिकित्सा करना आवश्यक होता है।

(क) उद्वेग के समय :—(१) साधारण :—प्राणदा (Vagus) वातनाड़ी को उत्तेजित करने, वमन कराने, श्वास रोकने, ठण्डा जल पीने, प्राणायाम करने, उदर दबाने, नेत्रगोलक (Eyeball) दबाने, उदर पर कस कर वस्त्र से बाँधने, रोगी को चुपचाप दोनों घुटनों (Knees) के बीच में सिर रखकर बैठने, सिर नीचा कर लेटने, शरीर को झुका कर हाथ फैलाने आदि क्रियाओं से उद्वेग शान्त हो जाता है। हृच्छूल, मूर्छा तथा हृदय के गम्भीर रोगों में वमन नहीं कराना चाहिये। इन क्रियाओं से लाभ न होने पर रोगी को लिटा कर ग्रीवा में दक्षिण ओर की मन्याधमनी (Carotid-

art:) को अवटुका तरुणास्थि (Thyroid cartilage) की ऊपरी सीमा के समीप उरोकर्ण मूलिका पेशी (Sternomastoid) की पूर्व मर्याद (Ant : border) के समीप १/२ मिनट तक दबाना चाहिये। तत्पश्चात यही क्रिया ग्रीवा के वाम ओर करना चाहिये। ग्रीवा के दोनों ओर एक साथ नही दबाना चाहिये। वृद्धावस्था मे इस क्रिया से मस्तिष्क की धमनियों मे घनास्रता (Thrombosis) हो सकती है। हृदय को बराबर सुनते रहना चाहिये। हृदय की गति मन्द होने पर या हृत्शब्द न सुनाई देने पर दबाना बन्द कर देना चाहिये। वमन कराने के लिये टि. इपीकाक (Tr : ipecac) औ. १/२–१ देना चाहिये।

(२) **औषधियाँ :—क्वीनीडीन** (Quinidine) का प्रयोग सर्वोत्तम है। इसका ग्रे. ५ प्र. २ घ. कर ५ बार मुख से दे सकते है। गम्भीर अवस्था मे इसको पेशी या सिरा से दे सकते हैं। **डिजिटेलिस** (Digitalis) के योग सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते हैं। डिजिटौक्सीन (Digitoxin) मि. ग्रा. १·२ या सिटानलिड (Cetanalid, lanatocide, digilanid 'C') सी. सी. ४–८ (सी. सी. १=मि. ग्रा. ०·२) या ओआबेन मि. ग्रा. १/४–१/२ सिरा से दे सकते है। डिजिटेलिस के योग सिरामार्ग से प्रयोग करने के पूर्व जान लेना आवश्यक है कि यह औषधि निकट भविष्य मे रोगी को दी तो नही गई है। प्राणदा वातनाड़ी (Vagus) को उत्तेजित करने के लिये **प्रोस्टिगमीन** (Prostigmine, neo-stigmine) मि. ग्रा. १/२–२ पेशीमार्ग (I. M.) से या कार्बाकोल (Carbachol B. P.) मि. ग्रा. ०·०५–०.१ प. ज. १० सी. सी. मे मिलाकर सिरा (I.V.) मार्ग से अथवा **एसेटिलकोलीन** (Acetylcholine, mecholin) मि. ग्रा. २० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से प्रयोग किये जाते है। डोरिल मेकोलिन (Doryl mecholin) मि. ग्रा. २५ सिरा से दे सकते हैं। कोलीन के योग विषाक्त हैं। इसके अतिरिक्त **कैल्सियम** (Cal : gluconate) अथवा **मैगसल्फ** (Mag : sulph :) १० प्र. श. १० सी. सी. सिरा (I. V.) मार्ग से दे सकते है। इन दोनो के प्रयोग के समय विशेष सावधानी आवश्यक है। **प्रोनेस्टिल** (Pronestyl) मुख या पेशि द्वारा मि. ग्रा. ५००–१००० तक दे सकते है। **एसेटिल कोलीन** के प्रयोग करने पर विषाक्तता होने पर एट्रोपीन ग्रे. १/१००–१/२०० सिरा (I. V.) से

देना चाहिये । **पाइलोकारपीन नाइट्रेट** (Pilocarpine nitrate) ग्रे. १/६-१/२० या फाइजियोस्टिगमीन (Physostigmine salicylate) ग्रे. १/५०-१।१०० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से प्रयोग की जाती है ।

(ख) **आवेग के पश्चात** :—आवेग रोकने के लिये **शामक** (Sedative) औषधि जैसे **फेनोबारबिटोन** (Phn) ग्रे. १/४—१/२ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये । मोरफीन (Morphine) से हानि हो सकती है । **ऐमिटाल** (Amytal) ग्रे. ३¾ पेशी (I. M.) मार्ग से दे सकते है। इससे आवेग मे कमी न होने पर **क्विनीडीन** ग्रे. ३—६ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये । कीनीडीन से लाभ न होने पर **डिजिटेलिस** (Digitalis) देना चाहिए । इसका प्रभाव स्थापित हो जाने पर रोगी को इस औषधि की स्थायी मात्रा (Maintenance dose) अनेक काल पर्यन्त देना चाहिए ।

(४) **अलिन्दीयतंतु प्रकम्प** (A. fib) :—इस रोग मे अलिंद में अत्यन्त तीव्र गति से उत्तेजनाओ (Impulse) की उत्पत्ति होती है । हृदय की यह एक सामान्य अनियमितता है । यह विकृति प्रायः हृदय के रचनात्मक (Organic) रोगों मे मिलती है, जैसे द्विपत्रक सकोच (M.S.) आदि । साथ साथ उच्च रक्तनिपीड (B. P.), हृत्धमनी (Coronary) के रोग, दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.), उपसर्ग (Ifn) आदि विकृतियाँ भी मिल सकती है । निलय को गति अनियमित तथा १२० प्र. मि. से अधिक रहने पर **डिजिटेलिस** से लाभ होता है परन्तु हृत्पेशी मे तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) हो जाने के कारण यदि निलय की गति अनियमित तथा ६०—७५ प्र. मि. हो जाती है तब डिजिटेलिस से लाभ नहीं होता।

चिकित्सा :—इसकी चिकित्सा का सिद्धान्त है कि जब इस रोग के साथ साथ दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) रहे तथा नाड़ी की गति तीव्र हो तब सर्वप्रथम दक्षिण हृदयातिपात की चिकित्सा करनी चाहिए। इसके लिए लवण (Nacl) बन्द कर देना चाहिए। **डिजिटेलिस** (Digitalis) तथा पारद के मूत्रल योग (Hg. diuretics) देना चाहिए । चिरकालीन रोगों के साथ जब अलिन्दीय तन्तुप्रकम्प होता है तब प्रायः हृदयातिपात के लक्षण रहते हैं । चिरकालीन अवस्था मे इस चिकित्सा से लाभ न होने पर **क्वीनीडीन** (Quinidine) का प्रयोग करना चाहिए। हृदयातिपात के लक्षण न रहने पर तथा अलिन्दीय तन्तुप्रकम्प का आवेग

अकस्मात, प्रावेगिक तथा तीव्र होने पर अथवा हृदय की गति मन्द होने पर प्रारम्भ से ही क्वीनीडीन देना चाहिए। क्वीनीडीन देने से हृदय की अनियमितता ठीक होकर हृदय की गति नियमित हो जाती है।

(क) **क्वीनीडीन** (Quinidine) :—इस औषधि को **प्रथम दिन** ग्रे. ३ की मात्रा मे ६ बार, **दूसरे दिन** ग्रे. ६ की मात्रा में ६ बार तथा **तीसरे दिन** ग्रे. ९ की मात्रा मे ६ बार दे सकते हैं। औषधि को केवल दिन मे देना चाहिये।

(ख) **डिजिटेलिस** (Digitalis) :—नाड़ी की गति ९० प्र. मि. से अधिक रहने पर अथवा दक्षिण हृदयातिपात (C H. F.) के लक्षण रहने पर तथा रोग की चिरकालीन अवस्था मे चिकित्सा का प्रारम्भ डिजिटेलिस से करना चाहिए। औषधि का प्रभाव शीघ्रता से स्थायी करने के लिए **डिजिटॉक्सिन** (Digitoxin) मि. ग्रा. ०·१–०·२ त्रि. प्र. दि. दें **या डाइजॉक्सिन** (Digoxin) मि. ग्रा. ०·२५–०·५ द्वि. या. त्रि प्र. दिन दें। औषधि का पूर्ण प्रभाव हो जाने पर इन दोनों मे से किसी औषधि को ०·२ मि. ग्रा. प्र. दि. निरन्तर (Maintenance dose) देना चाहिए। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि डिजिटेलिस प्राणदा वातनाड़ी (Vagus) को उत्तेजित करती है और यदि इस रोग का उद्वेग बराबर तथा क्षणिक होता हो तब अधिक समय तक डिजिटेलिस के प्रयोग से तंतुप्रकंप स्थायी हो सकता है।

(ग) रोग से बचने के लिए रोग के कारणों से बचना चाहिए। मद्य, तमाखु, चिन्ता आदि से बचना चाहिए तथा जिस रोगी मे यह लक्षण होने की सम्भावना हो उसे **क्वीनीडीन** (Quinidine) ग्रे. ३–६ त्रि. प्र. दि. देना चाहिए।

(५) अलिदीय विस्फुरण (Flutter) :—इस अवस्था मे अलिद (Auricle) के किसी एक स्थान मे उत्तेजनायें २००–४०० प्र. मि. की गति से उत्पन्न होती हैं। निलय (Vent:) की गति नियमित तथा प्रायः १२० प्र. मि. से अधिक रहती है। यह विकृति अधिक स्थायी है। परिश्रम, विश्राम या एट्रोपीन (Atropine) का इस पर प्रभाव नही पड़ता। रोग के **कारण** अलिदीय ततुप्रकम्प (A. Fib) के समान हैं।

चिकित्सा :—इस रोग की चिकित्सा का सिद्धान्त **है** कि **अत्यधिक** मात्रा मे डिजिटेलिस (Digitalis) देने से अलिदीय विस्फुरण परिवर्तित होकर

अलिंदी तंतुप्रकम्प (A. Fib) हो जाता है, अब यदि औषधि को अकस्मात स्थगित कर दिया जाय तब हृदय की गति नियमित हो जाती है। यदि इस चिकित्सा से लाभ न हो तब **क्विनीडीन** (Quinidine) का प्रयोग करना चाहिये। इस रोग में क्विनीडीन का प्रयोग तभी करना चाहिये जब रोगी पूर्णरूप से डिजिटेलिस के प्रभाव में हो।

अलिंदीय विस्फुरण (A. Flutter) का चिकित्साक्रम

डिजिटेलिस (Digitalis) अत्यधिक मात्रा में दें।

- नाड़ी यदि नियमित तथा प्राकृत हो जाय तब **डिजिटेलिस** की स्थायी मात्रा (Maintenance dose) दें।
- अलिंदीय तंतुप्रकम्प (A.Fib) हो जाय तब डिजिटेलिस अकस्मात बन्द कर देना चाहिये।
  - **हृदय की गति प्राकृत** हो जायगी।
  - पुनः विस्फुरण प्रारम्भ हो जाय — डिजिटेलिस दीजिये।
  - तंतुप्रकम्प ही होता रहे — **क्वीनीडीन** दीजिये।

(**अ**) **डिजीटेलिस** (Digitalis) :—औषधि का प्रभाव शीघ्रता से प्रारम्भ करने के लिये औषधि मुख या सिरा (I.V.) मार्ग से दे सकते हैं :—

(**क**) **मुख** :—डिटिटौक्सीन (Digitoxin) **प्रथम** दिन मि. ग्रा. ०'६ दें। तत्पश्चात ४ घं. के अन्तर पर दो बार मि. ग्रा. ०'४ दें। तदुपरात **दूसरे दिन** से मि. ग्रा. ०'२ ए. प्र. दि. दें। यदि मुख द्वारा औषधि देना संभव न हो तब डिजिटोक्सीन सिरा मार्ग से दें।

(**ख**) **सिरा**:-**डिजिटौक्सीन** (Digitoxin) प्रथम मि.ग्रा. १'२ दें। इससे लाभ न होने पर ८ घंटे **पश्चात** मि. ग्रा. ०'२ चा. प्र. दि. दें। इसके स्थान पर **लनेटोसाइड** 'सी' (Lanatoside 'C', digilanid 'C', cetenalid 'Sz') प्रथम सी. सी. ६ (मि.ग्रा. १'२) तत्पश्चात सी. सी.

२ प्र. २ घं. दे सकते हैं। डिजिटेलिस के योग तब तक दें। तब तक हृदय की गति मन्द न हो जाय अथवा अलिदीय ततुप्रकम्प (A. Fib) न प्रारम्भ हो जाय।

(आ) क्वीनीडीन (Quinidine) :—इस औषधि का प्रयोग अलिदीय तंतुप्रकम्प (A.Fib) की चिकित्सा के समान है।

(इ) रोगी को यदि बार बार विस्फुरण होने की संभावना हो तब रोग के कारणों से बचना चाहिये तथा क्विनीडीन (Quinidine) ग्रे. ३–६ त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये।

(६) **निलयीय तंतुप्रकम्प** (Vent: fib) :—यह अवस्था विरल है। यह अवस्था हृत्पेशी की **विषाक्तता** के कारण होती है। क्वीनीडीन (Quinidine), डिजिटेलिस (Digitalis), एपिनेफ्रिन (Epinephrine) आदि के कारण विषाक्तता हो सकती है। कभी कभी शल्यकर्म (Op.) करते समय यह विकृति उत्पन्न हो सकती है। साधारण परीक्षा से निदान असम्भव है। रोगी की अकस्मात मृत्यु हो सकती है। इस विकृति मे निलय मे एक तंतु के पश्चात दूसरा तंतु अनियमित रूप से सकोच करने लगता है।

चिकित्सा :—डिजिटेलिस का प्रयोग वर्जित है। क्वीनीडीन विशेष लाभप्रद नहीं है। **यदि हृदय एक दम बन्द हो जाय** तब **हृदय के अन्दर एड्रिनलीन** (Adrenaline or epinephrine) १ : १००० घोल का सी. सी. १ तत्काल इन्जेक्शन लगाना चाहिये। **विद्युत्** (Electricity) द्वारा भी हृदय को उत्तेजित कर सकते हैं। **अन्य अवस्थाओं** मे रोग के कारण का निवारण करना चाहिये। **प्रोकेन हाइड्रोक्लोर** (Procaine hydrochlor) १ प्र. श. २–३ सी. सी. सिरा (I.V.) मार्ग से दें। यदि रोगी को पहले क्वीनीडीन न दिया गया हो तब **क्वीनीडीन** निलयीय प्रावेगिक शीघ्रहृदयता (Vent: paroxysmal tachycardia) की चिकित्सा के समान दे सकते है।

हृत्स्तम्भ (Heart-block)

परिचय :—इस अवस्था मे निलय (Vent:) की गति **मंद** हो जाती है। (क) **साधारण** अवस्था मे मन्याकोटर (Carotid sinus) दबाने से या डिजिटेलिस (Digitalis) के प्रयोग से प्राणदा (Vagus) वातनाड़ी को उत्तेजना मिलती है और सिरा अलिद सपात

(S. A. Node) मे उत्तेजनाओ की उत्पत्ति की गति धीमी हो जाती । इस अवस्था मे हिस की पूलिका (Bundle of His) मे विकृति नहीं होती। इसलिये अलिद मे जितनी उत्तेजनायें उत्पन्न होती हैं वे सब निलय मे पहुँचती हैं ।

चिकित्सा :—लक्षण न रहने पर तथा सिरा अलिद सपात प्राकृत रहने पर विशेष चिकित्सा आवश्यक नहीं है । रोग के कारण का निवारण करना चाहिये । मुख द्वार एट्रोपीन ग्रे. १/१०० या टि. वेलाडोना (Tr.belladonna) मि. ८ चा. प्र. दि. दे सकते है । प्रारम्भ मे एट्रोपीन ग्रे. १/१००–१/६० सिरामार्ग (I.V.) से दे सकते हैं।

(ख) **गम्भीर अवस्था** (S. A. syndrome, A–V. Block) :—इस अवस्था में हृत्पेशी (Myocardium) मे विकृति के कारण अलिद से निलय मे उत्तेजना पहुँचने मे अवराध होता है। यह विकृति **बाल्यावस्था** मे सहज (Congenital) अथवा आमवात (Rheumatism) के कारण तथा **युवावस्था** मे हृत्धमनी (Coronary) मे धमनीजरठता (Arterio-sclerosis) के कारण रक्त प्रवाह मे अवरोध होने से होती है । डिजिटेलिस (Digitalis), क्वीनिडीन (Quinidine), श्लेष्मक ज्वर (Influenza), रोहिणी (Diphtheria) आदि उपसर्ग के कारण भी यह विकृति हो सकती है । रोग की **अत्यन्त गम्भीर** अवस्था मे हृत्स्पन्द (Ht:beat) एकदम बन्द हो सकता है । इसको स्टोक ऐडम का सरूप (Stokes-Adams's syndrome) कहते हैं ।

चिकित्सा :—इसकी चिकित्सा का सिद्धात है कि रोग के कारण का निवारण करना चाहिये । उत्तेजनाओ के मार्ग में जो अवरोध हो उसको दूर कर हृदय की गति तीव्र करनी चाहिए । कभी-कभी साधारण अवरोध से पूर्ण अवरोध अच्छा होता है। पूर्ण अवरोध होने पर कम से कम निलय अपनी गति से संकोच तो करता है । इस सिद्धात के अनुसार डिजिटेलिस (Digitalis) का प्रयोग किया जाता है, परन्तु इससे काई विशेष लाभ नहीं होता। इसलिये प्रायः हृत्स्तंभ कम करने की औषधियाँ ही प्रयोग की जाती है । रोग की **परम गम्भीर** अवस्था मे जुत्र-हृदय की गति एकदम बन्द हो जाती है तब निलय की पेशी (Myocardium) मे एड्रिनलीन (Adrenaline) १:१००० का ½ सी. सी. का इन्जेक्शन लगा सकते हैं परन्तु इससे अलिदीय

तन्तुप्रकम्प (A. fib) होने की सम्भावना रहती है, इसलिये इस क्रिया की अपेक्षा विद्युत (Electric) द्वारा निलय को उत्तेजित करना अच्छा है। उच्च रक्त-निपीड़ (B. P.), हृच्छूल (Angina), दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) आदि रहने पर इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

हृत्स्तंभ कम करने की औषधियाँ :—ये औषधियाँ अकेले या दो, तीन औषधियाँ साथ-साथ दी जा सकती हैं। इनमें एड्रिनलीन (Adrenaline) १:१००० मि. ३ पेशी (I. M.) द्वारा प्र. दो. घं., इफेड्रिन (Ephedrine) ग्रे. ¼–½ मुख से चा. प्र. दि. या वेरियम क्लोराइड (Barium chloride) ग्रे. ½–१½ त्रि. या चा. प्र. दि. मुख से दे सकते हैं। **अन्य औषधियाँ** :–ये हृत्धमनी की विस्फारक (Coronary dilator) है जैसे, अमिनोफायलीन (Aminophylline) ग्रे. १½–३ मुख से त्रि. या चा. प्र. दि., परेड्रिन (Paredrine hydrobrom) ग्रे. ½ मुख से त्रि. या चा. प्र. दि., पापावेरान (Papavarine) ग्रे. ३ चा. प्र. दि., कैलसियम थेयोब्रोमीन (Cal : theobromine, purital or calpurate or thesodate) ग्रे. ७½ चा. प्र. दि. मुख से दे सकते हैं। इनसे लाभ न होने पर सिन्ट्रोपान (Syntropan) ग्रे. १½ चा. प्र. दि. दे सकते हैं। हृत्धमनी का विस्फार कराने से हृत्पेशी में रक्तप्रवाह की वृद्धि होती है। परिणाम स्वरूप प्रेरणाओं के मार्ग के अवरोध में कमी होती है। एड्रिनलीन का तैल में योग सी. सी. ½–१ पेशीमार्ग से देने से औषधि का प्रभाव देर तक रहता है। एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १।१०० चा. प्र. दि. मुख या पेशी-मार्ग से दे सकते हैं।

अन्तर्हृच्छोथ (Endocarditis)

इस अवस्था में हृदय के कपाटों (Valves) में शोथ होता है। ज्वर, रक्ताल्पता (Anaemia), अन्तःशल्यता (Embolism), प्लीहा वृद्धि तथा दोषमयता (Septicaemia) के लक्षण मिलते हैं। यह विकृति आमवात (Rheumatism) के कारण अथवा घातक (malignant) होती है।

(१) घातक (malignant or bacterial) अन्तर्हृच्छोथ :—

परिचय :—यह रोग तीव्र अथवा **अनुतीव्र** (Subacute) होता है। अनुतीव्र अवस्था अधिक सामान्य है। विकृति हृदय के अन्दर के भाग में विशेष कर कपाटों पर अथवा बड़ी रक्तवाहिनियों (B. V.) में होती है।

अन्तः शल्यता (Embolism) होने की विशेष प्रकृति रहती है। यह रोग ८० प्र. श. हरित माला गोलाणु (Strepto viridans) के कारण होता है। कभी-कभी वैष्ठिक माला गोलाणु (Strepto:faecalis) या स्तवक गोलाणु (Staphylo:) का उपसर्ग भी मिलता है। **निदान** की दृष्टि से अन्तर्हृच्छोथ के लक्षणों के अतिरिक्त त्वचा पर रक्तवर्ण विस्फोट (Petechial hemorrhage) तथा मुग्दृगरवत (Clubbed) अगुलियाँ मिलती है। हृत्परीक्षा करने पर सहज (Congenital) हृद्रोग अथवा कपाटो की विकृति के प्रमाण मिल सकते हैं। रक्त अथवा अस्थिमज्जा (Bone marrow) का संवर्ध (Culture) करने से जीवाणु का ज्ञान सम्भव है। जीवाणु का पता लगा लेने के पश्चात् यह पता लगाना चाहिये कि उस पर तृणाणुनाशक औषधियों (Antibiotics) का कितना प्रभाव (Sensitivity) हो सकता है और जिस औषधि का प्रयोग करना है वह रक्त में अधिक से अधिक कितनी मात्रा में पहुँचाई जा सकती है। साधारणतः हरित मालागोलाणु (Strepto:viridans) पर पेनिसिलीन (P) का प्रभाव उत्तम है इसलिये इस रोग की यह सर्वोत्तम औषधि है। **सल्फा** (S) औषधियाँ प्रभावहीन हैं। अन्य जीवाणुओं पर पेनिसिलीन प्रभावहीन है। जिस औषधि का प्रयोग किया जाय उसका इस मात्रा में देना चाहिये जिससे उसकी रक्त में जीवाणुओ का नाश करने की मात्रा से कम से कम चार गुना से अधिक मात्रा हो। इसके लिये औषधि प्रयोग करते समय औषधि की रक्त में क्या मात्रा है जान लेना अच्छा है। इस रोग मे रक्ताल्पता (Anaeima), हृदयातिपात (Ht:failure), अन्तः शल्यता (Embolism), विद्रधि, (Abscess), पोषणाभाव, वृक्क में विकृति आदि **उपद्रव** होते हैं।

चिकित्सा :—इस रोग की चिकित्सा का ध्येय है, जीवाणुओं को नष्ट करना तथा उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करना। रोगी के बल की वृद्धि कराना चाहिये। **साधारण** चिकित्सा किसी भी ज्वर की चिकित्सा के समान है। **जीवाणु नष्ट** करने के लिये **पेनिसिलीन** सर्वोत्तम है। इसको अत्यधिक मात्रा मे देना पड़ता है। चिकित्सा के परिणामस्वरूप १—२ दिन के अन्दर रक्त तथा अस्थिमज्जा (Bone marrow) का सवर्ध (Culture) करने पर जीवाणु नही मिलने चाहिए। यह अवस्था हो जाने के पश्चात **दो मास तक** पेनिसिलीन (P) का प्रयोग करना चाहिए। प्रायः एक सप्ताह

के अन्दर ज्वर प्राकृत हो जाता है तथा रोगी की अवस्था में पर्याप्त सुधार होता है। चिकित्साक्रम की अवधि मे यदि रोग का पुनरागमन हो तब पेनिसिलीन की मात्रा दूनी कर देना चाहिये अथवा जीवाणुओं को नष्ट करने वाली दूसरी किसी औषधि का प्रयोग करना चाहिये। इस रोग के साथ साथ सहज (Congenital) हृद्रोग रहने पर **शल्यकर्म** (Op.) द्वारा हृदय की विकृति ठीक की जा सकती है। (क) रोगी की अवस्था के अनुसार **पेनिसिलीन** (P) देने की निम्न विधियाँ है :—

१—**साधारण अवस्था में** प्रोकेन पेनिसिलिन (Pr. P.) सर्वोत्तम है। अधिकतर रोगियो मे यह औषधि ६-१२ अ. इ. पेशी (I. M.) मार्ग से द्वि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये। २—**गंभीर अवस्था** मे पेनिसिलीन 'जी' (P. G.) १/२–२½ ल. अ. इ. प्र. ३ घं. पेशीमार्ग से दे। ३—**परम गंभीर अवस्था में** पेनिसिलीन जी (P.G.) ५० ल.अ.इ. तक प्र. दि. (यो. १०४) सिरा (I. V.) अथवा पेशी (I. M.) मार्ग से ३० बूद प्र. मि. की गति से दे सकते है। पेशीमार्ग से देने के लिए उरु (Thigh) का बाहरी भाग (Lat) प्रयोग करना चाहिए। ४—**वैष्ठिक मालागोलाणु** (Strept: faecalis) पर पेनिसिलीन का प्रभाव उत्तम नहीं है इसलिए प्र. दि पेनिसिलीन 'जी' १२½ से ३७½ ल. अं. इ. के साथ स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा. ½ मिलाकर चा. प्र. दि. पेशीमार्ग से दें। इस विधि से पेनिसिलीन ½–१½ करोण (5-15.Million) अ. इ. प्र. दि. तथा स्टेप्टोमायसीन ग्रा० २ प्र. दि. देना पड़ता है।

(ख) **अन्य औषधियाँ** :—जीवाणु यदि पेनिसिलीन सह (Resistant) सकने की क्षमता उत्पन्न कर लेता है अथवा प्रारम्भ से ही उस पर पेनिसिलीन के अतिरिक्त अन्य औषधियों का प्रभाव अधिक उत्तम होता है तब पेनिसिलीन की अपेक्षा अन्य औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे :—स्ट्रेप्टोमायसिन (Str) ग्रा. ½–१ चा. प्र. दि. या औरियोमायसिन (Au), क्लोरोमयसेटीन (Cln) टेरामयसीन (Tn), पोलीमिक्सीन (Px), नेयोमायसीन (Nn), बैसीट्रेसीन (Btn) आदि।

(ग) **अन्य अवस्थाये** :—रोग की **तीव्र अवस्था** विरल तथा अत्यन्त घातक है। यह विकृति अन्य रोगो मे उपद्रव स्वरूप होती है जैसे फुफ्फुस गोलाणु (Pneumo), शोणाशिक मालागोलाणु (Stre-

pto : haemolyticus), गुह्य गोलाणु (Gono), स्तवक गोलाणु (Staphy:) आदि के उपसर्ग मे। इसकी **चिकित्सा** अनुतीव्र (Subacute) अवस्था के समान है। **पेनिसिलीन** (P.) २० ल.श्र.इ.प्र.३ घ. पेशी (I. M.) मार्ग से देना चाहिए। जीवाणु पर **स्ट्रेप्टोमायसीन** (Str) का अधिक प्रभाव प्रतीत होने पर इस औषधि का ग्रा. १।२–१ पेशी द्वारा चा. प्र. दि. देना चाहिये। १।२–२ मास तक चिकित्सा करनी पड़ती है।

(घ) रोग का **पुनरावर्तन** (Relapse) होने पर चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व जीवाणु की प्रकृति तथा उस पर औपधि का प्रभाव जान लेना आवश्यक है। जिस औपधि के प्रयोग के समय रोग का पुनरावर्त हो उस औपधि को बदल कर अन्य किसी ओपधि का प्रयोग करना चाहिये। औपधि की मात्रा बढ़ाकर अधिक समय तक देना चाहिए।

(ङ) **प्रतिषेध :**—यदि हृद्रोग के रोगी पर शल्यकर्म (Op) करना आवश्यक हो तब शल्यकर्म करने के एक दिन पूर्व से तीन दिन पश्चात् तक रोगी को **पेनिसिलीन** का इन्जेक्शन देना चाहिए। मुख तथा ऊर्ध्व श्वसन मार्ग (Upper respi:tr) पर यदि शल्यकर्म करना हो तब विशेष सावधानी की आवश्यकता है। इन स्थानो पर प्रायः अन्तर्हृच्छोथ के जीवाणु रहते हैं।

(च) **उपद्रवों की चिकित्सा :**—रक्ताल्पता (Anaemia) के लिये रक्त-प्रदान (Blood trans:) की आवश्यकता पड़ती है। अन्तःस्थान (Infarct), हृदयातिपात (Ht : failure) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए। हृदयातिपात होने पर पेनिसिलीन का सोडियम (Na) के साथ बना लवण प्रयोग नहीं करना चाहिए। कैलसियम (Cal:) या पोटासियम (K) पेनिसिलीन प्रयोग कर सकते हैं। फौफ्फुसीय अन्तः शल्यता (Pulmonary embolism) विशेष गम्भीर उपद्रव है।

(२) **आमवातिक अन्तर्हृच्छोथ** (Rheumatic carditis or endocarditis) :—

परिचय :—इसमें कपाटों (Valves) की वे सब विकृतियाँ सम्मिलित हैं जिनमे आमवात के कारण कपाटों मे सकोच (Stenosis) अथवा प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) होता है। रोगकी **तीव्र** अवस्था में आमवात के लक्षण होते हैं जैसे तुण्डिकाशोथ, (Tonsillitis), रक्ताल्पता (Anaemia), अन्यधिक पसीना, ज्वर, विश्राम के समय भी नाड़ी की गति

तीव्र, शरीर में पीड़ा, हृदयाग्र (Apex) पर प्रथम हृच्छब्द में तीव्रता, आमवातिक ग्रंथियाँ (Rheumatic nodes) आदि। रक्तावसादन गति (E. S. R.) तीव्र हो जाती है तथा रक्त में श्वेतकणों (WBC) की साधारण वृद्धि मिलती है। विद्युत्हृल्लेख (Ecg) द्वारा परीक्षा करने से हृदयकी अवस्था का ज्ञान हो सकता है। यह रोग प्रायः बाल्यावस्था या युवावस्था में मिलता है। रोग की **चिरकालीन** अवस्था में कपाटों की विकृति के प्रमाण मिलते हैं।

उपद्रव :—दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.), अलिन्दीय तन्तुप्रकम्प (A:fib:), घातक (Malignant) अन्तर्हृच्छोथ, अन्तःशल्यता (Embolism) आदि।

चिकित्सा :—लक्षणरहित कापाटिक विक्षत (Valvular lesion) की औषधि द्वारा चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं है। द्विपत्रक संकोच (M. S.) में शल्यकर्म द्वारा द्विपत्रक मुद्रिका द्वार (Orifice) को बढ़ा सकते हैं। आमवात के लक्षण रहने पर सोडी सैलिसिलस (Sodi:sali:), कोर्टिसोन (Cortisone), विश्राम आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करें।

चिकित्सा का ध्येय होना चाहिये कि रोग की प्रगति तथा आमवात का पुनरागमन रोका जाय, आमवात होने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा की जाय जिससे कपाटों (Valves) की विकृति में वृद्धि न हो तथा उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा की जाय। हृत्पेशी (Myocardium) की विकृति बचाने के लिये रोगनिवृत्त हो जाने पर भी १०–१२ घं० प्र० दि० विश्राम करना चाहिये, पौष्टिक आहार तथा औषधि लेना चाहिए और अपनी दिनचर्या ऐसी बनाना चाहिए कि हृदय को अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम न करना पड़े। रोग-निवृत्त हो जाने पर ६मास तक रोगी को विशेषरूप से सावधान रहना चाहिए। परिश्रम में अत्यन्य शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिए।

उपद्रवों की चिकित्सा :—आमवात जन्य **दक्षिण हृदयातिपात** (C. H. F.) होने पर प्रायः हृत्पेशी (Myocardium) में शोथ रहता रहता है, इसलिए डिजिटेलिस से विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं रहती। इस अवस्था में लवणरहित आहार, पारद के मूत्रल योग (Hg : diuretics) तथा प्राणवायु (O_2) पर निर्भर करना चाहिए। निद्रानाश, बेचैनी,

निपात (Collapse) हृदयावरण शोथ (Pericarditis) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

तीव्र हृत्पेशीशोथ (Acute : myocarditis)

परिचय :—यह रोग आमवात (Rheumatism), दोषमयता (Septicaemia), फिरंग (Syphilis), टाइफस (Typhus), विषाणु (Virus), रोहिणी (Diphtheria), फुफ्फुसपाक (Pneumonia), आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) आदि के कारण होता है। हृत्पेशी में शोथ या अपजनन (Degeneration) हो जाता है। रोगी यदि बच जाता है तब हृत्पेशी में प्रायः कोई स्थायी विकृति नहीं रह जाती। हृत्पेशी के कमजोर हो जाने के कारण दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.) के लक्षण हो सकते हैं।

निदान :—निदान की दृष्टि से रक्तनिपीड (B. P.) की कमी, हृदय पर भार प्रतीत होना या पीड़ा मालूम होना, हृदय की गति में अनियमितता, हृदय की वृद्धि, हृदयाग्र (Apex) पर प्रथम शब्द में परिवर्तन, नाड़ी का क्षीण होना महत्वपूर्ण लक्षण हैं। नाडी की गति प्रायः तीव्र होती है, कभी-कभी मन्द भी हो सकती है। विद्युतहृल्लेख (Ecg) से निदान में विशेष सहायता नहीं मिलती।

चिकित्सा :—रोग के मूल कारण तथा उपद्रवों की चिकित्सा करनी चाहिये। हृदय की विकृति का जब तक प्रमाण मिले तब तक रोगी को विश्राम करना चाहिये। दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.), हृदय की अनियमिता (Irregularity) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। आमवात जन्य दक्षिण हृदयातिपात में डिजिटेलिस से विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं रहती। लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये और पौष्टिक आहार तथा औषधि द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करनी चाहिये। रोगी को शैय्या पर **पूर्ण विश्राम** करना चाहिए। आ० अ० हृत्पत्री (Digitalis), कोरामिन (Coramine), कारडियाजोल (Cardiazol), कुपीलू सत्व (Strychnine) आदि का प्रयोग करना चाहिए।

मूल कारण की चिकित्सा :—आमवात जन्य (Rheumatic) विकृति होने पर सोडा सेलिसीलस (Sodi salicylas) का प्रयोग करना चाहिए। **पूयजन्य** (Pyogenic) व्याधियों में पेनिसिलीन तथा **यक्ष्मा-**

जन्य (T. B.) में स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) का प्रयोग करना चाहिये। ग्लूकोस (Glucose) का मुख द्वारा प्रयोग उत्तम है। इस औषधि को सिरामार्ग (I. V.) द्वारा प्रयोग करने के लिए विशेष सावधानी आवश्यक है। ग्लूकोस के साथ-साथ इनस्यूलिन (Insulin) का प्रयोग हृदय को शक्ति देने के लिए किया जाता है। श्यावता (Cyanosis) होने पर ६५ प्र० श० प्राणवायु (O_2) के साथ-साथ ५ प्र० श० कार्बनडायोक्साइड (Co_2) मिलाकर सूँघाना चाहिए। रोहिणी (Diphtheria) जन्य विकृति में जीवतिक्ति 'बी$_1$' (Vit. B_1) का प्रयोग किया जाता है।

हृदयावरण शोथ (Pericarditis)

परिचय :—इस अवस्था में हृदयावरण में शोथ होता है। यह प्रायः अन्य रोगों में उपद्रवस्वरूप होता है। यह विकृति शुष्क, (Dry), सद्रव (Wet), पूयज (Purulent), संसक्त (Adherent) तथा सकोची (Constrictive) हो सकती है।

(१) **शुष्क हृदयावरण शोथ** (Dry, acute fibrinous pericarditis) :—संघर्ष ध्वनि, (Friction sound) तथा पीड़ा इसके प्रधान लक्षण हैं। पीड़ा अत्यन्त तीव्र अथवा साधारण हो सकती है। पीड़ा हृत्प्रदेश (Precordium) या उरःफलक (Sternum) के पीछे होती है। कभी-कभी यह विकृति पीड़ारहित हो सकती है। यह विकृति आमवात (Rheumatism), यक्ष्मा (T. B.) तथा मूत्रविषमयता (Uraemia) में मिल सकती है। हृदय की कार्यशीलता में प्रायः कमी नहीं होती इस लिये रोगी की अवस्था विशेष चिन्ताजनक नहीं होती।

चिकित्सा :—रोग के कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। शैय्या पर पूर्ण विश्राम, तरल भोजन (पृ० ४) तथा हृत्प्रदेश (Precordium) पर एन्टीफ्लोजिस्टीन (Anti-phlogestine) का लेप अथवा बरफ की थैली रखना चाहिए। यदि शूल अधिक कष्टप्रद हो तब ४–५ जोंक द्वारा हृत्-प्रदेश से रक्त निकालना चाहिए।

पीडा के लिये हृत्प्रदेश पर कैन्थ्राइडिस (Canthridis) द्वारा एक या दो स्थान पर फफोले (Blister) बनाना (पृ० ७) चाहिये। एसपिरीन (यो० ६२), कोडीन (Codeine) ग्रे० $\frac{1}{2}$, सिबाल्जिन (Cibalgin Ca) गो० १ मुख से अथवा मौरफीन (यो. १११) ग्रे० $\frac{1}{4}$ अधस्त्वक (S.C.) मार्ग

से आ० अ० दे सकते हैं। आमवातजन्य शुष्क हृदयावरण शोथ मे सोडी सैलिसिलस (Sodi:salicylate) से विशेष लाभ नही होता।

(२) **सद्रव हृदयावरणशोथ** (Wet, pericarditis with effusion) :—इस अवस्था में हृदयावरणीय गुदा (Pericardial sac) मे जल संचय होता है। हृदय की सीमा बढ़ जाने से दो प्रधान विकृतियाँ होती हैं। **प्रथम** वाम फुफ्फुस के अधोखण्ड (Lower lobe) का निपात (Collapse) होता है और संघनन (Consolidation) के लक्षण मिलते हैं, **द्वितीय** हृदय की कार्यशीलता मे कमी होती है, परिणामस्वरूप दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.) के लक्षण होते हैं। श्यावता (Cyanosis), चिन्ता, नाड़ी का तीव्र होना, सिराओं का रक्त से फूला रहना आदि लक्षण हाते हैं।

निदान :—क्ष किरण (X-ray) परीक्षा से हृदय का आकार "जल की थैली" (Water bottle) के समान प्रतीत होती है। सूई द्वारा हृदयावरणीय गुदा से **जल निकालने** (Tapping) से रोग का निश्चित निदान सम्भव है। इस जल की **संवर्ध** (Culture) परीक्षा करने से जीवाणु रहने पर उसका ज्ञान सम्भव है।

चिकित्सा :—रोग के **मूल कारण की** तथा लक्षणो की चिकित्सा करनी चाहिये। **आमवात** (Rheumatism) में मूत्रल औषधि (Diuretics) के साथ सोड़ो सैलिसिलेट (Sodi:salicylate) देना चाहिये। सैलिसीलेट देने से जल के प्रचूषण (Absorption) में सहायता मिलती है। **यक्ष्मा** (T. B.) के कारण यह रोग होने पर डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा. १ प्र. दि. पेशी (I. M.) मार्ग से तथा आइसोपैस (Isopas) की ३ गो. चा. प्र. दि. मुख से देना चाहिये। हृदयावरणीय गुहा में जल रहने के कारण कष्ट होने पर जल निकाल कर गुहा के अन्दर स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा.०·१–०·२ समबल लवण घोल (N.Saline) २० सी. सी. मे मिलाकर प्रवेश कराना चाहिये।

लक्षणों की चिकित्सा :—(क) हृदयावरणीय गुहा (Pericardial sac) से जल (पृ.२३) निकालना :—दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.), श्यावता (Cyanosis), श्वास लेने में कष्ट (Dyspnoe), अत्यन्तक्षीण नाड़ी आदि लक्षण होने पर गुहा से जल निकालना आवश्यक होता है। जल निकालने से कभी कभी रोगी की जान बचाई जा सकती है। **(ख) दक्षिण**

हृदयातिपात (C.H.F.) :—द्रव हृदयावरण शोथ मे यह उपद्रव होने पर डिजटेलिस (Digitalis) से लाभ नही होता। भोजन मे लवण बन्द कर तथा मूत्रल (Diuretic) औषधियाँ देकर देखना चाहिये। जल निकालने से लाभ होता है। (**ग**) **उपसर्ग** (Ifn) रहने पर जीवाणु के अनुसार पेनिसिलीन (P), स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) आदि देना चाहिये।

(३) **पूयज** (Purulent) **हृदयावरण शोथ** :—इस अवस्था में हृदयावरणीय गुहा मे पूय (Pus) हो जाता है। हृदयावरणीय गुहा (Pericardial sac) से जल निकालते समय द्वितीयक (Secondary) उपसर्ग गुहा मे प्रवेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त यह विकृति प्रायः अन्य स्थानो मे उपसर्ग होने के कारण भी होती है। जीवाणु की प्रकृति के अनुसार लक्षण होते हैं तथा रोग की चिकित्सा होती है। पूयजनक (Pyogenic) जीवाणु रहने पर प्रलेपक (Hectic) ज्वर तथा रक्त मे बहुकारी श्वेतकणों (Poly:) की वृद्धि होती है।

चिकित्सा :—इस रोग की औषधि द्वारा तथा शल्यकर्म (Op.) द्वारा चिकित्सा की जाती है। जीवाणु की प्रकृति के अनुसार पेनिसिलीन (P), स्ट्रेप्टोमायसीन (Str:) आदि का प्रयोग तब तक करना चाहिये जब तक हृदयावरणीय गुहा मे पूय (Pus) का प्रमाण मिले तथा लक्षणो का शमन न हो। गुहा से पूय निकाल (पृ. २३) कर उसमे जीवाणु की प्रकृति के अनुसार पेनिसिलीन 'जी' (P.G.) ल.१ अं. इ. या स्ट्रेप्टोमायसीन प्रवेश कराना चाहिये। पूय निकालने की तथा इन औषधियो को प्रवेश कराने की अनेक बार आवश्यकता पड़ती है। इस क्रिया को तब तक करना चाहिये जब तक गुहा का जल, पूय तथा जीवाणुरहित न हो जाय। इस चिकित्सा से लाभ न होने पर अथवा हृदयावरणीय गुहा के अनेक भागो मे विभाजित हो जाने के कारण पूय के चारो ओर आवरण (Encapsulated) बन जाने पर यदि इस क्रिया से संपूर्णपूय निकालना सभव न हो तब शल्यकर्म (Op) द्वारा पर्शुक (Rib) काटकर गुहा से पूय निकाल देना चाहिये।

(४) **संकोची** (Constrictive) **हृदयावरण शोथ** :—इस रोग का आमवात (Rheumatism) से कोई सम्बन्ध नहीं है। ५० प्र. श. रोगियो मे रोग का कारण यक्ष्मा (T.B.) प्रतीत होता है। अन्य ५० प्र. श. मे रोग का कारण अज्ञात है। अन्तरायल (Mediastinum) मे शोथ

हो सकता है तथा दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.) के लक्षण होते है।

चिकित्सा:—यक्ष्मा रहने पर उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। दक्षिण हृदयातिपात के लक्षणो मे डिजिटेलिस (Digitalis) प्रभावहीन है। लवण (Nacl) मे कमी करना चाहिये तथा पारद के मूत्रल योग (Hg-Diuretics) पर निर्भर करना चाहिये। लाभ न होने पर तथा रोग की वृद्धि होती प्रतीत होने पर शल्यकर्म (Op) द्वारा हृदयावरण की विकृति ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये।

अन्तःशल्यता (Embolism)

परिचय :—इस अवस्था मे शरीर के भिन्न भागो मे, जैसे :—फुफ्फुस, मस्तिष्क, शाखाओ आदि की रक्तवाहिनियो (B. V.) मे शल्य (F. B.) के प्रवेश करने के कारण रक्तप्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। परिणामस्वरूप जिन स्थानो में इन रक्तवाहिनियों द्वारा रक्त पहुँचता था उन स्थानो की मृत्यु (Infarct) हो जाती है तथा विकृत स्थान के अनुसार लक्षण उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस मे यह विकृति होने पर श्वास लेने मे कष्ट (Dyspnoea), चिन्ता, फुफ्फुसावरणशोथ (Pleurisy) के समान वक्ष मे पीडा, मूर्छा, शरीर का नीलापन (Cyanosis), निपात (Collapse), साधारण ज्वर, शीघ्रगामी नाड़ी, रक्तष्ठीवन (Hemoptysis) आदि लक्षण होते हैं। रोगी की तत्काल मृत्यु हो सकती है। **मस्तिष्क** मे विकृति होने पर रोगी की तत्काल मृत्यु हो सकती है अन्यथा अगघात (Paralysis) होता है। **शाखाओं** मे विकृति होने पर कर्दम (Gangrene) होता है।

चिकित्सा :—(क)**फौफ्फुसीय अन्तःशल्यता** (Pulmonary embolism) **बचाने के लिये** शल्यकर्म (Op.) आदि के पश्चात यथासम्भव शैय्या पर जितना कम विश्राम किया जाय उतना अच्छा है। विश्राम की अवधि में भी रक्तप्रवाह को बढ़ाना आवश्यक है। इसके लिये रोगी को शैय्या पर पड़े पड़े ही हाथ, पैर, अगुलियॉ तथा पैर के अंगूठे हिलाते रहना चाहिये। वृद्धावस्था मे इस रोग की अधिक सम्भावना रहती है इसलिये वृद्ध रोगी मे ये क्रियाये अत्यन्त आवश्यक है। प्राणायाम से भी लाभ होता है। शल्यकर्म करने के पूर्व मोटे रोगियों का वजन कम कर लेना अच्छा है। शल्यकर्म के समय रोगी को शीत से बचाना चाहिये। रक्तस्कन्दन निरोधी (**Anti-coagulant**) औषधियों के प्रयोग से घनास्रता (**Thrombosis**) होने की

कम सम्भावना रहती है। इस अवस्था की **चिकित्सा** में लक्षणों की चिकित्सा की जाती है। अधोशाखा की रक्तवाहिनी (Femoral ligation) को बाध सकते है। अन्तःशल्य (Embolus) में उपसर्ग होने की सम्भावना रहने पर तृणाणुनाशक औषधियों (Antibiotics) का प्रयोग करना चाहिये। **चिन्ता** के लिये मौरफीन (यो. ११?) ग्रे. १/४ पेशी द्वारा तत्काल दें। आ. आ. १/२ घ. पश्चात इसे पुनः दे। **श्यावता** (Cyanosis) के लिये **प्राणवायु** (O_2) दें। श्यावता रहने पर मौरफीन नहीं देना चाहिये। दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) रहने पर डिजिटेलिस (Digitalis) का प्रयोग करना चाहिये। **रक्तस्कन्दन निरोधी** (Anti-coagulants) औषधियों का तत्काल प्रयोग करना चाहिए। प्रथम हेपरिन (Heparin) मि. ग्रा. ५० पेशीमार्ग से प्र. चा. व. देना चाहिए। शीघ्र ही मुख द्वारा डिक्यूमेरौल (Dicumerol, temparin 'H.P.') प्रथम गो. ६ (गो.१= मि. ग्रा. ५०) तत्पश्चात गो २ प्र. दि. देना चाहिए। विकृत स्थान में रक्त-प्रवाह की वृद्धि करने के लिए **रक्तवाहिनि विस्फारक** (Vasodilators) औषधियाँ देना चाहिए जैसे :—पापावरीन (Papaverine) ग्रे. १।२–१ सिरामार्ग (I. V.) से प्र. ४ घं. या एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १।१०० पेशीमार्ग से त्रि. या चा. प्र. दि. दें। रोगी को गरम रखने का प्रयत्न करें। प्रिसकोलीन (Priscoline) मि. ग्रा. ४० त्रि. प्र. दि. का भी प्रयोग किया जाता है। रोगी का सिर नीचा रखने से सिर की ओर रक्त-प्रवाह की वृद्धि होती है। निकोटिनिक एसिड (Vit : B_7) तथा इटेमौन (Etamon) भी रक्तवाहिनियों का विस्फार करती हैं। स्तब्धता (Shock) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। स्तब्धता या निपात (Collapse) रहने पर रक्तवाहिनी विस्फारक औषधियों से हानि होती है।

(ख) **मस्तिष्क** गत अन्तःशल्यता (Cerebral embolism) की चिकित्सा निराशाजनक है। इसमें प्रायः रोगी की अकस्मात मृत्यु हो जाती है। चिकित्सा के लिये समय मिलने पर **शल्यकर्म** (Op) द्वारा स्टेलेट गैंगलियन को काट सकते हैं (Stellate ganglionectomy)। प्राणवायु (O_2), निकोटिनिक एसिड (Vit : B_7) मि. ग्रा. ५०–१०० सिरामार्ग (I. V.) से, पापावरीन (Papaverine), इटामौन (Etamon) मि. ग्रा. २००–५०० सिरामार्ग से ए. या. द्वि. प्र. दि. तथा रक्तस्कन्दन निरोधी औषधियों (Anti-coagulants) प्रयोग करना चाहिये।

(ग) **शाखाओं** (Peripheral) की रक्तवाहिनियां (B.V.) में अन्तः शल्यता की चिकित्सा मस्तिष्कगत विकृति के समान है। इसके अतिरिक्त शल्य को काटकर (Embolectomy) निकाल सकते हैं। प्रोकेन (Procaine) द्वारा पृष्ठवंश (Spine) के पार्श्व में स्वतन्त्र वातनाडी का अवरोध (Para-vertibral sympathetic block) कर सकते हैं। इस क्रिया से रक्तवाहिनियों का विस्फार (Vasodilatation) हो सकता है। इसके लिये प्रोकेन १ प्र. श. ए. या द्वि. प्र. दि. इन्जेक्शन लगाया जाता है। इससे लाभ न होने पर स्वतन्त्र वातनाडियों की काट (Sympathectomy) दे सकते हैं।

तीव्र धमनी अवरोध (Acute arterial obstruction)

परिचय :—अन्तः शल्यता (Embolism), आघात या घनास्रता (Thrombosis) के कारण धमनी में अवरोध हो सकता है। धमनी में अन्तःशल्यता अलिन्दीय तन्तुप्रकम्प (A.Fib), घनास्रता, हृत्पेशीय अन्तः स्फान (Infarct) आदि में होती है। अकस्मात विकृत शाखा में तीव्र पीड़ा होती है। शाखा ठण्डी तथा सफेद हो जाती है। विकृत स्थान के आगे नाड़ी स्पर्शलभ्य नहीं होती। शाखा सज्ञाहीन हो जाती है तथा उसमें झुनझुनाहट (Tingling) हो सकती है। स्तब्धता (Shock) के लक्षण होते हैं और कर्दम (Gangrene) हो सकता है।

चिकित्सा :—इसकी चिकित्सा का **सिद्धान्त** है कि विकृत स्थान में यथाशीघ्र रक्तप्रवाह स्थापित किया जाय तथा अवरोध होने से बचाया जाय एवं अवरोध हो जाने पर उसको बढ़ने न दिया जाये। अवरोध हो जाने के ८ घंटे के अन्दर चिकित्सा प्रारम्भ हो जाने पर चिकित्सा का परिणाम आशाप्रद हो सकता है। बड़ी धमनियों और्वी (Femoral), अधिश्रोणिका (Iliac), उरुजानुपृष्ठिका (Popliteal) आदि में यदि विकृति होती है तब **शल्य चिकित्सा** (Op) से लाभ होता है। धमनी में आघात होने पर शल्यकर्म द्वारा आघातित धमनी को ठीक करना चाहिये। धमनी में अन्तःशल्यता रहने पर शल्य को निकाल देना चाहिये (Embolectomy)। रक्तप्रवाह की कमी के कारण यदि वातनाड़ीशोथ (Neuritis) हो जाय तब धमनीच्छेदन (Arteriectomy) करना चाहिये। विकृत स्थान को हृदय से थोड़ा नीचे तथा शिर को ऊँचा रखना चाहिये। शाखा को रूई में लपेट कर रखना चाहिए।

विकृत शाखा को सेंकना या ठण्डा करना नहीं चाहिये। रक्तस्कन्दननिरोधी (Anticoagulants) औषधि द्वारा प्रयत्न करना चाहिये कि रक्तस्कन्दन काल (Coagulation time) तथा पूर्वघनास्रि (Prothrombin) की मात्रा प्राकृत मात्रा से दूनी या तिगुनी हो जाय। यह स्थिति होने में प्रायः तीन दिन लगता है। यह स्थिति हो जाने पर हेपरीन (Heparin) बन्द कर देना चाहिये। डेक्यूमेरौल (Dicumerol) ग्रा. ग्र. मुख द्वारा दे सकते हैं। विकृत स्थान के ऊपर (Proximal) धमनी के अन्दर हेपरीन मि.ग्रा. १०० समबल लवणघोल पा. ½ में मिलाकर दे सकते है। धमनी का अवरोध हो जाने पर कभी-कभी रक्तवाहिनी का उद्वेष्ठन (Reflex vasospasm) होता है। इस विकृति को बचाने के लिये तथा अन्तः शल्यता की वृद्धि रोकने के लिये रक्तवाहिनियों का विस्फार किया जाता है। इस दृष्टि से पापावरीन (Papaverine) ग्रे. ½–१ या अमीनोफायलीन (Aminophylline) ग्रे. ७½ सिरा (I.V.) मार्ग से प्र.चा.घं. शनैःशनैः देना चाहिये। डाइबेनामीन (Dibenamine) मि. ग्रा. २०० भी सिरा-मार्ग से दे सकते हैं। मौरफीन (यो.१११) का ग्रा. ग्र. प्रयोग कर सकते हैं।

फौफ्फुसीय अन्तःस्फान (Pulmonary infarct)

परिचय :—इस अवस्था मे फौफ्फुसीय धमनी (Pulmonary art:) की किसी शाखा मे अवरोध होने से फुफ्फुस के एक भाग की मृत्यु हो जाती है। मृत स्थान मे रक्तकण (R. B. C.) संचय होते हैं। ये रक्तकण वायुमार्ग मे प्रवेश करते है और रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) होता है। मृत स्थान छोटा रहने पर लक्षण नहीं होते परन्तु बड़ा होने पर अन्तः शल्यता (Embolism) के समान श्वास लेने मे कष्ट, रक्तष्ठीवन, दक्षिण हृदयातिपात (C.H.F.) आदि लक्षण होते हैं। रोग गम्भीर होने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है। तीव्र अवस्था के पश्चात यदि रोगी बच जाता है तब ज्वर, वक्ष मे पीड़ा, श्वास लेने मे कष्ट आदि लक्षण होते हैं। वक्ष मे संघनन (Consolidation), फुफ्फुसावरणशोथ (Pleurisy) आदि के प्रमाण मिलते हैं। फुफ्फुसावरणशोथ शुष्क या सद्रव (Wet) हो सकता है। **रक्तपरीक्षा** मे श्वेतकणों की संख्या मे वृद्धि तथा रक्तावसादन गति (E. S. R.) की वृद्धि होती है। रक्त की ये अवस्थाये तब तक मिलती हैं जब तक विकृति ठीक नही हो जाती। शीघ्र ही दक्षिण हृदयातिपात

(C. H. F.) के लक्षण होते हैं। क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा द्वारा फुफ्फुस की अवस्था का तथा विद्युतहृल्लेख (Ecg) द्वारा हृदय की अवस्था का ज्ञान होता है।

चिकित्सा :—इसकी चिकित्सा फौफ्फुसीय अतःशल्यता (Embolism) तथा घनास्रता के समान है। रोग की तीव्र अवस्था मे प्रायः स्तब्धता (Shock) रहती है। इसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि साथ साथ हृदय में भी विकृति रहने के कारण सिरामार्ग (I. V.) से अधिक मात्रा मे जल देने से हानि हो सकती है। रोग की तीव्र अवस्था मे प्राणवायु (O_2) का प्रयोग सर्वोत्तम है। वक्ष की पीड़ा, बेचैनी तथा निद्रानाश के लिये मौरफीन (Morphine) ग्रे. ¼ या अफीम के अन्य योग (Pethidin, demerol) ग्रे.½ पेशीमार्ग से दे सकते हैं। फुफ्फुस की रक्तवाहिनियों का उद्वेष्ठन (Spasm) कम करने के लिये एट्रोपीन (Atropine) ग्रे.१/६०–१/३० या पापावरीन (Papaverine) ग्रे. १/२–१ आदि रक्तवाहिनीविस्फारक (Vasodilator) औषधियाँ एक साथ मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से प्र. चा. घं. दे सकते हैं। तीव्र अवस्था से बच जाने के पश्चात हृदयातिपात (Ht.failure) के लक्षण हो सकते हैं। इसके लिये सिरा से रक्त निकालना (V.S.) चाहिये। फुफ्फुसावरणीय गुहा मे जल संचय होने पर यदि हृदय या फुफ्फुस के कार्य मे रुकावट हो तब जल निकाल (Paracentasis) देना (पृ. २२) चाहिये। विकृत स्थान मे उपसर्ग की संभावना रहती है। इसके लिये प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr.P.) ४ ल. अं. इ. द्वि. प्र. दि. पेशी (I.M.) मार्ग से दें।

दशम अध्याय

श्वसन-संस्थान

प्रतिश्याय, जुकाम (Common cold, acute coryza)

परिचय :—विषाणु (Virus) जन्य यह रोग उर्ध्व (Upper) श्वसन-मार्ग मे शोथ उत्पन्न करता है। रोग अत्यन्त सामान्य तथा अघातक है। **अनूर्जता** (Allergy) तथा **द्वितीयक** (Secondary) **उपसर्ग** से भी इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। **निदान** के लिये लक्षणों पर निर्भर करना पड़ता है। साधारण ज्वर, शरीर मे पीड़ा, थकावट, शरीर से पसीना निकलने के अतिरिक्त रोगी को छींक आती है, नाक, आँख से पानी बहता है, कण्ठ में पीड़ा होती है, घोंटने मे कष्ट होता है, सूखी खाँसी होती है तथा वाणी में परिवर्तन होता है। नेत्र, मुख तथा नाक की श्लैष्मिककला (M. M.) लाल रंग की हो जाती है। सिर में पीड़ा, सिर मे भारी पन, नाक में अवरोध के कारण नाक से श्वास लेने में कठिनाई आदि लक्षण होते हैं।

कारण :—रोगी का स्वास्थ्य जब श्लेष्मक ज्वर (Influenza), रोमान्तिका (Measles) आदि के कारण विकृत हो जाता है तब इस रोग की विशेष सम्भावना रहती है। वायुमण्डल के ताप मे अकस्मात् परिवर्तन, प्र० दि० के न्यूनतम तथा ऊच्चतम ताप मे अत्यधिक अन्तर, पानी मे भीग जाना, नम तथा गीले स्थान में रहना आदि भी इस रोग की उत्पत्ति में सहायक है। रोग अघातक होते हुये भी अनेक समय तक रोगी अस्वस्थ रहता है और सरलता से अन्य रोगो का शिकार हो जाता है। विशेपकर श्वसन-सस्थान के रोगो से बचने की शक्ति कम हो जाती है। **शरद तथा वसन्त** ऋतु मे वायु मण्डल में पुष्प के पराग (Pollan) अत्यधिक मात्रा मे रहते है और इनके कारण अनूर्जता (Allergy) होती है और प्रतिश्याय के लक्षण होते है। इस रोग को **अनूर्जता जन्य नासाशोथ** (Hayfever, allergic rhinitis) कहते हैं। इसमे प्रतिश्याय के लक्षणों के अतिरिक्त नाक, कान, आँख तथा कण्ठ मे खुजली होती है। कभी-कभी प्रतिश्याय **चिरकालीन** हो जाता है और रोगी को बार-बार जुकाम होता रहता है। धूल मिश्रित वायु मे कार्य करने से, कब्ज, दाँत, कण्ठ, तुण्डिका (Tonsils), कण्ठशालूक (Adenoids) आदि मे उपसर्ग होने से, वायुमण्डल के ताप मे अकस्मात

परिवर्तन होने से, अन्य रोगों के कारण स्वास्थ्य विकृत होने से, तमाखु, बीड़ी, मद्य आदि के प्रयोग से, रोग के चिरकालीन होने की सम्भावना रहती है। चिरकालीन अवस्था की **चिकित्सा** करने के लिये आवश्यक है कि रोग के कारणों का पता लगाया जाय और उनको दूर किया जाय। पौष्टिक आहार तथा औषधि द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। प्राणायाम, जीवतिक्ति ए, सी, डी (Vit : A. C. D.) का प्रयोग, मछली के यकृत का तेल (Cod liver oil) आदि के प्रयोग से लाभ होता है।

चिकित्सा (१) प्रतिषेध :—श्वसन-संस्थान के उपसर्ग प्रायः बिन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा होते हैं। रोगी के खाँसते या छींकते समय थूक के अत्यन्त सूक्ष्म भाग वायु मे मिल जाते हैं और स्वस्थ मनुष्य के श्वास लेते समय यह दूषित वायु जब उसके श्वसन-संस्थान मे पहुँचती है तब उस मनुष्य को उपसर्ग हो जाता है। इसलिये रोगी को स्वस्थ मनुष्यों से अलग रखना चाहिये। खाँसने, छींकने आदि के पूर्व मुख के सामने रुमाल रखना चाहिए। भीड़ से बचना चाहिए। शुद्ध वायु में रहना चाहिये। पसीने से वस्त्र भीग जाने पर बदल देना चाहिये। स्वस्थ मनुष्यो तथा रोगी को अपने ऊर्ध्व श्वसन मार्ग में डी विल्बिस के यन्त्र (DeVilbi's spray) द्वारा मिस्टौल, (Mistol), एण्ड्रीन (Endrine), पेनिसिलीन, (P.), प्रोथ्रीसीन (Prothricine S. D.), टाइरोथ्रिसीन (Tyrothricin), पैट्यूलीन (Patulin) आदि द्वि० या चा० प्र० दि० छिड़कना चाहिये। श्वसन-मार्ग में अप्राकृतिक जीवाणु मिलने पर उनसे आत्ममसूरी (Auto-vaccine) बना कर इन्जेक्शन लेना चाहिये। जीवतिक्ति 'ए', 'डी' (Vit: A,D) का प्रयोग कर सकते हैं। परिणाम अनिश्चित है। शीत से बचना, नियमित जीवन व्यतीत करना, खुले स्थान में सोना आदि लाभप्रद है।

(२) रोग की अवधि कम करने के उपाय :—रोग के प्रारम्भ होते ही रोग से बचने के उपाय प्रयोग करने चाहिये। इसके अतिरिक्त रोगी को शैय्या पर **विश्राम** करना आवश्यक है। गरम पानी से नहाना, एक बाल्टी गरम पानी मे सरसो का चूर्ण च.१ मिलाकर नहाना, गरम पानी में पैर डुबाकर रखना, गरम पानी से शरीर पोछना आदि क्रियाएँ लाभप्रद है। स्नान के पश्चात गरम दूध, चाय, कौफी आदि गरम पेय पीना चाहिये। गरम पानी मे शहद तथा कागजी नीबू का रस मिलाकर पीना विशेष लाभप्रद है। **मल परित्याग**

होना आवश्यक है। रात्रि में कैलोमेल (ग्रे.५३) एक मात्रा तथा दूसरे दिन प्रातःकाल सिडलिस के पाउडर (Seidlitz powder) की एक मात्रा या मैगसल्फ (Mag:sulph) ड्रा. ४ गरम पानी मे मिलाकर पीना चाहिये। पेनोफ्थलीन (Phenolphthalin) ग्रे. १/२, कैसकरा (Cascara evacunt P.D.) च.१, एलोईन (Aloin) ग्रे. १/४, सेना (Senna), मिल्क औफमैगनीसिया (Milk of magnesia), साबुन का एनिमा (Enema) आदि का आ. अ. प्रयोग कर सकते हैं। गरम समबल लवण घोल (N. Saline) नाक से खींचना, मिस्टौल (Mistol) आदि उपर्युक्त वर्णित औषधियो को यंत्र द्वारा ऊर्ध्वश्वसन मार्ग में छिड़कना (Spray), द्वि. या चा. प्रै. दि. वेन्जीड्रीन (Benzidrine inhaler) सूघना, एक लोटा गरम पानी मे टि. वेनजोइन (Tr. Benzoin co) ड्रा. ४, युकलेप्टस का तेल (Ol. eucaleptus) ड्रा. १/२, देवदारु का तेल (Ol. pine) ड्रा. १/२ तथा मेनथौल (Menthol) ग्रे. ४ मिला कर उबाल कर भाप को द्वि. या त्रि. प्र. दि सूंघना आदि क्रियायें लाभप्रद हैं। गले मे पीड़ा रहने पर गरम पानी मे लवण १ प्र. श., ग्लूकोस १० प्र. श. या सोडीबाइकार्ब ५ प्र. श. मिलाकर त्रि. या चा. प्र. दि. कुल्ला करना चाहिये। कठ मे जीवाणुनाशक औषधियाँ लगाना निरर्थक तथा हानिप्रद है। इनका अधिक मात्रा मे प्रयोग करने से कठ की श्लैष्मिककला (M.M.) नष्ट हो जाती है और जीवाणु की वृद्धि मे सहायता मिलती है। इनको कम मात्रा मे प्रयोग करने से औषधि का शीघ्रता से परित्याग हो जाता है और जीवाणु पर प्रभाव नहीं होता। कण्ठ को बाहर से सेंक सकते हैं। बनपशा का फूल आं. ४ घी मे भून कर, कपड़े मे रखकर, सोने के पूर्व कण्ठ पर बाँधना चाहिये। अवररक्त (Infra-red) रश्मि का प्रयोग कर सकते है। नाक मे **रुकावट** रहने पर रक्तवाहिनियो का संकोच (Vasoconstrictor) कराने वाली औषधियाँ नाक में डालना चाहिये जैसे :—प्रीवीन (Privine), एमफेटेमीन (Amphetamine inhalant) या क्लोरेटोन (Chloretone inhalant P. D.) आदि। रोग के प्रारम्भ मे **अनूर्जतानिरोधी** (Anti allergic) औषधियाँ जैसे वेनाड्रिल (Benadryl P. D.) या एन्टीस्टीन (Antistine Ca) आदि की गो. १ द्वि. या त्रि. प्र. दि. देने से नाक से पानी गिरना तथा छींक आना कम होता है। रोग के प्रारंभ मे सोडी सैलि-

सिलय के योग (यो. २८) मे टि. क्वीनीन अमोनियेटा (Tr: Q:ammon) मि. ३०–६० प्र. मात्रा मिलाकर त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं।

(३) **साधारण** :—रोग से बचने तथा रोग की अवधि कम करने के उपायों से लाभ न होने पर रोगी की **औषधियों** द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। साधारण प्रतिश्याय मे सल्फा (S) का प्रयोग निरर्थक तथा हानिप्रद है। उपद्रव होने पर सल्फा तथा तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियो का प्रयोग कर सकते हैं। आमवात (Rheumatism) के रोगी के कण्ठ मे उपसर्ग होने पर आमवात के पुनरावर्तन होने की सम्भावना रहती है। इस पुनरावर्तन को रोकने के लिये पेनिसिलीन (P.) का इन्जेक्शन दे सकते हैं। रोगी को कम से कम दो दिन शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। ज्वर की अवस्था मे दुग्ध या तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। जल का प्रयोग अधिक मात्रा मे करना चाहिये। इसके अतिरिक्त लक्षणों तथा उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **पीड़ा** के लिये एसपिरीन ग्रे. ५ (यो.६२) त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। सिबालजिन (Cibalgin 'Ca'), सैरीडौन (Saridon) आदि पीडाहर औषधियो की गो. १ आ. अ. प्रयोग कर सकते हैं। नाक से अत्यधिक **स्राव** निकलने पर इपिकाक का चूर्ण (Pulv-ipecac co) ग्रे. ५–१० रात्रि मे सोने के पूर्व देने से स्राव कम हो जाता है। स्राव अत्यन्त **दुर्गन्धित** रहने पर पोटास पर मैगनेट ($KMnO_4$) का हलका गुलाबी रंग का घोल नाक से खींचना चाहिये। इस प्रकार नाक साफ कर लेने के पश्चात नाक में मिस्टौल (Mistol) या प्रोटारगल (Protargol) ५ प्र०श० १० बूँद डालना चाहिये। श्वास लेने में रुकावट रहने पर इफेड्रिन (Ephedrine) ग्रे० $\frac{1}{2}$ त्रि० प्र० दि० या नेयोसायनेफ्रिन (Neosynephrine) ग्रे० $\frac{1}{6}$ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। **सूखी खाँसी** रहने पर मुख में ताल मिश्री, पेनिसिलीन, मेन्थौल (Menthol) आदि की मुखटिक्रिया (Lozenges) आ० अ० मुख मे रखना चाहिये। खाँसी कम करने वाले योग (यो० १४, १५, १६, १७)या कोडीन फौस ग्रे० $\frac{1}{6}$–$\frac{1}{4}$ त्रि० प्र० दि० या टिकार्डा (Ticarda) गो० $\frac{1}{2}$ द्वि० प्र० दि० दे सकते हैं। खाँसी एक दम बन्द करने का प्रयत्न नही करना चाहिये। ष्ठीवन तरल हो जाने पर ष्ठीवन निकालने वाले योग (यो० १९, २०, २१) त्रि० प्र० दि० दें।

(४) **अनूर्जताजन्य** (Allergic) **प्रतीश्याय** रहने पर कौरटीसोन

(Cortisone) मि० ग्रा० २५ त्रि०प्र०दि० या "एसीटीएच" (ACTH) मि० ग्रा० १०-२५ पेशीमार्ग (I. M.) से त्रि० प्र० दि० कर ८-१० दिन देना चाहिये। अनूर्जतानिरोधी औषधियों (Anti allergics) जैसे बेनाड्रिल (Benadryl), एन्टिस्टीन (Antistin) आदि की गो. ? द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। शामक औषध के साथ इफेड्रिन (यो. ६६) देने से इफेड्रिन जन्य उपद्रव कम होते हैं। रोगी को धूल से बचना चाहिये तथा रोग की तीव्र अवस्था ठीक हो जाने पर पता लगाना चाहिये कि रोगी को किस पदार्थ के लिये अनूर्जता है। इसकी विधि का वर्णन तमकश्वास (Asthma) मे देखिये। जिस पदार्थ के लिये अनूर्जता हो उस पदार्थ का अत्यल्प मात्रा मे इन्जेक्शन देना चाहिये।

(५) उपद्रवः—जुकाम के कारण फुफ्फुस, मध्यकर्ण, वायुविवर (Sinus) आदि मे विकृति होती है। इनके लिये पेनिसिलीन (P.) आदि देना चाहिये।

नासागत रक्तस्राव (Epistaxis)

परिचय :—इस अवस्था मे नाक से रक्त बहता है। रक्तस्राव प्रायः नाक की भित्ति (Septum) के पूर्व (Ant:) भाग से होता है। कभी-कभी मध्य भाग से हो सकता है। पश्चिम भाग से रक्तस्राव विरल है। रक्तस्राव दैहिकीय (Physiological), स्थानिक (Local) तथा शारीरिक (Constitutional) कारणो से होता है।

चिकित्सा। (१) स्थानिक :— नासासेतु (Bridge of nose)पर शीतल जल या बरफ का प्रयोग करना चाहिये। रोगी को शिर ऊँचा कर लिटाना चाहिये। रोगी को शिर आगे की ओर झुका कर बैठाने से रक्त पीछे की ओर फुफ्फुस में नहीं जाता। जिस स्थान से रक्त निकल रहा है उस स्थान को रूई से **दबा कर रखना** चाहिये। दबाने वाली रूई मे हाइड्रोजन परोक्साइड (H_2O_2), एड्रिनलीन (Adrenalin) १:१०००, मनुष्य की लसिका (Serum), थ्रोम्बिन टौपिकल (Thrombin topical), वेनोमोस्टैट (Venomostat), स्टिपवेन (Stypven) आदि लगाना चाहिये। इस क्रिया के करने के पूर्व नाक साफ करने के विषय मे मतभेद है। कुछ लोगो का मत है कि गरम समबल लवण घोल (N.saline) नाक के अन्दर खींच कर नाक साफ कर लेना चाहिये। अन्य लोगो का मत है कि नाक साफ करने से और अधिक रक्तस्राव होता है। रक्तस्राव जब प्रायः बंद हो

जाय तब जिस स्थानसे रक्तस्राव होता हो उस स्थान को क्रोमिक एसिड (Chromic acid) या ट्राइक्लोर ऐसेटिक एसिड (Trichlor acetic acid) या विद्युत अग्निकर्म यन्त्र (Electric cautary) से छू देना चाहिये। यदि रक्त अनेक स्थानो से निकलता हो और उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ न हो तब गाज (Gauze) मे एड्रिनलीन (Adrenaline) १:१००० लगा कर नाक में कसकर भर देना चाहिये। साथ-साथ गौज मे स्थानिक संज्ञाहर (Local anaesthetic) जैसे नोवोकेन (Novocaine), पैन्टोकेन (Pantocaine), कोकेन (Cocaine) आदि १० प्र० श० लगाने से पीड़ा नहीं हाती। नाक के आगे के भाग से रक्तस्राव होने पर गोज नाक मे आगे से प्रवेश कराना चाहिये और नाक के पीछे वाले भाग से रक्तस्राव होने पर गौज नाक में पीछे से (पृ० २९) प्रवेश कराना चाहिये।

(२) शारीरिक —अन्य रक्तस्राव (पृ० १७४) के समान तथा रोग के कारण के अनुसार रक्तस्राव रोकने वाली औषधियाँ भिन्न मार्गों से देना चाहिये।

(३) नासागत रक्तस्राव की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

दूषित रक्त निकलने पर निम्न औषधियों को नाक मे डाले—दाड़िम (अनार) पुष्प रस, आम की गुठली की मज्जा का रस, लाजवन्ती, मञ्जिष्ठा, धाय के फूल या मोच रस व लोध जल मे पीसकर, मास रस, रक्तपित्त मे वर्णित क्वाथ का अवपीडन (नस्य डालकर नाक बन्द कर रखना) अँगूर, मुनक्का, ईख, दूध, यवासे की जड़, दूर्वा, प्याज इनमे से किसी का रस, फिटकरी या रसाञ्जन, चन्दनादि तैल या बादाम तैल।

इसके अतिरिक्त पथ्य, औषधि आदि ऊर्ध्वग रक्तपित्त के समान करें। नाक व सिर पर बरफ की थैली रख सकते है। चन्द्रकला, अग्नितुण्डी, सप्तामृत लौह आदि का प्रयोग लाभकर है।

श्वसनिकागत तमकश्वास, दमा, (Bronchial asthma)

परिचय :—इसमे अकस्मात् प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र (Paroxismal-dyspnoea) होता है। मनावैज्ञानिक स्थिति (Psy) तथा अनूर्जता (Allergy) से इसका विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। रोग प्रायः पुरुषों मे यौवनारम्भ के पूर्व प्रारम्भ होता है। जिन परिवारो मे पामा (Eczema), शीतपित्त (Urticaria), रक्त में उषसिप्रिय (Eo) की वृद्धि, अपस्मार

(Epilepsy), अपतन्त्रक (Hysteria), सूर्यावर्त (Migraine), रक्तवाहिनी वातनाड़ी जन्य शोफ (A.N. oedema), चर्मशारीर (Dermatographia), वातिक (Nervous) प्रकृति आदि विकृतियाँ मिलती हैं, उन परिवारों में यह रोग प्रायः होता है। श्वसनिकाओं (Bronchioles) में प्राणदा वातनाड़ी के अग्र (Vagal endings) को उत्तेजित करने से तमकश्वास के समान लक्षण होते हैं। श्वास बाहर निकालते समय विशेष कष्ट होता हैं। आवेग के समय जोर से खाँसी होती है परन्तु खाँसने में कष्ट होता है। प्रारम्भ में ष्ठीवन (Expect:) गाढ़ा और चिपचिपा होता है, पश्चात् तरल हो जाने पर उसका सरलता से परित्याग होता है और रोगी का कष्ट कम होता है। वक्ष परम प्रतिस्वनिक (Hyper-resonant) होता है। दोनों फुफ्फुस पर अनेक शुष्क रव (Ronchi) मिलते हैं। आवेग के पश्चात् वक्ष में कोई विशेष चिन्ह नहीं मिलते केवल वातोत्फुल्लता (Emphysema) का प्रमाण मिलता है। फुफ्फुस की प्राणशक्ति (Vital capacity) कम हो जाती है।

निदान :—प्रावेगिक कास तथा श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) के आवेग का इतिहास, मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक अस्थिरता, अनूर्जता (Allergy) की प्रकृति, पामा, शीतपित्त आदि अनूर्जताजन्य रोगों के होने का रोगी या उसके परिवार में इतिहास, बहिःश्वसन (Exp:) में विशेष कठिनाई आदि रोग के महत्व पूर्ण प्रमाण हैं। रक्त परीक्षा में उपसिप्रिय (Eo) की संख्या में प्रायः वृद्धि होती है परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। **दमा में** उपसिप्रिय की संख्या प्रायः ८०००–१२,००० प्र० घ० मि० मी० तथा उनका अनुपात २५ प्र० श० से कम रहता है। **उष्णकटिबन्धज उपसिप्रियता** (Tropical eosinophilia) में ये मात्रायें १२,००० प्र० घ० मि० मी० तथा २५ प्र० श० से अधिक होती हैं और ज्वर आदि लक्षण होते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से इन दोनों रोगों में रक्त की अवस्था में यह अन्तर विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि उपसिप्रिय की संख्या जब १२००० प्र० घ० मि० मी० से अधिक तथा उनका अनुपात २५ प्र० श० से अधिक रहता है तब संखिया (As) के प्रयोग से निश्चित तथा स्थायी लाभ होता है। इन मात्राओं में कमी रहने पर संखिया से लाभ होने की संभावना कम रहती है और जो भी लाभ होता है वह अस्थायी होता है। इसके अतिरिक्त **दमा में ष्ठीवन** (Expect:) में शारकोट लेडन

के स्फटिक (Charcot Leyden's crystals), लेनेक के मोती के समान पदार्थ (Laennec's pearls) तथा कर्शमान के चक्र (Curshmann's spirals) मिलते हैं ।

अनूर्जता (Allergy) की परीक्षा करने के लिये रोगी को २४ घंटे पूर्ण उपवास कराना चाहिये । केवल जल पीने को देना चाहिये । तत्पश्चात प्रत्येक दिन रोगी को एक नवीन पदार्थ खाने को देना चाहिये । इस प्रकार जिस पदार्थ के लिये रोगी में अनूर्जता होगी उस पदार्थ को खाने पर दमा का आवेग होगा । इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के प्रोटीन (Ptn) का अन्तस्त्वक (I. D.) मार्ग से पूर्व बाहु पर ०'०१ सी. सी. की मात्रा में इन्जेक्शन लगाने से, जिस प्रकार की प्रोटीन के लिये अनूर्जता होगी उस प्रोटीन का जिस स्थान पर इन्जेक्शन लगाया गया होगा उस स्थान पर १५ मिनट के अन्दर लाली हो जायगी । साथ साथ एक स्थान पर समबल लवण घोल (N. saline) का भी उसी मात्रा में इन्जेक्शन लगाना चाहिये । यदि इस स्थान पर भी लाली हो तब समझना चाहिये कि परीक्षा में किसी प्रकार की भूल हुई है । इस परीक्षा के करने की **दूसरी विधि** में इन्जेक्शन न लगाकर माता के टीके (Vaccination) के समान पूर्व बाहु पर प्रोटीन रखकर तेज सूई से रगड़ दिया जाता है । इस परीक्षा का परिणाम विशेष महत्वपूर्ण नहीं है ।

इस रोग के कारणों में **अनूर्जता** (Allergy) का विशेष महत्व है परन्तु यह अनूर्जता उस समय विशेष रूप से सक्रिय हो जाती है जब मनोवैज्ञानिक कारणों से मानसिक कष्ट होता है । इसलिये चिकित्सा द्वारा स्थायी लाभ होने के लिये आवश्यक है कि रोगी की **मनोवैज्ञानिक** (Psy) स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सके । इस प्रकार यदि रोगी के मानसिक कष्ट का कारण पता लग सके तथा उसका निवारण हो सके तब रोगी को स्थायी लाभ हो सकता है । इन रोगियों के सुषुम्नाशीर्ष (Medulla) में स्थित श्वसनिकाओं का संकोच (Contract) कराने वाला केन्द्र अत्यन्त छुद्र मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्तेजित हो जाता है । ये कारण इतने छुद्र होते हैं कि अन्य स्वस्थ मनुष्य के ऊपर ये प्रभावहीन होते हैं । उदाहरण स्वरूप विद्यार्थी यदि विद्यालय नहीं जाना चाहता है या परीक्षा के परिणाम से चिंतित है अथवा वयस्क पारिवारिक जीवन से सुखी नहीं है तब दमा के उद्वेग की संभावना रहती है । इन कारणों का यदि निवारण किया जा सके

तब रोगी को लाभ होता है। इन रोगियों की चिकित्सा चिकित्सालय में करने से रोगी को मानसिक शांति मिलती है और लक्षणों का शमन होता है। चिकित्सालय में यदि रोगी के बिना जाने केवल जल का ही इन्जेक्शन दिया जाय तब भी रोगी को मानसिक शाति मिलती है तथा लक्षणों का शमन होता है। साथ साथ यह भी याद रखना आवश्यक है कि दमा के रोगी को प्रायः इस रोग से सम्बन्धित अनेक औषधियों का ज्ञान रहता है इसलिये यह आवश्यक है कि चिकित्सक को भी अनेक औषधियों का ज्ञान हो जिससे मनोवैज्ञानिक कारणों से प्रत्येक बार रोगी को वह कोई नवीन औषधि दे सके जिसका रोगी ने पहले कभी प्रयोग न किया हो।

जिन पदार्थों से **अनूर्जता** की उत्पत्ति होती है वे पदार्थ प्रायः भिन्न भिन्न प्रकार के प्रोटीन (Ptn) होते है। ये प्रोटीन भोजन द्वारा या श्वसन मार्ग से अथवा उपसर्ग (Ifn) के परिणामस्वरूप शरीर मे प्रवेश करते हैं। इसके अतिरिक्त अनूर्जता कुलज (Hereditary) अथवा औषधियों के प्रयोग से भी होती है। **शैशवावस्था** में भोजन द्वारा तथा बाल्यावस्था और **युवावस्था** मे श्वसनमार्ग से और **मध्यावस्था** मे जीर्ण उपसर्ग के द्वारा शरीर मे अनूर्जता के कारण के प्रवेश करने की विशेष संभावना रहती है। **भोजन** में दूध, पिस्ता, मास, मछली, टमाटर, स्ट्रोबेरी (Stawberri) अण्डा, गेहूँ, मटर, छीमी, सेम, आलू, चौकलेट, गुच्छी, ढिंगरी (Mushroom) मेवा आदि के द्वारा इस रोग के उद्वेग की संभावना रहती है। शरद तथा बसन्त ऋतुओं मे वायुमण्डल मे पुष्प पराग (Pollan) अत्यधिक मात्रा में रहते है। इसी प्रकार धूल, सौंदर्य वृद्धि के लिये प्रयोग किये जाने वाले पाउडर, पक्षियों के पर के अंश आदि श्वसन मार्ग से प्रवेश कर रोग की उत्पत्ति करते हैं। श्वसन-संस्थान के अत्यन्त सामान्य उपसर्ग (Ifn.) के कारण भी अनूर्जता होती है।

उपद्रव :—इस रोग मे श्वसन संस्थान तथा रक्त-वह संस्थान मे अनेक उपद्रव होते हैं जैसे :—वातोत्फुल्लता (Emphysema), चिरकालीन श्वसनिकाशोथ (Chro : Bronchitis), श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis), वातोरस (Pneumothorax), रक्तष्ठीवन (Hemoptysis), यक्ष्मा (T. B.), फुफ्फुसशोफ (Oedema lungs), दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) आदि। इसके अतिरिक्त दमा मे अनेक

प्रकार के उपसर्ग (Ifn) होने की संभावना रहती है जिसके कारण कभी कभी ज्वर हो सकता है। ये उपसर्ग प्रायः श्वसन-संस्थान तथा त्वचा पर होते हैं।

चिकित्सा :—रोग की अवस्था के अनुसार निम्न चिकित्सा की जाती है :—(१) **साधारण** :—इस रोग की चिकित्सा मे भोजन का विशेष स्थान है। जिस पदार्थ से दमा का उद्वेग प्रारम्भ होता है उस पदार्थ को निषिद्ध कर देना चाहिये। मध्याह्न के पश्चात भोजन हल्का होना चाहिऐ और सूर्यास्त के पश्चात भोजन नहीं करना चाहिए। कब्ज, अजीर्ण, परिश्रम तथा मानसिक स्थिति पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। शीतल तथा शुष्क जलवायु वाले स्थान मे रोगी को रहना चाहिए। शीतऋतु मे उत्तर भारत की अपेक्षा समुद्र-तट वाले नगरों में रहना अधिक लाभप्रद हैं। प्र.दि. के न्यूनतम तथा उच्चतम ताप तथा नमी (Humidity) में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिये। दमा के रोगी को २००० फि. से ऊँचे स्थान पर रहना लाभदायक है। स्वास्थ्यकर स्थानों मे कभी कभी जाकर रहना अच्छा है। शुद्ध वायु मे सोना स्वास्थ्यप्रद है परन्तु दमा के कुछ रोगियो को शीतऋतु में खिड़की बन्द कर सोना अधिक सुखदायक होता है। ऋतु के अनुसार शीत से बचने के लिये वस्त्र पहनना चाहिये। प्राणायाम से लाभ होता है। पौष्टिक आहार तथा औषधि द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। जीवतिक्ति 'सी' (Vit:C) विशेष लाभदायक है।

(२) **आवेग की चिकित्सा** :—आवेग के समय तकियों के सहारे रोगी का सिर ऊंचा रखना चाहिये। वक्ष पर गाय का पुराना घृत नमक मिला कर, गरम कर मलना चाहिये। दमा मे एड्रीनलीन (Adrenaline) प्रयोग करने की निम्न विधियाँ हैं :—

(क) आवेग के प्रारम्भ मे डी विलबिस (De Vilbis spray) के यन्त्र द्वारा नाक तथा कण्ठ में एड्रिनलीन (Adrenalin P. D.) १:१०० छिड़कने से आवेग रोका जा सकता है।

(ख) एड्रिनलीन (यो. १०७) सी. सी. १/४ पिट्यूटरिन तथा एट्रोपीन के साथ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से आ. अ. दे सकते हैं। **एसमोलाइ-सीन** (Asthmolysin) मे ये सब औषधियाँ रहती है।

(ग) एड्रिनलीन १ : १००० मि. ३–५ प्र. १/२ घण्टा अधस्त्वक मार्ग से दे सकते हैं।

(घ) एक सी. सी. वाली पिचकारी मे एड्रिनलीन १ : १००० सी. सी. १ लेकर, सूई अग्रबाहुकी त्वचा मे प्रवेश कर पिचकारी को हाथ पर बॉध दें। अब निम्न विधि से औपधि प्रवेश करायें :—१–**प्रथम घण्टा** :–मि. १ प्र. १/२–१ मिनट तब तक दें जब तक उद्वेग शान्त न हो जाय। २—**द्वितीय घण्टा** :–मि. १–२ प्र. १५ मिनट पर दें। ३–**तृतीय घण्टा** :–मि.१–२ प्र. ३० मिनट पर दें। ४—**तत्पश्चात** मि. १–२ प्र. घं. कर तीन बार दें।

नोट :—यह विधि श्वासात्मिका स्थिति (Status asthmaticus) मे प्रयोग कर सकते हैं।

(ङ) **तैल में एड्रिनलीन का योग** (Adrenaline in oil P. D.) १ : ५०० सी. सी. १–२ पेशीमार्ग (I. M.) से द्वि. प्र. दि. दे सकते हैं। शिशु मे १/४–१/२ सी. सी. तथा बालक मे १/२–३/४ सी. सी. देना चाहिये। इसका प्रभाव प्रायः १२ घण्टे रहता है।

(च) एड्रिनलीन १ : १००० सी. सी. १ ग्लूकोस ५ प्र. श. पा. २ मे मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से मि. ४०–८० प्र. मि. की गति से प्रवेश करें। यह विधि अत्यन्त गम्भीर उद्वेग मे प्रयोग की जाती है। वक्ष पर तीसी की पुल्टिस या एन्टीफ्लोजिस्टीन (Antiflogestine) भी लगा सकते हैं।

(३) **श्वासात्मिका स्थिति** (Status asthmaticus) मे '**एसीटीएच**' (ACTH) मि. ग्रा. १०–२५ चा. प्र. दि. या मि. ग्रा. ४० द्वि. प्र. दि. **पेशीमार्ग** से दे सकते हैं अथवा **कौरटीसोन** मि. ग्रा. २५–७५ चा. प्र. दि. या मि. ग्रा. १०० द्वि. प्र. दि. मुख से देने से भी लाभ होता है। हृच्छूल (Angina pectoris) का इतिहास रहने पर या उच्च रक्त-निपीड (B. P.) रहने पर इन औपधियो का प्रयोग करने मे विशेष साव-धानी आवश्यक है। जब अन्य औषधियो से लाभ न हो तब इनका प्रयोग करना चाहिये। इनका प्रभाव अधिक स्थायी होता है और सम्भव है कि अनेक मास तक रोग का उद्वेग न हो। इन औषधियो को दो दिन देने के पश्चात औषधि की मात्रा **शनैः शनैः कम कर** 'एसीटीएच' मि. ग्रा. १० प्र. दि. तथा कौरटीसोन मि. ग्रा. ५० प्र. दि. देना चाहिये।

(४) **अन्य औषधियाँ** :—जीवतिक्ति 'बी'$_7$ (Nicotinic acid) ५० से १०० मि. ग्रा. १० सी. सी. जल में मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से प्रयोग कर सकते हैं। एमिनोफाइलीन (Amiophylline) ३$\frac{3}{4}$ ग्रे. का

सिरामार्ग से प्रयोग, हिमराड (Himrod's asthma cure) के धूम्र का सूँघना, स्ट्रेमोनियम (Stramonium) की सिगरेट का धूम्रपान आदि क्रियायें कर सकते हैं। **अमीनोफायलीन** या थेयोफायलीन (Theophyllin) १०–२० सी. सी. जल में मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से अत्यन्त शनैः शनैः देना चाहिये। आ. अ. ४ घण्टे पश्चात पुनः इसे प्रयोग कर सकते हैं। एड्रीनलीन से लाभ न होने पर गम्भीर अवस्था में इसे प्रयोग करना चाहिये। इन औषधियों की वत्ती (Suppository) गुदामार्ग से द्वि. प्र. दि. दे सकते हैं। इफेड्रिन (Ephedrine hyd :) ग्रे. १/३–३/८ युवा में तथा बाल्यावस्था में ग्रे.१/४–१/२, शिशु में ग्रे. १/८–१/४ मुख में त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं। इससे उद्वेग की गम्भीरता कम हो सकती है तथा उद्वेगों की संख्या कम की जा सकती है। तीव्र अवस्था में इससे कम लाभ होता है। इससे दिल में कभी कभी धड़कन होने लगती है। इसके साथ फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १/२ प्र. मात्रा मिला सकते हैं। **अनूर्जता विरोधी तथा हिस्टामीन विरोधी** (Anti-allergic and anti-histamines) **औषधियाँ** उद्वेग की गम्भीरता तथा उनकी संख्या कम कर सकती है। ये तीव्र अवस्था में विशेष लाभदायक नहीं है। इस प्रकार की अनेक औषधियाँ उपलब्ध हैं जैसे बेनाड्रिल (Benadryl P.D.), एन्टिस्टीन (Antistine Ca) आदि। इनकी गो. १ प्रायः मि. ग्रा. ५० की होती है। इनका मि. ग्रा. १२½–५० द्वि. या चा. प्र. दि दे सकते हैं। बेनाड्रिल से नींद भी आती है। इसका शर्बत (Syr : benadryl) बाल्यावस्था में १/२–१ चम्मच त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। इन औषधियों से लाभ न होने पर **नशीली औषधियों** (Narcotics) का प्रयोग करना चाहिये परन्तु मौरफीन का **कदापि प्रयोग नहीं** करना चाहिये। इससे श्वासावरोध (Asphyxia) होने की सम्भावना रहती है। इसका अभ्यास भी पड़ सकता है। परालडिहाइड (Peraldehyde) मुख से ड्रा. १–४ पेशी. से सी.सी. २–१० या गुदा से ड्रा. ४–६ दे सकते हैं या सोडियम फेनोबारबिटोन (Na : phn) ग्रे. १–३ पेशीमार्ग (I. M.) से दे सकते हैं। **उद्वेष्ठन निरोधी** (Anti-spasmodic) औषधियों का योग (यो. ६७, १३) त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं। इनमें प्रायः लोबेलिया (Tr : lobelia), बेलाडोना (Tr : belladonna), धतूरा (Tr : strm-

onium) आदि रहते हैं । **परमउग्र अवस्था** में जब अन्य औषधियों से लाभ नहीं होता तब कभी कभी **व्यापक संज्ञाहर** (General anaesthetic) से रोगी के प्राण की रक्षा की जा सकती है । इसके लिये रोगी को इथर (Ether) सुंघाना चाहिये । इथर और जैतून के तेल (Ol.olive) को बराबर बराबर मिलाकर गुदामार्ग से १–२ औं द्वि.प्र.दि. देने से भी लाभ होता है । श्वास लेने में अत्यन्त कष्ट होने पर प्राणवायु (O_2) शत. प्र. श. ५–१० लि. प्र. मि. की गति से देना चाहिये । **नेयोएपिनीन** (Neoepinine B.W and co,Isoprenaline'A.H,isopren Br') की गो. १/२ (मि.ग्रा.१०) जिह्वा के नीचे रखना चाहिये । इसका प्रभाव एड्रिनलीन (Adrenaline) के समान है । इसका आन्त्र से प्रचूषण नहीं होता इसलिये मुख द्वारा औषधि घोंटना निरर्थक है । इससे कभी कभी दिल में धड़कन होने लगती है । औषधि का प्रभाव १० मिनट के अन्दर होता है । इससे सूर्यावर्त (Migraine) में भी लाभ होता है । इसको यन्त्र द्वारा श्वसन-मार्ग में भी प्रवेश (Spray) करा सकते हैं ।

(४) **उद्वेगों के मध्य की अवधि में** :—इस अवधि में रोग के कारण का पता लगाने के लिये रोगी की परीक्षा करनी चाहिये । नाक, कण्ठ आदि में उपसर्ग तथा रचनात्मक विकृति के लिये देखना चाहिये । तुण्डिका-शोथ (Tonsillitis), कण्ठशालूक (Adenoids), नाक में विचलित भित्ति, (Deviated septum), दीर्घ गलशुण्डिका (Uvula), स्थायी बालग्रैवेयक (Persistant thymus), कृमि का उपसर्ग आदि का पता लगाना चाहिये तथा इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये । क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा, ष्ठीवन (Sputum) परीक्षा, उषसिप्रिय (Eo) के लिये रक्त परीक्षा, अनूर्जता (Allergy) के लिये त्वक् परीक्षा (Skin-test) तथा आहार परीक्षा करनी चाहिये। रोग के मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक (Psy) कारणों का पता लगाना चाहिये तथा उसके निवारण का प्रयत्न करना चाहिये । अनूर्जता (Allergy) के सिद्धान्त के अनुसार एण्टिस्टीन (Antistin), बेनाड्रिल (Benadryl) तथा एन्थिसान (Anthisan) का प्रयोग कर सकते है । जिस पदार्थ से अनूर्जता (Allergy) हो उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये तथा उससे बचना चाहिये । परीक्षा द्वारा जिस प्रोटीन (Ptn) के विरुद्ध अनूर्जता प्रमाणित हो उस प्रोटीन की ०·१

सी. सी. अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से प्र. स. देना चाहिये । इसको अत्यल्प मात्रा में मुख द्वारा भी दे सकते हैं । प्रारम्भ मे इसकी मात्रा कम रहनी चाहिये तत्पश्चात् इसकी मात्रा शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये । आ. अ. **अविशिष्ट प्रोटीन** (Nonspecific ptn) चिकित्सा (पृ. ३६) कर सकते हैं । उपसिप्रियता (Eosinophilia) रहने पर **संखिया** (Acetylarsan, N. A. B, sulpharsenal) के प्रयोग से लाभ होता है । इनकी प्रयोग की विधि फिरग (Syphilis) तथा उष्ण कटिबन्धज उषसिप्रियता (Tropical eosinophilia) मे देखिये । रात्रि मे सोने के पूर्व **उद्वेष्टन निरोधी** औषधियो (Antispasmodics) को एक मात्रा लेने से प्रातःकाल दमा का उद्वेग नहीं होता । इसके लिये इन औषधियो के योग (यो. १३) की एक मात्रा या टि. धतूरा (Tr. stramonium) मि. ३० या सिरप कोडीन फौस (Syr : codeine phos) ड्रा.१ अथवा टि. कैम्फर को. (Tr. camphor Co) मि.३० दे सकते हैं । **नाक में उपसर्ग** या शोथ रहने पर मिस्टौल (Mistol), एन्ड्रीन (Endrine), प्रोथ्रीसीन (Prothrisin), राइबरवीन (Rybarvin), पेनिसिलीन (P, penlater 'Le'), क्लोरेटोन (Chloretone 'P. D'), इफेड्रिन (यो. ८२) यन्त्र द्वारा (DeVilbis spray) नाक, मुख आदि मे छिड़क (Spray) सकते हैं । सल्फा (S), पेनिसिलीन (P.), मसुरी (Vaccine) आदि का उपसर्ग के अनुकूल प्रयोग कर सकते हैं । रोगी के कफ, मूत्र, मल आदि मे अप्राकृत जीवाणु मिलने पर उससे आत्ममसुरी (Auto-vaccine) बना कर प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है ।

(६) **खाँसी** के लिये उद्वेष्टन निरोधी योग (यो. १३) या श्वसन संस्थान के शामक योग (यो. १६ १७,) आ. अ. त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं । अत्यन्त अनावश्यक तथा शुष्क खाँसी रहने पर पेनिसिलीन की मुखटिकिया (P. lozenges), तालमिश्री आदि आ. अ. मुख मे रखने से लाभ होता है । वासक का शर्बत (यो. १९) च. १ मुख मे थोड़ी देर रख कर पी जाना चाहिये । इसको आ. अ. दिन मे ५-७ बार ले सकते हैं ।

(७) **शामक** (Sedative) **औषधियाँ** :—मानसिक शान्ति तथा

उद्वेग कम करने के लिये फेनोबारबिटोन (Phn) के साथ अमीनोफायलीन (यो. ६७) त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं।

(८) सूँघने के लिये :—धतूरे की पत्ती (यो. ६३) जला कर सूँघने से उद्वेग की उग्रता में कमी होती है।

(९) तमकश्वास की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

श्वास व हिक्का के रोगियो की चिकित्सा, स्थान व मूल एक होने से, समान ही बतलाई गई है। इसमे औषधि वातानुलोमक व कफविलेयक होनी चाहिये। सामान्य नियम यह है :—यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वास हिक्किने ॥

श्वास के रोगियो को वात एवं कफकारक औषधि कभी न दें। शमन व बृंहण उपचार करना चाहिये, कर्षण कभी न करें फिर भी मृदु वातानुलोमक औषधियो द्वारा वमन विरेचन कराकर कोष्ठ शुद्ध रखना आवश्यक है। श्वास पथ पर चिपके श्लेष्मा के निष्क्रमणार्थ योग्य धूमवर्ति से धूम्रपान भी हितकारी है। उदर, कण्ठ, छाती पर तैल मर्दन करना चाहिये तथा स्निग्ध लवणयुक्त स्वेदन, एव उपनाह भी उपयुक्त है। तृष्णा शान्ति के लिये दशमूल या देवदारु क्वाथ दे। पथ्य मांसरसो युक्त स्नेह सिद्ध तथा बृंहण होना चाहिये।

औषधियाँ :—ये श्वासरोग के अन्य प्रकारों में भी काम में आ सकती हैं जैसे :—उड़द, जौ अथवा मोमराल व घी का धुआँ, हरिद्राद्य धूमवर्ति, धतूरपञ्चांग का धूम, निदिग्धिकाद्य यूप, रस्नादि यूप, मुक्ताद्य चूर्ण, शृंग्यादि चूर्ण, भार्गी गुड़, च्यवनप्राश, महाश्वासारि, श्वास कुठार, श्वास चिन्तामणि, बृहन्मृगांक, नागार्जुनाभ्र, कनकासव, शृंगाराभ्र।

प्रयोगः—(१)

चन्द्रामृत	४ र.
त्रिभुवन कीर्ति	४ र.
शृङ्ग भस्म	४ र.
शु. नरसार	१ मा.
मि.	४ मात्रा

तुलसी आर्द्रक रस व मधु से

(२)

तालीशादि	३ मा.
यवक्षार	६ र.

मधु से बार बार

(३) पलाण्डु स्वरस घृष्ट मृगशृंग लेप

(४) पञ्चगुण तैल उरःकण्ठ मर्दन व स्वेदन

अथवा

हृदयार्णव	४ र.
श्वास कुठार	४ र.
नवायस लौह	४ र.
शृङ्गभस्म	४ र.
यवक्षार	१ मा.
मि.	४ मात्रा

मधु व आर्द्रक से।

चिरकालीन श्वसनिकाशोथ (Chro : bronchitis) तथा **वातोत्फुल्लता (Emphysema)** ।

परिचय :—इस अवस्था मे श्वसनिकाओं मे चिरकालीन शोथ होता है । इसके परिणाम-स्वरूप वातोत्फुल्लता हो जाती है । तात्विक यक्ष्मा (Fibroid T. B.) के लक्षण भी चिरकालीन श्वसनिकाशोथ के समान होते हैं । तमकश्वास (Asthma), अनूर्जता (Allergy) तथा उष्ण कटि-बन्धज उपसिप्रियता (Tropical eosinophilia) का ध्यान रखना भी आवश्यक है । इन रोगों में प्रायः चिरकालीन श्वसनिकाशोथ होता है । वातोत्फुल्लता हो जाने पर फुफ्फुस की रक्त-वाहिनियो (B. V.) द्वारा रक्तसंचार करने मे हृदय को अधिक परिश्रम करना पड़ता है । परिणाम-स्वरूप दक्षिण हृदयातिपात (C. H. F.) हो सकता है । इस अवस्था मे फुफ्फुस की विकृति प्राथमिक तथा हृदय की द्वितीयक होती हैं । इस अवस्था को फुफ्फुसज हृदाभिवृद्धि (Cor : pulmonale) कहते है । चिरकालीन श्वसनिकाशोथ में सर्वदा यक्ष्मा (T. B.) की सम्भावना रहती है । धूल-मिश्रित वातावरण मे कार्य करने, शीत लगने, नाक मे अवरोध होने, तुडिका-शोथ (Tonsillitis) आदि से भी यह विकृति होती है ।

निदान :—इसकी दृष्टि से प्रायः लक्षणों पर निर्भर करना पड़ता है। यह रोग प्रायः स्थूल प्रकृति पुरुषों मे वृद्धावस्था मे शीत ऋतु मे होता है । प्रातः काल तथा संध्या समय खाँसी विशेष कष्टप्रद होती है । वातोत्फुल्लता के कारण वक्ष बेलनाकार (Barrel shaped) हो जाता है । वातोत्फुल्लता मे वायु-कोषों (Alveoli) की वृद्धि होती है । वक्ष परमप्रतिस्वनित हो जाता है । बहिःश्वसन (Exp:) दीर्घ हो जाता है । श्वास लेने मे कष्ट होता है तथा श्यावता (Cyanosis) होती है । दोनों फुफ्फुस पर शुष्क रव (Ronchi) मिलते हैं । **रक्त की परीक्षा कर** उपसिप्रिय (Eo) के लिये अवश्य देख लेना चाहिये ।

चिकित्सा (१) प्रतिषेध :—रोग से **बचने के लिये** धूल तथा धुम्र से बचना चाहिये । श्वसन-संस्थान के उपसर्ग (Ifn) तथा खाँसी को तत्परता से ठीक करना चाहिये । मद्य, तमाखू, आदि का सेवन नहीं करना चाहिये । स्वच्छ वायु में रहना चाहिये । श्वसन-संस्थान के रोगों से बचने के उपाय (पृ.७४५) काम मे लाने चाहिये । शीत ऋतु मे समुद्रतट पर रहना उत्तम है ।

(२) **साधारण :**—चिरकालीन श्वसनिकाशोथ में पर्वत की नम तथा शीतल वायु का सेवन नहीं करना चाहिए। शीत ऋतु में समुद्र के किनारे रहना उत्तम है। अत्यधिक भोजन, मद्य तथा धूम्रपान वर्जित है। शीत ऋतु में मत्स्य के यकृत का तैल (Cod liver oil) प्रयोग करना उत्तम है। कब्ज पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पेनिसिलीन (P.) १ ल० अं० इ० ५ सी० सी० जल मे मिश्रित कर विशेष यन्त्र द्वारा नासापुट मे प्र० चा० घं० पर प्रवेश करना चाहिये।

पौष्टिक आहार तथा औषधियों द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना चाहिये। गरम पानी से नहाने, मालिश, प्राणायाम तथा उपयुक्त व्यायाम करने से लाभ होता है। ष्ठीवन (Expect:) का सवर्ध (Culture) कर आत्ममसूरी (Auto-vaccine) बनवा कर इन्जेक्शन लगाना चाहिये। **खाँसी** की अवस्था के अनुसार औषधियों (यो. १३–२१) का प्रयोग करना चाहिये। **ष्ठीवन दुर्गन्धित** रहने पर चीनी पर टेरेबिन (Terebene) मि. ५ रख कर या क्रेओजोट (Creosote) मि. ३ कैपस्यूल मे रखकर त्रि.प्र. दि. दे सकते हैं। पेनिसिलीन में स्ट्रेप्टोमायसीन (Dicristicine P.D.) मिला कर एक एमप्यूल प्र.दि.इन्जेक्शन लगाने से भी लाभ होता है।

(३) **वातोत्फुल्लता** (Emphysema) असाध्य रोग है। रोग के कारण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। उपसर्ग (Ifn) रहने पर पेनिसिलीन (P.), स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) आदि यन्त्र द्वारा श्वसन-मार्ग मे प्रवेश कराना चाहिये तथा आ० अ० इनका इन्जेक्शन लगाना चाहिए। इस विकृति में फुफ्फुस पूर्णरूप से सकोच (Contract) नहीं करता इसलिये प्राणायाम द्वारा बलपूर्वक वायु को फुफ्फुस से बाहर निकालना चाहिये। दिन में उदर पर पेटी बाँध कर रखने से महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) की कार्यशीलता में वृद्धि होती है और फुफ्फुस के कार्य मे मदद मिलती है। इसी प्रकार अपना एक हाथ वक्ष के आगे तथा एक हाथ पीछे रख कर बहिश्वसन (Exp:) के समय वक्ष को दोनों हाथ के बीच मे दबाने से भी फुफ्फुस से वायु बाहर निकालने मे मदद मिलती है। यह क्रिया द्वि० या त्रि० प्र० दि० करना चाहिये। प्रारम्भमे प्रतिवार २–३ वार वक्षको दबाना चाहिये। इसको शनैः शनैः बढ़ा कर प्रति वार १५ वार तक वक्ष को दबा सकते हैं। **श्यावता** (Cyanosis) रहने पर तथा श्वास लेने में कष्ट होने पर प्राणवायु

(O_2) शत प्र. श. नि. या चा. प्र. दि. सूँघना चाहिये। प्रत्येक बार १२–२० मिनट तक प्राणवायु सूँघ सकते हैं। दमा, श्वसनिकाशोथ आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। हृदय में कमजोरी प्रतीत होने पर उपयुक्त चिकित्सा करें।

(४) **भोजन** :—आहार रोगी के वजन के अनुसार होना चाहिये। दुर्बल रोगी को वसा (Fat) अधिक मात्रा में देना चाहिए। दूध, घी, मक्खन, मछली के यकृत का तेल (Scott's emulsion, Haliverol shark-liver oil) आदि देना चाहिये। मोटे रोगी के भोजन में वसा और कार्बोज (Cho) की कमी तथा प्रोटीन (Ptn) की प्रधानता होनी चाहिए। भोजन सरलता से पचनेवाला, पौष्टिक तथा बिना मसालेदार होना चाहिए। सूर्यास्त के पश्चात् किसी प्रकार का ठोस पदार्थ नही खाना चाहिए।

(५) **अन्य चिकित्सा** :—स्वास्थ्यकर स्थानों (Spa) मे जल-वायु परिवर्तन के लिए जाना चाहिए। जीवतिक्ति 'ए' 'बी', 'सी' तथा 'डी' (Vit. A, B, C, D) विशेष लाभदायक हैं। इसके लिये जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multivit, multicebrin, wimin, adexolin) आदि का कै. १ द्वि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये। वक्ष पर पुराना घृत, स्लोन की लिनिमेन्ट (Sloan's liniment) आदि की मालिश करना चाहिये। ऋतु के अनुसार वस्त्र धारण करना चाहिये। कसकर वायु भरे हुये कमरे (Compressed air chamber) मे कुछ समय रोगी को रखने से वातास्फुल्लता में लाभ होता है। कब्ज के लिये सेना (Senna), कैसकरा (Cascara), एनजियर्स इमलशन (Angiar's emulsion) आदि दे सकते हैं।

श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis)

परिचय :—इस चिरकालीन वर्धनशील रोग मे श्वसनी (Bronchus) की किसी शाखा की अभिस्तीर्णता (dilatation) होती है। चिरकालीन **खाँसी** तथा **उपसर्ग** के कारण श्वसनिकाओ की प्राचीर कमजोर हो जाती है। ये दोनों कारण विद्यमान रहने पर अथवा इनका पुनरागमन होते रहने पर श्वसनिका की विकृति शनैः शनैः बढ़ती जाती है। इस वृद्धि के कारण एक प्रकार का विवर (Cavity) बनता है। कभी कभी रोग सहज (Congenital) हो सकता है। खाँसी, दुर्गन्धित ष्ठीवन (Expect:), मुग्दरवत (Clubbed) अँगुलियाँ तथा वक्ष में विवर के चिन्ह इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। इस विवर मे बार-बार उपसर्ग (Ifn) होने के कारण

बार बार रोगी को जाड़ा लग कर ज्वर होता है। साथ-साथ खाँसी, पसीने के साथ ज्वर का उतरना आदि लक्षण होते हैं।

निदान की दृष्टि से रोग के प्रधान लक्षणों का मिलना महत्वपूर्ण प्रमाण है, विशेष कर प्रातःकाल अधिक मात्रा में दुर्गन्धित ष्ठीवन का निकलना। इतना दुर्गन्धिम ष्टीवन (Fxpect:) केवल तीन रोगों में मिलता है, श्वस-निकाभिस्तीर्णता, फुफ्फुस में कर्दम (Gangrene) या विद्रधि (Abscess) होने पर। रोगी की परीक्षा करने पर प्रायः रोग का कोई विशिष्ट अथवा महत्वपूर्ण प्रमाण नहीं मिलता। फुफ्फुस के आधार (Base) पर सद्रव (Wet) या शुष्क (Dry) आगन्तुक ध्वनियाँ (Adventitious sounds) मिल सकते है। विवर (Cavity पर कर्णान्तिक वक्षभाषण (Whispering-pectoriloquy) मिल सकती है।

परीक्षायें :—द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn) रहने पर **रक्त परीक्षा** मे बहाकारी श्वेतकणों (Poly:) की वृद्धि मिलती है। **ष्ठीवन** (Sputum) किसी पात्र में रखने पर तीन स्तरों (Layers) में विभाजित हो जाता है। साधारण **क्ष-किरण परीक्षा** से रोग के प्रमाण नहीं मिलते। इसके लिये लिपीयेड (Iodized oil,lipoid) श्वसनी (Bronchus) मे प्रवेश कर यह परीक्षा करनी चाहिये। इससे श्वसनी की अवस्था का ज्ञान (Bronchogram) होता है। श्वसनीवीक्षण यन्त्र (Bronchoscope) के द्वारा भी रोग का पता लगाया जा सकता है।

चिकित्सा (१) प्रतिषेध :—रोग से **बचने के लिये** फुफ्फुस के उपसर्ग (Ifn) तथा खाँसी की तत्परता से चिकित्सा करनी चाहिये। श्वसन-संस्थान के रोगो से बचने के अन्य उपायो (पृ. ७४५) का प्रयोग करना चाहिये। फुफ्फुस के उपसर्ग के पश्चात, व्यापक सज्ञाहर (General anaesthetic) औषधि के प्रयोग के पश्चात, श्वसन मार्ग मे शल्य (F. B.) प्रवेश करने के पश्चात् विशेष कर बाल्यावस्था मे वायुकोषाओ (Alveoli) का निपात हो जाता है। निपात (Collpse) के कारण श्वसनिकाओ का बाहर से खिचाव होता है और श्वसनिकाभिस्तीर्णता होने की संभावना रहती है, इसलिये इन निपतित वायुकोषाओ को पुनः फुलाना (पृ.२१) आवश्यक है।

(२) साधारण :—रोगी को साधारणतः गरम और कम वृष्टि वाले सूखे स्थान मे रहना चाहिये तथा ऊर्ध्वश्वसन मार्ग के उपसर्ग से बचना चाहिये।

रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि, उपसर्ग की विशिष्ट चिकित्सा तथा विवर (Cavity) को स्रावरहित करने का प्रयत्न करना चाहिये। विश्राम, पौष्टिक भोजन, पौष्टिक औषधियाँ तथा स्वास्थ्यवर्धक वातावरण का प्रबन्ध आवश्यक है। पेनिसिलीन (P) तथा सल्फा (S) औषधियों द्वारा उपसर्ग की चिकित्सा करनी चाहिये। शैय्या पर द्वि. प्र. दि. भो. प. रोगी को शिर नीचा कर लिटाने से विवर मे संचित स्राव का परित्याग होता है। पेनिसिलीन, क्रेओजोट (Creozote), टिः बेञ्जोइन को. (Tr. benzoin co.) आदि को श्वसन-मार्ग मे प्रवेश करने से इन औषधियो का उपसर्ग से प्रत्यक्ष सपर्क स्थापित होता हैं। मसूरी (Vaccine) के प्रयोग से लाभ होता है। कृत्रिम वातोरस (A. P.) तथा शल्यकर्म (Op:) भी किया जाता है। धूम्रपान वर्जित है। भोजन मे प्रोटीन (Ptn) अधिक होना चाहिये। रोगी जब शैय्या पर लेटे तब चेहरा नीचे रखकर लेटने से विवर मे स्राव संचय नहीं हो पाता। पैर की ओर शैय्या एक फिट ऊँची होनी चाहिये। श्वसनीवीक्षण यंत्र (Bronchoscope) के द्वारा स्राव निकालने से श्वसनी की अवस्था का भी ज्ञान होता है। श्वसनी में किसी प्रकार का अवरोध (Obst:) या संकोच (Stenosis) रहने पर श्वसनीवीक्षण परीक्षा से उसका पता लगता हैं तथा उसका उपयुक्त प्रबन्ध किया जा सकता है। संकोच रहने पर यंत्र द्वारा उसका विस्फार (Dilate) करना चाहिये। रोगके प्रारम्भ मे यह क्रिया प्रत्येक रोगी मे करनी चाहिये। तत्पश्चात् इस क्रिया को ए.या द्वि.प्र.स. करना चाहिये। इसके अतिरिक्त नाक के द्वारा रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर उसको कण्ठनलिका (Trachea) मे जाने देना चाहिये। अब यत्र (Electric Sucker) द्वारा स्राव बाहर खीच सकते हैं।

(३) **शल्य चिकित्सा** (Op) :—रोग यदि एक फुफ्फुस मे केवल एक स्थान पर हो तथा रोगी की आयु कम और स्वास्थ्य अच्छा हो तब शल्यकर्म द्वारा फुफ्फुस के विकृत भाग को काटकर (Lobectomy) निकाल देना चाहिये। वर्तमान स्थिति में इस रोग की यही उपयुक्त चिकित्सा है। शल्य चिकित्सा सभव न होने पर औषधियो द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। औषधियों द्वारा रोगी के कष्ट में कमी, आयु की वृद्धि तथा उपद्रव बचाये जा सकते हैं।

(४) **तृणाणुनाशक औषधियाँ** (Antibiotics) :—इन औषधियो से अस्थायी लाभ होता है, उपसर्ग, खाँसी तथा ष्ठीवन (Expe-

ot:) में कमी होती है। ये औषधियाँ यंत्र द्वारा (पृ. २१) श्वसन मार्ग में प्रवेश की जा सकती हैं। इनको इन्जेक्शन द्वारा भी दे सकते है। **नेयो-पेनिल** (Neopenil) का पेशीमार्ग (I.M.) से इन्जेक्शन लगा सकते हैं। फुफ्फुस के रोगो से इस प्रकार की पेनिसिलीन 'जी' के योग का विशेष महत्व है। औषधि का फुफ्फुस मे प्रचुर मात्रा में परित्याग होता है। पेनिसिलीन के साथ स्ट्रेप्टोमायसीन (Combiotic) का १/२ एमप्यूल पेशीमार्ग (I.M.) से द्वि.प्र.दि. दे सकते है। क्लोरोमायसिटीन (Cln), ओरियोमायसीन (Au) टेरामायसीन (Tn) आदि मि.ग्रा. २५० त्रि. प्र. दि मुख दे सकते हैं।

(५) **रसचिकित्सा** (Chemotherapy):–रोगी की ष्ठीवन (Sputum) परीक्षा करने पर यदि चक्राणु (Spirochetes) तथा यवाकार दण्डाणु (Fusiform bacilli) मिले तब सखिया (As) का प्रयोग करना चाहिये। इन जीवाणुओं के कारण ष्ठीवन अत्यन्त दुर्गन्धित हो जाता है। एन. ए. बी. (N. A. B.) ग्रा. ०·१५–०·३ सिरा (I. V.) द्वारा या एसिटिलआरसन (Acetyl arsan) सी. सी. १–३ पेशी (I. M.) मार्ग से अथवा सल्फार्सिनौल (Sulpharsenol) पेशीमार्ग से देना चाहिए। इन औषधियो को ५–७ दिन के पूर्व पुनः नहीं देना चाहिए। सखिया के योग देने के पूर्व मूत्र में शुक्लि (Alb) के लिए देख लेना आवश्यक है। क्रेओजोट (Creososte) मि. ३ कैपस्यूल में रखकर त्रि. प्र. दि. देने से भी ष्ठीवन की दुर्गन्धि कम होती है।

(६) **श्वसनिकाओं की अभिस्तीर्णता** (Bronchial dilators) कराने वाली औषधियाँ :—दमा के समान फुफ्फुस में सीत्कार ध्वनि (Wheezing) मिलने पर एड्रिनलीन (Adrenaline, epinephrine, synephrine), इफेड्रिन (Ephedrine), नेयोएपिनीन (Neoepinine) आदि (प. पृ. ११६) का प्रयोग कर सकते हैं। ये औषधियाँ श्वसनमार्ग मुख तथा अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से प्रयोग की जाती है। **श्वसनमार्ग से यन्त्र** (Arosol) द्वारा (पृ. २१) एड्रिनलीन १ : १०० की १/२ सी. सी. या नेयोएपिनीन १ : २०० **का सी. सी.** १/२ दे सकते हैं। **मुख** द्वारा नेयोएपिनीन मि. ग्रा. ५–१५ जिह्वा के नीचे रखकर चूसना चाहिये। इफेड्रिन ग्रे. ३/८–३/४ भी मुख द्वारा आ. अ. दे सकते हैं। **अधस्त्वक मार्ग** (S. C.) से एड्रिनलीन १ : १००० की

१/४–१/२ सी. सी. या इफेड्रिन ग्रे. १/२ दे सकते हैं। **नेयो-सायनेफ्रिन** (Neosynephrine) प्रधानतः रक्त वाहिनियो का संकोच (Vaso-constriction) कराती है, इसलिये इसको श्वसनमार्ग में प्रवेश कराने से श्वसनिकाओ की श्लैष्मिककला (M.M.) की सूजन कम हो जाती है और वायु का मार्ग प्रशस्त हो जाता है तथा रोगी को श्वास लेने मे सरलता होती है। इस औषधि का १ : १०० घोल का १/२ सी. सी. यन्त्र द्वारा (Arosol) श्वसन मार्ग मे प्रवेश करा सकते हैं।

(७) **अन्य औषधियाँ :—**अफीम के योग वर्जित है। गरम पेय देने से ष्ठीवन निकलने में आसानी होती है। श्वसनमार्ग मे यन्त्र द्वारा अन्तःकिण्व (Enzymes) देने से स्राव तरल होता है तथा उसके निकलने मे आसानी होती है। ये अन्तःकिण्व निम्न है :—पैपेन (Papain), कारोआइड (Caroid), ट्रिपटाल (Tryptal) आदि। रबर की नलिका (Catheter) द्वारा कण्ठनलिका (Trachea) मे मेन्थोल (Menthol) का तेल मे ५ प्र. श. घोल भी प्रयोग किया जा सकता है परन्तु परिणाम उत्तम नहीं है। भाप सूँघने से अथवा प्राणवायु (O_2) ९५ प्र. श. मे कार्बन-डायोक्साइड (O_2) ५ प्र. श. मिलाकर सूँघने से भी स्राव तरल होता है। भाप बनाते समय जल में टि. बेनजोइन (Tr : benzion co), मेन्थौल (Menthol) आदि मिला सकते हैं। रक्तष्ठीवन (Haemoptysis), दमा आदि लक्षण होने पर उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

ऊष्णकटिबन्धज उपसिप्रियता (Tropical eosinophilia)

परिचय :—इस अज्ञात कारणजन्य रोग मे दमा तथा यक्ष्मा (T.B.) के समान लक्षण होते है। मन्द ज्वर, दौर्बल्य, खाँसी, समय समय पर श्वास लेने में दमा के समान कष्ट होना आदि इसके प्रधान लक्षण है। **रक्तपरीक्षा** मे श्वेतकणो (W. B. C.) की वृद्धि मिलती है। इन कणो मे उपसिप्रिय (Eo) की संख्या २०–९० प्र. श. या इससे भी अधिक हो जाती है। कुछ विद्वानो के मत से रोग **अनूर्जता** (Allergy) के कारण उत्पन्न होता है। रोग साध्य है। **निदान** के लिये लक्षणो पर तथा रक्तपरीक्षा पर निर्भर करना पड़ता है। फुफ्फुस की **क्ष-किरण परीक्षा** करने पर प्रायः कोई महत्व पूर्ण विकृति नहीं मिलती। कभी कभी श्यामाकीय यक्ष्मा (Miliary T.B.) के समान दोनो फुफ्फुस पर श्वेत बिन्दु (Mottling) मिलते है। यह ध्यान

रखना चाहिये कि यक्ष्मा मे भी उषसिप्रिय (Eo) की वृद्धि मिल सकती है। यक्ष्मा की सम्भावना रहने पर **ष्ठीवन** (Sputum) **परीक्षा** द्वारा यक्ष्म-दण्डाणु (T. B.) के लिये देखना चाहिये। रक्तावसादन गति (E. S. R.) तथा क्ष-किरण परीक्षायें भी करनी चाहिये। कृमिरोग (Worms) में भी उपसिप्रिय की वृद्धि होती है। इसलिये **मलपरीक्षा** कर आन्त्रकृमि तथा रात्रि मे रक्तपरीक्षा कर सूक्ष्मश्लीपद कृमि (Microfilaria) के लिये भी देखना चाहिये। इस रोग की चिकित्सा के लिये सखिया (As) ये योग देना पडता है। इसलिये सखिया प्रारम्भ करने के पूर्व तथा चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधिपर्यन्त **मूत्रपरीक्षा** करनी चाहिये। मूत्र मे शुक्लि (Alb :) अथवा निर्मोक (Cast) का मिलना वृक्क की विकृति के प्रमाण हैं। इनके मिलने पर संखिया का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

चिकित्सा :—इस रोग की चिकित्सा मे सखिया (As.) के योग, अनूर्जता निरोधी औषधियाँ (Antiallergic) तथा श्वासकृच्छ्र (Dy-spnoea) के उद्वेग के समय श्वसनिकाओं की अभिस्तीर्णता (Bronch-io-dilators) कराने वाली औषधियाँ दी जाती है।

(१) संखियाँ (As.) का इन्जेक्शन देना चाहिये। **ऐसिटिलारसन** (Acetylarsan) एक सी. सी. से प्रारम्भ कर शनैः शनैः ३ सी. सी. तक पेशीमार्ग (I. M.) से प्रति ५ दिन पर इन्जेक्शन देना चाहिये। प्रायः ८–१० बार इन्जेक्शन देने की आवश्यकता पड़ती है। बाल्यावस्था मे दो सी. सी. वाला ऐमप्यूल (Ampoulae) प्रयोग करना चाहिये। सखिया के अन्य योग भी प्रयोग कर सकते हैं। मुख द्वारा लाइकर आरसेनिकेलिस (Liq : arsenicalis) मि. ३–८ त्रि. प्र. दि. अथवा स्टोवारसल (Stovarsol) गो. १ द्वि. प्र. दि. अनेक काल पर्यन्त देने से लाभ हो सकता है। सखिया के योग एक ही समय मुख तथा इंजेक्शन द्वारा नहीं देना चाहिये। ८–१० दिन सखिया के योग मुख द्वारा देने के पश्चात् एक सप्ताह औषधि बन्द रखना चाहिये। तत्पश्चात् औषधि का पुनः प्रयोग कर सकते हैं। फिरंग (Syphilis) की चिकित्सा के समान एन. ए. बी. (N. A. B.), सल्फार्सिनौल (Sulpharsenol) आदि सखिया के अन्य योग भी प्रयोग किये जाते है। यह ध्यान रखना चाहिये कि सखिया के ४ इन्जेक्शन के पश्चात् प्रायः लक्षणों की कमी होती है। कभी-कभी चार

इन्जेक्शन तक लक्षणों की वृद्धि होने का भय रहता है।

(२) **अन्य औषधियाँ** :—थायोकैलसियम (Thio-calcium Ohm) सी. सी. १० सिरामार्ग (I. V.) से द्वि. या त्रि. प्र. स. दे सकते हैं। परिणाम अनिश्चित है। खाँसी के लिये वेनाड्रिल का शर्बत (Syr : Benadryl P. D.), जेफरौल (Zephrol M & B), ग्लाइकोडीन टर्प वसाका (Syr : glycodin terp vasaka), एफिमैक्स (Elixir ephimax) आदि च. १ त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं अथवा खाँसी कम करने वाले योग (यो. १३–१७) त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। दमा के समान प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र (Paroxysmal dyspnoea) का आवेग होने पर दमा (पृ ७५३) के समान एड्रिनलीन (Adrenaline), इफेड्रिन (Ephedrine) आदि का प्रयोग करना चाहिये। वेनाड्रिल (Benadryl), एन्टिस्टीन (Antistine) आदि अनूर्जता निरोधी (Antiallergic) औषधियों की गो. १ द्वि. या त्रि.प्र.दि. देने से खाँसी कम हो सकती है। भोजन की व्यवस्था दमा के समान होनी चाहिये। जीवतिक्ति 'ए' 'डी' (Vit : A. D.), मछली के यकृत का तेल, शार्क के यकृत का तेल (Sharkoferrol) आदि द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करनी चाहिये। **हेट्राजान** (Hetrazan) गो. १ द्वि. प्र. दि. देने से भी रोग में लाभ होता है।

शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ (Dry pleurisy)

परिचय :—इस अवस्था में फुफ्फुसावरण (Pleura) में शोथ होता है। फुफ्फुसावरण के दोनों स्तरों (Layers) के आपस में रगड़ने के कारण वक्ष पर श्वास लेते समय **पीड़ा** होती है तथा **घर्षण-ध्वनि** (Friction sound) मिलती है। कभी-कभी घर्षणध्वनि नहीं भी मिल सकती है। ज्वर, खाँसी, श्वास लेने में कष्ट आदि लक्षण भी हो सकते हैं। यह रोग प्रायः फुफ्फुस के अन्य रोगों में उपद्रवस्वरूप होता है। जब यह प्राथमिक (Primary) होता है तब यक्ष्मा की अधिक सम्भावना रहती है। प्राथमिक फुफ्फुसावरणशोथ के रोगियोंमें प्रायः ५० प्र.श.को ५ वर्षके अन्दर फुफ्फुस में यक्ष्मा हो जाता है।

निदान—इसकी दृष्टि से श्वसन के समय वक्ष में **पीड़ा** तथा **घर्षणध्वनि** का होना महत्वपूर्ण है। वक्ष की क्ष-किरण परीक्षा (X-ray) से विकृति का ज्ञान हो सकता है। जीवाणु का पता लगाने के लिये **ष्ठीवन** (Sputum)

परीक्षा करनी चाहिये । यक्ष्मा (T. B.) रहने पर रक्तपरीक्षा में श्वेतकणों (W.B.C.) की कमी, लसिकाणु (Lympho:) की तथा रक्त-कणों की रक्तावसादन गति (E. S. R.) का वृद्धि मिलती है ।

चिकित्सा :—रोग के कारण तथा लक्षणों की चिकित्सा करनी चाहिये ।

(१) साधारण :—रोग के प्रारम्भ में शैय्या पर विश्राम करना नितान्त आवश्यक है । परिश्रम प्रारम्भ करने के पूर्व ज्वर, नाड़ी और वजन की गति तथा रक्तकणों की रक्तावसादन गति (E.S.R.) का प्राकृत होना आवश्यक है । ज्वर प्राकृत होने के २–४ सप्ताह पश्चात् रोगी को शैय्या परित्याग कर शनैः शनैः परिश्रम में वृद्धि करनी चाहिये । ज्वर का पुनरागमन होने पर पुनः रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये । ज्वर की तीव्रता के समय दूध आदि तरल आहार (पृ० ४) देना चाहिये परन्तु शीघ्र ही रोगी की क्षुधा तथा पाचनशक्ति के अनुसार पौष्टिक आहार प्रारम्भ करना चाहिये । यक्ष्मा की सम्भावना ध्यान में रखते हुये आहार की कमी के कारण रोगी का वजन कम नहीं होने देना चाहिये । भोजन में वसा (Fat), प्रोटीन (Ptn) तथा जीवतिक्ति 'ए', 'डी' (Vit:A.D.) की मात्रा अधिक होनी चाहिये । रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात पाँच वर्ष तक रोगी का ध्यान रखना आवश्यक है । समय-समय पर ष्ठीवनपरीक्षा, रक्तावसादन गति (E.S.R.) की परीक्षा तथा वक्षकी क्ष किरण परीक्षा करते रहना चाहिये । रोगी के ताप, नाड़ी की गति तथा वजन पर ध्यान रखना आवश्यक है । ग्रीष्म ऋतु में शीतल स्थान में रहना चाहिये । इस रोग में स्त्रियों में प्रसव के पश्चात् यक्ष्मा होने की सम्भावना रहती है इसलिये यथा-सम्भव रोगिणी को गर्भवती नहीं होना चाहिये ।

(२) पीड़ा की चिकित्सा :–(क) **स्थानिक** :–विकृत पार्श्व पर लवण मिलाकर, गरम कर पुराने घी से **मालिश** करना चाहिये । विन्टोजने (Wintogen), विक्स (Vick's), स्लोन की लिनिमेन्ट (Sloan's liniment), एलिमैन का एम्ब्रोकेशन (Eleman's embrocation), लिनिमेन्ट ए० बी० सी० (Liniment A. B. C.), लिनिमेन्ट तारपीन (Lnt:turpentine) आदि में सरसो का तेल मिला कर मालिश करना चाहिये । विकृत स्थान को अनेक विधियो से **सेंक** सकते हैं । गरम पानी से, गरम पानी में नमक मिलाकर, गरम पानी की बोतल से, तीसी की पुल्टिस से या एन्टीफलेमिन (Antiflamin) लगा कर विकृत स्थान को सेंक सकते

हैं। पीसी हुई सरसो की पट्टी (Mustard plaster) लगाने से विकृत स्थान की त्वचा में रक्तसंचार अधिक होता है और पीडा कम होती है। इन क्रियाओं से लाभ न होने पर रोगी के वक्ष पर का बाल उस्तरे से साफ कर स्पीरिट से पोछना चाहिये। स्पिरिट सूख जाने पर बहिःश्वसन (Exp:) की स्थिति मे नीचे से ऊपर की ओर २ इंच चौड़ी स्टिकिंग की पट्टी (Sticking plaster) लगाना चाहिये। इस पट्टी को विकृत पार्श्व पर सामने की ओर उरःफलक (Sternum) तक तथा पीछे की ओर पृष्ठवंश (Spine) तक लगाना चाहिये। इस क्रिया से श्वसन के समय विकृत पार्श्वकी **गति कम** हो जाती है। ८-१० दिन के पश्चात् इस पट्टी को बदल देना चाहिये। पीड़ा अत्यन्त तीव्र रहने पर विकृत स्थान पर **स्थानिक संज्ञाहर** औषधि (Local anaesthetic) लगा सकते हैं जैसेः—जिस स्थान पर अत्यधिक पीड़ा हो उस स्थान पर तथा उससे थोड़ा उपर तथा नीचे पीड़ाकर स्थान पर एक मिनट तक एथिल क्लोराइड (Ethyl chloride) छिड़कना चाहिये। इस क्रिया को प्रायः द्वि. प्र. दि. करना पड़ता है। इससे लाभ न होने पर अत्यन्त पीड़ाकर स्थान में तथा उसके २ इञ्च ऊपर तथा २ इञ्च नीचे त्वचा के अन्दर नोवोकेन (Novocaine) १ प्र. श. या प्रोकेन (Procaine) १/२-१ प्र. श. इन्जेक्शन द्वारा वितरित (Infiltrate) करना चाहिये। उपर्युक्त औषधियों का घोल प्रत्येक बार २० सी. सी. तक प्रयोग कर सकते हैं। आ. अ. इस क्रिया को पुनः करना चाहिये। इस क्रिया से पर्शुकान्तरीय वातनाड़ी (Inter-costal nerves) की संवेदना (Sensation) शक्ति स्थगित हो जाती है। विकृत स्थान पर **जोंक** (Leeches) भी लगा सकते है।

(ख) **पीड़ाहर** (Analgesic) औषधियो का प्रयोग :—ए पी.सी. (यो. ६२) की मात्रा १, ल्यूमिनल ग्रे. १, सिबाल्जिन, सैरीडौन (Cibalgin saridon), यूकेडौल (Eukodal), पेथिडीन (Pethidin) आदि की गो. १ त्रि. प्र. दि दे सकते है। इनसे पीड़ा कम न होने पर मौरफीन ग्रे. १/३ एट्रोपीन ग्रे. १/१०० (M & A) के साथ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। इससे औषधि का अभ्यास पड़ने का भय रहता है। यूकेडौल पेथिडीन, फाइसेप्टौन (Physepton) आदि का अधस्त्वक मार्ग से इन-जेक्शन लगा सकते हैं। हिरोइन (Heroin) ग्रे.१/१२, औमनोपौन (Omn-

opon) ग्रे.$\frac{1}{8}$–$\frac{1}{4}$, डोवर का चूर्ण (Dover's powder) ग्रे.५–१० आदि दे सकते हैं।

(३) विशिष्ट चिकित्सा :—रोग का मूल कारण **यक्ष्मा** (T. B.) रहने पर स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा. १।२ द्वि. प्र. दि. पेशीमार्ग (I.M.) से तथा आइसोपैस (Isopas) गो. ३ चा. प्र. दि. मुख से देना चाहिये। **फुफ्फुसपाक** (Pneumonia) आदि में इस रोग के उपद्रवस्वरूप होने पर प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr. P.) ४ ल. ग्रं. इ. अकेले या स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा. $\frac{1}{2}$ के साथ ए. या द्वि.प्र.दि. पेशीमार्ग (I.M.) से देना चाहिये।

(४) अन्य चिकित्सा :—रोग के प्रारम्भ में **कब्ज** रहने पर कैलोमेल (यो. ४२) ग्रे. $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{4}$ प्र. आध घं. तब तक दें जब तक मल परित्याग न हो। ८ मात्रा तक दे सकते हैं। ए. पी. सी. (यो. ६२) की प्रति मात्रा में कैलोमेल (Calomel) ग्रे. $\frac{1}{4}$ या फेनौक्थलीन (Phenol-phthalin) ग्रे. $\frac{1}{2}$ मिला कर तब तक दें जब तक मल परित्याग न हो जाय। अन्य चिकित्सा से पीड़ा में कमी न होने पर विकृत पार्श्व में कृत्रिम वातोरस (A. P.) करना चाहिये।

(५) फुफ्फुसावरणशोथ की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

पार्श्वशूल होने पर वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिये एतदर्थ वातघ्न तैलो का अभ्यंग, सेंक व लेप करना चाहिये। आवश्यकतानुसार संशोधन भी हितकारी है। अलसी की पुल्टिस व जोंक लगवाकर रक्त निकलवाने से लाभ होता है। उरस्तोय (पक्ष पार्श्व मे जल आ जाने पर) में वारिशोषण रसों का प्रयोग, रेचक, मूत्रल, स्वेदल औषधियों व लवणवर्ज्य पथ्य देना चाहिए। चिकित्साक्रम जलोदर के समान हो जाता है। रससिन्दूर व सुधानिधि रस लाभकारी हैं।

औषधि प्रयोग :—

(१) वसन्त मालती २ र.
शृङ्गभस्म ४ र.
शिलाजत्वादि ४ र.
कुमुदेश्वर २ र.
यवक्षार १ मा.
मि. ४ मात्रा आर्द्रकरस व मधु से।

(२) योगराज गुग्गुल २ व./२ मात्रा
प्रातःसायं उष्णोदक से।

(३) पलाण्डुरस, घृष्ट मृगशृंग लेप

अथवा:–(१) मृत्युञ्जय रस २ व.
शृङ्गभस्म ४ र.
पुष्करमूल चूर्ण ४ र.
मि. २मात्रा मधु के साथ।

(२) महानारायण तैल अभ्यंग

सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ (Wet pleurisy)

परिचय :—इस अवस्था मे फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural sac) में जल सचय होता है। युवावस्था में फुफ्फुसावरणशोथ प्रारम्भ से ही सद्रव रहने पर या किसी भी आयु मे फुफ्फुसावरणीय गुहा का द्रव जीवाणुरहित (Sterile) होने पर रोग की उत्पत्ति प्रायः **यक्ष्मा** (T. B.) के कारण होती है। इसके अतिरिक्त यह रोग प्रायः फुफ्फुस के रोगो में **उपद्रवस्वरूप** होता है। कभी कभी शरीर के अन्य स्थानो के रोगों मे उपसर्ग **रक्तमार्ग** से फुफ्फुसावरण मे पहुँचता है। विरल अवस्था मे यह घातक रोगों (Malignant) के कारण भी हो सकता है।

निदान :—इसके लिये लक्षणों, नैदानकीय परीक्षाओं तथा फुफ्फुसावरणीय गुहा के स्राव की परीक्षा पर निर्भर करना पड़ता है।

(क) **लक्षण :**—श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), पर्शुकान्तरीय स्थानों (Intercostal spaces) का विकृत पार्श्व मे बाहर की ओर उन्नत होना, हृदयाग्र (Apex) का स्वस्थ पार्श्व की ओर स्थान्तरित होना, ठेपण (Percuss) करने पर पाषाणवत मन्दता (Dullness) मिलना, श्वसनध्वनि, वाचिकलहरियाँ (V. F.) तथा वाचिक प्रतिस्वनन (V. R.) का लुप्तप्राय होना निदान की दृष्टि से रोग के महत्वपूर्ण प्रमाण हैं।

(ख) परीक्षायें :—क्ष-किरण (X-ray) **परीक्षा** से जल का प्रमाण मिलता है। वक्ष से **जल निकालने** से जल की प्रकृति तथा जीवाणु का ज्ञान सम्भव है। **रक्तपरीक्षा मे** श्वेतकणों (W. B. C.) की संख्या, उनका अनुपात (D. C.) तथा रक्तकणों की अवसादन गति (E. S. R.) के लिये देखना चाहिये। **ष्ठीवन** (Sputum) **परीक्षा** से यक्ष्मा दण्डाणु (T. B.) मिल सकते हैं।

(ग) **फुफ्फुसावरणीय गुहा से स्राव निकालना** (Paracentasis) :—वक्ष मे जल होने का यह निश्चित प्रमाण है। इस परीक्षा से फुफ्फुसावरण के केवल मोटे (Thickened-pleura) होने की शंका का भी समाधान होता है। जल निकाल कर उसकी साधारण तथा संवर्ध (Culture) परीक्षायें कर जीवाणु का पता लगाना चाहिये। जल का वि. घ. (Sp. Gr) तथा शुक्लि (Alb :) की मात्रा का पता लगाने से यह निस्कर्ष निकाला जा सकता है कि जल शोथजन्य (Exudate) है या

अशोथज (Transudate) है। स्राव में कोषाओं (Cells) की परीक्षा करने से घातक रोग (Malignant) का पता चलता है। यक्ष्मा (T.B.) का पता लगाने के लिये स्राव को वंटमूष (Guineapig) में इन्जेक्शन द्वारा प्रवेश कर वंटमूष में यक्ष्मा की उत्पत्ति के लिये देखना चाहिये। स्राव निकालने के पश्चात फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural sac) में थोड़ा वायु प्रवेश कर क्ष किरण परीक्षा करने से जल अच्छी तरह दिखलाई देता है।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—जब तक ज्वर प्राकृत न हो जाय तथा ज्वर प्राकृत होने के एक सप्ताह पश्चात तक रोगी को विश्राम करना चाहिये। भोजन साधारण, अर्धतरल (पृ. ४), सरलता से पचने वाला तथा **लवणरहित** होना चाहिये। स्राव में कमी होने पर प्राणायाम द्वारा निपतित वायुकोषाओं (Collapsed alveoli) को पुनः फुलाने का प्रयत्न करना चाहिये। यक्ष्मा (T. B.) का ध्यान रखते हुये भोजन विशेषरूप से पौष्टिक होना चाहिये। जीवतिक्ति 'ए' 'सी' 'डी' (Vit : A. C. D.) देना आवश्यक है।

(२) औषधियाँ :—चिकित्सा का प्रारम्भ औषधियों द्वारा ही करना चाहिये। कुछ समय पश्चात यदि औषधियों से लाभ न हो तब शल्यकर्म (Op.) द्वारा जल निकालना चाहिये। औषधियो द्वारा जल कम करने के लिये मूत्रल (Diuretic) औषधि जैसे डायुरेटीन (Diuretin) ग्रे. ४, पुनरनवा सत्व (Ext:punarnava liq) मि. ३० तथा विरेचक (Purgative) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। **लूगोल की आयोडीन** (Lugol's iodine) जल में बनाकर १/४–१/२ सी. सी. औषधि (यो. ६७) १० सी. सी. प. ज. में मिलाकर सिरामार्ग (I. V.) से द्वि. प्र. स. कर २ मास तक देने से स्राव मे कमी होती है। आयोडीन के इस योग का मि. ५–८ जल च. १ मे मिलाकर त्रि. प्र. दि. भो. प. दे सकते हैं। सिरा (I. V.) द्वारा औषधि देना यदि सम्भव न हो तब आयोडीन (Crook's colosal iodine) सी. सी. १–५ पेशी (I. M.) मार्ग से दे सकते है। इन औषधियों का योग (यो. ३) त्रि. प्र. दि. भो. प. देना चाहिये। फुफ्फुसावरणीय गुहा से स्राव सी. सी. २–५ निकाल कर भी अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से द्वि. प्र. स. प्रयोग किया जाता है।

(३) विशिष्ट :—रोग के **कारण के अनुसार** निम्न औषधियाँ दी

जाती है :—(क) विकृति **फुफ्फुसपाक** ।(Pneumonia) के पश्चात यदि हुई हो तब फुफ्फुसपाक की चिकित्सा के समान पेनिसिलीन (P.), सल्फा (S) आदि का प्रयोग करना चाहिये । ये औषधियाँ तब तक देना चाहिये जब तक ज्वर प्राकृत न हो जाये तथा स्राव का प्रचूषण (Absorptin) न हो जाये । प्रायः २ सप्ताह औषधि देना पड़ता है। औषधि प्रयोग करते समय एक सप्ताह पश्चात रक्तपरीक्षा कर श्वेतकणों (W. B. C.) की सख्या तथा रक्ताल्पता के लिये अवश्य देखना चाहिये । इससे लाभ न होने पर फुफ्फुसावरणीय गुहा से स्राव सी. सी. ५०–१०० तक निकालकर समबल लवणघोल (N. saline) सी. सी. ५० मे पेनिसिलीन 'जो' (P. G.) १/२–१ ल. अ. इ. मिलाकर फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural cavity) में प्रवेश करना चाहिये ।

(ख) **विकृति यक्ष्मा** (T. B.) के कारण होने पर रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये तथा रोग की साधारण चिकित्सा करनी चाहिये । साथ-साथ फुफ्फुस मे भी विकृति होने पर स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) के इन्जेक्शन स लाभ होता है, अन्यथा प्रारम्भ से ही केवल फुफ्फुसावरणीय गुहा मे यक्ष्मा के कारण जल सचय होने से यह औषधि विशेष लाभदायक नहीं है । चिकित्सा की दृष्टि से गुहा से विशेष परिस्थिति मे ही स्राव निकालना चाहिये । प्रत्येक रोगी मे स्राव निकालना ठीक नही है । इन रोगियो मे कैलसियम (Cal : gluconate) १० प्र. श. ५–१० सी. सी. सिरामार्ग (I. V.) से द्वि.प्र.स. देना चाहिये । **रोगनिवृत्त** हो जाने के ५ वर्ष पश्चात तक रोगी का ध्यान रखना आवश्यक है। शुद्ध वायु मे, ऊँचे तथा स्वास्थ्यवर्धक स्थानों में रहना लाभप्रद है । समय-समय पर फुफ्फुस की क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा करके फुफ्फुस तथा फुफ्फुसावरण की अवस्था का पता लगाना चाहिये । भोजन मे दूध, मक्खन, मछली के यकृत का तेल, अण्डा आदि देना चाहिये ।

(४) शल्य चिकित्सा (Op):—(क) बार बार ज्वर का पुनरावर्तन होने पर, स्राव के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण श्वास लेने मे कष्ट होने पर या हृदय के कार्य मे कठिनाई होने पर अथवा विषमयता (Toxaemia) में कमी न होने पर फुफ्फुसावरणीयगुहा (Pleural cavity) से जल निकालना (पृ. २२) चाहिये ।

(ख) फुफ्फुसावरणीय गुहा से जल निकाल कर उसमें वायु या प्राणवायु

(O_2) प्रवेश कर सकते हैं। इस क्रिया के करने के पश्चात क्ष-किरण (X-ray) परीक्षा करने से जल की मर्यादा का ज्ञान होने में सहायता मिलती है तथा फुफ्फुस की अवस्था का भी ज्ञान होता है और यक्ष्मा (T. B.) होने की सभावना में कमी होती है। जल निकालने का कार्य पोटांन के एसपिरेटर (Potain's aspirator) से तथा वायु प्रवेश करने की क्रिया कृत्रिम वातोरस (A.P.) के यंत्र से कर सकते है। यह क्रिया आजकल प्रचलित नहीं है।

पूयोरस (Empyema)

परिचय :—इस अवस्था में फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural sac) में पूय (Pus) संचित हो जाता है। यह रोग प्रायः यक्ष्मा (T.B.), फुफ्फुस गोलाणु (Pneumo), मालागोलाणु (Strepto), स्तवक गोलाणु (Staphy) आदि के कारण होता है। रोग प्रायः बाल्यावस्था में होता है। इसका **पूतिक** (Putrid) प्रकार ग्राम त्यागी (Gram-) तथा वातमी प्रकार (Anaerobic (ग्रामग्राही) gram+) जीवाणु के कारण होता है। **तीव्र प्रकार** प्रायः फुफ्फुसपाक (Pneumonia) में उपद्रव स्वरूप होता है। तीव्र प्रकार की ठीक से चिकित्सा न होने पर रोग **चिरकालीन** हो जाता है।

निदान :—प्रलेपक (Hectic) ज्वर, मुद्गरवत (Clubbed) अंगुलियाँ तथा श्वेतकणों (W. B. C.) की वृद्धि इसके प्रधान लक्षण हैं। फुफ्फुसपाक (Pneumonia) की प्राकृतिक अवधि समाप्त हो जाने पर यदि ज्वर का शमन नहीं होता तब उपद्रवों की संभावना रहती है और पूयोरस इन उपद्रवो में एक है। इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ (Wet pleurisy) के समान होते हैं। रोग विनिश्चिति के लिये तथा चिकित्सा की दृष्टि से जीवाणु की प्रकृति जानने के लिये फुफ्फुसावरणीय गुहा से **स्राव निकाल** कर उसका साधारण तथा संवर्ध (Culture) परीक्षा करनी चाहिये। **रक्त परीक्षा** से श्वेतकणों (W.B.C.) की सख्या का पता लगता है। **क्ष-किरण** (X-ray) परीक्षा आ. अ. करनी चाहिये।

चिकित्सा (१) सिद्धान्त :—इस रोग की चिकित्सा औषधियों द्वारा तथा शल्यकर्म (Op) द्वारा की जाती है। तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियो के प्रयोग करने के पूर्व जीवाणु का ज्ञान आवश्यक है। यक्ष्मा की सभावना ध्यान में रखना चाहिये तथा रोग की साधारण चिकित्सा यक्ष्मा की चिकित्सा के समान होनी चाहिये। औषधियो के प्रयोग करने पर

यदि दो सप्ताह मे लक्षणों का शमन न हो, पूय पूर्णरूप से अदृष्य न हो जाय, स्राव का पूर्णरूप से प्रचूषण (Absorption) न हो जाय तथा स्राव का प्रचूषण हो जाने पर यदि फुफ्फुस का पूर्णरूप से पुनः विस्फार न हो तब शल्यचिकित्सा (Op) करनी चाहिये। स्राव मे यदि केवल पूय मिले तथा विशिष्ट औषधि प्रारम्भ करने मे दो सप्ताह का विलम्ब हो गया हो तब शल्यकर्म द्वारापूय निकाल देना चाहिये। यथासंभव शल्यकर्म के पूर्व तृणाणु-नाशक औषधियों (Antibiotics) का प्रयोग करना चाहिये। इससे उपसर्ग एक स्थान पर सीमित हो जाता है।

(२) **साधारण** :—यक्ष्मा की संभावना रहने के कारण रोग की अवधि-पर्यन्त तथा रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात भी यक्ष्मा के समान भोजन आदि देना चाहिये। अन्य चिकित्सा सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ (Wet pleurisy) के समान है। आरोग्यभवन (Sanitorium) मे चिकित्सा करना उत्तम है। रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात दीर्घकाल पर्यन्त रोगी के स्वास्थ्य का ध्यान रखना आवश्यक है। स्राव के दबाव के कारण विकृत पार्श्व के फुफ्फुस का निपात (Collapse) हो जाता है। इस निपतित फुफ्फुस का पुनः विस्फार (पृ. २१) कराना चाहिये। इसके लिये रोगी को प्राणायाम करना चाहिये। वुल्फ की बोतलो (Woulfe's bottle) मे जल भर कर फूंकना चाहिये जिसमे जल एक बोतल से दूसरे मे जाये। रक्तल्पता (Anaemia) रहने पर रक्तप्रदान (Blood trans:) करना चाहिये।

(३) **तृणाणुनाशक** (Antibiotics) औषधियों :—ये औषधियों मुख या इन्जेक्शन द्वारा दी जाती हैं। इनको फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural sac) मे भी प्रवेश किया जाता है। फुफ्फुसगोलाणु (Pneumo), स्तवकगोलाणु (Staphylo), मालागोलाणु (Strepto) आदि मे **पेनिसिलीन** (P.) का प्रयोग किया जाता है। एस्टापेन (Estopen 'Go') विशेष लाभप्रद है। यक्ष्म दण्डाणु (T. B.) आदि अम्लसह (Acidfast) जीवाणु तथा ग्रामत्यागी जीवाणु (Gram–) में **स्ट्रेप्टोमायसीन** (Str) का प्रयोग करना चाहिये। मालागोलाणु (Strepto :) के कारण दोषमयता (Septecaemia) रहने पर **सल्फाडियाजीन** (S–dilazine) का विशेष महत्व है। पेनिसिलीन तथा स्ट्रेप्टोमायसीन का साथ-साथ प्रयोग (Dicristicin, omnamycin) करने

से अधिक लाभ होने की संभावना रहती है । इनसे लाभ न होने पर टेरामायसीन (Tn), औरियोमायसीन (Au), क्लोरोमायसीटीन (Cln) आदि का प्रयोग करना चाहिये । इन औषधियो को ग्रा. ½–१ की मात्रा मे, चा. प्र. दि. ज्वर प्राकृत हो जाने के तथा स्राव के जीवाणुरहित हो जाने के दो सप्ताह पश्चात् तक देना चाहिये । पेनिसिलीन जी (P. G.) १–२ ल. अ. इ. प्र. दि. फुफ्फुसावरणीय गुहा, मे स्राव निकालने के पश्चात् प्रवेश कर सकते हैं । इस क्रिया को त्रि. प्र. दि. करने से विषमयता (Toxaemia) मे शीघ्रता से कमी होती है । इस क्रिया को त्रि. प्र. दि. करते समय औषधि की मात्रा ½–½ ल. अं. इ. प्र. बा. होनी चाहिये । पेशीमार्ग (I. M.) से पेनिसिलीन 'जी' (P. G.) ½–१ ल. अं. इ. प्र. ३ घं. देना चाहिये । स्ट्रेप्टोमायसीन (Str.) मि. ग्रा. १००–२०० भी फुफ्फुसावरणीय गुहा में ए. प्र. दि. दे सकते हैं । इस औषधि को पेशीमार्ग से ग्रा. १ द्वि. प्र. दि. देना चाहिए । अन्य तृणाणुनाशक औपधियाँ इस मार्ग से प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

(४) **अन्य औषधियाँ :—**(क) कुछ अन्तःकिण्व (Enzymes) पूय को तरल करने के लिए फुफ्फुसावरणीय गुहा से पूय निकालने के पश्चात् गुहा में प्र. ४ दि. प्रवेश की जाती है जैसे :–स्ट्रेप्टोमाइनेस (Streptokinase) २ ल. अं. इ. या स्ट्रेप्टोडौरनेस (Streptodornase) ½ ल. अ. इ. आदि । इन दोनो औषधियो को एक साथ भी प्रयोग कर सकते हैं । इन औषधियों के प्रयोग करने के २४-घण्टे-पश्चात् पूय निकालने से पूय सरलता से निकलता है । (ख) यदि पूय निकालने के पश्चात् भी पूय का सचय होना बन्द न हो तब प्रथम फुफ्फुसावरणीय गुहा को गरम समबल लवण घोल (N. saline) पा. १–४ से धोकर उसमे **यूसौल** का घोल प्रवेश कराना चाहिये । (ग) फुफ्फुसावरणीय गुहा मे पेनिसिलीन प्रवेश करने के पूर्व भी गुहा को इस प्रकार **समबल लवण** घोल (N. saline) से धोना चाहिये ।

(५) **शल्य चिकित्सा :—**(क) फुफ्फुसावरणीय गुहा से प्र. दि. कर १–२ सप्ताह तक पूय निकालना (पृ. २२) चाहिये । (ख) तृणाणुनाशक (Atibiotics) औषधियो के प्रयोग करने तथा प्र. दि. सूई के द्वारा पूय निकालने के पश्चात् भी यदि रोगी को २ सप्ताह मे लाभ न हो तब

पर्शुकाओं को काटकर (Rib resection) पूय निकालना चाहिये। इस क्रिया की आजकल प्रायः आवश्यकता नहीं पड़ती।

(६) रोग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की चिकित्सा :—(क) **तीव्र अवस्था** :—प्र. दि. सूई के द्वारा फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural sac) से पूय निकाल कर, गुहा को समबल लवण घोल से धोकर, जीवाणु की प्रकृति के अनुसार गुहा मे तथा पेशीमार्ग (I. M.) द्वारा तृणाणुनाशक औषधि (Antibiotics) का प्रयोग करना चाहिये। (ख) **चिरकालीन अवस्था** :—उपर्युक्त विधि से दो सप्ताह मे यदि लाभ न हो अथवा चिकित्सा प्रारम्भ करने मे दो सप्ताह से अधिक विलम्ब हुआ हो तब शल्यकर्म (Op) द्वारा पूय निकालना चाहिये। पूय निकालने के लिये पर्शुका को काटा जाता है (Rib resection, thoracoplasty, decortication of pleura)। साथ साथ जीवाणुनाशक औषधियो का भी प्रयोग करना चाहिये। (ग) **पूतिक (Putrid) प्रकार** :—इस प्रकार मे शीघ्रता से शल्यकर्म (Op.) द्वारा पर्शुका (Rib) काट कर पूय निकालना चाहिये। जीवाणु की प्रकृति के अनुसार अत्यधिक मात्रा मे जीवाणुनाशक औषधियों का प्रयाग करना चाहिये। पेनिसिलीन के साथ स्ट्रेप्टोमायसीन का योग (Omnamycin) पेशीमार्ग (I. M.) से देना सर्वोत्तम है। सूई के द्वारा पूय निकालने से उपसर्ग के फैलने की सभावना रहती है।

फुफ्फुस विद्रधि (Lung abscess) तथा कर्दम (Gangrene)

परिचय :—भारतवर्ष मे फुफ्फुस मे विद्रधि दो प्रकार की होती है, अ. का. धा. ना. (E.H.) जन्य तथा पूयजनक (Pyogenic) जीवाणु-जन्य। यहाँ पर केवल पूयजनक विद्रधि का वर्णन किया जायगा। फुफ्फुस में विद्रधि तथा कर्दम प्रायः फुफ्फुसपाक (Pneumonia) मे उपद्रवस्वरूप होते हैं। श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) तथा श्वसनिका के कर्कटार्बुद (Cancer) मे भी ये उपद्रवस्वरूप हो सकते हैं। विद्रधि तीव्र अथवा चिरकालीन हो सकती है। **तीव्र अवस्था** मे फुफ्फुसपाक के कुछ समय पश्चात् अकस्मात् खाँसी, कम्प के साथ प्रलेपक (Hectic) ज्वर, अत्यधिक विपमयता (Toxaemia), फुफ्फुसावरणशोथ (Pleurisy) दुर्गन्धित श्वसन आदि लक्षण होते हैं। कुछ समय पश्चात् खाँसी के साथ अत्यधिक मात्रा में पूय (Pus) निकल सकता है। **रक्त-परीक्षा** मे प्रायः

बहुकारी (Poly :) श्वेतकणों की वृद्धि मिलती है। **वक्षपरीक्षा** में विकृति के परिमाण तथा स्थान के अनुसार चिन्ह मिलते हैं। **चिरकालीन विद्रधि** में खाँसी, साधारण ज्वर तथा फुफ्फुसावरणशोथ (Pleurisy) के लक्षण मिलते हैं और अत्यधिक मात्रा में ष्ठीवन (Sputum) का परित्याग होता है। **रक्तपरीक्षा** में जीवाणु की प्रकृति के अनुसार परिवर्तन मिलते हैं। कर्दम में ष्ठीवन अत्यन्त दुर्गन्धित होता है।

निदान :—फुफ्फुसपाक (Pneumonia), ऊर्ध्वश्वसन मार्ग पर शल्यकर्म (Op) का इतिहास तथा इन अवस्थाओं के कुछ दिन पश्चात लक्षणों की उत्पत्ति, निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रमाण हैं। रोग के लक्षणों के अतिरिक्त **रक्तपरीक्षा** तथा वक्ष की **क्ष-किरण परीक्षा** (X-ray) करनी चाहिये। इस परीक्षा से विवर (Cavity) में जल की मर्यादा (Level) का ज्ञान होता है। विकृति के चारों ओर फुफ्फुस में जो परिवर्तन होते हैं उनका भी पता लगता है। रोग की स्थिति का पता लगाने के लिये अनेक बार क्ष-किरण परीक्षा करनी पड़ती है। जीवाणु का पता लगाने के लिये **ष्ठीवन** (Sputum) की साधारण तथा संवर्ध (Culture) परीक्षायें करनी चाहिये।

चिकित्सा ' **(क) साधारण** :—चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व जीवाणु का पता लागाना आवश्यक है। जीवाणु की प्रकृति के अनुसार तृणाणुनाशक (Antibiotics) औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। औषधियों के **द्वारा खाँसी** कम करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। खाँसी के द्वारा ही विवर (Cavity) से पूय निकल सकता है। इसलिये खाँसी को उत्तेजित करने वाले योग (१९–२१) देना चाहिये। पौष्टिक आहार तथा औषधियों द्वारा रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करनी चाहिये। लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करना आवश्यक है। शैय्या पर रोगी का सिर नीचा कर लिटाने से विवर से स्राव बाहर निकालता है। इस क्रिया को निरन्तर अथवा द्वि. या त्रि. प्र. दि. करना चाहिये। जल में टि. बेनजोइन (Tr: benzoin co) डालकर उसकी भाप सूँघने से लाभ होता है। चिरकालीन अवस्था में शल्यकर्म (Op) द्वारा भी पूय निकाला जाता है। रोगनिवृत्त हो जाने पर प्राणायाम करना चाहिये।

(ख) **तृणाणुनाशक** (Antibiotics) **औषधियाँ** :—जीवाणु

की प्रकृति के अनुसार इन औषधियो का प्रयोग करना चाहिये। **पेनिसिलीन** 'जी' (P. G.) यन्त्र (Aerosol) द्वारा श्वसनमार्ग मे त्रि. या चा. प्र. दि. प्रवेश कराना चाहिये। इस औषधि की १/२–१ ल. अं. इ. प्र. ३–४ घण्टे पेशीमार्ग (I. M.) से देना चाहिये। प्रातःकाल तथा रात्रि की मात्रा मे स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा. १/२–१ द्वि. प्र. दि. मिलाने से अधिक लाभ होता है। सल्फाट्रायड (S–triad) प्रथम २–४ ग्रा. तत्पश्चात १–२ ग्रा. मुख द्वारा त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिए। पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमायसीन तथा सल्फा (S) औषधियाँ साथ-साथ दे सकते है। इनके साथ औरियो (Au), क्लोरो (Cln), टेरामायसीन (Tn) आदि नहीं देना चाहिए। जीवाणु का नाश यदि इन औषधियो द्वारा सम्भव हो तब केवल इन औषधियों को ग्रा. १/२–१ की मात्रा मे त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिए। ज्वर प्राकृत हो जाने तथा लक्षणो का शमन होने के एक सप्ताह पश्चात इन औषधियो को बन्द कर देना चाहिए। ष्ठीवन परीक्षा मे चक्राणु (Spirochaetes) मिलने पर सिरा (I. V.) मार्ग से संखिया (As) के योग देना चाहिए।

वातोरस (Pneumo-thorax)

परिचय :—इस अवस्था मे फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural cavity) मे वायु प्रवेश कर जाती है।

(क) **तीव्र वातोरस** अत्यन्त गम्भीर अवस्था है तथा इसकी तत्काल चिकित्सा करनी पड़ती है। इस अवस्था मे गुहा का निपीड निरन्तर बढ़ता जाने के कारण वक्ष मे अकस्मात **तीव्र** पीड़ा, **श्वास लेने में कष्ट**, चेहरे का **नीला** होना तथा **निपात** (Collapse) के लक्षण होते हैं। **चिकित्सा** :—श्वास लेने मे अत्यधिक कष्ट होने पर फुफ्फुसावरणीय गुहा मे सूई प्रवेश कर वायु निकाल देना चाहिये। सूई की धार अधिक तेज नहीं होनी चाहिये। सूई मे रबर की नलिका लगाकर नलिका को किसी पात्र में जल के नीचे डुबाकर रखना चाहिये। कृत्रिम वातोरस (A. P.) करने वाले यन्त्र द्वारा भी वायु निकाली जा सकती है। इस प्रकार के वातोरस में वायु प्रवेश करने वाला मार्ग कपाट (Valve) के समान एक ही दिशा में वायु जाने देता है, इसलिये फुफ्फुसावरणीय गुहा का निपीड़ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। स्तब्धता (Shock) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। पीड़ा अत्यधिक रहने पर मौरफीन (यो० १११) ग्रे. १/८–१/४ पेशी या

सिरा (I. V.) मार्ग से दे सकते हैं। प्राणवायु (O_2) के प्रयोग से श्वास लेने में कष्ट की कमी होती है।

(ख) **स्वतः** (Spontaneous) **वातोरस** :—कभी-कभी यक्ष्मा (T. B.), वातोत्फुल्लता (Emphysema) आदि में वायुकोषाओं (Alveoli) के फट जाने के कारण स्वतः वातोरस हो जाता है। इसमें वक्ष में पीड़ा, श्वास लेने में कष्ट आदि लक्षण हो सकते हैं। रोगी की परीक्षा करने पर हृदयाग्र (Apex) स्वस्थ पार्श्व की ओर स्थानान्तरित हो जाता है। विकृत पार्श्व में प्रतिस्वनन की वृद्धि (Hyperresonant) होती है। वाचिक लहरियाँ (V. F.), वाचिक प्रतिस्वनन (V. R.) तथा श्वसन ध्वनि अस्पष्ट हो जाती हैं। कूपी मुखस्त (Amphoric) श्वसन मिल सकता है। **चिकित्सा** :—इस रोग के कारण तथा लक्षणों की चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। यक्ष्मा, वातोत्फुल्लता आदि रहने पर इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये, श्वास लेने में अत्यन्त कष्ट होने पर सूई के द्वारा वायु निकाल देना चाहिये, अन्यथा प्राणवायु (O_2) के प्रयोग से श्वास लेने का कष्ट कम हो जाता है। खाँसी कष्टप्रद होने पर खाँसी कम करने के योग (यो. १४–१७) दे सकते हैं। कोडीन (Codeine phos :) ग्रे. १/४–१/२ त्रि. या चा. प्र. दि. देने से भी लाभ होता है। वक्ष पर अत्यधिक **पीड़ा** होने पर शुष्कफुफ्फुसावरण (Dry pleurisy) की पीड़ा के समान चिकित्सा करनी चाहिये। वक्ष पर पुराना घृत गरम कर तथा लवण मिलाकर मालिश कर सकते हैं। विकृत पार्श्व पर स्टिकिंग (Sticking) की पट्टी अथवा पीड़ाकर स्थान पर एथिल क्लोराइड (Ethyl chloride) एक मिनट छिड़कने से भी पीड़ा कम होती है। सिबाल्जिन (Cibalgin), सैरिडौन (Saridon) आदि पीड़ाहर औषधियाँ आ. अ. देना चाहिये। वातोरस की चिकित्सा के पश्चात यदि फुफ्फुस का विस्फार न हो तब शल्यकर्म (Exploratory Thoracotomy) करना चाहिये।

(ग) **आघात जन्य** (Traumatic) **वतोरस** :—इस अवस्था में शस्त्र द्वारा वक्ष पर आघात होने के कारण फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural cavity) में बृहत् आकार का छिद्र हो जाता है। इस छिद्र को तत्काल स्टिकिंग (Sticking) या अन्य किसी पट्टी से बन्द कर देना चाहिये तथा

शीघ्रातशीघ्र शल्यकर्म द्वारा इस छिद्र को स्थायी रूप से बन्द करना चाहिये।

फुफ्फुस की अविस्तृति (Atelectasis) तथा निपात (Collapse)

परिचय :— इन दोनो अवस्थाओं मे फुफ्फुस अविस्फारित रहता है। प्रथम अवस्था जीवनारम्भ के समय तथा द्वितीय अवस्था फुफ्फुस का एक बार विस्फार होने के पश्चात होती है। श्वसनिका (Bronchus) मे किसी भी कारण रुकावट होने पर रुकावट के आगे की वायु का प्रचूषण हो जाता है और वायुकोषाओं (Alveoli) का निपात हो जाता है। यह विकृति प्रायः सर्वांगसंज्ञाहार (General Anaesthetic) के पश्चात विशेष कर अत्यधिक धूम्रपान करने वालों मे प्रायः दक्षिण फुफ्फुस के निम्न खण्ड मे होती है। लक्षणो की उत्पत्ति शल्यकर्म (Op.) के चार दिन के अन्दर होती है। श्वसन-संस्थान क अनेक रोगो के पश्चात फुफ्फुस का निपात होता जैसे :—सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy), पूयोरस (Empyema), वातोरस (A. P.), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि, इसलिये श्वसन-संस्थान के रोगों के पश्चात रोग से निवृत्त हो जाने पर, इस विकृति के होने की संभावना ध्यान में रखनी चाहिये तथा प्राणायाम, फुटबौल के ब्लैडर (Bladder) मे फूंकना आदि क्रियाओं द्वारा फुफ्फुस का विस्फार (Dilate) करने का प्रयत्न करना चाहिये। जब यह विकृति अकस्मात होती है तब स्तब्धता (Shock), श्वास लेने मे कष्ट, चेहरे का नीलापन, वक्ष मे पीड़ा, हृदयाग्र (Apex) का विकृत पार्श्व की ओर स्थानन्तरित होना आदि लक्षण होते हैं।

निदान :— इसकी दृष्टि से रोग के कारण का इतिहास तथा लक्षणों की उत्पत्ति पर निर्भर करना पड़ता है। वक्ष की क्ष-किरण (X-Ray) परीक्षा से सहायता मिल सकती है। फुफ्फुस के निपतित (Collapsed) भाग मे द्वितीयक उपसर्ग (Secondary ifn) के कारण ज्वर, फुफ्फुसपाक (Pneumonia) आदि उपद्रव हो सकते हैं।

चिकित्सा :— श्वसनिका मे रुकावट रहने पर श्वसनीवीक्षण यंत्र की (Bronchoscope) की मदद से रुकावट के कारण को दूर करना चाहिये। रुकावट प्रायः स्राव सचय होने के कारण होती है। श्वास लेने मे कष्ट, चेहरे का नीला होना, स्तब्धता (Shock) आदि लक्षण होने पर प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिये। प्राणवायु ९५ प्र. श. तथा कारबन डाईऑक्साइड

(Co_2) ५ प्र. श. का मिश्रण प्रत्येक २–३ घंटे पर आध घंटे तक देना चाहिये। इस क्रिया को कम से कम दो घंटे करना चाहिये। प्राणायाम आदि द्वारा दीर्घ अंतःश्वसन (Ins:) लेने से भी लाभ होता है। रोगी का पार्श्व बदलते रहना चाहिये। खांसी कम करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये बल्कि इसको उत्तेजित करने वाले योग (यो. १६–२१) देना चाहिये। इस योग में पोटास आयोडाइड (Ki) ग्रे. ३ प्र. मात्रा मिलाने से स्राव तरल होता है तथा सरलता से निकलता है। उपसर्ग बचाने तथा उसकी चिकित्सा के लिये पेनिसिलीन (Pr. P.) ४ ल. अं. इ. द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। श्वसनिकाओं का उद्वेष्ठन (Bronchospasm) रहने पर इफेड्रिन (Ephedrine) ग्रे. $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। फुफ्फुसावरणीय गुहा (Pleural-cavity) के निपीड़ की कमी कृत्रिम वातोरस (A. P.) के यंत्र द्वारा ठीक की जा सकती है।

एकादश अध्याय

मूत्र-संस्थान

वृक्क की कार्यशीलता (Renal function) की परीक्षायें।

ये परीक्षायें वृक्क के भिन्न भिन्न कार्यों पर आधीरित है। वृक्क के कार्य की परीक्षा करने के लिये मूत्र तथा रक्त की परीक्षा की जाती है। दोनों वृक्क की अवस्था का पृथक-पृथक ज्ञान करने के लिये दोनों गवीनी (Ureter) में रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर अलग-अलग मूत्र इकट्ठा करना चाहिये। निम्न परीक्षायें प्रायः की जाती है।

(१) मूत्र परीक्षा। (क) मूत्र की साधारण परीक्षा :—मूत्र की मात्रा, वि. गु. (Sp. Gr.), प्रतिक्रिया, शुक्लि (Alb:), शर्करा, पूय (Pus), रक्तकण (R.B.C.), निर्मोक (Cast) आदि के लिए देखे।

(ख) मिह संकेन्द्रण कसौटी (Urea concentration-test) :—यह परीक्षा वृक्क की सकेन्द्रण शक्ति (Concentrating power) जानने के लिए की जाती है। १५ ग्रा. यूरिया १०० सी. सी. जल में मिलाकर पिलाने के पश्चात यदि मूत्र के किसी भी नमूने मे यूरिया की मात्रा २ प्र. श. से अधिक हो तब वृक्क का यह कार्य प्राकृत है। विकृत अवस्था मे यह मात्रा २ प्र. श. से कम हो जाती है।

(ग) वृक्क की विजातीय (Foreign) पदार्थ परित्याग करने की शक्ति :—रोगी को फेनौल सल्फानेफ्थलीन (Phenol sulphonephthalin) ग्रा. ६ (एक सी. सी.) सिरा (I. V.) या पेशी (I. M.) मार्ग से देकर दो घंटे के अन्दर जितना मूत्र परित्याग हो उसे संचय कर औषधि के लिये देखना चाहिये। प्राकृत अवस्था मे प्रायः ६० प्र. श. से अधिक औषधि का दो घण्टे के अन्दर परित्याग हो जाना चाहिये। विकृत अवस्था मे यह मात्रा ४० प्र. श. से कम हो जाती है।

(२) रक्त परीक्षा :—(क) रक्त में रसायनिक पदार्थों की मात्रा :—वृक्क के कार्य मे कमी होने पर रक्त में अ. प्रो. मू. (N. P. N.) की वृद्धि होती है। यह पदार्थ **यूरिया** (Urea), यूरिक एसिड (Uric acid) तथा क्रियेटिनीन (Creatinine) मे रहता है। इन पदार्थों की मात्रा का पता लगाना चाहिये। साधारणतः प्रायः यूरिया का ही पता लगाया

जाता है । १०० सी. सी. रक्त मे यदि फौसफेट (Ph) की मात्रा ८ मि. ग्रा. से अधिक हो जाय या कैलसियम (Cal :) की मात्रा ६ मि. ग्रा. से कम हो जाय तब यह रोगी की गम्भीर अवस्था की द्योतक है । इस अवस्था में किसी भी समय क्षारोत्कर्ष (Acidosis) तथा मूत्रविषमयता (Uraemia) हो सकती है । वृक्कशोथ (Nephritis) आदि मे तीनों प्रकार के प्रोटीन (Ptn) मे विशेष कर एल्ब्यूमिन (Alb :) मे ही कमी होती है ।

(ख) **रक्तमिह निष्कासन कसौटी** (Blood urea clearance test) :—मिह सकेन्द्रण कसौटी (Urea concentration test) करते समय रक्त मे यूरिया की मात्रा का पता लगाने से यूरिया के परित्याग होने की गति का पता लगता है ।

वृक्कशोथ (Nephritis)

परिचय :—प्रधानतः यह वृक्क की रक्त-वाहिनियों (B. V.) का रोग है । शरीर के किसी भाग में विशेष कर तुण्डिकाओं (Tonsils) आदि मे उपसर्ग होने पर, उपसर्ग के विरुद्ध शरीर मे **अनूर्जता** (Allergy) उत्पन्न होती है । इस अनूर्जता का दोनों वृक्क पर प्रभाव पड़ता है और वृक्कशोथ की उत्पत्ति होती है । तुण्डिका आदि मे उपसर्ग प्रायः शोणांशिक मालागोलाणु (B. strepto : hemolyticus) द्वारा होता है । अनूर्जता की उत्पत्ति उपसर्ग होने के कुछ समय पश्चात् होती है इसलिये तीव्र वृक्कशोथ के लक्षण भी प्रायः उपसर्ग होने के १–३ सप्ताह पश्चात् होते हैं । इस सिद्धात के अनुसार वृक्कशोथ मे जो रक्त-वाहिनियो मे विकृति होती है वह विशुद्ध उपसर्ग के कारण नहीं बल्कि उपसर्ग से उत्पन्न अनूर्जता के कारण होती है । **उपसर्ग** (Ifn) का सिद्धात मानने वालों के अनुसार वृक्क मे उपसर्ग रक्त द्वारा पहुँचता है । सुवर्ण, संखिया (As) या अन्य **विषैले पदार्थ** जिनका परित्याग मूत्र द्वारा होता है वे पदार्थ शरीर से निकलते समय वृक्क मे पहुँच कर विकृति उत्पन्न करते हैं । इन तीनो सम्भावनाओं मे जो भी अधिक वास्तविक हो, उपसर्ग की अपेक्षा अनूर्जता का सिद्धात अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

रोग की तीव्र अवस्था मे दोनों वृक्क मे व्यापक विकृति हो जाने के पश्चात् ८० प्र. श. रोगी प्रायः पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं । २० प्र. श. रोगियों मे विकृति अधिक गम्भीर होती है और इनमें से प्रायः ५ प्र. श. रोगियों की मृत्यु हो

जाती है। केवल १५ प्र. श. रोगियो मे विकृति अधिक स्थायी होती है और ये रोगी क्रमशः रोग की अनुतीव्र (Subacute) तथा चिरकालीन अवस्था की ओर प्रगति करते हैं। तीव्र अवस्था में जितनी व्यापक तथा गम्भीर विकृति वृक्क में होती है उतनी ही अधिक अनुतीव्र तथा चिरकालीन अवस्था की दिशा मे रोग के प्रगति करने की सम्भावना रहती है, परन्तु गम्भीर विकृति केवल २० प्र. श. रोगियो मे ही मिलती है। साथ-साथ यह भी सत्य है कि प्रत्येक रोगी मे तीव्र अवस्था का इतिहास नहीं मिलता और इन रोगियों मे रोग प्रारम्भ से ही अनुतीव्र अथवा चिरकालीन प्रतीत होता है। यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि धमनीजरठता (Arteriosclerosis) आदि विकृतियाँ जो चिरकाली अवस्था मे वृक्क की रक्त-वाहिनियों (B. V.) मे मिलती हैं वे विकृतियाँ वृक्क मे ही सीमित नही रहतो परन्तु अधिक व्यापक होती है और शरीर की समस्त रक्त-वाहिनियो को विकृत कर उच्च-रक्तनिपीड़ (B. P.) आदि उपद्रव करती हैं। अत मे इसका प्रभाव हृदय पर भी पड़ता है और हृदयातिपात (Ht-failure) के लक्षण होते हैं। इस अवस्था को हृदय-वृक्क सरूप (Cardio-renal syndrome) कहते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से केवल १९ प्र. श. रोगी जो तीव्र से चिरकालीन अवस्था की ओर प्रगति करते हैं उनमें इस विकृति की प्रगति को रोकना ही प्रमुख समस्या है।

विकृति विज्ञान :—रोग की **तीव्र अवस्था** मे वृक्क में विकृति होने के कारण गुत्सक (Glomeruli) के छानने (Permiability) की शक्ति बढ़ जाती है तथा नलिकाओ (Tubules) का प्रचूषण (Concentrating, reabsorption of H_2O) शक्ति कम हो जाता है। **अनुतीव्र** (Subacute) **अवस्था** मे गुत्सक के छानने की शक्ति बढ़ी रहती है परन्तु नलिकाओ (Tubules) की प्रचूषण (Concentrating) शक्ति प्राकृत रहती है। **चिरकालीन** अवस्था में वृक्क की कार्यशालता में अत्यन्त कमी हो जाने के कारण मूत्रविषमयता (Uraemia) के समान मूत्र तथा रक्त मे परिवर्तन होते है और मूत्रविषमयता की सभावना रहती है। इस अवस्था मे विशेष कर रक्त मे रसायनिक पदार्थों का सतुलन (Chemical balance) विकृत हो जाता है। रोग की तीव्र अवस्था मे मूत्रविषमयता के लक्षण प्रायः मस्तिष्कशोफ (Cerebral oedema) के कारण तथा चिरकालीन अवस्था मे रसायनिक पदार्थों की मात्रा मे परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होते है।

वृक्कशोथ (Nephritis) की भिन्न अवस्थाओं में वैकृतिक परिवर्तन

वृक्कशोथ की अवस्थायें

		तीव्र	अनुतीव्र (Subacute)	चिरकालीन	वृक्कोत्कर्ष
मूत्र	मात्रा	--	--	++	
	विशिष्ट गुरुत्व (Sp. Gr.)	±	++	---	
	लाल रक्तकण (R.B.C.)	++ (महत्वपूर्ण)	+	+	--
	श्वेतकण (W.B.C.)	+			
	निर्मोक (Cast)	+	+++	+	--
	शुक्लि(Alb:)	+ या ++	++++	+	+++
रक्त	मात्रा (Vol:)	+			
	नाइट्रोजन (N.P.N.)	+	प्राकृत या कम	++	---
	क्रियेटिनीन (Creatin-ine)	+	प्राकृत		
	शुक्लि(Alb:)	४–६ प्र.श. (प्राकृत)	---३प्र.श. से कम	प्राकृत या कम	---
	कोलेस्टरोल (Cholest-erol)		+++		++++
लक्षण	रक्ताल्पता (Anaemia)	+	+++	++	
	रक्त-निपीड (B. P.)	+ या ++	प्राकृत	+++	प्राकृत
	शोफ (Oedema)	+	+++	---	++
	मूत्रविषमयता (Uraemia)	+		++	

आहार तथा जल :—जिस प्रकार वृक्कशोथ के कारण के विषय में पर्याप्त मतभेद है उसी प्रकार इसकी चिकित्सा मे भोजन तथा जल के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। मतभेद का मुख्य विषय **जल की मात्रा** तथा **प्रोटीन** (Ptn) का प्रयोग है। चिकित्सा के अन्य मूल सिद्धान्त पर पर्याप्त मतैक्य है। वृक्क की नलिकाओं (Tubules) का प्रधान कार्य है जल का पुनः प्रचूषण (Reabsorption) करना। जल का पुनः प्रचूषण होने के कारण मूत्र मे रसायनिक प्रदार्थों का सकेन्द्रण (Concentration) होता है। रसायनिक पदार्थों मे मिह (Urea) का विशेष महत्व है। यूरिया की उत्पत्ति प्रोटीन से है। इसलिये यदि वृक्क को **विश्राम** देना है तब प्रोटीन की मात्रा अत्यल्प होनी चाहिये। प्रोटीन केवल उतना ही देना चाहिये जितना कि स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार यदि मूत्र मे यूरिया आदि रसायनिक पदार्थों की मात्रा कम हो तब नलिकाओ (Tubules) को अधिक मात्रा मे जल का पुनः प्रचूषण करना आवश्यक नहीं है और रोगी को पर्याप्त मात्रा मे जल दिया जा सकता है। इस सिद्धात के अनुसार रोगी को **अत्यल्प मात्रा में प्रोटीन तथा पर्याप्त मात्रा में जल देने से वृक्क को विश्राम मिलता है**। वृक्क को विश्राम न मिलने के कारण वृक्क मे जो विकृति होती है उसके ठीक होने में विलम्ब होता है, इसलिये वृक्कशोथ मे रोग की प्रगति रोकने के लिये तथा वृक्क की विकृति ठीक करने के लिये वृक्क को विश्राम देना चाहिये।

वृक्कशोथ मे रक्त मे प्रोटीन (Ptn, alb:) की कमी होती है परन्तु यह कमी रोगी को अधिक मात्रा मे प्रोटीन देने से स्थाई रूप से पूरी नहीं की जा सकती। रोगी को प्रोटीन देने से रक्त की प्रोटीन में जो वृद्धि होती है वह अस्थायी होती है और जब तक वृक्क की विकृति पूर्णरूप से ठीक नहीं हो जाती तब तक प्रोटीन यदि पुनः बन्द कर दिया जाता है तब रोगी की अवस्था पूर्ववत् हो जाती है। इसलिये एक अस्थायी लाभ के लिये अवैज्ञानिक कार्य करना ठीक नही प्रतीत होता। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वृक्क की विकृति के कारण जो रक्त मे परिवर्तन होने है वे चिकित्सा बन्द करने पर पुनः पूर्ववत हो जाते हैं, इसलिये वृक्क के रोगी को जीवनपर्यन्त सावधान रहना आवश्यक है तथा चिकित्सा की अवधि भी दीर्घ होनी चाहिये। जहाँ तक चिकित्सा **में जल** का सम्बन्ध है रोग की **तीव्र अवस्था** में रोगी को इच्छानुसार जल पीने देना चाहिये। बलपूर्वक अधिक जल पिलाने से मूत्र की मात्रा

में वृद्धि नहीं होगी और यदि मूत्र की मात्रा अत्यन्त अल्प हो तो अधिक मात्रा में जल देने से शरीर में जल संचय होता है। रोग की चिरकालीन **अवस्था** में रोगी को प्र. दि. ६–८ पा. जल देना आवश्यक है।

परीक्षायें :—तालिका के अनुसार रोगी की मूत्र तथा रक्त परीक्षायें करनी चाहिये। रोग की भिन्न अवस्थाओं में जो परिवर्तन होते हैं उनका वर्णन तालिका में किया गया है। इसके अतिरिक्त मूत्रविषमयता (Uraemia) की संभावना प्रतीत होने पर जिन परीक्षाओं की आवश्यकता होती है उनका वर्णन मूत्रविषमयता में देखिये। **रक्तनिपीड** (B.P.) तथा नेत्रवीक्षण यन्त्र (Ophthalmoscope) द्वारा **दृष्टिपटल** (Retina) की परीक्षा भी करनी चाहिये। दृष्टिपटल की परीक्षा करने से दृष्टिपटल में रक्त-स्राव (Bleeding) का प्रमाण मिलता है। मूत्र द्वारा शुक्लि (Alb) का परित्याग होने के कारण भी दृष्टिपटल में परिवर्तन होते हैं।

उपद्रवों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग में रक्ताल्पता (Anaemia), वमन, फुफ्फुसशोफ (Oedema lungs), अमूत्रता (Anuria), मूत्रविषमयता (Uraemia), शोफ (Oedema), मस्तिष्कशोफ (Cerebral oedema), हृदयातिपात (Ht Failure), उपसर्ग (Ifn), फुफ्फुसपाक (Pneumonia), उदरावरण शोथ (Peritonitis) आदि उपद्रव होते हैं। **उपसर्ग** के लिए पेनिसिलीन (P.), ओरियोमायसीन (Au) आदि तृणाणुनाशक ओषधियों (Antibiotic) प्रयोग करना चाहिए। वृक्क के रोगों में इनकी मात्रा साधारण की अपेक्षा कम होनी चाहिए क्योंकि इनके मूत्र से परित्याग होने में कमी होती है। **हृदयातिपात** होने पर लवण (Nacl) बन्द कर देना चाहिए तथा रोगी को शीघ्रता से डिजिटेलिस के पूर्ण प्रभाव में लाना चाहिये। शोफ तथा मूत्र-विषमयता की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था में मस्तिष्कशोफ के कारण तथा चिरकालीन अवस्था में रक्त के रसायनिक पदार्थों की मात्रा में परिवर्तन होने से मूत्रविषमयता के लक्षण होते हैं। इसके अनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये।

. **मिह संकेन्द्रण कसौटी** (Urea concentration test) :—यह परीक्षा वृक्क की संकेन्द्रण शक्ति (Conentration power) जानने के लिये की जाती है। मूत्र की मात्रा कम रहने पर अथवा मूत्र में रक्त आने पर

(Hematuria) यह परीक्षा नहीं करनी चाहिये। इसकी निम्न विधि हैं :-

(क) **प्रथम दिन:—१–मध्याह्न** के पश्चात जल नहीं दें। २—**रात्रि के** १० बजे १०० सी. सी. जल में मिह (Urea) १५ग्रा. मिलाकर पिलायें। **३—रात्रि के ११ बजे :**—मूत्र परित्याग करायें तथा मूत्र फेंक दें। **४—रात्रि ११½ बजे से दूसरे दिन प्रातःकाल ६½ बजे तक :—** मूत्रसंचय कर मिह की मात्रा का पता लगायें। यह **प्रथम नमूना** (Specimen) हुआ।

(ख) **द्वितीय दिन :—१—प्रात सात बजे :**—मूत्र परित्याग कर मिह के लिए देखें। यह **द्वितीय नमूना** हुआ। **२—प्रातः ७½ बजे** जल पा. २ पिलायें। **३—प्रातः ८ बजे :**—मूत्र परित्याग कराकर फेंक दें। **४—प्रातः ९ बजे :**—मूत्र परित्याग कराकर मिह के लिए देखें। यह **तृतीय परीक्षा** हुई। **परिणाम :—**

यूरिया (Urea) की प्र. श. मात्रा

वृक्क की अवस्था	प्रथम तथा द्वितीय नमूने की उच्चतम (Maximum) मात्रा।	तृतीय नमूने की निम्नतम (Minimum) मात्रा।
प्राकृत मात्रा	३·५	०·४से कम
साधारण विकृति	३·९ से कम	०·४
गंभीर विकृति	,,	०·८ से अधिक
अधिक गंभीर विकृति	१·५	१·५

तीव्र वृक्कशोथ (Acute glomerulo or parenchymatus nephritis)

परिचय :—यह रोग किसी उपसर्ग (Ifn) के एक सप्ताह पश्चात् होता है। उपसर्ग प्रायः कण्ठ में होता है। ज्वर, प्रातःकाल नेत्र के चारों ओर शोफ (Oedema), कमर में पीड़ा, रक्ताल्पता (Anaemia), उच्च रक्त-निपीड (B.P.), शिर में पीड़ा तथा मूत्र में परिवर्तन मिलता है। मूत्र में रक्त (Hematuria) का इतिहास मिल सकता है। रक्त तथा मूत्र का परिवर्तन

तालिका मे देखिये। रोग का प्रारम्भ अत्यन्त तीव्र होने पर मूत्रविषमयता (Uraemia) के लक्षण मिल सकते हैं।

चिकित्सा। (क) **साधारण**:—इस रोग के कारण जो रक्त में परिवर्तन होते हैं उनके लिये अधिक कुछ करना सम्भव नहीं है। जैसे-जैसे रोगी की अवस्था में सुधार होता है वैसे-वैसे ये विकृतियाँ प्राकृत होती जाती हैं। एसीटीएच (ACTH) द्वारा चिकित्सा करने के पूर्व रोग की अवधि मे कमी करना सम्भव नही था। एसीटीएच द्वारा रोग की अवधि कम की जा सकती हैं। रोगी तथा उसके वृक्क को पूर्ण **विश्राम** देना आवश्यक है। जब तक मूत्र की अवस्था, रक्त के रसायनिक पदार्थों की मात्रा तथा रक्तनिपीड़(B.P.) प्राकृत न हो जाये, रोगी को विश्राम करना चाहिये। नलिकाओ (Tubules) की संकेन्द्रण (Concentration) की शक्ति भी प्राकृत हो जानी चाहिये। मूत्र मे रक्त की थोड़ी बहुत मात्रा जीवनपर्यन्त मिल सकती है। परिश्रम प्रारंभ करने के पूर्व मूत्र मे शुक्लि (Alb) की मात्रा ०.२ ग्रा० प्र० दि० से कम हो जानी चाहिये और रक्तावसादन गति (E. S. R.) तथा रक्त मे नाइट्रोजन (N.P.N.) की मात्रा प्राकृत हो जानी चाहिये। ये सब प्राकृत होकर जब कम से कम दो सप्ताह पर्यन्त प्राकृत रहे तब रोगी को शैय्या परित्याग कर शनैः शनैः परिश्रम में वृद्धि करनी चाहिये। परिश्रम प्रारम्भ करने मे शीघ्रता करने से वृक्क की विकृति मे वृद्धि होती है तथा उसके ठीक होने में अधिक समय लगता है। मूत्र की मात्रा प्र० दि० नाप कर लिखना चाहिये। इससे पता चलता है कि रोगी की अवस्था मे सुधार हो रहा है या नहीं। वृक्क को विश्राम देने के लिये **आहार** मे लवण बन्दकर देना चाहिए। रोगी इच्छानुसार जल पा० १–२ प्र० दि० पी सकता है। जल पिलाने में जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये। जल एक दम बन्द कर देना भी ठीक नहीं है। मूत्र में रक्त की मात्रा में कमी होने पर तथा मूत्र की मात्रा मे वृद्धि होने पर जल की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। जलाल्पता (Deydration) के लक्षण प्रतीत होने पर सिरा-मार्ग (I. V.) से ग्लूकोस के साथ लसिका शुक्लि (Serum alb) रोगी के भार के अनुसार ०.२ ग्रा० प्र० से० भा० दे सकते हैं। प्रथम दो सप्ताह शुक्लि (Alb) देनेके विषय मे मतभेद है। कुछ लोगो के मत के अनुसार रोग के प्रारम्भ मे रोगी को केवल ग्लूकोस, मोसम्बी, सन्तरा, अनार आदि फलो का रस देना चाहिए। दो-तीन सप्ताह पश्चात् जब मूत्र की अवस्था में पर्याप्त

सुधार हो जाय, मूत्र की मात्रा में वृद्धि हो, मूत्र में शुक्लि की मात्रा में कमी हो जाय तथा निर्मोक (Casts) का मिलना बन्द हो जाय, तब दूध, साबूदाना, बार्ली का पानी, हौरलिक्स (Horlicks), चावल, आलू, रोटी, मक्खन आदि दे सकते हैं। अन्य लोगों के मत के अनुसार इन पदार्थों के अतिरिक्त दूध के रूप में प्रोटीन (Ptn) रोगी के भार के अनुसार ०·२–०·६ ग्रा० प्र० से० भा० प्र० दि० दे सकते हैं। प्रोटीन ५० ग्रा० प्र० दिन तक दे सकते हैं। वृक्क को विश्राम देने के लिये **लवण** (Nacl), **जल** तथा **प्रोटीन** की मात्रा कम करना आवश्यक है। भोजन में जीवतिक्ति ए, सी, डी (Vit : A. C. D.) भी देना चाहिए। रोग के **कारण** की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए तथा रोगी को शीत लगने से बचाना चाहिए। वृक्क शोथ के रोगी को शीत लगने की अधिक सम्भावना रहती है इसलिये उसका उदर कपड़े से बाँध कर रखना चाहिये तथा उसको ऋतु के अनुसार ढककर रखना चाहिए। मिर्च, मसाला तथा मद्यपान निषेध है।

(ख) विशिष्ट :—अनर्जता (Allergy) के सिद्धान्त के अनुसार वृक्क-शोथ में एसीटीएच (ACTH) तथा कौरटीसोन (Cortisone) से लाभ होना चाहिये। इन औषधियो के प्रयोग से तत्काल लाभ होता है। रोग के लक्षणों का शमन होता है तथा वृक्क में विकृति की कदाचित् वृद्धि नहीं होती। इसके प्रयोग के समय लवण (Nacl) एक दम बन्द कर देना आवश्यक है अन्यथा शोफ (Oedema) में वृद्धि होती है। अधिक मात्रा में औषधि देने से हृदयातिपात (Ht-failure) हो सकता है। औषधि प्रारम्भ करने के पश्चात् आकस्मात बन्द नहीं करना चाहिए। इससे हानि होती है। औषधि बन्द करते समय औषधि की मात्रा शनैःशनैः कम करना चाहिये। एसीटीएच मि० ग्रा० १०–५० तक चा० प्र० दि० पेशीमार्ग (I. M.) से तथा कौरटासोन मि० ग्रा० २५–१०० तक मुख से त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। यह प्रयत्न करना चाहिये कि जितनी अल्प मात्रा से रोगी को लाभ हो वही मात्रा प्रयोग की जाय।

(ग) अन्य चिकित्सा :—गरम पानी से नहलाने से या शरीर पोंछने से रोगी को सुख प्राप्त होता है तथा निद्रा आती है। रोगनिवृत्त हो जाने के पश्चात् भी अनेक मास पर्यन्त रोगी को शीतल जल से स्नान नहीं करना चाहिए तथा शीत से बचना चाहिए। कटिप्रदेश को गरम पानी की बोतल से सेकने

से मूत्र के निर्माण में वृद्धि होती है तथा कमर की पीड़ा कम होती है। मूत्र की प्रतिक्रिया **क्षारीय** (Alkaline) रहने से निर्मोक (Cast) कम बनते हैं। इसके लिए क्षारीय घोल (यो० १) त्रि. प्र. दि. देना चाहिए। इससे मूत्र की मात्रा में भी वृद्धि होती है। **मूत्रल** (Diuretic) औषधियों से विशेष लाभ नहीं होता। मूत्र की वृद्धि के लिए प्रकृति पर निर्भर करना अच्छा है। स्वय ही जब मूत्र की मात्रा मे वृद्धि होने लगे तब मूत्रल योग (यो. १) से लाभ हो सकता है। अन्य मूत्रल औषधि, जैसे डायूरेटिन (Diuretin) आदि से हानि हो सकती है तथा इनके प्रयोग के समय विशेष सावधानी आवश्यक है। रोगी को पसीना कराना ठीक नहीं है।

(घ) **उपद्रवों** की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **कब्ज** रहने पर कैसकरा (Cascara), मैगसल्फ (Mag : sulph) आदि दे सकते हैं। वमन, उपसर्ग (Ifn) आदि की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **अपतानिका** (Tetany) के लिये (पृ. १५०) कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate) १० प्र. श. ५–१० सा. सी. सिरा (I. V.) या पेशी (I. M.) मार्ग से दें। **रक्ताल्पता** (Anaemia) के लिये रक्तप्रदान (Blood : trans :) कर सकते हैं। लौह (Fe) के प्रयोग से रक्ताल्पता में लाभ होता है तथा मूत्र की वृद्धि होती है। अमूत्रता (Anuria) के लिये कटिप्रदेश पर तुम्बी (Cupping) लगा (पृ. ७) सकते हैं तथा सोडी सल्फ और ग्लूकोस (यो. १०२) पा. १ बूंद ४० प्र. मि. की गति से सिरामार्ग द्वारा दे सकते हैं। **शोफ** (Oedema) के लिये कोई विशेष चिकित्सा आवश्यक नहीं है। **फुफ्फुस शोफ** (Oedema lungs) के लिये (पृ.१२६) एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० आदि अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से दें।

अनुतीव्र वृक्कशोथ

(Subacute parenchymatous hydremic nephritis)

परिचय :—इस अवस्था मे मूत्र से अत्यधिक मात्रा मे **शुक्लि** (Alb:) का परित्याग होता है। **शोफ** (Oedema) तथा **रक्ताल्पता** (Anemia) की प्रधानता रहती है। मूत्र तथा रक्त के परिवर्तन तालिका मे दिये गये है। वृक्क के कार्यशीलता की कसौटियाँ (Renal function tests) प्राकृत रहता है। रक्तनिपीड (B. P.) प्राकृत रहता है। उच्च रक्तनिपीड जन्य हृदय की विकृतियाँ इस अवस्था में नहीं मिलती। कभी-कभी शोफ पैर

से प्रारम्भ हो सकता है । शरीर में सोडियम (Na) तथा जल सचय होता है । प्र. दि. रोगी का भार देखने से रोगी के शरीर में जल की मात्रा बढ़ रही है या कम हो रही है इसका ज्ञान होता है । वृक्क का आकार बड़ा हो जाता है । शोफ के कारण चेहरा भी बड़ा तथा रक्ताल्पता के कारण सफेद प्रतीत होता है।

चिकित्सा :—रोग की **साधारण चिकित्सा** तीव्र अवस्था के समान है । इस रोग में शैय्याव्रण (Bed sore) होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है इसलिए रोगी को करवट बदलते रहना चाहिए तथा शैय्याव्रण होने वाले स्थानों का बराबर निरीक्षण करना चाहिए । इन स्थानों को प्र. दि. साबुन से साफ कर इस पर स्पिरिट (Spirit) तथा त्वक्भस्म (यो. ७२) लगाना चाहिए । शोफ (Oedema) के लिए यदि प्रोटीन (Ptn) प्रधान **आहार** देना निश्चय किया हो तब प्रारम्भ में दूध देना चाहिए। एक सप्ताह पश्चात शनैः शनैः अण्डा, दुग्ध के योग रसगुल्ला, छेना, पनीर (Cheese), संदेश आदि दें । तत्पश्चात उबाल कर बिना मिर्च मसाले की मटर की छीमी, मछली, गोश्त, दे सकते है । भोजन मे लवण (Nacl) बन्द कर देना चाहिये तथा वसा (Fat) की मात्रा अत्यल्प होनी चाहिये । चावल, रोटी आदि आ. अ. दे सकते हैं । शोफ कम हो जाने पर प्रोटीन की मात्रा कम कर कार्बोज (Cho), शाक, चावल, रोटी आदि पर ही रोगी को रखना चाहिए । शोफ में वृद्धि होने पर पुनः प्रोटीन (Ptn) प्रधान आहार दे सकते हैं । **शोफ** (Oedema) की उपयुक्त (पृ. २२३) चिकित्सा करनी चाहिये । लवण बन्द कर देखना चाहिये कि शोफ कम हो जाता है या नहीं । प्रायः इसी से लाभ होता है । इससे लाभ न होने पर प्रोटीन देने का निश्चय करना चाहिये। अत्यधिक प्रोटीन देकर वृक्क के कार्य की वृद्धि नहीं करनी चाहिए । प्रोटीन उतना ही देना चाहिये जिसमे रक्त में प्रोटीन की मात्रा प्राकृत रहे । लवण बन्द कर देने पर जल में कमी करना आवश्यक नहीं है । मूत्रल औषधियाँ हानि कर सकती है । पुनर्नवा सत्व (Ext : punarnava liq :) ड्रा. १/२–१ त्रि. प्र. दि. दे सकते है । पोटास एसिटस (यो. १) दे सकते है। उग्र (Drastic) विरेचक औषधियाँ नही देना चाहिए । रक्ताल्पता के लिए लोह (Fe) देना चाहिए । अवटुकाग्रथि सत्व (Ext : thyroid) ग्रे. १/२–१ त्रि. प्र. दि. देने से भी शोफ मे कमी होती है । एसीटीएच तथा कौरटीसोन (ACTH, cortisone) प्रायोगिक अवस्था में हैं ।

चिरकालीन वृक्कशोथ

(Chro : glomerulo, terminal, inter-stitial, azotemic nephritis)

परिचय :—वृक्कशोथ की यह अन्तिम अवस्था है। इसका प्रारम्भ अस्पष्ट होता है। गुत्सक (Glomeruli) में तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) हो जाने से मूत्र में शुक्लि (Alb :) की मात्रा कम हो जाती है तथा शोफ (Oedema) ठीक हो जाता है परन्तु वृक्क की अकार्यशीलता (Insufficiency) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। नलिकाओं (Tubules) की जल को पुनः प्रचूषण (Reabsorption, concentration) करने की शक्ति कम हो जाती है। उच्च रक्तनिपीड (B. P.) के कारण प्रारम्भ में वाम निलय (Vent) की परमपुष्टि (Hypertrophy) तथा कुछ समय पश्चात हृदयातिपात (Ht failure) के लक्षण होते हैं। इस अवस्था को हृदय-वृक्क संरूप (Cardio-renal syndrome) कहते हैं। मूत्र तथा रक्त के परिवर्तन का वर्णन तालिका में किया गया है। यह अवस्था कुछ मास से अनेक वर्ष पर्यन्त रह सकती है। रक्तवाहिनियों (B. V.) में धमनी-जरठता (Arteriosclerosis) होती है। हृदयातिपात होने पर हृज्जन्य शोफ (Cardiac oedema) हो सकता है। वृक्क का आकार छोटा होता है। बाल्यावस्था में रोग होने पर बालक के शरीर का विकास रुक (Renal dwarfism) जाता है। स्त्रियों में गर्भावस्था जन्य शुक्लिमेह (Pregnancy albuminuria) के कारण भी यह रोग हो सकता है।

चिकित्सा :—इस अवस्था का अन्तिम परिणाम मृत्यु है इसलिये चिकित्सा द्वारा रोगी के जीवन की अवधि बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस ध्येय की पूर्ति के लिये आवश्यक है कि वृक्क का जो भाग विकृत होने से बच गया है उस पर अधिक बोझ न दिया जाय तथा लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा की जाय। यह कार्य नियमितरूप से जीवन व्यतीत करने से सम्भव है। इस अवस्था में **मूत्रविषमयता** (Uraemia) तथा **अम्लोत्कर्ष** (Acidosis) की अत्यधिक सम्भावना रहती है इसलिए इन उपद्रवों के लक्षणों की ओर से सतर्क रहना चाहि, इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए तथा इनके उदय होने पर उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

रोग की साधारण चिकित्सा :—यह तीव्र अवस्था के समान है। ज्वर

आदि उपद्रव होने पर रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये अन्यथा रोगी को बलपूर्वक शैय्या पर लिटाना अनावश्यक तथा हानिकर है। उपसर्ग (Ifn) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। शीत, गर्भाधान, अत्यधिक मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम, मद्यपान आदि से बचना चाहिये। दिनचर्या नियमित होनी चाहिये। रोग के कारण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रक्त में नाइट्रोजन (N. P. N.) तथा क्रीयेटिनीन (Creatinine) की वृद्धि प्रतीत होने पर प्रोटीन (Ptn) की मात्रा में कमी करनी चाहिये। भोजन साधारण तथा निरामिष होना चाहिये। प्रोटीन एक दम बन्द करने से हानि हो सकती है। रोगी के भार के अनुसार प्रोटीन की प्र० दि० की मात्रा आ० ०·४६ ग्र०से०भा० प्र० दि० से कम होनी चाहिये। पर्याप्त मात्रा मे जल ३-४ सेर प्र० दि० देना चाहिये। लवण में अधिक कमी करना अनावश्यक है। प्रोटीन की मात्रा वृक्क की कार्यशीलता के अनुसार निर्धारित करनी चाहिये। वसा (Fat) की मात्रा कम होनी चाहिये। शाक आदि उबाल कर लेना चाहिये। भूनी तरकारी हानिप्रद है। दूध, रोटी, मक्खन, चावल, हलकी चाय, फल आदि दे सकते हैं। कब्ज रहने पर पपीता, इसफगोल, अंजीर, मुनक्का, त्रिफला, सनाय (Senna), सेव, बेल, आम आदि देना चाहिये। उच्च रक्तनिपीड़ (B. P.) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। नमी तथा शीत से बचना चाहिये। शुष्क जलवायु मे रहना चाहिये। दोनो प्रकार का हृदयातिपात वाम तथा दक्षिण (Rt:or lt:ht:failure) सम्भव है। इसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। मासाहारी भोजन से रक्तनिपीड़ (B.P.) की वृद्धि होती है। जल में कमी करने पर रक्त में नाइट्रोजन (N. P. N.) की वृद्धि होती है तथा मूत्रविषमयता (Uraemia) की सम्भावना रहती है। अम्लोत्कर्ष (Acidosis) बचाने तथा निर्मोक का बनना कम करने के लिये मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) होनी चाहिये। इसके लिए पोटास सायट्रस (यो० १) ग्रे० २०-६० त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। रक्त के रसायनिक पदार्थों को प्राकृत करने के लिये सोडी सायट्रस (Sodi.citras) ग्रे० ३०, कैलसियम क्लोराइड (Cal:chloride) ग्रे० १ तथा कैलसियम लैक्टेट (Cal:lactate) ग्रे० १०-२५ त्रि० प्र० दि० देना चाहिये। जीवन पर्यन्त अनेक बार मूत्र परीक्षा तथा आ० अ० रक्त परीक्षा करते रहना चाहिये।

वृक्कशोथ की आयुर्वेदिक चिकित्सा

प्रथम कोष्ठशुद्धि कर दोषानुसार औषधि की व्यवस्था करे। रोगी को आराम देना और पेट साफ रखना आवश्यक है। बलानुसार स्वेदन एवं विरेचक औषधियाँ दे। अनुपान में पुनर्नवादि क्वाथ और गोमूत्र विशेष लाभकर हैं। लवण-वर्ज्य तरल एवं लघुपाचक पथ्य जैसे जौ का पानी व दूध बार बार दे। बुखार होने पर त्रिभुवनकीर्ति एवं अन्य ज्वरहर औषधि पित्त पापड़े के क्वाथ से दे। पीड़ा अधिक होने पर जातिफलादि चूर्ण दे। स्थानिक लेप व अभ्यंग भी करे। रोगी को राई वाले गर्म पानी में बैठा ले। कमर के पिछले भाग पर राई की पट्टी लगावे। ऐंठन होने पर जोंक से खून निकलवाये।

औषधियाँ :—पुनर्नवाष्टक क्वाथ, शोथारि चूर्ण, पुनर्नवाद्यरिष्ट, पुनर्नवादि तैल, शुष्कमूलाद्य तैल, शोथारि लौह, शोथ कालानल, पुनर्नवामंडूर, दुग्ध वटी, आरोग्यवर्धिनी।

प्रयोग :—(१) दुग्धवटी २/२ मात्रा प्रातः सायं दूध से। (२) पुनर्नवाद्यरिष्ट २ तो./२ मात्रा भोजनोत्तर समजल से। (३) आरोग्यवर्धिनी २ व. रात्रि में क्षीर से।

वृक्कशोथ की सुप्तावस्था (Latent nephritis)

परिचय :—वृक्कशोथ की तीव्र अवस्था के पश्चात कुछ रोगियों की मृत्यु हो जाती है, कुछ अनुतीव्र (Subacute) अवस्था से होकर चिरकालीन अवस्था में चले जाते हैं, कुछ में विकृति पूर्णरूप से ठीक हो जाती है, परन्तु कुछ रोगियों में विकृति सुप्तावस्था (Latent) में परिणत हो जाती है। ऐसे रोगियों की संख्या पर्याप्त होती है। साधारणतः ये रोगी लक्षणरहित होते हैं। इनमें किसी प्रकार का रोग का प्रमाण नहीं मिलता परन्तु इनमें वृक्क में साधारण विकृति रहती है इसलिये इनमें कभी कभी लक्षण उग्र हो जाते हैं। और तीव्र अवस्था का पुनरावर्तन होता प्रतीत होता है अथवा सुप्तावस्था अनुतीव्र (Subacute) या चिरकालीन अवस्था में परिणत हो जाती है। तीव्र वृक्कशोथ का जीवन में पुनरागमन अत्यन्त विरल है। वास्तव में सुप्तावस्था के रोगी में जब किसी भी कारणवश ज्वर होता है तब वृक्कशोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ज्वर कम होने पर वृक्कशोथ के लक्षणों का भी शमन होता है। वृक्कशोथ की सुप्तावस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा दीर्घ होती है। इसमें तीव्र अवस्था का इतिहास नहीं भी मिल सकता है। यह अवस्था अत्यन्त दीर्घ

होने के कारण इन रोगियों की मृत्यु वृक्कशोथ की अपेक्षा अन्य किसी रोग के कारण होती है। इन रोगियों में जब तीव्र अवस्था के समान लक्षण होते हैं तब शोफ (Oedema), रक्ताल्पता (Anaemia), उच्च रक्त निपीड (B. P.) आदि लक्षण नहीं होते। वृक्क में भी विशुद्ध तीव्र अवस्था के समान उग्र तथा व्यापक विकृति नहीं मिलती केवल मूत्र में शुक्लि (Alb), लाल रक्तकण (RBC) तथा श्वेत रक्तकण (W.B. C.) मिलने लगते है सुप्तावस्था का **निदान** कठिन है। रक्त की परीक्षायें प्राकृत रहती है। यदा-कदा मूत्र मे लाल रक्तकण (RBC) तथा शुक्लि (Alb:) मिल सकती है।

चिकित्सा :—इस अवस्था की चिकित्सा के लिए आवश्यक है कि रोगी को किसी भी प्रकार के ज्वर होने से बचाया जाय तथा ज्वर हो जाने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा की जाय। उपसर्ग की तत्काल चिकित्सा करनी चाहिये तथा रोगी को माता का टीका (Vaccination), मसूरि (Vaccine), दुग्ध आदि का इन्जेक्शन जिससे ज्वर की संभावना रहती है, नहीं लेना चाहिये। ज्वर की अवधिपर्यन्त तथा ज्वर प्राकृत हो जाने के ८–१० दिन पश्चात तक रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। भोजन मे कार्बोज (Cho) की प्रधानता रहनी चाहिये तथा प्रोटीन (Ptn) १५–५० ग्रा. (ग्रा. ०·५ प्र. से भा.) प्र. दि. से अधिक नही होनी चाहिए। प्रोटीन केवल उतना ही देना चाहिये जितना स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक है। प्रोटीन प्रधान भोजन मे दूध तथा दूध के योग, मटर, सेम, तरकारी आदि होना चाहिये। प्रोटीन की पूर्ति दुग्ध के अतिरिक्त निरामिष भोजन से ही मुख्यतः करना चाहिये। मास आदि की मात्रा कम होनी चाहिये। जल की मात्रा अधिक होनी चाहिये। कम से कम ३–४ सेर जल प्र. दि. पीना चाहिये। रोगी को यथासंभव नियमित रूप से स्वस्थ मनुष्य के समान रहना चाहिये। अधिक परिश्रम नही करना चाहिये। औषधियो का प्रयोग अनावश्यक है।

वृक्कोत्कर्ष (Nephrosis)

परिचय :—इस अवस्था मे वृक्क की नलिकाओं (Tubules) मे अपजनन (Degeneration) होता है। गुच्छक (Glomeruli) प्राकृत रहते हैं। रक्त तथा मूत्र की अवस्था का वर्णन तालिका मे किया है। **शोफ** (Oedema) ही इसका प्रधान लक्षण है। इसकी **चिकित्सा** अनुतीव्र वृक्क-शोथ के समान करनी चाहिये।

मूत्रमार्ग के उपसर्ग (Ifn: of urinary tract)

परिचय :—मूत्र-संस्थान के उपसर्ग पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों मे अधिक सामान्य हैं । । ये उपसर्ग मूत्र-संस्थान के किसी भाग में, वृक्क से लेकर मूत्र-स्रोत (Urethra) तक हो सकते हैं । गर्भावस्था, अष्ठीलाग्रथि (Prostate) की वृद्धि, अश्मरी (Stone), उपसंकोच (Stricture), वृद्धावस्था की शिथिलता (Atony), अंगवात (Paralysis) आदि से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है । उपसर्ग तीव्र अवस्था चिरकालीन होता है । मूत्र के मार्ग मे अवरोध (Obst:) होने से अथवा मूत्र के प्रवाह में रुकावट होने मे अवस्था चिरकालीन हो जाती हैं तथा रोग का बार-बार पुनरागमन होता है । इस रोग मे प्रायः आंत्र दण्डाणु (E. Coli) मिलते हैं । गुह्य गोलाणु (Gono), मालागोलाणु (Strepto), स्तवक गोलाणु (Staphy), प्रोटियस दण्डाणु (B. proteus), यक्ष्मा दण्डाणु (T. B.), आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु (B. Typhosus) आदि के कारण भी उपसर्ग हो सकता है ।

उपसर्ग का **स्थान** जानने के लिए रोगी को **तीन ग्लास** मे (Three glass test) मूत्र परित्याग करना चाहिये । इस परीक्षा का महत्व केवल पुरुषो में है । परीक्षा करने के पूर्व रोगी को एक गिलास पानी पिलाना चाहिये । अब रोगी को **प्रथम** गिलास मे ५–६ सी. सी. मूत्र परित्याग करना चाहिये । इस मूत्र की परीक्षा करने से मूत्रस्रोत (Urethra) की अवस्था का ज्ञान होता है । मूत्रस्रोत मे विकृति रहने पर प्रथम ग्लास का मूत्र गदला (Turbid) तथा अन्य ग्लास का निर्मल होता है । अब रोगी को **द्वितीय ग्लास** में मूत्र परित्याग करना चाहिये । मूत्राशय (Bladder) मे विकृति रहने पर दोनो ग्लास का मूत्र गदला होता है। अब रोगी की अष्ठिलाग्रन्थि की मालिश (Prostatic massage) कर **तृतीय ग्लास** में मूत्र परित्याग करना चाहिये। इससे अष्ठिलाग्रन्थि (Prostate) की अवस्था का ज्ञान होता है।

परीक्षायें :—रोगकी तीव्र अवस्था मे मूत्रस्रोत (Urethra) के अन्दर कोई यन्त्र प्रवेश नहीं करना चाहिये। **मूत्रपरीक्षा द्वारा**,रक्तकण (RBC) शुक्लि, (Alb:), श्लेष्मा (Mucus), अधिच्छद (Epthelium) तथा श्वेतकण (W.B.C.) मिल सकते हैं । प्राकृत अवस्था में भी मूत्र को केन्द्रापसारित्र (Centrifuge) कर देखने से विशेष कर स्त्रियों में कुछ

श्वेतकण मिल सकते हैं। मूत्र को संवर्ध (Culture) कर देखने से जीवाणु का ज्ञान हो सकता है। **रक्तपरीक्षा में** बह्वाकारी श्वेतकणोत्कर्ष (Poly: leucocitosis) मिलता है। मूत्राशयवीक्षण यन्त्र (Cystoscope) द्वारा परीक्षा करने से तथा मूत्र-संस्थान की **क्ष-किरण** (Pyelography) परीक्षा करने से अवरोध (Obst:) का ज्ञान हो सकता है और यह भी पता लग सकता है कि किस ओर के वृक्क से रक्तस्राव (Bleeding) हो रहा है। संवर्ध परीक्षा के लिये स्त्रियों में रबर की नलिका से (Catheter) मूत्र लेना चाहिए। पुरुषों में थोड़ा मूत्र परित्याग करने के बाद ले सकते हैं।

मूत्र संस्थान के भिन्न स्थानों की विकृति के लक्षण :—मूत्र संस्थान में उपसर्ग होने पर ज्वर, कम्प (Rigor), अनेक बार मूत्र परित्याग करने की इच्छा, मूत्र परित्याग के समय पीडा, जी मिचलाना, वमन आदि लक्षण होते हैं।

(१) **वृक्क में उपसर्ग** होने पर कमर मे (Lumbar) पीडा होती है। इस पीड़ा का संवहन (Radiation) अधो दिशा मे गवीनी (Ureter) के मार्ग से होता हुआ जननेन्द्रिय कि दिशा मे होता है। पीठ की ओर पर्शुक-पृष्ठवंशकोण (Costo-vertebral angle) पर दबाने से पीडा होती है। केवल गवीनीमुख में शोथ होने पर **गवीनीमुखशोथ** (Pyelitis) कहते हैं। इस अवस्था मे उपसर्ग गवीनीमुख मे सीमित रह सकता है। परन्तु जब उपसर्ग वृक्क मे भी पहुँच जाता है तब उसको **आरोही गवीनीमुख शोथ** (Pyelonephritis) कहते है। इस अवस्था मे वृक्कशोथ (Nephritis) के समान वृक्क की कार्यशीलता मे कमी हो जाती है। यह अवस्था जब अधिक गम्भीर हो जाती है तथा गवीनीमुख (Pelvis) में पूय मिलता है तब उसको **पूयापवृक्कता** (Pyo-nephrosis) कहते हैं। वृक्क मे या वृक्क के चारो ओर पूयभवन (Suppuration) हो सकता है। इसको वृक्क मे **विद्रधि** (Abscess) अथवा **परिवृक्कीय** (Perinephric) **विद्रधि** कहते है।

उपसर्ग की अवस्था के अनुसार वृक्क के लक्षण साधारण अथवा उग्र हो सकते हैं परन्तु वृक्क के उपसर्ग के कारण जो लक्षण उत्पन्न होते है वे प्रत्येक प्रकार के उपसर्ग मे प्रायः एक ही समान होते है। रोग की **चिरकालीन अवस्था** मे जब वृक्क का पर्याप्त भाग नष्ट हो जाता है तब उपसर्ग (Ifn)

को औषधि द्वारा ठीक करना अत्यन्त कठिन होता है। गवीनीमुखशोथ (Pyelitis) में उपसर्ग प्रायः मूत्र के द्वारा गवीनी (Ureter) तथा मूत्राशय (Bladder) मे पहुँच कर अवश्य ही शोथ उत्पन्न करता है। **आरोही गवीनीमुखशोथ** (Pyelo-nephritis) मे मूत्र मे अन्य पदार्थों के अतिरिक्त निर्मोक (Cast) भी मिलते हैं।

(२) **मूत्राशयशोथ** (Cystitis) :—इसमे मूत्र-संस्थान के लक्षणों के अतिरिक्त भगास्थ्योर्ध्व (Supra pubic) स्थान पर दबाने से पीड़ा होती है। रोग परम उग्र होने पर मूत्र के साथ रक्तस्राव (Hematuria) हो सकता है। मूत्राशय मे मूत्र संचय (Retention) हो सकता है तथा कुंथन (Tenesmus) भी हो सकता है। पूय (Pus) मूत्र मे मिश्रित रहता है या मूत्र के अत में आता है।

मूत्र की प्रतिक्रिया (Reaction) **के अनुसार जीवाणुओं की संभावना** :—(क) मूत्र का प्रतिक्रिया **अम्ल** (Acid) होने पर आन्त्रदण्डाणु (B. coli), गुह्य गोलाणु (Gono:) तथा यक्ष्म दण्डाणु (T. B.) की सभावना रहती है। आन्त्र दण्डाणु में मूत्र मछली के समान दुर्गन्धित होता है।

(ख) **मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय** (Alkaline) होने पर माला-गोलाणु (Strepto:), स्तवक गोलाणु (Staphylo:) तथा नानारूप दण्डाणु (B. Proteus) की संभावना रहती है।

चिकित्सा :—मूत्र सस्थान के उपसर्ग में रोग के कारण की चिकित्सा करनी चाहिये। अवरोध (Obst:), विद्रधि (Abscess), अष्ठीलाग्रंथि (Prostate) की वृद्धि, अश्मरी (Stone), उपसकोच (Stricture) आदि रहने पर शल्यचिकित्सा (Op) करनी चाहिये। उपसर्ग ठीक होने के लिये मूत्र का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रवाह होना आवश्यक है। मूत्र का किसी स्थान पर सचय होने पर मूत्र मे उपसर्ग होने की सम्भावना रहती है और जब तक मूत्र का अप्रवाह (Stasis) शल्यकर्म (Op) द्वारा ठीक नहीं किया जाता तब तक औषधियों द्वारा उपसर्ग ठीक नही होता। रोग की तीव्र अवस्था मे मूत्र-सस्थान के अन्दर किसी प्रकार का यन्त्र प्रवेश नहीं करना चाहिये। यथासम्भव तीव्र अवस्था का शमन होने पर ही शल्यकर्म (Op:) करना चाहिये।

(१) **साधारण चिकित्सा** :—रोग की **तीव्र अवस्था** में तथा

जब तक रोगी को ज्वर रहे रोगी को शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। वृक्क की यदि मूत्र के निर्माण करने की शक्ति विकृत न हुई हो तब प्रयत्न करना चाहिये कि कम से कम दो सेर मूत्र प्र. दि. अवश्य परित्याग हो। इसके लिये रोगी को प्र. दि. कितना जल दिया जाता है तथा कितना मूत्र परित्याग होता है, नाप कर तथा लिख कर रखना चाहिये। आवश्यकता प्रतीत होने पर रोगी को बलपूर्वक **जल** पिलाना चाहिये। जिस समय मूत्र-परित्याग करने मे कष्ट होता हो उस समय अधिक मात्रा मे जल देना ठीक नहीं है। इस लक्षण का जब शमन हो जाय तब जल की मात्रा मे वृद्धि करनी चाहिये अन्यथा प्रत्येक बार जब रोगी मूत्र-परित्याग करता है तब पीड़ा होती है और अधिक मात्रा मे जल देने से मूत्र परित्याग की सख्या मे वृद्धि होती है तथा अनेक बार रोगी को पीड़ा होती है।

आहार :—रोग की **तीव्र अवस्था** मे रोगी को तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। तीव्र अवस्था का शमन हो जाने के **पश्चात्** अर्धतरल तथा ठोस पदार्थ देना चाहिये। मूत्र-सस्थान के उपसर्ग मे विशेषकर आन्त्र दण्डाणु (B. coli) के उपसर्ग मे वसा (Fat) का विशेष महत्व है। भोजन मे प्रोटीन (Ptn) की मात्रा प्राकृत अवस्था के समान होनी चाहिये। प्रोटीन मे कमी या वृद्धि करना ठीक नही है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रोग की **चिरकाली** अवस्था में रोगनिवृत्त होने के लिये रोगी के स्वास्थ्य की वृद्धि करना आवश्यक है। इसके लिये पौष्टिक आहार तथा औषधि का प्रयोग करें।

मूत्र की प्रतिक्रिया (Reaction) का परिवर्तन :—मूत्र की प्रतिक्रिया का परिवर्तन करने का सिद्धान्त अत्यन्त पुराना है। इससे जीवाणु का विकास रुक जाता है। जो जीवाणु क्षारीय (Alkaline) मूत्र मे विकसित होते हैं वे जीवाणु मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल (Acid) हो जाने पर विकसित नहीं हो पाते। इसी प्रकार अम्ल प्रतिक्रिया मे विकसित होने वाले जीवाणु क्षारीय मूत्र मे विकसित नही हो पाते। इसलिए चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व मूत्र की प्रतिक्रिया देखनी चाहिये। मूत्र क्षारीय रहने पर उसकी प्रतिक्रिया अम्ल करना चाहिये तथा प्रारम्भ मे अम्ल रहने पर क्षारीय करना चाहिये। मूत्र की प्रतिक्रिया का परिवर्तन करने की निम्न विधियाँ हैं :—

(क) मूत्र की प्रतिक्रिया **अम्ल** (Acid) करने की विधि :—जीवाणु का विकास रोकने के अतिरिक्त हेक्सामीन (Hexamine) तथा मैन्डिलिक

एसिड (Mandelic acid) के योग देते समय मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होना आवश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिये कि अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की सम्भावना रहने पर मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल करना हानिकर है तथा प्रतिक्रिया अम्ल होने पर मूत्र परित्याग करते समय की पीड़ा में वृद्धि हो सकती है। एसिड सोडीफौस (Acid sodi: phos :) ग्रे. २०–३० त्रि. प्र. दि. अमोनियम क्लोराइड (Ammon·chloride) ग्रे. १०–२० त्रि प्र. दि. भो. पू. अमोनियम बेनजोयस (Ammon benzoas) ग्रे. १५ त्रि.प्र.दि. या एसिड एन. एम. डिल (Acid . N. M. dil) मि. २० त्रि. प्र. दि. भोजन के साथ देने से मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल की जा सकती है। अम्ल (Acid) औषधि शीशे की नलिका से पीना चाहिये तथा औषधि पीने के पश्चात् एक प्याला जल में सोडी बाइकार्ब च. १ मिला कर कुल्ला करना चाहिये अन्यथा दाँत खट्टे हो जाते हैं तथा दाँतों मे विकृति होती है।

(ख) मूत्र क्षारीय (Alkaline) करने की विधि :—जीवाणु के विकास को रोकने के अतिरिक्त मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय रहने से ज्वर में लाभ होता है तथा मूत्र परित्याग करते समय की पीड़ा में कमी होती है। इससे मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है, अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की सम्भावना नहीं रहती तथा सल्फा औषधि (S) के प्रयोग के समय वृक्क मे स्फटिक (Crystals) नहीं बनते तथा मूत्र का निर्माण स्थगित होने की सम्भावना नहीं रहती। सोडी साइट्रस (Sodi : citras :) ग्रे. १०–६०, पोटास साइट्रस (Pot : citras:) ग्रे. २०–६०, क्षारीय घोल (यो. १), सोडी बाइकार्ब ग्रे. ३०, सोडी एसिटस (Sodi : acetas) ग्रे. ३० आदि त्रि.प्र.दि. देने से मूत्र क्षारीय हो सकता है। मूत्र क्षारीय हो जाने के पश्चात् इन औषधियों की मात्रा कम कर ग्रे. १०–१५ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। मूत्र शीघ्रता से क्षारीय करने के लिये सोडी बाइकार्ब तथा सोडियम लैक्टेट का समबल घोल (Isotonic sodi:lact & sodibicarb 'Co') सी.सी. २० सिरामार्ग (I. V.) से दे सकते है। क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) की सम्भावना पर ध्यान रखना आवश्यक है। अधिक मात्रा में क्षार प्रयोग करते समय रोगी को अधिक मात्रा में जल तथा लवण (Nacl) ग्रे. २०–४० त्रि. प. दि. देना चाहिये अन्यथा रक्त में क्लोरीन (Cl) की कमी होने का भय रहता है।

चिकित्सा :—मूत्रकृच्छ्र (Dysurea) को उपयुक्त (पृ. १६४) चिकित्सा करें। कब्ज के लिये रेड़ी का तेल (Ol. recini) औ. १, साबुन के पानी का एनिमा १–२ पा. या कैसकरा सत्व (Cascara evacuant P.D.) गि. २० त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। चिरकालीन अवस्था में मूत्र से आत्ममसूरि (Autovaccine) बनाकर इन्जेक्शन लगा सकते हैं। चिरकालीन **मूत्राशयशोथ** (Chro : cystitis) में रबर की नलिका द्वारा मूत्राशय धो सकते हैं। इसके लिए मूत्राशय में रबर की नलिका (Catheter) प्रवेश कर सिल्वर नाइट्रेट ($Agno_3$) १:५०००–१:१०,०००, एक्रीफ्लेविन (Acriflavin) १:१०,०००, पोटास पर मैंगनेट($Kmno_4$) १:२०००, बोरिक एसिड (Boric acid) २ प्र० श०, मरक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) १ प्र० श० आदि से मूत्राशय (Bladder) धोना चाहिये। मूत्राशय प्र० दि० अथवा प्र० दू० दि० उपर्युक्त घोल पा० २ से धो सकते है। इस क्रिया के समय धोने वाले घोल का ताप ११०° फा. होना चाहिये। जिस पात्र में यह घोल रखा जाय वह पात्र रोगी के शरीर से ३ फिट से अधिक ऊँचा नहीं होना चाहिये। उपर्युक्त औषधियों से मूत्राशय धोने के पश्चात् रबर की नलिका द्वारा मूत्राशय में प्रोटारगल (Protargol) या आरजिरौल (Argyrol) ५–१० प्र० श० १० सी० सी० प्रवेश करना चाहिये।

उपसर्ग की चिकित्सा। (क) विशिष्ट औषधियाँ :—उपसर्ग की विशिष्ट चिकित्सा के लिये जीवाणु को पहचानना आवश्यक है। जीवाणु की प्रकृति के अनुसार **पेनिसीलीन** (P.),**स्ट्रेप्टोमायसीन** (Str), **सल्फा** (S), **औरियोमायसीन** (Au) आदि का प्रयोग करना चाहिये। इन औषधियों के आविष्कार से मूत्र संस्थान की जीवाणुनाशक (Urinary antiseptics) औषधियों का प्रयोग प्रायः अनावश्यक हो गया है। सल्फा औषधियों में **सल्फा डियाजीन** (S-diazine) ग्रे० १ प्र० ४ घण्टे सर्वोत्तम है। मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय होना आवश्यक है। **सल्फा पाइरीडीन** (S-pyridine) का प्रभाव आन्त्र दण्डाणु (B coli), माला गोलाणु (Strepto.hemolyticus) तथा नानारूप दण्डाणु (B.proteus) पर उत्तम है। **सल्फा थियाज़ोल** (S-thiazole) का प्रभाव स्तवक गोलाणु (Staphy:) तथा वैष्ठिक मालागोलाणु (S-faecalis) पर उत्तम है। **सल्फा सिटामिड** (S-cetamide) ग्रे० २ चा० प्र० दि०

देना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था के लिये ये औषधियां उत्तम हैं। **चिरकालीन आरोही गवीनीमुखशोथ** (Chro:pyelo nephritis) की चिकित्सा चिरकालीन वृक्कशोथ (Chro:nephritis) के समान करनी चाहिये। उपसर्ग ठीक करना अत्यन्त कठिन है। सल्फाथियाजोल (S-thiazole) ग्रे० १½–२ त्रि० प्र० दि० जीवनपर्यन्त देने से लाभ हो सकता है। **आंत्र दण्डाणु** पर सल्फा (S) तथा स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) का प्रभाव उत्तम है। माला गोलाणु, स्तवक गोलाणु, गुच्छ गोलाणु (Gono:) में पेनिसीलीन (P) तथा नानारूप दण्डाणु पर क्लोरोमायसिटीन प्रयोग करें।

(ख) अन्य जीवाणुनाशक (Urinary antiseptics) **औषधियाँ :—मैण्डेलिक एसिड** (Mandelic acid) के योग मौ० प० देना चाहिये। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल (Acid) होना आवश्यक है तथा जल की मात्रा कम होनी चाहिये। ये औषधियां विशेष कर **चिरकालीन अवस्था** में प्रयोग की जानी चाहिये। तीव्र वृक्कशोथ (Nephritis), वमन, मिचली, मूत्र में शुक्लि (Alb:), रक्तकण (RBC) आदि मिलने पर इन औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। हेक्सामीन (Hexamine) के प्रयोग के समय मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल (Acid) होना आवश्यक है। हेक्सामीन के अनेक योग हैं जैसे :—हेलमिटोल (Helmitol, cystopurin, cylotropin, cystoformin, felamine, amphotropin) आदि। **हेक्सिलरिसोरसिनोल** (Hexylresorcinol) मूत्र की किसी भी प्रतिक्रिया में कार्य करती है। इसको सोडी बाइकार्ब के साथ नहीं देना चाहिये तथा रोग की तीव्र अवस्था में प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसके योग हैं :—केप्रोकोल (Caprokol) तथा क्रस्टौयेड्स (Crystoids S & D)। **पाइरीडीन** (Pyridine dye) के योग देने से मूत्र नारंगीवर्ण हो जाता है। हेक्सामिन का ४० प्र० श० घोल सिरामार्ग (I. V.) से १–५ सी० सी० दे सकते हैं।

आंत्र दण्डाणु (B coli) का उपसर्ग

परिचय :—यह जीवाणु शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में विकृति करता है जैसे :—मूत्र-संस्थान, पित्ताशय (Gall bladder), गर्भाशय (Uterus), डण्डुकपुच्छ (Appendix) आदि। इसका निवास स्थान आन्त्र में माना जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसका उपसर्ग अधिक मिलता

है। स्त्रियों में प्रसव होने के पश्चात् गर्भाशय में इस जीवाणु द्वारा उपसर्ग हो जाने पर जीवाणु रक्त में प्रवेश कर जाते हैं और रोगी को प्रसूति ज्वर (Purperal sepsis) हो जाता है। मध्यकर्ण (Middle ear), अस्थि तथा संधियों (Jts) में भी इसके द्वारा उपसर्ग होता है। इसके उपसर्ग मे अनेक बार रोग के **पुनरागमन** होने की सम्भावना रहती है और इसकी यह विशेष प्रकृति प्रतीत होती है कि अत्यधिक ज्वर रहने पर भी शरीर के महत्वपूर्ण अवयवों (Organs) मे अत्यन्त साधारण विकृति होती है, इसी कारण विकृति के स्थानिक लक्षण तथा चिह्न प्रायः अस्पष्ट होते हैं। रोग की अवस्था तीव्र अथवा चिरकालीन हो सकती है। विकृति के स्थान के अनुसार रोग के स्थानिक लक्षण होते हैं। **तीव्र अवस्था** में कम्प के साथ ज्वर, तन्द्रा (Drowsiness), प्रलाप (Delirium) आदि हो सकता है। मूत्र-संस्थान में प्रायः इसका उपसर्ग गवीनीमुख (Pelvis) में होता है। **निदान** की दृष्टि से मूत्र की साधारण परीक्षा तथा संवर्ध (Culture) परीक्षा करनी चाहिये। मूत्र का अथवा दोषमयता (Septecemia) में रक्त का संवर्ध करने से जीवाणु का ज्ञान होता है।

चिकित्सा :—आन्त्र दण्डाणु का निवास प्रायः आन्त्र में माना जाता है इसलिये मैगसल्फ (यो० ३३) द्वारा कब्ज दूर करना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था मे क्लारोमायसिटीन (Cln), स्ट्रेप्टामायसीन (Str), सल्फा (S) औषधियों, प्रयोग करना चाहिये। **चिरकालीन** अवस्था मे मूत्र-संस्थान में विक्रिति होने पर मैण्डेलिक एसिड (Mandelic acid), हेक्सामिन (Hexamine) आदि प्रयोग कर सकते हैं। संवर्ध (Culture) परीक्षा द्वारा जीवाणु का पता लगा कर आत्ममसूरि (Auto vaccine) बना कर इन्जेक्शन लगाने से लाभ हो सकता है।

वृक्काश्मरी (Renal calculus)

परिचय :—वृक्क मे अश्मरी (Stone) के निर्माण का उपसर्ग, जीवतिक्ति 'ए' (Vit:A) की कमी, मूत्र की प्रतिक्रिया आदि से सम्बन्ध प्रतीत होता है। मूत्र की प्रतिक्रिया **अम्ल** (Acid) रहने पर प्रायः कैलसियम औक्सेलेट (Cal : oxalate), यूरिक अम्ल (Uric acid), ज़ैनथिन (xanthin), सिस्टीन (Cystin) आदि की अश्मरी के निर्माण मे प्रधानता रहती है। मूत्र की प्रतिक्रिया **क्षारीय** (Alkaline)

रहने पर फौसफेट (Ph) तथा कैलसियम कार्बोनेट (Cal:carbonate) से अश्मरी का निर्माण होता है। यह रोग प्रायः पुरुषों मे मध्यावस्था में होता है। अश्मरी प्रायः संख्या मे अनेक होती हैं। छोटी अश्मरी गवीनी (Ureter) मे प्रवेश कर **वृक्कशूल** (Colic), मूत्र मे **रक्तस्राव** (Haematuria) आदि लक्षण उत्पन्न करती है इसलिये प्रायः बड़ी अश्मरी की अपेक्षा छोटी मे अधिक कष्ट होता है। शूल के उद्वेग के पश्चात **मूत्र परीक्षा** मे रक्त, पूय (Pus), शुक्लि (Alb:) आदि मिल सकते है। इसका **निदान** क्ष-किरण (X ray) द्वारा संभव है। वृक्क की क्ष-किरण परीक्षा के पूर्व रोगी को यूरोसिलेक्टैन (Uroselectan) का इंजेक्शन लगाना चाहिये। अश्मरी के निर्माण के पूर्व प्रायः मूत्र मे फौसफेट (Ph), कैलशियम औक्जेलेट (Cal:oxalate) आदि के स्फटिक (Crystal) मिलते हैं। रोग से बचने के लिये, प्रयत्न करना चाहिये कि मूत्र मे इन स्फटिक का बननाः बन्द हो जाय। कभी-कभी वृक्क शूल की पीड़ा स्वस्थ पार्श्व मे पाई जाती है।

चिकित्सा :—अश्मरी बन जाने के पश्चात अश्मरी को औषधि से गलाना असम्भव है। **अश्मरी का निर्माण रोकने के लिए** आवश्यक है कि मूत्र मे फौसफेट (Ph). औक्जेलेट (Oxalae), यूरेट (Urate). यूरिक एसिड (Uric acid) आदि के स्फटिक (Crystals) का बनना रोका जाय, उपसर्ग (Ifn) की उपयुक्त चिकित्सा की जाय तथा रोगी को पर्याप्त मात्रा मे जीवतिक्ति 'ए' (Vit:A) दिया जाय। **मूत्र की परीक्षा** करने पर यदि ये स्फटिक मिले तब इनकी चिकित्सा करनी चाहिये :—

(१) मूत्र मे **फौसफेट** (Ph) **का मिलना** :—यह पदार्थ स्वस्थ मनुष्य के मूत्र मे भी मिलता है। कब्ज, अजीर्ण, अम्लपित्त (Hyper-chlorhydria), शारीरिक दौर्बल्य, मानसिक दौर्बल्य (Nervousness), शाकाहारी भोजन आदि से इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है।

चिकित्सा :—एसिड सोडीफौस (Acid sodi: phos) ग्रे. २० त्रि. प्र. दि देने से मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल (Acid) हो जाती है और फौसफेट के स्फटिक अदृश्य हो जाते हैं। इसका रोगी की मानसिक अवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। कब्ज की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। आमाशय मे उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी रहने पर उदनीरिकाम्ल (Hcl: Dil:) मि. २०–३० त्रि प्र.दि.भो.प. देना चाहिये। भोजन मे कैलसियम

प्रधान आहार (पृ.५) कम कर, मांस, आलू, चावल, रोटी आदि की मात्रा बढ़ा देना चाहिये। यहाँ शाकाहारी की अपेक्षा मांसाहारी भोजन अधिक उपयुक्त है।

(२) मूत्र में **ऑक्जेलेट** (Oxaluria), यूरेट (Urate), यूरिक एसिड (Uric acid) का मिलना :—इस अवस्था में मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) करनी चाहिये। इसके लिये पोटास साइट्रस (Pot cit:) ग्रे. २० त्रि. प्र. दि. दे सकते है। अत्यधिक क्षार के प्रयोग से फौसफेट (Ph) के स्फटिक का निर्माण हो सकता है। कब्ज के लिये मैगसल्फ (Mag:sulph), मैगकार्ब (यो.३३) की १–३ मात्रा प्र.दि. देना चाहिये। अजीर्ण के लिये पाचक घोल (यो. ४१) या चूर्ण (यो. ५८) भो. प. दें। भोजन में दूध, अण्डा, मक्खन, चावल, गेहूँ, मटर, क्रीमी, चीनी आदि देना चाहिये। जीवतिक्ति 'ए' (Vit: A) पर्याप्त मात्रा मे देना चाहिये, इसके लिये मछली के यकृत का तेल (Cod liver oil, shark liver oil, halibut liver oil, haliverol P. D.), अडेक्सालिन (Adexolin), वाइमीन (Wimin) आदि प्रारम्भ के ३–६ सप्ताह पर्यन्त त्रि. प्र. दि. तत्पश्चात शनैः शनैः औषधि कम कर ए. प्र. दि. अनेक मास तक देना चाहिये। निम्न पदार्थ **प्रयोग नहीं करना चाहिये**:—टमाटर (Tomato) स्ट्रावेरी (Strawberri), पालक, रेवाचिनी (Rhubarb), चाय, कोको, नमक, मसाला, तरबूज, आनानास, गाजर, खीरा, मुनक्का, किशमिश, बदाम, अंजीर, चुकन्दर, जैतून (Olives), चेरी आदि। **उपसर्ग** की उपयुक्त चिकित्सा करें। कैलसियम (Cal) का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

अश्मरी की आयुर्वेदिक चिकित्सा

इसकी चिकित्सा दोषबलानुसार मूत्रकृच्छ्र के समान करनी चाहिये। आवश्यकतानुसार सेंक, स्वेदन, अवगाहन, लेप व उत्तरवस्ति कराना चाहिए। इसके लिये क्षार विशेषकर अपामार्ग क्षार (२–८ र.) बहुत उपयोगी है। यथा :—मधुना च यवक्षारं मूत्रकृच्छ्राश्मरीहरम्। वरुण व असन की छाल का प्रयोग भी उत्तम है। यदि वस्ति में मूत्र हो तो स्वेदन के बाद यवक्षार या पाषाणभेद का लेप करे। पथ्यार्थ तृणपचकादि एवं गोखरू साधित क्षीर हितकर हैं। दशमूल गोखरू, ताल मखाना, एरंड, दोनों कटेरी दूध में पीसकर दही शकर मिलाकर अश्मरी भेदन के लिए ७ दिन पीवे। अश्मरी जनित मूत्रकृच्छ्र में भेदन औषधियों के साथ पातन का उपाय भी करना

चाहिये, एतदर्थ सुरा पिलाकर रथ, घोड़ा आदि शीघ्रयान से चलाना चाहिये।

औषधियाँ :—वरुणादिक्वाथ, अपामार्ग क्वाथ, गोक्षुरादि क्वाथ, कुलत्थ क्वाथ, पाषाणभेदादि चूर्ण, यवक्षार, तिलक्षार, पलाशक्षार, अपामार्ग क्षार, चन्द्रकला रस, मूत्रकृच्छ्रान्तक रस, पाषाणवज्र रस, चन्द्रप्रभा वटी, गोक्षुरादि गुग्गुल।

वृक्कशूल (Renal colic)

परिचय :—गवीनी (Ureter) मे अश्मरी आदि शल्य (F. B.) प्रवेश करने से एक ओर के कटि प्रदेश (Lumbar) में अकस्मात तीव्र वेदना प्रारम्भ होकर जननेन्द्रिय की ओर संवाहित होती है। कभी कभी यह पीड़ा संवहन के कारण स्वस्थ वृक्क मे प्रतीत होती है। बहुमूत्रता, वमन, स्तब्धता (Shock), अत्यधिक पसीना, कम्प तथा निपात (Collapse) आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा :—(क) **शूल के समय** :—कटिप्रदेश (Lumbar) पर गरम पानी की बोतल से सेंकना चाहिये। एन्टीफ्लेमिन (Antiflamin) लगाने या गरम पानी मे बैठने (Sitz bath) या गरम पानी मे तौलिया भिगोकर **सेंकने** से लाभ होता है। पीड़ा के लिए मौरफीन (यो. १११) का अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से इन्जेक्शन सर्वोत्तम है। शूल की चिकित्सा में निम्न औषधियाँ प्रयोग की जाती हैं। टिः बेलाडोना (Tr : belladonna) मि. ८ प्रति दो घण्टे पर देना चाहिए। ट्रिनीट्रिनी (Tab : trinitrini) की ग्रे. १/१०० की गोली, स्पैस्मोसिबालजिन (Spasmocibalgin), ट्रासेन्टीन (Trasentin), पेथिडीन (Pethidine) ५०–१०० मि. ग्रा. या फाइसेप्टौन (Physeptone) ५–१० मि. ग्रा. की गोली दे सकते है। अन्तिम तीनो औषधियो का इन्जेक्शन भी लगा सकते है। रोगी को वमन कराने तथा उदर सेंकने से सुख प्राप्त होता है। मौरफीन के स्थान पर मेपरिडीन हाइड्रोक्लोर (Meperidine hydro, dolantin, demerol) ग्रे. १½ पेशी (I. M.), सिरा (I. V.) या मुख द्वारा दे सकते हैं। ये औषधियाँ चार घण्टे के पश्चात पुनः दे सकते हैं। क्लोरोफौर्म (Chloroform) सूँघने से भी लाभ होता है। टि. बेलाडोना (Tr : belladonna) प्र. चार घण्टे देने से छोटी अश्मरी निकलने मे सहायता

मिलती है परन्तु औषधि तब तक देना चाहिये जब तक कनीनिकाओं (Pupils) का विस्फार (Dilatation) न हो जाय। कनीनिकाओं का विस्फार हो जाने पर औषधि स्थगित कर जल ४–६ पा. एक बार में पीने को देना चाहिये। वृक्कशूल के पश्चात **मूत्रसंचय** कर देखना चाहिये कि अश्मरी का परित्याग हुआ या नहीं। यूकोडौल (Eukodal), यूपाको (Eupaco), अग्न्याशय सत्व (Depropane S. D.) सी. सी. ३ पेशीमार्ग (I.M.) से देने से भी पीड़ा कम होती। १२ वें औरस तथा प्रथम कटि कशेरुक (१२T, १L vert) के समीप त्वचा में नोवोकेन (Novocaine) २ प्र. श. २–४ सी. सी. इन्जेक्शन लगाने से भी पीड़ा मे लाभ होता है। वृक्कशूल ठीक हो जाने के पश्चात कई दिन तक कटिप्रदेश में मन्द-मन्द पीड़ा रहती है। इसके लिये रोगी को पर्याप्त मात्रा मे जल तथा बार्ली का जल पीने को देना चाहिये, मूत्र की प्रतिक्रिया (Reaction) का परिवर्तन करना चाहिये तथा शामक (यो. २२, २७) औषधि के साथ टि. बेलाडोना (Tr : belladonna) मि. ८ त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये।

(ख) **शूल के पश्चात** :—रोग के निश्चित **निदान** तथा रोग का **कारण** जानने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये मूत्र-संस्थान की **क्ष-किरण, X-ray) परीक्षा** के अतिरिक्त **रक्त में** कैलसियम तथा फौसफोरस (Serum Cal : & Ph :) की मात्रा का पता लगाना चाहिये। इससे परम उपावटुकाग्रथिकता (Hyper-parathyroidism) की संभावना का ज्ञान होता है। **मूत्र परीक्षा** द्वारा उपसर्ग (Ifn), रक्तकण (R.B.C.) श्वेतकण (W. B. C.), स्फटिक (Crystals) आदि का पता लगाना चाहिये। उपसर्ग रहने पर या मूत्र के मार्ग मे रुकावट रहने पर या मूत्र में यूरेट (Urate), फौसफेट (Ph), आक्सैलेट (Oxalate) आदि के स्फटिक रहने पर या परमावटुकाग्रन्थिकता (Hyper thyroidism) की सम्भावना रहने पर इन अवस्थाओं की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। ये सब अवस्थायें अश्मरी के निर्माण मे सहायक होती है। अश्मरी के रोगी को यदि अमूत्रता (Anuria) न हो तब सर्वदा अत्यधिक मात्रा मे **जल** पा. ४–६ प्र. दि. पीना चाहिए। जल या बार्ली का जल पीते रहने से मूत्र का प्रवाह होता है तथा मूत्र-संस्थान मे स्फटिक (Crystals) नहीं बन

पाते। यदि अश्मरी कुछ समय पश्चात मूत्र-संस्थान से निकल न जाय अथवा गवीनी (Ureter) में फस जाय तब शल्यकर्म (Op) द्वारा अश्मरी को निकाल देना चाहिए। गवीनी में अश्मरी अधिक दिन रह जाने से औदक-वृक्कोत्कर्ष (Hydronephrosis) होने की सम्भावना रहती है। वृक्का-श्मरी मे मूत्र मे स्फटिक के अनुकूल **आहार** देना चाहिये। सिद्धान्ततः इस अवस्था मे मासाहारी भोजन नही प्रयोग करना ही उत्तम है। कब्ज की उप-युक्त चिकित्सा करनी चाहिये। शरीर को अधिक हिलाना नहीं चाहिए। घोड़े की सवारी, ऊर्चा-नीची सड़क पर साइकिल पर चढ़ना आदि बचाना चाहिये। कभी कभी अश्मरी बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये ही मूत्र-सस्थान के वाहर निकल जाती है।

द्वादश अध्याय

विविध

संधिशोथ

संधिशोथ (Arthritis) की वाह्य चिकित्सा

परिचय :—संधि शोथ की वाह्य चिकित्सा सफल होने के लिये रोगी का सहयोग आवश्यक है। साधारण उपचार से लाभ होता यदि प्रतीत न हो तब इस विषय के विशेषज्ञ की राय लेनी चाहिए। वाह्यचिकित्सा मे विश्राम, परिश्रम मालिश, विद्युत चिकित्सा, सेंक आदि क्रियायें का जाती हैं। रोगी की प्रकृति तथा रोग की अवस्था के अनुसार प्रत्येक रोगी मे इन भिन्न-भिन्न क्रियाओं का समय निर्धारित करना चाहिये। मुख्यतः संधिशोथ दो प्रकार के होते हैं :— (१) आमवाताभ (Rheumatoid, तथा पूयज (Septic) सधिशोथ मे संधि के गतिहीन (Ankylose) हो जाने की सम्भावना रहती है। (२) वातरक्त (Gout) तथा सध्यास्थिशोथ (Osteoarthritis) आदि मे संधि के गतिहीन होने की सम्भावना प्रायः नहीं होती। जिन रागो मे सधि का गतिहीन होना अनिवार्य प्रतीत हो उनमें सधि को इस प्रकार रखना चाहिये जिसमे संधि के गतिहीन होने के पश्चात् भी जितना अधिक उससे कार्य लिया जा सके उतना अच्छा है। जिन रोगो मे इस विकृति के होने की सम्भावना हो उनमे जितना शीघ्र हो सके सधि को हिलाने-डुलाने का प्रयत्न करना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था मे यह क्रिया चिकित्सक को स्वय कम से कम ए०प्र०दि० करनी चाहिये। तीव्र अवस्था ठीक हो जाने के पश्चात् रोगी को स्वयं सधि को गतिशील करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिन रोगों मे सधि के गतिहीन होने की सम्भावना रहती है उनमे रोगी को शैय्या पर विश्राम कराने से अनेक प्रकार की **वक्रतायें** होने की सम्भावना रहती है। इस विकृति को बचाना चाहिये।

विधि :—सधिशोथ की तीव्र अवस्था मे **विश्राम** प्रायः आवश्यक होता है। स्कन्ध (Shoulder) तथा पृष्ठवंश (Spine) की विकृति मे रोगी को चोकी पर बिना तकियों के लिटाना चाहिये। विश्राम से सधियो के आकुंचित (Flex) होने की सम्भावना रहती है। इस विकृति को रोकने के लिय कुशा (Splint) आदि का प्रयोग करना चाहिये। विश्राम के समय भी कम से

कम ए० प्र० दि० संधि को आकुंचित तथा प्रसारित (Extend) करना चाहिये। यदि संधि का गतिहीन होना अनिवार्य प्रतीत हो तब जानु (Knee) तथा नितम्ब (Hip) को प्रसारित रखना चाहिये। गुल्फ (Ankle) को समकोण (Rt:angle) मे और कूर्पर (Elbow) तथा स्कन्ध को समकोण से थोड़ा कम रखना चाहिये। मणिबन्ध (Wrist) को थोड़ा ऊपर की ओर उठाकर (Dorsiflexon) तथा हाथ की अँगुलियों को थोड़ा आकुंचित रखना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था मे कमी होने पर **व्यायाम** की आवश्यकता पड़ती है। विकृत संधि से इतना ही परिश्रम करना चाहिये जितना रोगी सह सके। व्यायाम के परिणामस्वरूप संधि मे पीड़ा तथा पेशियों मे उद्वेष्ठन (Spasm) नहीं होना चाहिये। प्रारम्भ मे चिकित्सक को स्वयं विकृत संधि को आकुंचित तथा प्रसारित करना चाहिये। तत्पश्चात् रोगी को स्वय यह क्रिया करनी चाहिये। संधि के कार्य मे शनैः शनैः वृद्धि करना चाहिये। सन्धि से कार्य लेते रहने से सन्धि गतिहीन नहीं होती, वक्रता तथा पेशीशोष (Atrophy) नहीं हो पाता। स्वस्थ जीवन के लिये व्यायाम अनिवार्य है। **व्यायाम** की अनेक विधियाँ हैं। प्राणायाम से मल्लयुद्ध तक किया जा सकता है। व्यायाम के साथ-साथ मनोरंजन होना अधिक लाभदायक है। शैय्या पर पड़े पड़े हाथ पैर हिलाना, घुटनों को बिना मोड़े पैर के अंगूठे छूना, शरीर को आगे पीछे तथा दोनों पार्श्व मे झुकाना, शीर्षासन करना, बोझ उठाना, टहलना, तैरना, नौका चलाना, डम्बल (Dumbbell) करना, बगीचा लगाना, चेहरे से घुटना छूना, ठुड्डी से वक्ष छूना, सिढ़ी पर चढ़ना, बाइसिकिल चलाना, सीना-परोना, बढ़ईगिरी, मिट्टी, लकड़ी आदि के खिलौने बनाना, पेरेलेलबार (Parallel bar), होरिजोन्टलबार (Horizontal bar), स्केटिंग (Skating), टेबलटेनिस (Table tennis), टेनिस, पियानो (Piano), इसराज, तबला आदि बजाना, कपड़ा बीनना, चित्रकला, टाइप करना, (Typing), घोड़े पर चढ़ना, पर्वतारोहण आदि। रोगी को अपनी आवश्यकता तथा रुचि के अनुकूल व्यायाम करना चाहिये। विकृत स्थान को अनेक प्रकार से **मालिश** किया जाता है। चिकित्सा के प्रारम्भ मे और प्रत्येक बार मालिश के प्रारम्भ तथा अन्त मे धीरे धीरे मुक्की लगाना चाहिये। इससे आराम मिलता है तथा नींद आती है। मृदु मालिश से लाभ होने पर पेशियों को दबाना, यन्त्र (Elect-

ric vibrator) से कंपाना, ठोंकना, ऐंठना, अँगुलियो को खींचना आदि क्रियायें की जाती है। मालिश सर्वदा नीचे से ऊपर की ओर करना चाहिये जिससे रक्त को सिराओ द्वारा हृदय की ओर जाने मे मदद मिले। मालिश करने से रक्त तथा लस (Lymph) का प्रवाह बढता है, परिसरीय वातनाड़ियो को सुख मिलता है मन को शान्ति मिलती है, निद्रा आती है तथा कार्य करने की शक्ति बढ़ती है। अत्यन्त दुर्बल रोगी मे, तीव्र ज्वर के समय, हृदय तथा वृक्क के गम्भीर रोग मे,त्वचा के रोग, धमनीजरठता (Arteriosclerosis) आदि मे मालिश नही करना चाहिये। मालिश थोड़े समय ही करना चाहिये। इतनी देर तक अथवा इतने जोर से मालिश नही करना चाहिये कि रोगी को कष्ट या थकावट हो। मालिश करते समय त्वचा पर तेल, पाउडर आदि लगाने से मालिश मे आसानी होती है। मालिश करने वाले का हाथ रोगी की त्वचा से ऊपर नहीं उठना चाहिये। रोगी तथा मालिश करने वाले को आराम से बैठना चाहिये। पेशियों का शिथिल रहना आवश्यक है। मालिश करने वाले का हाथ मुलायम तथा चिकना होना चाहिए। सधि, पेशी, कलापुटक (Bursa), स्नायु (Tendon), कला (Fascia) आदि के रोग, संधिविश्लेप (Dislocation), अस्थिभग्न (Fracture) आदि मे मालिश करने से लाभ होता है। मालिश से वजन में कमी नहीं होती तथा यह व्यायाम का स्थान नही ले सकता। मालिश तथा व्यायाम का अपना अपना महत्व है।

सधियो के रोगो की चिकित्सा मे रोगी की प्रवृत्ति के अनुसार **गरम** अथवा **शीतल** दोनों प्रकार की औषधियाँ विकृत स्थान पर लगाई जाती है। कभी-कभी विकृत स्थान को क्रम से बार-बार गरम तथा शीतल जल मे रखने से लाभ होता है। विकृत भाग को **सेंकने** से पीड़ा तथा ऐंठन मे कमी होती है। संधि, पेशी, स्नायु आदि के रोगो मे सेंकना लाभप्रद हैं। सेकने की अनेक विधियाँ हैं जैसे:—गरम पानी से सेकना, गरम पानी की बोतल रखना, एक बाल्टी गरम पानी मे लवण या मैगसल्फ (Mag;sulph) औ.४ मिलाकर विकृत भाग को डुबाना, गरम पानी मे तौलिया डुबाकर, निचोड़कर सेंकना, सूखी रूई गरम कर सेंकना, तीसी आदि की पुल्टिस लगाना, बिजली के यत्र (Electric pad,heater) से सेकना,गरम ईंट से सेंकना,अवररक्त किरण (I.R.ray), अतस्तापन (Diathermy), धूप मे बैठना, गरम भाप वाले कमरे में

बैठना, विकृत भाग के चारो ओर बिजली के लट्टू (Bulb) लगाकर कम्बल से ढकना, वेसलीन गरम कर उसमें विकृत भाग को अनेक बार डुबाकर तुरन्त निकालना, विकृत संधि पर १५–२० मिनट के लिए गरम वेसलीन (Vaseline) लगाना, गरम जल मे बैठना आदि क्रियायें की जाती हैं।

संज्ञाहीन (Anaesthetic) त्वचा पर, मधुमेह (Diabetes) में, परिसरीय (Peripheral) रक्तवाहिनियो (B. V.) के रोगो में तथा जिस रोगी को सेकने से सुख नही मिलता उसको सेंकना नहीं चाहिये। ज्वर, हृद्रोग, त्वचा पर व्यापक रोग रहने पर, दुर्बलता तथा वृद्धावस्था में भाप आदि के द्वारा व्यापक रूप से समस्त शरीर को सेंकना नहीं चाहिये। व्यापक रूप से सेंकने के पश्चात शीत लगने का भय रहता है। घातक अर्बुद (Malignant disease) तथा गर्भावस्था मे ६-७ मास के पश्चात अन्तस्तापन (Diathermy) नही करना चाहिये।

प्रातःकाल धूप मे बैठने से शरीर को बल प्राप्त होता है, गरमी तथा लोहितातीतकिरण (U. V. Ray) मिलती है। आँख पर रंगीन चश्मा (Goggles) लगाकर धूप में बैठना चाहिये अन्यथा लोहितातीत किरण के कारण नेत्र में विकृति हो सकती है। अवरक्त किरण (I.R. Ray) का यंत्र शरीरसे १½ फिट पर रहना चाहिये। ½ घं. कर द्वि. प्र. दि. इस रश्मि से सेंक सकते हैं। सेंकते समय रोगी को आराम से बैठना चाहिये। सेंकने वाले पदार्थ या यंत्र का ताप तथा सेंकने का समय शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये। सेंकने के पश्चात रोगी को वस्त्र से ढक देना चाहिये।

किसी किसी रोगी को सेंकने से सुख नहीं मिलता, इन रोगियों को **शीतल** जल में तौलिया भिगाकर विकृत स्थान पर लगाना चाहिये। चिरकालीन अवस्था में दो बाल्टी पानी मे नमक मिलाकर रखना चाहिये। एक बाल्टी का पानी गरम तथा दूसरे का ठंडा होना चाहिये। अब रोगी को पारी पारी दोनों बाल्टी में विकृत भाग को १ मिनट कर १५–२० बार रखना चाहिये। चिकित्सा के प्रारम्भ तथा अंत मे गरम पानी में विकृत भाग रहना चाहिये। यह क्रिया वृद्धावस्था में अथवा अत्यन्त दुर्बल रोगी मे नही करना चाहिये।

वातरक्त (Gout)

परिचय :—किसी अज्ञात कारण से इस रोग मे संधि मे, संधि के चारो ओर तथा शरीर के किसी भी भाग के मृदु तन्तुओं (Soft tissues) में

सोडियम यूरेट (Sodi: urate) संचय होता है । रोगी को बार बार रोग का उद्वेग होता है । उद्वेग के समय ज्वर तथा संधियों मे तीव्र शोथ होता है। प्रारम्भ मे त्वचा में विशेष परिवर्तन नहीं होता । जीर्ण होने पर संधि के ऊपर की त्वचा चमकीली होती है और उसका शोष (Atrophy) होता है। उद्वेगों के मध्य की अवधि में रोगी पूर्ण रूप से लक्षणरहित रहता है। त्वचा के नीचे यूरेट सचय होने स **वाताश्म** (Tophi) की उत्पत्ति होती है। शरीर के भिन्न भागो मे वाताश्म (Tophi) का मिलना तथा संधिशोथ के उद्वेगो के मध्य की अवधि मे रोगी का पूर्ण रूप से लक्षणरहित होना **निदान** की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रमाण हैं। संधि की **क्ष-किरण** (X Ray) परीक्षा में प्रारम्भ मे कोई परिवर्तन नहीं मिलता । रोग जीर्ण होने पर सधि मे निच्छिद्रिताकृति (Punched out appearance) मिलती है। **रक्त** मे यूरिक एसिड (Uric acid) की मात्रा अधिक रहती है और उद्वेग के समय इसकी मात्रा और भी अधिक हो जाती है। **मूत्र** मे यूरेट (Urate) के स्फटिक (Crystals) मिलते हैं। विकृति एक या अनेक तथा किसी भी संधि मे हो सकती है विशेषकर पैर के अगूठे की प्रथम (Proximal) संधि मे विकृति होती है।

चिकित्सा (१) साधारण :—निरामिष भोजन, कब्ज पर विशेष ध्यान तथा विशेष जलस्रोत (Spring) के जल का सेवन लाभप्रद है। मद्यपान निषिद्ध है। उद्वेग के समय विश्राम करना चाहिये। चिकित्सा के प्रारम्भ में कैलामेल (Calomel) ग्रे. २ रात्रि मे तथा मैगसल्फ डा० ४ दूसरे दिन प्रातःकाल देना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था पूर्णरूप से ठीक हो जाने के दो दिन पश्चात तक रोगी को शैय्या पर विश्राम करना चाहिये। सधि पर रोगी की प्रवृत्ति के अनुसार शीतल या गरम औषधियाँ लगाने से पीड़ा कम होती है। शीतल औषधियों मे गुलार्ड का घोल (Goulard's lotion) तथा ४ औ. शीतल जल मे मैगसल्फ (Mag:sulph) औं. १–२ मिलाकर लगाना चाहिए। रोग की तीव्र अवस्था में प्रायः शीतल औषधि लगाने से पीडा शीघ्रता से कम होती है। जिन रोगियो को शीतल औषधियो से सुख नहीं मिलता वे विकृत संधि पर सरसो का तेल ड्र.१ गरम कर उसमे लि.ए.बी.सी. (Lt : A. B. C.), लि. स्लोन (Sloan's liniment), एलिमान एम्ब्रोकेशन (Eliman's embrocation), गुलथेरिया का तेल

(Ol. gultharia) आदि च० २ मिलाकर लगा सकते हैं। पारद की
मलहम (Ung : hydrargri : co), थरमोर्जीन (Thermogene)
रूई आदि लगाने से भी विकृत सन्धि मे गर्मी पहुँचती है। **पीड़ा** के लिये
पीड़ाहर (Analgesic) औषधियों का प्रयोग कर सकते हैं। सिबाल्जिन
(Cibalgin), कोडीन (यो. ६२), एस्पीरीन (Aspirin) आदि
का प्रयोग कर सकते हैं। रोग की विशिष्ट औषधि की पर्याप्त मात्रा जब शरीर
मे पहुँच जाती है तब इन पीड़ाहर औषधियों की आवश्यकता नही पड़ती।
अरगापायरीन (Ergapyrine) की गो. १ द्वि. प्र. दि. या १–५ सी. सी.
पेशीमार्ग (I. M.) से देने से भी पीड़ा मे स्थायी लाभ होता है। अफीम
तथा सिनकोफेन के योग (Cinchophen, atophan, neo cin-
chophen) आदि प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रथम औषधि के अभ्यास
पड़ने का भय रहता है तथा द्वितीय औषधि विपाक्त है। रोगी को तीव्र अवस्था
मे ज्वर की अवधि पर्यन्त तरल **आहार** (पृ. ४) का सेवन करना चाहिये।

(२) **विशिष्ट औषधियाँ :—कोलचिकम** (Colchicum) के
योग का इस रोग पर विशिष्ट प्रभाव है। इन औषधियों को तब तक प्रयोग
करना चाहिये जब तक पीड़ा शान्त न हो जाय अथवा मिचली, वमन, पतले
दस्त आदि होने न लगे। ये लक्षण होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये।
इन औषधियो को पर्याप्त मात्रा मे देने से प्रायः तीन दिन के अन्दर पीड़ा
तथा सन्धिशोथ ठीक हो जाता है। कोलचिकम के दो योग प्रयोग किये जाते
हैं। कोलचीसीन (Colchicine) ग्रे. १/६० प्र. २ घं. देना चाहिये।
६ मात्रा से अधिक नही देना चाहिये। टि. कोलचिकम (प. पृ. २२) मि. १५
प्र. चा. घं. दे सकते हैं। इनसे लाभ न होने पर **कौरटीसोन** (Corti-
sone) **या एसीटीएच** (ACTH) दे सकते है। इन औषधियो को
कोलचीकम के साथ भी दे सकते हैं। रोग की तीव्र अवस्था मे इनसे तत्काल
लाभ होता है।

(३) **उद्वेगो के मध्य की अवधि में :—**मद्य का प्रयोग नहीं करना
चाहिए। कब्ज होना ठीक नही है। इसके लिए रेड़ी का तेल (Ol. recini)
का नियमपूर्वक सेवन करना चाहिये। सन्धिशोथ मे इस औषधि का विशेष
महत्व है। रेड़ी का तेल ड्रा. १–२ ए. प्र. दि. लेना चाहिये। **भोजन** में
वसा (Fat) तथा प्यूरिन की मात्रा कम होनी चाहिये। अधिक मात्रा मे

वसा का प्रयोग करने से शरीर से यूरेट (Urate) का परित्याग कम हो जाता है। प्यूरीन (Purine) प्रधान आहार (पृ. ६) प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्र. दि. पा. ६ की मात्रा में जल पीना चाहिये। अधिक जल पीने से वृक्क में अश्मरी (Stone) बनने की सम्भावना कम होती है। मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) रहने से भी अश्मरी नहीं बन पाती। इसलिये सोडी साइट्रस (Sodi : cit :) या सोडी लैक्टेट (Sodi : lactate) ड्रा. १ त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। चिरकालीन अवस्था मे कोलचिकम (Colchicum) के प्रयोग से विशेष लाभ नहीं होता। **सोडी-सैलिसिलस** (यो. २८) ग्रे. २० त्रि. या चा. प्र. दि. देने से यूरेट (Urate) के शरीर से परित्याग कराने मे सहायता मिलती है। इस औषधि का ३ दिन प्र. स. निरन्तर लेना चाहिये। इसके प्रयोग से रक्त में युरेट की मात्रा कम हो जाती है तथा रोग का बार-बार उद्वेग नहीं हो पाता परन्तु कुछ मास प्रयोग करने के पश्चात वह औषधि भी प्रभावनहीन हो जाती है। रोग जब अतिजीर्ण हो जाता है तब सन्धियों मे स्थायीरूप से विकृति हो जाती है और इसकी चिकित्सा निराशाप्रद है।

आमवाताभ संधिशोथ (Rheumatoid arthritis)

परिचय :—इस चिरकालीन रोग में संधिशोथ के अतिरिक्त शरीर में व्यापक विकृति होती है। संधि, (Jts), पेशि, अस्थिमज्जा (Bone marrow), यकृत, प्लीहा, वृक्क, नेत्र, वातनाड़ी-सस्थान (CNS), पचन-संस्थान, लसग्रन्थियाँ (Lymph glands), हृदयावरण (Pericardium) सयोजक धातु (Connective tissue) आदि मे विकृति हो सकती है। इसके अतिरिक्त ज्वर, दौर्बल्य, क्षुधा मे कमी, पेशियों मे पीड़ा, वजन मे कमी, रक्ताल्पता, शीघ्रहृदयता (Tachycardia), प्रकप (Tremor), फुफ्फुसावरणशोथ (Pleurisy), अधिक पसीना आदि लक्षण होते है। रोग का कारण अज्ञात है। विकृति एक या अनेक संधियो मे हो सकती है। सधि के चारो ओर शोफ होता है। सधि गतिहीन (Ankylosis) तथा कार्यहीन हो जाती है। परिणामस्वरूप व्यंगता (Deformity) तथा वक्रता होती है। रोग प्रायः निर्धन स्त्रियो मे होता है। कभी-कभी लसग्रथियो की व्यापक वृद्धि या तारामडलशोथ (Iritis) हो सकता है। साधारणतः

अनेक संधियों में विकृति होती है। केवल एक संधि में विकृति होना विरल है। **पृष्ठवंश** (Spine) मे विकृति होने पर प्रायः अन्य संधियों में विकृति नहीं होती। इस अवस्था मे पीठ के नीचे के भाग मे बार बार पीड़ा होती है। पृष्ठवंश अनम्य (Rigid) तथा गतिहीन हो जाता है। यह अनम्यता वर्धन-शील होती है। श्वास लेते समय वक्ष पूरी तरह फूल नहीं सकता। रोग की **तीव्र अवस्था** मे कंप के साथ तीव्र ज्वर होता है और रोगी की मृत्यु हो सकती है। रोग की यह अवस्था विरल है।

निदान :—रोग का सापेक्ष (D. D.) निदान तालिका में देखिये। संधियों की विकृति प्रायः दोनो पार्श्व की समसंधियों (Symmetrical) में मिलती है। विकृति विशेषकर हाथ की अगुलियों की प्रथम (Proxi-mal) संधि में होती है और शरीर के मध्यभाग (Centripetal) की संधियों की दिशा मे प्रगति करती है। **क्ष-किरण परीक्षा से प्रारम्भ** में अस्थियों मे व्यापक रूप से कैलसियम की कमी (Decalcification) तथा संधियो मे स्राव (Secretion) का प्रमाण मिलता है। रोग **जीर्ण** हो जाने पर संधि से सम्बन्धित अस्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संधि के अंदर का स्थान छोटा हो जाता है तथा संधि गतिहीन हो जाती है। संधि पर की त्वचा चम-कीली होती है तथा उसका शोष (Atrophy) होता है। पृष्ठवंश (Spi-ne) मे विकृति होने पर पृष्ठवश से सम्बन्धित स्नायुओं (Ligaments) में कैलसियम संचय (Calcification) होता है।

चिकित्सा। (१) **साधारण** :—इस रोग की चिकित्सा में संधि को पूर्ण विश्राम देने से संधि के गतिहीन (Ankylosis) होने का भय रहता है। साधारण गति से भी सधि मे कष्ट होता है। रोग की चिरकालीन अवस्था में धीरे धीरे मालिश करने से लाभ हो सकता है। **भोजन** मे जीवतिक्तियो (Vit:) की मात्रा अधिक तथा प्रोटीन (Ptn) की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिये। भोजन पौष्टिक, साधारण तथा सरलता से पचनेवाला होना चाहिये। रोग के **कारण** का पता लगाना चाहिये तथा निवारण करना चाहिये। रोगी के निवास स्थान मे यदि अस्वास्थ्यकर वातावरण हो तब रोगी को स्वास्थ्यकर स्थान मे रखने का प्रबन्ध करना चाहिये। दात, कण्ठ, तुण्डिका (Tonsil) आदि में उपसर्ग (Ifn) रहने की संभावना रहती है। इन स्थानों की परीक्षा कर यदि उपसर्ग मिले तो उसको दूर करना चाहिये। चिन्ता, द्वेष आदि

मनोवैज्ञानिक (Psy) अवस्थाओं से भी रोग का सम्बन्ध है। इनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। विश्राम तथा परिश्रम का समय निर्धारित कर देना चाहिये। रोग की तीव्र अवस्था में शैय्या पर **विश्राम** करना चाहिये। चिरकालीन अवस्था मे रात्रि में १२ घंटे तथा दिन मे २ घटे भो. प. विश्राम करना चाहिये। पूर्ण विश्राम की अवधि मे भी सधि को थोड़ा हिलाना चाहिये अन्यथा सधियों के गतिहीन (Ankylosis) हो जाने का भय रहता है। सधियों का गतिहीन होना यदि अनिवार्य प्रतीत हो तब सधि को इस प्रकार रखना चाहिये जिसमें संधि के गतिहीन हो जाने के पश्चात जहाँ तक संभव हो संधि से काम लिया जा सके। शैय्या पर हाथ पैर हिलाते रहने से तथा पार्श्व बदलते रहने से शैय्याव्रण (Bedsore), अधोसंचयी रक्ताधिक्य (Hypostatic congestion) आदि अनेक उपद्रव नहीं होते। रोगी यदि चलता फिरता हो तब उसके व्यायाम का समय तथा विधि निर्धारित कर देना चाहिये। रोगी को आश्वासन देना चाहिये। मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा से लाभ होता है। विकृत संधि को गरम तेल या लि. ए. बी. सी. (Lt: A. B. C) से मालिश करना चाहिये, सेकना चाहिये तथा आ. अ. उसको कुशा (Splint) मे रखना चाहिये। **क्ष-किरण** (X-ray) चिकित्सा से प्रायः लाभ नहीं होता, केवल पृष्ठवंश (Spine) की विकृति मे इससे लाभ हो सकता है।

(२) **विशिष्ट औषधियाँ** :—साधारण चिकित्सा से लाभ न होने पर रोग की तीव्र अवस्था मे **सुवर्ण** (Gold) के योग दे सकते हैं। परिणाम अनिश्चित हैं। पृष्ठवश (Spine) की विकृति मे लाभ हो सकता है। अन्य संधियों की विकृति मे लाभ होने की संभावना नहीं रहती। इसका इन्जेक्शन ए. प्र. स. से अधिक नहीं देना चाहिये। एक चिकित्सा क्रम मे ०·५–२ ग्रा. से अधिक नहीं देना चाहिये। इसके पश्चात ६ मास तक औषधि बन्द रखना चाहिये। तत्पश्चात एक बार पुनः इसका प्रयोग कर सकते हैं। रोगी को लाभ होने पर अथवा विषाक्तता के लक्षण होने पर औषधि बन्द कर देना चाहिये। **कोरटीसोन** (Cortisone) के प्रयोग से अस्थायी लाभ होता है। प्रारम्भ मे रोगी का कष्ट शीघ्रता से कम हो जाता है। औषधि बन्द करने पर कुछ दिन तक रोगी ठीक रहता है, तत्पश्चात रोग का पुनरागमन होता है। रोग की तीव्र अवस्था में ही इसको देना चाहिये। औषधि प्रारम्भ

करने के दो दिन के अन्दर पीड़ा कम हो जाती है। अन्य लक्षणों के ठीक होने मे समय लगता है। इस औषधि को मुख मे मि.ग्रा. २५–१०० त्रि.प्र.दि. देना चाहिये। लाभ हो जाने पर औषधि की मात्रा शनैः शनैः कमकर मि. ग्रा. ५० द्वि. प्र. स. कर देना चाहिये। एक चिकित्साक्रम मे ग्रा. ४ तक औषधि दे सकते है। १½ मास औषधि देने के पश्चात १–२ मास औषधि बन्द कर पुनः प्रयोग कर सकते है। **ए. सी. टी. एच.** (ACTH) को पेशीमार्ग (I. M.) से दिया जाता है। जीवतिक्ति सी (Vit: C), डोक (DOCA) प्रेगनेनोलोन (Pregnenolone) आदि औषधियाँ प्रायोगिक अवस्था में हैं। **कैलसियम** आयोडीन (Cal:iodine) सी. सी. ५ द्वि. प्र. स. सिरा से तथा **लूगोल** की **आयोडीन** (यो. ६७) मि. २–८ त्रि. प्र. दि. भो.प. दे सकते हैं।

(३) **लक्षणों की चिकित्सा** :–पीड़ा तथा निद्रा लाने के लिये पीडाहर तथा शामक (Sedative) औषधियाँ देना चाहिये। अफीम के योग देना ठीक नही है। **इरगापाइरीन** (Irgapyrine) की गो. १ द्वि. प्र. दि. मुख से या सी. सी. १–५ सिरा या पेशी से द्वि. प्र स. देने से पीड़ा कम ही है। फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. ⅙–½ त्रि. प्र. दि., एसपिरीन (यो. ६२) ग्रे. ५–१० त्रि.प्र.दि, सोडीसैलिसिलस (यो. २८) ग्रे. १० मे त्रि.प्र.दि आदि आ. अ. दे सकते हैं। **रक्ताल्पता** (Anaemia) के लिये लौह (Fe) के योग देना चहिये। **जीवतिक्तियों में 'डी'** (Vit: D.) का विशेष महत्व है। इसे १/४–१ ल. अं. इ. की मात्रा में द्वि. या त्रि. प्र. दि. देना चाहिये। **जीवतिक्तियों का मिश्रण** (Multi-vit) गो.१ द्वि.प्र.दि. दे।

सन्ध्यास्थि शोथ (Osteo-arthritis)

परिचय :—इस रोग मे पुरुषों मे मध्यावस्था के पश्चात् अनेक संधियों मे चिरकालीन तथा वर्धनशील अपजनन (Degeneration) होता है। पृष्ठवंश (Spine) के अतिरिक्त अन्य सन्धियाँ गतिहीन (Ankylose) नहीं होती। विकृति प्रायः बड़ी सन्धियों मे होती है। हाथ की अगुलियो की अन्तिम (Distal) सन्धियो मे भी विकृति होती है। **क्ष-किरण** (X-ray) परीक्षा से सन्धि में अस्थि के टुकड़े (Melon seed) मिलना, संधियो की अस्थियो के **अग्र का मोटा तथा नोकदार** (Lipping) होना, सन्धि के अवकाश (Space) का कम होना तथा सन्धि हिलाने पर **कर्कराहट** (Crepit-

us) के समान शब्द होना, रोग के प्रधान लक्षण हैं। अस्थियों में ये सब परिवर्तन रोग के प्रारम्भ में नहीं मिलते। प्रातःकाल शैय्या से उठने पर या पृथ्वी पर बैठने के पश्चात् उठते समय प्रायः घुटनों (Knee) में पीड़ा होती है। थोड़ा चलने-फिरने पर पीड़ा कम हो जाती है। विश्राम करने से, सेंकने से तथा सन्धि को कुशा (Splint) द्वारा गतिहीन करने से भी पीड़ा कम होती है। चोट लगने से या अधिक परिश्रम करने से पीड़ा बढ़ती है। इस रोग में ज्वर आदि व्यापक (Constitutional) लक्षण प्रायः नहीं होते। अनेक प्रकार की वक्रता (Deformity) हो सकती है। पृष्ठवंश (Spine) में विकृति होने पर वातनाड़ियों पर दबाव पड़ने के कारण पीड़ा हो सकती है। विकृत सन्धि के चारों ओर शोफ (Oedema) होता है परन्तु सन्धि में स्राव नहीं संचय होता। **रोग विनिश्चिति** के लिये तालिका देखिये।

चिकित्सा :—(१) साधारण :—इस रोग की साधारण चिकित्सा आमवाताभ (Rheumatoid) सन्धिशोथ के समान है। इस रोग में सन्धि को पूर्ण **विश्राम** देने से सन्धि के गतिहीन होने की सम्भावना नहीं रहती। साधारण **व्यायाम** से सन्धि में तनाव कम होता है। **मालिश** करते समय अस्थि का वह भाग जिसकी अधिक वृद्धि हो गई है उस पर मालिश नहीं करना चाहिये। अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिये, इससे सन्धि में विकृति हो सकती है। विश्राम, निद्रा आदि का उपयुक्त प्रबन्ध करना चाहिये। इसका ध्यान रखना चाहिये कि वक्रता न होने पाये। इस रोग के रोगी प्रायः मोटे होते हैं। मोटे रोगियों का वजन कम करना आवश्यक है। इसके लिये **भोजन** में वसा (Fat) की मात्रा कम कर देना चाहिये। सन्धि पर लि. ए. बी. सी. (Lt : A. B. C.) आदि से मालिश करना चाहिये। आवश्यकता प्रतीत होने पर विकृत सन्धि को कुशा (Splint) में रख कर पूर्ण विश्राम दे सकते हैं।

(२) औषधियाँ :—पीड़ा के लिये पीड़ाहर (Analgesic) तथा शामक (Sedative) औषधियाँ दे सकते हैं। सोडी सेलिसिलस (Sodi salicylas) का प्रभाव अनिश्चित है। एसपिरीन (यो. ६२) से पीड़ा कम होती है। मोटे रोगी में तथा अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) के स्राव की कमी के लक्षण रहने पर अवटुकाग्रन्थि सत्व (Thyroid ext :) ग्रे. १/२–१ द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। मासिक धर्म बन्द होने समय यदि यह

रोग प्रारम्भ होता है तब स्टिलबेस्टरोल (Stilboesterol) या ओऐस्ट्रोजेन (Ostrogen) देने से लाभ होता है। सुवर्ण के योग देने से लाभ नहीं होता। क्ष-किरण (X ray) चिकित्सा का परिणाम अनिश्चित है।

उपदंश जन्य सन्धिशोथ (Gonococcal arthritis)

परिचय :—उपदंश के उपसर्ग मे यह विकृति उपद्रवस्वरूप होती है। विकृति क्रमानुसार प्रायः जानु (Knee), गुल्फ (Ankle), पैर की छोटी सन्धियो तथा मणिबन्ध (Wrist :) मे होती है। उपदंश की प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः सन्धि के चारो ओर (Periarticular) विकृति होती है। कुछ समय पश्चात् इन सन्धियों के अन्दर विकृति होती है। प्रारम्भ में विकृत सन्धि पीडाकर, शोफयुक्त (Oedematus), रक्तवर्ण तथा गरम रहती है। सन्धि मे पूयभवन (Suppuration) होता है तथा सन्धि के गतिहीन (Ankylosed) हो जाने की सम्भावना रहती है। तीव्र अवस्था मे कम्प (Rigor) के साथ ज्वर होता है। सन्धि के अतिरिक्त स्नायुओ (Tendon) तथा श्लेष्मपुटक (Bursa) मे भी विकृति हो सकती है।

निदान :—निदान की दृष्टि से उपदंश का **इतिहास** विशेष महत्वपूर्ण है। सन्धि से स्राव निकालकर उसका संवर्ध (Culture) करने पर यदि **गुह्यगोलाणु** (Gono) मिले तब रोग का यह निश्चित प्रमाण हैं परन्तु यह परीक्षा कठिन है तथा सर्वदा सम्भव नही है। रोग की तीव्र अवस्था मे जब जीवाणु रक्त मे (Bacteremia) रहते हैं उस समय रक्त का संवर्ध करने से कभी कभी जीवाणु मिल सकते है परन्तु इस परीक्षा से भी सर्वदा जीवाणु नही मिलते। रक्त मे श्वेतकणो (W. B. C.) की वृद्धि हो सकती है। सपूरक बन्धन कसौटी (Complement fixation test) का परिणाम अनिश्चत है। यह ध्यान रखना चाहिए कि अकसर उपदंशजन्य सन्धिशोथ के साथ साथ आमवाताभ (Rheumatoid) सन्धिशोथ भी रहता है। गुल्फ कण्डरा (Tendo-achillis) मे पीड़ा, गुल्फास्थि (Os calcis) मे अस्थ्यावरण शोथ (Periosteitis) तथा पैर का चिपटा (Flat foot) होना आदि लक्षण उपदंशजन्य सन्धिशोथ के निदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण लक्षण हैं।

चिकित्सा :—इस रोग की साधारण चिकित्सा अन्य सन्धिशोथ के समान है। बड़ी सन्धियों मे **पेनिसिलीन** 'जी' (P. G.) १००००-२५०००

ल. अं. इ. प्र. दि. प्रवेश कर सकते हैं। इस औषधि की १/४–१ ल. अं. इ. प्र. चा. घं. कर १० दिन तक पेशी (I. M.) मार्ग से देना चाहिये।

सन्धिशोथ की आयुर्वेदिक चिकित्सा

इस रोग में बलानुसार लंघन कराने के बाद स्नेहपान, स्वेदन व वस्ति दे। बीच बीच मे आवश्यकतानुसार एरण्डतैल से विरेचन भी कराना चाहिये। तिक्त, कटु व दीपन द्रव्यो का व्यवहार करें। चिकित्सा प्रमुखत: वातनाशक हो। पंचकोल सिद्ध अन्न व जल दे। आहार स्निग्ध, स्वादु, अम्ल, लवण रस वाला हो। यवमण्ड, दुग्धजल, मुद्गयूष, परवलयूष, अनाररस दे सकते हैं। शोथ के स्थान पर वातहर तैलो का मर्दन, नमक या वालुका आदि से स्वेदन होना चाहिये, बाद मे कवलिका बाँध देना चाहिए।

औषधियाँ :—रास्नादि क्वाथ १/२ तो., रसोनादि क्वाथ १–३ मा., वैश्वानर चूर्ण ३ मा., रसोनपिण्ड १/२ तो., योगराज गुग्गुल ४ र.–२ मा., सिंहनाद गुग्गुल ६ र.–६ मा., हिंगुलेश्वर रस १/२ र., आमवातारि रस ६ र.।

तैल :—प्रसारिणी तैल, महासैंधवादि तैल, पञ्चगुण तैल, महानारायण तैल, विषगर्भ तैल।

प्रयोग:–(१) योगराज गुग्गुल ४ व.
शु. कुपिलु ४ र.
मि. २ मात्रा प्रातः सायं उष्णोदक से।
(२) हृदयार्णव २ र.
शृंगभस्म २ र.
२ मा. अर्जुनचूर्ण व मधु से
(३) सिंहनाद गुग्गुल १ मा. रात्रि मे उष्णोदक से।
(४) अमरवल्ली, निर्गुण्डी, एरण्डपत्र कोष्ण उपनाह।

अपस्मार (Epilepsy)

(क) गुरु अपस्मार (Grand mal) **:—परिचय :—**इस अज्ञात कारणजन्य रोग मे चेतना तथा स्वतन्त्र वातनाड़ी संस्थान (Autonomic) में विकृति होती है और पेशियों मे अनैच्छिक (Involuntary) गतियाँ होती हैं। आवेग के समय आवेग का पूर्वरूप (Prodrumata), पूर्वग्रह (Aura), चीत्कार (Cry), मूर्छा आक्षेप (Convulsions) तथा तन्द्रा (Drowsiness) की अवस्थायें मिलती है। रोग प्रत्येक आयु मे मिलता है। आक्षेप एक स्थान से प्रारम्भ होकर सीमित रह सकते हैं अथवा अन्य स्थानों मे फैलकर व्यापक हो जाते हैं। रोग प्रत्येक आयु मे होता है।

निदान :—आक्षेप का इतिहास तथा लक्षणों पर निदान निर्भर करता है। आवेग के समय रोगी अपने को चोट पहुँचा सकता है। अपतन्त्रक (Hysteria) मे रोगी अपने को चोट नहीं पहुँचने देता। जैक्सन के अपस्मार (Jacksonian epilepsy) मे मूर्छा नहीं होती।

चिकित्सा । (१) **साधारण :—उद्वेग के समय** रोगी के दाँतों के बीच मे रूमाल, चम्मच, लकड़ी का टुकड़ा आदि रख देना चाहिये जिससे रोगी अपनी जिह्वा न काट सके। ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि रोगी अपने को चोट न पहुँचा सके। उद्वेग के समय और कोई चिकित्सा करने की आवश्यकता नही है। **उद्वेगों के मध्य की अवधि में** भावना (Emotion), कब्ज, अत्यधिक आहार, अधिक शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम, मद्यपान आदि नहीं करना चाहिये। निरामिष भोजन, विश्राम, साधारण व्यायाम तथा मनोवैज्ञानिक (Psy) चिकित्सा से लाभ होता है। मोटर चलाना आदि ऐसे व्यवसाय नही करना चाहिये जिनमे रोग के उद्वेग के समय चोट लगने की सम्भावना हो। शरीर तथा मन को कार्य मे लगाये रखना अच्छा है। रोगी को इस विषय की जानकारी आवश्यक है। इस दृष्टि से रोग से सम्बन्धित पुस्तकों को पढना चाहिये। रोग अत्यन्त चिरकालीन है इसलिये रोगी को चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों को जानना चाहिये। रोगी को अपने जेब मे सर्वदा यह लिखकर रखना चाहिये कि वह अपस्मार का रोगी है। ऐसा करने से किसी अनजान स्थान मे रोग का उद्वेग होने पर उसकी अवस्था का तत्काल ज्ञान हो सकता है और उसको चोट लगने से बचाया जा सकता है। इस रोग में प्रायः जीवन पर्यन्त चिकित्सा करनी पड़ती है।

(२) **औषधियाँ** :—इस रोग में शामक (Sedative) तथा उद्वेष्टन निरोधी (Anti-convulsants) औषधियाँ प्रायः साथ-साथ प्रयोग की जाती हैं। इन औषधियो को निरन्तर प्रयोग करने के पश्चात् यदि ५ वर्ष तक उद्वेग न हो तब अत्यन्त शनैः शनैः कर उद्वेष्टननिरोधी औषधि की मात्रा कम कर देखना चाहिये कि रोग का आवेग पुनः होता है या नहीं। औषधि की मात्रा कम करने मे कम से कम २ वर्ष का समय लगना चाहिये। उद्वेष्टन-निरोधी औषधियो को अकस्मात् स्थगित नही करना चाहिये। औषधि की मात्रा कम करने पर यदि पुनः रोग का उद्वेग हो तब औषधि की मात्रा पुनः बढ़ाना चाहिये। उद्वेष्टन निरोधी औषधियो का प्रभाव उत्तम न होने पर उनके साथ

रसायन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। घातक स्थलों पर रोगी को न जाने दे। पथ्य उन्माद के समान ही दे। दूध व चावल अच्छा है। कच्छप मांस, कच्छप पृष्ठभस्म व खरमूत्र का प्रभाव उत्तम देखा गया है। वचाचूर्ण मधु के साथ चाटना भी उपयोगी है।

औषधियाँ :—बृहत्पंचगव्यघृत, महाचेतसघृत, कल्याण चूर्ण, शंखपुष्पी कल्क, वातकुलान्तक, चन्द्रभैरव, सूत भस्म प्रयोग।

प्रयोग विधि, दृष्टान्त—

(१) चतुर्भुज रस १½ र.
स्मृतिसागर ३ र.
शृंग भस्म ३ र.
रसायन योगराज ३ मा.
मि. ३ मात्रा.
मण्डूकपर्णी स्वरस, वचाचूर्ण व मधु से।

(२) अपतंत्रहर वटी २
दो मात्रा भोजनोत्तर उष्णोदक से।

(३) पंचगुणतैल अभ्यंगार्थ।

मस्तिष्कीय रक्तवाहिनी विघात (Vascuar accidents)

परिचय :—मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों (B.V.) में घनास्रता (Thrombosis), रक्तस्राव (Haemorrhage) या अन्तःशल्यता (Embolism) होने से विकृति के स्थान के अनुसार अंगघात (Paralysis) होता है। **निदान** की दृष्टि से लक्षणों पर निर्भर करना पड़ता है। इनका वर्णन तालिका में किया गया है। (क) **घनास्रता** प्रत्येक रक्तनिपीड़ (B.P) में मिल सकती है। उच्चरक्तनिपीड के रोगी में जब किसी कारण से रक्तनिपीड़ थोड़े समय के लिये कम हो जाता है उस समय घनास्रता की संभावना रहती है। उपवास, विरेचन (Purge), उपसर्ग (Ifn), विश्राम आदि के कारण रक्तनिपीड़ कम होता है तथा रक्तप्रवाह शिथिल हो जाता है, अतयेव इन सब कारणों से घनास्रता हो सकती है। अंगघात होने के पूर्व रोगी को जिस शाखा में अंगघात होने वाला रहता है उसमे कमजोरी, झुनझुनी आदि लक्षण हो सकते हैं। फिरंग (Syphilis) में धमनियों (Arteries) में विकृति होती है, इसलिये फिरंग में घनास्रता की सभावना रहती है। (ख) **रक्तस्राव** प्रायः चिरकालीन वृक्कशोथ (Nephritis) में उच्चरक्त निपीड़ होने के कारण होता है। रोगी का वजन प्रायः प्राकृत से अधिक होता है। ग्रीवा छोटी तथा मोटी होती है। क्रोध, भावना, मल परित्याग,

तथा मो. प. रक्तस्राव होने की विशेष सम्भावना रहती है। वातरक्त (Gout) के समान यह विकृति प्रायः सम्पन्न लोगों में जो अपने परिश्रम से धनोपार्जन करते हैं, उच्च कोटि का जीवन व्यतीत करते है तथा अच्छा भोजन करते हैं उनमे पाई जाती है। (ग) **अंतःशल्यता** प्रत्येक आयु मे सभव है। बाल्यावस्था मे आमवात (Rheumatism), युवावस्था में अनुतीव्र अन्तर्हृच्छोथ (Subacute bacterial endocarditis) तथा वृद्धावस्था मे अपजनन (Degeneration) के कारण कपाटो पर अकुर (Vegitations) बनाते हैं। इन अंकुरों के टूटने के कारण अंतःशल्यता होती है। फिरग की संभावना रहने पर रक्त तथा ब्रह्मवारि (C.S.Fluid) मे वासरमन (W.R.) परीक्षा करनी चाहिये।

चिकित्सा। (१) **प्रतिषेध** :—अगघात मे बचने के लिए रोगके कारण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। उच्च **रक्तनिपीड़** (B.P.) के रोगी के सिरा से समय-समय पर २५–१०० सी० सी० रक्त (V. S.) द्वि. या त्रि. प्र. वर्ष निकाल देने से लाभ होता है। सर्पगधा (Raulfia serpentina, serpina, bromorawlfin)का निरन्तर प्रयोग लाभदायक है। फिरंग (Syphilis) आदि उपसर्ग (Ifn) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन मे लवण की कमी तथा चावल की प्रधानता रहनी चाहिये। **घनास्रता** बचाने के लिये हेपरिन (Heparin), डेक्यूमेरोल (Decumarol) आदि स्कन्दन-निरोधी (Anti coagulants) औषधियो का प्रयोग निरपवाद नही है। ये औषधियाँ विषाक्त है और बिना चिकित्सक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण के दीर्घ समय तक प्रयोग नहीं की जा सकती। अन्तःशल्यता बचाने के लिये अन्तर्हृच्छोथ (Endocarditis) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये तथा दीर्घकाल तक विश्राम करना चाहिये।

(२)**अगघात के आवेग** के समय रोगी को पूर्ण मानसिक तथा शारीरिक विश्राम करना चाहिये। **मूर्छा की अवधि पर्यन्त** मुख से आहार तथा औषधि आदि नहीं दी जा सकती। परिणामस्वरूप शरीर मे जल तथा आहार की कमी होने की सम्भावना रहती है। जिन शाखाओ मे अंगघात होता है उन शाखाओं के एक स्थिति मे पड़े रहने से शैय्याव्रण (Bedsore) आदि होने की सम्भावना रहती है, इसलिए रोगी का पार्श्व प्र० घ० बदलते रहना चाहिये तथा विकृत शाखा का आसन परिवर्तन करते रहना चाहिये। इससे

अधोसंचयी रक्ताधिक्य (Hypostatic congestion) होने की सम्भावना कम होती है। चित्त लेटने से जिह्वा के पीछे की ओर चले जाने से श्वासावरोध (Asphyxia) होने की सम्भावना रहती है इसलिये रोगी की जिह्वा आगे की ओर खींच कर रखना चाहिये तथा रोगी का सिर तकियों के सहारे ऊँचा करके रखना चाहिये। रोगी को चित्त नहीं लिटाना चाहिये। रोगी को पट लिटाकर उसका सिर एक पार्श्व में तथा प्रसार (Extend) करके रखना अधिक उपयुक्त है। मूर्छा की अवस्था में रोगी शैय्या से नीचे गिर सकता है अथवा अन्य प्रकार से अपने को चोट पहुँचा सकता है। इसलिये शैय्या के चारो ओर लोहे के छड़ लगा देना चाहिये। मूर्छा की अवस्था मे अनेक उपद्रवो की संभावना रहती है। इन उपद्रवों से रोगी को बचाने के लिए उसकी सावधानी पूर्वक सुश्रूषा करनी चाहिये। यदि मस्तिष्क में **रक्तस्राव** हो रहा हो तथा रक्तनिपीड़ (B.P.) अधिक हो तब तत्काल सिरामार्ग (I.V.) से पा. १/२–१ रक्त निकाल देना चाहिए। रोगी के सिर पर बरफ रखना चाहिये तथा एमिल नाइट्रस (Amyl: nitras) सुंघाना चाहिए। **बेचैनी** रहने पर शामक (Sedative) औषधियाँ दे सकते हैं। जैसे :—परालडिहाइड (Paraldehyne) पेशी (I. M.) मार्ग से सी. सी. २–८ या गुदा से सी. सी. १०–१५ प्रयोग करना चाहिये। गुदा मार्ग से औषधि देने के लिये औषधि को समबल लवण घोल (N. Saline) या जैतून के तेल (Olive oil) औं. १ में मिलाकर देना चाहिये। मूर्छा की अवस्था में शामक औषधियों को यथासंभव नहीं देना ही अच्छा है। मूर्छा की अवस्था में औषधि मुख द्वारा नहीं देना चाहिये। मुख द्वारा यह औषधि सी.सी. ४ की मात्रा में कैपस्यूल में या दूध में मिलाकर दी जाती है। गुदामार्ग से क्लोरल हाइड्रस (Chloral hydras) ग्रे. २०–३० तथा पोटास ब्रोमाइड (Pot : brom :) ग्रे. २०–३० जल औं. २ में मिलाकर दे सकते हैं। **घनास्रता** की सम्भावना रहने पर शामक औषधियो को अधिक मात्रा मे नहीं देना चाहिए। **घनास्रता तथा अन्तः शल्यता** में मस्तिष्क (Cerebral) में रक्तप्रवाह तथा प्राणवायु (O_2) की मात्रा बढ़ाना चाहिये। इस उद्देश्य से उत्तेजक औषधियों (यो२६) की एक मात्रा आ.अ.राइलकी नलिका (Ryle's tube) द्वारा नासामार्ग से आमाशय में प्रवेश कर सकते हैं। कोरामीन (Ce) सी.सी. १·७ अधस्त्वक (S.C.) से

आ.अ. दे सकते हैं। प्राणवायु (O_2) श.प्र.श. सूँघने के लिए देना चाहिये। प्रोकेन (Procaine) द्वारा स्टीलेट ग्रंथि (Stellate ganglion) का अवरोध (Block) भी किया जाता है। रक्तस्राव में ये क्रियायें नहीं करना चाहिये। सम्भव है अन्तःशल्यता में इनसे लाभ हो। **शिर की पीड़ा** कम करने के लिये कटिवेध (L.P.) किया जाता है। ब्रह्मवारि (C.S. fluid) को अधिक मात्रा में नहीं निकालना चाहिये। रक्तस्राव मे इस क्रिया के करते समय विशेष सावधानी आवश्यक है। मूर्छा के साथ-साथ रोगी का चेहरा नीला (Cyanosis) रहने पर सिरावेध (V. S.) करना चाहिये तथा चेहरा नीला नहीं रहने पर कटिवेध (L. P.) करना चाहिये। मूर्छा के समय मुख से किसी प्रकार का **आहार** नहीं देना चाहिये। रक्तनिपीड (B.P.) अधिक रहने पर १–२ दिन उपवास करना अच्छा है अन्यथा **नाक से** राइल की नलिका (Ryle's tube) प्रवेश कर नलिका द्वारा दूध आदि तरल आहार (पृ० ४) अल्प मात्रा मे अनेक बार आमाशय (ST:) में प्रवेश करा सकते हैं। इस मार्ग से तथा गुदामार्ग से यदि पर्याप्त मात्रा में शरीर में जल न जाता हो तब सिरामार्ग (I. V.) से ४० बूँद प्र० मि० की गति से समबल लवण घोल (N.saline) मे ग्लूकोस ५ प्र०श० १–६ पा० प्र० दि० या अमीनो-एसिड (Aminoacids) आदि देना चाहिये। जल की मात्रा इतनी होनी चाहिये जिसमें कम से कम पा० ३ प्र० दि० मूत्र का निर्माण हो सके। मूत्राशय (Bladder) मे मूत्र संचय होने पर तथा उसका स्वयं परित्याग न होने पर **रबर की नलिका** (Catheter) द्वारा मूत्र निकाल देना चाहिये। १–२ दिन पश्चात् एनिमा द्वारा प्र० दि० मल-परित्याग करना चाहिये।

(३) **आवेग के पश्चात्** अंगघात की चिकित्सा :—इस अवस्था में मालिश, शल्य चिकित्सा (Op) आदि द्वारा प्रयत्न करना चाहिये कि विकृत शाखा में वक्रता न हो तथा विकृत शाखाओं की पेशियों का शोष (Atrophy) न हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यथासम्भव शीघ्रताशीघ्र रोगी को सहारे से शैय्या परित्याग कर चलने-फिरने का प्रयत्न करना चाहिये। मूल रोग की चिकित्सा करनी चाहिये। शैय्या पर पड़े रहने से अनेक प्रकार के उपद्रव होने की संभावना रहती है। फिरंग (Syphilis) रहने पर उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी के चैतन्य होने पर तथा शिर की पीड़ा ठीक होते ही विकृत शाखा की मालिश करना चाहिये। प्रारम्भ मे चिकित्सक

को अपने हाथो से विकृत शाखा आकुंचित तथा प्रसारित (Passive movement) करना चाहिये। कुछ समय पश्चात् जब शाखा में कुछ गति प्रारंभ हो जाय तब रोगी को स्वयं शाखा को हिलाने-डुलाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस क्रिया से रोगी को थकावट नहीं होनी चाहिये। व्यंगता बचाने के लिये विकृत शाखा को कुशा (Splint) मे बाँध कर रखना चाहिये परन्तु कुशा में रखने पर भी ए० या द्वि० प्र० दि० कुशा खोलकर शाखाकी मालिश करना चाहिये तथा उसको मोडना-फैलाना चाहिये। अधो शाखा की प्रकृति बाहर की ओर घूम जाने (Ext.rotation) की रहती है तथा पैर के अँगूठे की प्रकृति नीचे की ओर झुक जाने की रहती है। कुशा की सहायता से इसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा रोगी जब चलने लायक हो जाता है तब उसका अँगूठा बराबर पृथ्वी मे ठोकर खाता है इसलिये इसको कुशा की सहायता से सीधा रखना चाहिये। ये विकृति हो जाने पर शल्यचिकित्सा (Op) करनी चाहिये। चलने-फिरने के लिये बैशाखी (Crutch), अपने हाथ से चला सकने वाली गाड़ी (Perambulator) आदि प्रयोग करना चाहिये। **उपद्रवों** की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। विकृत शाखा मे पीड़ा रहने पर शामक (Sedative) या पीड़ाहर (Analgesic) औषधियाँ देना चाहिये। अनम्यता (Rigidity) रहने पर उद्वेष्ठन निरोधी (Anti-spasmodic) औषधियों से लाभ होता है जैसे :—टि. बेलाडोना (Tr.belladonna) मि. ८ त्रि. प्र. दि. या पैसीटेन (Pacitane 'Le') गो.१–२ द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। उद्वेष्ठन निरोधी औषधियों की मात्रा शनैः शनैः बढाना चाहिये। शैय्याव्रण (Bedsore), मूत्राशय शोथ (Cystitis) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

शैशवीय अंगघात (Infantile paralysis, acute ant: poliomyelitis)

परिचय :—किसी अज्ञात विषाणु (Virus) के कारण यह तीव्र औपसर्गिक तथा विशिष्ट रोग प्रायः शैशवावस्था मे २–५ वर्ष की आयु मे होता है। ज्वर के साथ साथ वातनाड़ी संस्थान (C. N. S.) मे विकृति होती है। इस रोग से सम्बन्धित अनेक विषय अभी अज्ञात है। पहले यह धारणा थी कि यह रोग, रोगी के खाँसते या छींकते समय विन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा फैलता है। यह धारणा गलत प्रतीत होती है। इस बात का अधिक प्रमाण

मिलता है कि विषाणु मुख द्वारा शरीर मे प्रवेश करता है और मल द्वारा रोगी के शरीर से बाहर निकल कर भोजन, जल आदि को दूषित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार आंत्रिक ज्वर (Typhoid) आदि के समान यह रोग भी भोजन, मक्खी, मल, गदे हाथ तथा सवाहक (Carrier) की सहायता से फैलता है। रोग प्रायः मनुष्यों के द्वारा ही फैलता है। इसलिये रोगी का मल जीवाणुरहित कर नाली में फेकने से तथा रोगी को अन्य लोगो से पृथक करने से रोग के फैलने की संभावना कम की जा सकती है। इस विषाणु के विरुद्ध मनुष्य के रक्त मे कृत्रिम उपायो से प्रतियोगी (Anti-body) उत्पन्न की जा सकती हैं। ये प्रतियोगी विषाणु को कार्यहीन कर सकती हैं, इसलिये इनके प्रयोग से अगघात को उत्पत्ति रोकी जा सकती है। ऐसा प्रायः देखा गया है कि अस्वास्थ्यकर परिस्थितियां मे रहने वाले शिशुओ के रक्त मे यह प्रतियोगी रहता है इसलिये इन लोगों मे यह रोग अधिक संख्या में नहीं हो पाता। इस रोग के तीन विषाणु (Virus) माने गये हैं, लेओन (Leon), लानसिंग (Lansing) तथा ब्रनहिल्डे (Brunhilde) विषाणु। इस रोग के लक्षण कभी कभी अत्यन्त साधारण तथा कभी कभी अत्यन्त उग्र होते है। भिन्न भिन्न रोगियों मे इस रोग के लक्षणो की गम्भीरता मे बड़ा अन्तर होता है। कभी कभी ये लक्षण इतने साधारण होते हैं कि इस रोग की संभावता भी ध्यान में नहीं आती। अन्य रोगियों मे ये इतने उग्र होते हैं कि रोगी को अगघात होता है और उसकी मृत्यु भी हो सकती है। अंगघात कुछ थोड़े से रोगियों मे ही होता है, अधिकतर रोगियो में रोग के लक्षण अत्यन्त साधारण होते है। इस रोग के मरक (Epidemic) के समय एक ही स्थान पर अनेक मनुष्यो मे यह रोग नही होता। इस रोग के मरक के समय थोड़े से लोगों में ही यह रोग होता हैं और ये रोगी एक दुसरे से काफी दूर पर मिलते हैं। रोग प्रायः ग्रीष्म ऋतु में होता है।- रोग का संचय काल (I. P.) ३–२१ दिन तक माना जाता है परन्तु यह प्रायः ७–१० दिन तक होता है। मस्तिष्क के कन्द (Bulb) मे विकृति होने के कारण प्रायः १० प्र. श. रोगियों की मृत्यु हो जाती है।

बिन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा उपसर्ग होने के सिद्धात के अनुसार विषाणु ग्रसनिका (Pharynx) के स्थान पर शरीर मे प्रवेश कर प्रथम (Olfactory) तथा पंचम (Trigeminal) वातनाड़ियों द्वारा केन्द्रीय

केन्द्रनाड़ी संस्थान (C.N.S.) में पहुँचता है। यहाँ से यह तीन स्थानों में पहुँच सकता है (क) **आज्ञापिण्ड, उपाज्ञापिण्ड** (Thalamus, hypothalamus):—इस स्थान में विषाणु रोग के आरम्भ में पहुँचता है और रोगी में अतिस्पर्शज्ञता (Hyparaesthesia), पसीना, नाड़ी का तीव्र होना, पेशियों का मन्द हो जाना, आन्त्रपुरःसरण (Peristalsis) की विकृति आदि लक्षण होते हैं। निद्रा के समय में परिवर्तन हो जाता है। रोगी दिन में सोता है तथा रात्रि में जागता है। (ख) **सुषुम्ना की पश्चिम श्रृंग कोषायें तथा ग्रंथियाँ** (Post:horn cells & spinal ganglia):—इस स्थान पर विषाणु सुषुम्नाभिकन्द मार्ग (Spino-thalamic tract) द्वारा पहुँचता है। रोग की यह मध्यावस्था है। इस अवस्था में रोगी को कमजोरी मालूम पड़ती है, हाथ पैर काँपते हैं तथा असमन्वता (Ataxia) होती है। (ग) **सुषुम्ना की पूर्व श्रृंग कोषायें** (Ant-horn-cells of chorda):—इनमें विषाणु के पहुँचने पर अ.चे.ना.कं. (L. M. N) प्रकार का अंगघात होता है। अंगघात शिथिल (Flaccid) प्रकार का होता है। ये तीनों अवस्थायें प्रत्येक रोगी में नहीं मिलती है। अंगघात के ठीक होने में कई माह या वर्षों समय लग सकता है। शरीर के लसधातु (Lymphatic tissues) की वृद्धि होती है। कभी-कभी तुण्डिका को निकाल देने (Tonsillectomy) के पश्चात इस रोग की उत्पत्ति होती है।

निदान (क) लक्षण:—**ज्वर, पीड़ा** तथा पेशियों की **कमजोरी** रोग के प्रधान लक्षण हैं। संधियों (Jts) में पीड़ा, प्रतिश्याय (Coryza), त्वचा की अतिस्पर्शज्ञता (Hyperaesthesia) तथा उद्वेष्टन (Spasm) भी होते हैं। ज्वर प्रायः एक सप्ताह से कम रहता है। अधिकतर ३–४ दिन रहता है। शरीर के भिन्न भिन्न भागों मे पीड़ा होना रोग का अत्यन्त साधारण लक्षण है। सिर, गर्दन, उदर, कण्ठ, हाथ, पैर तथा संधियों मे पीड़ा होती है। ज्वर की अवस्था मे किसी भी समय पेशियों मे **कमजोरी** प्रारम्भ हो सकती है। प्रायः प्रथम सप्ताह के अन्त मे अंगघात होता है। हाथ की अपेक्षा पैर का अंगघात अधिक होता है। रोग की संपूर्ण अवधि पर्यन्त जिन रोगियों के प्रतिक्षेप (Jerks) अस्त्यात्मक (+) रहते हैं उनमें अंगघात प्रायः पूर्ण रूप से ठीक हो जाता है। रोग के प्रायः तीन मास के पश्चात अंगघात ठीक होना प्रारम्भ होता है।

(ख) परीक्षायें :—ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) मे लसकायाणु (Lympho) की वृद्धि मिलती है। शर्करा तथा क्लोराइड (Cl) प्राकृत रहते है। **रक्त में** श्वेतकणों की संख्या २५,००० प्र. घ. मी. मी. तक बढ जाती है। प्रधान वृद्धि बहुकाकारी श्वेतकणों (Poly:) की होती है।

चिकित्सा । (१) प्रतिषेध :—रोग से **बचने के** के लिये रोगी को अन्य लोगों से पृथक करना चाहिये। बिन्दूत्क्षेप (Droplet) द्वारा उपसर्ग होने के समर्थकों के अनुसार विषाणु नासा-ग्रसनिका (Nasopharynx) मे तथा मल में अनेक सप्ताह पर्यन्त रहते हैं। रोग के प्रथम सप्ताह में रोगी द्वारा रोग फैलने की अत्यधिक संभावना रहती है। रोग के लक्षण प्रारभ होने के कुछ दिन पूर्व से ही रोगी रोग फैला सकता है। ज्वर प्राकृत हो जाने के कम से कम २ सप्ताह पश्चात् तक रोगी को पृथक रखना चाहिये। डिविल्बिस के यन्त्र (DeVilbis-spray) के द्वारा नाक तथा कण्ठ मे मिस्टौल (Mistol), ग्लाइको-थायमोलीन (Glycothymolin) आदि छिड़क सकते हैं। नाक में जिंक सल्फेट (Zinc sulph :) १ प्र. श. या प्रोटारगल (Protargol) ५ प्र. श. आदि २–४ बूँद द्वि. या त्रि. प्र. दि. डालना चाहिये। रोगी का प्रत्येक स्राव विशेषकर थूक, मल तथा नासास्राव मे फौरमालडिहाइड (Formaldehyde) ४० प्र. श. मिला कर तब नाली मे फेंकना चाहिये। रोगी के कमरे मे फौरमलीन छिड़कना चाहिये। मक्खियो को मारने के लिये डी. डी. टी. (D. D. T.) या गामेक्सिन (Gammexine) प्रयोग करें। रूई, रुमाल आदि जो पदार्थ रोगी के स्राव के सम्पर्क मे आये हों यदि कीमती न हों तब उनको जला देना चाहिये। जो मनुष्य रोगी के सम्पर्क में आये हो उन्हें तीन सप्ताह अन्य लोगों से अलग रखना चाहिये। स्वस्थ मनुष्यों को रोग से बचाने के लिये मनुष्य के रक्त से गामा ग्लोब्यूलिन (Gamma globulin) निकाल कर इन्जेक्शन लगाने से ६ सप्ताह तक रोग न होने की सम्भावना रहती है। मसूरि (Vaccine) का प्रयोग सन्देहास्पद है। क्षम लसिका आवर्तुलिक (Immune serum gobulin) का प्रयोग अभी प्रायोगिक अवस्था मे है। भीड़ स बचना चाहिये। गन्दे तालाब मे स्नान नहीं करना चाहिये। कच्चे फल, आदि पाटाश ($Kmno_4$) से धोना चाहिये। दूध उबाल कर पीयें। भो. पू. हाथ साबुन से साफ कर लेना चाहिये।

(२) **साधारण** :—तीव्र अवस्था मे रोगी को साफ, हवादार कमरे में

शैय्या पर प्रायः ६ सप्ताह विश्राम करना चाहिये। अंगघात के कारण यदि मुख द्वारा रोगी आहार ग्रहण न कर सके तब राइल की नलिका (Ryle's tube) नाक मे प्रवेश कर नलिका के द्वारा तरल आहार (पृ. ४) देना चाहिये। तीव्र अवस्था मे दूध, फलों का रस, बार्ली का जल आदि पीने को देना चाहिये। श्वसन-संस्थान से संबंधित पेशियों के अंगघात के कारण यदि श्वसन का निपात (Failure) होने की सम्भावना हो तब यन्त्र (Iron lung) द्वारा कृत्रिम श्वसन का प्रबन्ध करना चाहिये। रोगी को शीत मे बचाना तथा शीत ऋतु मे गरम रखना आवश्यक है। गरम वस्त्र पहनना, गरम पानी की बोतल मे विकृत स्थान को सेंकना तथा गरम पानी से शरीर को पोंछना चाहिये। मूत्राशय (Bladder) द्वारा **मूत्र परित्याग न कर सकने पर** रबर की नलिका (Catheter) द्वारा मूत्र निकालना चाहिये। नलिका को जीवाणुरहित कर, मूत्राशय मे प्रवेश कर, चिपकने वाली पट्टी के द्वारा स्थायी रूप से नलिका को मूत्राशय मे रहने दिया जा सकता है। इससे मूत्राशय मे मूत्र सञ्चय नहीं हो सकेगा। नलिका का बाहरी भाग किसी बोतल के जीवाणुनाशक घोल मे डुबा कर रखना चाहिये अन्यथा, नलिका द्वारा जीवाणु मूत्राशय मे प्रवेश कर सकते हैं। नलिका के बाहर निकल आने पर अथवा प्रति दो-तीन दिन पर नलिका को निकाल कर दूसरी साफ नलिका उसके स्थान पर लगा देना चाहिये। **श्वास लेने मे कठिनाई** होने पर प्राणवायु (O_2) का प्रयोग करना चाहिये। अंगघात के कारण श्वसनिका (Bronchus) मे स्राव संचय होने पर श्वसनीवीक्षण यन्त्र (Bronchoscope) की साहायता से स्राव निकाल देना चाहिये तथा रोगी की शैय्या के पैर की ओर का भाग ऊँचा करना चाहिये। इससे भी लाभ न होने पर कण्ठनलिकाच्छेदन (Tracheotomy) कर सकते है। रोग के प्रारम्भ मे चिकित्सक को विकृत शाखा को प्र. दि. मोड़ना तथा फलाना चाहिये। आ. अ. कुशा (Splint) का प्रयोग करना चाहिये। इससे वक्रता नहीं होती। ज्वर तथा पीड़ा शांत हो जाने के पश्चात् रोगी को स्वयं शनैः शनैः विकृत शाखा को अनेक बार प्र. दि. हिलाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस क्रिया से थकावट नहीं होनी चाहिये। लिनिमेन्ट ए. बी. सी. (Lt: A. B. C.) आदि से मालिश करना चाहिये। बिजली द्वारा भी अंगघात वाले स्थान की चिकित्सा की जाती है। वक्रता हो जाने पर शल्यकर्म (Op.) करना चाहिये।

(३) **औषधियों का प्रयोग** :—इस रोग की कोई विशिष्ट औषधि नहीं है। उपद्रवों तथा लक्षणों की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। मूत्राशय (Bladder) का या निगीरण क्रिया (Deglutition) सम्बन्धी पेशियों का अथवा श्वसन क्रिया सम्बन्धी पेशियों का अगघात, हृत्पेशीशोथ (Myocarditis), फुफ्फुसपाक (Pneumonia), फुफ्फुस का निपात या अविस्फार (Collapse or atelectasis) आदि उपद्रव हो सकते हैं। हृत्पेशीशोथ रोगारम्भ के अनेक सप्ताह पश्चात् हो सकता है। इससे रोगी की मृत्यु हो सकती है। पेशियों में पीड़ा, उद्वेष्टन (Spasm) के कारण होती है। इसके लिये गरम रूई से अनेक बार प्र. दि. सेंकना चाहिये। विकृत शाखा को कुशा (Splint) में रखने से पीड़ा, कम होती है। ए.पी.सी. (यो. ६२) या सोडी सैलिसिलस (यो. २८), सिबाल्जिन (Cibalgin 'Ca'), वेरेमौन (Veremon), सैरिडौन (Saridon) आदि पीडाहर औषधियों की गो. १ आ. अ. दे सकते हैं। श्वसन-संस्थान की पेशियों में विकृति न रहने पर यूकोडाल (Eukodal), पेथिडिन (Pethidin) आदि आयु के अनुसार मुख या इन्जेक्शन द्वारा सावधानीपूर्वक दे सकते हैं। **पेशियों के उद्वेष्टन** (Spasm) तथा **अनम्यता** (Rigidity) में क्यूरार (Curare) के प्रयोग के विषय में तीव्र मतभेद है। कुछ विद्वान इसको प्रभावहीन समझते है। ये लोग नेयोस्टिगमीन (Neostigmine, prostigmine), पैसिटेन (Pacitane) आदि की गो. १ द्वि. प्र. दि. देते हैं। क्यूरार (Intocostrin Sq) पेशी (I.M.) मार्ग से ए. प्र. दि. देना चाहिये। रोगी के भार के अनुसार ०·६ मि. ग्रा. प्र. से. भा. औषधि देना चाहिये। मूत्राशय (Bladder) के अगघात की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **श्वसन-संस्थान के निपात** में लोबेलीन (Lobeline) तथा स्ट्रिकनीन (Strychnine) ग्रे. १/६० का पेशी (I. M.) मार्ग से इन्जेक्शन लगाया जाता है। प्राणवायु (O_2), कृत्रिम श्वसन (Artificial resp :), टि. बेलाडोना (Tr:belladonna) मि. १० तथा एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० मुख अथवा पेशीमार्ग (I. M.) से प्रयोग कर सकते हैं। शीर्षान्तरीय निपीड़ (Intra-cranial tension) अधिक रहने पर कटिवेध (L. P.) द्वारा ब्रह्मवारि (C. S. fluid) निकालना चाहिये। तीव्र अवस्था ठीक हो जाने पर कारण रोगी को पोष्टिक

आहार तथा औषधि देना चाहिये। वाइनियन अमारा (Bynianamara), इस्टन सिरफ (Syr:Esten) आदि च. १ भो. प. द्वि. या त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। पौष्टिक औषधियो में जीवतिक्ति 'बी,' (Vit : B_1), कुचला (Nux : vomica), लौह (Fe), स्ट्रिक्नीन (Strychnine), जीवतिक्तियों का मिश्रण (Multi-vit:) आदि देना चाहिये।

(४) केनी का सिद्धान्त (Kenny's treatment) :— इस चिकित्सा का सिद्धान्त है कि विकृत पेशियो की मालिश नही करना चाहिये। रोग के प्रारम्भ से ही रोगी को विकृत शाखा को घुमाने, मोड़ने आदि का प्रयत्न करना चाहिये। रोगी को प्रत्येक विधि से गरम रखना चाहिये तथा विकृत भाग को सेकना चाहिये।

(५) विशिष्ट चिकित्सा :— इस रोगकी कोई विशिष्ट औषधि नहीं है। वातनाडी सस्थान (Cns) में विकृति होने के पूर्व क्षमलसिका (Immune serum) का इन्जेक्शन देने से लाभ हो सकता है परन्तु अंगघात होने के पूर्व रोग का निदान सम्भव नही है। **हेक्सामीन** ४० प्र.श. १–५ सी.सी. सिरामार्ग (I.V.) से द्वि. प्र. दि. या ग्रे. ९–१० मुख से त्रि. या चा. प्र. दि. दे सकते हैं।

वातनाड़ीशोथ तथा वातनाड़ीशूल (Neuritis, neuralgia)

परिचय :—परिसरीय वातनाड़ीशोथ (Peripheral neuritis) मे प्रायः शरीर के दोनों पार्श्व मे सावेदनिक (Sensory) तथा चेष्टावह (Motor) दोनो प्रकार की विकृतियाँ होती है। विकृत वातनाड़ी के मार्ग मे पीडा, झुनझुनी, सज्ञानाश (Anaesthesia), पिण्डली (Calf) मे पीड़ा, पेशियो म कमजोरी तथा अ. चे. ना. कं. (L.M.N.) प्रकार का अगघात (Paralysis) हो सकता है। यह रोग, प्रायः फिरंग (Syphilis), कुष्ठ (Leprosy), सखिया (As), शीस (Pb), पारद (Hg), मद्यपान, मधुमेह (Diabetes), जीवतिक्ति 'बी' (Vit:B.) की कमी आदि के कारण होता है। वातनाड़ी मे चोट लगने से, उसपर दबाव पड़ने से, शरीर के किसी भाग मे उपसर्ग (Ifn) होने से, वातरक्त (Gout) आमवात (Rheumatism) आदि के कारण भी वातनाड़ीशोथ (Neuritis) होता है। **वातनाड़ीशूल** (Neuralgia) मे पीड़ा प्रायः शरीर के ऊर्ध्व भाग की परिसरीय (Peripheral) वातनाडी के मार्ग में

होती है। विकृति प्रायः त्रिधारा (Trigeminel), वाह्वी (Brachial), पर्शुकान्तरीय (Intercostal) तथा गृध्रस्या (Sciatic) वातनाड़ियों में होती है। दाँत मे विकृति, कक्षापरिसर्प (Herpes zoster) आदि मे इन रोगों से सम्बन्धित वातनाड़ियों के मार्ग मे पीड़ा होती हैं। त्रिधारावातनाड़ी-शूल मे त्रिधारा वातनाड़ी (V) की किसी शाखा मे अकस्मात थोडी देर के लिये अत्यन्त तीव्र पीड़ा होती है। पीड़ा की मर्यादा के अन्दर किसी विशेष स्थान को दबाने से पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। इस स्थान को स्फोटक कटिबंध (Trigger zone) कहते हैं। वातनाड़ी पर तनाव पड़ने से पीड़ा होती है। **गृध्रसी** में पृष्ठवंश (Spine) के नीचे वाले भाग के कशेरुको (Vertebra) मे तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) होने के कारण वातड़ी मे पीड़ा होती है। कड़ी चौकी, कुर्सी आदि पर बैठने से भी ग्रधस्या वातनाड़ी (Sciatic) मे विकृति होती है। प्रारम्भ में पीड़ा नितम्ब में होती है, पश्चात् पैर के पीछे, ऐडी तक जाती है। खाँसने, झुकने, पलथी मार कर बैठने, शौच के समय जोर लगाने आदि से पीड़ा बढ़ती है।

चिकित्सा। (१) **साधारण:**—वातनाड़ी की विकृतियो मे रोग के कारण का निवारण करना चाहिये। पीड़ा तथा अंगघात (Paralysis) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। **विश्राम** आवश्यक है। विकृत शाखा को प्रयोग करने से हानि होती है। विकृत स्थान पर वस्त्र का दबाव पड़ने से भी पीड़ा होती है इसलिये जब रोगी शैय्या पर विश्राम करता हो तब तम्बू के समान लोहे के छड़ों (Cradle) की सहायता से कम्बल, रजाई आदि का बोझ विकृत स्थान पर नहीं पड़ना चाहिये। किसी स्थान पर **उपसर्ग** (Ifn) रहने से उसको ठीक करना चाहिये। **कब्ज** के लिये रात्रिमे कैलोमेल (Calomel) ग्रे० २, सोडी बाइकार्ब ग्रे० ५ के साथ तथा दूसरे दिन प्रातःकाल मैगसल्फ (Mag:sulph:) ड्रा० ४ देना चाहिये। गृध्रसी मे कब्ज दूर करना आवश्यक है। **भोजन** पौष्टिक होना चाहिये। जीवतिक्ति 'बी' (Vit:B) की प्रधानता रहनी चाहिये। मद्यपान नहीं करना चाहिये। सीस (Pb), संखिया (As) आदि की सम्भावना रहने पर इनका प्रयोग बन्द करना चाहिये।

(२) **पीड़ा:**—(क) **जीवतिक्ति बी** (Vit:B):—किसी भी कारण से वातनाड़ी मे पीड़ा रहने पर जीवतिक्ति 'बी' सम्पूर्ण (Vit:B complex) का प्रयोग करना चाहिये। इसके प्रयोग से वातनाड़ी का समवर्त (Mbm) ठीक

रहता है। खमीर ग्रॉ० ½-१ द्वि० प्र० दि० देना चाहिये। जीवतिक्ति बी, (Vit:B_1) मि० ग्रा० ५०-१०० अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से या मि०ग्रा० १०-२५ सिरामार्ग से त्रि० प्र० स० देना चाहिये। (ख) **पीड़ाहर (Analgesics) औषधियाँ :**—वातनाड़ियों की पीडा में टि० जेलसीमीयम (यो० २६) का विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त वेगानीन (Veganin) गो० १, पोटास आयोडाइड (K.I.) ग्रे० ३, सिबाल्जिन, नैरिडीन (यो० ६३) फेनासेटिन ग्रे०५ फेनाजोन (Phenazone), अमीडोपायरीन (Amidopyrine, pyramidon) ग्रे० ४, ऐसपिरीन (यो० ६२) आदि पीड़ाहर औषधियाँ आ. अ. दे सकते है। कैलसियम एंसेटिल सैलिसिलेट (Cal:acetyl-salicylate) ग्रे० ५ त्रि० प्र० दि० दे सकते हैं। मौरफीन (यो.१११) के प्रयोग से औषधि की आदत पड़ने का भय रहता है। पेथिडीन, (Pethidine) मि० ग्रा० ५०, कोडीनफौस (Codein phos:) ग्रे० ½, डेमेरौल (Demerol) गो० १ आदि मुख से अथवा मि० ग्रा० ५० अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से आ० अ० दे सकते हैं।

(३) **पौष्टिक औषधियां :**—स्ट्रिकनीन (Stychnine), क्वीनीन (Q), लौह (Fe), मीनाडेक्स (Minadex), इस्टन का शर्बत (Esten syrup), अमीनोएसिड (Aminoacids), यकृत सत्व (Liver ext), फेरेडौल (Ferredol P.D.) आदि का भी प्रयोग किया जाता है।

(४) **स्थानिक चिकित्सा :**—जिस वातनाड़ी में पीड़ा हो उसके मार्ग में त्वचा पर टि० आयोडीन (Tr.iodine fort) लगाना चाहिये। यदि गृधस्या वातनाड़ी (Sciatic) पर पीडा हो तब नितम्ब पर इस औषधि को लगाना चाहिये। आयोडेक्स (Iodex), मेथिल सैलिसिलस (Methylsaliclylas) आदि को पीडा के स्थान पर मलना चाहिये। नोवोकेन (Novocaine) या प्रोकेन हाइड्रोक्लोर ½ प्र० श० सी० सी० ५ तथा समबल लवण घोल (N. saline) सी० सी० ५० का गृधस्या वातनाड़ी में इन्जेक्शन ए० या द्वि० प्र० स० लगा सकते हैं। वातनाड़ी में इन औषधियों को प्रवेश कराने से वातनाड़ी का प्राचीर यदि नाडी से चिपका (Adhesions) रहता है तो वह पृथक हो जाता है और पीड़ा में कमी होती है। वातनाडी में मद्य सी०सी० १ का भी इन्जेक्शन लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त वातनाड़ी को सेंकना, लिनिमेन्ट ए.बी.सी. (Lt:ABC) लगाना, लोहितातीत रश्मि

(I.R.ray) या डायथर्मी (Diathermy) से सेंकना आदि से भी लाभ होता है। जिस स्थान पर वातनाड़ी अन्दर से निकलती हो उस स्थान पर डायथर्मी घ. १ प्र. दि. कर ६ दिन लगाना चाहिये। पीड़ा अधिक रहने पर विकृत शाखा को सेंक कर रुई से लपेट कर, रोगी को जिस आसन में सुख प्राप्त हो उस आसन में शाखा को कुशा (Splint) में बाँध कर रखना चाहिये। पीड़ा उग्र रहने पर विश्राम करना आवश्यक है।

(५) **अविशिष्ट प्रोभूजिन** (Non-specific protein) का **इन्जेक्शन** :—दूध (Aolan, lactolan) सी. सी. २–१० या रोगी का रक्त (Auto-Hemotherapy) सिरा से ५ सी. सी. निकाल कर उसके नितम्ब में पेशी मार्ग (I.M.) से द्वि. प्र. स. देना चाहिये। वैक्सीन्यूरिन (Vaccinurin) के इन्जेक्शन से लाभ होता है। यह औषधि मधुमक्खी के विष से बनी है।

(६) **शल्यचिकित्सा** :—उपर्युक्त विधियों से लाभ न होने पर शल्य-कर्म (Op) करना चाहिये। वातनाड़ी के सावेदनिक मूल (Sensory root) को शल्यकर्म (Op) द्वारा नष्ट करने से पीड़ा कम होती है। यदि वातनाड़ी पर किसी प्रकार का दबाव पड़ता है तब उसको शल्यकर्म से ठीक किया जा सकता है। विकृत शाखा को प्लास्टर पेरिस (Plaster Paris) में भी रखा जाता है।

(७) **अंगघात** (Paralysis) की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। पीड़ा ठीक हो जाने के पश्चात विकृत शाखा की मालिश करनी चाहिये तथा कुशा (Splint) आदि की सहायता से वक्रता बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। विकृत शाखा को प्र. दि. हिलाना आवश्यक है। प्रारम्भ में चिकित्सक को अपने हाथ में विकृत शाखा को मोड़ना-फैलाना चाहिये। कुछ समय पश्चात रोगी को स्वयं इस क्रिया को द्वि. या त्रि. प्र. दि. करना चाहिये।

(८) **त्रिधारावातनाड़ी शूल** (Trigeminal neuralgia):—उपर्युक्त चिकित्सा के अतिरिक्त रोगी को रूमाल पर ट्राइक्लोरो एथिलीन (Trichloro-ethylene) मि. ५–१० रखकर त्रि.प्र.दि. सूँघना चाहिये। रोग के कारण की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी के आहार तथा स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। क्वीनीन (Q) या टि. जेल-सीमियम (यो.२६) दे सकते हैं। त्रिधारा वातनाड़ी में या तृधारा ग्रंथि (Gas-

serian) मे मद्य का इन्जेक्शन या त्रिधारा वातनाड़ी के अवरोही मूल (Descending root) जिसमे पीड़ा के तन्तु रहते हैं उसको काटने मे लाभ होता है।

अर्दित (Facial nerve paralysis, Bell's Palsy)

परिचय :— इस रोग मे शीत लगने से या वातनाड़ी में चोट लगने से या विष के कारण चेहरे के एक ओर की समस्त पेशियों का अंगघात (Paralysis) होता है। वाणी अस्पष्ट हो जाती है, जल पीते समय मुख से जल गिर जाता है, रोगी सीटी नही बजा सकता तथा विकृत पार्श्व का नेत्र बन्द नही होता। अंगघात अ. चे. ना कं. (L.M.N.) प्रकार का होता है। रोग अत्यन्त सामान्य तथा साधारण है। प्रायः दो मास के अन्दर रोगी ठीक हो जाता है। वृद्धावस्था मे अधिक समय लग सकता है।

चिकित्सा। (क) साधारणः— रोग के प्रारम्भ मे रोगी को विश्राम करना चाहिये। अधिक वार्तालाप नही करना चाहिये। विकृत पार्श्व को लोहितातीव किरण (U. V. Ray) या गरम पानी की बोतल या रूई से सेंकना चाहिये। सेंकने के पश्चात् विकृत स्थान को रूई से ढक कर रखना चाहिये। आयोडेक्स (Iodex) आदि से मालिश करना चाहिये। विकृत चेहरे तथा नेत्र को तीव्र वायु, शीत तथा धूल से बचाना चाहिये। विकृत पेशी को नीचे से ऊपर की ओर त्रि. प्र. दि. ५–१० मिनट तक मालिश करना चाहिये। मुख को स्वस्थ पार्श्व की ओर खिचने से रोकने के लिये विकृत पार्श्व के मुख के कोण को तार या चिपकने वाली (Sticking) पट्टी के द्वारा विकृत पार्श्व को कान की दिशा मे खींच कर रखना चाहिये। **रोगारम्भ के दो सप्ताह** पश्चात द्वि. प्र. स. विद्युत चिकित्सा (Galvanic current) करने से पेशी मे शोष (Atrophy) नही होता। वक्रता की चिकित्सा शल्यकर्म (Op) द्वारा करनी चाहिये।

(ख) औषधियाँ :— इस रोग मे औषधियो का विशेष महत्व नही है। सोडी सैलिसिलस (यो. २८) त्रि. प्र. दि. दे सकते हैं। इस योग मे सोडीयम आयोडाइड (K. I.) ग्रे. ३–५ प्र. मात्रा मिला सकते हैं या लूगोल की आयोडीन (यो. ६७) मि. ३–८ त्रि. प्र. दि. भो. प. दे सकते है। जीवतिक्ति बी, या 'बी,' संपूर्ण (Vit:B, or complex) मुख या पेशी (I.M.) द्वारा देना चाहिये।

वेपथुमत अङ्गघात (Paralysis agitans, parkinsonism, Parkinson's disease) :—

परिचय :—वेपथुमत अंगघात मे आधारिक ग्रन्थियों (Basal ganglia) में विकृति होती है । युवावस्था मे यह विकृति मस्तिष्कशोथ (Encephalitis) के परिणामस्वरूप तथा वृद्धावस्था मे मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों (B.V.) मे धमनीजरठता (Arteriosclerosis) होने के कारण होती है । अतिरिक्त मुकुलमार्ग (Extrapyramidal tract) का अङ्गघात (Paralysis) तथा प्रकम्प (Tremors) होते है ।

चिकित्सा :—रोग असाध्य है । इसमे केवल लक्षणों की चिकित्सा की जाती है । रोग की प्रगति रोकना सम्भव नहीं है । **अनम्यता** (Rigidity) कम करने के लिये जो भी औषधि दी जाय उसकी मात्रा शनैः-शनैः बढ़ाना अथवा घटाना चाहिये । औषधि अकस्मात बन्द नही करना चाहिये । औषधि में यदि परिवर्तन करना हो तब प्रथम औषधि की मात्रा कम करते जाना चाहिये तथा नवीन औषधि की मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये । रेबेलोन (Rebellon) की गो. ½ ए. प्र. दि. प्रारम्भ कर **युवावस्था** मे गो. २ त्रि. प्र. दि. तथा वृद्धावस्था मे गो. १ त्रि. प्र. दि. तक देना चाहिये । प्रत्येक-मात्रा को एक सप्ताह प्रयोग कर देखने के पश्चात् मात्रा बढ़ाना चाहिये ।

अन्य चिकित्सा :—रोग असाध्य होने के कारण रोगी की हिम्मत बनाये रखना आवश्यक है । शरीर के केवल एक पार्श्व में विकृति रहने पर **शल्यकर्म** (Op.) द्वारा विकृत मार्ग (Tract) को नष्ट किया जा सकता है ।

उद्वेष्ठन निरोधी (Antispasmodic) औषधियाँ :—इनका प्रयोग करने से पेशियो की अनम्यता (Rigidity) मे अधिक तथा प्रकम्प (Tremor) में कम लाभ होता है । इन औषधितों के प्रयोग से यदि लालास्राव (Saliva) की कमी के कारण मुख सूखने लगे या दृष्टि में गड़बड़ी हो तब उद्वेष्ठननिरोधी औषधि की प्र.मात्रा के साथ पिलोकारपीन नाइट्रेट (Pilocarpine nitrate) ग्रे. १/१६ देना चाहिये । उद्वेष्ठननिरोधी औषधियों को अकस्मात् बन्द नही करना चाहिये । **पैसीटेन (Pacitane)** के प्रयोग के समय यदि दृष्टि मे गड़बड़ी, मिचली या वमन हो तब औषधि की मात्रा कम करना चाहिये या औषधि बन्द कर देना चाहिए । इसके प्रयोग

के समय यदि लालास्राव (Saliva) में वृद्धि हो तब एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० मुख से या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ना चाहिये । विषाक्तता के कारण यदि औषधि बन्द करना पड़े तब पुनः कुछ समय पश्चात् अल्प मात्रा में औषधि प्रारम्भ करना चाहिये। इन औषधियों के प्रयोग के समय रोगी को बराबर देखते रहना आवश्यक है। इन औषधियों को अनेक काल पर्यन्त देना चाहिये । रेबेलोन (Rabellon S. D.), बेलाडोना तथा हायोसायमस का योग है । इसके साथ प्रातःकाल एमफेटामीन (Amphetamine) की गो. १ प्रातःकाल देना चाहिये । सन्ध्या समय एमफेटामीन देने से निद्रा नहीं आती । इन औषधियों की उच्चतम मात्रा पहुँच जाने पर मात्रा शनैः शनैः कम करना चाहिए और प्रत्येक औषधि की निम्नतम मात्रा जिससे रोगी को लाभ हो तथा विषाक्तता न हो उस मात्रा का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये । इसके अतिरिक्त एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/१०० त्रि.प्र.दि., टि. स्ट्रामोनियम (Tr. stramonium) मि. १०–७५ त्रि. प्र. दि. टि. हायोसायमस (T. Hyocyamus) मि.१०-२०, बेनाड्रिल (Benadryl P.D.) मि ग्रा. ५० प्र.कै.१ कै.द्वि. या चा.प्र.दि., पारपानिट (Parpanit Gy) मि. ग्रा. ५०–१०० त्रि. प्र. दि. तथा मायनेसीन (Myenesinelixior mephenesin) ग्रे. १५ ए. या त्रि. प्र. दि. दे सकते है । हायोसायमस (Hoycyamus) के योग लक्षणों की वृद्धि भी करा सकते हैं। एट्रोपीन, स्ट्रेमोनियम तथा स्कोपोलामीन (Scopolamine) की मात्रा तब तक बढाना चाहिये जब तक विपाक्तता के लक्षण न हो । बेनाड्रिल अन्य औषधियों के प्रभाव को बढाती है ।

गतिजन्य रोग (Motion sickness)

परिचय :—इस रोग मे जल या वायुमार्ग से यात्रा करने से मिचली, वमन, चक्कर, क्षुधा में कमी आदि लक्षण होते है । मोटर या रेल द्वारा पर्वत पर चढ़ने से भी ये लक्षण होते है । इस रोग का नेत्र, मध्यकर्ण तथा मनोवैज्ञानिक कारणों (Psy) से सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

प्रतिषेध :—हिस्टामीन निरोधी (Anti-histamines) या शामक (Sedative) अथवा अपर स्वतन्त्र नाड़ी अवसादक (Parasympathetic depressants) औषधियाँ यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व लेने से

लाभ होता है । हिस्टामीन निरोधी औषधियों में वेनाड्रिल (Benadryl), एन्टिस्टीन (Antistin), ड्रामामीन (Dramamine), ट्रिमेटोन (Trematon Sch) आदि की गो.१ त्रि या चा. प्र. लेना चाहिये । इनका प्रभाव सर्वोत्तम है । शामक औषधियों में फेनोबारबिटोन (Phn) ग्रे. १/४–१/२ त्रि. या चा. प्र दि. ले सकते हैं । अपर स्वतन्त्र वातनाडी का अवसाद करने वाली औषधियों मे एट्रोपीन (Atropine) ग्रे. १/२००–१/१०० मुख या अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से त्रि. या चा. प्र. दि. देना चाहिये । इसके स्थान पर स्कोपोलामीन (Scopolamine hydrobrom :) का प्रयोग कर सकते हैं । अपर स्वतन्त्र नाडी का अवसाद करने वाली तथा शामक औषधियों का प्रयोग साथ साथ कर सकते हैं ।

शीतपित्त (Urticaria) तथा वाहिनी-वातनाड़ी जन्यशोफ (Angio-neurotic oedema)

परिचय :—इन रोगो मे अनुर्जता (Allergy) के कारण शरीर के भिन्न भागों में अकस्मात श्वेत या गुलाबी वर्ण के चकत्ते निकलते हैं । शीतपित्त मे चकत्तों से खुजली होती है । यह विकृति तीव्र अथवा चिरकान हो सकती है । जिह्वामूल (Glottis) या स्वरयन्त्र (Larynx) मे शोफ होने से श्वासावरोध के कारण मृत्यु हो सकती है ।

चिकित्सा । (क) **प्रतिषेध :**—यदि किसी विशेष पदार्थ के द्वारा रोग का उद्वेग होता हो तब उस पदार्थ (पृ. ४) का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यदि उद्वेग किसी विशिष्ट समय पर होता हो, तब उस समय से १/२ घण्टे पूर्व पेप्टोन का योग (यो. ३४) एक मात्रा देना चाहिये । अत्यधिक शीत तथा अत्यधिक गर्मी से बचना चाहिये । त्वचा पर किसी प्रकार का क्षोभक पदार्थ (Irritant) नहीं लगाना चाहिये । मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psy) से लाभ होता है । यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रायः किसी भी औषधि के प्रयोग से अनूर्जता के लक्षण हो सकते हैं । इन औषधियो मे पेनिसिलीन (P) सल्फा (Sa), क्वीनन (Q), सैलिसिलेट (Salicylate), ब्रोमाइड (Bromide), आयोडाइड (Iodide), बारबिटोन (Bn), अफीम आदि प्रधान है ।

(ख) **उद्वेग के समय :**—मैगसल्फ (Mag. sulph) द्वारा विरेचन (Purge) करना चाहिये । उपवृक्की (Adrenaline) १-१०००,

सी सी. १/२ अधस्त्वक (S. C.) मार्ग से देना चाहिये । कण्ठशोफ (Oedema glottis) होने पर उपवृक्की मुख द्वारा या इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिये । इस अवस्था में कण्ठनलिकाच्छेदन (Tracheotomy) की आवश्यकता पड़ सकती है । ब्रोमाइड (Bromide) या एफेड्रिन (Ephedrine) १/२ ग्रे. मुखमार्ग से द्वि प्र. दि. दे सकते हैं । पियूषग्रंथि सत्व (Pituitrin) १/२ सी. सी. का अधस्त्वक मार्ग से इन्जेक्शन लगा सकते हैं । वेनाड्रिल (Benadryl) मुख द्वारा मि. ग्रा. ५० त्रि. प्र. दि. अथवा ०.०५ ग्रा. इन्जेक्शन द्वारा दे सकते हैं । एन्थिसान (Anthisan), एन्टिस्टीन (Antistin) अथवा फेनर्जन (Phenargan) का प्रयोग भी लाभप्रद है । कैलसियम (Cal), आत्म-शोणित चिकित्सा (Auto hemotherapy) तथा जीवतिक्ति 'के' (Vit : K) का प्रयोग भी किया जाता है । इफेड्रिन (Ephedrine sulph) तथा फेनोबारबिटोन (Phn) दोनों एक साथ ग्रे. १/४ की मात्रा में त्रि. या चा. प्र. दिन देना चाहिये । गम्भीर अवस्था मे कौरटिसोन (Cortisone), एसीटीएच (Acth) आदि प्रयोग कर सकते हैं । त्वचा पर कण्डुनिरोधी चूर्ण (यो. ७३) या मलहम (यो. ७६) लगाना चाहिये ।

(ग) शीतपित्त की आयुर्वेदिक चिकित्सा :—

प्रथम उपयुक्त विधि से संशोधन करा देना चाहिये । क्षार, सैन्धव, तैल अथवा गैरिक का बाह्य प्रयोग करें । गिलोय, हल्दी, नीमछाल व धमासा का क्वाथ दे सकते हैं ।

औषधियाँ :—हरिद्रा खण्ड ½ तोला, आर्द्रक खण्ड ½ तोला, वीरेश्वर-रस २ रत्ती और रसादि गुटी २ रत्ती ।

प्रयोग

(१) कामदुधा चूर्ण २ मा.
दुग्ध पाषाण २ मा.
मि. ४ मात्रा उष्णोदक से

(२) एरण्ड तैल २ तो.

(३) रसपुष्पादि चूर्ण ४ र.
२ मात्रा रात्रि में

(४) सेंधानमक व गो घृत का लेप

श्वेतप्रदर (Leucorrhoea)

परिचय :—इस रोग में योनि (Vulva) से श्वेत रक्तविहीन स्राव निकलता है। योनि में स्थानिक विकृति के अतिरिक्त जब भी स्त्री का स्वास्थ्य विकृत होता है तब यह लक्षण हो सकता है। इसलिए स्थानिक परीक्षा के साथ साथ मधुमेह (Diabetes), फिरङ्ग (Syphilis), रक्ताल्पता (Anaemia), यकृत तथा हृदय आदि के रोगों के लिये भी रोगिणी की ध्यानपूर्व परीक्षा करनी चाहिये तथा इनकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। योनि से स्राव लेकर गुह्य गोलाणु (Gono), छत्राणु (Monilla), ट्राकोमोनस (Trichomonas), मालागोलाणु (Strepto:) आदि के लिये देखना चाहिये। गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) पर व्रण आदि के लिये देखना चाहिये।

चिकित्सा :—रोगिणी के स्वास्थ्य की वृद्धि का उपाय करना चाहिये। हॉरमोटोन 'टी' (Hormotone T) की एक गोली द्वि. प्र. दि. या स्टिलबेस्ट्रोल (Stilboestrol) १ मि. ग्रा. प्र. दि. मुख द्वारा देना चाहिये। लैकटिक एसिड (Lactic acid) ओ. ६० को एक पा. जल में मिला कर योनिगुहा धोना चाहिये तत्पश्चात् एस. वी. सी. (S. V. C. M & B) की एक गोली रात्रि में योनि मार्ग में प्रवेश कर सकते हैं। गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) पर व्रण (Ulcer) होने पर पेनिसिलीन (P) का प्रयोग करना चाहिये। रोग की अवस्था तथा जीवाणु की प्रकृति के अनुसार निम्न चिकित्सा कर सकते हैं। (क) योनि के स्राव मे केवल **गोलाणु** (Cocci) मिलने पर उपदेश (Gono) की चिकित्सा के समान मुख से सल्फा (S) औषधि तथा इंजेक्शन द्वारा पेनिसिलीन (P) देना चाहिये। योनि को डेटौल (Dettol) $\frac{1}{2}$ प्र. श. या बारिक (Boric) २ प्र. श. या मरक्यूरोक्रोम (Mercurochrome) १ प्र. श. से ए. प्र. दि. धोना चाहिये। इस चिकित्सा से उपसर्ग ठीक हो जाने पर योनि में स्टिलबेस्ट्रोल (Stilboestrol) या ओवोसाइक्लीन (Ovocyclin) की मलहम दो सप्ताह द्वि. प्र. दि. लगाना चाहिये। **वृद्धावस्था** में यह रोग होने पर उपर्युक्त चिकित्सा के अतिरिक्त ओएट्रोजेन (Oestrogen) मि. ग्रा. १ मुख से ए. या द्वि. प्र. दि. देना चाहिये। (२) **युवावस्था** में प्रायः गर्भाशयग्रीवा

(Cervix) पर व्रण मिलते हैं। उपर्युक्त चिकित्सा के अतिरिक्त दुग्ध (Lactolan) सी. सी. २–१० पेशीमार्ग से द्वि. प्र. स. देना चाहिये। डायथर्मी (Diathermy) से लाभ हो सकता है। व्रण पर मरक्यूरोक्रोम २ प्र. श. या पिक्रिक एसिड (Picric acid) अथवा इक्थीयोल ग्लिसरीन (Ictheol-glycerine) बराबर-बराबर मात्रा में लगा सकते। विद्युत हैं द्वारा व्रण को जलाया (Cauterize) भी किया जा सकता है। (३) योनि के स्राव में **ट्राइकोमोनस** (Tricuomonas) मिलने पर एस.वी.सी. (S. V. C.), डेवीगान (Devigan), एसिटारसल (Acetarsol) आदि की गोली या चूर्ण रात्रि में सोने के पूर्व योनि के अन्दर प्र. दि. रखना चाहिये। दूसरे दिन प्रातःकाल योनि को समबल लवणघोल (N. Saline) से धोना चाहिये।

परिशिष्ट

ABBREVIATIONS

A — Auricle
Abd. — Abdomen
Abt. — Abbott Co.
A. Co. — Armour & Co.
Acn — Achromysin
A.D. — Albert David Co.
A.F. — Auricular fibrillation
A.F.D. — Anglo-French Drug Co.
Ag NO_3 — Silver nitrate
A.H. — Allen Hanbury Co
Alb. — Albumin
A -N. — Angio-neurotic
Ant — Anterior
A.P. — Artificial pneumothorax
Aq. — Aqua
Aq. dist. — Aqua distillata
A.R. — Argyll Robertson
Art. — Artery
As — Arsenic
Au. — Aureomycin
A -V. — Auriculo-ventricular
B — Bacillary, Bacillus
B.C.P.W — Bengal Chemical & Pharmaceutical Works
B.D.H — British Drug House
Bis. — Bismuth
B.M. — Boehringer Manerheim
B.M.R. — Basal Metabolic Rate
Bn. — Barbitone
Bo. — Boots
B.P. — Blood Pressure
B.P.P. — British Pharmacopia preparation
Br. — Bayer
B S — Brown Sequard
B.T. — Benign Tertian
Btn — Bacitracin
B V. — Blood vessel
B.W & Co. — Burroughs Wellcome Co.
C. — Calorie
Ca. — Ciba Co.
Cal — Calcium
C C. — Cubic Centimeter
C. Ch — Camden Chemicals
Ce — Coramine
C-F. Test — Complement Fixation Test
C G — Cow & Gate Co.
C.H F. — Congestive Heart-Failure

Cho — Carbohydrate
Chro. — Chronic
C.I. — Colour Index
C.K — Carnik Co.
Cl — Chloride
Clg — Cilag
Cln. — Chloromycetine
C.M. — Centimeter
C.M.M — Cubic millimeter
C.N.S. — Central Nervous System
Co — Crooks
Conj. — Conjunctiva, conjunctivitis
Const. — Constipation
Co_2 — Carbondioxide
C-S — Cheyne Stokes's
C-S. fluid — Cerebro-spinal fluid
C V. — Cardio-vascular
D.C. — Differential count
D.D. — Differential diagnosis
Dia. — Diarrhoea
Diag — Diagnosis
Dil. — Dilute
Dist. — Distilled
Dys — Dysentery
Dx. — Dumex
Ecg — Electrocardiogram
E F. — Eruptive fevers
E H. — Entamoeba Histolytica
E.I. — East India Co.
Eo — Eosinophil
Ep — Epigastrium
E.R D. — Electrical reaction of degeneration
Ery — Erythromycine
E.S.R. — Sedimentation Rate
Ex. — Extra
Exam. — Examination
Exp. — Expiration
Expect. — Expectoration
Ext — Extract
Extl. — External
F — Fahrenheit
F.B. — Foreign body
Fe. — Iron
Fib. — Fibrillation
Ft. — Fat
G.I — Gastro-intestinal
G.L. — Gluconate Ltd.
Gono. — Gonorrhoea, Gonococcus
Go. — Glaxo
G P. — Gland puncture
G.P.I. — General paralysis of insane
G R — Gedon Ritcher Co.
Gt — Grimault Co.
Gy. — Geigy
H. — Hydrogen
Hb. — Haemoglobin
Hb-uria — Haemoglobinuria
Hcl. — Hydrochloric Acid

Hcn. — Hydrocyanic acid
H D. — Himalian Drug Co.
Hg. — Mercury
H.H.C.D. — Hommel Haematogen Drug Co
Ho. — Hochest
H P. — Herts Pharmaceuticals
Ht. — Heart
H.W. — Hook-worm
Hyd. — Hydroclor
H_2O_2 — Hydrogen peroxide
I.B L. — Immuno Biological Lab.
I.C I. — Imperial Chemical Industries
I.D. — Intradermal
Ifn.. — Infection
I.I. — Icteric Index
Inf — Inferior
Inj. — Injection
Insp. — Inspiration
Int — Intestines
I.P. — Incubation period
I.R. — Infra-red
I.T. — Intrathecal
Itn. — Iliotycin
I.U. — International Unit
I.V. — Intra-venous
Jt. — Joint
J.W. — John Wyeth
K. — Potassium
K.A. — Kala Azar
Kbr. — Pot bromide
Kg. — Kilogram
Ki. — Pot iodide
Kl — Knoll
$Kmno_4$ — Pot permanganate
L. — Lumbar
Lat. — Lateral
Lb. — Pound
L D. — Leishmania Donovani
Le — Lederle
L M.N. — Lower motor neurone
Lnt. — Liniment
L.P. — Lumbar puncture
Lt. — Left
Ly. — Lilly
Lympho — Lpmphocytes
M. & A. — Morphine & Atropine
Mag. — Magnesium
Mbm. — Metabolism
M.C.H. — Mean corpuscular hæmoglobin
M.C.H.C. — Mean corpuscular haemoglobin concentration
M.C V. — Mean corpuscular volume.
Mens. — Menstruation
M F — Malaria fever
M J. — Mentley James Co.
Mk. — Merck Co.
M M. — Mucous membrane
Mono. — Monocytes

M.P. — Malaria parasite
M.S. — Mitral stenosis
M.T. — Malignant tertian
N. — Normal
Na. – Sodium
Nabr — Sodium bromide
Nacl. — Sodium chloride
Na I. — Sodium iodide
N D.C. — National Drug Co.
Neutro — Neutrophile
NH_4 — Ammonia
Nn. — Neomycine
N P. — Neo-Pharma Co.
N.P N. — Nonprotein nitrogen
N R. — Nava Ratna
Nt. — Nitrogen
O_2 — Oxygen
Obst. — Obstruction
Ol. — Oil
On. — Organon Co
Op. — Operation
Oz. — Ounce
P. — Penicillin
P.A. — Pernicious anaemia
Pb. — Lead
P.c. — Percent
P.G. — Penicillin 'G'
Ph. — Phosphorous
Phn. — Phenobarbitone
Pig. — Pigment, Pigmentation
P.L. — Prothrombin level
P.M. — Per minute
P. Na — Penicillin sodium
Poly — Polymorph
Post — Posterior
Ppt. — Precipitate
Prophy — Prophylaxis
Pr. P. — Procaine penicillin
Psy. — Psychotherapy
Ptn. — Protein
P U. — Penicillin Unit
P.V. — Plasmodium vivex
Px. — Polymixine
P & B — Paines & Berne Co.
Q. — Quinine
R B. — Raptakos Brett Co.
R.B.C. — Red blood corpuscle
Re. — Roche Co
R.E S. — Reticulo-endothelial system
Resp. — Respiration
R.L. — Rousell Lab.
Rt — Right
R.W. — Round-worm
S. — Sulpha
S.A. — Sino-auricular
S.A.S. — Stokes Adam syndrome
Sb. — Antimony
S.C. — Subcutaneous
Sch — Schering Co.
S.D. — Sharp Dohme Co
S K F.L. — Smith Klin & French Lab.
SO_4 — Sulphate
Sol. — Soluble

S.P. — Sternal puncture
Sq. — Squibb & Co.
Sp. gr. — Specific gravity
Spt. — Spirit
S S. — Saturated solution
S.S C. — Smith Stanistreet Co
St. -- Stomach
Staph. — Staphylococcus
Str. -- Streptomycine
Strepto. — Streptococcus
Sup. — Superior
Syr. — Syrup
Sz — Sandoz Co.
T. — Thoracic
Tab. — Tablet
T.B. — Tuberculosis
T,C. — Total count
T.C.C O. — Turpentine, camphor creosote & olive oil
Temp — Temperature
Tn. — Terramycine
Tne. — Testosteron
Tr. — Tincture
Trans.' — Transfusion
Tyn. — Tyrothricin
Uj. — Upjohn Co.
U L — Unichem Lab.
U.M.N. — Upper motor neurone
Ung. — Unguentum
U.S. — Urea stibamine
U.S.P. — United States Pharmacopia
U,V. — Ultra violet
V. — Vibrio
V.D.R.L. Test — Venereal Diseases Research Lab. Test
V.F. — Vocal fremitus
Vent — Ventricle
Vit. — Vitamin
V.L. — Vitamins Ltd.
V R — Vocal resonance
V S. — Venesection
Wan. — Wander
W.B.C. — White blood corpuscle
W C. — Whooping cough
W.Co. — Winthrop Co.
W.R. — Wassermann's test

सांकेतिक शब्द-सूची

अं० इ० — अन्तर्राष्ट्रीय इकाई

अ० चे० ना० — अधो-चेष्टावह-नाडी-कन्दाणु

अ० प्रो० भू० — अप्रोभूजिन भूयाति

आ० अ० — आवश्यकता अनुसार

इं० — इंच

ऊ० चे० ना० — ऊर्ध्व-चेष्टावह-नाड़ी-कन्दाणु

ए० — एक बार

ए० प्र० दि० — एक वार प्रति दिन

आ० — आहार

औ० — औंस

अ० का० धा० ना० — अन्तःकाम-रूपीय धातुनाशी

क० — कैलारी

कि० ग्रा० — किलो ग्राम

कै० — कैप्स्यूल

ग्रा० — ग्राम

गो० — गोली

ग्रे० — ग्रेन

घ० — घन

घ० से० मी० — घन सेन्टीमीटर

घं० — घन्टा

च० — चाय का चम्मच

चा० — चार बार

छ० — छटाँक

ता० — तालिका

त्रि० प्र० दि० — त्रिवार प्रतिदिन

दि० — दिन

द्वि० — द्विवार

दू० — दूसरे

प० ज० — परिश्रुत जल

प० पृ० — परिशिष्ट-पृष्ठ

पा० — पाइन्ट

पौ० — पौन्ड

प्र० — प्रति

प्र० घ० मि० मी० — प्रतिघन-मिली मीटर

प्र० दि० — प्रतिदिन

प्र० पौ० भा० — प्रति पौन्ड-रोगी का भार

प्र० मि० — प्रति मिनट

प्र० से० भा० — प्रतिसेर रोगी का भार

प्र० श० — प्रतिशत

पृ० — पृष्ठ

फा० — फारेनहाइट

भा० — भार, वजन

भो० प० — भोजनोपरान्त

भो० पू० — भोजन के पूर्व

मा० — मास

मा० ग्रा० — माइक्रो ग्राम
मि० — मिनिम
मि० क्यू० — मिली क्यूरी
मि० ग्रा० — मिली ग्राम
मि० मी० — मिली मीटर
मि० मी० पा० — मिली मीटर पारद
यो० — योग
यू० एस० पी० — यूनाइटेड स्टेट्स फार्माकोपिया
ल० — लक्ष
लि० — लिटर

ली० डो० — लीशमान डोनोवान
वा० — वार
वि० गु० — विशिष्ट गुरुत्व
वै० अ० प्र० — वैद्युतिक अपजनन प्रतिक्रिया
स० — सप्ताह
से० — सेन्टी ग्रेट
सी० सी० — घन सेन्टी मीटर
से० मी० — सेन्टी मीटर
श० — शत

पारिभाषिक शब्दकोष

Acidophylus bacillus अम्लप्रिय दण्डाणु
Active. सक्रिय
Adenoma. गण्डार्बुद, ग्रन्थ्यर्बुद
Adsorption. अधिचूषण
Aerobic वातपी
Albumin globulin ratio शुक्लि आवर्तुलि अनुपात
Aleukaemic leukaemia अश्वेतमय श्वेतमयता
Alkaloid. क्षाराभ
Alternating method अन्तरित पद्धति
Amoebiasis. आमरूपीयता
Anaerobic वातभी
Ant : axillary line. पूर्वकद्य रेखा
Antibody. प्रतियोगी
Antibiotic तृणाणु नाशक
Anthracine. अन्थ्रासीन
Analeptic. स्वास्थ्यकर
Atrophic. अपुष्टिकर
Auto-haemo-therapy. आत्मशोणित चिकित्सा
Auto-vaccine. आत्म मसूरी
Auriculo-ventricular node. अलिन्दनिलय सपात
Avirulent. अनुग्र
Balanced. सन्तुलित
Batch. जत्था
Bilirubinaemia. पित्त-रक्तिमयता
Blistering. उद्स्फोटन
Blood-grouping. रक्त गणीकरण
Blood-urea clearance-test. रक्तमिह निष्कासन कसौटी
Basal metabolic rate. आधारिक समवर्त
B proteus. नाना रूप दंडाणु
B. proteus vulgaris सामान्य नाना रूप दण्डाणु
Bulb. कन्द
Bursa. कलापुटक
Carotid sinus मन्या कोटर
Cauterization. दाहकर्म, अग्निकर्म
Centrifuge. केन्द्रापसारित्र
Chemotherapy. रसचिकित्सा

Cherry red. अधिरक्त
Chilblain. बिवाई
Cinchonism. सिनकोना की विपाक्तता
Cisternal puncture. प्रपावेधन
Clostridium welchii. वेलची गदाणु
Climatic bubo. जलवायु-जन्य वद
Clitoris. भगशिश्निका
Clouding. अभ्रता
Complement fixation test. सपूरक बधन कसौटी
Complex. जटिल
Concentrated. सकेन्द्रण
Confusion. भ्रम
Constituents सघटक
Constitutional. आत्म प्रकृतिक
Convalescent serum सन्निवृत्त लसिका
Cor pulmonale. फुफ्फुसज हृदयाभि वृद्धि
Corpus luteum. बीज कीणपुट
Corpora cavernosa. शिश्न पार्श्विका कन्दरा पेशी
Costo-vertebral angle पर्शुकपृष्ठवंश कोण
Cowpox. गो मसूरिका
Crisis. दारुण्य
Crutch. आधार दण्ड
Cubital fossa. मध्य बाहुका खात
Cubital vein. मध्य बाहुका शिरा
Cupping. तुम्बी लगाना
Curetting. लेखन क्रिया
Currant jelly sputum. प्रवाही श्लेष्मक् वत् ष्ठीवन
Cylinduria. निर्मोक मेह
Deficiency disease. हीनता रोग
Dep t insulin. निधान मधुनिषूदनि
Dermatomyocitis. चर्म-पेशीशोथ
Dermatographia. चर्म शारीर
Desensitization. विसूक्ष्म वेदनता
Deviated. विचलित
Diabetogenic. मधुमेह-जनक
Dibothriocephalus latus दीर्घद्विनाल शिर कृमि
Dilute. अवमिश्र
Disposal. विनियोग

Dizziness. चक्कर
Electro-cardiography. विद्युत हृल्लेखन
Electric cautery. विद्युत अग्निकर्म
Embryo. भ्रूण
Emotion. भावना
Emulsion. निलम्बन
Endometrium. अन्तर्गर्भाशय
Endometriosis. अन्तर्गर्भाशयता
Endothelium. अन्तच्छद
Enzyme. अन्त:किण्व
Epidydimis. अधिवृषणिका
Epithelia. अधिच्छद कोषायें
Epithelium. अधिच्छद
—columnar. स्तम्भाकार
—stratified. स्तरीभूत
Erythema marginatum. प्रान्तवर्ती रुधिरता
Erythroblast. रुधिरोत्स्फोट
Erythroblastosis foetalis. गार्भिक रुधिरोत्स्फोटोत्कर्ष
Eunuchoidism. षँढाभता
Euphoria. सुखोपलब्धि
Eustachian tube. श्रुति सुरंगा
Evulsion. उत्पाटन
Exchange transfusion. विनिमय रक्त संक्रम
Exfoliative. अपपर्णनशील, अपपर्ण कर
Exo-erythrocytic cycle. रुधिर कायाणु बाह्य अवस्था
Extra cellular fluid कोशा बाह्य तरल
Exudative. निर्यास शील
Fascia. कला
Fibro-caseous. तन्तु किलाटीय
Flask. पलिध
Fluorescopy. च-रश्मि दर्शन
Flush latrine. उद्धावित शौचस्थान
Foreign protein shock. विजातीय प्रोभूजिनाघात
Fractional. आंशिक
Friedlander bacillus. फ्रीडलंडर दण्डाणु
Frost bite. हिम दग्ध
Gonadotrophic. प्रजनावर्तिक
Granulation. कणिकाभवन
Granuloma inguinale वंक्षणीय कणिकार्बुद
Guineapig. वणट मूष

Harmless. अनपकारी
Heat exhaustion. तापक्षीणता
Hirsutism. प्रचुर लोमता
Hormone. अन्त:श्राव
Human immune globulin मानवीक्षम आवर्तुलि
Human serum albumin. मानवी लसिका शुक्लि
Hutchinson's triad. हचिसन की त्रयी
Hydatid. कोष्ठ पुंज कृमि
Hyper-keratosis. परम श्लक्ष्ण चर्मता
Hyper-thyroidism. परमावटुक ग्रंथिता
Hypo-prothrombinaemia. अल्पपूर्व घनाश्रिमयता
Idiosyncrasy. अज्ञात प्रकृति
Iliac artery. अधिश्रोणिका धमनी
Illusion. आभास
Immune bodies क्षम द्रव्य
Immune serum globulin क्षम लसिका आवर्तुलि
Incision. भेदन, चीरा लगाना
Industrial settlement. औद्योगिक उपनिवेश
Infiltration. अन्तर्भरण
Intensive method. अतिमात्र पद्धति
Internal sephenous vein अन्तरध : शाखीया शिरा
Irradiation sickness. रश्मि रोग
Keloid. कीण, व्रण वस्तु अर्बुद
Keratinization. शाङ्ग भवन
Klebsiella pneumonie. क्लेबसिल्ला फुफ्फुस पाकी
Laryngismus. कण्ठोद्वेष्ठन
Latent. सुप्त
Lozenges. मुख टिकिया
Lymphogranuloma venereum. रतिजन्य लसकणिकार्बुद
Macrophage. स्थूल भक्ष
Magenta. मजिष्ठ रग
Malaria survey. विषम ज्वर परिमार्गण
Mask अवगुठ
Mass. पिण्ड, गोला
Media वर्धनक
Medulla. सुषुम्नाशीर्ष
Meningo-encephalitis सावरण मस्तिष्क शोथ
Mental confusion मतिभ्रम
Methaemoglobin. समशोणवर्तुलि

Metropathia. गर्भाशयविकृति
Milk protein दुग्ध प्रोभूजिन
Monocytic. एक कायाणिवक
Mononeucleosis. एक न्यष्टिकता
Mosquito brigade. मशक गण अनुधावी
Motion sickness. गति जन्य रोग
Mustard plaster. सर्षप लेप
Myasthenia gravis. गभीर पेश्य वसन्नता
Nipple. चूचुक
Non protein nitrogen. अप्रोभूजिन भूयाति
Nonspecific protein therapy. अविशिष्ट प्रोभूजिन चिकित्सा
Oil immersion field तैलावगाही क्षेत्र
Oleo thorax. तैलोरस
Olive oil. जैतून का तैल
Orange. नारङ्गी
Organic chemical. सेन्द्रिय रसायन
Osmosis. आसृति
Osmotic pressure. आसृतीय निपीड
Osteoblast. अस्थ्युत्स्फोटक कोशा
Osteoclast. अस्थ्युद्धंसक कोशा
Osteoporosis. अस्थि सार्विर्य
Ovarian follicle. बीज कोष कूप
Ovule. अण्डिका
Ovum. अण्डा
Oxyhaemoglobin. जार शोण वर्तुलि
Paracentesis abdominis. उदर परिवेधन
Parasthesia. दुस्संवेदना
Parasympathetic. अपरस्वतन्त्र वात-नाड़ी संस्थान
Passive. निष्क्रिय
Pellets. गुटिका
Pentavalent. पंचयुज
Periarteritis nodosa. ग्रंथिल परिधमनी शोथ
Peritoneal fluid. पर्युदर जल
Permeability. प्रवेश क्षमता
Piston. दण्ड
Placental extract. अपरानिस्सार
Plastic surgery. संधान शस्त्र-कर्म

Pleocytosis. बहुल कायाणूत्कर्ष
Pneumolysis. फुफ्फुस बन्धोत्पादन
Pneumonectomy. फुफ्फुसोच्छेदन
Pollan. पराग
Popliteal artery. उरुजानु पृष्ठिका धमनी
Porous. छिद्रा
Porphyrinuria. राजीविमेह
Portal circulation. प्रतिहारी रक्त संचार
Post-axillary line. पश्चिम कक्षरेखा
Post-basic tie. पश्चिम मूलाधास्कि
Preference. संवरण
Priapism. पीड़ाकरध्वजहर्ष
Primary atypical pneumonia. प्राथमिक अन्यथारूप फुफ्फुसपाक
Provocative test. प्रोद्दीपक कसौटी
Psittacosis. शुकामयता
Psoriais. मूक कुष्ठ
Pulsating tinnitus. स्पन्दन शील कर्णक्ष्वेड
Pumpkin seed. काशीफल बीज
Punched out. निच्छिद्रित
Puerperal sepsis. प्रसूति ज्वर
Putrid. पूतिक
Pyo-nephrosis. पूयापवृक्कता
Quotidian. अन्येद्युष्क
Race. वंश
Radio active iodine. तेजोद्गार जम्बुकी
Rarefication. विरली भवन
Rash. विस्फोट
—scarlatiniform. लोहित ज्वरनिभ
Recinous seed. एरण्ड बीज
Reconstituted serum पुनः सघटित लसिका
Refractory. अविनेय
Resistant. अविरोधी
Rhubarb. रेवाचिनी
Rods (retinal). दृष्टि वितान दण्ड
Sample. नमूना, परीक्ष्य द्रव्य
Sanatorium. आरोग्य भवन
Scale. पपड़ी
Sclera. खरवृत्ति
Scleroderma. खर चमता

Secondary phase. द्वितीयक अवस्था
Sensitiveness. सूक्ष्म वेदनता
Sensitivity test. सूक्ष्म वेदना कसौटी
Septic tank. दूषित टंकी
Sex hormone male. पुरुषत्व अंतःश्राव
Sickle cell. दात्राकारी, वक्र चन्द्राकार
Sino-auricular node. सिराअलिन्द संपात
Skin grafting. त्वक् संधान
Smooth muscle. मसृण पेशी
Spherocytic. गोलक कायाणु
Spino-thalamic tract. सुषुम्नाभिकन्द मार्ग
Splint. कुशा
Spore. क्षुल्लक
Status angiosus. शूलात्मिका स्थिति
Status asthmaticus. श्वासात्मिका स्थिति
Sterility. वन्ध्यता
Sternal puncture. उरः फलक वेधन
Steroids. सान्द्राभ
Strain. समजाति
—avian. पाक्षिक
—bovine. गव्य
—human. मानवी
—piscian. मत्स्य
Strangulation. गलपाशन
Strepto : faecalis. वैष्ठिक माला गोलाणु
Strepto : viridans. हरित माला गोलाणु
Streptomyces. मालाकवक
Superficial. उत्तान
Suppressive treatment. सन्निरोधी चिकित्सा
Sympathomimetic. स्वतंत्रा वात नड़ी कार्यानुकारी
Synergism. सहक्रियता
Telangiectasis. रक्तवाहिनी अभिस्तीर्णता
Tenacious. चिपचिपा
Test meal. भोजन कसौटी
Theca cell. प्रवर कोषायें
Therapeutic index. औपशयिक देशना
Therapeutic paradox. औपशयिक विरोधाभास
Thick slide. स्थूल प्रलेप
Thin slide. तनु प्रलेप
Thoracoplasty. पर्शुकोच्छेदन

Thromboplastine. घनात्र संधानि

Thrush. बालमुख पाक

Tourniquet. बंधन

Trench foot. खात पाद

Trigger zone. स्फोटक कटिबन्ध

Trivalent. त्रियुज

Urea-concentration test. मिह संकेन्द्रण कसौटी

Vacuoles. रिक्त गोल

Vaso-depression. वाहिन्यवसादन

Vaso-motor. वाहिनी नियन्त्रक

Vaso-motor tone. वाहीनी गत बल

Venereal. रतिजन्य

Vincent's angina. विंसेंट का गलरोग

Xanthochromia. पीत वर्णता

योग (संकेत = यो०)

मुख मार्ग से

(क) क्षारीय, मूत्रल, ज्वरनिरोधी (Alkaline, diuretic, diphoretic) योग :—

१—पोटास साइट्रस (Pot: citras) ग्रे० २०
पोटास बाइकार्ब (Pot: bicarb) ग्रे० २०
पोटास एसिटस (Pot: acetas) ग्रे० २०
शर्बत (Syr:) ड्रा० १
जल औं० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि त्रि० प्र० दि० दे।

२—पोटास एसिटस (Pot. acetas) ग्रे० १०
पोटास साइट्रस (Pot. cit) ग्रे० १०
पुनर्नवा सत्व (Ext: punarnava) मि० ३०
डाइयूरेटिन (Diuretin) ग्रे० ४
मुलेठी सत्व (Ext: glycyrrhiza liq) मि० ३०
शर्बत (Syr.) मि० ६०
जल (Aq:) औं० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि त्रि० प्र० दि० दें।

३—पोटास एसिटस (Pot: acetas) ग्रे० १०
पोटास बाइकार्ब (Pot: bicarb) ग्रे० १०
कैलसियम आयोडाइड (Cal: iodide) ग्रे० ५
डायूरेटिन (Diuretin) ग्रे० ५
कैसकरा सत्व (Cascara evacuant.) मि० २०
थायोकौल (Thiocol) ग्रे० ३
शर्वत कैलसियम (Syr: cal: hypophos) ड्रा० १
जल औं० १

विधि :—उपर्युक्त मात्रा०त्रि०प्र० दि० भो० प० दें।

(ख) विषम ज्वर (M. F.) के योग :—

४—क्विनीन हाइड्रोक्लोर (Q: hyd:) ग्रे० ६
एसिड हाइड्रोक्लोर डिल (Hcl dil:) मि० १०
शर्वत (Syr:) मि० ६०
जल (Aq:) औं० २

निधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि० प्र० दि० दें।

क्विनीन का फेनिल योग (Effervescing mixt:)

५—(च) क्वीनीन हाइड्रोक्लोर (Q: hyd) ग्रे० ६
नीबू का सत्व (Acid: citric) ग्रे० १५
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) मि० ६०
जल पुदीना (Aq. m. p.) औं० ½
(छ) अमोन कार्ब (Ammon carb) ग्रे० ४
पोटास बाइकार्ब (Pot : bicarb) ग्रे० २०
विधि :—पीने के पूर्व दोनो औषधियो की एक-एक मात्रा मिलाकर त्रि० प्र० दि० दे।

६—कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate) ग्रे० १०
सोडियम ब्रोमाइड (Sodi : bromide) ग्रे० १०
टि० वेलाडोना (Tr : belladonna) मि० ८
सिरप शन्तरा (Syr : aurenti) मि० ६०
जल कपूर (Aq : camphore) औं० ½
विधि :—उपर्युक्त मात्रा क्वीनीन देनेके १ घ० पूर्व दें।

७—अरिस्टोचीन (Aristochin) ग्रे० ६
गोंद (Gum accacia) आ०आ०
शर्बत टोलू (Syr tolu) मि० ६०
जल (Aq) औं० १
विधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

चार सल्फ (Four sulph) योग :—

८—क्विनीन सल्फ (Q. sulph.) ग्रे० ३
ऐसिड सल्फडिल (Acid sulph dil) मि० १०
फेरी-सल्फ (Ferri sulph) ग्रे० ३
मैगसल्फ (Mag sulph) ग्रे० ३०
लाइकर आरसेनिकैलिस हाइड्रोक्लोर (Liq. arseni hyd) मि० ३
शर्बत शतरा (Syr:aurenti) मि० ६०
इलायची का सत्व (Tr. card co) मि० ६०
जल (Aq) औं० १
विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० भो० प० दे।

(ग) वमन निरोधी :—

९—शर्बत टोलू (Syr: tolu) ड्रा० १
एड्रीनलीन क्लोराइड (Adrenaline chloride) १: १००० मि० ५
हाइड्रोसायनिक एसिड डिल (Hcn: dil:) मि० १
लूगोलकी आयोडीन (Lugol's iodine) मि० १
जल ड्रा० २
विधि :—आ० अ०।

१०—सोडी बाइकार्ब (Sodi: bicarb) ग्रे० १०
विसमथकार्ब (Bis : carb) ग्रे० १०
मैग कार्ब (Mag : carb : pond) ग्रे० १०
हाइड्रोसायेनिक अम्ल डिल (Hcn. dil :) मि० ३
टि० कार्ड को (Tr. card : co) मि० ३०
स्पिरिट क्लोरोफोर्म (Spt : chloroform) मि० ५

शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) मि० ६०
अजवायन का जल (Aq. ptychotis) औ० १
विधि :—आ० अ० प्रति ४ घण्टे दें।

(घ) यकृत के रोग में :—

कामला (Jaundice) के लिये :—

११—सोडी-वेनजोअस (Sodi benzoas) ग्रे० ४
,, सैलीसिलस (Sodi-salicylas) ग्रे० ५
,, बाइकार्ब (Sodi-bicarb) ग्रे० १०
,, सल्फ (Sodi-sulph) ग्रे० २०
,, फौस (Sodi-phos) ग्रे० २०
कालमेघ का तरल सत्व (Ext : kalmegh liq.) मि० ३०
शर्बत (Syr :) मि० ६०
जल (Aq.) औ० १
विधि :—उपर्युक्त औषधि प्रति चार घण्टे दें।

शैशवीय यकृतविकृति (Infantile liver) में :—

१२—जीवतिक्ति बी संपूर्ण (Vit:B. complex) गो० १/४
हाइड्राजकमक्रीटा (Hyd : cum creta) ग्रे० १/४
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० १
लैक्टोपेप्टीन (Lacto-peptine) ग्रे० १
भस्म इपीकाक (Pulv : ipecac : radix) ग्रे० १/१२
,, रिहाई (Pulv : rhei : radix) ग्रे० १
,, यूनिमिन (Pulv : eunimin) ग्रे० १/१२
एरिस्टोचीन (Aristochin) ग्रे० १
दुग्ध शर्करा (Lactose) ग्रे० १
विधि :—उपर्युक्त मात्रा २ वर्ष के शिशु को त्रि० प्र० दि० दें। पतले दस्त होने पर द्वितीय औषधि की मात्रा कम कर खड़ियाकी भस्म (Pulv : creta : aromat :) ग्रे० १ प्र० मात्रा मिला दें।

(अं) खाँसी में :—

दमा की उद्वेष्ठन निरोधी (Anti-spasmodic) औषधि :—

१३–पोटास आयोडाइड (Pot : iodide) ग्रे० ३
पोटास बाइकार्ब (Pot : bicarb) ग्रे० १०
टि० सिल्ला (Tr. scilla) मि० १०
टि० लोवेलिया ईथरिस (Tr. lob-aetheris) मि० १०
इफेड्रिन हाइड्रो० (Ephedrine hyd:) ग्रे० $\frac{1}{3}$
मुलैठी का तरल सत्व (Ext : glycyrrhiza liq) मि० २०
टि० वेलाडोना (Tr. belladonna) मि० १०
टि० धतूरा (Tr. stramonium) मि० १०
घुलनशील बारबिटोन (Sol : bn) ग्रे० $\frac{1}{2}$
विधि :—उपर्युक्त औषधि त्रि० प्र० दि० दे ।

कास की शुष्क अवस्था में :—

१४–पोटास साइट्रस (Pot : citras) ग्रे० २०
" बाइकार्ब (Pot : bicarb) ग्रे० २०
टि० सिल्ला (Tr. scilla) मि० १०
टि० इपीकाक (Tr. ipecac) मि० १०
शर्वत टोलू (Syr. tolu) ड्रा० १
जल (Aq.) औं० १
विधि :—उपर्युक्त औषधि त्रि० प्र० दि० दें ।

१५–टि० कैम्फर को (Tr : camphor co) औं० १
शर्वत वासक टोलू (Syr:vasak tolu) औं० १
औक्सीमेल सिल्ला (Oxymel scilla) औं० १
शर्वत कोडीन फौस (Syr : codeine phos) औं० १
विधि :—आ० अ० एक चम्मच औषधि कुछ देर मुख मे रखकर तब पी जायें ।

१६–टि० सिल्ला (Tr. scilla) मि० १०
टि० कैम्फर को (Tr. camphor co) मि० २०
शर्वत प्रूनी वर्जिनियन (Syr : prun. verg) मि० ३०
" वासक टोलू (Syr : vasak : tolu) मि० ३०
" कोडीन फौस (Syr : codeine : phos) मि० ३०
जल औं० १
विधि :—उपर्युक्त मात्रा प्र० चा० घ० दे ।

१७—इफेड्रिन हाइड्रोक्लोर (Ephedrine hydro) ग्रे० $\frac{1}{2}$

लाइकर मौरफीन हाइड्रोक्लोर (Liq : morphine : hyd :) मि० १०

एसिड हाइड्रो सायेनिक डिल (Acid. hcn. dil) मि० ३

सिरप वासक टोलू (Syr:vasak tolu) मि० ६०

जल औं० १

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

कुकुर खाँसी (Whooping cough) में :—

१८—सोडियम ब्रोमाइड (Sodi : brom :) ग्रे० ४

इफेड्रिन हाइड्रोक्लोर (Ephedrine:hyd) ग्रे० $\frac{1}{4}$

टि० बेलाडोना (Tr. belladonna) मि० ४—८

टि० ओपिआई एट कैमफर (Tr : opii : et : camphor) मि० ८

भाग (Ext : cannabis : indica) ग्रे० $\frac{1}{8}$

शर्वत कोडीन फौस(Syr:codeine phos)ड्रा० १

शर्वत वासक टालू (Syr : vasak & tolu) औं० १

विधि :—३ वर्ष की आयु मे उपर्युक्त मात्रा का $\frac{1}{8}$ भाग त्रि० प्र० दि० दें।

कास तरल हो जाने पर :—

१९—अमोन कार्ब (Ammon carb) ग्रे० ४

टि० सिल्ला (Tr. scilla) मि० १०

सिरप टोलू (Syr. tolu) ड्रा० १

ग्लीसराइजा सत्व (Ext : glycyrriza liq.) मि० १०

जल (Aq.) औं० १

विधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

२०—अमोन कार्ब (Ammon : carb) ग्रे० ४

" क्लोराइड (Ammon : chloride) ग्रे० १०

पोटास बाइकार्ब (Pot : bi : carb) ग्रे० १०

टि० सिल्ला (Tr. scilla) मि० ३०

स्प्रिट क्लोरोफौर्म (Spt : chloroform) मि० १०

टि० इपीकाक (Tr : ipecac) मि० १०

शर्वत टर्पिन हाइड्रेट (Elexior terpin-hydrate) मि० १०

शर्वत टोलू (Syr : tolu) ड्रा० १

जल औं० १

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दें।

२१–पोटास आयोडाइड (Pot : iodide) ग्रे० ३
अमोन कार्ब (Ammon : carb) ग्रे० ४
टि० इपीकाक (Tr : ipecac) मि० १०
शर्बत वासक (Syr : vasak) मि० ६०
जल औं० १.
विधि :—उपर्युक्त औषधि त्रि० प्र० दि० दे ।

(च) शामक (Sedative) योग .—

२२–घुलनशील बारबिटोन (Sol : bn) ग्रे० ½
पोटास ब्रोमाइड (Pot. brom) ग्रे० १०
सोडियम ब्रोमाइड (Sodi brom) ग्रे० १०
अमोनियम ब्रोमाइड (Ammon brom) ग्रे० १०
क्लोरल हाइड्रस (Chloral hydsas) ग्रे० १५
शर्बत (Syr :) ड्रा० १
जल (Aq.) औं० १
विधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि० प्र० दि० दें ।

२३–पराल्डिहाइड (Peraldehyde) ड्रा० १–४
मुलठी सत्व तरल (Ext : glycorrhiza liq :) ड्रा० १

इलायची सत्व (Tr. card : co) ड्रा० ½
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti :) ड्रा० १
जल ड्रा० ४
विधि :—उपर्युक्त मात्रा आ० अ० दे ।

(छ) रक्तस्राव (Bleeding) निरोधी योग:—

२४–कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate) ग्रे० १०
जीवतिक्ति 'सी०' (Vit : C) मि० ग्रा० २००
लोध का तरल सत्व (Ext : lodh. liq) ड्रा० १
हेमेमेलिस का तरल सत्व (Ext : hemmamalis liq) ड्रा० १
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) ड्रा० १
जल औं० १
विधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि० प्र० दि० दें ।

(ज) पीड़ा में : –

पचन संस्थान की पीड़ा में : –

२५–कैसकरा का तरल सत्व (Ext : cas : liq) मि० १५
टि० हायोसायमस (Tr. hyoscyamus) मि० १५

पोटास साइट्रस (Pot : cit :)	ग्रे० २०
टि० वेलाडोना (Tr. belladonna)	मि० ८
शर्बत (Syr.)	मि० ६०
जल (Aq.)	औं० १

विधि :—उपयुक्त औषधि त्रि० प्र० दि० दे।

वातनाड़ी शूल (Neuralgia) में :—

२६–फेनाजोन (Phenazone)	ग्रे० ५
घुलनशील वारबीटोन (Sol. barbitone)	ग्रे० ½
(अ)टि०जेलसीमियम (Tr. gelsemium)	मि० १०
लाइकर आरसेनिक (Liq. arsenicalis)	मि० ३
पोटास ब्रोमाइड (Pot. bromide)	ग्रे० १०
शर्बत (Syr.)	मि० ६०
जल (Aq.)	औं० १

विधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

वातरक्त (Gout) के लिये :—

(अ)टि०कोलचिकम (Tr. colchicum)	मि० १५
पोटास बाइकार्व (Pot : bicarb)	ग्रे० २०
सोडी-सल्फ (Sodi sulph)	ग्रे० २०
शर्बत (Syr.)	ड्रा० १
जल (Aq.)	औं० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि प्रति ४ घण्टे पर दे।

सूत्र संस्थान की पीड़ा में :—

२७–घुलनशील बारविटोन (Sol : bn)	ग्रे० ½
पोटास साइट्रस (Pot : citras)	ग्रे० २०
पोटास बाइकार्ब (Pot : bicarb)	ग्रे० २०
टि० हायोसायमस (Tr. hyocyamus)	मि० ३०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti)	मि० ६०
इनफ्यूजन बुक्कू (Inf : buchu)	औं० १

विधि :—एक मात्र प्रति ४ घण्टे दे।

आमवात (Rheumatism) में :—

२८–सोडी-सैलिसिलस (Sodi sal)	ग्रे० ८–२०
सोडी-बाइकार्ब (Sodi bicarb)	ग्रे० १०–२०
मैगसल्फ (Mag sulph)	ग्रे० ६०–१२०
टि० कार्ड को (Tr. card co)	मि० ३०
स्पिरिट अमोन एरोमेट (Spt : ammon aromat)	मि० १०
जल	औं० २

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

(झ) अतिसार तथा प्रवाहिका (Dys : & dia) में :—

२९–टि० अहिफेन (Tr. opi)	मि० ८
बिसमथ कार्ब (Bis. carb)	ग्रे० ५
टि० इलायची (Tr. card co.)	मि० ३०
शर्बत शन्तरा (Syr. orange)	मि० ६०
जल (Aq.)	औं० १

विधि :—उपर्युक्त मात्रा प्र० चा० घ० दें।

३०–सल्फा गोनेडिन (Sulphaguanidine)	गो० १
सल्फा सक्सीडीन (S-suxidine)	गो० १
थैलाजोल (Thalazole)	गो० १
बिस्मथ कार्ब (Bis : carb)	ग्रे० १०
गोंद (Gum accacia)	आ० अ०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti)	ड्रा० १
जल	औं० १

विधि :—एक मात्रा प्रति चार घंटे दें।

३१–रेंडी का तेल (Ol. recini)	मि० ६०–१२०
गोंद (Gum accacia)	आ० अ०
टि० कार्ड को (Tr. card co)	मि० ३०
टि० बेलाडोना (Tr. belladonna)	मि० ८
टि० हायोसायमस (Tr. hyocyamus)	मि० २०
कुरची सत्व तरल (Ext:kurchi liq)	मि० ६०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti)	मि० ६०
जल पुदीना (Aq. M. P.)	औं० १

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० भो० प० दें।

(ञ) कब्जमें :—

३२–रेंडी का तेल (Ol. recini)	ड्रा० १–२
गोंद (Gum accacia)	आ० अ०
इलाइची सत्व (Tr. card. co.)	मि० ३०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti :)	मि० ६०
जल (Aq.)	औं० १

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दें।

३३–मैग कार्ब (Mag : carb)	ग्रे० २०
मैग सल्फ (Mag : sulph)	ड्रा० १
सोडी सल्फ (Sodı : sulph)	ड्रा० ½
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti)	ड्रा० १
जल (Aq.)	औ० १

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दे ।

(त) अनूर्जता निरोधी (Anti-allergic) योग:—

३४–पेप्टोन (Peptone)	ग्रे० २
टि० बेलाडोना (Tr. belladonna)	मि० ५
चूर्णातु (Calcium gluconate)	ग्रे० १०
जल	औ० १

विधि :—आ० अ० एक मात्रा दे ।

३५–इफेड्रीन हाइड्रोक्लोर(Ephedrinehyd:)	ग्रे० ½
कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal. gluconate)	ग्रे० १०
टि० बेलाडोना (Tr. belladonna)	मि० ८
सिरप बेनाड्रिल (Syr : benadryl)	मि० ६०
जल	औ० १

विधि :—एक मात्रा आ० अ० दे ।

(थ) उत्तेजक घोल (Stimulant mixt:):—

३६–स्पिरिट क्लोरोफौर्म।(Spt :chloroform)	मि० १०
स्पिरिट अमोन अरोमेट (Spt : ammon aromat)	मि० १०
स्पिरिट इथर नाइट्रोसाइ (Spt : aetheris nitrosi)	मि० १०
टि० नक्स वौमिका (Tr. nucis vom)	मि० १०
मद्य (Spt. vin : galaci)	मि० ३०
शर्बत (Syr :)	मि० ६०
जल (Aq.)	औ० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि आ० अ० दे ।

(द) उपवर्णिक रक्ताल्पता (Hypochromic anaemia) में:—

३७–फेरी यट अमोन साइट्रस (Ferri et ammon cit)	ग्रे० २०
सोडी बाइकार्ब (Sodi : bicarb)	ग्रे० १०
टि० इलाइची (Tr. card co)	मि० ३०
शर्बत (Syr :)	ड्रा० १
इनफ्यूजन जेनशियन को (Inf : gentian co)	औ० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि त्रि०प्र०दि० भो०प० दे ।

३८—फेरी यट अमोन साइट्स (Ferri et ammon cit) ग्रे १५–३०
एसिड फौसडिल (Acid phos dil) मि० ३०
लाइकर आरसेनिकैलिस हाइड्रोक्लोर (Liq : arseni : hyd) मि० ३
टि० नक्स (Tr. nucis vom) मि० ८
सिरप टोलू (Syr : tolu) मि० ६०
जल औ० १
विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० भो० प० दें ।

३९—फेरस सल्फ (Ferrous sulph) ग्रे० ३५
नींबू का अम्ल (Citric : acid) ग्रे० ४
टि० इलाइची (Tr. card co) मि० ६०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) औ० २
विधि :—शिशु को $\frac{1}{3}$-१ चम्मच त्रि० प्र० दि० दें ।

(घ) पौष्टिक (Fe-tonic) योग :—

४०—टि० नक्स वोमिका (Tr. nux vomica) मि० ८
टि० फेरी पर क्लोर (Tr. ferri per chlor) मि० १५
टि० कार्ड को (Tr. card co) मि० ३०
कैलसियम क्लोराइड (Cal. chloride) ग्रे० १०
लाइकर आरसेनिक हाइड्रोक्लोर (Liq. arsenic hydrochlor) मि० २
ऐसिड हाइड्रोक्लोर डिल (Hcl : dil) मि० १५
सिरप जिञ्जर (Syr : ginger) मि० ६०
जल पुदीना (Aq. m. p.) औ० १
विधि :—एक मात्रा दि० प्र० दि० भो० प० शीशे की नलिका द्वारा दें ।

(न) पचन संस्थान के रोग में :—

पाचक (Carminative) :—

४१—सोडी बाईकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० १०
बिसमथ कार्ब (Bismuth : carb) ग्रे० ५
टि० कार्मिनेटिव (Tr : carminative) मि० ५
टि० कार्ड को (Tr. card : co) मि० ३०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) मि० ६०
जल टाइकोटिस (Aq. ptychotis) औ० १
विधि :—एक मात्रा० प्रति ४ घंटे दें ।

क्षुधा की वृद्धि के लिये :—

४२–सोडी बाइकार्ब(Sodi : bi : carb) ग्रे० १०
टि० नक्स वोमिका (Tr. nucis : vom) मि० ८
टि० कार्ड को (Tr. card co) मि० ३०
टि० जेनशियन को:(Tr. gentian co) मि० ३०
जल चिरैता (Inf : chireta) औं० १

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० भो० पू० दे।

४३–टि० नक्स वोमिका (Tr.nux-vomica) मि० ८
उदनीरिकाम्ल (Hcl. dil :) मि० १५
शर्बत ड्रा० १
जल औं० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि द्वि०प्र०दि०भो० पू० दे।

तीव्र आमाशय शोथ (Acute gastritis के लिये :—

४४–सोडी बाइकार्ब (Sodi : bicarb) ग्रे० १०
बिसमथ कार्ब (Bis : carb) ग्रे० १०
हाइड्रो सायनिक अम्ल (Hcn : dil) मि० २
गोंद आ० अ०
शर्बत ड्रा० १
जल औं० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि त्रि० प्र० दि० दें।

उदनीरिकाम्ल (Hcl) की कमी में :—

४५–उदनीरिकाम्ल (Hcl dil) मि० १०
ग्लिसरीन एसिड पेप्सीनी (Glycerine acid pepsini) ड्रा० १
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) ड्रा० १
एसिड लैक्टिक (Acid-lactic) ग्रे० २
जल औं० १

विधि :—एक मात्रा भो० पू० दे।

(प) अन्य योग

अर्धबल लवण घोल (Half. N. saline):—

४६–लवण (Nacl) ग्रे० ४५
जल पा० १

विधि :—शिशु को पीने को दे।

४७–**सल्फा औषधि** (Sulpha-drug) गो० १ से ४
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० १०
निकोटिनिक अमाइड (Nicotinic amide) मि० ग्रा० ५०–१००
गोंद (Gum accacia) आ० अ०

टि० इलाइची (Tr. card co) मि० ३०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) मि० ६०
जल औ० १
मात्रा :—एक मात्रा आ० अ० प्र० दि० ३ से ६ बार दें।

फिरंग (Syphilis) में :—

४८–पोटास आयोडाइड (K. I.) ग्रे० ५–३०
लाइकर हाइड्रार्ज पर क्लोर (Liq : hyd : per : chlor) मि० ३०–६०
टि० कार्ड को (Tr. card : co) मि० ६०
शर्बत शन्तरा (Syr : aurenti) मि० ६०
जल औं० १
विधि :—द्वि० प्र० दि० भो० प० दे।

भस्म

(क) साधारण ज्वर में :—

४९–एरिस्टोचीन (Aristochin) ग्रे० २
क्रायोजेनीन (Cryogenin) ग्रे० २
कैलसियम लैक्टेट (Calcium lact) ग्रे० ५
पिपरमिन्ट तैल (Ol. m. p.) मि० १
दुग्ध शर्करा (Sugar of milk) ग्रे० १०
विधि :—एक मात्रा द्वि० प्र० दि० दे।

(ख) पचन संस्थान के रोगों में :—

वमन निरोधी योग :—

५०–क्लोरेटोन (Chloretone) ग्रे० ८
कैलोमेल (Calomel) ग्रे० १
मेनथौल (Menthol) ग्रे० १
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ४०
ग्लूकोस (Glucose) ग्रे० ४०
विधि :—उपर्युक्त मात्रा का १/८ भाग प्र० आध घण्टा दें।

विशेषकर विसूचिका (Cholera) में :—

५१–कैलोमेल (Calomel) ग्रे० १/८
क्लोरेटोन (Chloretone) ग्रे० २
कपूर (Camphor) ग्रे० १
केफीन (Caffeina) ग्रे० १
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ५
विधि :—एक मात्रा आ० अ० दें।

कब्ज में :—

५२–कैलोमेल (Calomel) ग्रे० १/१२–१/८
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ५
विधि :—एक मात्रा प्रति १/२ से ४ घंटे दे।

५३–कैलोमेल (Calomel) ग्रे० २
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ५
विधि :—एक मात्रा रात्रि मे सोने के पूर्व दे ।

पतले दस्त में :—

५४–केयोलीन (Kaolin) ग्रे० १०
बिस्मथ कार्ब (Bis : carb) ग्रे० १०
कैलसियम लैक्ट (Cal. lact) ग्रे० १०
पल्व इपीकाक को (Pulv : ipecac co:) ग्रे० १
विधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि०प्र० दि० भो० प० दें ।

५५–पल्व इपिकाक को (Pulv ipecac co) ग्रे० ५
बिस्मथ कार्ब (Bis : carb :) ग्रे० १०
सोडा मिन्ट (Soda : mint) गो० २
विधि :—उपर्युक्त मात्रा भो० प० दे ।

५६–बिस्मथ कार्ब (Bis : carb) ग्रे० १०
बीटा नेफ थौथ (Beta-nephthol) ग्रे० ५
कैलसियम कार्बोनेट (Cal : carb :) ग्रे० २०
कैलसियम फौसफेट (Cal:phosphate) ग्रे० १०
विधि : —एक मात्रा दि० प्र० दि० भो० प० दें ।

यकृत विकृति बचाने के लिये :—

५७–मेथ्योनीन (Meonin) गो० १
कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal gluconate) ग्रे० १०
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० १०
एसकौर्बिक एसिड (Vit : c.) मि० ग्रा० ५०–१००
ग्लूकोस (Glucose) ग्रे० १०
सम्पूर्ण जीवतिक्ति बी (Vit : B. complex) गोली १
विधि :—एक मात्रा द्वि० या त्रि० प्र० दि० दें ।

पाचक चूर्ण (Digestive) :—

५८–कारनान्ट्रीन (Carbantrin-Ceba) गो० १
टाकाडायेस्टेस (Takadiastase P. D.) ग्रे० ५
पेप्सीन (Pepsin) ग्रे० ५
पक्रयाटीन (Pancreatin) ग्रे० ५
लैकोपेप्टीन (Lactopeptin) ग्रे० ५
सोडा मिन्ट (Soda mint) गोली २
विधि :—एक मात्रा भो० १० द्वि० प्र० दि० दे ।

प्रपाचीयव्रण (Peptic ulcer) में :—

५९–(क)–मैगनीसियम हाइड्रोक्स इड (Mag : hydroxide) ग्रे० १०
निसमथ औक्सीकार्ब (Bis : oxycarb) ग्रे० १०
क्रीटा प्रिपरेटा (Creta : prep) ग्रे० १०
विधि :—उपर्युक्त औषधि प्रति दो घटे पर दे।

(ख) मैग कार्ब (Mag : carb:pond) ग्रे० २०
बिसमथ कार्ब (Bis : carb) ग्रे० २०
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० २०
विधि :—आ० अ० भो० प० दे।

६०–कैलसियम कार्ब (Cal : carb : creta : prep :) औं० ४
मैग कार्ब (Mag : carb : pond : or mag : hydroxide) औं० २
विस्मथ कार्ब (Bis : carb , bis : sub : carb , bis : oxy carb.) औं० १/२
विधि :—१/२-१ चम्मच आ० अ० दे।

६१–कैलसियम लैक्टेट (Cal : lact) ग्रे० १०
कैलसियम क्लोराइड (Cal : chloride) ग्रे० ५
सोडी साइट्रस (Sodi : cit :) ग्रे० २०–३०
विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

(ग) पीड़ा हर योग :—

६२–कोडीन (Codeine phos) ग्रे० १/२
ऐसपिरीन (Aspirin) ग्रे० ४–५
फेनासेटीन (Phenacetin) ग्रे० २-४
केफीन साइट्रस (Caffein citras) ग्रे० २
विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

६३–सिबाल्जिन (Cebalgin) गो० १/२
मेडिनल (Medinal) ग्रे० २
सैरिडौन (Saridon) गो० १/२
ल्यूमिनल (Luminal) ग्रे० १/२
ग्लूकोस (Glucose) ग्रे० २०
विधि :—उपर्युक्त मात्रा द्वि० प्र० दि० भो० प० दें।

६४–वेलाडोना का शुष्क सत्व (Ext : belladonna siccum) ग्रे० १/८
सोडियम ब्रोमाइड (Sodi : bromide) ग्रे० ६
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ५
ग्लूकोस (Glucose) ग्रे० १०
विधि :—उपर्युक्त मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

सूर्यावर्त (Migraine) निरोधी :—

६५—कोडोन (Codeine phos :) ग्रे० १/२–१
एसपिरीन (Aspirin) ग्रे० ५–१०
सोडियम फेनो बारबिटोन (Na : phn) ग्रे० १ १/२
अरगोटामिन टार्ट (Ergotamine tart) ग्रे० १/३०

विधि :—एक मात्रा आ० अ० दें।

(घ) खाँसी में :—

६६—इफेड्रिन (Ephedrine hyd :) ग्रे० १/२
फेनो बारबिटोन (Phenobarbitone) ग्रे० १/२

विधि :—एक मात्रा त्रि० या चा० प्र० दि० दें।

दमा के लिये (Antispasmodic) :—

६७—इफेड्रिन (Ephedrine hyd :) ग्रे० १/२
एट्रोपीन (Atropine sulph :) ग्रे० १/१००
अमीनो फायलीन (Aminophylline) ग्रे० ४
फेनो बारबिटोन (Phenobarbitone) ग्रे० १/२
ग्लूकोस (Glucose) ग्रे० १०

विधि :—एक मात्रा त्रि० प्र० दि० दे।

(अं०) अन्य योग :—

रक्तस्राव निरोधी (Anti-haemorrhagic) :—

६८—जीवतिक्ति 'सी' (Redoxon) मि० ग्रा० १००
" के (Synkavit) मि० ग्रा० १०
कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal:gluconate) ग्रे० १०

विधि :—प्रति ४ घटे दे।

सल्फा (Sulpha) का योग :—

६९—सल्फा डियाजीन (Sulphadiazine) १ गो०
सल्फा मेराजीन (Sulphamerazine) १ गो०
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० २०

विधि :—एक मात्रा प्र० ४–६ घटे पर दे।

विष-निरोधी (Universal antidote) :—

७०—कोयला (Carbon) औं० २
मैगनीसियम ऑक्साइड (Mag : oxide) औं० १
टैनिक अम्ल (Tannic acid) औं० १

विधि :—एक चम्मच औषधि गरम जल में आ० अ० दे।

केचुए निकालने के लिये :—

७१—सैण्टोनिन (Santonin) ग्रे० २
कैलोमेल (Calomel) ग्रे० २
सोडी बाइकार्ब (Sodi-bicarb) ग्रे० ५

विधि :—उपर्युक्त मात्रा सोने के पूर्व रात्रि मे दे ।

सिंधु हल्लास (Sea sickness) के लिये :—

७२—फेनासिटीन (Phenacetin) ग्रे० २
बारबिटोन (Sol. barbitone) ग्रे० २

विधि :—उपर्युक्त औषधि यात्रा प्रारम्भ करने के ½ घंटे पूर्व दे । आ० अ० दो-एक बार पुनः इसका प्रयोग कर सकते हैं ।

त्वक भस्म (Dusting powder) :—

७३—कर्पूर (Camphor) ग्रे० ५
जिंक ऑक्साइड (Zinc oxide) ग्रे० १२०
बोरिक एसिड (Boric acid) ग्रे० २०
बिसमथ सब नाइट्रेट (Bis : sub : nitrate) ग्रे० २०
कैलामीन (Calamina ppt :) ग्रे० ६०
सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ३०
मैदा (Pulv amylum) औं० १

विधि :—आ० अ० शरीर पर मले ।

बटिका

हचिंसन (Hutchinson's) की गोली

७४—हाइड्रार्जकम क्रीटा (Hyd : cum : creta) ग्रे० १
पल्व इपिकाक को (Pulv : ipecac: co) ग्रे० १
जेन्शियन का सत्व (Ext : gentian) ग्रे० ५

विधि :—उपर्युक्त गोली त्रि० प्र० दि० भो० प० दे।

गाइ की गोली (Guy's pill) :—

७५—हृत्पत्री चूर्ण (Pulv digitalis) ग्रे० १—२
स्क्विल चूर्ण (Pulv. squill) ग्रे० १—४
पारद बटी (Pill hydrarg) ग्रे० १
शर्बत मधुदक (Syr : glucose) आ० अ०

विधि :—उपर्युक्त बटिका आ० अ० प्रयोग करे ।

मलहम

७६—जैतून का तेल (Ol. olive) ड्रा० ३
कर्पूर (Camphor) ड्रा० २
वेसलीन (Vaseline) ड्रा० ३

विधि :—उपर्युक्त मलहम आ० अ० लगायें ।

७७–इक्थियोल (Ictheol) ड्रा० २
वेलाडोना (Belladonna ext :) ड्रा० १
ग्लिसरीन (Glycerine) ड्रा० ५
विधि :—आ० अ० लगाये । विष है ।

७८–मैग सल्फ (Mag sulph) ड्रा० ४
एक्री फ्लेविन (Acriflavin) ग्रे० ४
ग्लिसरीन (Glycerine) औं० १
विधि :— सर्व-प्रथम मैग सल्फ को बर्तन मे रख कर आग पर गरम करना चाहिये । इस प्रकार गरम करने से मैग सल्फ से पानी निकलता है । इस पानी के सूख जाने के पश्चात् मैग-सल्फ मे ग्लिसरीन मिला कर खूब रगड़ना चाहिये । अन्त मे एक्रीफ्लेविन मिला कर रगडना चाहिये । आ० अ० व्रण पर लगाये ।

७९–जिंक ओक्साइड (Zinc oxide) ड्रा० २
बोरिक एसिड (Boric acid) ड्रा० १
कैलामीन (Calamine) ड्रा० २
वेसलीन (Vaseline) औं० १
विधि :—आ० अ० त्वचा पर लगाये ।

बाह्य उपचार के घोल

कीट नाशक (Insecticide) :—

८०–नेफथलीन (Naphthaline) गो० ५०
कर्पूर (Gamphor) औं० १
सिट्रोनिला तैल (Ol. citronella) औं० ४
कारबोलिक अम्ल (Acid carbolic) ड्रा० १
इयूक्लेप्टस (Ol. eucalyptus) औं० १
डी० डी० टी० (D. D. T) प्र० श० २
पेट्रोल (Petrol) गैलन (Gallon) १
विधि :—उपर्युक्त औषधि यन्त्र (Spray) द्वारा छिड़के ।

नेत्रकला शोथ (Conjunctivitis) में :—

८१–जिंक सल्फ (Zinc sulph) ग्रे० २
बोरिक अम्ल (Boric acid) ग्रे० २५
फिटकिरी (Alum) ग्रे० ५
गुलाब जल (Aq. rose) औं० १
विधि : —उपर्युक्त औषधि नेत्र मे द्वि०प्र०दि० डाले ।

कौर्न (Corn) के लिये :—

८२–सैलिसिलिक अम्ल (Acid salicylic) ग्रे० ५०-७५

भॉग-सत्व (Ext : cannabis : ind) ग्रे० ४

ग्लिसरीन (Glycerin) मि० ६०

स्पिरिट (Spt : rect) मि० ६०

कोलोडीन (Collodian) औं० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि कौर्न पर लगायें।

प्रतिश्याय (Coryza) में :—

८३–इफेड्रिन (Ephedrine hyd :) ग्रे० ४

यूकेलिप्टस (Ol : eucaleptus) मि० ४०

थाइमौल (Thymol) आ० अ०

मेनथौल (Menthol) ग्रे० ५

कर्पूर (Camphor) ग्रे० ५

जल या लि. पैरेफिन (Liq : paraffin) औं० १

विधि :—आ० अ० त्वचा या नाक में लगाये। नाक मे लगाने पर थाइमौल ग्रे० ½ तथा त्वचा पर लगाने के लिये ग्रे० १० होना चाहिये।

दाँत में पीड़ा रहने पर :—

८४–टि० आयोडीन (Tr : iodine) ड्रा० २

टि० एकोनाइट (Tr : aconite) ड्रा० २

टि० मिर (Tr. myrrh) ड्रा० २

क्रेओजोट (Creosote) मि० ३०

विधि :—आ० अ० दाँत मे लगायें।

सन्धि की पीड़ा में :—

८५–लिनिमेंट ए० बी० सी० (Lt : a. b. c.) मि० ३०

अजवायन सत्व (Menthol) ग्रे० २०

कर्पूर (Camphor) ग्रे० २०

तारपीन का तेल (Ol. turpentine) मि० ३०

गुलथेरिया का तेल (Ol. gultheria) मि० २०

लाइकर अमोन फोर्ट (Liq : ammon : fort) मि० १०

जैतून का तेल (Ol. olive) औं० २

विधि :—आ० अ० मालिश करे। विष है।

खुजली कम करने के लिये :—

८६–चंदन का तैल (Sandal oil) ड्रा० ४

कर्पूर (Camphor) ग्रे० २०

थाइमोल (Thymol) ग्रे० २०
मेनथौल (Menthol) ग्रे० २०
युकिलिप्टस का तैल (Ol. eucaleptus) मि० ३०
बोरिक एसिड (Boric acid) ग्रे० ३०
जैतून का तैल (Ol. olive) औ० ८
विधि :—आ० अ० त्वचा पर लगायें।

८७–फिटकरी (Alum) ड्रा० १०
मेथिलेटेड स्पिरिट (Spt : meth) औ० ४
टायेलेट विनेगर (Toilet : vinegar) औं० १
जल औं० ४
विधि :—आ० आ० त्वचा पर लगायें।

८८–फिटकरी (Alum) ग्रे० ५०
जल (Aq. dist :) २५ सी० सी०
मद्य (Alcohol) १०० सी० सी०
विधि :—फिटकरी को जल में घोलने के पश्चात् मद्य मिलायें। आ० अ० त्वचा पर लगायें।

८९–क्लोरल हाइड्रस (Chloral hydras) ड्रा० ८
कार्बोलिक एसिड (Carbolic acid) ड्रा० १
मद्य (Alcohol) ड्रा० ८
कर्पूर (Camphor) ग्रे० ५
जल ड्रा० १०
विधि :—आ० अ० त्वचा पर लगायें।

वस्ति धोने (Bladder wash) के लिये :—

९०–जिंकसल्फेट (Zinc sulph) ग्रे० ६०
एड्रिनलीन (Adrenaline) १ : १००० मि० ६०
बोरिक एसिड (Boric acid) ग्रे० ३०
जल गरम औ० ०१२

बाह्यकर्ण पिटिका (Furunculosis of ext: auditory meatus) के लिये :—

९१–क्लोरेटोन (Chloretone) ग्रे० २
कर्पूर (Camphor) ग्रे० ३
कार्बोलिक अम्ल (Carbolic acid) मि० ५
स्पिरिट (Spt : vin : rect) मि० २०
ग्लिसरीन (Glycerin) मि० ३१
जल परिस्रुत (Aq. dist) ड्रा० ४
विधि :—उपर्युक्त औषधि द्वि०प्र०दि० कान मे दे।

मेण्डल पिगमेण्ट (Mandl's pigment) :—

९२–आयोडीन (Iodine)	ग्रे० ६
पोटास आयोडाइड (Pot : iodide)	ग्रे० १२
अजवायन का तैल (Ol. M. P.)	मि० ३
ग्लिसरीन (Glycerin)	औं० १

विधि :—आ० अ० कण्ठ मे लगाये।

(क)**आयरन ग्लिसरीन** (Iron-glycerin):–

टि० फेरी परक्लोर (Tr : ferri perchlor)	ड्रा० ४
ग्लिसरीन (Glycerin)	ड्रा० ४

विधि :—आ० अ० कण्ठ मे लगायें।

दमा के लिये :—

९३–धतूरे की पत्ती (Stramonium leaf)	औं० ½
पोटास नाइट्रस (Pot : nit :)	ड्रा० २
अजवायन (Anisi fruit)	ड्रा० २

विधि :—एक चम्मच औपधि किसी पात्र मे रख कर जलाये तथा धूँआ सूँघे।

सिरा मार्ग (I. V.) से दिये जाने वाले योग

अतिबल लवण जल (Hypertonic saline) :—

९४–सोडियम क्लोराइड (Nacl)	ग्रे० १२०
कैलसियम क्लोराइड (Cal : chloride)	ग्रे० ४
परिश्रुत जल (Aq : dist :)	औं० २०

क्षारीय लवण घोल (Alkaline saline):—

९५–सोडियम क्लोराइड (Nacl)	ग्रे० ८०
सोडी बाइ कार्ब (Sodi : bi : carb)	ग्रे० १६०
परिस्रुत जल	औं० २०

नोट :—उपर्युक्त योग मे ग्लूकोस (Glucose) ग्रे० २४० मिला सकते हैं। सोडी बाइ कार्ब ग्रे० ६७९ तक मिला सकते है। कैलसियम क्लोराइड (Cal : chloride) ग्रे० ४ भी मिला सकते है।

समबल लवण घोल (Normal saline) :—

९६–सोडियम क्लोराइड (Nacl)	ग्रे० ९०
परिश्रुत जल	पा० १

अर्धबल (Half N. Saline) :—

लवण (Nacl) ग्रे० ४५

प० ज० पा० १

लूगल की आयोडीन (Lugol's iodine):—

९७–आयोडीन (Iodine) ग्रे० २४

पोटास अयोडाइड (Pot : iodide) ग्रे० ३६

परिस्रुत जल (Aq. dist.) औं० १

विधि :—मि० २ से ८ त्रि० प्र० दि० मुख द्वारा या मि० ५–१५ परिस्रुत जल सी० सी० ५–१० में मिला कर सिरा मार्ग (I. V.) से दे ।

संपूर्ण जीवतिक्ति 'बी' (Vit:B. complex):—

९८–जीवतिक्ति बी₁ (Aneurin) २५ मि० ग्रा०

" बी₂ (Riboflavine) ५ मि० ग्रा०

" बी₇ (Nicotinamide) २५ मि० ग्रा०

" बी₆ (Pyridoxine) ५ मि० ग्रा०

कैल्सियम पैण्टोथिनेट (Calcium pantothenate) ५ मि० ग्रा०

यकृत सत्व (Liver extract) ५ यू० एस० पी०

सूचना :—उपर्युक्त मात्रायें औषधि की प्र० सी० सी० मे रहती हैं ।

९९–ग्लूकोस (Glucose) २५ प्र० श० १०० सी० सी०

रेडौक्सन (Redoxon) ५०० मि० ग्रा०

विधि :—उपर्युक्त औषधि सिरा मार्ग (I. V.) से प्रयोग करें ।

जीवतिक्तियों का सम्मिलित योग (Multi-vit :) :—

१००–थियामिन (B_1) मि० ग्रा० १००

राइबोफ्लेविन (B_2) " ५०

निकोटिनामाइड (B_7) " १००

सिनकाविट (Synkavit, vit : k.) " १०

एसकौरबिक एसिड (Vit : C, redoxon) " ५००

ग्लूकोस (Glucose) १२½ प्र० श० समबल लवण (N. saline) मे } औं० २०

विधि :—उपर्युक्त औषधि मे जीवतिक्ति बी₁, बी₂ तथा बी₇ के स्थान पर "सोलू बी" (Solu B) का प्रयोग कर सकते है । यह औषधि यकृत के उग्र रोगो मे सिरा मार्ग (I. V.) से द्वि० प्र० दि० दे सकते हैं ।

मूत्राशय शोथ (Gystitis) में :—

१०१–हेक्सामीन (Hexamine, urotropine Sch) ४० प्र० श० २–१० सी० सी०
ग्लूकोस १२½ प्र० श० १०–२५सी०सी०
विधि :—आ० अ० सिरामार्ग (I. V.) से शनैः शनैः दें।

मूत्रल (Diuretic) :—

१०२–सोडी सल्फ (Sodi : sulph :) ४·२ प्र० श०
ग्लूकोस (Glucose) ६–१२½ प्र० श०
समबल लवण घोल (N. saline.) ०·६ प्र० श० पा० १
विधि :—आ० अ० ४० बूँद प्र० मि० की गति से सिरामार्ग (I. V.) से दें। सोडियम (Na.) देना यदि उपयुक्त न हो तब उपर्युक्त औषधि जल मे बनाना चाहिये।

१०३–डेकोलीन (Decholin) २० प्र०श० १०सी०सी०
जीवतिक्ति सी (Vit : C) ५०० मि० ग्रा०
ग्लूकोस (Glucose) ५० प्र०श० २५–५० सी०सी०

अन्य योग

१०४–पेनिसिलिन 'जी' (P. G)
आ० अ० ५० लक्ष० अ० इ० प्र० दि० तक०
हेपरीन (Heparin) मि० ग्रा० ५०
ग्लूकोस (Glucose) ५ प्र० श० पा० २
विधि :—आ० अ० सिरा मार्ग (I. V.) से बूँद-बूँद कर दे। रक्त-स्कन्दन (Clotting) बचाने के लिये हेपरिन दिया गया है। पेशी (I. M.) मार्ग से देने के लिये ग्लूकोस के स्थान पर समबल लवण (N. saline) घोल मे औषधि बनाये। अन्तर्हृच्छोथ (Endocarditis) मे हेपरिन के प्रयोग से हानि हो सकती है।

१०५–सोडियम सल्फा डियाजीन (Sodi : sulphadiazine) ग्रा० २½
" " मेराजीन (Sodi : sulphamerazine) ग्रा० २½
रिंगर का घोल (Ringer's lactate sol) पा०२
विधि :—आ० अ० सिरा मार्ग से दे।

अधस्त्वक (S. C.) या

पेशी मार्ग (I. M.) से :—

उत्तेजक (Stimulant) योग :—

१०६–स्ट्रिकनीन सल्फ (Strychnine sulph) ग्रे १/१२०

एट्रोपीन सल्फ (Atropine sulph) ग्रे० १/२००

एड्रीनलीन (Adrenaline) १:१००० मि० ५

परिस्नुत जल (Aq : dist :) सी० सी० १

विधि :—आ० अ० ।

दमा के लिये :—

१०७–एड्रीनलीन (Adrenaline) १:१००० सी०सी० १/२

पिट्यूटरीन (Pituitrin) सी० सी० १/२

एट्रोपिन (Atropine) ग्रे० १/१००

परिस्नुत जल (Aq. dist) सी० सी० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि की आधी मात्रा अधस्त्वक् (S. C.) मार्ग से आ० अ० दे ।

अन्य योग

१०८–अहिफेन सत्व (Morphine) ग्रे० १/६

एट्रोपीन (Atropine) ग्रे० १/१००

कुपीलु सत्व (Strychnine) ग्रे० १/६०

परिस्नुत जल (Aq. dist) सी० सी० १

विधि :—उपर्युक्त औषधि अधस्त्वक मार्ग (S.C.) से दें ।

१०९–क्विनीन बाई हाइड्रोक्लोर (Q : bi : hyd :) ग्रे० ६

परिस्नुत जल (Aq : dist :) मि० १०

विधि :—उपर्युक्त मात्रा पेशी (I. M.) या सिरा मार्ग (I. V.) द्वारा प्रयोग करें । सिरामार्ग से प्रयोग करने के पूर्व इस मात्रा को ग्लूकोस (Glucose) के १२१/२ प्र० श० घोल के २५ सी० सी० में मिश्रित कर देना चाहिये ।

११०–स्ट्रेप्टोमाइसीन (Streptomycin) ग्रा० १

पेनिसिलीन 'जी' (P. G.) अ॑० इ० ५ लक्ष

परिस्नुत जल (Aq. dist.) सी० सी० १०

विधि :—उपर्युक्त औषधि की आधी मात्रा प्रति १२ घंटे पर पेशीमार्ग से दे ।

१११–मौरफीन (Morphine) ग्रे० १/४
एट्रोपीन (Atropine) ग्रे० १/१००
परिस्रुत जल (Aq. dist :) सी० सी० १
विधि :—आ० अ० अधस्त्वक मार्ग से दें।

गुदामार्ग (Rectally) से

प्रयोग करने वाले योग :—

११२–सोडी बाइकार्ब (Sodi bicarb) ग्रे० ६० से १२०
ग्लूकोस (Glucose) ग्रे० ४८०
लवण जल (Saline) १ प्र० श० औं० २०
विधि :—उपर्युक्त औषधि गुदामार्ग से बूँद-बूँद कर दे।

अतिसार (Dia :) निरोधी :—

११३–टि० अफीम (Tr. opi) मि० ३०
मैंदे का घोल (Starch. solution) औं० २
विधि :—उपर्युक्त मात्रा आ० अ० गुदा मार्ग से दे।

आध्मान (Tympanites) कम करने के लिये :—

११४–तारपीन का तेल (Ol turpentine) ड्रा० २
मैदा (Pulv amyli) ड्रा० ४
जल औं० ४
विधि :—गुदा मे यथा-सम्भव ऊँचे प्रवेश करे। आत्र मे रोक कर रखना चाहिये।

कब्ज में :—

११५–ग्लीसरीन (Glycerine) ड्रा० ४
जैतून का तेल (Ol olive) ड्रा० ४
साबुन का गरम जल औं० १
विधि :—गुदा मार्ग से० आ० अ० दे।

शामक (Sedative) योग :—

११६–पोटास ब्रोमाइड (Pot : bromide) ग्रे० ३०
क्लोरल हाइड्रस (Chloral hydras) ग्रे० २०
समबल लवण घोल (N. Saline) औं० ४
विधि :—गुदामार्ग से बूँद-बूँद कर दे।

११७-परालडिहाइड (Paraldehyde) ड्रा० ३-८
मैदा आ० अ०
जल ड्रा० ४
विधि :—उपर्युक्त मात्रा गुदा मे रोककर रखने का प्रयत्न करे ।

११८-परालडीहाइड (Paraldehyde) ड्रा० ४
या एवर्टिन (Avertin) सी० सी० ५
जल सी० सी० २००
विधि :—उपर्युक्त मात्रा गुदामार्ग मे शनैः शनः प्रवेश करें ।

अर्श (Piles) के लिये :—

११९-लाइकर हेजलीन (Liq: hazelin) ड्रा० २
प्रोकेन (Procaine) ग्रे० १२
हेमेमिलिस (Ung: hamamelis) औ० ½
विधि :—उपर्युक्त औषधि गुदा से मलोत्सर्ग के पश्चात् दें ।

प्राकृत-मात्रायें

रक्त में

पदार्थ	मात्रा
हाइड्रोजन आयेन (Hydrogen ion)	पी. एच. (Ph.) ७·५
कारबोनेट (Co_2)	५३ — ६७ प्र. श. (Vol. p. c.)
नीरेय (Chloride as nacl)	०·४५ — ०·५ प्र. श.
मिह भूयाति (Urea nitrogn)	१२ — १५ मि ग्रा. प्र. १०० सी. सी. रक्त मे
यूरिया (Urea)	२० — ४० ” ”
मधुदक (Glucose)	८० — १२० ” ”
मिहिक अम्ल (Uric acid)	१·५ — ३ ” ”
अप्रोभूजिन भूयाति (N. P. N.)	२५ — ३० ” ”
क्रियेटिनीन (Creatinine)	१ — १·५ ” ”
पैत्तव (Cholesterol)	१६० — १८० ” ”
चूर्णातु (Calcium)	११ — २० ” ”
फौसफेट (Phosphate)	२ — ४ ” ”

प्रोटीन (Ptn) :—	रक्त १०० सी० सी० में
(१) ऐलब्यूमिन (Alb :)	५'५ ग्रा.
(२) ग्लोब्यूलिन (Globulin)	२ ग्रा.
(३) फाइब्रिनोजेन (Fibrinogen)	०'२ ग्रा.
सापेक्ष गणन (Differential count) :—	
वह्वाकारी (Polymorphs)	६४ प्र. श.
लसकायाणु (Lymyhocytes)	३० प्र. श.
बृहत एक श्वेतकण (Large-mono)	३. प्र. श.
उषसिप्रिय (Eosinophiles)	१ प्र. श.
क्षारप्रिय (Basophiles)	१ प्र. श.
लालकण (R.B.C.)	४० लक्ष.प्र.घ.मि.मी.(c.m.m.)
श्वेतकण (W.B.C.)	७००० – १०,००० " "
शोणवर्तुलि (Hb.)	९० – १०० प्र. श.
रङ्गदेशना (C. I.)	०'९ – १
स्कन्दन काल (Coagulation time)	३½–५ मिनट
रक्तस्रवण काल (Bleeding time)	३ मिनट
रक्तावसादन गति (E.S.R.)	२० मि. मी. प्र. घंटे से कम

प्राकृत मात्रायें (Normal values)

पदार्थ	मात्रा प्र० दि०
मूत्र में :—	
मूत्र की मात्रा प्र० दि०	१२०० — १५००सी.सी.
वि० गु० (Sp. gr.)	१०१५ — १०२२.
भूयाति (Nitrogen)	१० — १६ ग्रा० प्र० दि०
मिह (Urea)	२० — ३० ग्रा० प्र० दि०
मिहिक अम्ल (Uric acid)	०'६—०'७५ " " "
अमोनिया (Ammonia)	०'५—०'७ " " "
भास्वरीय (Phosphate)	२ — ४ " " "
नीरेय (Chloride)	१० — १५ " " "
मिहसकेंद्रण (Urea concentration	२ प्र० श० से अधिक.

सल्फा (S) औषधियों का तृणाणु (Bacteria) पर प्रभाव

औषधि	गोलाणु (Cocci)					दण्डाणु (Bacilli)					
	फुफ्फुस (Pneumo)	मस्तिष्क (Meningo)	गुह्य (Gono)	माला (Strepto)	स्तवक (Staphy)	प्रवाहिका (B. dys)	प्लेग (B. pestis)	विसूचिका (V. cholera)	वातकर्दम (B. welchi)	आंत्र (B. coli)	फ्रैड लैण्डर B. Fredlander
सल्फा पाइरीडीन (S-pyridine)	++++	+++	+++	+	±	− − −	±	−	++		
,, निलामाइड (S-nilamide)	+	++	++	++++	±	− − +	±	−	±	+	
,, गुआनीडीन (S-guanidine)	− − −	− − −	− − −	− − −	− − −	+++−	− − −	++	− − −		
थैलिल सल्फा थियाजोल (Phthalyl-S-thiazole)	− − −	− − −	− − −	− − −	− − −	++++	− − −	++	− − −		
ससिनिल सल्फा थियाजोल (Succinyl-S-thiazole)	− − −	− − −	− − −	− − −	− − −	++++	− − −	+	− − −		
सल्फा डियाजान (S-diazine)	+ + +	+++	+++	+ + +	+ +	− − −	+++	− −	+		+
सल्फा थियाजोल (S-thiazole)	+ + +	+++	+++	+ + +	+++	+	++	+	++		
सल्फा सिटामाइड (S-cetamide) नेत्र तथा सूत्र-प्रजनन संस्थान में विशेष लाभप्रद है।	±	±	+++	±	±	− − −	− − −	− − −	− − −		
सल्फा मेराजीन (S-merazine)	++ +	+++	+++	+ + +	±	− − −	±	− − −	±		

सल्फा (Sulpha) औषधि की विशेष परिस्थिति की मात्रायें

आयु	मूत्र-संस्थान	माला गोलाणु (Strepto) से बचने के लिये	आंत्र के उपसर्ग मे सल्फागोनेडीन आदि.	कुष्ठ (Leprosy) प्रोमीन (Promine) सिरा (I.V.) से	प्रोमीज़ोल (Promizole) मुख से
युवा	ग्रा० $\frac{1}{2}$–१ प्र० ४–८ घं०	ग्रा० $\frac{1}{2}$ द्वि० प्र० दि०	प्रथम-मात्रा–ग्रे० ३ प्र० पौ० भा० स्थायी मात्रा ग्रे० $\frac{1}{3}$ प्र० पौ० भा० प्र० ४ घं०	सी० सी० ४. प्र० दि० ३ स० तक. प्र० मास	ग्रा० $\frac{1}{3}$–२ त्रि० प्र० दि०
बालक	ग्रे० $\frac{1}{12}$–$\frac{1}{6}$ प्र० पौ० भा० प्र० ४–६ घं०	ग्रे० $\frac{1}{12}$ प्र० पौ० भा० द्वि० प्र० दि०	प्रथम–ग्रे० ३ प्र० पौ० भा० स्थायी मात्रा ग्रे० $\frac{3}{8}$ प्र० पौ० भा० प्र० ४ घं०	सी० सी० $\frac{1}{3}$–२ प्र० दि० ३ स० तक प्र० मास	ग्रा० $\frac{1}{4}$–१ चा० प्र० दि०

सल्फा (Sulpha) औषधियों के प्रयोग तथा मात्रायें

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
सल्फागोनेढीन (S-guanidine, S-suxidine, thalazole)	दण्डाण्वीय प्रवाहिका (B : dys :)	मुख	सर्वप्रथम ४ गो. तत्पश्चात् २ गो. प्रति चार घण्टे ।
फार्मोसिबेजोल (Formo-cibazol)	विसूचिका (Cholera)	”	प्रथम दो गो. तत्पश्चात् १ गो. प्रति दो घंटा ।
सल्फासिटेमाइड (S-cetamide)	मूत्र-संस्थान के रोग	”	गो. २ त्रि. प्र. दि. ।
सल्फाडियाजीन (S-diazine)	”	”	गो. १ त्रि. प्र. दि. ।
	शोणांशिक मालागोलाणु (Strepto : haemolyticus, pneumococcus etc :)	”	प्रथम २ गो. तत्पश्चात् १ गो. प्रति चार घंटे ।
		सिरा	½–२ ग्रा.
सोल्यूसेप्टीसिन (Soluseptasine)	”	”	५–२० प्र० श० घोल का
		पेशी या अधस्त्वक्	५–२० सी. सी. तक प्रतिबार ।
सल्फाथियाजोल (S-thiazole, Cibazol, M. B. 760)	”	मुख	१ गो. प्रति ४ घंटे ।
		सिरा	½–२ ग्रा.
सल्फामेराजीन (S-merazine)	”	मुख	१ गो. प्रति ४ घंटे ।

सल्फा (Sulpha) औषधियों की मात्रा

योग	रक्त में औषधि की सर्वोच्च मात्रा का समय घंटे में	परित्याग	रक्त में औषधि की सर्वोत्तम (Optimum) मात्रा. प्र. श., मि. ग्रा. में	साधारण मात्रा मुखसे — युवा में ग्रा. मे — प्रथम मात्रा	साधारण मात्रा मुखसे — युवा में ग्रा. मे — स्थायी मात्रा प्र. ४–६ घंटा	साधारण मात्रा मुखसे — बालक मे प्र.पौ.भा. के अनुसार ग्रे. मे. — प्रथम मात्रा	साधारण मात्रा मुखसे — बालक मे प्र.पौ.भा. के अनुसार ग्रे. मे. — स्थायी मात्रा प्र. ४–६ घंटा	सिरामार्ग (I.V.) से १/२–५ प्र. श. घोल. द्वि. त्रि. या. चा. प्र. दि. — युवा. ग्रा. मे	सिरामार्ग (I.V.) से १/२–५ प्र. श. घोल. द्वि. त्रि. या. चा. प्र. दि. — बालक प्र.पौ.भा. ग्रे.
सल्फानिल अमाइड (S-nilamide)	२	+++	५–१५	२–४	१	१/३	१/६	—	—
सल्फा मेराजीन (S-merazine)	८	+	८–१५	,,	१/२	,,	१/१२	१–३	१/४–१/२
सल्फा डियाजीन (S-diazine)	??	??	८–१५	,,	१/२	,,	१/१२	,,	,,
सल्फा थियाजोल (S-thiazole)	??	??	३–७	,,	१	,,	१/६	,,	,,
सल्फा पाइरीडीन (S-pyridine)	??	??	३–१०	,,	१	,,	१/६	,,	,,

तृणाणुओं (Bacteria) की प्रकृति तथा उन पर औषधियों का प्रभाव

तृणाणु (Bacteria)	आवरण (Capsule)	गति, पुच्छ (Flagella)	जुलक (Spore)	ग्राम-रञ्जन (Gram)	अम्ल सह	मद्य-सह	पे.	स्ट्रे.	औ.	क्लो	टे.	स.
स्तबक गो. (Staphy)	—	—	—	+	—	—	+	±	+	+	+	+
माला गो. (Strepto)	—	—	—	+	—	—	+	±	+	+	+	+
फुफ्फुस गो. (Pneumo)	+	—	—	+	—	—	+	±	+	+	+	+
मस्तिष्क गो. (Meningo)	—	—	—	—	—	—	+	±	+	+	+	+
गुह्य गो. (Gono)	—	—	—	—	—	—	+	+	+	+	+	+
डुक्रे दं. (B. ducrey)	—	—	—	—	—	—	±	±	+	+	+	+
यक्ष्मा दं. (T. B.)	—	—	—	±	+	+	−	+	−	−	±	−
कुष्ठ दं. (B. lepra)	—	—	—	+	+	+	−	−	−	−	−	−
आंत्र दं. (B. coli)	—	+	—	—	—	—	−	+	+	+	+	+
आं.ज्वर दं.(B.typhosus)	—	+	—	—	—	—	−	±	+	+	+	−
उपां.ज्वर दं. (B.para-ty)	—	+	—	—	—	—	−	±	+	+	+	−
प्रवाहिका द (B. dys)	—	—	—	—	—	—	−	±	±	±	±	+
विसूचिका व. (V.cholera)	—	+	—	—	—	—	−	−	−	−	−	+
रोहिणी दं.(B.diphtheria)	—	—	—	+	—	—	±	−	−	−	−	±
कुकास दं. (B.pertussis)	—	—	—	—	—	—	−	−	±	±	±	−
प्लेग दं. (B. pestis)	±	—	—	—	—	—	−	+	±	+	±	+
धनुर्वात दं. (Cl. tetani)	—	±	+	+	—	—	±	−	−	−	−	−
वात-कर्दम द. (Cl.welchii)	+	—	+	+	—	—	±	−	−	−	−	+

सूचना :—उपर्युक्त तालिका में—पे. = पेनिसिलीन, स्ट्रे. = स्ट्रेप्टोमाइसीन, औ.=औरियोमाइसीन, क्लो. = क्लोरोमाइसेटीन, टे.= टेरामाइसीन, तथा स.= सल्फा (Sulpha) औषधि। गो.= गोलाणु, दं.= दंडाणु।

तृणाणु-नाशक औषधियाँ (Antibiotics)

[घातक अन्तर्हृच्छोथ (Malig : Endocarditis) में प्रयोग]

औषधि	मार्ग	मात्रा	जीवाणु
प्रोकेन पेनिसिलीन (Pr.P. Omnacillin, Leocillin 'Dx')	पेशी	६–१२ लक्ष. अ. इ. द्वि. या. चा. प्र. दि. २ मास पर्यन्त	(Str;viridans)
पेनिसिलीन 'जी' (P. G.)	पेशी	½–२½ लक्ष. अ. इ. प्र. ३ घंटे.	,, ,,
	सिरा	५० लक्ष. अ. इ. प्र. दि.	
	पेशी	१२½–३७½ लक्ष. अ. इ. के साथ स्ट्रेप्टोमायसीन (Str) ग्रा. ½ चा. प्र. दि.	(Str : Faecalis)
पेनिसिलीन तथा स्ट्रेप्टोमायसीन (Omnamycin, Penstrep'Mk',Leocillin'Dx'Estomycin 'Go',	पेशी	ग्रा. ½–१ स्ट्रेप्टोमायसीन तथा पेनिसिलीन ल. ४ अ. इ. चा. प्र. दि.	,,
डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमायसीन(Dihydro:str Dicristicin Sq)	पेशी	ग्रा. ½–१ चा. प्र. दि.	दोनों प्रकार के गोलाणु (Cocci) तथा कुछ ग्राम त्यागी(Gram –) दण्डाणु (Bacilli)
औरियोमायसीन (Au.) मुख से देने से वमन, दस्त आदि हो सकता है।	मुख	ग्रा. ½–१. चा. प्र. दि.	,,
	सिरा	मि.ग्रा. १००–२०० द्वि. प्र. दि.	,,

औषधि	मार्ग	मात्रा	जीवाणु
टेरामायसीन (Tn.) मुख से देने से वमन, दस्त आदि हो सकता है।	मुख सिरा	मि. ग्रा. ५०० त्रि. प्र. दि. " द्वि. प्र. दि.	"
क्लोरोमायसिटीन (Cln)	सिरा पेशी मुख	मि. ग्रा. ५०० चा. प्र. दि मि. ग्रा. ५०० चा. प्र. दि. ग्रा. ½–१ प्र. ४ घंटे	ग्राम (–) दण्डाणु (Bacilli)
नेओमायसीन (Neomycin) वातनाडी या वृक्क में विकृति हो सकती है।	पेशी	ग्रा. ½ चा. प्र. दि.	"
पोलीमिक्सीन (Polymyxin) वातनाड़ी या वृक्क में विकृति हो सकती है।	पेशी	मि. ग्रा. २५ चा. प्र. दि.	"
बैसिट्रेसिन (Bacitracin)	पेशी	१५००० अं. इ. चा. प्र. दि.	ग्राम (+) गोलाणु (Cocci)
माइस्टेक्लीन (Mysteclin 'Sq')	मुख	कै. १ चा. प्र. दि.	"

बीजग्रंथि (Ovary) जन्य स्त्री-प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव (Female sex hormones)

(क) एस्ट्रोजेन (Estrogen)

योग. (मि. ग्रा. में.)	मार्ग	मात्रा (मि. ग्रा. में.)
(१) स्टिलबेस्ट्रौल (Stilboesterol) गोली. मि. ग्रा. ०'१, ०'५, १	मुख	रजोनिवृत्ति, मासिक धर्म में पीड़ा, योनिशोथ (Vaginitis) में मि. ग्रा. ०'१–१ द्वि. प्र. दि. दें
(२) सिनथोवा (Synthova 'Bo')	„	(च) रजोनिवृत्ति (Menopause) में मि. ग्रा. ५ त्रि. प्र. दि. ५ दि. प्र. स. एक मास तक दें तत्पश्चात् ए. या द्वि. प्र. दि. दें (छ) मासिक धर्म में पीड़ा होने पर मि. ग्रा. ५ त्रि. प्र. दि. आर्तव के चार दिन पूर्व से दें (ज) वृद्धावस्था के योनिशोथ (Vaginitis) में मि.ग्रा. ३'५ प्र. दि. दें
(३) प्रिमारीन (Premarin) जल में बना है।	मुख पेशी	मि.ग्रा. ०.६–१'२५ द्वि. प्र. दि. मि.ग्रा. १'२५–२'५ प्र. वा.
(४) एथिनिल एस्ट्रेडिओल (Ethinyl-estradiol) गो. ०'०२–०'०५ मि. ग्रा.	मुख	मि.ग्रा. ०'०१–०'०२५ द्वि. प्र. दि.
(५) ओस्ट्रेडिओल (Ostradiol) तैल में	पेशी	मि. ग्रा. ०'२५–०'५ त्रि. प्र. स.
(६) डानोस्टेरौल (Dienoestrol)	मुख	रजोनिवृत्ति (Menopause) में मि.ग्रा.१ त्रि.प्र. दि. ५ दिन प्र. स. ए. मास तक पतपश्चात् द्वि. या ए.प्र.दि. दें।

औषधि (मि. ग्रा. में)	मार्ग	मात्रा (मि. ग्रा. में)
(७) ओएस्ट्रिन (Oestrin)	पेशी	बाल्यावस्था के योनिशोथ (Vaginitis) में मि. ग्रा. २·५ द्वि.प्र.स. तत्पश्चात् योनि द्वारा ।
(८) नेयोक्लिनेस्ट्रौल (Neo-clinesterol, dienesterol)	पेशी मुख	दुग्ध कम करने के लिये या स्तन में पीड़ा होने पर मि. ग्रा. ३–५ प्र. दि. या मि. ग्रा. ५ द्वि. प्र. दि.
(९) इटीसाइक्लीन (Eticyclin Ca) मि.ग्रा. ०·०१–०·०५ प्र. गो.	मुख में	मि. ग्रा. ०·०५–०·१ तक प्र. दि.
(१०) ओवोसाइक्लीन (Ovocyclin 'Ca') १, ५ का एमप्यूल, गोली ०·१, १, गोदाम (depot) १०	पेशी	मि. ग्रा. १–५ प्र. दि.
(११) एस्ट्रोनेक्स (Estronex 'dx')	मुख	पेशी से मि.ग्रा. २ प्र. दि. या मुख से मि. ग्रा. १ प्र. वा.
(१२) प्रोफोलिओल (Profoliol 'sch') एम्प्यूल, ०·३, १, ५, प्र. सी. सी. गोली ०·१, ०·५, गुदा से ०·०४, ०·४ प्र. गो., मलहम ०·०३, ०·१५ प्र. ग्रा., नाक से ०·४ प्र. सी. सी.	पेशी	मि. ग्रा. १ से ५ त्रि. प्र. स.
(१३) फेनोसाइक्लीन (Fenocyclin 'ca') गोली ०·१, १	मुख	मि. ग्रा. १–६ प्र. दि.
(१४) ऐस्टीनिल (Estinyl 'sch') गोली ०·०२,	"	गो. १ त्रि. प्र. दि.
(१५) प्रोगाइनौन (Progynon 'sch') एमप्यूल १, ५, मुख ०·०२ गोदाम (Depot) १०, २०	" या पेशी	आ. अ.

(ख) प्रोजेस्टरौन (Progesteron) के योग

औषधि (मि० ग्रा० में)	मार्ग	मात्रा (मि० ग्रा० में)
१—कौरपसल्यूटियम (Corpus leuteum P. D.)	मुख	मि. ग्रा. ३–३०
२—ल्यूटोसाइक्लीन (Leutocy-clin Ca)	पेशी	मि. ग्रा. २–२० प्र. दि.
एम्प्यूल २, १० गोली ५, क्रिस्टयूल ५०, एम्प्लान्ट १००	मुख	मि. ग्रा. ५–२० प्र. दि.
३—प्रेनोन (Pranone 'sch' गोली ५, १०, एम्प्यूल २, ५, १०	,,	मि.ग्रा. २–५ त्रि.प्र.स.
४—ल्यूप्रोनेक्स (Lupronex)	पेशी मुख में	आ. अ. मि. ग्रा. १ मि. ग्रा. ६ प्र. वा.
५—प्रोल्यूटौन (Proluton 'sch')	पेशी	आ. अ.
६—प्रोजेस्टेरौन (Progesteron)	पेशी	१—मासिक धर्म प्रारम्भ करने के लिये ५–१० प्र० दि० कर ५ दिन २—गर्भपात रोकने के लिये १००–२०० तक ३—आर्तव (Mens) के पूर्व पीड़ा होने पर :—आर्तव के एक सप्ताह पूर्व से ५ प्र० दि०

वृषण ग्रन्थि (Testes) जन्य पुरुष के प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव (Male sex hormone)

योग (मि० ग्रा० में)	मार्ग	मात्रा (मि० ग्रा० में)
(१) परान्ड्रिन (Perandren 'ca') इन्जेक्शन ५, १०, २५, मुख में ५, मलहम २ प्र० ग्रा०, गोदाम (Depot) मि. ग्रा. २५, १००	स्थानिक, पेशी या जिह्वा के नीचे।	मि० ग्रा० २५–७५ प्र०स०। मूत्र (Eneurosis) तथा शुक्र (Sperm) की विकृति, कष्टार्तव (Metrorrhagia), रक्तप्रदर (Menorrhagia), स्तन में पीड़ा, स्तन का कर्कटार्बुद (Gancer), पुरुष में स्तन की वृद्धि, पण्डता, शुक्र की कमी से कष्ट आदि।
(२) ओरेटौन (Oreton 'sch') इन्जेक्शन ५, १०, २५, ५०, १००, मुख में २, ५, १०, गोली १०, २५, ७५, गोदाम २५, ५०	मुख से, जिह्वा के नीचे या पेशी मार्ग	स्त्री में आर्तव निवृत्ति (Menopause), गर्भाशय विकृति। हृत्पेशी (Myocardium) के कार्य में कमी, परिसरिय रक्त-प्रवाह (Peripheral circulation) में विकृति, प्रोटीन (Ptn) की कमी, मानसिक विकृति, अष्ठीला ग्रन्थि (Prostate) की वृद्धि हृच्छूल (Angina), पुरुष में वृद्धावस्था आदि। सूर्यावर्त (Migraine)।
(३) टेस्टोविरौन (Testoviron sch) इन्जेक्शन ५, १०, ५०, गोली ५, १०, २०, गोदाम ५०, १००, २५०, घोल मुख में ३०	"	
(४) एन्ड्रोनेक्स (Andronex 'dx')	पेशी	मि० ग्रा० १ आ० अ०
	मुख	मि० ग्रा० ३ आ० अ०
(५) एन्र्ट्रैन (Anertan 'bm') गोली ५, तेल ५ प्र०ग्रा०, इन्जेक्शन १०, २५, ३०, गोदाम २०, १००.	"	गो० १–४ प्र० दि०
	पेशी	मि० ग्रा० २५ प्र० दि०

प्रजनन सम्बन्धी रोगों में प्रयोग की जाने वाली अन्य औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
कौल्पोसल्फाना (Colposul-phana)	योनि	आ० अ०	श्वेतप्रदर (Leucorrhoea) ट्राइकोमोनस (Trichomonous) का उपसर्ग।
एस०वी० सी० (S.V.C.'M.B.')	योनि	गो० १–२ प्र० दि०	,,
स्परमेन (Spermen 'H. D.')	मुख	गो० २ द्वि० प्र० दि०	शुक्रपात (Spermatorrhoea)

स्त्री तथा पुरुष प्रजनन सम्बन्धी अन्तः स्राव के संयुक्त योग

औषधि	मार्ग	मात्रा
यूनीट्रीस्टेरौन (Unitristron 'U.L.')	पेशी	आ० अ०
टेस्टोवेरौन (Testoveron 'sch') स्त्री० अन्तः स्राव मि० ग्रा० २५, पुरुष मि० ग्रा० १० प्र० सी० सी०	पेशी	आ० अ०
प्राइमोडियन (Primodian) स्त्री-स्राव मि० ग्रा० ४, पुरुष स्राव मि० ग्रा० १० प्र० सी० सी०	,,	,,

१५० पौं० भारवाले रोगी में डिजिटेलिस (Digitalis) देने की विधि

(ये औषधियाँ प्रायः मुख से दी जाती है)

(क) प्रभावशाली मात्रा (Digitalizing dose)

योग	पूर्ण प्रभाव का समय घंटे में	मात्रा
डाइजोक्सीन (Digoxin) सी० सी० १=मि० ग्रा० ०·५	तत्काल	सिरा मार्ग (I.V.) से प्रथम सी० सी० २ तत्पश्चात श्रा० श्र० प्र० २ घं० सी० सी० १
लानाटोसाइड 'सी' (Lanatoside 'C', Cedilanid) सी०सी० १=मि०ग्रा० ०·२	"	सिरा मार्ग (I. V.) से प्रथम सी० सी० ६ तत्श्चात् श्रा० श्र० प्र० २–५ घं० सी० सी० २
टि० डिजिटेलिस (Tr: Digitalis) (टि० डिजिटेलिस मि. १५=भस्म ग्रे० १½=डिजौक्सीन मि० ग्रा० ०·२५)	२४	प्रथम ड्रा० २½, द्वितीय ड्रा० १½, तृतीय मि० ४५, चतुर्थ मि० ३० प्र० ६ घं०
डिजिटेलिस भस्म (Pulv : Digitalis)	२४	प्रथम ग्रे० १५, द्वितीय ग्रे० ८, त्रितीय ग्रे० ४½, चतुर्थ ग्रे० ३ प्र० ६ घं०
डाइजौक्सीन (Digoxin) गो० १=मि०ग्रा० ०·२५	२४	प्रथम गो० १०, द्वितीय गो० ६, त्रितीय गो० ३, चतुर्थ गो० २, प्र० ६ घ०
"	३६	प्रथम गो० ८, पत्पश्चात् २ गो० ४ बार, तदोपरान्त गो० १ एक बार प्र० ६ घं०

योग	पूर्ण प्रभाव का समय घंटे में	मात्रा
डाइजौक्सीन	४८	प्रथम दिन मि० ग्रा० १ द्वि० प्र० दि०, द्वितीय दिन मि० ग्रा० ०·५ द्वि० प्र० दि०
डिजिटेलिस भस्म (Pulv : Digitalis)	४८	प्रथम दिन ग्रे० ६ द्वि० प्र० दि० द्वितीय दिन ग्रे० २ द्वि० प्र० दि०
डिजिटोक्सीन(Digitoxin)	४८	प्रथम दिन मि० ग्रा० ०·४ द्वि०प्र० दि०, द्वितीय दिन मि० ग्रा० ०·२ द्वि० प्र० दि०
डिजिटेलिस भस्म	७२	(अ) बालक :—ग्रे० ½–२ द्वि० प्र० दि० तीन दिन (आ) युवा :—ग्रे० ३ द्वि० प्र० दि० तीन दिन
डिजिटौक्सीन	७२	(अ) बालक :—मि० ग्रा० ०·०३–०·१३ द्वि० प्र० दि० तीन दिन (आ) युवा :—मि० ग्रा० ०·१५–०·३ द्वि० प्र० दि० तीन दिन
लानाटोसाइड 'सी'	७२	मि० ग्रा १·२५ प्र० ६ घ० कर १२ बार
डाइजौक्सीन	९०	प्रथम गो० ६, द्वितीय गो० ४, त्रितीय गो० २ तत्पश्चात् गो० १ नौ बार, प्र० ६ घं०
टि० डिजिटेलिस	१४४	प्रथम तीन दिन मि० ३० म्नि० प्र० दि० तत्पश्चात् तीन दिन मि० २० म्नि० प्र० दि०

डिजिटेलिस (Digitalis) की मुख मार्ग से
(ख) स्थायी मात्रा (Maintanance dose)

औषधि	मात्रा
डिजिटेलिस भस्म (Pulv : digitalis)	युवा :—ग्रे० १½ प्र० दि० वालक :—ग्रे० १/३–१ प्र० दि० कर ६ दिन प्र० स०
सीडीनलिड (Cedilanid, Lanatoside)	मि० ग्रा० १·५ प्र० दि०
डाइजोक्सिन (Digoxin) गोली मि० ग्रा० ०·२५, इञ्जेक्शन मि०ग्रा० ०·५ (सिरा से)	मि० ग्रा० ०·२५–०·७५ प्र० दि०
डिजिटौक्सीन (Digitoxin)	बालक :–मि० ग्रा० ०·०२–०·०८ प्र० दि० कर ६ दि० प्र० स० युवा :—मि०ग्रा० ०·०५–०·२ प्र० दि०

डिजिटेलिस (Digitalis) के योग

योग	मार्ग	मात्रा
डिजिफोलिन (Digifo-line Ga) गोली. ग्रा. ०'१ घोल. ग्रा. ०'१ प्र. सी. सी. इंजेक्शन सी. सी. २	मुख पेशी	गो. १–२ द्वि.त्रि.या चा.प्र.दि. या मि. १५ " " सी. सी. २ आ. अ.
डिजिग्लूसीन (Digiglu sin 'Ly') घोल १ यू. ए. पी. (U.S.P.) प्र. सी. सी. या प्र० गोली,	मुख पेशी	आ. अ. "
डिजिटौक्सीन (Digitoxin 'Sq') गोली मि. ग्रा. ०'१, ०'२	मुख	प्रभावशाली मात्रा :–मि. ग्रा. १'२–१'५ प्र.दि। स्थायी मात्रा मि. ग्रा. ०'१–०'२ प्र. दि.
डिजिलानिड (Digilanid Sz') गोली ० २५ मि. ग्रा., घोल मि.ग्रा. ०'५ प्र.सी.सी., इञ्जेक्शन मि. ग्रा. ०'२ प्र. सी. सी.	" सिरा	गो. १–३ प्र. दि. सी. सी. १–२ आ. अ.
नेटिवेल (Nativelle's granules) की गोली	मुख	गो. १=डिजौसीन मि. ग्रा. ०'१, ०'२५
डिजिकार्डीन (Digicardine) इसमें डिजोक्सीन तथा अमीनोफायलीन है ।	"	आ. अ.

रक्त-निपीड़ (B. P.) कम करने की औषधियाँ

(ये प्रायः मुख से दी जाती है)

औषधि	मात्रा	प्रयोग
वेराट्रम विराइड (Veratrum viride, Vertavis) सूचना :—एट्रोपीन या इफेड्रीन (Ephedrine) का साथ-साथ इजेक्शन देने से औषधि की विषाक्तता कम हो जाती है।	१ गो.=१० काग इकाई (Crow unit) (क) साधारण अवस्था में—१–२ गो. द्वि. प्र. दि. (ख) गम्भीर अवस्था में—२ गो. प्रति २ घंटे	प्रभाव अनिश्चित है। रक्तवाहिनियों का विस्फार (Dilatation) करती है। वेरीलौयेड (Veriloid) सिरा (I.V.) से दे सकते है।
सोडियम हेक्सामेथोनियम (Sodi: hexamethonium, Methium, Vagolysen M. & B.)	अधस्त्वक (S. C.) :— मि. ग्रा. १५–२० त्रि. प्र. दि. ग्रा. अ. मि. ग्रा. ५ प्र. दि. बढ़ा सकते हैं। मुख—मि. ग्रा. १००–३००० प्र. दि. सिरा —मि. ग्रा. ०·५	स्वतन्त्र वातनाड़ी संस्थान (Sympathetic) का अवरोध करती है। विशेष सावधानी आवश्यक है।
पोटाशियम थायोसाइनेट (Pot: thiocynate)	ग्रा. ०·१ ०·२ त्रि.प्र.दि.भो.प.	उच्चरक्त निपीड़ जन्य शिर की पीड़ा शांत करती है।
सोडियम नाइट्राइट (Sodi : nitrite)	ग्रे. ½–२ त्रि. प्र. दि.	अत्यल्प प्रभाव है। उपवृक्क (Adrenal) पर कार्य करती है।

औषधि	मात्रा	प्रयोग
सरपीना (Serpina H. D. Rauwolfia serpentina)	१ गो. (ग्रे. ३) त्रि. प्र. दि. या मि. ५–२० द्वि. या. त्रि.प्र. दि.	निद्रा लाती है, उच्च-रक्त निपीड़, उन्माद तथा कब्ज में लाभप्रद है।
सरपासिल (Serpacil 'Ca')	०'१ या ०'२५ मि. ग्रा. की गो. १ द्वि. या त्रि. प्र. दि.	
सोडियम या पोटासियम सल्फो-सायनेट (Pot : sulpho: cyanate)	ग्रे. २ द्वि. या त्रि. प्र.दि. भो.प.	सिर की पीड़ा में विशेष लाभ-दायक है। उपवृक्क (Adrenal) पर कार्य करती है। विपाक्त है।
एप्रेसोलीन (Apresoline. Ca) नोट :—स्वतन्त्र वातनाड़ी (Sympa thetic) अवरोधक है।	मुख :-मि. ग्रा. २५–२०० चा. प्र. दि. सिरा :—०'५ मि. ग्रा.	वृक्क से जो रक्तनिपीड़ बढ़ाने वाला (Pressure substance) पदार्थ निकलता है उसका नाश करती है। औषधि-विपाक्त है।
नाइट्रोग्लिसरीन (Tab: trinitrini)	ग्रे. १/२००–१/१०० जिह्वा के नीचे रखें	रक्तवाहिनी विस्फारक (Vaso-dilator) है।
एरिथ्रोल टेट्रानाइट्रेट (Erythrol-tetra-nitrate, penta-nitrine 'Gt')	ग्रे. १–२ द्वि. त्रि. या चा.प्र.दि.	,,

औषधि	मात्रा	प्रयोग
पाइपरोजेन (Piperoxane M.B.)	सिरा :–०·२ प्र.श.१० सी.सी.	उपवृक्क (Adrenal) के अर्बुद जन्य उच्च रक्तनिपीड़ में लाभप्रद है। अन्य में प्रभावहीन है।
हाइडरजीन (Hydergine : Sz)	पेशी—मि. ग्रा. १ मुख—मि. ग्रा. ०·२५-की गो. १ जिह्वा के नीचे रखें गो. ८ प्र.दि. तक। शनैः-शनैः मात्रा बढ़ायें।	पाइपरोजेन के समान कार्य करने के अतिरिक्त रक्तवाहिनी विस्फारक (Vasodilator) होने के कारण अन्य प्रकार के रक्तनिपीड़ में भी दे सकते हैं। औषधि-विपाक्त है।
एनसोलाइसीन (Ansolysen) गोली मि.ग्रा. ४०, २००, इंजेक्शन ०·५ प्र. श. विलम्बी (Retard) २·५ प्र. श.	मुख से गो. १ द्वि. त्रि. या चा. प्र. दि. या अधस्त्वक (S.C.) मि. ग्रा. २·५–१० त्रि. या चा. प्र. दि.	उच्च रक्त निपीड़, अकारणज (Essential) या धमनीजरठता (Arteriosclerosis), वृक्क के रोग आदि के साथ। परिसरीय रक्तवाहिनी (Peripheral B.V.) के रोग।

रक्तवाहिनी विस्फारक (Vasodilator) तथा हृद्धमनी विस्फारक (Coronary dilators)

(ये औषधियाँ प्रायः मुख द्वारा ही दी जाती हैं।)

औषधि	मात्रा	प्रयोग
(क) नाइट्राइट (Nitrite) :— नाइट्रोग्लिसरीन (Tab: Trinitrini)	ग्रे. १/२००–१/१०० जिह्वा के नीचे	उद्वेग या परिश्रम के पूर्व
पेरीट्रेट (Peritrate)	मि. ग्रा. १० चा. प्र. दि.	इसका प्रभाव देर तक रहता है।
मैनिटौल (Mannitol hexanitrite)	ग्रे. १ त्रि. प्र. दि.	
येरिथ्रौल (Erythroltetranitrite)	ग्रे. ३–१ त्रि. प्र. दि.	
(ख) खेलिन (Khellin) के योग :—		
१—एमीविन (Ammivin N.D.C.) गो.मि.ग्रा.१०,२०	मुख या पेशी—मि. ग्रा. ६०–१०० प्र. दि.	हृद्धमनी (Coronary) विस्फारक है। दमा, हृच्छूल (Angina), कुकर खाँसी (Whooping cough), हृत्धमनी की घनास्रता (Thrombosis), में दे सकते हैं।
२—विसकार्डेन (Viscarden B.D.H.) गो. मि. ग्रा. २५, इन्जेक्शन मि. ग्रा. १०० प्र. १/२ सी. सी.	मुख —१–२ गो. २–६ वा. प्र. दि. भो. प. पेशी —सी. सी. २ प्र. वा.	

श्रौषधि	मात्रा	प्रयोग
३—विसामिन (Visammin)	मुख—मि. ग्रा. २०–१००·द्वि.प्र.दि. स्थायी मात्रा मि.ग्रा. ५–२० त्रि.प्र.दि. पेशी— मि. ग्रा. ५० प्र. वा.	भोजन के साथ। लूगाल की आयोडीन (Lugo's iodine) मि. ५–८ साथ-साथ दे सकते हैं
(ग) जीवतिक्ति बी. (Nicotinic acid, niacin, vit: B_7)	मि. ग्रा. ५० त्रि. प्र. दि. सिरा :–मि. ग्रा. १०० ग्लूकोस ५ प्र. श. पा. ½–१ में बूँद-बूँद कर	
(घ) जैनथिन (Xanthine) :— १—अमीनो फइलीन (Aminophylline, theophyllin, euphyllin)	मुख :–ग्रे. ३ त्रि. या चा. प्र. दि. सिरा :–ग्रे. ३¾–७½ प्र.वा. गुदा :–ग्रे. ७½ द्वि. या, त्रि. प्र. दि. ग्रे. ७½ चा. प्र. दि. भो. प.	मूत्रल तथा रक्तवाहिनी विस्फारक है। दमा, चेन-स्टोक श्वसन में दे सकते हैं
२—कालप्यूरेट (Calpurate Purital, Thesodate, Theocalcin)		प्यूरिटल कैलसियम थेयोब्रोमीन है।
(ङ) अन्य :— पापावेरीन (Papaverine) मद्य (Whisky) इटेमौन (Etamon-chloride)	ग्रे. १½–३ त्रि. प्र. दि. औं. १–२. भो. पू. त्रि. प्र. दि. सिरा—मि. ग्रा. ५०–१००	प्रति तीसरे दिन इंजेक्शन दे। रक्तनिपीड़ (B. P.) अत्यन्त कम हो सकता है

औषधि	मात्रा	प्रयोग
लेकौर्नौल (Lacornol, Ht: muscle ext:)	मुख—मि. १५–२५ द्वि. प्र. दि. अधस्त्वक—सी. सी. १ प्र. वा.	हृद्धमनी विस्फारक
सार्कोलान (Sarcolon)	अधस्त्वक—सी. सी. १ प्र. वा.	
रेडियोऐक्टिव आयोडीन (Radio-active iodine)	एम. सी. (M. C.) ६०, मुख से प्र. ६ मास	अत्यंत कष्टसाध्य हृच्छूल (Angina pectoris)
रोनीकौल (Ronicol 'Re'	मुख—गो. १–४ त्रि. प्र. दि. पेशी या सिरा—ए. या द्वि.प्र. दि. एम्पूल १ प्र. वा.	मेनेयर का संरूप (Meniere's syndrome), नेत्र के रोग ।

'परिसरीय रक्तवाहिनी विस्फरक (Peripheral dilators) औषधियाँ

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
प्रिस्कौल (Priscol)	रेनाड (Raynaud) का रोग	{ मुख अधस्त्वक	मि. ग्रा. २५ प्र. गो. त्रि. प्र. दि. मि. ग्रा. १० प्रतिवार
हेक्सा मेथोनियम (Hexa-methonium)	सविराम विकल गमन (Intermittent claudication)	सिरा(.IV.)	मि. ग्रा. ६० ”
प्रिस्कोलीन (Priscolin)	”	मुख पेशी(I.M.)	मि. ग्रा. ५०–१०० मि. ग्रा. ५०
एसिटिल कोलीन (Acetyl choline)	अधोशाखा की धमनी-जरठता (Arterio-sclerosis)	अन्तर्धमनी (Intra-arterial)	मि. ग्रा. १०० को १ सी. सी. जल में घोलकर औवीं (Femoral) धमनी में इन्जेक्शन देने से सहयोगी (Collateral) रक्त-प्रवाह कार्यशील हो जाता है।
हिस्टामिन (Histamin)	घनास्त्रता (Thrombosis)	”	मि. ग्रा. २ की मात्रा ५०० सी. सी. समबल लवण जल (N. Saline) में घोल कर औवीं (Femoral) धमनी में १० सी. सी. प्रति मिनट की गति से इन्जेक्शन दें।

पीड़ाहर (Analgesic) औषधियाँ
[शामक (Sedatives) औषधियाँ भी देखिये]

औषधि	मार्ग	मात्रा
नाग सर्प विष (Cobra-poison)	पेशी(I.M.)	५ यूनिट (U.) विशेष कर वातनाड़ीशूल तथा घातक अर्बुद (Malignant tumour) में
एसपिरीन (Aspirin)	मुख	ग्रे. ५ प्र. बा.
फेनासिटीन (Phenacetin)	,,	ग्रे. २ –५ ,,
कैल्सियम एसेटिल सैलीसिलेट (Cal : acetyl : salicylate)	,,	ग्रे. ५ ,,
अमीडोपायरिन (Amidopyrine)	,,	ग्रे. ४ ,,
कोडीनफौस (Godein phos :)	,,	ग्रे. ½–१ प्र. ४ घंटे
पेथीडीन (Pethidine)	,,	मि. ग्रा. ५० प्र. बा.
फाइसेप्टोन (Physepton)	,,	मि.ग्रा.२·५-१०,,
	अधस्त्वक	मि. ग्रा. १० ,,
वेगानिन (Veganin, saridon)	मुख	१ गो. ,,
सोडियम फेनोबारबिटल (Sodi : pheno : barbital)	मुख	ग्रे. २ प्र. बा.
मद्य (Alcohol)	वातनाड़ी (Nerve)में	१ सी. सी. प्र. बा. वातनाड़ी शोथ (Neuritis) में।
ट्रिनीट्रिनी (Tab : trinitrini)	जिह्वा के नीचे	ग्रे. $\frac{1}{200}$–$\frac{1}{100}$ प्र. बा.
पापावरीन (Papaverine)	मुख या अधस्त्वक	ग्रे.१ आ.अ. या प्र.चा. घं.
डेमेरोल (Demerol, meperidine hyd :)	अधस्त्वक	मि. ग्रा. १०० आ. अ.

पीड़ाहर (Analgesic)

औषधि	मार्ग	मात्रा
सिबालजिन (Cibalgin 'Ca') गोली ग्रा. ०·२५, इन्जेक्शन ग्रा. ०·५ सी. सी. २ में।	पेशी या सिरा मुख	सी. सी. १–२ प्र. बा. गो. १–२ द्वि. प्र. दि.
बेलाडिनल (Belladenal 'Sz') गोली मि. ग्रा. बेलाफोलिन ०·२५ तथा फेनोबारबिटोन (Phn) ५० ।	मुख	गो ½–४ प्र दि.
सोनालजिन (Sonalgin 'MB') गोली ग्रे० ५	,,	गो. १–३ सोने के पूर्व
नोवालजिन (Novalgin 'Ho') गोली ग्रा. ०·५, इन्जेक्शन ५० प्र. श. सी. सी. २, ५	मुख पेशी	गो. १–२, या मि. २०–४० त्रि. प्र. दि. सी. सी. २ आ. अ.
स्पैज्मोसिबालजिन (Spasmo-cibalgin 'Ga') गोली ग्रा. ०·३, गुदा की बत्ती ग्रा. ०·५५	मुख या गुदा	गो. १–२ त्रि. प. दि. आ. अ.

शामक (Sedetive) औषधियाँ

[पीड़ाहर (Analgesics) भी देखिये]

औषधि	मार्ग	मात्रा
हायोसीन हाइड्रोब्रोम (Hyoscine hydrobrom)	अधस्त्वक् मुख	ग्रे. १/२००–१/१०० प्र. वा. ग्रे. १/१५० प्र. वा.
फेनोबारबिटोन (Phn)	मुख	ग्रे. ½ त्रि. प्र. दि. या ग्रे. २ प्र. वा.
डाइलेण्टीन सोडियम (Dilantin sodium)	,,	ग्रे. ¾–१½ प्र. वा.
सोनेरिल गो.ग्रे.१½, गुदा की वत्ती ग्रे. ३,४	मुख या गुदा	आ. अ.
सोनेरिल सोडियम (Soneryl Na 'MB') गो. ग्रा. ०·१५	मुख	गो. ३–६ आ अ.
डायल या डाइडायल (Dial, Didial 'Ca')	,,	ग्रे. १½–३ प्र. वा.
फाइसेप्टोन (Physeptone B. W & co) गोली मि. ग्रा. ५, इनजेक्शन मि. ग्रा. १० प्र. सी. सी.	मुख पेशी	२·५–१० मि.ग्रा. प्र.वा. सी. सी. १ प्र. वा.
सोडियम फेनोबारबिटोन (Sodi : Phn)	गुदा या पेशी	ग्रे. १–२ आ. अ.

शामक (Sedetive) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
पोटास ब्रोमाइड (Pot:brom)	मुख	ग्रे. १० त्रि. प्र. दि.
अमोनियम ब्रामाइड (Ammon : brom)	,,	,,
सोडियम ब्रोमाइड (Sodi : brom)	,,	,,
टि. वेलेरियन (Tr : valerian)	,,	मि. ३० त्रि. प्र. दि.
टि: अफीम (Tr. opium)	,,	मि. १० त्रि. प्र. दि.
ऐवरटीन (Avertin)	गुदा	५ सी. सी. औषधि २०० सी. सी. जलमें मिलाकर
टि. हायोसायमस (Tr. hyoscyamus)	मुख	मि. ३० त्रि. प्र. दि.
यूकेडोल (Eukodal)	,, अधस्त्वक्	ग्रे० $\frac{1}{2}$—$\frac{1}{6}$ प्रति बार ग्र० $\frac{1}{6}$—$\frac{1}{6}$ प्रति बार
सोडियम बार्बिटोन (Sodi:barbitone)	मुख	ग्रे० ५—१० प्रतिवार
टि. जेलसीमियम (Tr : gelsemium)	,,	मि. ५—१५ त्रि. प्र. दि. वातनाड़ी शूल (Neuralgia) तथा सूर्यावर्त (Migraine) में विशेष लाभप्रद है।

शामक (Sedative) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
साइक्लोनल (Cyclonal 'MB') गोली मि. ग्रा. ०·२५	मुख	गो. १–२ निद्रा के पूर्व
एमिडियन (Emedian 'Mk')	,,	गो. १ द्वि. प्र. दि
एमिटाल (Amytal 'Ly') गोली ग्रे. ¼, ½, ¾, १½	,,	ग्रे. ½–१½ निद्रा के पूर्व
सेकोनल सोडियम (Na-seconal 'Ly') गोली. ग्रे. ¾, १½,	,,	ग्रे. ¾–१½ ,,
पेथिडिन हाइड्रोक्लोर तथा हायोसीन हाइड्रोब्रोम (Pethidin hyd : & hyoscine hyd : brom 'ICI') इन्जेक्शन मि. ग्रा. पेथिडिन १००, हायोसीन ०·४ सी. सी. २ में	पेशी.	एम्प्यूल १ प्र. बा.
शर्बत ब्रोमालिन (Elixir bromalin A.F.D)	मुख	च. २ त्रि. प्र. दि. या च. ४ निद्रा के पूर्व। बालक च. ½–१ आ.अ.
थेयोगारडिनल (Theogardinl 'MB') गो. ग्रे. ५½	,,	गो. १ त्रि. प्र. दि. भो. प. विशेषकर उच्च रक्त निपीड (B.P.), तथा सूर्यावर्त (Migraine) में।

शामक (Sedetives) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा प्र. बा.	निद्रा का प्रारंभ	निद्रा की अवधि	आदतको संभावना	निर्देश
प्राल्डिहाइड (Paraldehyde)	मुख गुदा पेशी सिरा	सी.सी.४–१६ सी.सी.१२–३२ सी.सी. ५–१० " १–२	१५ मिनट	६–८ घं.	---	श्वसन संस्थान का निपात या फौफ्फुसीय शोफ (Pulmonary oedema) हो सकता है।
क्लोरलहाइड्रस (Chloral : hydras)	मुख	ग्रे.१०–२०प्र.बा.	२० मिनट	६–८ घं.	+	
फेनोबारबिटोन (Phn,luminal, gardenal, M.B.)	मुख	ग्रे.½ त्रि. प्र.दि. या ग्रे.२ ए.बा.	½–१ घं.	६–१० घं.	---	फुफ्फुस तथा वृक्क के रोग में वर्जित है।
घुलनशील बारबिटान (Sol : bn, medinal)	"	ग्रे. ५–१० प्र. बा.	½ घं.	६–८ घं.	+	"
बारबिटोन (Btn, veronal)	"	ग्रे. ५- १० प्र. बा.	½–१ घं.	६–८ घं.	+	"
सोडियम फेनोबारबिटल (Na : phn) १० प्र. श.	पेशी	ग्रे. १–१½ प्र. बा.	१५–२० मिनट	४–६ घं.		फुफ्फुस, वृक्क तथा यकृतके रोग में न दें।
सोडियम पेन्टो बारबिटल (Na : pento-barbital)	मुख पेशीया शिरा गुदा	ग्रे. १–१½ प्र. बा. ५ प्र. श. ग्रे. २ की वत्ती प्र. बा.				फुफ्फुस तथा वृक्क के रोग में न दें।

औषधि	मार्ग	मात्रा	निद्रा का आरंभ	निद्रा की अवधि	आदत पड़ना	निर्देश
सोडियम, पोटास, अमोनियम ब्रोमाइड (Na, K, Ammon bromide), पीकौक ब्रोमाइड (Peacock bromide) ड्रा. १=ग्रे. १५.	मुख	ग्रे. १० त्रि. प्र. दि. या ग्रे. १५–३० ए. बा.	१५–३० मिनट	४–६ घं.	--	विशेष कर चिन्ता में
मौरफीन (Morphine)	पेशी	ग्रे. १/६–१/३ प्र. बा.	१/२ घं.	६–८ घं.	+++	विशेष कर पीड़ा में
यूरिया के योग (Adalin, Bromural)	मुख	ग्रे. ५–१० ए. बा.	१/२ घं.	४–५ घं.	+	,, ,, चिन्ता में
सल्फोन (Sulphonal, Trional)	मुख	ग्रे. ५–२० ए. बा.	१/२–५ घं.	८–१२ घं.	++	अव्यवहारिक हैं।
स्कोपोलामीन (Scopolamine hydrobrom :)	पेशी	ग्रे. १/२००–१/१०० द्वि. या चा. प्र. दि.				विशेषकर प्रलाप में
सर्पगन्धा (Serpina, rauwolfia serpentina)	मुख	ग्रे. ५–१० द्वि. या त्रि. प्र. दि.				विशेष कर उच्च रक्त निपीड़ में।
सोडियम एमिटल (Na : amytal)	सिरा	१० प्र. श. ग्रे. २–७१/२				उन्माद में शनैः शनैः
सोडियम पेन्टोथल (Na : pentothal)	सिरा	५ प्र. श. २–३ सी. सी.				,,

कोरामीन (Coramine 'Ca') के योग

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
कोरामीन (Coramine) इन्जेक्शनसी.सी.१'६	मुख पेशी सिरा हृदयमें	सी.सी. १–२ आ.अ " ५–१० आ.अ " ५–१५ " " २–३ "	स्तब्धता (Shock) हृदय तथा श्वसन का निपात (Collapse)
कोरामीन एडरनोसीन (Ce-adernosine)	मुख पेशीया सिरा	" ½–१ "या गो. ½–१. आ. अ. सी.सी.१–२आ.आ.	हृत्धमनी (Coronary) के रोग, हृच्छूल (Angina), हृदुजन्य तमक श्वास (Cardiac asthma),
कोरामीन केफीन (Ce-cafieine)	मुख पेशी	मि.८-१५या गो.१आ.अ सी.सी. ½–१ आ. अ.	परिसरीय रक्तवाहिनी निपात (Peripheral vascular failure);
कोरामीन इफेड्रिन (Ce-ephedrine)	मुख पेशीया सिरा	गो. ½–१ या मि. ८–१५ आ. अ. सी.सी. १–२ आ.अ.	श्वसन का निपात, हीन रक्तनिपीड़ (Low. B.P.)

तीव्र केन्द्रीय हृदयातिपात (Acute central-ht:failure) की औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा	कार्य
नोवाट्रोपीन(Novatropine)	पेशी	सि.ग्रा.२ए.प्र.दि.	
एड्रिनलीन (Adrenalin) १:१०००	पेशी	½-१सी.सी.प्र.वा	
एट्रोपीन (Atropine)	"	ग्रे. $\frac{1}{100}$ प्र. वा.	
कार्डियोजोल इफेड्रिन (Cardiozol-ephedrine)	मुख पेशी	गो. १ आ. अ. सी.सी.१ आ.अ.	
बेरियमक्लोराइड (Barium chloride)	मुख	ग्रे.½–¾त्रि.प्र.दि.	औषधि विषाक्त है

उत्तेजक (Stimulant) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा	कार्य तथा प्रयोग
एड्रीनलीन (Adrenaline, epinephrine) १:१०००	पेशी सिरा	मि० ३—५ आ० अ० मि० १५ ग्लूकोस ५ प्र० श० एक लिटर से मिलाकर बूँद-बूँद कर (Drip method) अथवा ½ सी० सा० समबल लवण घोल (N saline) ४·५ सी० सी० मे मिलता कर शनःशनैः सी० सी० ½	रक्तनिपीड की वृद्धि करती है। संज्ञाहर औषधि (Anaesthetics), विद्युत, जल में डूबना, श्वासावरोध (Asphyxia), लसिकाजन्य प्रतिक्रिया (Anaphylaxis) आदि के कारण निपात होने पर। अलिंदीय तंतुप्रकंप (A.fib.) हो सकता है।
	हृदय		
एड्रिनलीन तैल मे (Adrenalin in oil)	पेशी	१—२ सी० सी० द्वि० प्र० दि०	रक्तनिपीड बनाये रखने के लिये। तमक श्वास (Asthma) में।
इफेड्रिनसल्फ (Ephedrine sulph)	पेशी मुख	ग्रे० ⅛—½ आ० अ० ग्रे० ¼—१ प्र० ४ घंटे०	
टि० इफेड्रा (Tr:ephedra)	मुख	मि० २० त्रि० प्र० दि०	जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy) में
एट्रोपीन (Atropine sulph)	पेशी	ग्रे० १/१५० से १/५० आ० अ०	स्राव कम करती है। रक्तनिपीड (B.P.) बढ़ाने के लिये। मन्दहृदयता (Bradycardia), निम्न रक्तनिपीड (Low.B.P.) में।

औषधि	मार्ग	मात्रा	कार्य तथा प्रयोग
उपवृक्क के शल्क का सत्व तेल में (Suprarenal cortex: ext : eucortone)	पेशी या सिरा	सी० सी० २ प्र० २ घंटे	अडीसन (Addison) का दारुण्य (Crisis) में, दग्धव्रण (Burn) की स्तब्धता (Shock) में।
कोरामीन (Coramine)	मुख पेशी या सिरा	मि० १५ या ग्रे० ५–१५ आ० अ० २५ प्र० श० १–५ सी० सी० आ० अ० ५–१० सी० सी०	मस्तिष्क को उत्तेजित (Cerebral stimulant) करती है। रक्तनिपीड़ नहीं बढ़ा सकती। बारबिटोन (Barbitone), एवर्टिन (Avertin), इथर, अफीम, कार्बन मौनोक्साइड आदि की विषमयता में।
कार्डियाजोल (Cardiazol)	मुख पेशी सिरा	प्र० १–१½ आ० अ० १० प्र० श० ½–१ सी० सी० १० प्र० श० ३–४ सी० सी०	मस्तिष्क को उत्तेजित करती है। रक्तनिपीड़ नहीं बढ़ाती। अधिक मात्रा होने पर आक्षेप (Convulsions) होते हैं। विशेषकर एवर्टिन (Avertin), इथर (Ether) आदि की विषमयता में।
कार्डियोजोल केफीन(Cardiozol caffeine Kl)	मुख	गो० ½–१ प्र० बा०	१ गोली=ग्रा० ०·१
पिट्यूट्रिन (Pituitrine)	पेशी	½ सी० सी० प्र० बा०	
पिट्रेसीन (Pitressin)	पेशी	½ सी० सी० प्र० बा०	
वियामीन सल्फ (Wyamine sulph)	पेशी या सिरा	सी० सी० १ (मि० ग्रा० १५) प्र० बा० आ० अ०	रक्तनिपीड़ (B. P.) की वृद्धि करती है।

औषधि	मार्ग	मात्रा	कार्य तथा प्रयोग
नेयोसाइनेफ्रिन (Neo-synephrine)	पेशी सिरा	१ सी० सी० (मि० ग्रा० १०) मि० ग्रा० ०·१–०·५ प्र० दि०	रक्तनिपीड़ बढ़ाती है।
लेवोफेड (Levophed) १ : १०००	सिरा	४ सी० सी० औषधि ग्लूकोस ५ प्र० श० पा० २ मे मिलाकर ७–१५ बूँद प्र० मि०	हृद्धमनी (Coronary) का विस्फार करती है तथा रक्तनिपीड़ कम नही होने देती
पिक्रोटौक्सीन (Picrotoxin)	पेशी सिरा	ग्रे० १/१२० से १/३० प्र० बा० ग्रे० १/१०० प्र० बार १ : १००० घोल	श्वसनसंस्थान के निपात मे। बारबिटोन (Barbitone) विषमयता में।
लोबेलीन (Lobeline : 'Sz')	पेशी	ग्रे० १/२० प्र० बार सी०सी० १=मि०ग्रा० ३, १०	,,
स्ट्रिक्नीन (Strychnine)	,,	ग्रे० १/१२०–१/६० प्र० बा०	,,
मेथेड्रिन (Methedrine. B.W. & Co)	पेशी सिरा	मि० ग्रा० १५–३० मि० ग्रा० १०–२०	रक्तनिपीड़ को कम होने से रोकती है।
डोका (D. O. C. A. (Cortin, eucortone)	पेशी या सिरा	सी० सी० १ प्र० बा० मि० ग्रा० ५ (Io c.c. cortin.)	दग्धव्रण (Burn) की स्तब्धता में
लेप्टाजोल (Leptazol)	पेशी सिरा	१० प्र० श० १ सी० सी० प्र० १–२ घंटे आ० अ० औषधि जल मे मिलाकर	बारबिटोन (Barbitone), मौरफीन (Morphine), कार्बन मोनोक्साइड (Co) की विषमयता में।

रक्तवाहिनियों का संकोच (Vasoconstrictor) तथा श्वसनिकाओं की अभिस्तीर्णता (Bronchial dilators) कराने वाली औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
एपिनेफ्रिन (Epinephrine, adrenaline, synephrine)	श्वसनमार्ग अधस्त्वक	१ प्र० श० १/२ सी०सी० १:१००० मि० ५–१०	दमा, श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) में। रक्तवाहिनियों का सकोच (Vasoconstriction) भी कराती है।
नेओ-साइनेफ्रिन (Neosynephrine)	श्वसनमार्ग	१ प्र० श० १/२ सी०सी०	दमा; श्वसनिकाभिस्तीर्णता। प्रधानतः रक्तवाहिनियो का सकोच कराती है।
नेयोएपिनीन (Neo-epinine, B.W.co)	श्वसनमार्ग जिह्वा के नीचे	१:१००, १:२०० मि०ग्रा०५–१५ग्रा०ग्र०	एपिनेफ्रिन के समान है।
इफेड्रिन (Ephedrine)	मुख या अधस्त्वक	ग्रे० ३/८–३/४	,,

हिस्टामीन निरोधी (Anti-histamines) तथा अनूर्जता निरोधी (Anti-allergic) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
बेनाड्रिल (Benadryl P. D.)	सिरा पेशी मुख	६० मि० ग्रा० प्र० मा० १० मि० ग्रा० प्र० मा० २५–५० मि०ग्रा० त्रि० प्र० दि०	अनूर्जता जन्य रोग, श्वसनी उद्वेष्टन (Bronchial spasm), प्रतिश्याय (Coryza),
एन्टिस्टीन (Antistine 'Ca') गोली मि० ग्रा० १००, इन्जेक्शन मि० ग्रा० १०० सी० सी० २ में।	मुख पेशी	ग्रा० १½ प्र०गो०त्रि०प्र०दि० ग्रा० ०·०२५–०·१ प्र० मा०=½–२ सी० सी० प्र० मा०	तीव्र वृक्कशोथ (Nephritis), सिन्धु हृल्लास (Sea sickness)
ट्रिमेटौन (Trimeton 'Sch' :) गोली मि० ग्रा० २५	मुख	मि० ग्रा० २५ ग्रा० प्र०	गर्भावस्था का वमन, लसिका (Serum)
नयो एनथरजान (Neo anthergan)	,,	,, २५–५० ,,	की प्रतिक्रिया, अनवधानता (Anaphyla-
थेनिलीन (Thenylene)	,,	,, २५–५० ,,	xis), खुजली, धमनी-
ड्रामामीन (Dramamine)	,,	,, ५०–१०० ,,	वातनाड़ी शोथ (A.N. oedema), रश्मि रा।

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
नेयो हेट्रामीन (Neo-hetramine)	मुख	मि.ग्रा. २५–१०० प्र.बा.	(Irradiation)घात जन्य वमन, दमा, पारकिनसन(Parkison) का रोग, सूर्यावर्त(Migraine), कीट दंश, शीतपित्त (Urticaria), पामा (Eczema)।
डिकाप्रीन (Decapryn)	"	" १२½–२५ "	
लरटीगोन (Lertigon P. D.)	पेशी	सी०सी० ½–१ प्र० ५ दि०	
शर्बत बेनाड्रिल (Syr : Benadryl)	मुख	बालक सी० सी० ४ (मि.ग्रा. १०) त्रि०प्र०दि०	
एन्थीसान (Anthisan 'MB' गोली ग्रा० ०'०२, ०'१, शर्बत (Elexir), इंजेक्शन २½ प्र० श० २ सी० सी०, मलहम २ प्र० श०	मुख पेशी	ग्रा० ०'३ प्र० बा० सी०सी० १–२ प्र० बा०	
पाइरीबेनजामीन (Pyribenzamine 'Ca') गोली मि०ग्रा० ५०, शर्बत मि०ग्रा० ५ प्र०सी०सी०	मुख	गो० १ या सी० सी० १० प्र० बा०	
फेनार्जेन (Phenargan 'MB') गोली ग्रा० ०'०१, ०'२५, शर्बत मि० ग्रा० ५ प्र० औ० इञ्जेक्शन २½ प्र. श. सी.सी. २, मलहम २ प्र. श.	" पेशी	मि०ग्रा० २५–५० त्रि० प्र० दि० सी०सी० १–२ प्र० बा०	

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
अमेसिस (Ameses 'Ly')	मुख	गो० १ रात्रि में या त्रि० प्र० दि०	
एलरकर (Allercur 'Sch') गोली मि०ग्रा० २०, इञ्जेक्शन मि० ग्रा० १० प्र० सी० सी०	,, पेशी	गो० १ त्रि० प्र० दि० सी०सी० १ त्रि० या चा० प्र० दि०	
हिस्टैन्टीन (Histantin) गोली मि० ग्रा० २०,	मुख	मि०ग्रा० ५०-१००प्र०दि०	
डाइबिस्टीन (Dibistin 'Ca')	,,	गो० १–२ त्रि०प्र० दि०	
कैलसील्यूविन (Calciluvin 'BM')	,, सिरा	गो० १–२ त्रि०प्र० दि० सी० सी० १० प्र० ग्रा०	
एविल (Avil 'Ho') गोली मि० ग्रा० ०·१, इञ्जेक्शन मि० ग्रा० ५०	मुख पेशी	गो० $\frac{1}{2}$–१ त्रि० प्र० दि० भो० प० सी०सी० १–२ प्र०ग्रा०	
साइनोपेन (Synopen)	,,	,,	

अनूर्जता (Allergy) जन्य रोगों में प्रयोग की जानेवाली औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा	प्रयोग
पेप्टोन (Peptone)	मुख पेशी सिरा	ग्रे. ५–१५ त्रि. प्र. दि ग्रे. $\frac{1}{4}$–$1\frac{1}{2}$ प्र. वा. ५प्र.श. $\frac{1}{3}$ सी. सी. ए प्र. स.	अविशिष्ट प्रोटीन द्वारा चिकित्सा (Nonspecific ptn therapy) के सिद्धात पर।
हिस्टामीन (Histamine acid phos:Ly) मि. ग्रा. २'७५ प्र. सी. सी.	मुख	मि. ग्रा. ०'१–०'५ प्र. वा.	,, तथा आमाशय (St:) के कार्य की परीक्षा के लिये।
इफेड्रिन एमिटल (Ephedrine amytal 'Ly')	,,	गो. १. आ. अ.	दमा, हीन रक्त निपीड (Low B P), मूत्र की विकृति (Aneuresis) आदि।

पचन संस्थान (Digestive system) के रोगों की औषधियाँ

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
डोका (Doca, Desoxy corticosterone. acetate)	प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer)	पेशी	३ सप्ताह पर्यन्त मि. ग्रा. २० प्र. दि. प्रयोग करें।
लारोस्टेडीन (Larostidine)	,,	पेशी	४ प्र. श. घोल का ५ सी. सी. प्र. दि. ३ सप्ताह पर्यन्त।
हिस्टामीन (Histamine)	,,	अधस्त्वक्	०.५ मि. ग्रा. प्र.दि. ३ सप्ताह पर्यन्त
बैन्थीन (Banthine)	,,	,,	मि.ग्रा.१० प्र. ६ घंटे पर दो मास ,,
उपवृक्कि (Adrenaline,cortigen)	,,	,,	मि.ग्रा. १ त्रि. प्र. दि. तीन स. पर्यन्त
कोयला (Charcoal)	आध्मान	मुख	ग्रे. ५ त्रि. प्र. दि. भो. प.
टिंक्चर नक्स वोमिका (Tr : nucis vom :)	क्षुधानाश	,,	मि. ८ त्रि. प्र. दि. भो. पू.
पैंक्रियाटीन (Pancreatin)	पाचक	,,	ग्रे. ३–१० त्रि. प्र. दि. भो. प.

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
पपेन (Papain) सूचना—मांस (Meat) पचाने केलिये ।	पाचक	मुख	ग्रे. २–१० त्रि. प्र. दि. भो. प.
टाका डायस्टेज (Taka diastase) सूचना—विशेषकर कार्बोज (Cho) पचाने के लिये ।	,,	,,	ग्रे. १–५ ,, भो. प.
लारगैक्टिल (Largactil M & B) (१) गोली=मि. ग्रा. १०, २५	वमन मे	मुख	मि. ग्रा. २५–१०० त्रि. प्र. दि.
(२) इन्जेक्शनः–२ ५ प्र. श. २ सी.सी. मे या ०.५ प्र.श. ५ सी.सी. मे		पेशीया सिरा	मि. ग्रा. २५–५० त्रि. या चा. प्र. दि.
सेंटिल (Centil Erba)	अपाचीय व्रण	मुख	गो. २ त्रि. प्र. दि. भो. प. । ५ दिन मे उदनीरिकाम्ल (Hcl) मे कमी होती है।
एन्ट्रेनिल (Antrenyl Ca)	,,	,,	गो. १ (मि. ग्रा. ५) त्रि. प्र. दि. उदनीरिकाम्ल मे कमी होती है ।

अतिसार (Dia :) में प्रयोग की जानेवाली औषधियाँ

औषधि	मात्रा	कार्य
केयोलीन (Kaolin, lacto kaolin, pectin kaolin Co)	ड्रा. ४ एक गिलास जल में थोड़ा. २ पीने को दें। अथवा ड्रा. २–८ त्रि. प्र. दि. भोजन के पूर्व तथा प्रत्येक दस्त के पश्चात् दें।	वायु को अपने शरीर पर लपेट कर (Adsorption) वायु का परित्याग करती हैं, मल गाढ़ा करती हैं तथा दस्त की संख्या कम करती है, वायुनाशक है
कोयला (Ultracarbon Mk)	गो. १ (ग्रे. ५) त्रि. प्र. दि.	
बिसमथ्कार्ब (Bis : carb, sub : carbonate, oxide)	ग्रे. १०–२० त्रि. प्र. दि.	मल को गाढ़ा करती है तथा दस्त की संख्या कम करती है।
अहिफेन (Opium) के योग :—		ये कब्ज करती हैं तथा पीड़ा कम करती है।
१. टि.केम्फरका (Tr camphor Co)	मि. ३०–१२० त्रि.प्र. दि. मुख से	
२. क्लोरोडाइन (Chlorodyne)	मि. १५ त्रि. प्र. दि. ,,	
३. केम्फ्रोडाइन (Camphrodyne)	मि. १५ त्रि. प्र. दि. ,,	
४. मौरफीन (Morphine sulph)	ग्रे. १/६–१/२ अधस्त्वक आ. अ.	
५. कोडीन फौस (Codeine phos:)	{ ग्रे. १/४–१ अधस्त्वक आ. अ. या मुख से ग्रे. १/२ आ. अ. }	
६. डाइलौडिड (Dilaudid)	ग्रे. १/३२–१/२० ,, ,,	
७. डोवरकी भस्म(Dover's powder)	ग्रे. १–५ द्वि. या त्रि. प्र. दि.	
८. टि. अफीम (Tr. opii)	मि. १०–१५ त्रि. प्र. दि.	
९. खड़िया के साथ अफीम (Pulv : creta : aromat & opio)	ग्रे. १०–६० त्रि. प्र. दि.	

औषधि	मात्रा	कार्य
जीवाणु निष्कृय औषधियाँ :— (Ghemotherapy)		
१–सल्फा औषधियाँ (Sulpha-guanidine thalazole, sulpha succidine)	गो. २ प्र. ४ घण्टा	ये औषधियाँ आंत्र मे तृणाण्डवीय उपसर्ग (Bacillary-ifn) रहने पर काय करती हैं।
२–टेरामाइसीन (Terramycin, aureomycin, chloromycetin)	१–२ कैपस्यूल (२५०–५०० मि. ग्रा.) ३–४ बार प्र. दि.	
एपामोरफोन (Apomorphine)	अधस्त्वक (S. C.) ग्रे. $\frac{१}{१०}-\frac{१}{२०}$ प्र. वा.	वमन कराती है।
क्लोरेटोन (Chloretone)	ग्रे. $\frac{१}{२}$–२ प्र. $\frac{१}{२}$ घ.	वमन रोकती है।
टि. बेलाडोना (Tr : Belladonna)	मि. ८ त्रि. प्र. दि.	यह पुरःस्सरण (Peristalsis) तथा पीड़ा कम करती है।
फेनोबारबिटोन (Pheno-barbitone)	ग्रे. $\frac{१}{२}$–१$\frac{१}{२}$ त्रि. प्र. दि.	यह शामक (Sedative) है तथा मानसिक विश्राम देती है।
ब्रोमाइड (Na, k, ammon:bromide)	ग्रे. ५–१० त्रि. प्र. दि.	
टैनिक अम्ल के योग (Alb : tannate)	ग्रे. ३० भोजन के पूर्व त्रि. प्र. दि.	ये कब्ज करती (Astringent) हैं।
कत्था (Tr : catechu)	ड्रा. १ त्रि. प्र. दि.	,,
टैनालबिन (Tannalbin)	ड्रा. $\frac{१}{२}$ त्रि. प्र. दि.	,,

श्रोषधि	मात्रा	कार्य
खड़िया (Chlk) के योग :— चूने का जल (Mist:creta) पल्वक्रीटा अरोमटिकस (Pulv : creta : aromat :)	श्रौ. १ त्रि. प्र. दि. ग्रे. ५–६० त्रि. प्र. दि.	ये अजीर्ण ठीक करती है विशेषकर बालकों में ।
अन्य श्रोषधियाँ :— १–एलीसेटीन (Allisatin 'Sz')	गो. २–३ त्रि. प्र. दि. भो. पू.	पतले दस्त, अजीर्ण, आध्मान (Tympanites), धमनी जरठता(Arteriosclerosis)
२–उदनीरिकाम्ल (Hcl : dil)	मि. ६० भोजन के साथ	उदनीरिकअम्ल की कमी में ।
३–पित्त (Bile)	ग्रे. ५ त्रि. प्र. दि. भो. प.	पित्ताशय (Gallbladder) की विकृति में ।
४–सल्फ्यूरिक अम्ल (Acid : sulph: aromat)	मि. ५–१० त्रि. प्र. दि.	शैशवीयातिसार (Infantile dia :), ग्रीष्मातिसार (Summer dia :) आदि में ।
५–ग्लिसरीन पेप्सीनी (Glycerine pepsini)	ड्रा. १–२ भो. प. त्रि. प्र. दि.	अजीर्ण तथा आमाशयिक (Gastrogenous) अतिसार आदि से ।

विरेचक औषधियाँ (Purgatives)

(निम्न सब औषधियाँ मुख से प्रयोग की जाती हैं)

औषधि	मात्रा
एसिड पोटास टार्ट (Acid pot : tart)	ग्रे. १५–६० प्रतिवार
सोडी फौस (Sodi phos)	ग्रे. २० त्रि.प्र.दि. या ड्रा ४ एक वार
एसिड सोडी फौस (Acid sodi : phos :)	ग्रे. ३० त्रि. प्र. दि.
ऐगर (Agar)	ग्रे. ३० त्रि.प्र.दि. या ड्रा. ४ एक वार
फेनोफथलीन(Phenolphthalein)	ग्रे. १–५ प्रतिवार
एलोस (Aloes)	ग्रे. २–५ ”
एलोइन (Aloin)	ग्रे. ½–१ ”
पल्व रीहाई को (Pulv rhei co.)	ग्रे. ५ त्रि.प्र.दि. या ग्रे.१५–२०एकवार
रिहाई की गोली(Pillula rhei co)	ग्रे. ५ त्रि. प्र. दि.
कैसकरा सत्व (Ext : cascara sagrada solid)	ग्रे. २–५ त्रि. प्र. दि.
कैसकरा सत्व(Ext cascara liq)	मि.२०त्रि.प्र.दि.या ड्रा.१–२निद्रा के पूर्व
एरण्ड तैल (Ol. recini)	औं. १ एक वार
मैगसल्फ (Mag ; sulph)	४ ड्रा. एकवार या ग्रे. २० त्रि.प्र.दि.
सोडी सल्फ (Sodi sulph)	ग्रे. २० त्रि.प्र.दि. या ड्रा. ४ एक वार
मुलहठी सत्व (Ext : glycyrrhiza liq)	मि. २० त्रि. प्र. दि.
पल्व जलप को (Pulv.jalap. co)	ग्रे. १५ त्रि.प्र.दि.या ग्रे. ६० एक वार
कैलोमेल (Calomel)	ग्रे. २ रात्रि में एक वार
सिडलीज (Seidlitz) पाउडर	एक मात्रा. एक वार
मुलहठी भस्म (Pulv glycyrrhiza co)	ड्रा. २ निद्रा के पूर्व
लिक्विड पैरेफिन (liq:paraffin)	औं. १/२–१ एक या द्वि. प्र. दि.
एगर-एगर (Agar agar, petrol agar, agarol warnar)	” ” ”
जैतून का तेल (Ol. olive)	” ” ”
मैगनीसियम हाइड्रोक्साइड (Mag:hydroxide, milk of magnesia)	” ” सोने के पूर्व

डिजिटेलिस (Digitalis) देने की विधियाँ

औषधि के योग	संपूर्ण प्रभावशाली मात्रा। परम गंभीर अवस्था। प्रभाव २४ घं. के अन्दर।			प्रभाव २४ घं. से अधिक में मुखसे			स्थायी मात्रा प्र. दि.	प्रभाव प्रारम्भ होने का समय घंण्टे मे
	केवल १ मात्रा विधि—	५ मात्रा विधि	सिरा(I.V.)	साधारण ४—६ दिन तक दें।	साधारण गंभीर अवस्था २—३ दिन दें	गम्भीर केवल २ मात्रा दें		
डाइजौक्सिन (Digoxin) गो. १=मि. ग्रा. ०·२५, ०·५, १ या सी. सी. १= मि. ग्रा ०·५	मुखः—मि. ग्रा. ३ या सिरा—सी. सी. ३	मुखः— प्रथम मि. ग्रा. २ तत्पश्चात मि ग्रा. ०·२५प्र. २ घ.	प्रथम—सी. सी. २ तत्पश्चात सी. सी. १ प्र. चा. घ. तदोपरान्त सी. सी. १/२ प्र. चा. घ.	मि. ग्रा. ०·२५—०·५ त्रि. प्र. दि.	मि. ग्रा. ०·२५—०·५ त्रि. प्र. दि.	मि. ग्रा. १ प्र. ८ घं.	मुखः— मि. ग्रा. ०·२५—१·५ या सिराः सी. सी. १/२—१	सिरा— १—२ मुखः— २—४
डिजिटौक्सीन (Digitoxin) गो. १=मि. ग्रा. ०·१, ०·२, या सी. सी. १=मि. ग्रा. ०·२.	मुखः—मि. ग्रा. १·२ या सिरा से सी. सी. ६	प्रथम मि. ग्रा. ०·४ तत्पश्चात् मि. ग्रा. ०·२ प्र. २ घं	प्रथम—सी. सी. ६ तत्पश्चात सी. सी. १ प्र. चा. घं.	मि. ग्रा. ०·१ त्रि. प्र. दि.	मि. ग्रा. ०·२ त्रि. प्र. दि.	मि. ग्रा. ०·४ प्र. ८ घ.	मुखः— मि. ग्रा. ०·१—०·२ सिरा—सी. सी १/२—१	सिरा— ३—८ मुखः— ४—६

डिजिटेलिस भस्म (Pulv:digitalis) गो. १=ग्रे. १/२, १, १½	ग्रे: १½–२½ अव्यवहारिक है	आ. अ.	—	ग्रे. १½ त्रि. प्र. दि.	ग्रे. १½–३ त्रि. प्र. दि.	ग्रे. ३ प्र. ८ घं.	ग्रे. ½–३	मुख:– ६–८
सोडीलनिड (Cedilanid) सी. सा. २=मि. ग्रा. ०·४.	सी. सी. ४ सिरा से		प्रथम सी.सी. ६ तत्पश्चात सी. सी. २ प्र. चा. घं.				सिरा–सी. सी. १–२	१–२
ओआवेन (Ouabain) सी.सा. १=०·२५ मि. ग्रा.	सिरा:–सी. सी. १–२		सी.सी. १–२ एक बार				अव्यवहारिक है	१/२–१½

रक्तस्राव निरोधी (Haemostatic) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
अश्वलसिका (Horse serum)	पेशी	१० सी. सी. प्रति वार
कौंगोरेड (Congo red)	सिरा	१ प्र. श. घोल का ५–१० सी.सी. प्रतिवार
हीमोप्लास्टिन, (Haemoplastin, Neo-Haemoplastin)	पेशी	१–१० सी. सी ,,
कोआगुलीन (Coagulin Ca)	,,	५ ,, ,,
रसेल सर्पविष (Russell s viper poison, Venomstat)	स्थानीय	१:१०,००० घोल आ.अ.
जेलफोम (Gel-foam or fibrin foam)	,,	आ. अ.
फाइब्रिनोजेन (Fibrinogen)	सिरा	२ प्र. श. घोल का १० सी. सी. समबल लवण जल (N. Saline) के साथ
क्लोडेन (Clauden N.P.)	पेशी,सिरा	२'५ सी. सी. और १० सी.सी. एम्प्यूल
	मुख	१ गोली त्रि. प्र. दि.
	स्थानीय	भस्म लगाने के लिये
सम्पूर्ण रक्त (Whole blood)	पेशी	सी. सी. १० प्र. बा.

विशेष परिस्थिति में प्रयोग की जानेवाली रक्तस्राव निरोधी औषधियाँ

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
एन्टीहिमोफिलिक ग्लोब्यूलीन (Anti-hemophilic globulin, Cohn fraction :)	शोणितप्रियता (Hemophilia) मे रक्त स्कन्दन काल (Clotting time) कम करती है	सिरा	मि.ग्रा. २०० समबल लवण घोल (N. Saline) १० सी. सी. में मिला कर प्र. बा. ।
कैलसियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate)	रक्तवाहिनियो (B. V.) की प्राचीर की विकृति में	पेशी या सिरा	१०–२०प्र.श. ५–१०सी.सी.
		मुख	५–१० ग्रे. त्रि. प्र. दि.
मोकासीन (Moccasin) सर्पविष	”	अधस्त्वक	मि. ५–१५
जीवतिक्ति 'पी' (Vit:P. rutin)		मुख	मि.ग्रा. २०–५० प्र. ६ घटे
जीवतिक्ति सी (Vit : C, redoxon, celin)	त्वग्राह (Scurvy) कामला (Jaundice) आदि ।	सिरा पेशी मुख	१००–१००० मि.ग्रा. प्र. बार मि.ग्रा. १०० प्र. बार ५०–२०० त्रि. प्र. दि.
जीवतिक्ति 'के' (Vit : K, synkavit, kapilin, menadione)	कामला (Jaundice) त्वग्राह (Scurvy) आदि	पेशी या सिरा मुख	मि.ग्रा. १० प्र. बा. मि.ग्रा. १–१० त्रि. प्र. दि.

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
अनूर्जता निरोधी (Anti:histamine antistin, benad ryl) आदि	अनूर्जता (Allergy) में।	मुख	गो. १ द्वि. या त्रि. प्र. दि.
हेपरीन निरोधी (Anti: heparin) :— १. टोलूडीन ब्लू (Toluidine blue)	श्वेतमयता (Leukaemia), लसिका की प्रतिक्रिया (Anaphylaxis) नाइट्रोजन मस्टर्ड (Nitrogen mustard) विषमयता, रश्मि रोग (Irradiation), निलोहा (Purpura) रक्त प्रदर (Menorrhagia)	सिरा	मि.ग्रा. ३००—४०० समबल लवण घोल (N. Saline) में मिलाकर शनैः-शनैः २ घं. में ए.प्र.दि. कर प्रथम तीन दिन तत्पश्चात् मि.ग्रा. १००—२०० प्र. दि. कर ३ दिन।
२. प्रोटामीन सल्फ (Protamine sulph)	नोटः—इन रोगों में हेपरीन (Heparin) के समान पदाथ की उत्पत्ति होती है।	पेशी	मि.ग्रा. ५० जल ५ सी.सी. में ४—६ बार प्र. दि. आ. अ.।
		सिरा	मि.ग्रा. १५० समबल लवण घोल (N. Saline) पा. १ में मिला कर शनैः शनैः दें।

रक्त की मात्रा (Volume) प्राकृत करने के लिये

औषधि	मार्ग	मात्रा तथा प्रयोग
(क) रक्त के योग :—		
(१) संपूर्ण रक्त.	धमनी या सिरा	रक्तस्राव (Bleeding) में पा. $\frac{1}{2}$–१
(२) रक्तरस रहित रक्त कण (RBC only)	सिरा	रक्तस्राव में पा० $\frac{1}{2}$–१
(ख) रक्तरस तथा लसिका के योग :—		
(१) रक्तरस (Plasma)	”	पा. १–४ । जलाल्पता (Dehydration) में ।
(२) मानवीय शुष्क लसिका (Dried humanserum)	”	पा. $\frac{1}{2}$ । ” ”
(३) लवण रहित लसिका की शुल्कि (Saltfree serum alb:)	”	पा. $\frac{1}{2}$ । जलाल्पता में जब लवण हानिकर हो ।
(ग) रक्तरस प्रतिनिधि (Plasma-substitutes)		
(१) इन्ट्राडेक्स (Intradex-'Go')	”	पा. १ प्र. बा. । जलाल्पता में । यह पदार्थ समबल लवण घोल में डेक्स्ट्रीन (Dextrine) ६ प्र.श. है ।
(२) डेक्सट्रान (Dextran)	”	आ. अ. पा. ६ तक । जलाल्पता में ।

औषधि	मार्ग	मात्रा तथा प्रयोग
(३) प्लास्मोसान (Plasmosan)	सिरा	पा, १ प्र. वा। जलाल्पता में। यह पोली वाइनिल पाइरोलीडोन (Polyvinyl pyrrolidone) का ३.५ प्र. श. घोल है।
(घ) ग्लूकोस (Glucose) —	"	जलाल्पता में। ६¼, १२½, २५ प्र.श. २५–१००सी.सी.
(ग्रं) समबल लवण घोल मे ग्लूकोस ५ प. श. (Glucose saline)	"	" पा. १–६ आ. अ.
(च) लवण जल के (Saline) के योग :—		
(१) परमबल (Hypertonic) लवल जल	"	विसूचिका (Cholera) मे। पा. १–४। यो. ६४
(२) क्षारीय (Alkaline) लवण जल	"	मूत्राघात (Suppression) मे। पा.½–१। यो.६५
(३) समबल (Normal) लवण जल	"	जलाल्पता मे। पा. १–४। यो. ६६
(४) परमक्षारीय (Hyper alkaline) लवणजल	"	पा. ½प्र. वा.। मूत्रविषमयता (Uraemia) मे। यो. ६५
(५) ग्लूकोस तथा क्षारीय लवणजल	गुदा	" " या जलाल्पता में। यो. ६५
(६) अर्धबल (Halfnormal) लवणजल	मुख	" " प.पृ. ३६

उपवृक्क (Adrenal) से उत्पन्न पदार्थों (Steroids) का कार्य

पदार्थ	मात्रा	समवर्त (Mbm) पर प्रभाव	प्रयोग
(अ) शल्फ (Cortex) से:— कौरटीसोन (cortisone, compound E) तथा एच. सां. एस. (Hydroxy-corticosterone, compound F) नोट:—एच. सां. एस. उपलब्ध नहीं है।	अधिक समय तक प्रयोग करने से उपवृक्कके शल्फ (Adrenal cortex) को नष्ट करता है।	शर्करा, जल तथा लवण का अल्प मात्रा में संचय होता है। कार्बोज (Cho) प्रोटीन (Ptn) आदि के समवर्त पर ए.सी.टी.एच के समान प्रभाव है। प्रवटुका ग्रथि (Thyroid) द्वारा आयोडीन (I^{131}) को लेने नहीं देता।	अडीसन (Addison) का रोग।
डोका (DOCA, desoxy-corticosterone acetate)	(१) मि. ग्रा. २ की गो. १ ए. द्वि. या त्रि. प्र. दि.। औषधि जिह्वा के नीचे रखें। घोटने से नष्ट हो जाती है। (२) तेल मे योग मि. ग्रा. ५ प्र. मी. सी. पेशी द्वारा ½–१ सी. सी. प्र. दि. (३) अधस्त्वक (S.C.) मार्ग से रखने के लिये प्र. गो. (Pellets) मि.ग्रा. ७५–१२५।	सोडियम (Na), क्लोरीन (Cl), तथा जल का संचय करता है। पोटासियम (k) का परित्याग करता है। प्रोटीन (Ptn) तथा कार्बोज (Cho) के समवर्त पर प्रभावहीन है।	अडीसन का रोग

पदार्थ	मात्रा	प्रभाव	प्रयोग
उपवृक्क के सम्पूर्ण शल्क का सत्व (Whole cortical ext:) (क) जल मे (adrenal cortical ext:) (ख) तेल मे (Lipo adrenal cortex)	सी. सी. २०—१०० प्र. दि. पेशी, सिरा या अधस्त्वक पेशी द्वारा सी. सी. १—५ प्र. दि.		अडीसन का दारुण्य (Crisis)
(आ) शरीर (Medulla) से:— १. एपीनेफ्रिन (Epinephrine, adrenaline)	१—एड्रीनलीन १ : १००० (मि.ग्रा. १ प्र. सी. सी.) का १/२—१ सी.सी. पेशी (I. M.) द्वारा। सिरा (I.V.) द्वारा देने के लिये प्र.मा. को समबल लवण घोल (N.Saline) पा. २ में मिला कर दें। २—एड्रीनलीन १ : ५०० तेल में (मि.ग्रा. २ प्र. सी. सी.) पेशी द्वारा १/८—१ सी. सी.।	रक्तवाहिनी का संकोच (Vasoconstrictor) करती है। रक्त शर्करा, रक्तनिपीड़ (B. P.) तथा हृदय से निकलने वाले रक्त की मात्रा बढ़ाती है। पीयूष ग्रंथि (Pituitary) द्वारा एसाटी एच (ACTH) को शरीर में प्रवेश करने के लिए स्वतन्त्र करती है।	रक्तस्राव (Bleeding) की स्थानिक चिकित्सा, दमा, शीत-पित्त (Urticaria) आदि अनूर्जता (Allergy) जन्य रोग, हृदय बन्द हो जाने पर। स्थानिक संज्ञाहर (Local-anaesthetic) के साथ देने से औषधि के प्रचूषण की गति मन्द होती है। यकृत का

पदार्थ	मात्रा	प्रभाव	प्रयोग
	३—एड्रीनलीन १ : १०० (मि.ग्रा. १० प्र. सी. सी.) यन्त्र द्वारा कण्ठ मे देने के लिये।		शर्करा के सञ्चय पर प्रभाव जानने के लिये, पीयूप ग्रन्थि द्वारा एसीटोएच के निर्माण को जानने के लिये।
नौर-एपिनेफ्रिन (Nor-epinephrine, arte-renol)		रक्तवाहिनियों का संकोच (Vaso-constrictor) करती है। हृदय से निकलने वाले रक्त की मात्रा पर प्रभावहीन है। रक्त शर्करा मे कम वृद्धि करती है। रक्तनिपीड़ (B. P.) बढ़ाती है।	

रक्ताल्पता (Anaemia) का वर्गीकरण तथा औषधियों का प्रभाव

(लौ = Iron, य. स.= Liver ext:, र.प्र. = Blood trans:, ला. र. प्र.R.B.C. Trans:, ल. Serum or plasma, श.=Glucose saline, बी₁₂ = Vit : B_{12}, आ. Stomach ext:, फो.= Folic acid, सी.=Vit C, ष.=X-ray, प्ली.=Splenectomy, सं. = Whole liver, शु. = Refined liver ext:, ए = Acth, कौ = Cortisone ।)

रक्तालपता	लौ	य. स. सं.	य. स. शु.	र. प्र.	ला. र. प्र.	ल.	श.	बी₁₂	आ	फो.	सी.	ष.	प्ली.	ए. कौ.
(क) रक्त के निर्माण मे विपर्यय (अ) लौह (Fe) की कमी (hypochromic) उपवर्गिक :— (च) सूक्ष्म कायाणिवक (Microcytic): — १—चिरकालीन पोषणज (Nutritional), न्यष्ठीलीय रक्त-कणज (Erythroblastic), गर्भावस्था जन्य (Pregnancy), पचन सस्थान की विकृति के कारण लौह का प्रचूषण न होने से, प्लमर-विन सन का संरूप (Plummer Vinson syndrome), हलीमक (Chlorosis), शिशु तथा वाल्यावस्था की, स्त्रियो में उदनीरिकाम्ल की कमीसे (Idiopathic achlor hydric), उपसर्ग जन्य (Hookworm, M. F.)	+ + +	±	---	आ.अ.	आ.अ.									

२—प्लैहिक (Splenic)	+			+++								+	++	
(छ) ऋजुकायाणिवक (Normocytic):—														
१—रक्तस्राव जन्य (Post : haemorrhagic)	+			+ +	+++	+	±							
जन्मोत्तर प्रावेगिक शोणवर्तुलिमेह (Acquired paroxysmal hemoglobinurea)				+		+								
२—शोणांशी (Hemolytic, Hereditary)				+ + +	+++	++							++	++
३—कूली (Cooley) की, वक्र चन्द्राकार (Sickle cell)	— –	---	---	+ + +					— –	---	— –		±	
४—अन्य (Erythroblastic , myelophthisic Etc.)														
(आ) परमवर्णिक (Hyperchromic, macrocytic) :—														
(च) पाण्डुनिरोधी पदार्थ की कमी के कारण (Antianaemic factor, megalocytic or megaloblastic)														
१—वनाशिक रक्तक्षय (P. A.)		---	+++	+++	आ.अ.			+++	±	±				
२—गर्भावस्था जन्य	आ.अ.	+ +	--	आ.अ.				--		+++				
३—स्त्रियों की पोषणज (Tropical nutritional)			+++					+++		+++				
४—स्फीत क्रिमि जन्य (Tapeworm)								+++		+++				

रक्ताल्पता	लौ	य. स.		र प्र.	ला. र. प्र.	श.	बी₁₂	आ	फो.	सी.	च.	ली.	ए. कौ.
		स.	शु.										
५—शैशवावस्था की		---	---				--		+++	+			
६—संग्रहणी (Sprue), पचन संस्थान के रोग जन्य							+		+++				
७—अविनेय (Refractory)		---	---				–		+ +	+			
८—प्रशीताद (Scurvy)										+			
९—त्वग्ग्राह (Pellagra), यकृत के रोग आदि।													
(छ) अन्य कारणजन्य (Normoblastic)													
१—घातक अर्बुद (Malignancy)	---			+++	+++		--						
२—श्वेतमयता (Leukaemia), हौजकिन (Hodgekin) का रोग, शीश (Pb.) आदि की विषमयता, अपित्तमेहिक कुलज कामला (Acholuric jaundice)		–	–				–		–		आ. अ.	आ. अ.	
३—संग्रहणी(Sprue) की प्रारंभिक अवस्था									+				
४—प्रशीताद (Scurvy)										+++			
५—यकृद्दाल्युत्कर्ष (Girrhosis) चिरकालीन वृक्कशोथ (Nephritis), अवटुका ग्रन्थि सत्व की कमी (Hypothyroidism)		–	–				–		–				
(ढ) ऋजुवर्णिक (Normochromic) :–	—	---	---	+ +	+ +		---	–	---	---		±	—
अपचयिक (Aplastic)	–			+	+								–

पीयूष ग्रंथि (Pituitary)

पदार्थ	प्रभाव	प्रयोग	मात्रा
(क) ग्रन्थि के पूर्व (Ant:)भागसे:— १—एसीटीएच (ACTH)	१—शरीर मे वृद्धि होती है :—सोडियम (Na.), क्लोराइड (Cl.) जल, वहवाकारी श्वेतकायाणु (Poly), रक्तशर्करा (Blood sugar ।) २—शरीर मे कमी होती है :—यूरिक एसिड (Uric acid), नाइट्रोजन (N), फौसफोरस (Ph.), पोटासियम (K.), स्टेरौयेड (Keto-steroid, oxysteroid), लसकायाणु (Lympho), उसपिप्रिय (Eosino)	आमवात (Rheumatism), आमवाताभ संधिशोथ (Rheumatoid arthritis), अनूर्जता (Allergy) आदि ।	पेशी मार्ग(I. M.) से सि. ग्रा. १०—५० चा. ग्र दि.
२—पी. जी. एच. (Growth hormone)	शरीर का विकास करती है ।	बौनापन (Dwarf) तथा पीयूष ग्रन्थि सत्व की कमी मे ।	निराशाजनक
३—एफ. एस. एच (F.S.H.,Folli-'e stimulating hormone)	पुरुष में :—शुक्र जीवाणु (Spermatozoa) के निर्माण के लिये वृषण ग्रन्थि (Testes) को उत्तेजित करता है । स्त्रियो में:—बीजकोषकूप (Ovarian follicles) बनने की उत्तेजना देता है ।	शक्र जीवाणु की उत्पत्ति कराने के लिये ।	अप्राप्य है

पदार्थ	प्रभाव	प्रयोग	मात्रा
४—दुग्ध निर्माण कराने वाला (Lactogenic)	धात्रिकाल (Lactation) के लिये आवश्यक है।		अव्यवहारिक है
५—ए. सी. एस. एच. (Interstitial cell stimulating hormone, luteinizing)	स्त्रियों में :—प्रावर कोषायें (Theca cell) तथा बीजकोश पुट (Corpus luteum) की उत्पत्ति कराता है। पुरुष में :—टेस्टोस्टेरान (Testosterone) की उत्पत्ति कराता है।		अप्राप्य है
६—टी.एच. (Thyrotrophic)	अवटुका ग्रन्थि (Thyroid) को उत्तेजित करता है।		अप्राप्य है
(ख) ग्रंथि के पश्चिम (Post:) भाग से:— १—अमूत्रल (Anti diuretic, pressor) स्राव	रक्त निपीड की वृद्धि करता है तथा शरीर में जल सञ्चय करता है। रक्तवाहिनियों का संकोच (Vasoconstrictor) करता है।	पिट्रेसीन (Pitressin) २० अं.इ. प्र.सी.सी. तेल में। उदकमेह (Diabe-	सी.सी. ½–१ पेशी (I.M.) द्वारा प्रा. प्र.

पदार्थ	प्रभाव	प्रयोग	मात्रा
		tes insipidus) तथा आध्मान (Tympanites) में।	
२—गर्भाशय संकोची (Oxotic)	गर्भाशय संकोच कराती है। पीटोसीन (Pitocin) १०अं. इ. प्र. सी. सी.।	गर्भाशय संकोच कराने के लिये।	पेशी द्वारा ½-१ सी. सी.
(ग) अपरा (Placenta) से उत्पन्न पीयूष ग्रंथि सत्व के समान प्रजनन संबंधी (Gonadotrophic) पदार्थ	गर्भावस्था के समय उत्पन्न होता है। क (५) के समान प्रभाव है। वृषण ग्रन्थि (Undescended testes) को नीचे उतारता है। स्त्रियोंमें अंडिका (Ovule) के बनाने की उत्तेजना देता है तथा बीजकोषपुट (Corpus luteum) को नष्ट नहीं होने देता।	१—वृषण ग्रन्थि के वृषण में न पहुँचने पर(Crypto-orchoidism)। २—वृषण ग्रन्थि के सत्व में कमी होने पर (Hypo-gonadism)। ३—विशेष प्रकारकी वन्ध्यता (Sterility) में।	गर्भवती घोड़ी के मूत्र से निर्मित १००–५००० अं.इ.प्र.सी.सी., २००–१००० अं.इ.प्र.दि. या दूसरे दिन।

= P.C., न = Fragility of RBC = F. क = Normoblast =
र. पि = Bilirubin = B. R., च = Platelets = P, क=कम अ =

रक्ताल्पता	र. दे. C. I.	सां. M. C. H.	आ. M C.V.
(क) उपवर्णिक (Hypochromic) :—	०·६ से. क.	२१से क.	
(च) सूक्ष्म कायाणिवक (Microcytic)	०·६ से. क.	२१से क.	७६से क
प्लैहिक (Splenic)	"	"	"
(छ) ऋजुकायाणिवक (Normocytic)	"	"	८०—९
१—रक्तस्रावजन्य (Post-hemorrhagic)	"	"	"
२—शोणांशी (Hemolytic)	"	"	"
३—शोणांशी कामला (Acquired hemolytic jaundice)	"	"	"
(ज) स्थूलकायाणिवक (Macrocytic) रक्तस्राव के कारण पाण्डुनिरोधी पदार्थ तथा लौह की कमी।	"	"	९४से
(ख) ऋजुवर्णिक (Normochromic) :—	०·६—१·१	२७—३२	
(च) सूक्ष्म कायाणिवक (विरल है)	"	"	७६से
(छ) ऋजु कायाणिवक, अपचयिक (Aplastic)	"	"	८०—९
(ज) स्थूल कायाणिवक	"	"	९४से
(ग) परमवर्णिक (Hyperchromic) :—	१·१से अ.	३२से अ.	
(च) सूक्ष्मकायाणिवक, विरल है।	"	"	७६से
(छ) ऋजुकायाणिवक, विरल है।	"	"	८०—९
(ज) स्थूलकायाणिवक :—	"	"	९४से
१—वैनाशिक (P. A.)	"	"	"
२—गर्भावस्था जन्य	"	"	"
३—संग्रहणी, स्फोतकृमि, आमाशय का घातक अर्बुद, यकृत के चिरकालीन रोग, आंत्र के रोग आदि।	"	"	"
४—पोषणाभाव जन्य (Tropical nutritional)	"	"	"

ीय (Pathological) परिवर्तन

=M.C H, आ.=Mean corpuscular volume=M.C.V., आ. दे=
sts=M.B., प. वृ.=Hyperplasia=H.P., आ.प.=Poikilocytosis
., प = Anisocitosis = A, र. प = Polychromatia = P. Cr.
, मू. पि = Urobilinogen = U. B., आमा. = आमाशय ।)

रक्त									अस्थि		मूत्र	आमा.
. दे. I.	ऋ. N.B.	प. A	आ.प. P.C	र.प. P.Cr	न. F.	श्वे. W. b.c.	र. पि. B R.	च P.	वृ.म्य. M.B	प. वृ. H.P	मू.पि. U.B.	उ.अ. Hcl
से क.												
						--						
-१'१												
			+++		+++	±	++		+++	+++	+++	
			---		---	--	+-		+++	+++	+++	
े अ.												
े क.												
-१'१						---				---		
े अ.												
से क.												
-१'१												
े अ.												
	+	+	+	+		--		--	+++			--
									++			±
												+

मूत्रल (Diuretics) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
मरक्यूरीटाल (Mercurital)	मुख	१–२गो.प्र.दि.। मुख द्वारा प्रभाव अच्छा है।
अमोनियम क्लोराइड (Ammon : chlor)	”	ग्रे.१५–२०त्रि.प्र.दि.
डायूरेटिन (Diuretin)	”	ग्रे. ५–१० त्रि.प्र.दि.
यूरिया (Urea)	”	ग्रे. ६० त्रि. प्र. दि.
पोटास साइट्रस (Pot:citras)	”	ग्रे.१०–२०त्रि.प्र.दि.
” एसिटस (Pot : acetas)	”	” ”
” बाइकार्ब (Pot: bicarb)	”	” ”
थेयोसीन सोडी एसीटेट (Theocin sodi acatate)	”	ग्रे. ३ त्रि. प्र. दि.
केफीन साइट्रस (Caffeine cit:)	”	ग्रे. ५ ” ”
नेप्टाल (Neptal esidrone, mersalyl, salyrgan)	पेशी (I.M.) या सिरा	सी.सी. १/२–२ प्र. तृतीय दिन
कारडोफाइलीन (Cardiophyllin, aminophyllin)	मुख पेशी सिरा	ग्रे. १½–८ त्रि.प्र.दि. ग्रे. ८ (सी.सी. २) ग्रे. ४ (सी.सी. १०)
केफीन सोडी बेनजोअस (Caffeine: sodi: benzoas) इन्जेक्शन ग्रा. ०'५ प्र. सी.सी. हृदय की उत्तेजक है।	मुख अधस्त्वक्	ग्रे. ५–१५ त्रि.प्र.दि. ग्रे. २–५ प्र. बा.
केल्सियम डाइयूरेटिन (Calcium diuretin)	मुख	ग्रे. ८–१५ त्रि.प्र.दि.
सिलरैन (Scillaren 'Sz') गोली मि.ग्रा. ०'४, घोल मि.ग्रा. ०'४ सी. सी., इन्जेक्शन मि. ग्रा. ०'५ प्र. सी. सी., हृदय की उत्तेजक है।	मुख सिरा	गो. १–२ या मि. २०–३० त्रि. प्र. दि. सी.सी. ½–१ प्र.बा.

जीवतिक्ति (Vitamins)

औषधि	मार्ग	मात्रा
१—जीवतिक्ति 'ए' ('A' Prepalin-Go) :—	मुख पेशी	५,०००–१ ल. अं. इ. द्वि. प्र. दि. ½–१ ल. अं.इ.प्र. बा.
(क) कौड लिवर औयल (Cod liver oil, shark liver oil)	मुख	ड्रा. १½ द्वि. प्र. दि.
(ख) अल्फालिन (Alphalin 'Ly') गोली. १००००, २५०००, ५०००० इ.	मुख	१५०००–ल.१ इ.प्र.बा.
(ग) हैलीबुट लिवर आयल (Halibut liver oil)	मुख	मि. ४ द्वि. प्र. दि.
२—जीवतिक्ति बी सम्पूर्ण, खमीर(Yeast) :—	मुख	ग्रे. ७५ त्रि. प्र. दि.
(क) जीवतिक्ति बी१ (B_1, thiamine)	मुख, सिरा या पेशी	मि.ग्रा. १०–१००प्र.बा.
(ख) जीवतिक्ति बी२ (B_2, riboflavine)	मुख, पेशी	मि.ग्रा. २–६० प्र.बा. मि ग्रा. २० प्र. बा.
(ग) जीवतिक्ति बी३ (B_3, Pantothenic acid)	मुख या पेशी	मि.ग्रा. १०–१०० प्र.दि.
(अ) कैल्सियम पैण्टोथिनेट (Cal. pantothenate)	"	ग्रा. ०·१५ प्र. दि.
(घ) कोलीन (Choline)	मुख या सिरा	ग्रा. १–६ प्र. दि.
(ङ) जीवतिक्ति बी४ (B_4 , Aminoacids, methionine, meonine)	मुख	ग्रा. ½–५ प्र. दि.
(च) जीवतिक्ति बी६ (B_6, Pyridoxine)	मुख पेशी या सिरा	मि.ग्रा.५०–१०० प्र.दि. मि. ग्रा. १०–५० प्र. दि.

औषधि	मार्ग	मात्रा
(छ) जीवतिक्ति बी$_{७}$ (B_7, Nicotinic acid'Ly'pelonin Go)	मुख	मि. ग्रा. ५०–५०० त्रि. प्र. दि.
गोली. मि. ग्रा. २०, ५०, १०० इन्जेक्शन मि.ग्रा. १० प्र. सी.सी.	पेशी या सिरा	मि.ग्रा. १०–५० प्र.बा.
(अ) निकोटिनामाइड(Nicotinamide 'Ly') इन्जेक्शन मि. ग्रा. १०० प्र. सी. सी.	मुख	मि.ग्रा.५०-१०००प्र.दि.
	अधस्त्वक् या सिरा	मि. ग्रा. ५०–५०० प्र. दि.
(ज) जीवतिक्ति बी$_{१२}$ (B_{12})	पेशी I.M	मा. ग्रा. ५०–१०० प्र. दि.
(अ) रुब्रामीन (Rubramin) इन्जेक्शन मा. ग्रा. १५	,,	मा.ग्रा.१५–२०प्र.बा.
(झ) फोलिक एसिड (Folic acid)	मुख पेशी या सिरा	मि. ग्रा. २०–२०० प्र. दि.
(ञ) पाबा (PABA)	मुख	ग्रा. ०·१–२ प्र. बा.
३—जीवतिक्ति 'सी' (Vit : C, Ascorbic acid) :—	मुख,पेशी या सिरा	मि. ग्रा. १००-५०० प्र. बा.
४—जीवतिक्ति 'डी' (Vit : D) :—	मुख	१०००–५ ल.अं. इ. (I. U.) प्र. बा.
(क) ओस्टेलिन फोर्ट (Ostelin fort 'Go') गोली ५०००० इ. इन्जेक्शन मि.ग्रा. १५ प्र. सी.सी.	,,	आ. अ.
(ख) कैल्सीफेरोल (Calciferol)	,,	२०००० अं.इ.प्र.दि.
(ग) कैल्फोरेओल (Calfo-rayol 'Sq')	,,	गो. ६–१२ प्र. दि.
५—जीवतिक्ति 'ई' (Vit : E 'Ly') मि. ग्रा. ५० प्र. गोली	,,	मि.ग्रा.५०-५००प्र.दि.
(क) फाइटोफेरोल (Phytopherol)	,,	मि. ३ द्वि. प्र. दि.
(ख) टोकोफेरोल (Tocopherol)	पेशी	मि.ग्रा. १०० प्र. बा.

औषधि	मार्ग	मात्रा
(ग) इफेनल (Ephynal)	मुख	मि.ग्रा. ३ त्रि. प्र.दि.
(घ) वाइटियोलीन (Viteolin Go) सि. ग्रा. ६, ३० प्र. गो.	,,	मि.ग्रा. ६–३० प्र.दि.
६—जीवतिक्ति 'के' (Vit K)	,,	मि.ग्रा. ५० त्रि.प्र.दि.
(क) सिनकाविट (Synkavit)	सिरा	मि. ग्रा. १० प्र. बा.
(ख) कैपिलिन (Kapilin)	पेशी	मि. ग्रा. १० प्र. बा.
(ग) कैपाडियोन (Kappadione 'Ly') इन्जेक्शन सि. ग्रा. ५, १० प्र. सी. सी.	मुख या पेशी	मि.ग्रा.५–१५ प्र.बा.
(घ) मेनाडियोन (Menadione 'Ly') गोली मि.ग्रा. १, २, ५	मुख	मि. ग्रा. १–५ प्र.बा.
७—जीवतिक्ति 'पी' (Vit : P,)		
(क) रुटीन (Rutin)	मुख	मि.ग्रा.२०-४० त्रि.प्र.दि.
(ख) हेस्परिडीन (Hesperidin)	,,	ग्रा. ½–१ द्वि.प्र.दि.
८—जीवतिक्ति संपूर्ण (Multivit)		
(क) मल्टीबायोनाटा (Multibionata 'Mk')	,,	कै. १–६ प्र. दि.
(ख) थेराग्रान (Theragran 'Sq')	,,	,,
(ग) विगरैन (Vigran 'Sq')	,,	,,
(घ) हैलीबोरेञ्ज (Haliborange 'AH') विशेषकर ए. सी. डा.	,,	च. १–४ द्वि. प्र. दि.
(ङ) प्रीनेटल कैपस्यूल (Prenatal capsule 'Le')	,,	कै. ३ प्र. दि.

कृमिघ्न (Anthelmintic) औषधियाँ

औषधि	कृमि	मार्ग	मात्रा
जेन्शियन वायलेट (Gentian violet)	सूत्र (Thread)	मुख दस दिन	वयस्क-ग्रे. १/२–१ त्रि. प्र. दि बाल्यावस्था—ग्रे. १/६ त्रि.प्र.दि. भो. पू.
मेथीलिन ब्लु (Methylene blue)	"	"	ग्रे. ३ त्रि. प्र. दि.
सैन्टोनीन (Santonine)	केचुआ (Round)	मुख	ग्रे. २ निद्रा के पूर्व ए. बा.
टेट्राक्लोर-एथिलीन (Tetrachlor-ethylene)	अंकुश (Hook)	"	मि. ४५ ए. बा.
कारबन टेट्राक्लोर (Carbon-tetrachlor)	"	"	"
चिनापोडियम तैल (Ol: chenopodium)	"	"	मि. १०–१५ ए. बा.
थाइमोल (Thymol)	"	"	ग्रे. १५–३० प्र. बा.

कृमिघ्न (Anthelmintic) औषधियाँ

औषधि	कृमि	मार्ग	मात्रा
हेक्सिल रिसार्सिनोल (Hexyl-resorcinol)	अंकुश (H. W.)	मुख गुदा	ग्रे. २–१५ प्र. बा. ग्रे. २ औषधि १० औं. जल मे घोलकर
क्रिसटोयड (Crystoids)	,,	मुख	ग्रे.३ प्र.गो. की ५ गो. ए. बा.
फिलिक्स मास (Filixmas)	स्फीत (Tape)	,,	मि. ६० ए. बा.
पेलेट्रिन टैनेट (Pelletierine-tannate)	,,	,,	ग्रे. ५–७ ए. बा.
हेट्राजान (Hetrazan)	श्लीपद (Filaria)	,,	५० मि. ग्रा प्र. गो. त्रि.प्र.दि. दो से तीन सप्ताह तक
एन्थिओमेलीन (Anthiomaline)	,,	पेशी (I. M.) या सिरा	६ प्र.श.घोल का ३–४ सी.सी. द्वि. प्र. स.

कृमिघ्न (Anthelmintics)

औषधि	कृमि	मार्ग	मात्रा
वैनोसाइड (Banocide B. W. & Co) गोली मि. ग्रा. ५०, शर्बत	श्लीपद, केचुआ	मुख	मि.ग्रा. ६ प्र. से. भा.प्र.दि. भो. प., च. १/२–४ त्रि.प्र.दि.
शर्बत वर्मजीन (Vermazine N.R.)	समस्त आंत्र कृमि	मुख	बालक–च. १–२ द्वि. प्र. दि. युवा—च. २–४ द्वि. प्र. दि.
शर्बत हेलमेजीन (Helmezine elixir A. H.)	केचुआ, सूत्र,	,,	बालक–च. ४ रात्रि के भो. पू. युवा–च. ६ ,, ,, ,,
एन्टीपार शर्बत (Antipar elixir B.W. & Co)	,,	,,	युवा–ड्रा. ६ बालक ड्रा. ४ तत्पश्चात विरेचन (Purge)
एसकाफेन (Ascaphen 'Wan') गोली ग्रा. ०'०२५, ०'०५ सैनटोनिन का योग है	केचुआ	,,	युवा–गो १ (बड़ी) द्वि. प्र. दि. बालक–गो. १ (छोटी) द्वि. या त्रि. प्र. दि.
डाइफेनान (Diphenan B. D. H.)	सूत्र कृमि	,,	बालक गो. १/२ त्रि. प्र.दि. ए. स. पर्यन्त
फ्लोरोडिस (Florocid)	श्लीपद(Elephentiasis)	पेशी	सी. सी. १ प्रोकेन (१ प्र. श.) के साथ ए. प्र. स. चार बार। एक मास बन्द कर पुनः दें।

आक्षेप निरोधी (Anti-convulsants) औषधियाँ

योग	मार्ग	मात्रा	प्रयोग	निर्देश
माइनेसीन (Myanesin mephenesin, tolserol, avosyl, oranion, lissephen)	मुख सिरा	ग्र. ७½–४५ ग्र. ४ घंटे २ १०प्र.श.घोलका ७½-३० ग्र. तीव्र अवस्था में	धनुर्वात(Tetanus) वेपथुमत अँगघात (Paralysis-agitans) एवं विमोहन गति (Athetosis) कुपीलुसत्व विषमयता (Strychnine poisoning)	विषमयता (Toxaemia) के कारण श्वेतकणों (W.B.C.) की कमी, रक्तकणोंका नाश (Haemolysis), तथा मूत्र में शोणवर्तुलि (Hb) मिलता है
मेथोइन (Methoin, mesontoin)	मुख	ग्रे. ½ त्रि. प्र. दि.	अपस्मार(Epilepsy)	
कारामिफेन (Caramiphen, panparnit)	”	ग्रे. ½–१ प्रति ४ घंटा.	वेपथुमत अंगघात	एट्रोपीन (Atropine) के समान प्रभाव तथा विपाक्तता हो सकती है। एट्रोपीन से कम प्रभावशाली है।
ट्राइहेक्सीन फेनीडिल (Trihexyphenidyl, artane)	”	मि.ग्रा.१ से ३ प्र.६घंटे.	”	
ट्राइडियोन (Tridione, troxidone)	”	ग्रे. ५. त्रि. प्र. दि.	अपस्मार(Epilepsy)	

योग	मार्ग	मात्रा	प्रयोग	निर्देश
क्यूरार (Curarine chloride)	पेशी या सिरा गुदा	ग्रे. १/६–१/३ प्र. वार. (मि. ग्रा. १०–२०) प्रभाव केवल १/२ घंटा मि. ग्रा. १ आ. अ.	धनुर्वात, स्तम्भिक अवस्था(Spasticity)	प्रभाव केवल आध घंटा रहता है। स्तब्धता (Shock) तथा श्वसन का निपात (Collapse) सम्भव है इसलिये विशेष सावधानी आवश्यक है।
डीकामेथोनियम ब्रोमाइड (Decamethonium, bromide, syncurine)	सिरा	मि. ग्रा. २ प्र. वार.	”	
ट्राइ ब्रोमिथेनौल (Tri-bromethanol)	गुदा	ग्रे. १५–२० प्र. १–४ घंटे आ. अ	धनुर्वात (Tetanus)	
सोडियम एमिटाल (Sodium-amytal)	पेशी, सिरा	ग्रे.४-७१/२आ.अ.१०प्र.श.	”	प्रलाप, श्वास का निपात, वृक्क तथा यकृत के रोग मे वर्जित है।
	गुदा	ग्रे. २ प्रति बत्ती		
टोलसेरौल (Tolserol 'Sq') गोली मि. ग्रा. ०'२५, इन्जेक्शन मि. ग्रा. ०'२ प्र. सी. सी.	मुख	ग्रा. १–३ प्र. दि.	” पारकिनसन का रोग	

ऐवर्टिन (Avertin)	गुदा	ग्रा. ३–४प्र. ४–६ घंटे आ.अ. या ५सी.सी. औषधि २०० सी.सी. जलमें	धनुर्वात, पारकिनसन का रोग	
मैगसल्फ(Mag:sulph)	सिरा पेशी कटि-वेध	२०प्र.श.½–१ सी.सी. १२½–२५ प्र. श. ५–१५ सी.सी.द्वि.प्र.दि. बालक २–४ सी सी. २५प्र.श. २–४ सी.सी. प्र. द्वितीय दिन	धनुर्वात अपतानिका(Tetany) गर्भाक्षेप(Eclampsia मूत्र विषमयता(Uraemia)	इन्जेक्शन देते समय कैलसियम (Cal : Gluconate) १० प्र. श. १० सी. सी. साथ होना चाहिये ।
पराल्डिहाइड (Paraldehyde)	मुख गुदा पेशी सिरा	ड्रा. ½–४ आ. अ. ड्रा. २–१० प्र. बार सी.सी. ५–१० प्र.बार सी.सी. १–३ प्र. बार	गर्भाक्षेप, उन्माद, धनुर्वात, अपतन्त्रक (Hysteria); प्रलाप(Delirium)	सिरा मार्ग से प्रयोग के पूर्व औषधि को समबल लवण घोल (N. saline) १० सी. सी. मे मिला लें। यकृत तथा फुफ्फुस के रोग में वर्जित है।

स्थानिक संज्ञाहर (Local anaesthetics)

औषधि	मात्रा
कोकेन (Cocaine hyd :)	कण्ठ या नाक में १०–२० प्र. श. घोल
बेनजोकेन (Benzocaine)	१–२० प्र. श. मलहम ।
प्रोकेन (Procaine hyd :)	½–१½ प्र. श. वितरण (Infiltration) के लिये ।
न्यूपरकेन (Nupercaine)	०·०१–०·०२ प्र. श. (Infiltration) १०० सी. सी. तक प्रयोग कर सकते हैं ।
ऐथिल क्लोराइड (Ethyl chloride)	त्वचा पर तब तक छिड़कें जब तक त्वचा पर सफेद बरफ न जम जाय ।
नोवोकेन (Novocaine)	वातनाड़ी के समीप संज्ञानाश के लिये ½–२ प्र.श. । वाहिनी के विस्फार (Vasodilatation) के लिये ०·१ प्र. श. सी. सी. १० प्र. वा. सिरा (I. V.) मार्ग से दें ।

मूत्र संस्थान की जीवाणुनाशक (Urinary antiseptics) औषधियाँ

[ये औषधियाँ प्रायः आंत्र दण्डाणु (B-coli) पर कार्य करती हैं। ये प्रायः मूत्र की प्रतिक्रिया (Reaction) अम्ल (Acid) रहने पर कार्य करती हैं]

औषधि	मात्रा (मुख से)
अमोनियम मैंडीलेट (Ammon: mandelate)	ग्रे. ४५ चा. प्र. दि.
मैंडेलिक एसिड (Mandelic acid, sodi:mandelate)	ग्रे. ३०–६० त्रि. प्र. दि.
मैंडेलिक एसिड के योग :—	
नेयोकेट (Neoket : Bo)	ग्रे. ६०–१२० चा. प्र. दि.
एमोकेट (Ammoket:Bo)	मि. २४० चा. प्र. दि.
मैण्डीकैल (Mandecal B.D.H.)	ग्रे. ६० चा. प्र. दि.
मैण्डीलेक्स (Mandelex–B.D.H.)	मि. १२० चा. प्र. दि.
कैलसियम मैण्डीलेट (Cal:mandelate B. W. Co)	ग्रे. ६० चा. प्र. दि.
हेक्सामीन (Hexamine)	ग्रे. १०–१५ त्रि. प्र. दि.
पाइरीडीयम (Pyridium M. J. Neotropin Sch:)	ग्रे. १½ की १–२ कैपस्यूल त्रि. प्र. दि.
हेक्सिलरिसौरसिनौल (Hexylresorcinol)	कैपस्यूल से ०·१५ ग्रा–०·६ग्रा. त्रि. प्र. दि. भो.प.
नोट –किसी भी प्रतिक्रिया पर दे सकते हैं।	
मेथिलीनब्लू (Methylene blue)	ग्रे. १–४ कैपस्यूल से त्रि.प्र.दि.
एक्रिफ्लेविन (Acriflavin)	ग्रे. ३ कैपस्यूल मे त्रि. प्र. दि.
नोट :—स्तवक गोलाणु (Staphy:) पर भी कार्य करती है। मूत्र क्षारीय (Alkaline) होना चाहिये।	

स्वतंत्र वातनाड़ी अवरोधक औषधियाँ (Chemical sympathectomy, ganglion blocking)

औषधि	मार्ग	विधि	संपूर्ण मात्रा
प्रिसकोलीन (Priscoline 'Le')	सिरा या पेशी मुख	मि. ग्रा. ५० प्र. १/२–१ घं. मि. ग्रा. २५. प्र. दि. ३–८ घ.	मि. ग्रा. १००–२०० प्रभाव ४दिन तक
डाइबेनामीन (Dibenamine)	सिरा	औषधि की मात्रा समबल लवण घोल(N.Saline) या ग्लूकोस ५ प्र.श. पा. १ में मिलाकर शनै: २ दें	मि. ग्रा. ५ प्र. से. भा. प्रभाव एक सप्ताह तक
इटेमौन (Tetraethyl ammonium, etamon)	,,	मि. ग्रा. ५०० तक शनै: शनै: इन्जेक्शन दें।	मि. ग्रा. ६ प्र. से. भा.

उद्वेष्टन निरोधी (Antispasmodic) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
टि. बेलाडोना (Tr. Belladonna)	मुख	मि. ८ त्रि. प्र. दि.
टि. लोबेलिया इथेरिस (Tr. Lobeliae aetheris)	,,	मि. १० त्रि. प्र. दि.
इफेड्रिन हाइड्रोक्लोर (Ephedrine hyd)	,,	ग्रे. १/३–३/४ त्रि. प्र. दि.
एट्रोपीन सल्फ (Atropine sulph)	अधस्त्वक्	ग्रे. १/२००–१/१००
एड्रीनलीन १ : १००० (Adrenaline)	,,	१/२ सी. सी.
एड्रीनलीन तैल में १:५०० (Adrenaline in oil)	पेशी	एक सी. सी.
अमीनोफाइलीन (Aminophylline, theophyllin)	सिरा मुख	ग्रे. ३३/४–७१/२ सी. सी. १०–२० जल में ग्रे. ७१/२ त्रि. प्र. दि.
कारडोफाइलीन (Cardiophyllin)	सिरा	०·४२ ग्रा. २०. सी.सी. परिस्रुत जल में

आक्षेप निरोधी (Anticonvulsants) तथा उद्वेष्ठन निरोधी (Antispasmodic) औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
एमिलनाइट्राइट (Amyl nitrite)	सूँघने के लिए	मि. २–५ प्रतिबार
लाइकर ट्रिनीट्रिनी (Liq : trinitrini)	मुख	मि. १ त्रि. प्र. दि.
ट्रिनीट्रिनी की गोली (Tab : trinitrini)	,,	ग्रे. १/१०० प्र. गो. प्रतिबार
ट्रेसेण्टीन (Trasentin)	,,	ग्रे. १/४–२ १/२ द्वि. प्र. दि.
	पेशी	मि. ग्रा. ५० प्रतिबार
स्पैज्मो-सिबालजिन (Spasmo-cibalgin)	मुख	१ गो. आ. अ.
टेट्राएथिल अमोनियम (Tetra-ethyl-ammonium) [तीव्र अग्न्याशय शोथ (Pancreatitis) में विशेष लाभप्रद है]	सिरा	मि. ग्रा. ०·१–०·५ प्रति ४–६ घण्टे पर इन्जेक्शन दें।
पैसीटेन (Pacitane, artane Le)	मुख	मि. ग्रा. १–६ द्वि. प्र. दि. भो. प.
डिपारकोल (Diparcol M & B)	,,	ग्रे. ४–८ द्वि. प्र. दि.

रेबेलौन (Rabellon. S & D) नोटः—हायोसायमस के साथ बेलाडोना का सत्व है।	मुख	ग्रे. ३/४ प्र. गो. गो. १/४–२ त्रि. प्र. दि.
स्ट्रेमोनियम सत्व (Ext:stramonium)	”	ग्रे. ३/४–३१/२ त्रि. प्र. दि.
पारपानिट (Parpanit 'Gy')	”	मि. ग्रा. १० से १०० त्रि. या चा. प्र. दि.
हायोसीन (Hyoscine)	”	ग्रे. १/१०० त्रि. प्र. दि.
जीनोस्कोपोलामीन (Genoscopolamine scopolamine hydrobrom)	”	ग्रे. १/१२०–१/१६० त्रि. प्र. दि.
मेफेनेसीन शर्बत (Elixir mephenesin. B.DH, myenesin)	”	मि.१=ग्रे.१। ग्रे. १५ ए. द्वि. या त्रि. प्र. दि.
टि. स्ट्रेमोनियम (Tr. stramonium)	”	मि. १०–७५ त्रि. प्र. दि.
मेथोइन (Methoin or mesontoin)	मुख	ग्रे. ११/२ प्र. दि.
ट्राइडियोन (Tridione, troxidone)	”	ग्रे. ५ त्रि. प्र. दि.
माइनेसिन (Myanesin, mephenesin)	” सिरा	ग्रे. १५–४५ २–१० प्र. श. ७१/२ ग्रे.

अरगट (Ergot) के योग

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
अर्गट की गोली (Tablet ergot)	गर्भाशय सकोचक (Ecbolic)	मुख	ग्रे. २½–८ आ. अ.
अर्गट का तरल सत्व (Ext : ergot liq :)	,,	,,	मि. १०–२० त्रि. प्र. दि.
आर्गोटाक्सीन (Ergotoxine)	,,	,,	ग्रे. १/१२०–१/६० प्र. बा.
		पेशी अधस्त्वक्	मि. ग्रा. ०·५–१ ,, ,,
अर्गोमेट्रीन (Ergometrin)	,,	मुख	ग्रे. १/१२०–१/६० प्र. बा.
		पेशी	ग्रे. १/२४०–१/१२० ,,
		सिरा	ग्रे. १/४८०–१/२४० ,,
अर्गोटेमीन टार्ट (Ergotamine tart : gynergen 'Sz') गोली मि.ग्रा. १, इन्जेक्शन मि.ग्रा. ०·५ प्र.सी.सी.	मूर्धावर्त (Migraine) प्रपाचीयव्रण (Peptic-ulcer), कक्षापरिसर्प (Herpes zoster)	मुख	ग्रे. १/६०–१/३० ग्रा. प्र. गो. २–४ प्र. दि.
		अधस्त्वक्‌गा पेशी	ग्रे. १/२४०–१/१२० ग्रा. प्र. सी. सी. ½–१

मेथरजेन (Methergen Sz) गोली मि.ग्रा. ०'१२५ इन्जेक्शन मि. ग्रा. ०'२ प्र. सी. सी.	गर्भाशय संकोचक	मुख पेशी	गो. १–२ त्रि. प्र. दि. सी. सी. ½–१ प्र. बा.
नेओ-गाइनरजेन (Neogynergen 'Sz') गोली मि. ग्रा. ०'३, इन्जेक्शन मि. ग्रा. ०'३ प्र. सी. सी.	,,	मुख पेशी	गो. १, द्वि. या त्रि. प्र. दि. सी. सी. ½–१ प्र. बा.
अरगोट्रेट (Ergotrate 'Ly') गोली ग्रे. १/३२० इन्जेक्शन ग्रे. १/३२० प्र. सी. सी.	,,	मुख पेशी	गो. १–२ द्वि. त्रि. या चा. प्र. दि. सी. सी. ½–१ प्र. बा.
अर्बोलिन (Erbolin 'Go') गोली मि. ग्रा. ०'४	,,	मुख	गो. १ आ. अ.

फिरङ्ग (Syphilis) में प्रयोग किये जाने वाले संखिया (As) के योग

औषधि	मार्ग	मात्रा
एन.ए.बी. (N.A.B., Neosalvarsan)	सिरा	०·१५, ०·३, ०·४५ ०·६ ग्रा. १० सी. सी. परिस्तुत जल में घोलकर ए.प्र.स.दें।
एसिटिलार्सन (Acetylarsan)	पेशी	युवावस्था में ३ सी. सी. के एम्प्यूल में से १–३ सी.सी. प्रति पञ्चम दिन दें। बाल्यावस्था में २ सी. सी. के एम्प्यूल में से ½–२ सी.सी. प्रति पञ्चम दिन दें।
सल्फारसेनोल (Sulfarsenol)	पेशी	०·१–०·६ ग्रा. (१०–६० सेण्टीग्राम) को २–४ सी. सी. आर्सिनोसौल्वेण्ट (Arseno-solvent) में घोल कर प्रति पञ्चम दिन ।
लाइकर आर्सेनिकेलिस (Liq: arsenicalis)	मुख	मि. २–८ त्रि. प्र. दि.
माफरसाइड (Mapharside. P. D. mapharsen)	सिरा	०·०४ ग्रा. १० सी. सी. परिस्तुत जल में घोल कर ए.प्र.स. । स्त्रियों में ०·०३ ग्रा.
क्लोरारसेन (Clorarsen)	,,	०·०४–०·०६ ग्रा. १० सी. सी. परिस्तुत जल में घोल कर
बिसमार्सेन (Bismarsen) संखिया तथा बिसमथका योग है।	पेशी	०·१–०·२ ग्रा. १–२ सी. सी. सौलवेन्ट में घोल कर १–२ बार प्र. स.
ट्रिपार्समाइड (Tryparsamide)	सिरा	ग्रा. १–३ परिस्तुत जल १० सी. सी. में घोलकर ए. प्र. स. कर दें। अंगघात (Paralysis) तथा अंगघात के पूर्व की स्थिति मे २० बार इन्जेक्शन दें ।
सिल्वर-सेलवार्सन (Silver.salvarsan)	सिरा	ग्रा. ०·१५–०·२५ ए. प्र. स. कर १० बार । फिरंगी खञ्जता(Tabes dorsalis) में बिसमथ तथा आयोडाइड (K.I.) के साथ यह क्रम प्रति वर्ष २ बार कर, २–४ वर्ष पर्यन्त चिकित्सा करें।

फिरङ्ग (Syphilis) में प्रयोग किये जाने वाले विस्मथ (Bismuth) के योग

[ये पेशी मार्ग (I. M.) से दिये जाते है]

औषधि	मात्रा	विशेष प्रयोग
सोडियम विसमथ टार्टरेट (Sodi : bis: tart)	१½ प्र. श. घोल का २ सी. सी. प्रति बार द्वि.प्र.स. कर १० बार	रक्तवह संस्थान (C. V. system) की विकृति में।
आइडो विसमथेट ऑफ क्विनीन (Iodo-bismuthate of quinine Ex:—quinby, bisguicol)	२–३ सी. सी. प्रति वार, १–२ वार प्र.स.	वात-नाडी सस्थान (C. N. S.) की विकृति में।
विस्मथ धातु का ग्लूकोस ५ प्र. श. में घोल (Bismostab)	१–३ सी. सी. तक (४–६ ग्रे. विस्मथ) द्वि.प्र.स. कर १० बार	
आइडो-बिसमथेट सोडियम इथिल-अमाइना-बेनजोयेट के साथ (Iodo-bismuthite sodium with-ethyl - amino-benzoate)	२ सी. सी. (०·०२५ ग्रा.) द्वि. प्र. स. कर १५–२० बार	
विसमथ सब सैलिसिलेट (Bis : sub:salicylate)	०·२ ग्रा. ए. प्र. स. कर ६–१२ सप्ताह पर्यन्त	रोग के उत्तरार्ध में सुप्तावस्था (Latent) मिलने पर

आम प्रवाहिका (E. H. Dys :-) की औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
ई. बी. आई. (E. B. I.)	मुख	१ग्रे.प्र.गो.द्वि.प्र.दि. १०दिन
डाइडोक्वीन (Diodoquin, embequin)	"	ग्रे.३'२प्र.गो.त्रि.प्र.दि १५दिन
क्वीनाक्सिल (Quinoxyl)	"	ग्रे.४ प्र.गो.त्रिप्र.दि. १० दिन
स्टोवारसल (Stovarsol)	"	ग्रे. ४ प्र.गो.द्वि.प्र.दि. ७ दिन
कारबरसोन (Carbarsone)	"	ग्रे. ४ प्र.गो.द्वि.प्र.दि.१० दिन
एनाबिन (Anabin)	"	ग्रे. १० द्वि.प्र.दि.१० दिन
कुर्चीनीन हाइड्रोक्लोर (Kurchinine hyd :)	अधस्त्वक् (S. C.)	ग्रे. ½–१ प्र.बा.
एण्टरो वायोफार्म (Entero-vioform, enteroquinol)	मुख	ग्रा.०'२५प्र.गो.त्रि.प्र.दि.१०दि.
चिनियोफान (Chiniofon)	मुख	ग्रा.०'२५ – ०'५ प्र. गो. त्रि. प्र. दि. १० दिन
सायोस्टेरीन (Siosteran 'Gy') नोट:–यह आयोडीन (I) रहित आंत्र की जीवाणु नाशक है। आंत्र के अनेक उपसर्ग में दी जाती है।	मुख	गो. १–२ त्रि. प्र. दि.
नेयोवायासेप्ट (Neoviasept 'Ho')	"	प्रतिषेधार्थ गो. २ दि.प्र.स. चिकित्सार्थगो.२त्रि.प्र.दि.८दिन

आम प्रवाहिका (E. H. Dys :) में गुदा मार्ग से प्रयोग की जानेवाली औषधियाँ

(औषधि का ताप शरीर के ताप के बराबर होना चाहिये)

औषधि	घोल	विधि
एन्टरोवायोफौर्म (Enteroviofo-rm, enteroqu-inol)	(i) औषधि की ८ गोली २०० सी. सी. जल में (ii) ½–१ प्र. श.	१–१० औं. घोल प्र. दि. कर ५ दिन तक दें एक सप्ताह औषधि बन्द कर पुनः इसी प्रकार दें।
चिनियोफौन (Chi-niofon; quino xyl)	२'५ प्र. श.	१–८ औं. तक प्र. दि.
कोनीन हाइड्रोक्लोर (Q. hyd)	१:१०००–२०००	ये औषधियाँ आसृति (Osmosis) बढ़ाने के लिये दी जाती हैं।
शर्करा (Cane sugar)	२०. प्र. श.	,,
याट्रीन (Yatrin)	२ प्र. श. या ग्रा. २–६ २०० सी. सी. जल में।	१०–२० औं.। इस औषधि का एक सप्ताह एक बार प्र. दि. ऐनिमा (Enema) लगा कर एक सप्ताह औषधि बन्द कर पुनः ७ दिन देना चाहिए
कारबरसोन (Garbarsone)	कारबरसोन ग्रे. ३० सोडीबाइकार्ब ग्रे. ६० जल औं. ६	१–६ औं. एक बार प्रति दूसरे दिन रात्रि के समय। ५ बार औषधि दे।

सुवर्ण (Gold) के योग

संपूर्ण चिकित्सा क्रम में	औषधि	मार्ग	मात्रा
ग्रा.०'५	मायोक्राइसीन (Myocrysin 'MB') नोटः—एक चिकित्सा क्रम के पश्चात् ३ मास औषधि प्रयोग न करें।	सिरा पेशी	जल में योगः—ग्रा. ०'००१, ०'००२, ०'००५, ०'०१ ए. प्र. स. १२ बार. तेल में योग :—ग्रा. ०'०१, ०'०२, ०'०५, ०'१ ए. प्र स.
ग्रा. ३–५	सैनोक्रायसीन (Sanocrysin)	सिरा	ग्रा. ०'०१, ०'०२५, ०'०५, ०'१, ०'२५ ए. प्र. स. १० सी. सी. स बल लवणघोल (N. saline) में घोल कर।
	सोलगेनौल (Solganol)	,,	ग्रा. ०'००५–०'५ ए. या द्वि. प्र. स.
	सोलगेनौल 'बी' (Solganol 'B')	पेशी	तेल में योगः—मि.ग्रा.२–१०० ए. या द्वि.प्र.स.
ग्रा. १–२	सोडियम थायोसल्फ के साथ (Gold-sodi : thiosulph)	पेशी या सिरा	मि. ग्रा. ५–५० ए. प्र. स.
,,	सोडियम तथा ग्लूकोस के साथ (Gold : Na : thioglucose)	पेशी	तेल में योगः—मि.ग्रा. १०, २५, ५० ए.प्र.स.
,,	सोडियम थायोमैलेट (Gold : Na:thiomalate) के साथ	,,	,, ,,
	ओरनौल (Ornol-B-oleosum 'Sch') मि. ग्रा. २०, २०० प्र. सी. सी.	,,	मि. ग्रा. २०–५० प्र. स.

यक्ष्मा (T. B.) की औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
(क) आइसोनिकोटिनिक एसिड हाइड्राजाइड (Isonicotinic acid hydrazide)	मुख	मि. ग्रा. १५०–३०० प्र. दि.
(१) न्यूमेनडीन (Neumandin 'Bo') गोली मि. ग्रा. ५०	,,	मि.ग्रा. २–५ प्र. से. भा.प्र.दि.
(२) नाइड्रजिड (Nydrazid 'Sq') गो. मि.ग्रा. ५०, १००	,,	,, ,,
(३) पिलाजिड (Pilazid 'Go) गो. मि. ग्रा. ५०	,,	,, १५०–२०० प्र. दि.
(४) आइसोनियाजिड (Isoniazide'BGPW') ,,	,,	,, ,, ,,
(ख) पीएएस (PAS, para-aminosalicylic acid PAS 'Clg', neo pas 'NP')	,,	ग्रा. ३ चा. या पाँच बार प्र.दि.
	अधस्त्वक	२ ८ प्र. श. घोल
	सिरा	१–१० प्र. श. मे औषधि ग्रा. २५। बूँद २ कर
(ग) टिबियोन (Tibione, thio-semicarbazone)		
(घ) सुवर्ण, स्ट्रेप्टोमायसीन (Str)	मुख	मि. ग्रा. ५०–२०० प्र. दि.
		अन्यत्र देखिये ।

रक्ताल्पता (Anaemia) की औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
(क) लौह (Fe) के योग :—	सिरा	१—२ प्र. श. सी. सी. ५ प्र. दि.
१—सैकरेटेड लौह (Saccharated Fe)	"	२ प्र. श. सी. सी. ५ प्र. बा.
२—नेओफेरम (Neoferrum)	"	२ प्र. श. सी. सी. १० द्वि. प्र. स.
३—फेराचेनीन (Ferrivenin)	पेशी	सी. सी. ५ प्र. दि.
४—फेरोसाइटोल (Ferrocytol 'AFD')	मुख	ग्रे. ३ त्रि. प्र. दि.
५—फेरससल्फ (Ferrus : Sulph)	"	ग्रे. १५ त्रि प्र. दि.
६—फेरीएटअमोन साइट्रस (Ferri et ammon cit)	"	गो. (ग्रा. ०·२) त्रि. प्र. दि.
७—फेरोनिकम (Ferronicum 'Sz')	"	गो. १२ प्र. दि.
८—लेक्सट्रोन फेरस (Lextron ferrous Ly)	"	गो. ३—६ प्र. दि.
९—आइरोफोल (Irofol AFD)	पेशी	५—१५यू.एस.पी.(U.S.P.) द्वि.प्र.स.
(ख) यकृतसत्व (Liver ext:), रेटिक्युलोजेन (Reticulogen Ly' refined liver ext:)	"	सी. सी. ½—१ आ० अ०
(ग) फोलिक एसिड (Folic acid 'Ly') गोली मि. ग्रा. ५ । इन्जेक्शन मि. ग्रा. १५ प्र. सी. सी.	मुख पेशी	मि. ग्रा. ५ त्रि. प्र. दि. मि. ग्रा. १०—१५ प्र. बा.
(घ) जीवतिक्ति 'बी$_{१२}$' (Vit. B_{12})	पेशी	मा. ग्रा. २० ए० प्र. स.
(ङ) आमाशय सत्व (Ventriculin)	मुख	ड्रा. २—४ द्वि. प्र. दि.

विषमज्वर (M. F.) निरोधी औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
क्विवर्ना (Qninine sulph or hyd.)	मुख	ग्रे. ६ त्रि. प्र. दि.
	पेशी	६ ग्रे. २ सी. सी. परिस्रुत-जल मे मिला कर प्रतिबार
	सिरा	६ ग्रे. २० सी. सी. मधुदक (Glucose) के १२½ प्र. श. घोल में मिलाकर प्र.बा.
युक्विनीन (Euquinine) या एरिस्टोचिन (Aristochin) [यह क्वीनीन (Q.) का स्वाद-रहित योग है]	मुख	ग्रे. १० त्रि. प्र. दि.
अटेब्रिन, मेपाक्रिन या क्विनाक्रिन (Atebrin, Mepacrine-ICI, Quinacrine)	मुख	ग्रा. ०·१ त्रि. प्र. दि. पाँच दिन तक
स्फीतक्रिमि (Tapeworm) तथा उलूक मुख कृमि (Giardia) मे कार्य करती है।		

विषमज्वर (M. F.) निरोधी औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
अटेब्रिन या मेपाक्रिन मसोनेट (Atebrin or Mepacrine musonate)	पेशी	ग्रा. ०'१–०'३ प्रतिवार १० सी. सी. परिस्रुत जल में मिलाकर
पेल्यूड्रिन (Paludrine ICI)	मुख	ग्रा. ०'३ द्वि. प्र. दि. ५ दिन
गोली ग्रा. ०'०२५, ० १, ० ३	सिरा	ग्रा. ०.१ सी. सी. २ में
पामाक्विन (Pamaquin ICI प्लाज्माचिन (Plasmochin) प्लाज्मोक्विन (Plasmoquin)	मुख	ग्रा. ०'०१ द्वि. प्र. दि. सूचना :—ये औषधियाँ विषमज्वर की प्रतिषेधक (Prophy) हैं।
क्लोरोक्विन (Chloroquine) निवाक्विन (Nivaquine MB एवलोक्लोर (AvlochlorICI	मुख	प्रथम दिन ग्रा. ०'४५ से ०'६ ए. वा. तत्पश्चात दो दिन तक ०'१५से ०'३ ग्रा. ए. प्र. दि.।
सूचना :—निवाक्विन की प्रति गोली में ०'१५ ग्रा. क्लोरोक्विन रहती है। यकृत शोथ (Hepatitis)की चिकित्सा भी देखिए।	पेशी	तदुपरान्त ग्रा. ० १५ ए. प्र.स. सी. सी. ५ प्र. वा.
पेण्टाक्विन (Pentaquine)	मुख	ग्रे. ½ त्रि. प्र. दि.
कामाक्विन (Camoquin)	मुख	प्रथम दिन ग्रा. ०'३ द्वि.प्र.दि. तत्पश्चात् ३ दिन तक ग्रा. ०'१ द्वि. प्र. दि.
डाराप्रिम (Daraprim B.W.& co) गोली. मि. ग्रा. २५	,,	गो. २–४ प्र. दि. कर दो दिन
पामाक्वीन को (Pamaquin comp ICI) गोली ग्रा.० ०१क.नान के साथ है।	मुख	गो.१ त्रि.प्र.दि. १० दिन
पामाक्वीन तथा पेलूड्रीन (Paludrine and pamaquin ICI) गोली. ग्रा. ०'१	,,	गो. १ त्रि. प्र. दि. १० दिन

प्रतिविष-लसिकायें (Antitoxic sera)

औषधि	मार्ग	मात्रा
रोहिणी निरोधी लसिका (Anti-diphtheric serum)	पेशी	चिकित्सार्थ :–८,०००–२०,००० अ. इ. (I.U.) द्वि० प्र० दि० प्रतिषेधार्थ (Prophy) :— ५००–२००० अ. इ.
धनुर्वात निरोधी लसिका (Anti-tetanic serum)	,, या सिरा	चिकित्सार्थ :–१ लक्ष अ. इ. एक बार । आ. अ. एक सप्ताह के अन्दर पुनः प्रयोग कर सकते है ! प्रतिषेधार्थ :—३००० अं. इ.
वातकर्दम निरोधी लसिका (Anti-gas gangrene)	पेशी	चिकित्सार्थ :–३०,००० अ.इ.प्र.बा. प्रतिषेधार्थ :—१०,००० अं. इ.
सर्पविष निरोधी लसिका (Snake bite serum)	,, या सिरा	चिकित्सार्थ १०० सी. सी. आ. अ. औषधि की मात्रा बढ़ा सकते हैं ।
वृश्चिकविष निरोधी लसिका (Scorpion bite)	पेशी	चिकित्सार्थ :–४ सी. सी. प्र० बा०
कसौली की सर्पविष निरोधी लसिका (Antivenene)	सिरा	चिकित्सार्थ १०–२० सी. सी. प्र० बा०। नाग दंश(Cobra bite) तथा दबोया (Russell's Viper) में प्रयोग करते है ।

कुष्ठ (Leprosy) की औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
प्रोमीन (Promin)	सिरा	ग्रा. १–५ प. ज. १० सी. सी. मे घोलकर प्र. दि.
डायसोन (Diasone) प्रोमीजोल (Promizole) डायमिडीन(Diamidin)	मुख	ग्रे. ५ प्र. गो. त्रि. प्र. दि.
सल्फेट्रोन (Sulphetrone)	मुख पेशी (I.M.)	ग्रा. १–३ प्र. दि. २०–५० प्र. श. घोल का १–३ सी. सी. द्वि. प्र. स.
ई. सी. सी. ओ. (E C C O)	अधस्त्वक् (S. C.)	३–५ सी. सी. द्वि. प्र. स.
मूगरोल (Moogrol)	पेशी (I.M.)	१–६ सी. सी. ए. प्र. स.
पोटास एण्टीमनी टार्ट (Pot:antimony tart:) सूचना :—यह कुष्ठ प्रतिक्रिया (Lepra reaction) में प्रयोग की जाती है।	सिरा	१ प्र. श. घोल का १–२ सी. सी. त्रि. प्र. स.
नोवोट्रोन (Novotrone. BCPW)	मुख पेशी	गो. (ग्रे. ७½) ३–१२ प्र. दि. ५० प्र. श घोल सी. सी. ३–४ द्वि. प्र. स.

मानसिक रोगों (Mental diseases) की औषधियाँ

[निम्न औषधियाँ उद्वेष्टन (Convulsions) उत्पन्न करने के लिए प्रयोग की जाती हैं ।]

औषधि	मार्ग	मात्रा
इन्सूलीन (Insulin)	अधस्त्वक् (S. C.)	सर्वप्रथम २० अं.इ. तत्पश्चात् आ. अ.प्र.दि. मात्रा बढ़ाना चाहिए ।
लेप्टाजोल (Leptazol)	सिरा	१० प्र.श. घोल का १-५ सी.सी.।
पिक्रोटौक्सिन (Picrotoxin)	पेशी या सिरा	०·२ प्र. श. घोल का ग्रे. १/१००–१/२०

सूचना :—लेप्टाजोल या पिक्रोटौक्सिन, इन्सूलीन (Insulin) द्वारा रोगी के अचेत हो जाने पर प्रयोग की जाती है ।

यकृत (Liver) के रोगों की औषधियाँ

औषधि	प्रयोग	मात्रा
इमेटीन (Emetine) यह औषधि कुपीलुसत्व (Strychnine) ग्रे. १/२० के साथ प्रयोग करना चाहिये ।	विशिष्ट यकृत विद्रधि (E. H. Liver abscess)	पेशी ग्रे. १/२–१ प्र. दि. १० दि. पर्यन्त
क्लोरोक्विन (Chloroqin, nivaquin avlochlor 'ICI') गोली मि.ग्रा. ०'२५	"	मुख—प्रथम दो दिन ग्रा. ०'६ प्र. दि. तत्पश्चात् १५ दिन पर्यन्त ग्रा. ०'३ प्र. दि. ।
मेथिओनीन (Methionine)	यकृत विकृति	मुख—ग्रा. १/२–२ प्र. दि.
कोलीन (Choline)	"	मुख—ग्रा. ६ प्र. दि.
प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट (Protein hydrolysate)	"	सिरा—२००–४०० सी.सी. प्रतिबार
निवेम्बीन (Nivembin M.B.) क्लोरोक्वीन तथा डाइग्राइडो हाइड्रो क्वीनोलीन	यकृत विकृति तथा आम प्रवाहिका	मुख—गो. १–३ प्र. दि. भो. प.
हेक्सामीन (Hexamine) ४० प्र. श.	पित्त मार्ग की जीवाणु नाशक (Biliary antiseptic) है ।	सिरा—५–१० सी.सी.

साइलोट्रोपीन (Cylotropine, hexamine & caffeine)	पित्त मार्ग के उपसर्ग	सिरा—१ एम्प्यूल
आइनोसिटौल (Inositol)	अनिश्चित है	जीवतिक्ति (Vit: B. Complex) का भाग है। वसानाशक (Lipotropic) है। वसाअपजनन (Fatty liver) में देना चाहिये।
लाइपोकेक (Lipocaic)	"	यह वसानाशक पदार्थ अग्न्याशय (Pancreas) तथा यकृत में मिलता है। वसाअपजनन (Fatty liver) में प्रयोग कर सकते है।
फेलामीन (Felamine 'Sz') गोली ग्रा. ०'५	पित्तमार्गकी जीवाणु नाशक	मुख—गो. १–२ त्रि. प्र. दि.
डेलफिकौल (Delphicol 'Le' methionine)	यकृद्दाल्यूत्कर्ष में	मुख—च. २–४ त्रि. प्र. दि.
इन्ट्राहेप्टौल (Intraheptol 'Le' liver ext:)	यकृत शोथ	सिरा–सी.सी. १/२–१० । प्रति मात्रा समबल लवण जल (N.Saline) सी. सी. २०–५० में मिलाकर दें। औषधि की मात्रा शनैः शनैः बढ़ायें। प्रथम दिन सी. सी. ०'१ दें। प्रतिक्रिया न होने पर आगे दें।

कालाज्वर (K. A.) की औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
यूरिया स्टिबसीन (Urea-stibamine) सूचना :—द्वि. प्र. स. इन्जेक्शन दे। चिकित्सा की सम्पूर्ण अवधि में ३ ग्रा. औषधि की आवश्यकता पड़ती है।	सिरा	०·०२५ ग्रा. ½ सी. सी. प. ज. में ०·०५ग्रा.१सी.सी.'' ०·१ ग्रा. २ सी.सी.'' ०·१५ ग्रा.३सी.सी.'' ०·२ ग्रा. ४ सी.सी.''
नेयो-स्टीबोसन (Neo stibosan) सूचना :—द्वि. प्र. सप्ताह या ए. प्र. दि. इन्जेक्शन करें। सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम में ३·३ ग्रा. औषधि की आवश्यकता पड़ती है।	पेशी या सिरा	०·०५ ग्रा. १सी.सी'' ०·१ '' २ '' '' ०·२ '' ३ '' '' ०·३ '' ४ '' ''
सोलुस्टीबोसन (Solustibosan) सूचना :—सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम मे ६० सी. सी. आवश्यक है।	पेशी	६—८ सी. सी. प्र. दि. या द्वि. प्र. स.
स्टिबेटिन (Stibetin Go stibanate 'GL' myostibine E.I.)	''	''
स्टिलबामिडीन (Stilbamidine M. & B. 744) सूचना:—इस अजन रहित (Non-antimony) औषधि की सम्पूर्ण चिकित्सा क्रम में २·५ ग्रा. की आवश्यकता है।	पेशी या सिरा	०·०५ से ०·२ ग्रा. १० सी. सी. प. ज. में मिलाकर १० दिन तक प्र. दि. प्रयोग करें। मि. ग्रा. ३ प्र. से भा. प्र. दि.
पेन्टामिडीन (Pentamidine)	''	''

यकृत के रोगों में प्रयोग की जाने वाली औषधियाँ

औषधि	मात्रा	प्रयोग
लिट्रिसौन (Litrison 'Re' aminoacids, Vit: E, B_{12}, folic acid, Vit: B complex)	गो. ३ त्रि.प्र.दि. भो.प.	यकृद्दालूत्कर्ष (Cirrhosis) तथा अत्यधिक आहार से यकृत विकृत होने से बचाता है। यकृत शोथ (Hepatitis) उपसर्ग (Ifn:), विपाक्तता में प्रयोग की जाती है।
गामाग्लोब्यूलिन (Gamma globulin)	१० सी.सी.पेशी मार्ग से	औपसर्गिक यकृत शोथ (Infective hepatitis)
सम्पूर्ण यकृत सत्व (Crude liver: ext:)	पेशी से सी. सी. २–४ प्र. वा.	औपसर्गिक यकृत शोथ (Infective hepatitis)
अमाइना एसिड्स (Aminoacids methionine, choline cystine, milk casein, protein hydrolysate Ex:–parenamine, amigen M. J.)	ग्रे. ३० चा. प्र. दि. मुख द्वारा	ये वसानाशक (Lipotropic) है तथा तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) से बचाती है। जीवतिक्ति 'बी' (Vit: B.) साथ देने से प्रभाव की वृद्धि होती है। विशेषकर संखिया (As), कार्बन टेट्राक्लोर (Carbon tetrachlor) आदि की विषमयता मे।

अन्य स्थानों से पूर्व-पीयूषग्रंथि सत्व के समान स्त्री-प्रजनन सम्बन्धी अन्तःस्राव (Female sex hormones) की उत्पत्ति

उत्पत्ति	योग	प्रयोग	मात्रा (पेशी मार्गसे)
पूर्व पीयूष ग्रन्थि (Ant:pituitary) से ।	गोनैडोट्रफौन (Gonadotraphon 'P.B.'), प्रीलोबैन (Preloban 'Br'), एमबीनौन (Ambinon 'OL'), ग्लैनडुआन्टिन (Glanduantin 'Br')	एमबिश्रौन का तेल में योग सी. सी. १० मिलता है। प्रीलोबैन तथा गोनैडोट्रोफौन भस्म हैं।	अव्यवहारिक हैं।
गर्भवती स्त्री के मूत्र से।	एनटयूट्रिन एस (Antuitrin 'S' P.D), प्रेगनिल (Pregnyl 'OL'), प्रोलैन (Prolan 'Br.') फाइसोस्टैब (Physostab 'Bo'), गोनैन (Gonan, 'BDH')	(१) पुरुष में :—वृपण ग्रन्थि के वृपण में न पहुँचने पर, अन्तःस्राव विकृतिजन्य स्थूलता, शुक्र की कमी। (२) दोनों लिंग में :—पीयूप ग्रन्थि के स्राव मे कमी, आमाशय की अपुष्टि, सिमन्ड का रोग, मुहासे अवटुका ग्रन्थि के स्राव में कमी आदि में।	१००–५००. इ.प्र. बार कर ए.द्वि. या त्रि. प्र. स,
गर्भवती घोड़ी की लसिका (Serum) से।	सेरोगान(Serogan 'BDH') ल्यूटिओआन्टीन (Luteoantin Br), एन्टोस्टैब (Antostab Bo'), गोनाडिल (Gonadyl 'RL'), जेओलिल (Geolyl 'OL')	नष्टातव मे (Amenorrhoea), ओएस्ट्रोजेन (Oestrogen) द्वारा रक्तश्राव प्रारम्भ हो जाने पर।	५०० इ.प्र. बार

भारतीय आहार के प्रधान तत्वों की मात्रायें

[शेरिंग कम्पनी (Schering corporation Bloomfield New Jorsy U. S. A) के भारतीय संग्रह के आधार पर]

पदार्थ	प्रतिशत %						प्रति. १०० ग्राम	जावतिक्ति (Vitamin)					
	प्रोटीन	वसा	कार्बोहाइड्रेट	कैलसियम	फौसफोरस	लौह	कैलोरी	'ए' अ. इ.	बी$_1$ अं. इ.	बी$_2$ मि ग्रा.	बी$_3$ मि.ग्रा.	बी$_6$ मि.ग्रा.	सी. मि.ग्रा.
अरारोट	०'२	०'०६	८३	०'०१	०'०२	१'०	३३४	—	—	—	—	—	—
बाजरा	१२'५	५'०	६७'०	०'०५	०'३५	८'०	३६०	२००	११४	—	३'०	—	—
जौ	११'५	१'५	७०'०	०'०२५	०'२३	४'०	३३५	—	१३५	—	—	—	—
मक्का	४'५	०'५	१५'२	०'००५	०'१०	०'७	८२'५	४२	३६	०'०५	—	—	३'५
मखाना	१०'०	०'२	७७'०	०'०२	०'१०	१'५	३४८	—	—	—	—	—	—
जई	१३'५	७'५	६३'०	०'५	०'४	४	३७५	—	१६२	—	२'०	—	—
कच्चा चावल (कूटा हुआ)	८'५	०'५	७८'०	०'०१	०'१७	२०	३५०	—	१००	—	—	—	—

पदार्थ	प्रोटीन	वसा	कार्बोहाइड्रेट	कैलसियम	फौसफोरस	लौह	कैलोरी	'ए' अं. इ.	बी$_1$ अ. इ.	बी$_2$ मि.ग्रा.	बी$_1$ मि.ग्रा.	बी$_6$ मि.ग्रा.	सी. मि.ग्रा.
चावल (उबाला हुआ)	६'५	०'७	७९'०	०'०१	०'१५	२'०	३४८	०	२६	—	—	—	—
साबूदाना	०'५	०'२	८७'०	०'०२	०'०१	१'३	३५१	०	३	—	—	—	—
सिंघाड़ा (बड़ा)	१३'५	१'०	६६'०	०'१	०'५	२'५	३३७	—	१३५	०'१	२'७	१'१	—
गेहूँ	१२'०	१'५	७२'०	०'०५	०'५	५ ५	३४५	१०८	२३०	—	—	—	—
गेहूँ का आटा (छाना हुआ)	१३'०	११'०	७४ ०	०'०२	०'१	१'०	३४९	—	१२६	—	१'२	—	—
चना	१७'०	५'५	६२'०	०'२	०'२	१०'०	३६१	२१६	३३	—	—	—	—
मसूर	२८'५	०'५	६०'०	०'१३	०'२५	२'०	३४५	४५०	१२१	०'५	१'५	—	—
मटर	२०'०	१ ५	५७'०	०'१	०'३	४'५	३१५	—	१५०	—	—	—	—
अरहर की दाल	२३'०	२'०	५७'४	०'१५	०'३	९'०	३४२	२२०	११४	०'५	५'५	१'०	—
सोआबीन	४४'०	२०'०	२१'०	०'३	०'७	११'५	४३२	७१०	२१९	—	२'५	१'०	—

लाल साग (चौलाई)	५'०	०'५	६'०	०'५	०'१	२१'०	४७	२५००	९	०'०५	०'९	—	१७३
बन्दगोभी	२'०	०'१	७'०	०'०३	०'०४	०'४	३४	२००	१८	०'०५	०'४	०'२९	१२५
पालक	२'०	१'०	४'०	०'१	०'०१	५'०	३२	३०००	१५	०'१	०'५	—	४८
गाजर	१०	०'१	११'०	०'१	०'०३	२'०	४७	२०२०	१२	०'०३	०'४	०'१५	२'५
आलू	२'०	०'१५	२३'०	०'००४	०'०३	१'०	९९	४०	३६	०'१	०'५	०'२	१७
मूली	१'०	८'०	०'०५	०'०२	०'५	३५	३	६०	—	—	—	—	—
सकरकन्द	१'३	०'३	३१'०४	०'०१	०'०५	०'८	१२१	१०	२४	०'०४	०'८	—	२४'०
करेला	२'०	०'१	४'२	०'०३	०'१	२'२	२५	२१०	२४	०'०९	०'५	—	८८
बैंगन	१'५	०'५	६'५	०'०३	०'०७	१'५	३३	५	१५	—	०'०४	०'८	८८
सेम	४'५	०'१	१०'०	०'०५	०'०६	१'७	५९	—	२४	०'०५	०'८	—	११'२
लौकी	०'२	०'१५	३'०	०'०२	०'००३	०'७	१४	—	१९	—	—	—	—
गोभी (फूल)	३'५	०'५	५'३	०'०४	०'०७	१'२	३९	३८	३०	१'०	०'५	—	६६

पदार्थ	प्रोटीन	वसा	कार्बोहाइड्रेट	कैलसियम	फौसफोरस	लौह	कैलोरी	'ए' अं.इ.	बी१ अं. इ	बी२ मि.ग्रा	बी३ मि.ग्रा.	बी६ मि.ग्रा.	सी. मि.ग्रा.
खीरा	०·५	०·१	३·०	०·२०	०·१५	२·०	१३	—	६	—	०·२	—	६
कटहल (बीज)	७·०	०·४	३८·५	०·०५	०·१४	०·१६	१८४	—	—	—	—	—	—
भिण्डी	२·२	०·२	८·०	०·१	०·०८	१·६	४२	५८	१८	—	०·६	—	१५·६
कच्चा आम	२·५	०·७	३२·०	०·०१	०·१	१·२०	१४५	—	—	—	—	—	—
प्याज़	१·१	०·२५	८·८	०·०२	०·१	१ ५	११०	१३६	७५	—	१·०	—	६·५
अंग्रेजी मटर	८·०	०·१५	६·२	०·०३	०·७	१ २५	३७·०	—	—	—	—	—	—
केला कच्चा	१·५	०·२५	१५·०	—	०·२५	१ ०	६७	५०	१२	—	—	—	२४
काशीफल	१·५	० १	४·५	०·०१	०·०५	१·०	२८	८४	१८	—	१·०	—	२
तोरई	०·५	०·१५	४·०	०·०५	०·०५	—	१८	५८	२०	—	—	—	—
सिंघाड़ा (छोटा)	५·०	०·३	२४	०·०३	०·२	१·०	११८	२०	—	—	—	—	—

टमाटर	१'०२	१'०	४'०	०'०१	०'०२	०'०१	२१	३२०	१५	०'०५	०'५	—	३२
शलजम	०'५	०'२५	७'६	०'०३	०'३६	०'५	३५	—	१२	०'०५	०'५	—	४४
बादाम	२०'८	५८'०	१०'५	०'३	०'५	३'५	६५५	—	६६	—	२'५	—	—
काजू	२१'२	४७'०	२२'३	०'०५	०'५	५'०	६००	१००	१८६	—	२'१	—	—
नारियल	४'५	४२'०	१३'२	०'०१	०'३	१'८	४४५	—	३३	—	१'०	—	०'८
मूँगफली	२७'०	४०'१	२०'३	०'०४	०'४	१'६	५५०	६३	२२४	—	१४'१	—	—
सेव	०'४	०'१	१४'०	०'०२	०'०२	२'०	५५	—	१२	—	०'२	—	२
केला (पक्का बम्बई)	१'४	०'२	३७	०'००२	०'०४	०'५	१४८	—	१४	—	०'३	—	१
छुहारा	३'०	०'२	६८	०'१०	०'१	११'०	२८३	६००	२४	—	१'०	—	—
अंजीर	१'४	०'३	१८	०'०५	०'०२	१'२	७६	—	—	—	—	—	२'४
अंगूर	१'०	०'१	१०'२	०'०३	०'०२	०'५	४५	१५	—	—	—	—	२'५
अमरूद	१'०	०'१	१५'०	०'०२	०'०४	१'०	६६	१००	६	०'०४	०'२	—	२१६

पदार्थ	प्रोटीन	वसा	कार्बोहाइड्रेट	कैलसियम	फौसफोरस	लौह	कैलोरी	'ए' अं. इ.	बी$_{१}$ अ. इ.	बी$_{२}$ मि.ग्रा.	बी$_{३}$ मि.ग्रा.	बी$_{६}$ मि.ग्रा.	सी. मि.ग्रा.
कटहर का फल	२.०	०.१	२०.०	०.०२	०.०२	०.५	८०	५४०	९	०.३	—	—	—
कागजी नीबू	१.०	१.०	११.३	०.१	०.०२	२.४	५७	—	६	—	०.१	—	३९
जमीरी नीबू	१.५	१.०	११.०	०.१	०.०२	०.३	५३	१२०	६	—	—	—	६२
पका आम	०.७०	०.१	१३.०	०.०१	०.०१	०.२	५०	४८००	१२	०.०५	०.४	—	—
तरबूज	०.१	०.१५	४.०	०.०१	०.०१	०.२	१७	—	६	—	०.२	—	१.०
सन्तरा	१.०	०.५	११.०	०.०५	०.०३	०.१	४४	३५०	०.०५	—	—	—	६८
पपीता	०.५	०.०३	१०.०	०.१५	०.०१	०.५	४०	२०२०	—	—	—	—	१.१
आड़ू	१.५	०.२०	८.०	१०.१	०.०३	०.७	३८	—	—	—	—	—	—
नाशपाती	०.२	०.०५	१२.०	०.०१	०.०२	०.७	४८	१४	—	—	—	—	१.१
अनानास	०.६	०.०४	१२.०	०.०२	०.०१	१.०	५१	६८	—	—	—	—	६३
केला (चिनिया)	१.१	०.०८	२५.०	०.०१	०.०४	०.५	१०४	१२४	—	—	—	—	५.५

अनार	२'०	०'०५	१५'०	०'०१	०'०१	०'३	६५	—	—	—	—	—	१६'०
मुर्गी का अण्डा	१३'५	१३'५	—	०'०२	०'३	२'०	१७३	१२३३	४२	—	—	—	—
मछली	२३'०	०'०६	—	०'०५	०'२	१०	११०	११८७	१३६	—	—	—	—
कलेजी	२००	७'५	१'५	०.००६	०'४	६'५	१५०	२२३०८	—	१०८	—	—	—
बकरी का गोश्त	१९'०	१३'५	—	०'१५	०'२	२'५	१९४	३१	—	१४४	—	—	—
गायका दूध	३'२०	४'०	५'०	०'१२	०'१	०'२	६७	१८०	—	१२	—	—	—
भैंस का दूध	४'७५	८'०	४'५	०'२०	०'१५	—	१०६	१५२	—	१२	—	—	—
बकरी का दूध	३'६०	४'०	५'५	०'१२	०'१०	—	७२	१८२	—	—	—	—	—
माता का दूध	१'१८	४'०	७'२	०'०३	०'०१	—	६८	२०८	—	—	—	—	—
मट्ठा	१'०	१'१	१'५	०'०३	०'०३	०'८	१६	—	—	—	—	—	—
दही	३'०	३'०	५'३	०'१२	०'१	०'५	६०	—	—	—	—	—	—
मक्खन निकाला हुआ दुध (चूर्ण)	३८'०	०'१	५१'०	१'४	१'०	१'५	३५७	—	—	६६	—	१० ५३	—
पनीर	२४'०	२५'०	६'५	०'८	०'५	२'१	३४८	२७३	—	—	—	—	—

चेतनानाश (Unconsciousness) का सांक्षेप निदान

लक्षण	मद्यपान	अफीम	मूत्रविषमयता (Uraemia)	मधुमेह जन्य सन्यास (Diabetic coma)	मस्तिष्कीय रक्तस्राव (Apoplexy)	मस्तिष्कीय स्तब्धता (Concussion)	मस्तिष्क का सपीडन (Compression)	अपस्मार, मिरगी (Epilepsy)
प्रारम्भ	शनैःशनै	शनैः शनैः	अनिश्चित	अकस्मात	अकस्मात	अकस्मात	शनैः शनैः	अकस्मात
मूर्च्छा की गम्भीरता	+	+++	+++	++	+++	+	+++	+++
ताप (Temp)	---	--	--	--	±	--	±	++
कनीनिकायें (Pupils)	बड़ी, नेत्र रक्तवर्ण	छोटी	±	बड़ी	बड़ी, गतिहीन	प्राकृत	बड़ी, गतिहीन, असम	±
प्रतिक्षेप (Reflex)	+	+	±	±	—	+	–	++
नाड़ी :—								
क–गति	तीव्र	मन्द	±	मन्द	मन्द	मन्द	मन्द	मन्द
ख–विस्फार (Vol) तथा तनाव (Tension)	++	—	+++	±	++	–	++	++

श्वसन	गम्भीर, शब्दयुक्त (Stertor) मद्य की गंध	अफीम की गन्ध मंद, शब्द युक्त अनि-यमित	चेन-स्टोक श्वसन दुर्गन्धित	तीव्र	मंद, शब्द युक्त	मन्द, उत्तान अनियमित	मंद, गंभीर शब्द युक्त	शब्दयुक्त
मूत्र	—	अनियंत्रित	शुक्लि (Alb:)	एसिटोन (Acetone) तथा शर्करा	अनि-यंत्रित	अनियंत्रित	अनियंत्रित	अनियंत्रित
मल	—	कब्ज	—	—	,,	,,	,,	,,
पेशि	प्रकम्प	शिथिल	आक्षेप	शिथिल	अर्धाङ्ग-घात	अस्थायी अङ्गघात	अङ्गघात	शिथिल
अन्य	लाल चेहरा	—	दुर्गंन्ध	—	चेहरा नीला, नेत्र घूमे हुए	—	—	चेहरा नीला

मस्तिष्कगत रक्त-वाहिनियों की विकृतियों (Cerebral-vascular accidents) का सापेक्ष निदान

लक्षण	घनास्रता (Thrombosis)	रक्तस्राव (Haemorrhage)	अन्तःशल्यता (Embolism)
आयु	मध्यावस्था के पश्चात्	प्रौढ़ावस्था	प्रत्येक आयु में
प्रारम्भ पक्षाघात (Hemiplegia)	शीघ्रता से साधारण या सम्पूर्ण	अकस्मात् संपूर्ण	अकस्मात् साधारण या सम्पूर्ण
कारण	धमनीजरठता (Arteriosclerosis)	उच्चरक्त निपीड़ (B. P.)	हृद्रोग
शिर में पीड़ा	+ या ±	+++	±
मूर्छा	––से+++	+++	––से+++
ब्रह्मवारि (C.S. fluid) में			
(क) रक्त	–	++	±
(ख) निपीड़ (Pressure)	±	++	±
मृत्यु	±	++	++
आक्षेप (Convulsions)	––	±	++
घटना का समय	विश्राम	परिश्रम	किसी समय

फिरङ्ग (Syphilis) की अवस्थाओं का निदान

अवस्था	प्रकृति	विकृति	उपसर्ग के पश्चात्	चक्राणु (Spirochetes,	रोग के लक्षण	रक्त की परीक्षायें	मस्तिष्कावारि (C.S.fluid) की परीक्षायें
प्रथम	स्पष्ट अवस्था	कठिन व्रण (Hard chancre)	१५–२० दिन	+	+	—	—
	सुप्त (Latent) अवस्था	,,	३०–४५ दिन	+	+	+	—
द्वितीय	स्पष्ट अवस्था	विस्फोट (Rash) आदि द्वितीय अवस्था के लक्षण	२ मास से २ वर्ष पर्यन्त	±	+ + +	+ + +	+
	सुप्ता-वस्था	प्रायः लक्षणों का अभाव अथवा अस्पष्ट लक्षण	२ वर्ष से ४ वर्ष पर्यन्त	—	—	+ +	—
तृतीय	स्पष्ट अवस्था	अस्थि, हृदय तथा अन्य अवयवों में गोदार्बुद (Gumma) के स्पष्ट लक्षण	४ वर्ष से १२ वर्ष पर्यन्त	—	+	±	—
चतुर्थ	सुप्ता-वस्था	प्रायः लक्षणहीन	२–२५ वर्ष बाद	—	—	±	+
	स्पष्ट अवस्था	मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), फिरङ्गी खञ्जता, (Tabes dorsalis), सार्वदैहिक फिरङ्गज सर्वाङ्गवात (G.P.I.) अङ्गघात (Paralysis) आदि	,,	—	+	±	+

हृदय की अनियमितताओं (Irregularities) की औषधियाँ
(क) शीघ्रहृदयता (Tachycardia) में

अनियमितता	क्वीनीडीन (Quinidine)	डिजिटेलिस (Digitalis)	प्रोकेन अमाइड (Procaine-amide)	मैगसल्फ (Mag: sulph)	पोटास (K.acetate, chloride)	अन्य
अतिरिक्त संकोच (Ex : Systole)	++	—	+	—	+	फेनोबारबिटोन (Phn)
प्रावेगिक शीघ्रहृदयता Paroxysmal tachycardia)						
(अ) अलिंदीय (Auricular)						
(क) आवेग के समय	++	++	+	+		प्रोस्टिगमीन, कार्बोकोल, एसेटिलकोलीन, कैलसियम आदि फेनोबारबिटोन, एमिटल
(ख) आवेग के पश्चात्	++	++				
(आ.) निलयीय (Ventricular)						
(क) आवेग के समय	++	---	+	+	+	मौरफीन
(ख) आवेग के पश्चात्	++	—	+			
अलिंदीय तन्तुप्रकम्प (A.Fib)	+	+				
अलिंदीय विस्फुरण (A: Flutter)	+	+				

(ख) मन्दहृदयता (Bradycardia) में

अनियमितता	एड्रीनलीन (Adrenaline)	इफेड्रिन (Ephedrine)	एट्रोपीन (Atropine)	अमीनो फायलीन(Aminophylline)	पापावेरीन (Papaverine)	बेरियमक्लोराइड (Barium chloride)
सिरा-अलिद संरूप (S. A. Syndrome)	+	+	+	+	+	+
हृत्स्तम्भ (Ht : block)			+			

सन्धिशोथ का सापेक्ष निदान (D. D. of arthritis)

लक्षण	वातरक्त (Gout)	आमवाताभ (Rheumatoid)	संध्यास्थिशोथ (Osteoarthitis)	पूयज (Septic) तीव्र	पूयज (Septic) जीर्ण
लिंग	पुरुष	स्त्री	दोनों	दोनों	दोनों
पारिवारिक इतिहास	+	+	+	—	—
आयु	३० वर्ष से अधिक	२५–५० वर्ष	३५ वर्ष से अधिक	किसी	किसी
ज्वर	+	+	—	+	±
रक्तावसादन गति (ESR)	+	+	—	+	+
रक्त में यूरिक एसिड (Uric acid)	+	—	—	—	—
रोगारम्भ	अकस्मात	शनैः शनैः	शनैः शनैः	अकस्मात	शनैः शनैः
रक्त में श्वेतकणों (WBC) की वृद्धि	±	±	—	+	±
रक्ताल्पता	?	+	?	—	+
स्वास्थ्य	अच्छा	दुर्बल	अच्छा	प्राकृत	दुर्बल

विकृत संधि	कोई। एक या अनेक। विशेषकर पैर के अँगूठे की	कोई। अनेक। प्रायः दोनों पार्श्व की समान संधियाँ। विशेषकर हाथ की अँगुलियों में	प्रायः अनेक। विशेषकर हाथ की अँगुलियों की	कोई। प्रायः एक	कोई। प्रायः एक
व्यङ्गता (Deformity)	+	+	—	+	+
पेशी की गतिहीनता (Ankylosis)	—	+	—	+	+
पेशियों का शोष (Atrophy)	+	+	—	±	+
सन्धि के चारों ओर शोफ (Oedema)	+	+	—	+	+
सन्धिमें पूय (Pus), जीवाणु	—	—	—	+	+

स्फीत कृमि (Tapeworm) के परिवार का जीवन चक्र

कृमि	प्राप्ति स्थान	लंबाई	मल-परीक्षा: खण्ड	मल-परीक्षा: अंडा	देश	कृमि का निवास
टीनिया साजिनेटा (T. Saginata)	गोवंश (कोष्ठ)	१२ से ३० फीट	++	±	भारत	मनुष्य
टीनिया सोलियम (Taenia solium)	सूअर (कोष्ठ)	६ से २० फीट	++	±	,,	मनुष्य
डाइफिलोबौथियम लेटम (Diphylobothrium latum)	(१) क्रसटेसिया (Crustacea) (२) मछली	३० फिट	--	++	जापान	मनुष्य कुत्ता
डाइफिलिडियम केनियम (Dipylidium canium)	कुत्ते की जू	१५–४० से.मी.	++	±	योरप	कुत्ता
हाइमेनोलेपिस नाना (Hymenolepis nana)	—	५–४५ मि. मी.	--	++	भारत	मनुष्य
हाइमेनोलेपिस डिमिन्यूटा (H. diminuta)	चूहे का पिस्सू	२०–६० मि. मी.	--	++	इटली	चूहा
टीनिया एकाइनोकोकस (T. ecchinococcus)	मनुष्य, भेड़, सूअर (अण्डे)	२·५–६ मि. मी.	+ (कुत्ते में)	++ (कुत्ते में)	औस्ट्रेलिया	कुत्ता भेड़िया

अपस्मार (Epilepsy) में प्रयोग की जाने वाली औषधियाँ

रोग	औषधि	मार्ग	मात्रा
लघु अपस्मार (Petit mal)	एमफेटामीन सल्फ (Amphetamine sulph)	मुख	मि० ग्रा० ५–१० द्वि० या त्रि० प्र० दि०
	ग्लूटामिक एसिड (Glutamic acid)	,,	ग्रा० ३ त्रि० प्र० दि०
	ट्रिडियोन (Tridione, paradione)	,,	ग्रे० २–१० त्रि० प्र० दि०
गुरु अपस्मार (Grand mal)	डायलेन्टीन (Sodi:dilantin)	,,	ग्रे० १½–७½ ए० प्र० दि० रात्रि में भो० प० या ग्रे० ½–२½ त्रि० प्र० दि०
	मिसेन्टोइन (Mesantoin)	,,	ग्रे. २–५ त्रि. प्र. दि
अपस्मारिक अवस्था (Status epilepticus)	परालडिहाइड (Paraldehyde)	पेशी	सी. सी. ६–१० प्र. बा.
		सिरा	सी.सी. १–२ प्र. बा. समबल लवणघोल (N.Saline) ५सी.सी.मे मिला कर दें।
	डायलेन्टीन (Dilantin)	मुख	ग्रे. १½ प्र. चा. घं. । संपूर्ण चिकित्सा क्रम में ग्रे १५ से अधिक न दें ।
अपस्मारिक समानतायें (Epileptic equivalents)	डायेलेन्टीन (Dilantin)	,,	ग्रे. १½–७½ ए. प्र.दि. रात्रि में भो.प. या ग्रे. ½–२½ त्रि. प्र. दि. भो. प.
	फेन्यूरोन (Phenurone)	,,	ग्रे. ३–१६ चा. प्र. दि. । विषाक्त है
	मिसेन्टोइन (Mesantoin)	,,	ग्रे. २–५ त्रि. प्र. दि.

आसवात (Rheumatism) की औषधियाँ

औषधि	अवस्था	मात्रा
सोडी सैलिसिलस (Sodi:salicylas)	बालक	ग्रे० ३–१० प्र० ४ घं०
	युवा	ग्रे० १०–३० प्र० ४ घं०
ऐसपिरीन (Aspirin)	युवा	ग्रे० १०–१५ प्र० ४ घं०
सैलिसीन (Salicin)	”	ग्रे० १०–२० प्र० ४ घं०
कैलसियम सैलिसिलेट (Cal:sal:sol)	”	ग्रे० १५ प्र० ४ घं०
क्वीनीन सैलिसिलेट (Q. salicylate)	”	ग्रे० ५–१० त्रि०प्र०दि०
	बालक	ग्रे० ५ त्रि०प्र०दि०
बूटाजोलीडीन (Butazolidin Gy)	युवा	ग्रे० ३ प्र० २ घं०
पिरामिडौन (Pyramidon, amidopyrin)	”	ग्रे० ३–१२ प्र० ४ घं०
फेनिलबूटाजोन (Phenylbutazone 'A.D')	”	गो० १ त्रि० प्र०दि०
कौरटीसोन (Cortisone)	”	प्रथम दिन मि० ग्रा० १०० त्रि० प्र० दि० द्वितीय दिन मि०ग्रा० ७५ त्रि० प्र० दि० तत्पश्चात् मि० ग्रा० २० त्रि० प्र० दि०
एसीटीएच (Acth)	”	पेशीमार्ग (I. M.) २०–४० अ० यू० द्वि० प्र० दि०

लौह (Iron) के योग

औषधि	मार्ग	मात्रा
लौह (Saccharated iron oxide)	सिरा	१००–२०० मि. ग्रा. प्र. दि. कर १० दिन या १ प्र. श. का १० सी. सी. या २ प्र. श. का ५ सी. सी. घोल प्र. दि.
न्योफेरम (Neoıerrum)	,,	२ प्र. श. का ५ सी. सी. प्रतिबार
फेरीवेनिन (Ferrivenin Benger, ivıron Sch)	,,	२ प्र. श. घोल का १० सी. सी. द्वि. प्र. स.
फेरस सल्फ (Ferrous sulph, fersolate Go)	मुख	ग्रे. ३–५ त्रि. प्र. दि.
फेरी एट एमोन साइट्रस (Ferri et ammon cit:)	,,	ग्रे. १५–३० त्रि. प्र. दि। ३–६ मास की आयु में १½–३ ग्रे. त्रि. प्र. दि। ६–१२ मास की आयु में ग्रे ३–१० त्रि. प्र. दि.

रक्ताल्पता में प्रयोग की जानेवाली औषधियाँ

औषधि	मार्ग	मात्रा
फेरस कार्ब (Ferrous carb)	मुख	ग्रे. ७½–१५ त्रि. प्र. दि.
फेरस ग्लूकोनेट (Ferrous-gluco-nete, ferrocol)	”	ग्रे. ३–५ त्रि. प्र. दि.
फेरस सल्फ का शर्बत (यो. ३६)	”	शिशु को च. ½–१ (ग्रे. १–१½) त्रि. प्र. दि.
कोलीरौन (Colliron Evans)	सिरा	प्रथम दिन २'५ सी. सी., द्वितीय दिन ५ सी. सी., तृतीय दिन १० सी. सी., तत्पश्चात् १० सी. सी., द्वि. प्र. स.
लेक्सट्रौन (Lextron 'Ly' Fe, liver & St. ext :)	मुख	१ कै. त्रि. प्र. दि.

घातक (Malignant) रोगों में प्रयोग की जाने वाली ओषधियों का प्रभाव

रोग	क्ष-किरण (X-ray)	फौसफोरस (P_{32})	नाइट्रोजन मस्टर्ड (Nh_2)	यूरीथेन (Urethane)	संखिया (As)	अमीनोप्टरीन	स्टिलबामिडीन	एसीटाइल-फेनिलहाइड्राजीन (Aph)	ट्राइएथिलीन मेलामीन (Tom)
तीव्रश्वेतमयता (Leukemia)	---	---	±	---		+			
चिरमज्जाभ (Myeloid) श्वेतमयता	++	++	+	++	±				
चिरलसात्मक (Lymphatic) श्वेतमयता	++	+	+	±					±
जीर्ण एकन्यष्ठीलीय(Monocytic) श्वेतमयता	±	–	±		++				
हौजकिन (Hodgkin's) का रोग	+++		++		+			±	+
बहुलालकायाणुमयता(Poly-cythemia vera)	+++	++++					+		
लसमासार्बुद (Lymphoma)*	± से ++++	± से ++++	– से +++						
मांसार्बुद(Sarcoma)*	– से ++		– से ++						
मज्जार्बुद (Myeloma)	±			±			±		

* इन रोगों में रोग के प्रकार के अनुसार कभी कभी लाभ होता है कभी नहीं।

यकृत की कार्यशीलता की परीक्षायें (Liver function tests) का महत्त्व

निम्न तालिका में (+) चिह्न महत्त्वपूर्ण तथा (–) चिह्न महत्वहीन का द्योतक है।

परीक्षा का आधार	परीक्षा	प्राकृत मात्रायें	यकृत विकृति की गुप्त (Latent) अवस्था	यकृत के चिरकालीन (Chro:) रोग	यकृत के तीव्र रोग: कामला के पूर्व की अवस्था	कामला (Jaundice) की अवस्था: अवरोधी (Obst)	वैषिक (Toxic)	शोणांशिक	रोगमुक्ति काल (Convalescnce)
पित्त (Bile) का समवर्त (Metabolism)	रंग देशना (I.I.)	३–८ ई (U)	++	+ +	+++	–	–	–	+++
	लसिका में पित्त रक्ती (Serum bilirubin)	०.०५–०.५ मि.ग्रा. प्र. श.	++	+ +	+++	–	–	–	+++
	मूत्र में पित्तरक्ती (Bilirubin)	०	–	–	+++	++	++	(–) महत्वका	++
	मूत्र में पित्तजन (Uro-bilinogen)	१–४ मि. ग्रा.प्र.दि.	+ +	+ +	+++	– महत्त्वपूर्ण है	+++	++ है	+ +
	मल में मूत्र पित्तजन (Urobilinogen)	५०–२५० मि.ग्रा. प्र. दि.	–	–	–	”	–	+++	++

वसा (Fat) का समवर्त	रक्तरस में कोलेस्टरौल की मात्रा (Plasma cholesterol)	१००–२०० मि.ग्रा.प्र.श.	–	–	–	+ +	+ +	–	
कार्बोज (Cho) का समवर्त	गैलेक्टोस (Galactose tolerance) परीक्षा सिरामार्ग (I.V.) से देने पर	० ७५ मि. में प्राकृत होना चाहिये	–	+++	–	+++ शीघ्रता से प्राकृत होने पर	+++ विलंब से प्राकृत होने पर	–	–
॰टीन (Ptn) का समवर्त	रक्तरस मे प्रोटीन की मात्रा	६·७–८·२ ग्रा.प्र.श.	–	+ +	–	–	–	–	–
ग्लाइसीन (Glycine) का निर्माण	सिरामार्ग से हिप्यूरिक अम्ल (Hippuric acid) देने पर	०·७ ग्रा. प्र.घटे से अधिक	+++	+++	–	–	–	–	++
प्रोथ्रोम्बिन (Prothrombin) का निर्माण, जीवतिक्ति 'के' (Vit: K.) के पश्चात	रक्तरस (Plasma) में प्रोथ्रोम्बिन	दो दिन में १५ प्र. श.	–	+ +	–	+++	+++	–	

परीक्षा का आधार	परीक्षा	प्राकृत मात्रायें	यकृत विकृति की सुप्त (Latent) अवस्था	यकृत के चिरकालीन (Chro:) रोग	यकृत के तीव्र रोग: कामला के पूर्व की अवस्था	यकृत के तीव्र रोग: कामला (Jaundice) की अवस्था: अवरोधी (Obst)	यकृत के तीव्र रोग: कामला (Jaundice) की अवस्था: वैषिक (Toxic)	यकृत के तीव्र रोग: कामला (Jaundice) की अवस्था: शोथांशिक	रोगनिवृत्ति काल (Convalescence)
रंग का परित्याग(Dye-excretion)	ब्रोम सल्फलीन (Bromsulfalein)	४५ मि. संपूर्ण	+++	+++	−	−	−	−	++
अंत: किण्व (Enzyme) का निर्माण	रक्तरस (Plasma) में फौसफेटेस (Phosphatase)	२–४·५ ई.	−	−	−	+++	−	−	−
अन्य परीक्षायें	सेफालीन (Cephalin) परीक्षा	०–१+	++	++	++	−	++	−	−
	थाइमौल (Thymol) परीक्षा	०–४ ई.	++	++	−	−	−	−	++

मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) में ब्रह्मवारि (C. S. fluid) की अवस्था

रोग	दर्शन	निपीड (Pressure) तथा मात्रा	कोषायें (Cells) प्र.घ. मि.मी.	ग्लूकोस (Glucose)	क्लोराइड (Cl)	प्रोटीन (Ptn)	जीवाणु
मस्तिष्क गोलाणु (Meningo) जन्य	गदला	++ २०० मि.मी. से अधिक	१००० से अधिक विशेषकर बहुकारी (Poly)	कमी –	कमी – ७०० मि. ग्रा. प्र. श. तक	++	+
यक्ष्मा (T. B.) जन्य	निर्मल	++	++	–	– ६८० मि. ग्रा. प्र. श. से कम	++	–

फिरङ्ग (Syphilis) में केवल पेनिसिलीन (Pr.P) प्रयोग करने की विधि
(औषधि की मात्रा लच्च. अं. इ में दी गई है)

रोग की अवस्था	प्रथम दिन	५वें दिन	१०वें दिन	१५वें दिन	२०वें दिन	२५वें दिन	३०वें दिन	३५वे दिन	४०वे दिन	४५वें दिन	निर्देश
प्रारंभिक अवस्था	२४	६	६	६	६	—	—	—	—	—	९० प्र.श. रोग निवृत्ति संभव है। आ. अ. औषधि पुनः दें
त्वचा, अस्थि, श्लेष्मिक कला (M. M.) आदि की विकृति।	१२	६	६	६	६	६	६	६	६	—	
रक्तवह संस्थान (C.V. System) मे विकृति रहने पर परन्तु हृदयातिपात (C.H.F.) न रहने पर।	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	दक्षिण हृदयातिपात न रहने पर औषधि निरापद है
वातनाड़ी (C.N. System) की विकृति	६–१२	६–१२	६–१२	६–१२	६–१२	६–१२	६–१२	६–१२	६–१२	६–१२	आ. अ. २–६ मास पर पुनः औषधि दें

गर्भावस्था	प्रथम विधि	६	६	६	६	६	६	६	६	—	—	
	द्वितीय विधि	१२	—	१२	—	१२	—	१२	—	—	—	
शिशु	प्रथम विधि	१	१	१	१	१	१	१	१	—	—	१ ल. प्र. दि. कर १० दे सकते हैं
	द्वितीय विधि	२	—	२	—	२	—	२	—	—	—	
बाल्यावस्था		६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६ ल.प्र.दि.कर १० दिन दे सकते हैं

फिरङ्ग की अधिमात्रा (Intensive) पद्धति
माफरसाइड (Mapharside) द्वारा २५ सप्ताह का चिकित्साक्रम

औषधि	सप्ताह					इन्जेक्शन की संख्या	औषधि की पूर्ण मात्रा
	प्रथम पाँच	द्वितीय पाँच	त्रितीय पाँच	चतुर्थ पाँच	पंचम पाँच		
संखिया ०'०४ ग्रा. द्वि. प्र. स.	+	+	−	+	+	४०	ग्रा. १'६
विसमथ ०.२ ग्रा. पृ. प्र. स.	+	−	+	−	+	१५	ग्रा. ३

फिरङ्ग की खण्डित (Alternating) पद्धति
माफरसाइड (Mapharside) द्वारा ८२ सप्ताह का चिकित्साक्रम

औषधियाँ	सप्ताह								इन्जेक्शन की संख्या	औषधि की पूर्ण मात्रा
	१ से १०	११ से १६	१७ से २६	२७ से ३४	३५ से ४४	४५ से ५६	५७ से ६६	६७ से ८२		
संखिया ०'०४ ग्रा. ए. प्र.स.	+	−	+	−	+	−	+	−	४०	ग्रा. १'६
विसमथ ०'२ ग्रा. ए. प्र.स.	−	+	−	+	−	+	−	+	४२	ग्रा. ८.४

फिरङ्ग की संयुक्त (Overlapping) पद्धति

माफरसाइड द्वारा ६६ सप्ताह का चिकित्साक्रम

औषधि	सप्ताह													इन्जेक्शन की संख्या	औषधि की पूर्ण मात्रा
	१ से ८	९, १०	११ से १६	१७, १८	१९ से २४	२५, २६	२७ से ३४	३५, ३६	३७ से ४२	४३, ४४	४५ से ५६	५७, ५८	५९ से ६६		
संखिया ०.०४ ग्रा. ए. प्र. स.	+	+	−	+	+	+	−	+	+	+	−	+	+	४०	ग्रा. १.६
बिसमथ ०.२ ग्रा. ए. प्र. स.	−	+	+	+	−	+	+	+	−	+	+	+	−	२८	ग्रा. ७.६

फिरङ्ग की परम मात्रा पद्धति

(माफरसाइड द्वारा दस सप्ताह का चिकित्साक्रम)

औषधि	सप्ताह											
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०		
संखिया ग्रा. ०.०४ त्रि. प. स.	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	२०	ग्रा. १.२
बिसमथ ग्रा. ०.२ ए. प्र. स.	+	+	+	+	+	+	+	+	+	+	१०	ग्रा. २

विविध औषधियाँ

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
पेन्टन्यूक्लियोटाइड (Pentnucleotide)	अकणिक श्वेत कायाणूत्कर्ष (Agranulocytosis)	पेशी (I. M.)	१० सी. सी. प्रतिबार
थायोसिनामिन (Thiosinamine)	व्रणवस्तु (Scar) को मृदु करने के लिए	अधस्त्वक् या व्रण वस्तु के समीप	१० प्र.श.घोल का ½–१ सी. सी. प्रतिबार
डी. डी. टी. (D. D. T.)	कीटनाशक (Insecticide)	स्थानिक (Local)	१–२ प्र. श.
सिन्थेलिन 'बी' (Synthalin B)	मधुमेह (Diabetes)	मुख	मि. ग्रा. ५ द्वि. प्र. दि.
बेन्जिल बेन्जोअस (Benzyl benzoas)	खुजली (Scabies)	स्थानिक	२५ प्र. श.
बर्बेरीन सल्फ (Berberin sulph:)	प्राच्यव्रण (Oriental sore)	,,	१ प्र. श. घोल का १½ सी. सी. व्रण के समीप इंजेक्शन लगायें।
तिर्याक (Tiriyaq)	सर्पदंश (Snakebite), वृश्चिकदंश (Scorpion bite)	मुख स्थानिक नासा	मि. १० प्रति ५ मिनट मि. २ ,, मि. ५ प्रति ३ मिनट

एल्यूमीनियम हाइड्रोक्साइड (Aluminium Hydroxide)	प्रपाचीय व्रण (Peptic ulcer), तीव्र अग्न्याशयशोथ (Acute pancreatitis)	मुख	आमाशयिक अम्लता (Gastric acidity) कम करने के लिए ड्रा. २ आ. अ.
कैल्सियम ग्लूकोनेट (Cal : gluconate Sz) **सूचना :**—यदि अत्यधिक मात्रा में वसा (Fat) का परित्याग होता है या रक्त मे चूर्णातु (Cal.) की कमी होती है तब प्रयोग करते है।	चिरकालीन अग्न्याशय शोथ, संग्रहणी (Sprue)	मुख सिरा (I.V.)	ग्रे. २०–३० त्रि.प्र. दि. १० प्र. श. घोल. २० सी.सी. या २० प्र. श. घोल १० सी. सी.
पैन्क्रियाटीन (Pancreatin)	”	मुख	ग्रे. ७५ द्वि. प्र. दि. भोजनोपरान्त
पी. एस. एम. ओ. (P. S. M. O., Polyoxe-thylene sorbitan mono-oleate)	”	मुख	५–१० सी. सी. भोजन के साथ। वसा (Fat) के पाचन के लिए।
कौरटीसोन (Cortisone)	आमवात जन्य अन्तर्हृच्छोथ (Rheumatic endocarditis) आदि	मुख	प्रथम २–४ दिन मि.ग्रा. १०० त्रि. प्र. दि. तत्पश्चात मि. ग्रा. २५ चा. प्र. दि.। औषधि की मात्रा शनैःशनैः कम करें

हाइड्रोकौरटोन (Hydrocortone 'Mk') इन्जेक्शन मि.ग्रा. ५,२५प्र.सी.सी.	आमवातजन्य अन्तर्हृच्छोथ (Rheumatic endocarditis) आदि	पेशी	मि.ग्रा. १०–५० प्र.बा.
	,,	मुख	,,
कौरटाड्रिन (Cortadren 'Sch')		पेशी	,,
इन्जेक्शन मि. ग्रा. ५०प्र. सी. सी.		नेत्र	आ.अ.
गोली मि.ग्रा.२५ । नेत्र में मि.ग्रा.५प्र.सी.सी.		मुख	गो. त्रि.प्र.दि. ३ सप्ताह एक सप्ताह औषधि बन्द कर पुनः दे ।
मेलाडिमाइन (Meladimine 'Gt') गोली तथा तेल लगने का	श्वेतकुष्ठ (Leucoderma)	स्थानिक	आ. अ.
गर्भनिरोधी (Orthogynol jelly)	गर्भनिरोधी (Contraceptive)		
एण्टाब्यूस (Antabuse, tetraethyl thiobam disulphide)	चिरकालीन मदात्यय (Chro:alcoholism)	मुख	ग्रे. २–१० प्र. दि.
क्रोनेटाल (Cronetal ICI)	,,	,,	गो. २–४ प्र. दि.
सोडियम थायोसल्फ(Sodi:thiosulph)	सखिया विषमयता (As:poisoning)	पेशी } अधस्त्वक } सिरा(I.V.)	ग्रे. ५–१५ प्रतिबार ४ प्र.श. का ४ सी.सी."

कैल्सियम थायोसल्फ (Cal:thiosulph)	संखिया विषमयता (As: Poisoning)	पेशी अधस्त्वक् सिरा (I.V.)	१० प्र. श. घोल का ५ सी. सी.
बाल (BAL., British anti-lewisite)	,,	पेशी(I.M.)	१–२ सी. सी. प्रति ४–१२ घंटे
सोडी सैलिसिलास (Soid:salicylas)	आमवात (Rheumatism)	मुख	ग्रे. २० प्र. चार घंटे सोडीबाइकार्ब (Sodi: bi carb:) के साथ।
सोडी:जेनसीसेट (Sodi:gentisate)	,,	,,	प्राय: १० दिन तक ग्रे. ३० प्रति ४ घटे। सोडी सैलिसिलास के समान प्रभावशाली है परन्तु कम विषाक्त है।
टिक्चर कोल्चिकम (Tr:colchicum)	वातरक्त (Gout)	,,	मि. १५ त्रि. प्र. दि.
कोल्चीसीन (Colchicine)	,,	,,	ग्रे. १/१२०–१/६० त्रि. प्र. दि.
केल्सियम आयोडीन (Cal:cum iodine)	संध्यास्थिशोथ (Osteoarthritis)	सिरा(I.V.)	५ सी. सी. प्रतिबार।
सोडी साइट्रस (Sodi:citras)	रक्तस्कन्दन निरोधी	सिरा मुख	२.५ प्र. श. घोल का ५–१० सी.सी. प्रतिबार ग्रे. १५–६० प्रतिबार

औषधि	प्रयोग	मार्ग	मात्रा
लैक्टिक एसिड (Lactic acid)	श्वेतप्रदर (Leucorrhoea)	योनि (Per vagina)	२ प्र. श. घोल से योनि प्रक्षालन (Wash) करे।
एस. वी. सी. (S. V. C.)	„	„	निद्राके पूर्व १ गो. प्रति-दिन योनिमें प्रवेश करे।
डेक्सीड्रीन (Dexedrine)	स्थूलता (Obesity) कम करने के लिये	मुख	मि. ग्रा. ५ त्रि. प्र. दि.
बेन्जीड्रीन (Benzidrine)	„	„	ग्रे. २ १/४–१/२ त्रि. प्र. दि.
एम्फेटेमीन (Amphetamina)	„	„	„
सोडीबाइकार्ब (Sodi:bicarb:)	क्षारीय (Alkaline)	मुख सिरा (I.V.) गुद	ग्रे. ३०–६० प्रति ४ घंटे ५ प्र. श. २ प्र. श.
सूचना :—इंजेकशन के पूर्व इसका घोल उबालना नहीं चाहिये।			
वेलेरियन (Velarian)	प्रपाचीयव्रण (Peptic ulcer)	मुख पेशी	सी. सी. प्र. दि. १२ दिन तक
पेन्थीयोनेट ब्रोमाइड (Penthionate bromide)	„ स्राव, उद्वेष्टन तथा गति कम करती है।	मुख	मि. ग्रा. ५ त्रि. प्र. दि.
एनियॉन (Anion, exchange-resin, carboresin)	प्रपाचीयव्रण	„	ग्रा. ८ प्र. २ घं ६ बार

अनुक्रमणिका

लेखक की अन्य पुस्तकें

रोगी-परीक्षा

(PHYSICAL EXAMINATION)

"बी० आई० एम० एस० (B. I. M. S. U. P.) की उपाधि परीक्षा के प्रायोगिक अंग के पाठ्यग्रन्थ के रूप में बोर्ड द्वारा स्वीकृत" प्रस्तुत पुस्तक में नवीन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर रोगी परीक्षा की विधियों का वर्णन किया गया है। रोगी का इतिहास, शिशु-परीक्षा, पचन, मूत्र, श्वसन, रक्त-वह तथा वातनाड़ी संस्थानो के परीक्षा की विधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन हैं। पुस्तक चित्रो तथा तालिकाओ से अलंकृत है। मूल्य केवल ६) है।

रोग-परिचय

(Clinical Medicine)

इसमें रोगो की व्याख्या, वर्णन, कारण, मरक-विज्ञान, निदान, चिकित्सा आदि विषयों को आठ खण्डो मे प्रतिपादित किया गया है। औपसर्गिक रोग, विविध, रक्त के रोग, स्त्री रोग, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रोग, पचन-संस्थान, रक्तवह, मूत्र, वातनाड़ी-संस्थानो के रोग, जीव-तिक्तियाँ, पारिभाषिक शब्दकोश, परिमाण तथा नवीन व प्रचलित औषधियो का तालिका के रूप मे वर्णन किया गया हैं। मूल्य १२॥)

—हिन्दी में यह सुन्दर प्रकाशन है और प्रत्येक परिवार मे इसकी प्रति हो तो सहायक सिद्ध होगी।

—"संसार" हिन्दी दैनिक

—यह पुस्तक नवीन आयुर्वेदिक कालेज के अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिये बड़ी ही उपादेय है। चिकित्सा विज्ञान के इस सर्वोच्च विषय पर सरल हिन्दी मे सम्पूर्ण विषय का समन्वय कर नवीन शब्दावलियों के समुचित सकेत बनाकर जो संकलन किया गया है वह विद्वान डाक्टर जैसे सिद्ध हस्त के लिये ही सम्भव है।

वैद्यरत्न कविराज डा० प्रतापसिंह

भूतपूर्व डाइरेक्टर आफ आयुर्वेद, राजस्थान।